ओ३म्

श्रीमद्-भगवद्गीता

(एक वैदिक रहस्य)

प्रथम भाग

प्रथम छः अध्याय मूल, शब्दार्थ, भावार्थ, हिंदी टीका सहित

लेखक :-

स्वामी रामस्वरूप जी

(योगाचार्य)

श्रीमद्भगवद्गीता (एक वैदिक रहस्य)

प्रकाशक :
वेद मंदिर प्रकाशन
टीका लेहसर योल बाजार,
योल कैम्प, जिला-कांगड़ा-176052 (हि० प्र०)

स्वामी राम स्वरूप जी, योगाचार्य
संस्थापक अध्यक्ष

वेद एवं योग मन्दिर (रजि०)
161-बी, विक्रान्त एन्कलेव,
मायापुरी, नई दिल्ली-110064

एवम्

वेद मंदिर
टीका लेहसर, योल कैम्प,
जिला-कांगड़ा, हि० प्र०
दूरभाष : 01892-236107

© स्वामी राम स्वरूप जी, योगाचार्य
Website : www.vedmandir.com

प्रथम संस्करण
(2000 पुस्तकें) अक्टूबर 2007
मूल्य : 400/-रूपये

टाईपसैटिंग :
शिवा ग्राफिक्स के-128, रंजीत सदन, मौहम्मदपुर, नियर भीकाजी कामा प्लेस, नई दिल्ली-66 दूरभाष : 26173123

मुद्रक :
जीत स्क्रीन आर्ट
67ए, हुमायुँ पुर, सफदरजंग एन्कलेव, नई दिल्ली-29, दूरभाष : 26107346

"लेखक के मननयुक्त उद्‌गार"

1. जो भी श्रद्धालू गीता का अध्ययन प्रारम्भ करना चाहे, उसे सर्वप्रथम इस सत्य को जानना आवश्यक है कि श्रीमद् भगवद्गीता वेदमन्त्रों पर आधारित प्रवचन है क्योंकि गीताकाल में केवल वेदों का ही ज्ञान घर–घर में था। आज के ग्रन्थ अथवा आज के मत उस समय उदय नहीं हुए थे। गीता व्यासमुनि कृत महाभारत के भीष्मपर्व से लिए गए 18 अध्याय ही हैं। स्पष्ट है कि गीता व्यास मुनि द्वारा लिखी गई है और योगेश्वर श्री कृष्ण के मुख से प्रवचन के रूप में प्रस्तुत की गई है। यह कटु सत्य गीता श्लोक 18/75 से भी सिद्ध है।

2. किसी भी प्राचीन अथवा नवीन ग्रन्थ की व्याख्या करने अथवा सुनाने में वेद एवं ऋषि प्रणीत ग्रन्थों का प्रमाण देना आवश्यक है। इस विचार का उल्लेख पाणिनी ऋषि ने अपने सूत्र 1/7 में किया है अन्यथा वह वेद विरूद्ध मान्य होगा।

3. गीता के किसी भी श्लोक का अर्थ किया जाएगा तो उस अर्थ और भाव को सत्य सिद्ध करने के लिए उसी प्रकार के अर्थ और भावयुक्त वेदमन्त्र का प्रमाण देना आवश्यक है।

4. प्रमाण का विषय वैदिक शाश्वत परम्परा है जिसे चारों वेदों में समझाया गया है। उदाहरणार्थ ऋग्वेद 1/4/4 में तथा योगशास्त्र–सूत्र 1/7, सांख्य–शास्त्र 5/10 का भाव है कि हर शब्दार्थ, भावार्थ आदि का वेदों से प्रमाण दें। सांख्य–शास्त्र के मुनि कपिल ने सूत्र 1/66 में स्पष्ट किया है– "आप्तोपदेशः शब्दः" एवं सूत्र 3/80 में कहा–"श्रुतिश्च" अर्थात् आप्तों (वेदों के ज्ञाता विद्वानों) तथा वेदों का उपदेश शब्द–प्रमाण है।

   यह दुःख की बात है कि मनुस्मृति श्लोक 12/105(56) और योगशास्त्र सूत्र 1/7 तथा सांख्य–शास्त्र सूत्र 5/10 में कहे प्रमाण आदि के वचनों की प्रायः उपेक्षा कर रहे हैं और अप्रमाणिक

अर्थ प्रचलित होते जा रहे हैं। इस अप्रमाणिक पद्धति का रोकना अति आवश्यक है अन्यथा जनता में मिथ्यावाद फैलता जाएगा।

5. स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने यह शाश्वत सत्य गीता श्लोक 3/15 में कहा है कि सब कर्म वेदों से उत्पन्न हैं और वेद निराकार परमेश्वर से। इस आधार पर भी हमें अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा सर्वप्रथम वेदों का अध्ययन करना चहिए जिससे अन्य ग्रन्थों में मुगल एवं अंग्रेजों के राज्य के समय आई त्रुटियों का ज्ञान होने में सरलता होगी और हम वैदिक सत्य ही स्थापित करने में सफल होंगे।

जैसे, यदि हम माता–पिता, दादा–दादी आदि वृद्धों की सेवा नहीं करते और केवल अपने बच्चों को प्यार करते हैं, खिलाते, पढ़ाते, पहनाते हैं तो इसे रजो, तमो, सतोगुण से उत्पन्न मोह रूपी विकार ही कहा जाएगा। क्योंकि माता–पिता आदि के द्वारा हमारा जन्म हुआ और पुनः हमारी संतानें उत्पन्न हुई फलस्वरूप ही हम अपने बच्चों को प्यार करने के योग्य हुए। उसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज के कहे अनुसार वेदों से ही अन्य ग्रन्थों का जन्म हुआ और यदि हम वेदों का अध्ययन रूपी सत्कार नहीं करेंगे तब हमें कृतज्ञ न होने का पाप लगेगा।

6. वेद एवं योग विद्या में पारंगत योगेश्वर श्रीकृष्ण अर्जुन को अनादिकाल से चला आ रहा वैदिक ज्ञान देकर, यह समझाने में सफल हुए कि धर्म एवं न्याय स्थापित करने के लिए धर्म के विरुद्ध चलने वाले अपने सम्बन्धियों तक के विरुद्ध जाने में तनिक भी संकोच नहीं होना चाहिए। अतः नेताओं द्वारा भाई भतीजावाद और पुलिस तथा अन्य विभाग द्वारा असमाजिक तत्वों से साँठ–गाँठ गीता ग्रन्थ के विरुद्ध है। अतः केवल गीता पढ़–सुन रटकर गीता में दिया ज्ञान आचरण में लाया नहीं जा सकता।

7. वेदों अथवा शास्त्रादि से कुछ–कुछ शब्दों को चुराकर बोलना पुनः अपने ही विचारों का समर्थन करना एवं विद्वानों के विचारों को अपना बना कर बोलना अथवा वेद विरूद्व कर्म करना यह सब अथर्ववेद मन्त्र 12/5/40 के अनुसार पाप है।

8. यह विचार प्रत्येक प्राणी को करना चाहिए कि जो आज प्रायः केवल ईश्वर भक्ति की बात करते हैं और गृहस्थ, समाज एवं संसार के अन्य शुभ कर्म जैसे पढ़ना–लिखना, व्यवसाय करना, धन कमाना, विवाह द्वारा सन्तान प्राप्त करना, विज्ञान की उन्नति करना इत्यादि को मिथ्या कहते हैं और यह कहते हैं कि कोई कर्म करने की आवश्यकता नहीं है ऐसा कहने वाले सन्त भी समाज के उन्हीं अनपढ़, पढ़े–लिखे, गरीब अथवा धनवानों से उनके कर्मों की मेहनत की कमाई को ही प्राप्त करते हैं और स्वयं बैठकर खाते हैं। तथा जिन श्रीराम, श्रीकृष्ण महाराज जैसी अनेक विभूतियों की बात करते हैं, उन विभूतियों का समस्त जीवन विद्या अर्जित करने तथा कठोर परिश्रम करने में बीता है।

9. गीता श्लोक 5/15 में श्री कृष्ण महाराज ने "विभुः" पद सर्वव्यापक ईश्वर के लिए प्रयोग किया है। अतः गीता का यह ज्ञान हम याद रखें कि ईश्वर संसार के कण–कण में विराजमान (सर्वव्यापक) है। अतः ईश्वर की पूजा उसके निराकार, सर्वव्यापक गुणों के आधार पर यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना से करें जिस उपासना का वर्णन चारों वेदों में है। अतः वैदिक रीति से किया गीता का अध्ययन अवतारवाद को मान्यता नहीं देता है।

10. गीता की व्याख्या में कई स्थान पर यह कहना पड़ा है कि जो वेदाध्ययन नहीं करता और वेद विरुद्ध बातें करता है वह पाप का भागी है और गीता के शब्दों के अर्थ का अनर्थ करता है। ऐसा कहने का केवल यही भाव है कि व्यासमुनि जिन्होंने महाभारत (गीता) ग्रन्थ लिखा और श्रीकृष्ण महाराज जिनके मुख से गीता ज्ञान कहा गया, दोनों ही विभूतियाँ, वेद एवं योग विद्या

की महान ज्ञाता थीं और गीता ग्रन्थ में उन्होंने वेदों की तीनों विद्याओं अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना का उपदेश दिया है जिससे अर्जुन का संशय, मोह आदि नष्ट हुआ और अर्जुन ने धर्मयुद्ध किया। गीता ग्रन्थ के समय वर्तमान के मज़हबों–धर्मों का उदय नहीं हुआ था। अतः बार–बार पाठकों से निवेदन करना पड़ रहा है कि गीता–ग्रन्थ केवल वेद विद्या पर आधारित होने के कारण गीता अध्ययन से प्रथम वेदों को सुनना एवं योगाभ्यास करना अति आवश्यक है क्योंकि गीता–ग्रन्थ वर्तमान समय का लिखा हुआ ग्रन्थ नहीं है।

11. छठे अध्याय में अर्जुन को, श्रीकृष्ण महाराज ने विशेषतः युक्ति से आहार–विहार, सोना–जागना एंव अष्टाँग योग की शिक्षा दी है। भाव यह है कि श्रीकृष्ण महाराज मात्र शब्दों द्वारा उपदेश कर रहे हैं। साक्षात् योगाभ्यास करके सिखा नहीं रहे हैं। वैसे भी दोनों सेनाओं के बीच में योगेश्वर श्रीकृष्ण योगाभ्यास एवं यौगिक क्रियाएँ नहीं सिखा सकते थे। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने एक जगह यह भी कह दिया है कि यह सब ज्ञान को प्राप्त करने के लिए जिज्ञासु ब्रह्मनिष्ठ गुरू के पास जाए। ब्रह्मनिष्ठ गुरु का भी अर्थ शब्द ब्रह्म–वेद की विद्या का अध्ययन एवं परब्रह्म अर्थात् वेदानुकूल शुभ कर्म करना एवं अष्टाँग योग की साधना के पश्चात् ब्रह्म अनुभूति करना है। अर्थात् शब्द ब्रह्म एवं परब्रह्म दोनों में प्रवीण योगी को ही ब्रह्मनिष्ठ गुरू कहते हैं।

हम यह विचार करें कि श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को योगाभ्यास आदि कराके योगी नहीं बनाना चाहते अपितु धर्मयुद्ध करवाना चाहते हैं। जब अर्जुन गाण्डीव धनुष त्यागकर युद्ध न करने की बात कहने लगा। अहिंसा के विषय में तथा युद्ध न करके भिक्षा के अन्न पर जीवित रहने का स्वसम्बंधियों को न मारने की बात कहने लगा तब श्रीकृष्ण महाराज ने कहा था कि हे अर्जुन तू विद्वानों के से वचनों को कहता है परन्तु विद्वान है

नहीं। फलस्वरूप श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को विद्वानों (योगियों) की तपस्या एवं गुण समझा रहे हैं जो कि अर्जुन में नहीं हैं। होते तो क्यों समझाते? ऐसा कहकर समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तू क्षत्रिय वंशीय धर्मरूपी धर्मयुद्ध ही कर क्योंकि कर्मयोग तेरे लिए श्रेष्ठ है।

12. प्रथम योगी स्वयं की चित्त वृत्तियों को वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा निरुद्ध करता है तत्पश्चात ही जनता की माया में फैली हुई वृत्तियों को रोकने के लिए उपदेश करता है। फलस्वरूप ही जिज्ञासुओं का जीवन सफल होता है। मिथ्यावादी एवं अनुभवहीन उपदेशकों से जीवन कैसे सफल हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। यह सत्य है कि गृहस्थाश्रम में हमें भक्ति–भजन आदि का अभ्यास करना है। साथ–साथ ही यह अभ्यास भी करना है कि मिथ्यावादियों की भीड़ से सदा दूर रहें, एकान्तवासी बनें और वेदज्ञ विद्वान् जो आचार्य हैं, उनकी ही शिक्षा को ग्रहण करें। थोथे कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि से सदा दूर रहें।

13. योगशास्त्र पताञ्जलि ऋषि द्वारा रचित है और प्राचीनकाल के जितने भी ऋषि–मुनि हुए हैं वे ऋषि–मुनि कहलाते ही इसलिए थे कि उन्होंने बाल्यकाल से ही ब्रह्मचर्य आदि व्रत धारण करते हुए गुरुकुल में चारों वेदों का कठोर/गहन अध्ययन किया था। और कठोर अष्टाँग योग की साधना की थी। भाव यह है कि ऐसे महान ऋषि पताञ्जलि ऋषि के योगशास्त्र सूत्र 1/15 का पुनः व्यासमुनि ने भाव लिखा है जिसमें ऋषि ने बताया कि योगी सांसारिक पदार्थ और यहाँ तक की मोक्ष की कामना तक को नकार देता है। अथर्ववेद मन्त्र 19/41/1 के अनुसार प्रत्येक ऋषि–मुनि, योगी, सन्त, कर्मनिष्ठ, सत्य आचरण वाले होते थे और उनका तप सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करने के लिए होता था। तब प्रायः आज के सन्त ऐसे वेदमंत्रों के प्रमाणों को ताक पर रखकर पढ़ सुन रट कर गीता आदि ग्रन्थ सुनाकर धन बटोरने

के कार्य में अधिक तत ता गते हैं। ऐसे सन्त प्रायः योग का, ऋषि का एवं ऋषि प्र ग्रन्थों का यह कहकर अनादर करते हैं कि योगी तो ऋदि सिद्धि में, स्वर्ग के सुख में फँस जाता है और यज्ञ तो कामना र्था करते हैं इत्यादि जबकि वेद शास्त्रों ने ऐसी कोई भी बात कही है तो यह कितना झूठा प्रचार है। समाज को ऐसे वादियों से आज बचने की आवश्यकता है।

–स्वामी राम स्वरूप जी (योगाचार्य)
वेद मन्दिर, योल कैम्प
जिला–कांगड़ा, हिमाचल प्रदेश

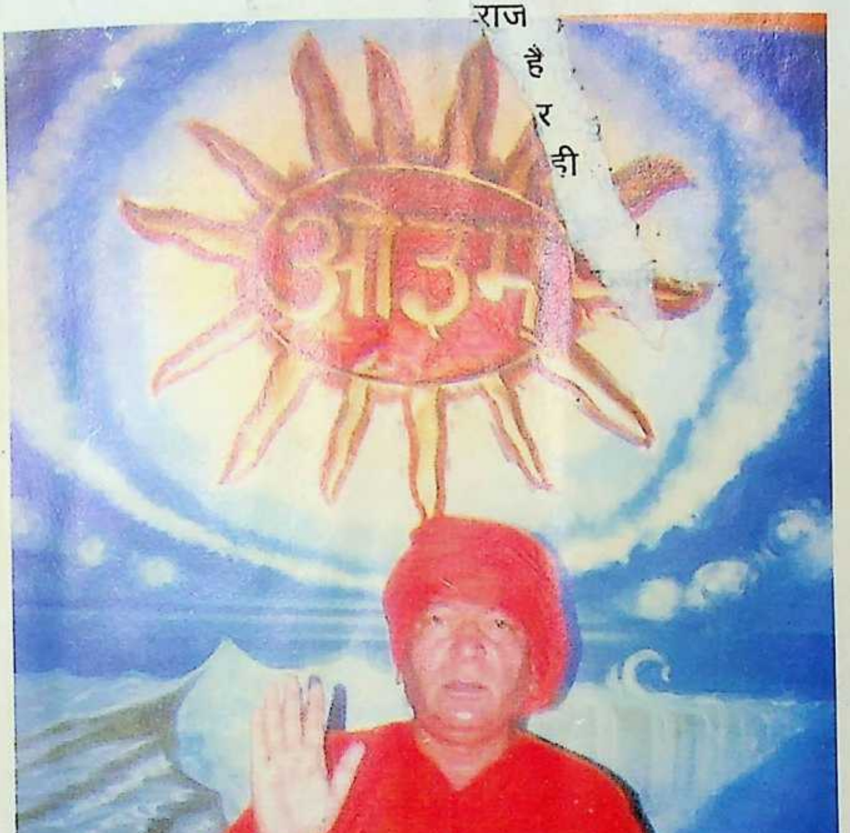

स्वामी रामस्वरूप जी

योगाचार्य

श्रीमद्भगवद्गीता (एक वैदिक रहस्य)

विषयानुक्रमणिका
श्रीमद् भगवद्गीता (एक वैदिक रहस्य)

सं	अध्याय	पृष्ठ संख्या
1.	प्रथम अध्याय	4–62
2.	द्वितीय अध्याय	63–254
3.	तृतीय अध्याय	254–401
4.	चतुर्थ अध्याय	402–533
5.	पंचम अध्याय	534–616
6.	षष्ठ अध्याय	617–739

पद्मासन पर स्थित
आनन्द में स्वामी रामस्वरूप जी महाराज

"दो शब्द"

श्रीभगवद्गीता के प्रथम छः अध्यायों की व्याख्या/भावार्थ पूर्णतः वेदमन्त्रों आधारित है क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज ने जो अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा देने लिए ज्ञान दिया था वह सम्पूर्ण ज्ञान भी वेदों पर ही आधारित है। उस वर्तमानकाल के मज़हब एवं धर्मग्रन्थ बने ही नहीं थे। अतः आज गीता प्रवचन तभी सार्थक होगा जब प्रवचनकर्त्ता अथवा गीता की टीका करने वाला लेखक व्यासमुनि एवं श्रीकृष्ण महाराज की तरह चारों वेदों एवं अष्टांगयोग विद्या का पूर्ण ज्ञाता होगा। अन्यथा अर्थ का अनर्थ होने का भय वस्तुतः मैंने पूर्ण प्रयास किया है कि गीता के प्रत्येक श्लोक के अर्थ को मन्त्रों सहित समझाया जाए। परन्तु फिर भी यदि कोई त्रुटि रहे तो सुधी विद्वानजन उस त्रुटि से अवगत कराकर मुझे अनुगृहीत करें। मैं सदा उनका आभारी रहूँगा। मुझे खुशी होगी कि भगवद्गीता के इस वैदिक रहस्य को पढ़कर पाठक अनादिकाल से चली आ रही एवं ईश्वर से उत्पन्न वेदों को समझेंगे और वेदों से जुड़कर समाज को लाभ पहुँचाएंगे।

अन्त में मैं श्री अरूण कुमार, जो अमेरिका के निवासी हैं, उनको हार्दिक धन्यवाद देता हूँ और दीर्घायु सहित सुखी रहने का आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने पुस्तक को छपवाने के लिए तीस हज़ार रूपए (३०,०००/-) की सेवा प्रदान की।

एवं मैं उस महानुभाव एवं प्रिय दानवीर को भी दीर्घायु एवं सुखी रहने का हार्दिक आशीर्वाद देता हूँ जिन्होंने इस पुस्तक को छपवाने के लिए शेष राशि का गुप्त दान किया। दानवीरों से ही यज्ञ एवं पृथिवी पर शुभ कार्य होते आए हैं।

वेद मन्दिर, योल में साध्वी ऋतम्भरा, प्रज्ञा, गीता, अंजली, गार्गी ने सदा यज्ञ आदि अध्यात्मिक कार्यों एवम् पुस्तक लेखन में महान सहयोग दिया। फलस्वरूप ही मैं अनेक पुस्तकों को लिखकर समाज को समर्पित कर चुका हूँ। मेरा आशीर्वाद है कि यह नित्य यज्ञ एवं आध्यात्मिक शुभ कर्मों में रत होकर अपने जन्म को सफल करें।

धन्यवाद

लेखक : स्वामी राम स्वरूप, योगाचार्य

वेद मन्दिर, टीका लेहसर, योल कैन्ट, योल बाजार,

जिला कांगड़ा, हि.प्र., पिन-१७६०५२

श्रीमद्भगवद्गीता (एक वैदिक रहस्य)

भूमिका

'गै' शब्दे धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर गीत शब्द बनता है जिसका अर्थ है गाया हुआ। 'गै+क्त=गीत' और गीत में 'टाप्' प्रत्यय लगने से गीता शब्द बनता है, जिसका अर्थ है, संस्कृत में लिखे पद्यमय धार्मिक ग्रन्थ जैसे शिवगीता, रामगीता, भगवद्गीता इत्यादि। भगवद्गीता के १८ अध्याय व्यास मुनि कृत महाभारत के भीष्म पर्व में संस्कृत पद्य में लिखे २३ से ४० तक के अध्याय हैं, जो कि संगीत शैली में गायन योग्य हैं। आज से लगभग सवा पाँच हजार वर्ष पूर्व पराशर ऋषि के पुत्र व्यास मुनि को माता सत्यवती ने जन्म देते ही पानी में बहा दिया था। एक द्वीप पर तपस्या-रत तपस्वियों ने बहते बालक को पानी से निकाल कर उसका पालन-पोषण किया। क्योंकि यह बालक एक द्वीप पर मिला था और बालक का रंग काला था अतः इनका नाम कृष्णद्वैपायन पड़ा। अल्पायु में ही (करीब ११ वर्ष के) इन्होंने चारों वेद ऋषियों से अध्ययन करके ऋषि-परंपरा से मुँह-जबानी याद कर लिए थे और अष्टांग योग से समाधि प्राप्त कर ब्रह्मलीन हो गए थे। उस समय तक वेद लिखे नहीं गए थे अपितु गुरु परम्परा से सुन कर मुँह-जबानी याद किए जाते थे। व्यास मुनि ने सर्वप्रथम पृथिवी पर चारों वेदों को भोजपत्र पर लोक कल्याण के लिए अलग-अलग करके लिखा। 'व्यासः' (वि+अस्+घञ्) जिसका अर्थ है विभाजन, अलग-अलग करना। क्योंकि चारों वेद एक ही ज्ञान के रूप में मुँह-जुबानी सबको याद थे और कृष्ण-द्वैपायन ने चारों वेदों का व्यास (अगल-अलग) करके उन्हें ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद के रूप में लिख दिया जिस कारण इनका नाम व्यास मुनि पड़ा। १६वीं शताब्दी में जब छापेखाने (प्रिन्टींग प्रैस) का युग प्रारम्भ हुआ तब चारों वेद पुस्तक के रूप में छपकर तैयार हुए। व्यास मुनि रचित भगवद्गीता के रूप में यह महान आध्यात्मिक ग्रंथ आज विश्व प्रसिद्ध है। व्यास मुनि जी ने यह श्लोक इस प्रकार रचे कि पाण्डवों एवं कौरवों की सेना के बीच में अर्जुन का रथ खड़ा है और श्री कृष्ण मोह-ग्रस्त योद्धा अर्जुन को कर्म, उपासना एवं ज्ञान काण्ड का अति सुन्दर उपदेश देकर उसे धर्म युद्ध करने की प्रेरणा दे रहे हैं। इसी पर श्रीधर स्वामी द्वारा गीता प्रशंसा में एक सुन्दर प्रयुक्त श्लोक है:-

**'गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।'**

अर्थात् गीता स्वयं श्री कृष्ण महाराज के मुख से निकला गाने योग्य मार्मिक एवं आध्यात्मिक ग्रन्थ है। यद्यपि प्रेम रस, शुद्ध भाव एवं अनन्य भक्ति भाव से युक्त यह श्लोक प्रशंसनीय है, अपितु गीता श्लोक १८/७४-७५ में संजय स्पष्ट कर रहे हैं कि हे धृतराष्ट्र! ये कृष्णार्जुन संवाद (गुह्यं) परम रहस्यमय एवं (योग) चित्त वृत्ति निरोध करने वाला है। और (व्यासप्रसादात्) व्यास द्वारा स्वयं साक्षात् श्री कृष्ण से कथन करते हुए मैंने सुना है। **"अग्निनाग्निः समिध्यते" (ऋग्वेद १/१२/६)** अर्थात् यह पदार्थों को जलाने वाला अग्नि, अग्नि से ही प्रकाशित होता है। संसार के प्रत्येक पदार्थ में अग्नि है। जैसे समिधा/लकड़ी में अग्नि है परन्तु समिधा की अग्नि को प्रकट करने के लिए माचिस की तीली से प्रथम अग्नि को प्रकट करते हैं और उस माचिस से प्रकट की हुई अग्नि से समिधाओं को जलाते हैं-समिधा की अग्नि को प्रकट करते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अग्नि से अग्नि प्रकट होता है। उसी प्रकार विद्वानों के संग से ही कोई मनुष्य विद्वान् बनता है। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा में जो प्रकाश है, वह स्वयं प्रकाश-स्वरूप ईश्वर का दिया हुआ है। तो जब ज्ञान किसी के द्वारा दिया जाता है तब ज्ञान किसी दूसरे को होता है। पृथिवी पर सदा से ऋषि-मुनि महापुरुष ज्ञान देते आए हैं, तभी जीव का कल्याण होता है। गीता ज्ञान भी महर्षि व्यास मुनि-कृत महाभारत से निकला है। महापुरुष-ऋषिजन ही ज्ञान दाता हैं। श्री कृष्ण ने चारों वेदों एवं योग विद्या का ज्ञान सुदामा मित्र के साथ संदीपन गुरु के आश्रम में प्राप्त किया तब योगेश्वर कहलाए हैं। अतः वेदज्ञ व्यास मुनि रचित एवं योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण के मुख बिन्दु से निकली भगवद्गीता यदि आज वेदों के ज्ञाताओं और योगाभ्यासियों द्वारा सुनाई जाए तो निश्चित ही सोने में सुहागा वाली उक्ति चरितार्थ हो जाएगी। भगवद्गीता के प्रथम छः अध्याय कर्म काण्ड, दूसरे छः अध्याय उपासना (भक्ति) एवं अंतिम छः अध्याय ज्ञान काण्ड से ओत-प्रोत हैं। जिसके आदर्श, ओज एवं तेजस्वी विचारों के सामने संसार के समस्त विद्वान् नतमस्तक हैं। गांडीव धनुष फैंक कर कर्त्तव्य-विमूढ़ अर्जुन को गीता ज्ञान ने,

गीता की ललकार ने, कर्मयोगी बनाकर अमर कर दिया। वस्तुतः अर्जुन ने गीता ज्ञान को आचरण में लाकर युद्ध किया और अमर हो गए। परन्तु यदि वर्तमान में हम इस पावन ग्रन्थ के शब्द, अर्थ रटकर, बाल की खाल निकाल कर केवल बोलते ही बोलते हैं, जीवन में उतारते नहीं हैं, तो इस प्रकार निश्चित ही यह भगवद्-गीता ग्रंथ का निरादर होगा। इस ज्ञानामृत का पान करना तथा जीवन में उतारना ही सच्चा कर्मयोगी अर्जुन बनना है।

प्रथमोऽध्यायः

श्रीकृष्ण महाराज ने युद्ध टालने का अथक प्रयत्न किया परन्तु धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन के लोभ-मोह वश युद्ध होकर रहा। जब दोनों सेनाएँ आमने-सामने डट खड़ी हुईं, तब नेत्रहीन धृतराष्ट्र ने संजय से कहाः-

'धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय।।'

(गीता १/१)

(संजय) हे संजय **(धर्मक्षेत्रे)** धर्म के मैदान में, **(कुरुक्षेत्रे)** कुरुक्षेत्र में, **(युयुत्सवः)** युद्ध करने की इच्छा वाले **(समवेताः)** एकत्र हुए **(मामकाः)** मेरे **(पाण्डवाः च)** और पाण्डु पुत्रों ने **(एव)** भी **(किम्)** क्या **(अकुर्वत)** किया।

अर्थ- धृतराष्ट्र बोले, हे संजय। कुरुक्षेत्र के मैदान में-धर्मभूमि में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डु पुत्रों ने क्या किया।

भावार्थ- भगवद्गीता के इस श्लोक का प्रथम पद **'धर्मक्षेत्रे'** वर्तमान काल में अति गहन एवं गम्भीर चिंतन का विषय है। क्योंकि आज पृथिवी पर अनेक मत-मतान्तरों का उदय हो चुका है। तब इस गीता ग्रंथ में कहे इस धर्म शब्द की व्याख्या हम कृष्ण महाराज के मुख से निकले पाँच हजार वर्ष से अधिक समय पहले के धर्म से करें अथवा इस धर्म शब्द की व्याख्या वर्तमान के मत-मतान्तरों के अनुसार करें? यह एक गंभीर चिंतन का विषय है। अतः हम सनातन, अविनाशी संस्कृति का त्याग न करते हुए गीता में कहे धर्म, कर्म अथवा किसी भी पद का अर्थ व भाव वेदों, शास्त्रों व उपनिषद् आदि ऋषि-प्रणीत पुरातन ग्रंथों के अनुसार ही करें। क्योंकि भगवद्गीता में सनातन-वैदिक पद्धति को ही अपनाया गया है, जिसका उल्लेख श्री कृष्ण महाराज जी ने स्वयं गीता में यथास्थान पर किया है इसलिए गीता का अध्ययन अथवा प्रवचन करने वाले को संपूर्ण वेद-विद्या का ज्ञान होना आवश्यक है, अन्यथा गीता के श्लोकों के अर्थ का अनर्थ हो जाएगा।

धर्म किसी व्यक्ति से उत्पन्न न होकर परमात्मा से उत्पन्न और उस धर्म का वर्णन ईश्वर ने चारों वेदों में किया है। जिसमें बताया कि वेदाध्ययन,

यज्ञ, ब्रह्मचर्य आदि जितने भी वेदों में कर्त्तव्य मनुष्य जाति के लिए कहे हैं, उनको वेदाध्ययन द्वारा विद्वानों से समझकर उन शुभ कर्मों को करना अनादिकाल से चला आ रहा, मनुष्य का धर्म कहा है, जिसका वर्णन **महर्षि जैमिनी ने मीमांसा शास्त्र,** सूत्र १/१/२ में इस प्रकार कहा-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः

अर्थात् वेद प्रतिपादित अर्थ को धर्म कहते है।

महाभारत ग्रन्थ के **वन पर्व २४/८२** में यक्ष के प्रश्न का उत्तर देते हुए युधिष्ठिर कहते हैं कि धर्म का तत्त्व हृदय गुहा में निहित है अर्थात् अत्यन्त गूढ़ है। **धृत्** धातु से **धर्म** शब्द बना है जिसका अर्थ है धारण करना। ऋषियों ने वेदों में कहे शुभ गुण एवं कर्त्तव्यों को जीवन में धारण एवं पालन करने को ही मानव धर्म कहा है। गीता स्वयं वैदिक ज्ञान से ओतप्रोत है।

यजुर्वेद मंत्र ३२/६ ऋग्वेद १०/८५/१ में कहा कि पृथिवी ईश्वरीय सत्य धर्म द्वारा टिकी है, अतः मनुष्यों द्वारा धर्म धारण करने पर ही पृथिवी पर सुख-शान्ति का वास होता है। **ऋग्वेद मंत्र १०/५६/३** में ज्ञान, कर्त्तव्य, शुभ कर्म, बल, सुशिक्षा, उत्तम आचरण, सत्य, तत्त्व बोध तथा विद्वानों का संग, इसे सत्य धर्म प्राप्ति का मार्ग कहा है। **ऋग्वेद मंत्र १/१३६/८** में वेदों में कहे राष्ट्र-हित एवं मानव-हित में किए कर्त्तव्यों का पालन करना मानव धर्म कहा है। इन वेद मंत्रों का सारांश है कि राष्ट्रीय धर्म, शक्ति, भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति के लिए जो-जो कर्त्तव्य-कर्म कहे गए हैं, उनका पालन करना मानव धर्म है। महाभारत काल वैदिक परम्पराओं से जुड़ा काल था। श्री कृष्ण एवं अन्य व्यास मुनि जैसे महापुरुषों ने जब देखा कि वेदों में कहे कर्त्तव्य-कर्म क्षीण होते जा रहे हैं, दुर्योधन द्वारा नारी अपमान, वेद, वृद्धों एवं ऋषियों का अपमान और जुआ, मदिरा, छल-कपट-झूठ इत्यादि अनेक अवगुणों द्वारा प्रजा को दुःख देना प्रारम्भ कर दिया है और अधर्म को बढ़ावा दिया जाने लगा है, तब राष्ट्र में धर्म स्थापना करना क्षत्रिय धर्म है। ऐसा विचार करके इस युद्ध को वेद शिक्षा के अनुसार **"धर्मक्षेत्रे"** जैसे महान शब्दों से सम्बोधित किया गया है। वस्तुतः यह

युद्ध सम्पत्ति अथवा राजगद्दी के लिए न होकर राष्ट्र में धर्म स्थापना के लिए लड़ा युद्ध था। इसलिए अर्जुन को भी श्री कृष्ण क्षत्रिय धर्म की प्रेरणा दे रहे हैं। आज प्रायः वैदिक धर्म के लोप होने से अनेक दिशाहीन एवं धर्महीन युद्धों की झड़ी सी लग गई है, जिसमें विशेषतः सम्पूर्ण पृथिवी पर उग्रवाद का भी बोल-बोला है जिससे आम नागरिक भयभीत वातावरण में जीने के लिए मजबूर है। महाभारत का युद्ध कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म, कर्ण जैसे महापुरुषों एवं वेद ज्ञाताओं तथा श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर एवं सत्यवादी युधिष्ठिर जैसी विभूतियों ने लड़ा था जो धर्म मर्मज्ञ थे। उस समय नारी, वृद्ध, बच्चे एवं निहत्थों पर तथा युद्ध क्षेत्र छोड़कर भागने वालों पर भी भूल कर किसी ने हथियार नहीं उठाया था। आज गीता के प्रथम पद 'धर्मक्षेत्रे' का वैदिक अर्थ प्रायः लोप होने से प्राणी एटम-बम, हाइड्रोजन बम, मिजाइल, ए. के. ४७ बंदूकें, नारी, बच्चे, बूढ़े निहत्थे सबको मारकर न जाने कौन से धर्म की स्थापना कर रहे हैं। धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर के राज्य को छल-कपट से अन्यायपूर्वक जबरन प्राप्त कर लिया था जो कि अधर्म था। अधर्म करने वाला प्राणी सदा भय और शोकग्रस्त रहता है। यही भय एवं शोकग्रस्त स्थिति धृतराष्ट्र की थी और वह चिन्तित था कि महाबली पाण्डवों से युद्ध करके दुर्योधन आदि उसके पुत्र कैसे विजय प्राप्त कर सकेंगे। अतः भयग्रस्त होकर ऊपर कहे श्लोक में धृतराष्ट्र संजय से पूछ रहे हैं कि धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र में युद्ध की इच्छा से एकत्र हुए मेरे और पाण्डुपुत्रों ने क्या किया। गीता का यह सन्देश है कि अधर्म एवं पापयुक्त कर्मों को त्यागकर के सदा निर्भय और प्रसन्नता से युक्त दीर्घायु प्राप्त करें।

गीता ग्रन्थ क्योंकि व्यास मुनि रचित महाभारत के भीष्म पर्व के १८ अध्यायों का संग्रह है अतः इसको पूर्ण रूप से जानने के लिए गीता से पूर्व एवं पश्चात की कथा का कुछ-कुछ अंश जानना अति आवश्यक है। महाभारत के प्रामाणिक मूल श्लोक केवल दस हजार ही हैं। इसमें व्यास जी ने चार हजार चार सौ और उनके शिष्यों ने पाँच हजार छः सौ श्लोक लिखे। महाराज विक्रमादित्य के समय में यह बीस हजार हो गए। महाराज भोज लिखते हैं कि मेरे पिताजी के समय में पच्चीस हजार और मेरी आधी उम्र में तीस हजार

तक पहुँच गए हैं। जो ऐसे ही यह ग्रंथ बढ़ता चला गया तो आगे चल कर यह एक ऊँट पर उठा कर चलने वाला बोझा हो जाएगा । वर्तमान में एक लाख बीस हजार तक श्लोक हो चुके हैं। यह हमारी मूल संस्कृति का विनाश है। महाभारत के अनुसार राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत हुए जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत-वर्ष हुआ। इस वंश में आगे चलकर राजा कुरु हुए। इसी वंश में राजा प्रतीप ने अपनी रानी संग पुत्र प्राप्ति के लिए तप किया तथा एक शान्त स्वरूप तपस्वी राजा की संतान होने से उन्हें शान्तनु नामक पुत्र प्राप्त हुआ। शान्तनु का पुत्र देवव्रत हुआ जो आगे चलकर भीष्म पितामह कहलाए। भीष्म के सौतेले भाई विचित्रवीर्य की दो पत्नियाँ थीं- अम्बिका और अम्बालिका। अम्बिका के पुत्र का नाम धृतराष्ट्र और अम्बालिका के पुत्र का नाम पाण्डु था। धृतराष्ट्र जन्म से अंधे होने के कारण राज्य के अधिकारी नहीं थे। अतः पाण्डु राजा बने। धृतराष्ट्र के दुर्योधन आदि सौ पुत्र कौरव और पाण्डु राजा के युधिष्ठिर, अर्जुन आदि पाँच पुत्र पाण्डु पुत्र कहलाए। धृतराष्ट्र को थोड़े समय के लिए राजगद्दी पर बैठा कर पाण्डु अपनी पत्नियों कुन्ती-माद्री सहित वन-विहार करने गए थे जहाँ उनकी मृत्यु हो गयी। इस पर धृतराष्ट्र ने गद्दी हथिया ली। अतः महाभारत युद्ध पारिवारिक युद्ध था न कि दो देशों की लड़ाई। उस समय तक सम्पूर्ण पृथिवी का एक ही चक्रवर्ती राजा हुआ करता था जो उस समय धोखे से धृतराष्ट्र बन गया था। पाण्डु पुत्र अर्जुन का पुत्र अभिमन्यु, अभिमन्यु के पुत्र परीक्षित तथा परीक्षित के पुत्र जनमेजय हुए। महाभारत के **'आदि पर्व'** में आता है कि एक बार यज्ञ में एकत्र ऋषियों में व्यास मुनि जी की पूजा करके राजा जनमेजय ने पूछा-हे द्विज आपने कौरवों एवं पाण्डवों को प्रत्यक्ष देखा है, अतः मैं आपसे उनका चरित्र सुनना चाहता हूँ। मेरे पूर्वज अविद्या, राग-द्वेष आदि क्लेशों से रहित थे, तब उनमें भेद-बुद्धि कैसे उत्पन्न हुई, जिसके परिणाम में प्राणियों का नाश करने वाला पृथिवी पर महायुद्ध हुआ। तब महामुनि व्यास की आज्ञा से उनके शिष्य वैशम्पायन जी ने राजा जनमेजय को युद्ध का समस्त वृत्तान्त सुनाया, और इस व्याख्यान का नाम ही महाभारत ग्रन्थ पड़ा जिसमें गीता के समस्त १८ अध्याय भीष्म पर्व से लिए गए हैं। अतः महाभारत युद्ध एक ही परिवार की लड़ाई थी। भीष्म पर्व में जब धृतराष्ट्र व्याकुल होकर संजय से पूछ रहे

हैं कि मूर्ख दुर्योधन के अज्ञान द्वारा युद्ध में अन्याय और न्याय की जो-जो बातें घटी और मेरी अक्षौहिणी सेना को व्यूहाकार में खड़ी देख युधिष्ठिर ने अपनी थोड़ी सी सेना द्वारा किस प्रकार व्यूह रचना की? संजय बोले कि भीष्म द्वारा व्यूह रचना देखकर युधिष्ठिर की कान्ति जब फीकी पड़ गई तब अर्जुन ने कहा, **"यतो धर्मः ततो जयः"**

अर्थात् जहाँ धर्म है वहीं विजय है, और अर्जुन ने वहाँ एक दुर्जय वज्रव्यूह रचना प्रस्तुत की। इसी संदर्भ में गीता का अगला श्लोक है :-

संजय उवाच-

'दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत्।।'

(गीता १/२)

(तदा) तब **(राजा दुर्योधनः)** राजा दुर्योधन ने **(व्यूढम्)** व्यूह रचना युक्त **(पाण्डवानीकम्)** पाण्डवों की सेना को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(तु)** निःसंदेह **(आचार्यम्)** आचार्य के **(उपसंगम्य)** निकट जाकर **(वचनम्)** वचन **(अब्रवीत्)** कहे।

अर्थ : तब राजा दुर्योधन ने पाण्डवों द्वारा व्यूह रचना में खड़ी सेना को देखकर आचार्य द्रोण के निकट जाकर यह वचन कहे -

'पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।'

(गीता १/३)

(आचार्य) हे आचार्य **(तव)** तेरे **(धीमता)** बुद्धिमान **(शिष्येण)** शिष्य **(द्रपदपुत्रेण)** द्रपुद के पुत्र द्वारा **(व्यूढाम्)** व्यूह रचना युक्त **(पाण्डुपुत्राणाम्)** पाण्डुपुत्रों की **(एताम्)** इस **(महतीम्)** बड़ी **(चमूम्)** सेना को **(पश्य)** देखिए।

अर्थ : हे आचार्य द्रोण आपके बुद्धिमान शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूह रचना युक्त पाण्डु पुत्र की इस बड़ी सेना को देखिए।

भावार्थ : महाभारत युद्ध पारिवारिक लड़ाई है। दोनों तरफ के राजा एक दूसरे

की सेना को देखकर घबरा रहे हैं। पुत्र मोहवश, छल द्वारा धृतराष्ट्र ने राजगद्दी को हड़प लिया था। वेद वाक्य है कि ऐसे राज्य का परिणाम नारी-अपमान, वैदिक धर्म की हानि, भ्रष्टाचार इत्यादि ही होता है और यही सब कुछ उस राज्य में बढ़ गया था। तब धर्म की पुनः स्थापना के लिए यह युद्ध लड़ा गया। जिसका कुप्रभाव आज तक इस पृथिवी पर राजनीति और धर्म की आड़ में पाप वृत्तियों का प्रभाव हम भोग रहे हैं। अतः धन, पुत्र अथवा कुर्सी का मोह वर्तमान के नेताओं में भी है तो वोटों की राजनीति, भ्रष्टाचार, नारी-दुर्दशा, भाई-भतीजावाद, उग्रवाद, पर्यावरण, अन्याय इत्यादि कुरीतियों सहित थोथे कर्मकाण्ड एवं अंधविश्वासों पर टिका अप्रमाणिक धर्म भविष्य में निश्चित ही अत्याधिक अथवा पूर्ण रूप से जनता के लिए घातक सिद्ध होगा, इसमें संदेह नहीं।

द्रोणाचार्य के शिष्य धृष्टद्युम्न ने पाँच पाण्डवों सहित अस्त्र-शस्त्र विद्या द्रोणाचार्य से ही सीखी और व्यूह रचना करके अपने ही आचार्य द्रोण से युद्ध करने आमने-सामने आ गए। इससे गीता में यह स्पष्ट हो जाता है कि इन सबने अपने आचार्य के विरुद्ध युधिष्ठिर का साथ देना धर्म समझा और दुर्योधन का पक्ष इन्होंने अधर्म-युक्त करार दिया। अतः गीता यहाँ संकेत करती है कि ऐसे गुरु जो वेदों में कहे धर्म पर नहीं चलते, मिथ्यावादी, मन में कुछ और वाणी से कुछ बोलने वाले, धर्म-आचरण से रहित हैं उन्हें त्याग दिया जाए अन्यथा उनके मिथ्यावादी उपदेशों से तथा झूठे बहकावों से जीवन दुःखमय होता चला जाएगा। राजा दुर्योधन आचार्य द्रोण से बोले-

'अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।'

(गीता १/४)

(अत्र) यहाँ **(युधि)** युद्ध में **(महेष्वासाः)** बड़े-बड़े धनुषधारी **(भीमार्जुन)** भीम और अर्जुन के **(समाः)** समान **(युयुधानः)** सात्यकि **(च)** और **(विराटः)** विराट **(च)** तथा **(महारथः)** महारथी **(द्रुपदः)** द्रुपद **(शूराः)** शूरवीर **(सन्ति)** हैं।

अर्थ : युद्ध में यहाँ भीम अर्जुन के समान बल वाले शूरवीर युयुधान,

विराट और महारथी द्रुपद दिखाई दे रहे हैं। (राजा द्रुपद की पुत्री ''द्रौपदी'' और पुत्र 'धृष्टद्युम्न' था)

'धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः।।'

(गीता १/५)

(च) और **(धृष्टकेतुः)** धृष्टकेतु राजा **(चेकितानः)** योद्धा चेकितान **(च)** और **(वीर्यवान्)** शक्तिशाली **(काशिराजः)** काशी का राजा **(पुरुजित्)** पुरुजित **(कुन्तिभोजः)** राजा कुन्ति भोज **(च)** और **(नरपुंगवः)** मनुष्यों में श्रेष्ठ **(शैब्यः)** राजा शैब्य हैं।

अर्थ : और धृष्टकेतु, चेकितान तथा शक्तिशाली काशी के राजा पुरुजित, राजा कुन्तिभोज तथा नर श्रेष्ठ राजा शैब्य हैं।

'युधामन्युश्चविक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।'

(गीता १/६)

(च) और **(विक्रान्तः)** पराक्रमी **(युधामन्युः)** युधामन्यु **(च)** और **(वीर्यवान्)** बलशाली **(उत्तमौजाः)** उत्तमौजा **(सौभद्रः)** सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु **(च)** और **(द्रौपदेयाः)** द्रौपदी के पाँचों पुत्र **(सर्वे एव महारथाः)** ये सब के सब ही महारथी हैं। (दस हजार धनुर्धारी योद्धाओं के साथ अकेले युद्ध करने वाला उस समय महारथी कहलाता था। अथवा जिसके पास एक बड़ा रथ हो वह महारथी हुआ।)

अर्थ : और पराक्रमी युधामन्यु, बलशाली उत्तमौजा, सुभद्रा पुत्र अभिमन्यु तथा द्रौपदी के पाँचों पुत्र ये सब के सब ही महारथी हैं।

भावार्थ : श्लोक ४ से ६ तक राजा दुर्योधन ने आचार्य द्रोण को पाण्डुपुत्रों की सेना के प्रधान सेनापति एवं सेना के मुख्य रक्षक योद्धाओं का परिचय दिया है। राजा दुर्योधन पाण्डु पुत्रों के प्रधान महारथियों का परिचय देकर उसके पश्चात अपनी इस सेना के सामर्थ्य का परिचय आचार्य द्रोण को दे रहे हैं

**'अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते।।'**

(गीता १/७)

(द्विजोत्तम) हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ **(अस्माकम्)** हमारे **(तु)** तो **(ये)** जो **(विशिष्टाः)** प्रधान हैं **(तान्)** उनको **(निबोध)** जानिए। **(नायकाः)** नायक हैं **(मम)** मेरी **(सैन्यस्य)** सेना के **(ते)** आपकी **(संज्ञार्थम्)** जानकारी के लिए (संज्ञा-उनके नाम) **(तान्)** उनको **(ब्रवीमि)** कहता हूँ।

अर्थ : राजा दुर्योधन ने कहा-हे ब्राह्मणों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण अब हमारी सेना के जो मुख्य नायक (सेनापति) हैं, उनको भी आप जानिए। आपकी जानकारी के लिए मैं उनके नाम कहता हूँ।

भावार्थ : भगवद्गीता ग्रन्थ व्यास मुनि जी की कृति है, जो वेदों के महाविद्वान् हैं। क्योंकि गीता काल, तक किसी भी मजहब, सम्प्रदाय अथवा किसी एक भी वर्तमान की धार्मिक पुस्तकों की रचना नहीं हुई थी। अतः गीता में वर्णित सब विशिष्ट शब्द वेदों से ही लिए गए हैं। अतः ऊपर कहा द्विजोत्तम (द्वि+उत्तम) शब्द भी वैदिक है और गूढ़ मार्मिक अर्थ लिए हुआ है। जिसे आज प्रायः भुला दिया गया है। 'द्वि' का अर्थ है दूसरा, 'ज' अक्षर जब समास के अन्त में आता है तब इसका अर्थ होता है ''इससे जन्म लिया''। **अष्टाध्यायी सूत्र 'संख्यापूर्वो द्विगुः' २/१/५१** के अनुसार द्विज शब्द द्विगु समास है। मनुस्मृति **अध्याय-२ श्लोक १४७** में कहा है कि वेद की आज्ञा अनुसार मनुष्य का जन्म प्रथम माता-पिता द्वारा और दूसरा जन्म तब समझो जब वह वेदज्ञ विद्वान् से दीक्षा लेता है। **अथर्ववेद मंत्र ११/७/८** में कहा **'छन्दसा सह दीक्षा'** वेद ज्ञान के साथ दीक्षा लेना कहा है। **यजुर्वेद मन्त्र १९/३०** में कहा है कि जब-जब मनुष्य धर्म की जिज्ञासा हेतु सत्य भाषण एवं ब्रह्मचर्य आदि नियम धारण करता है तब **'दीक्षाम् आप्नोति'** वह वेदों के साथ यज्ञ की दीक्षा प्राप्त करता है। दीक्षा से (दक्षिणा) धन वा प्रतिष्ठा और दक्षिणा से (श्रद्धाम्) सत्य को धारण करने की इच्छा एवं श्रद्धा से ईश्वर को प्राप्त करता है। यह सब वर्तमान के नहीं अपितु वैदिक अर्थ हैं। इन्हीं सब गुणों को धारण करने वाले वेद ज्ञान के ज्ञाता महापुरुष द्रोण को यहाँ द्विज+उत्तम, द्विजों में उत्तम, कहा है। वेद

सब विद्याओं का भण्डार है, अतः द्रोणाचार्य जी ने भी शस्त्र-विद्या का ज्ञान अपने आचार्य द्वारा दीक्षित होकर वेदों में से ही लिया था। अतः द्विज कहलाए थे। आज हमें इस मार्मिक शब्द द्विज को समझने की आवश्यकता है। द्रोणाचार्य तो शस्त्र विद्या के महारथी थे परन्तु अन्य ऋषि याज्ञवल्क्य, श्रीराम के आचार्य वसिष्ठ मुनि, श्री कृष्ण के आचार्य सन्दीपन और ऐसे ही व्यास मुनि इत्यादि पूर्व के सब महापुरुष द्विज थे। आज के गुरुओं को भी यह भगवद्-गीता का श्लोक वैदिक दीक्षा के लिए आमंत्रित कर रहा है। अन्यथा वेद मन्त्र दृष्टा श्री कृष्ण एवं मुनि व्यास द्वारा कही गीता को, वेदों से न जानने वाले स्वयं भी न समझ पाएँगे फिर दूसरों को तो वह निश्चित ही **सांख्य शास्त्र** के **सूत्र ३/८१** के अनुसार अन्धपरम्परा को ही बढ़ावा देंगे।

सृष्टि रचयिता ईश्वर की तरह ज्ञान भी निराकार है। **यजुर्वेद मंत्र ३१/११, सामवेद मंत्र ६४४ और ऋग्वेद मंत्र १/१६४/४६** में कहा कि मंत्र दृष्टा ऋषियों के मुख द्वारा ज्ञान निकलता है। ईश्वर की तरह ज्ञान भी दिव्य है, इस लोक का नहीं, अपितु यह स्वयं सृष्टि रचयिता ईश्वर से ही झरता (निकलता) है। जैसा कि **यजुर्वेद मंत्र ३१/७** से स्पष्ट है। यह मंत्र, चारों वेदों के ज्ञान को ईश्वर से उत्पन्न सिद्ध करता है। अतः मानव धर्म ईश्वर का बनाया होता है, इसे स्वयं मानव नहीं बना सकता। गीता अध्याय १३ श्लोक ४ में स्वयं भगवान कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! ऋषियों ने बहुत प्रकार से इसे गाया है तथा ऋग्, यजु, साम तथा अथर्ववेद में 'क्षेत्र' जो शरीर है तथा क्षेत्रज्ञ जो जीव तथा परमात्मा है, के इस ज्ञान को पृथक्-पृथक् कहा गया है। उसी परमात्मा से उत्पन्न वेदों में वर्णित एवं पुनः ऋषियों द्वारा उच्चारित ज्ञान इस पवित्र गीता ग्रन्थ में है। अतः श्री कृष्ण जी के अनुसार भी भगवद्गीता को वेदों से पृथक् नहीं किया जा सकता। दुर्योधन द्विजों में श्रेष्ठ आचार्य द्रोण से कह रहे हैं:-

'भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च।।'

(गीता १/८)

(भवान्) आप **(च)** और **(भीष्मः च कर्णः)** भीष्म और कर्ण **(च)** तथा

(समितिंजयः) युद्ध में जीतने वाले **(कृपः)** कृपाचार्य **(च)** और **(तथा एव)** वैसे ही **(अश्वत्थामा)** अश्वत्थामा **(विकर्णः)** विकर्ण **(च)** और **(सोमदत्तिः)** वाहिकों के राजा सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा हैं।

अर्थ : आप (द्रोणाचार्य), भीष्म, कर्ण युद्ध में जीतने वाले कृपाचार्य और वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण तथा वाहिकों के राजा सोमदत्त का पुत्र भूरिश्रवा हैं।

'अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।'

(गीता १/६)

(मदर्थे) मेरे लिए **(नानाशस्त्रप्रहरणाः)** प्राण हरण करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के शस्त्रों सहित **(अन्ये)** अन्य **(च)** और **(बहवः)** अनेक **(शूराः)** शूरवीर **(त्यक्तजीविताः)** जीवन त्यागने वाले **(सर्वे)** सब **(युद्धविशारदाः)** युद्ध करने में प्रवीण हैं।

अर्थ : इसके अतिरिक्त मेरे लिए जीवन त्यागने वाले अन्य भी अनेक शूरवीर युद्ध में लड़ने वाले हैं जो सबके सब युद्ध करने में प्रवीण एवं भिन्न-भिन्न शस्त्र चलाने में निपुण हैं।

'अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।

(गीता १/१०)

(भीष्माभिरक्षितम्) भीष्म द्वारा रक्षित **(तत्)** वह **(अस्माकम्)** हमारी **(बलम्)** सेना **(अपर्याप्तम्)** सक्षम नहीं है, **(इदम्)** यह **(तु)** तो **(भीमाभिरक्षितम्)** भीम द्वारा रक्षित **(बलम्)** सेना **(एतेषाम्)** इनकी **(पर्याप्तम्)** सक्षम/काफी है।

अर्थ : सेनापति भीष्म द्वारा रक्षित वह हमारी सेना का बल पर्याप्त नहीं है। और पाण्डु पुत्रों की सेना का बल पर्याप्त है, उनका सेनापति महाबली भीम है।

भावार्थ : इस श्लोक में दो शब्द, पहला अपर्याप्त दूसरा पर्याप्त के कई जगह अर्थ क्रमशः अपरिमित/नाकाफी एवं परिमित/काफी किया है।

कौरवों ने पाण्डवों को मारने के लिए लाख का घर बनाया जो बुज़दिली का प्रतीक था। महाभारत के सभा पर्व का वर्णन है कि एक बार जब धृतराष्ट्र ने पाण्डुपुत्रों को वन में भेज दिया था तब शोकग्रस्त धृतराष्ट्र को संजय ने कहा कि अब आप शोकाकुल क्यों हैं? उत्तर में धृतराष्ट्र ने कहा कि हे संजय! जिसका वैर महारथी बलवान पाण्डवों से हो जाए, वह शोक मग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं? अतः यहाँ अपर्याप्त का अर्थ असक्षम अथवा नाकाफी और पर्याप्त का अर्थ सक्षम अथवा प्रचुर (काफी) है। भाव यह है कि धृतराष्ट्र की तरह धृतराष्ट्र पुत्र दुर्योधन भी पाण्डुपुत्रों के बल को अपरिमित तथा अपने से अत्याधिक मानता था। अन्यथा लाख का घर, जुए में जीतकर वन भेजने के बजाय बिना भीष्म इत्यादि की सहायता के वह पाण्डवों से सीधा युद्ध कर सकता था जिसकी उसमें हिम्मत नहीं थी। जब छद्म युद्ध इत्यादि कोई भी युक्ति सफल न हो पाई तब उसने भीष्म, द्रोण, कर्ण एवं कृपाचार्य इत्यादि अनेक महारथियों के बल के भरोसे युद्ध घोषित कर दिया। वस्तुतः वर्तमान में भी ऐसे अनेक दुर्योधन पैदा हैं जो स्वयं को भूमिगत करके अपराध जगत में सिरमौर हैं। ऐसे अपराधी देश और विदेश दोनों जगह हैं। **अथर्ववेद मंत्र ३/१/२** में कहा है कि राजा की सेना यदि थोड़ी भी हो और शत्रु का भयंकर संकट उपस्थित हो तब भी रणनीति द्वारा सेना शत्रुओं को मसल डाले। वैदिक परम्परा की **'यतो धर्मः ततो जयः'** युक्ति भी सत्य है। इन सब बातों को दुर्योधन भली भांति जानता था। अतः वह जानता था कि इस युद्ध में जहाँ पाण्डुपुत्र एकमत होकर पूर्ण शक्ति से युद्ध करेंगे वहाँ धर्मात्मा भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य जैसे अनेक महारथी हृदय से पाण्डवों के साथ और शरीर से उसके (दुर्योधन) साथ थे। अतः दुर्योधन डरा हुआ सा है। तभी पाण्डुपुत्रों से कई गुणा अधिक सेना एवं उनसे कई गुणा अधिक बलशाली भीष्म जैसे योद्धाओं का साथ होने पर भी अपनी सेना को अपर्याप्त (असक्षम/नाकाफी) एवं शत्रुपक्ष पाण्डुपुत्रों की सेना को पर्याप्त (सक्षम/काफी) कह रहा है। संस्कृत भाषा में पर्याप्त का अर्थ सक्षम/यथेष्ट/काफी है तथा अपर्याप्त का अर्थ असक्षम/जो काफी नहीं है, दिए गए हैं, यही उचित है।

दुर्योधन बोले -

'अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।'

(गीता १/११)

(च) और **(भवन्तः)** आप **(सर्वेषु)** सब **(अयनेषु)** मोर्चों पर **(यथाभागम्)** अपने-अपने भाग के अनुसार **(अवस्थिताः)** स्थित रहते हुए **(सर्वे)** सब **(एव)** ही **(हि)** निःसन्देह **(भीष्मम्)** भीष्म की **(एव)** ही **(अभिरक्षन्तु)** सब तरफ से रक्षा करें।

अर्थ : और आप सब मोर्चों पर अपने-अपने भाग के अनुसार स्थित रहते हुए सब ही निःसन्देह भीष्म की ही सब तरफ से रक्षा करें।

भावार्थ : भीष्म पर्व में ही भगवद्गीता ग्रन्थ के श्लोक आरम्भ होने से पूर्व का वर्णन है कि जब दोनों सेनाएं अपने-अपने स्थान पर युद्ध के लिए तैयार हो गईं तब दुर्योधन ने दुःशासन से कहा -"हे दुःशासन! आप भीष्म की रक्षा के लिए रथों को शीघ्र तैयार कराओ। सम्पूर्ण सेनाओं को भीष्म की रक्षा करने की आज्ञा दो। मैं भीष्म की रक्षा से बढ़कर और कोई कार्य आवश्यक नहीं समझता, क्योंकि भीष्म के सुरक्षित रहने पर ही हम कुन्ती पुत्रों सहित सबको मार सकते हैं।" दुर्योधन आगे बोले कि "विशुद्ध हृदय भीष्म मुझे कह चुके है कि मैं शिखण्डी को युद्ध में नहीं मारूँगा, क्योंकि सुनते हैं कि वह पहले स्त्री था, अतः रणभूमि में मेरे लिए वह सर्वथा त्यागने योग्य है, अतः मेरे सारे सैनिक मिलकर प्रथम शिखण्डी को ही मारने का प्रयत्न करें।" दुर्योधन के शिखण्डी के प्रति कहे ये वाक्य वेद-विरुद्ध एवं भीष्म पितामह के विरुद्ध हैं, अतः अधर्मयुक्त हैं। जहाँ वेद एवं वैदिक धर्म निभाने वाले भीष्म पितामह नारी और निहत्थे पर शस्त्र प्रहार नहीं करते थे दुर्योधन ने इसके विपरीत ही आचरण किया था। महाभारत का युद्ध ऐसे कई प्रकार के वेद-विरुद्ध अधर्मयुक्त कर्मों को नाश करके धर्म स्थापना के लिए ही लड़ा गया था।

महाभारत के भीष्म पर्व में युद्ध की पहली आज्ञा दुर्योधन ने भीष्म पितामह की रक्षा के प्रति कही है, क्योंकि उन्हें डर है कि पाण्डुपुत्रों द्वारा शिखण्डी को यदि युद्ध के लिए पितामह के सम्मुख खड़ा किया तो भीष्म शस्त्र त्याग देंगे। और भीष्म पितामह इस प्रकार युद्ध में मारे जा सकते हैं। दुर्योधन

स्पष्ट कह रहा है कि यदि भीष्म जीवित हैं तभी पाण्डुपुत्र सहित सब मारे जाएँगे। दुर्योधन को अपने बल की अपेक्षा भीष्म के ही बाहुबल पर पूरा विश्वास था, जिस कारण दुर्योधन ने युद्ध लड़ा था। दूसरा दुर्योधन ने भीष्म को यहाँ **"विशुद्ध हृदय"** वाला कहा है, जो छल कपट नहीं करता। तीसरा भीष्म नारीं पर हाथ नहीं उठाते हैं। आज वैदिक शिक्षा की कमी से सैनिकों में ऐसे धर्म का पालन अत्यन्त कठिन सा दीख पड़ता है। सेना के बम अथवा उग्रवादियों की गोलियाँ तो बच्चे, बूढ़े, निहत्थे तथा बेबस नारी किसी को भी नहीं छोड़ती। अतः भगवद्गीता ग्रंथ एक धार्मिक ग्रंथ भी है जो हमारे पूर्वजों की जीवनी में उतारी वैदिक शिक्षा को अपनाकर वर्तमान में भी पृथिवी पर धर्म स्थापना की प्रेरणा दे रहा है। और महाभारत का युद्ध भी इस प्रकार धर्म स्थापित करने के लिए लड़ा गया धर्म-युद्ध है। धर्म का पक्ष युद्ध में पाण्डुपुत्रों सहित श्री कृष्ण का तथा अधर्म का पक्ष धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन, शकुनि इत्यादि का है।

'तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शखं दध्मौ प्रतापवान्।

(गीता १/१२)

(कुरुवृद्धः) कौरवों में वृद्ध **(प्रतापवान्)** पराक्रमी **(पितामहः)** पितामह भीष्म ने **(तस्य)** उसके अर्थात् दुर्योधन के हृदय में **(हर्षम्)** हर्ष को **(संजनयन्)** उत्पन्न करते हुए **(उच्चैः)** उच्च स्वर द्वारा **(सिंहनादं)** सिंह नाद जैसा **(विनद्य)** गर्जकर **(शंखम्)** शंख **(दध्मौ)** बजाने लगे।

अर्थ : तब राजा दुर्योधन के हृदय में हर्ष उत्पन्न करते हुए कौरवों में वृद्ध एक पराक्रमी पितामह भीष्म उच्च स्वर से गर्जकर सिंह की तरह गर्जना करके शंख को बजाने लगे।

'ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।'

(गीता १/१३)

(ततः) उसके बाद **(शंखाः)** शंख **(च)** और **(भेर्यः)** नगारे **(च)** और **(पणवः)**

ढोल मृदङ्ग **(आनकः)** नृसिंहादि **(गोमुखः)** गोमुख आदि वाद्य **(सहसा)** एक साथ **(एव)** ही **(अभ्यहन्यन्त)** बजाए गए **(सः)** वह **(शब्दः)** शब्द **(तुमुलः)** बड़ा भयानक **(अभवत्)** हुआ।

अर्थ : उसके बाद शंख, भेरी, पणव, आनक और गोमुखादि (ढोल-नगारे आदि) वाद्य एक साथ ही बजाए गए, वह शब्द बड़ा भयानक हुआ।

'ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः।।'

(गीता १/१४)

(ततः) तब **(श्वेतैः)** सफेद **(हयैः)** घोड़ों से **(युक्ते)** जुड़े हुए **(महति)** विशाल **(स्यन्दने)** रथ में **(स्थितौ)** बैठे **(माधवः)** श्री कृष्ण **(च)** और **(पाण्डवः)** पाण्डुपुत्र अर्जुन ने **(एव)** भी **(दिव्यौ)** दिव्यगुण युक्त **(शंखौ)** शंख **(प्रदध्मतुः)** बजाए।

अर्थ : तब सफेद घोड़ों से जुड़े हुए विशाल रथ में बैठे श्रीकृष्ण और पाण्डु-पुत्र अर्जुन ने भी दिव्यगुण युक्त शंख बजाए।

'पा चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशखं भीमकर्मा वृकोदरः।।'

(गीता १/१५)

(हृषीकेशः) श्रीकृष्ण महाराज ने **(पा चजन्यम्)** पा चजन्य नामक शंख **(धनंजयः)** अर्जुन ने **(देवदत्तम्)** देवदत्त नामक शंख **(भीमकर्मा)** भयानक कर्म वाले **(वृकोदरः)** भीमसेन ने **(पौण्ड्रम्)** पौण्ड्र नामक **(महाशंखम्)** महांशंख **(दध्मौ)** बजाया।

अर्थ :-श्री कृष्ण महाराज ने पा चजन्य नामक शंख, अर्जुन ने देवदत्त नामक शंख, भयानक कर्मवाले भीमसेन ने पौण्ड्र नामक महाशंख बजाया।

'अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।"

(गीता १/१६)

(कुन्तीपुत्रः) कुन्तीपुत्र **(राजा)** राजा **(युधिष्ठिरः)** युधिष्ठिर ने **(अनन्तविजयम्)** अनन्तविजय नामक शंख और **(नकुलः)** नकुल **(च)** तथा **(सहदेवः)** सहदेव ने **(सुघोषमणिपुष्पकौ)** सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाए।

अर्थ : कुन्तीपुत्र राजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय नामक शंख और नकुल तथा सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक नाम वाले शंख बजाए।

'काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।'

(गीता १/१७)

(परमेष्वासः) श्रेष्ठ धनुषवाला **(काश्यः)** काशिराज **(च)** और **(महारथः)** महारथी **(शिखण्डी)** शिखण्डी **(च)** और **(धृष्टद्युम्नः)** धृष्टद्युम्न **(च)** तथा **(विराटः)** राजा विराट **(च)** और **(अपराजितः)** अजेय **(सात्यकिः)** सात्यकि तथा

अर्थ :-श्रेष्ठ धनुष वाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न तथा राजा विराट और सात्यकि तथा

'द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शंखान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।'

(गीता १/१८)

(द्रुपदः) राजा द्रुपद **(च)** और **(द्रौपदेयाः)** द्रौपदी के पाँचों पुत्र **(च)** और **(महाबाहुः)** बड़ी भुजावाला **(सौभद्रः)** सुभद्रापुत्र अभिमन्यु **(सर्वशः)** इन सबने **(पृथिवीपते)** हे राजन् **(पृथक्-पृथक्)** अलग-अलग **(शंखान्)** शंख **(दध्मुः)** बजाए।

अर्थ :- राजा द्रुपद और द्रौपदी के पाँचों पुत्र और बड़ी भुजावाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु इन सबने हे राजन! अलग-अलग शंख बजाए।

'स घोषो धार्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्।।'

(गीता १/१६)

(च) और **(सः)** उस **(तुमुलः)** भयानक **(घोषः)** शब्द ने **(नभः)** आकाश **(च)**

और **(पृथिवीम्)** पृथिवी को **(एव)** भी **(व्यनुनादयन्)** शब्दायमान करते हुए **(धार्तराष्ट्राणाम्)** धृतराष्ट्र पुत्रों के **(हृदयानि)** हृदय **(व्यदारयत्)** विदीर्ण कर दिए।

अर्थः- और उस भयानक शब्द ने आकाश और पृथिवी को भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र पुत्रों के हृदय विदीर्ण कर दिए।

भावार्थ : वैदिक संस्कृतिं सनातन, पुरातन एवं शाश्वत है। इसका कोई विकल्प नहीं है। महाभारत का काल केवल वैदिक संस्कृति से जुड़ा था। आज के मत-मतान्तर, गुरु-गद्दी इत्यादि का उदय उस समय नहीं हुआ था। जैसे श्रीराम के विषय में तुलसी ने लिखा-**'श्रुति पथ पालक'**, वह वेद मार्ग अर्थात् वेद में कहे उपदेशों पर चलते थे। इसी प्रकार युद्ध में शंख बजाना और एक साथ कई शंखों, ढोल, नगारों का बजाना, शूरवीरों में उत्तम एवं आश्चर्य चकित उत्साह भर देता था। वही परम्परा आज भी देखने को मिलती है। सेना द्वारा प्रातः काल में देश का झंडा अपनी यूनिट में फहराना, तथा सांयकाल में झंडे को श्रद्धा से उतारना, एक शंख के समान बिगुल बजाकर किया जाता है। जब फौजी ट्रेनिंग समाप्त करता है तो मार्चपास्ट में बैंड-बाजे बिगुल सब बजते हैं। बिगुल बजने की विशेष-विशेष आवाज पर उसी के समान विशेष-विशेष कार्य फौजी करते हैं। इसी प्रकार युद्ध में व्यूह रचना वेदों में कही गई है जिसका अनुसरण आज भी 'रणनीति' कह कर किया जाता है। युद्ध ही क्या आज के जीवन का कोई भी ऐसा शुभ कार्य नहीं जिसका वर्णन वेदों में न हो। ज्ञान-विज्ञान सब विद्या वेदों में पूर्ण रूप से कही गई है। जैसे पृथिवी या ग्रह घूमते हैं, यह **यजुर्वेद मंत्र ३/६** में हैं। सूर्य से वर्षा होती है, महीने, समय बनते हैं, यह सब वेदों में है। शस्त्र-विद्या एवं तत्त्व ज्ञान से लगाकर आज तक वैज्ञानिकों ने जो-जो खोज की है वह सब वेदों में है। **वैज्ञानिक फ्रिथ जोफ कोर्पे** ने अपनी पुस्तक **'ताओ आव् फिजिक्स (१९७९)'** में कहा है कि वैदिक तत्त्व ज्ञान बीसवीं सदी के विज्ञान के अनुकूल है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हम आज अपनी सनातन एवं शाश्वत संस्कृति जो मानव कल्याणार्थ सब विद्याओं का भण्डार है, उसे भूलते जा रहे हैं। आज हमारे शारीरिक पोषण संबंधी वैदिक परम्पराओं की तो हम प्रारम्भ से ही नकल करते रहे, जिसके फलस्वरूप केवल भौतिक चमक-दमक की ही उन्नति हो

पाई। लेकिन वैदिक आध्यात्मिकवाद की नकल त्यागकर हम परमशान्ति जो पिछले तीनों युगों में थी, उससे हाथ धो बैठे। युद्ध की ही नकल में हम आध्यात्मिकवाद भुला बैठे हैं। जैसे कि भीष्म पर्व में ही युद्ध के नियम यह थे-सांयकाल दोनों पक्ष आपस में प्रेम से मिलें। सेना से बाहर निकल गए सैनिकों का वध न किया जाए। हाथीसवार-हाथीसवार वाले से, घुड़सवार-घुड़सवार वाले से और पैदल-पैदल वाले से ही युद्ध करे। जिसमें जैसी योग्यता, उत्साह एवं बल हो उसी अनुसार विपक्षी को बताकर युद्ध किया जाए। असावधान और घबराए हुए पर प्रहार न किया जाए। जो एक के साथ युद्ध में लगा हो, शरण में आया हो, पीठ दिखाकर भागा हो अथवा जिसके अस्त्र-शस्त्र और कवच कट गए हों, उन्हें न मारा जाए। वैदिक आध्यात्मिकवाद की शून्यता के कारण अब ऐसा धर्म देखने सुनने में नहीं आता। अपितु पूर्णतः इन नियमों के विपरीत आज युद्ध हो अथवा उग्रवाद, इनसे प्रायः डरे-सहमे नर-नारी, बच्चे-बूढ़े, गरीब-अमीर सब मौत के घाट उतारे जा रहे हैं। यह अधर्म की चरम-सीमा का नग्न ताण्डव नृत्य है। इसका मुख्य कारण वेदों में कहे रणक्षेत्र के नियमों को न जानना ही है। स्पष्ट है कि वेद-विद्या अपनाकर ही पृथिवी पर शांति स्थापित कर सकता है।

इसी प्रकार वैदिक परम्परानुसार अब शंख बजाकर शत्रु को सावधान करने की बजाए सोये हुए, छुपे हुए और असावधान पर घातक हमला किया जाता है।

पिछले श्लोकों में शंखनाद करने वाले योद्धा हैं जिसमें अभिमन्यु, अर्जुन पुत्र था। द्रुपद का पुत्र पांचाल कुमार, धृष्टद्युम्न और महारथी शिखण्डी था। भीष्म पर्व में व्यास मुनि जी कहते हैं कि नवें दिन भीष्म पितामह द्वारा युद्ध में पाण्डु सेना का घोर संहार देखकर रात्रि में ही कृष्ण सहित पाण्डवों ने भीष्म से मिलकर उनकी मृत्यु का रहस्य पूछा। क्योंकि युधिष्ठिर से भीष्म ने युद्ध से पहले स्पष्ट कह दिया था कि वह युधिष्ठिर का साथ नहीं देंगे, परन्तु युद्ध में तुम्हारे हित का परामर्श दे सकता हूँ। इसलिए भीष्म के पास जाकर युधिष्ठिर ने कहा, हे पितामह युद्धस्थल में मेरी विशाल सेना आपने नष्ट कर दी है। अतः युद्ध में हमें विजय कैसे प्राप्त हो इसका उपाय आप

स्वयं बताएँ। तब भीष्म ने कहा था कि हे युधिष्ठिर! तुम्हारी सेना में द्रुपद पुत्र शिखण्डी महारथी है एवं युद्ध विजयी है। शूरवीर अर्जुन युद्ध भूमि में शिखण्डी को आगे रखकर तीखे बाणों द्वारा मुझ पर आक्रमण करे। शिखण्डी पहले स्त्री रहा है, अतः मैं उस पर प्रहार नहीं करूँगा। शंखनाद के पश्चात अगले श्लोक में संजय ने धृतराष्ट्र से कहाः-

'अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्तराष्ट्रान्कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसंपाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।।'

(गीता १/२०)

(अथ) इसके बाद हे पृथिवी के स्वामी राजन्! **(कपिध्वजः)** कपि चिन्ह युक्त ध्वजा वाले **(पाण्डवः)** अर्जुन ने **(व्यवस्थितान्)** युद्ध के लिए तत्पर हुए **(धार्तराष्ट्रान्)** धृतराष्ट्र के पुत्रों को **(दृष्ट्वा)** देखकर **(शस्त्रसंपाते प्रवृत्ते)** शस्त्र चलाने की तैयारी के समय **(धनुः उद्यम्य)** धनुष उठाकर।

अर्थ : हे राजन्! उसके बाद कपि चिन्ह युक्त ध्वजा वाले अर्जुन ने युद्ध के लिए तत्पर हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों को देखकर शस्त्र चलाने की तैयारी के समय धनुष को उठाकर।

हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत।।'

(गीता १/२१)

(महीपते) हे राजन्! **(हृषीकेशम्)** श्री कृष्ण को **(तदा)** उस समय **(इदम्)** यह **(वाक्यम्)** वाक्य **(आह)** बोला कि **(अच्युत)** हे कृष्ण **(उभयोः)** दोनों **(सेनयोः)** सेनाओं के **(मध्ये)** बीच में **(मे)** मेरे **(रथम्)** रथ को **(स्थापय)** स्थापित करो।

अर्थ : हे राजन् श्रीकृष्ण को यह वाक्य बोला कि हे कृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में मेरे रथ को स्थापित करो।

भावार्थ : श्रीमद्भगवद्गीता आज से पाँच हजार वर्षों से पहले व्यास-मुनि रचित ग्रन्थ है। अतः गीता के शब्दों के अर्थ तथा भाव केवल वैदिक अर्थों पर ही आधारित हैं। क्योंकि उस समय वेदों के अतिरिक्त आज का कोई भी मज़हब

नहीं बना था। अतः वैदिक परम्पराओं से ओत-प्रोत गीता ज्ञान आज और भविष्य में सदा अपनाने योग्य है। इस श्लोक में अर्जुन, श्री कृष्ण को दोनों सेनाओं के मध्य रथ खड़ा करने का आदेश दे रहा है। एक योगेश्वर और उस समय के भी सब संसार में श्रेष्ठ पूजनीय श्री कृष्ण को अर्जुन द्वारा आदेश देना जहाँ श्री कृष्ण की मर्यादा, अर्जुन से प्रेम, सहनशील स्वभाव, मान -अपमान में समान एवं योग की निर्लिप्त अवस्था को दर्शाता है वहीं सदा संग रहने वाले अर्जुन को श्री कृष्ण के सत्य स्वरूप की अनभिज्ञता भी दर्शाता है।, तभी तो गीता अध्याय ११ में अर्जुन योगेश्वर श्री कृष्ण के सत्य स्वरूप को देखकर विस्मित हो जाता है। दूसरा आज प्रायः बड़े से बड़े गद्दी पर विराजमान गुरु भी शायद ही श्री कृष्ण के समान शिष्यों को गाड़ी में सवार करके ड्राइवर बनकर गाड़ी चलाएँ। इसी श्लोक में श्रीकृष्ण को **'अच्युत'** और **'हृषीकेश'** कहा है। **'च्युत'** का अर्थ है अलग हो जाना। 'एवं **'अच्युत'** का अर्थ है अलग नहीं होना। अर्थात् श्री कृष्ण अपनी नीति अथवा प्रतिज्ञा से कभी अलग नहीं होते थे। दूसरा **'हृषीकेश'** का अर्थ है इन्द्रियाँ, **ईश (ईष्टे ईशितृ)** का अर्थ है-स्वामी। श्रीकृष्ण पाँच ज्ञान, पाँच कर्म एवं मन इन्द्रियों पर विजय प्राप्त किए हुए थे। कई जगह श्री कृष्ण की सोलह हजार से अधिक रानियों और स्नान करती नारियों के वस्त्र उठाने का वर्णन आता है। परन्तु व्यास मुनि कृत महाभारत ही प्रमाणिक ग्रंथ है जिसमें ऐसा कोई वर्णन नहीं है। ऐसी कथाओं से विदेशों एवं नास्तिकों में श्रीकृष्ण जैसी महान विभूति का घोर निरादर हुआ है। महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पूर्व द्रोण पुत्र अश्वत्थामा एक बार श्रीकृष्ण से उनका चक्र लेने आए। श्रीकृष्ण ने कहा कि इस मेरे शस्त्र को तो कभी अर्जुन तक ने नहीं मांगा। लेकिन तू गुरु-पुत्र है इसलिए ले जा। प्रसन्न होकर जब अश्वत्थामा ने जोर लगाकर उठाने का सम्पूर्ण शक्ति से प्रयत्न किया लेकिन अश्वत्थामा श्रीकृष्ण के चक्र को हिला भी न सका। इस पर श्री कृष्ण ने कहा था कि हे अश्वत्थामा तू तो चंचल बुद्धि वाला है, इस चक्र को केवल ब्रह्मचारी ही उठा सकता है।

इस घटना से श्री कृष्ण, की इंद्रिय संयम की महिमा ज्ञात होती है। आज श्री कृष्ण व्यास मुनि, गुरु वसिष्ठ आदि विभूतियों की तुलना प्रायः

वर्तमान के गुरुओं से होने का रिवाज (परम्परा) हो गया है। वह पूर्व की विभूतियाँ वेदज्ञ, यज्ञनीय, योगाभ्यासी एवं संयम से युक्त थीं जबकि ये गुण आज पृथिवी से प्रायः लुप्त होते जा रहे हैं। अतः गुरु वसिष्ठ एवं ऋषि संदीपन जो क्रमशः श्री राम एवं श्रीकृष्ण के पूजनीय गुरु थे उनके समान होने का उदाहरण देकर गुरु बनने की प्रथा शोचनीय है। श्रीकृष्ण महाराज नग्न स्नान करती हुईं कन्याओं के वस्त्र उठा कर ले जाते थे, अथवा उनकी अनेक रानियाँ थी। ये सब असत्य कथाएँ हैं। ऐसी अनेक असत्य कथाओं ने श्रीकृष्ण महाराज की ब्रह्मचर्य रूपी छवि को अत्याधिक हानि पहुँचाई है। और ऐसी भ्रांतियुक्त असत्य कथाओं से जघन्य पाप फैलाने की संभावना हो जाती है। हम श्रीकृष्ण महाराज की सुन्दर ब्रह्मचर्ययुक्त छवि को केवल महाभारत के दस हजार पुरातन प्रमाणिक श्लोकों से ही समझ सकते हैं। क्योंकि ये महाभारत के दस हजार श्लोक श्रीकृष्ण महाराज के समकालीन व्यास मुनि द्वारा रचित हैं। व्यास मुनि जी ने केवल महाभारत और वेदान्त शास्त्र की ही रचना की थी।

अर्जुन ने कहाः-

'यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन्रणसमुद्यमे।।'

(गीता १/२२)

(यावत्) जब तक **(अहम् एतान्)** मैं इन **(अवस्थितान्)** स्थित हुए **(योद्धुकामान्)** युद्ध की कामना वालों को **(निरीक्षे)** देख लूँ कि **(कैः)** किन के **(सह)** साथ **(अस्मिन्)** इस **(रणसमुद्यमे)** युद्ध में **(मया)** मुझको **(योद्धव्यम्)** युद्ध करना योग्य है।

अर्थ : जब तक मैं इन स्थित हुए युद्ध की कामना वालों को देख लूँ कि इस युद्ध में मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना योग्य है।

'योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः।।

(गीता १/२३)

(योत्स्यमानान्) युद्ध करने वालों को **(अहम्)** मैं **(अवेक्षे)** देख लूँ **(ये, एते, अत्र)** जो ये यहाँ **(समागताः)** आए हैं और यह **(धार्तराष्ट्रस्य)** धृतराष्ट्र के पुत्र **(दुर्बुद्धेः)** दुर्बुद्धि दुर्योधन का **(युद्धे)** युद्ध में **(प्रियचिकीर्षवः)** प्रिय करने की इच्छा करते हैं।

अर्थ : युद्ध करने वालों को मैं देख लूँ जो ये यहाँ आए हैं और यह धृतराष्ट्र के पुत्र दुर्बुद्धि दुर्योधन का युद्ध में प्रिय करने की इच्छा करते हैं।

भावार्थ : दोनों सेनाओं के बीच रथ में खड़ा अर्जुन विपक्षी सेना के योद्धाओं को देखना चाहता है। भारद्वाज कुमार गुरु द्रोण शस्त्र विद्या को परशुराम जी से ग्रहण करके अपने बचपन के मित्र द्रुपद से मिलने गए। परन्तु धन और ऐश्वर्य के मद से उन्मत्त राजा द्रुपद ने प्रतापी द्रोण को निर्धन कहकर उनका निरादर कर दिया। द्रोणाचार्य घूमते-घूमते हस्तिनापुर पहुँचे जहाँ उन्होंने कौरव एवं पाण्डव बालकों की कुँए में पड़ी गिल्ली को और स्वयं की सोने की अंगूठी को कुँए में फैंक कर केवल सरकण्डे को गिल्ली पर मारकर और उस सरकण्डे के ऊपर दूसरा सरकण्डा और इस प्रकार तीसरा, चौथा, पाँचवा सरकण्डा एक दूसरे पर मारकर गिल्ली और अंगूठी को कुँए से बाहर निकाल दिया। ऐसी आश्चर्यजनक बात जब बालक कौरव और पाण्डव ने भीष्म-पितामह को बताई, तब भीष्म पितामह सब कुछ समझ गए और द्रोणाचार्य जी को आदर सहित महलों में लाकर कौरव-पाण्डवों को शस्त्र-विद्या सिखाने का दायित्व उन्हें प्रसन्नतापूर्वक सौंप दिया। यही बालक जब बड़े हुए तब गुरु-दक्षिणा में द्रोणाचार्य ने राजा द्रुपद के राज्य को छीनकर और द्रुपद को बंदी बनाकर लाने को कहा। कौरव तो इस युद्ध में फँस गए थे परन्तु अकेले अर्जुन ने युद्ध जीतकर राजा द्रुपद को बंदी बनाकर द्रोणाचार्य के सामने ला खड़ा किया। राजा द्रुपद ने द्रोणाचार्य की मित्रता स्वीकार की और द्रोणाचार्य ने उन्हें आधा राज्य ही लौटाया और आधे राज्य के द्रोणाचार्य स्वयं राजा बने। इस युद्ध-विजय से अर्जुन सहित सब पाण्डवों की कीर्ति फैली। इससे पहले बाल-क्रीड़ा में दुर्योधन ने भीम को विष खिलाकर जल में ढकेल दिया, लेकिन भीम बच गए। अब धृति, स्थिरता, सहिष्णुता, दयालुता, सरलता और अविचल, सौहार्द आदि गुणों के कारण पालन करने योग्य प्रजा पर अनुग्रह करने के लिए युधिष्ठिर

का युवराज पद पर अभिषेक हुआ, जिससे पाण्डवों के शौर्य से धृतराष्ट्र और कौरवों को चिन्ता हुई। तब धृतराष्ट्र ने राजनीति के ज्ञाता मंत्रीप्रवर कणिक से परामर्श किया। कणिक ने छल-बल द्वारा पाण्डवों को साम, दाम, भेद एवं दण्ड सभी उपायों द्वारा मिटा देने का परामर्श दिया। फिर लाक्षागृह में पाण्डवों को जलाने का षड्‌यंत्र रचा गया। ऐसे ही युधिष्ठिर द्वारा जुए में हार एवं द्रौपदी का चीर-हरण इत्यादि षड्‌यंत्रों ने युद्ध की भूमिका तैयार की थी। इसलिए अर्जुन रथ को दोनों सेनाओं के बीच में खड़ा करके विपक्ष की सेना के योद्धाओं को आँकना चाहता था। उस समय तक पृथिवी का एक ही चक्रवर्ती राजा होता था जो पाण्डवों की गद्‌दी छीनकर धृतराष्ट्र था, शेष सब माण्डलिक राजा होते थे। अतः यह युद्ध किसी देश के खिलाफ नहीं था अपितु पारिवारिक कलह का नतीजा था। धृतराष्ट्र के राज्य में दुष्ट बुद्धिवाले शकुनि, दुःशासन, दुर्योधन एवं कणिक आदि की चाण्डाल चौकड़ी के कारण अन्त में महाभारत जैसा भयंकर युद्ध होकर रहा। यहीं से आरम्भ हुआ भारत-भूमि का दुर्भाग्य। वैदिक गुरुकुल परम्पराओं का लोप होता गया और वेद-विरुद्ध पाखण्ड एवं अंधविश्वास फलता-फूलता गया।

इस प्रकार हम भारतीयों के प्राचीन वैभव का सूर्य अस्त हो गया। अब तक पृथिवी कई टुकड़ों में बँट चुकी है और प्रत्येक टुकड़े का अलग-अगल राष्ट्र अध्यक्ष है। अतः महाभारत युद्ध किसी एक देश का दूसरे देश पर आक्रमण नहीं था अपितु यह पारिवारिक कलह का परिणाम था। महाभारत काल हमें पारिवारिक एवं प्रादेशिक कलह इत्यादि से दूर रहकर सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण की शिक्षा दे रहा है। पारिवारिक युद्ध होने के कारण ही अर्जुन विपक्षी सेना के अपने परिवार के योद्धाओं को देखना चाहता है जिसकी प्रार्थना उन्होंने श्रीकृष्ण जी से की है कि हे कृष्ण! मेरा रथ दोनों सेनाओं के बीच में स्थापित करें जिससे मैं कौरव की तरफ से लड़ने वाले योद्धाओं को भली प्रकार देख लूँ।

संजय ने कहा -

'एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्।।

(गीता १/२४)

(भारत) हे धृतराष्ट्र **(गुडाकेशेन)** अर्जुन के द्वारा **(एवं)** इस प्रकार **(उक्तः)** कहे हुए **(हृषीकेशः)** योगेश्वर श्री कृष्ण **(सेनयोः उभयोः)** दोनों सेनाओं के **(मध्ये)** बीच में **(रथोत्तमम्)** उत्तम रथ को **(स्थापयित्वा)** स्थापित करके।

अर्थ :- हे धृतराष्ट्र! अर्जुन के द्वारा इस प्रकार कहे हुए योगेश्वर श्री कृष्ण दोनों सेनाओं के बीच में उत्तम रथ को स्थापित करके।

'भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान्समवेतान्कुरूनिति।।'

(गीता १/२५)

(भीष्मद्रोणप्रमुखतः) भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने **(च)** और **(सर्वेषाम्)** संपूर्ण **(महीक्षिताम्)** राजाओं के सामने **(इति उवाच)** ऐसे कहा **(पार्थ)** हे अर्जुन! **(एतान्)** इन **(समवेतान्)** एकत्र हुए **(कुरून्)** कौरवों को **(पश्य)** देख।

अर्थ : भीष्म और द्रोणाचार्य के सामने और संपूर्ण राजाओं के सामने ऐसे कहा, हे अर्जुन! इन एकत्र हुए कौरवों को देख।

भावार्थ : ऊपर श्लोक २४ में अर्जुन को गुड़ाकेश (गुड़ाका+ईश) कहा है। **'गुड़ाका'** का अर्थ निद्रा और **'ईश'** का अर्थ स्वामी है। अतः गुड़ाकेश का अर्थ है निद्रा को जीतने वाला। **योग शास्त्र** का **सूत्र १/६ देखें-'प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः'** अर्थात् पाँच प्रकार की वृत्तियों में निद्रा को भी पात जलि ऋषि ने योग-शास्त्र में क्लिष्ट अथवा अक्लिष्ट, चित्त की दो प्रकार की वृत्ति कही है। क्लिष्ट वह जो दुःख देती है, अक्लिष्ट वह जो सुख देती है। जब शारीरिक सुख एवं काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकारादि से ग्रस्त प्राणी खाता-पिता सोता है, तब ऐसी क्लिष्ट चित्त की निद्रा वृत्ति आयु घटाने वाली, रोग, परेशानियाँ इत्यादि को बढ़ाने वाली होती है और जब स्वप्न रहित गहन निद्रा में हम सोते हैं और संसार के पदार्थ, परिवार तथा अपना शरीर आदि सब कुछ भूल जाते हैं, तब यदि इस प्रकार सब कुछ भूलने का ज्ञान जाग्रत में

भी बना रहे तो यह निद्रा वृत्ति मोक्ष तक का सुख देने वाली होती है। क्योंकि **सूत्र १/१० में** कहा **"अभावप्रत्ययाऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा"** अर्थात् अभाव के ज्ञान का आलम्बन करने वाली चित्त की निद्रा वृत्ति है। अर्थात् गहरी नींद में हमें संसार आदि का कोई ज्ञान नहीं होता परन्तु निद्रा से जागने पर यह ज्ञान होता है कि हमें बहुत अच्छी नींद आई। यह **"अभाव-ज्ञान"** है। संसार की जन्म-मृत्यु एवं पेड़-पौधों आदि का बनाना-बिगड़ना देखकर यदि साधक को वैराग्य हो जाए और वह जाग्रत में भी निद्रा वृत्ति के समान संसार के अभाव का ज्ञान अनुभव करने लगे तो यह निद्रा वृत्ति का ज्ञान अक्लिष्ट होकर सुखदायी होता है। अर्जुन ने इसी प्रकार निद्रा को जीता हुआ था। महाभारत में वर्णन आता है कि अर्धरात्रि के समय सोते हुए आचार्य द्रोण को कुछ आवाज़ें सुनाई दीं। उन्होंने उठकर देखा कि पाँचों पाण्डवों में से चार भाई गहन निद्रा में सोए हुए हैं और अर्जुन बाहर तीर चलाने का अभ्यास कर रहा है। यह देख द्रोणाचार्य ने अर्जुन को गले लगा लिया था। आज ब्रह्मचर्य आदि वैदिक शिक्षा के अभाव और प्रायः सात्विक भोजन न होने के कारण प्रातः चार बजे तो कोई विरला ही विद्यार्थी उठकर साधना, स्वाध्याय इत्यादि करता है। अथवा गृहस्थी ईश्वर का ध्यान इत्यादि करता है। हमें प्रातः काल उठने की परम्परा दोहरानी होगी। **सामवेद मंत्र १८२६** स्पष्ट कहता है, कि जो प्रातः काल उठकर वेदाध्ययन, ध्यान इत्यादि करता है, ईश्वर स्वयं उसका सखा हो जाता है। वेदों में कहा यह **'गुड़ाकेश'** शब्द केवल कथाओं में ही नहीं सुनना, अपितु आज भी आचरण में होना आवश्यक है। दूसरा शब्द **'हृषीकेश'** है जिसका अर्थ इन्द्रियों का स्वामी है जो पिछले लेखों में विस्तार से कहा है। यह शब्द श्रीकृष्ण के लिए है। संपूर्ण गीता में श्रीकृष्ण योगेश्वर तथा एक महान विभूति के रूप में जाने जाते हैं अपितु संपूर्ण महाभारत में भी वह ब्रह्मचर्य आदि गुणों की खान है। अतः पुराण आदि में इन गुणों के विरोध में श्री कृष्ण की सोलह हजार एक सौ आठ रानियों से विवाह, स्नान करती कन्याओं के वस्त्र उठाना आदि घटनाएँ प्रामाणिक सी नहीं लगती। भगवद्गीता महाभारत के 'भीष्म पर्व' का अंश है जो करीब पाँच हजार वर्ष पहले लिखी गई है। इससे पूर्व केवल वाल्मीकि रामायण ही त्रेतायुग में लिखी थी। महाभारत काल में छः शास्त्र आदि वैदिक वाङ्मय लिखे जा रहे थे। परन्तु

इस समय पवित्र बाइबिल, कुरआन शरीफ, तुलसीकृत रामायण और संतों बुद्ध, जैन की वाणी इत्यादि लिखी नहीं गई थी। वह केवल वैदिक काल था। अठारह पुराणों के रचना का समय विद्वानों ने राजा भोज के राज्य का समय माना है। अतः गीता के ऐसे-ऐसे मार्मिक शब्द हमें वेदानुसार ग्रहण करने योग्य हैं।

'तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा।।'

(गीता १/२६)

(अथ) उसके बाद **(पार्थः)** पृथा पुत्र अर्जुन ने **(तत्र)** वहाँ, युद्ध में **(पितृन्)** पिता के समान पुरुषों को **(पितामहान्)** पितामह के समान, **(आचार्यान्)** आचार्यों को **(मातुलान्)** मामों को **(भ्रातृन्)** भाइयों को **(पुत्रान्)** पुत्रों को **(पौत्रान्)** पौत्रों को **(तथा)** और **(सखीन्)** सखाओं को **(अपश्यत्)** देखा।

अर्थ :- उसके बाद पृथा पुत्र अर्जुन ने वहाँ युद्ध में पिता के समान पुरुषों को, पितामह के समान आचार्यों को, मामों को, भाइयों को, पुत्रों को, पौत्रों को और सखाओं को देखा।

'श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।
तान्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान्।।'

(गीता १/२७)

(श्वशुरान्) द्रुपद आदि ससुरों को **(च)** और **(सुहृदः)** सुहृदकों-शुभचिन्तकों, मित्रों को **(एव)** भी **(सेनयोः)** दोनों सेनाओं के **(उभयोः)** बीच में **(अपि)** भी **(तान्)** उनको **(समीक्ष्य)** देखकर **(सः कौन्तेयः)** वह कुन्तीपुत्र अर्जुन **(सर्वान् बन्धून्)** सब बंधुओं को **(अवस्थितान्)** युद्ध में स्थिर देखकर।

अर्थ :- द्रुपद आदि ससुरों को और सुहृदकों-शुभचिन्तकों, मित्रों को भी दोनों सेनाओं के बीच में देखकर वह कुन्तीपुत्र अर्जुन उन सब बंधुओं को युद्ध में स्थिर देखकर।

'कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।
दृष्ट्वेमं स्वजनं कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम्।।'

(गीता १/२८)

(कृपया, परया) अत्यन्त कृपा के **(आविष्टः)** वश हुआ **(विषीदन्)** शोकयुक्त होकर **(इदम्)** यह **(अब्रवीत्)** कहा-**(कृष्ण)** हे कृष्ण **(इमम्)** इस **(स्वजनं)** मेरे अपने लोगों को **(युयुत्सुम्)** युद्ध की इच्छा से **(समुपस्थितम्)** सम्मुख उपस्थित **(दृष्ट्वा)** देखकर।

अर्थ : अत्यन्त कृपा के वश हुआ शोकयुक्त होकर यह कहा-हे कृष्ण! इन मेरे अपने लोगों को युद्ध की इच्छा से सम्मुख उपस्थित देखकर।

सीदन्ति मम गात्राणि मुखं च परिशुष्यति।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।।'

(गीता १/२६)

(मम) मेरे **(गात्राणि)** अंग **(सीदन्ति)** शिथिल हुए जाते हैं, **(च)** और **(मुखम्)** मुख **(परिशुष्यति)** सब ओर से सूखा जाता है **(च)** और **(मे)** मेरे **(शरीरे)** शरीर में **(वेपथुः)** कंपकंपी **(च)** और **(रोमहर्षः)** रोमांच **(जायते)** उत्पन्न होता है।

अर्थ : मेरे अंग शिथिल हुए जाते हैं, मुख सब ओर से सूखा जाता है और मेरे शरीर में कंपकंपी तथा रोमांच उत्पन्न होता है।

भावार्थ : अर्जुन ने यहाँ अपने विरुद्ध लड़ने वाली कौरवों की सेना में अपने ही भाई बंधुओं अर्थात् पिता के भाइयों, पितामह भीष्म आदि आचार्य द्रोण, मामा शल्य, शकुनि, भाई दुर्योधन और भाई के पुत्र-पौत्रों इत्यादि को भी देखा। जिनकी गोद में खेलकर अर्जुन सहित पाँचों भाई शिक्षा-दीक्षा सहित बड़े हुए थे। कौरवों के समस्त सैनिक और यही सेनानायक कभी अर्जुन के पिता पाण्डु के सेवक थे। ऐसी भयंकर परिस्थिति राम-रावण युद्ध अथवा किसी भी पृथिवी के अन्य युद्ध में उत्पन्न नहीं हुई थी। यह पारिवारिक कलह से उत्पन्न युद्ध था जहाँ एक-दूसरे ने अपने ही खून पर वार करना था। पाण्डवों ने तो युद्ध टालने के लिए महाभारत के **उद्योग पर्व श्लोक २१/७** में विदुर सहित स्पष्ट कह दिया था कि यदि धृतराष्ट्र उन्हें केवल पाँच गाँव ही दे दें तो वह युद्ध नहीं करेंगे। परन्तु शकुनि, कणिक एवं दुःशासन के दुराग्रह से युद्ध टल न सका। क्योंकि दुर्योधन ने उत्तर में कहा था कि युद्ध के बिना वह सुई की

नोक के बराबर भी पृथिवी का टुकड़ा नहीं देगा, पाँच गाँव की तो बात ही क्या? अतः हम ध्यान दें कि दुर्योधन द्वारा युद्ध का निर्णय राज्य का लोभ-लालच, पाण्डवों की यश कीर्ति से राग-द्वेष और कौरवों में वैदिक धर्म का ह्रास तथा फलस्वरूप ऋषि, वेद, यज्ञ की निन्दा, नारी अपमान, जुआ इत्यादि अनेक अशुभ कर्मों में वृत्ति होने के कारण था। कौरवों की ऐसी कुवृत्तियाँ उस समय जग-जाहिर थीं। जैसे भीम को विषपान कराकर दुर्योधन द्वारा पानी में फैंकना। धृतराष्ट्र की आज्ञा से पाण्डवों को राज्य से दूर वारणावत यात्रा पर भेजना और दुर्योधन द्वारा उन्हें वहाँ लाक्षागृह में जलाकर भस्म करने का षड्यंत्र, भीष्म और विदुर द्वारा पाण्डवों को आधा राज्य देने की सम्मति, आधा राज्य पाकर पाण्डवों द्वारा इन्द्रप्रस्थ नगर का निर्माण करना फिर युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ करना जिसमें दुर्योधन का पाण्डवों की कीर्ति को देखकर राग-द्वेष होना। फिर शुरू हुआ शकुनि के छल से जुआ और युधिष्ठिर द्वारा चारों भाई और द्रौपदी का हार जाना। दुःशासन द्वारा भरी सभा में द्रौपदी को केश पकड़ कर घसीटना। द्रौपदी द्वारा धृतराष्ट्र से वर मांगकर दास-दासी भाव से मुक्त होकर, इन्द्रप्रस्थ की तरफ लौटना। इस पर दुःशासन का अपने बड़े भाई दुर्योधन, जो कर्ण एवं शकुनि के पास बैठा था, वहाँ जाना और दुराग्रह-पूर्वक धृतराष्ट्र को पुनः युधिष्ठिर को जुआ खेलने के लिए बाध्य करना तथा युधिष्ठिर को पुनः हराकर बारह वर्ष के लिए वनों में भेजना और कहा कि तेरहवें वर्ष पाण्डव गुप्त रूप से किसी नगर में रहें। यदि तेरहवें वर्ष वह किसी की जानकारी में आ जाएँ तो दोबारा बारह वर्ष तक वनों में रहें, ऐसी शर्त लगाना। इस निर्णय का भीष्म, द्रोण सभी ने विरोध किया था और गान्धारी ने धृतराष्ट्र को कुल बचाने के लिए कुलकलंक कहकर दुर्योधन को त्यागने का परामर्श दिया था। जिस पर धृतराष्ट्र ने अपनी पत्नी गांधारी को महाभारत के सभापर्व में उत्तर दिया था कि हे देवी! इस कुल का अंत भले ही हो जाए, परन्तु मैं दुर्योधन को नहीं रोक सकता। उस समय युधिष्ठिर भाइयों सहित इन्द्रप्रस्थ के मार्ग में बहुत दूर निकल गए थे और जब रास्ते में ही उन्हें धृतराष्ट्र की जुआ खेलने की आज्ञा का संदेश मिला तब पुनः जुआ खेलने का संदेश पाकर अचानक युधिष्ठिर के मुँह से यह वचन निकले थे कि वृद्ध राजा धृतराष्ट्र यह जानते हुए कि मैं उनकी आज्ञा का उल्लंघन

नहीं कर सकता। अतः जुए के लिए यह बुलावा हमारे कुल के नाश का कारण है। ऐसी कितनी ही बातें सभापर्व में युधिष्ठिर ने कहीं। अतः यह भ्रांति निर्मूल है कि सत्यवादी युधिष्ठिर जुआ खेलने के आदि थे। उन्होंने बेबस होकर राजा की आज्ञा का पालन मात्र किया था। राजा धृतराष्ट्र की जुआ खेलने की आज्ञा न मानते तब राज-आज्ञा उल्लंघन के आरोप में दण्ड भोगने के अधिकारी बनते इत्यादि।

अपने ही परिवार को युद्ध की इच्छा से सामने खड़ा देख कम्पित शरीर, शिथिल अंग एवं शुष्क मुख से पुनः अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा:-

'गांडीवं स्रंसते हस्तात्त्वक्चैव परिदह्यते।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।।'

(गीता १/३०)

(हस्तात्) हाथ से **(गाण्डीवम्)** गाण्डीव धनुष **(स्रंसते)** गिरता है **(च)** और **(त्वक् एव)** त्वचा भी **(परिदह्यते)** सब तरफ से जल रही है **(च)** तथा **(मे मनः)** मेरा मन **(भ्रमति इव)** घूमने के समान चकराता है **(च)** और इसलिए **(अवस्थातुम्)** खड़ा रहने के लिए **(न शक्नोमि)** समर्थ नहीं हूँ।

अर्थ :- हाथ से गाण्डीव धनुष गिरता है और त्वचा भी सब तरफ से जल रही है तथा मेरा मन घूमने के समान चकराता है और इसलिए मैं खड़ा रहने के लिए समर्थ नहीं हूँ।

'निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।।'

(गीता १/३१)

(केशव) हे केशव-कृष्ण **(निमित्तानि)** लक्षण **(च)** भी **(विपरीतानि)** विपरीत-विपरीत **(पश्यामि)** देखता हूँ **(स्वजनम्)** अपने परिवारजनों को **(आहवे)** युद्ध में **(हत्वा)** मारकर **(श्रेयः)** कल्याण **(च)** भी **(न अनुपश्यामि)** नहीं देखता हूँ।

अर्थ : हे केशव मैं युद्ध में विपरीत ही लक्षण देखता हूँ अर्थात् युद्ध करना

हितकर नहीं देखता। क्योंकि अपने परिवार को युद्ध में मारकर मैं इसमें कल्याण नहीं देखता।

भावार्थ : ऊपर के श्लोकों में अर्जुन के हाथ से गाण्डीव धनुष का छूटना, सिर चकराना तथा स्थिर खड़े न रह सकना इत्यादि इस बात का संकेत है कि अपने परिवार को युद्ध में लड़ने के लिए खड़ा देख अर्जुन को अपने बचपन की भीष्म पितामह, द्रोणाचार्य इत्यादि अनेक विद्वानों के साथ वात्सल्ययुक्त घटनाओं का स्मरण होना, उनका आशीर्वाद इत्यादि का स्मरण करके घबरा जाना है। अर्जुन काँप रहा है कि वह इन बुजुर्गों पर एक शत्रु के समान कैसे प्रहार करे। जिस गाण्डीव धनुष के द्वारा अर्जुन ने इससे पहले द्रुपद आदि की सेनाओं का संहार किया, राक्षसों का वध किया, चित्ररथ गंधर्व को पराजित किया, जिस गाण्डीव धनुष के बल पर द्रौपदी को स्वयंवर में जीता, द्रुपद को मारने आए शल्य और कर्ण को पराजित किया, इत्यादि अनेक शूरवीरता के कार्य किए। उसी अर्जुन के हाथ से युद्ध में गाण्डीव धनुष छूटा जा रहा था। यह सब स्वाभाविक है, यह निश्चित है कि चाहे युधिष्ठिर इससे पहले जुए में सब कुछ हार गया था, चाहे उन्हें लाख के घर में जलाने का षड्यंत्र रचा गया था या द्रौपदी का चीर हरण हुआ था। और ऐसी ही अनेक बातों के कारण चाहे पाण्डवों का कौरवों के साथ कितना ही विरोध था परन्तु फिर भी अर्जुन के हृदय में कौरव इत्यादि के प्रति अदृश्य प्रेम का भाव था। अभी शत्रुता का भाव पूर्णतः प्रकट नहीं था। अन्यथा ऊपर के दो श्लोकों में कही मोहयुक्त अवस्था अर्जुन की न होती। अर्जुन वेदों को सुनने वाला, यज्ञ करने वाला और उसी के अनुसार माता-पिता गुरु (आचार्य) और वृद्धों की सेवा करने वाला था। इसके विपरीत दुर्योधन, दुःशासन शकुनि, कणिक इत्यादि कौरवों में प्रारम्भ से ही पाण्डवों के प्रति द्वेष एवं शत्रुता का भाव था। इन कौरवों ने इसलिए इस युद्ध से पहले अनेकों बार पाण्डवों के वध करने और उनके अधिकतर वनवासी जीवन व्यतीत करने का षड्यंत्र बार-बार रचा था।

अतः कौरव तो सचमुच युद्ध करने और पाण्डवों को समाप्त करने आए थे। उन्हें राजगद्दी, ऐश्वर्य का लोभ था। जबकि राजगद्दी कौरवों की नहीं थी। चोर डाकू ही दूसरों के माल को लूटने का प्रयास करते हैं। आज

भी हमें भगवद्गीता शिक्षा दे रही है कि शांति से रहने के लिए दूसरों के अधिकार, माल पर अपना अधिकार न जमाया जाए। अन्यथा धर्म लुप्त हो जाएगा, प्रलोभन, लालच फलस्वरूप लड़ाई-दंगा-फसाद शुरु हो जाएगा।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा-

'न कांङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।।'

(गीता १/३२)

(कृष्ण) हे कृष्ण **(विजयम् न काङ्क्षे)** मैं विजय की कामना नहीं करता **(च राज्यम्)** और राज्य **(च सुखानि)** और सुखों को **(न काङ्क्षे)** नहीं चाहता **(गोविन्द)** हे गोविन्द **(नः राज्येन किम्)** हमें राज्य से क्या **(वा)** अथवा **(भोगैः)** भोगों से क्या **(जीवितेन किम्)** जीवन से भी क्या प्रयोजन।

अर्थ :- हे कृष्ण मैं विजय की इच्छा नहीं करता और मैं न राज्य और न ही सुख की इच्छा करता हूँ। हे गोविन्द! हमें राज्य से भी क्या प्रयोजन अथवा भोगों के भोगने और जीवन से भी क्या प्रयोजन।

'येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च।
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।।'

(गीता १/३३)

(नः येषाम् अर्थे) हमने जिनके लिए **(राज्यम् भोगाः च सुखानि)** राज्य, भोग और सुखादि की **(काङ्क्षितम्)** इच्छा की थी **(ते)** वे **(इमे धनानि च प्राणान्)** यह सब धन और प्राणों के मोह को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(युद्धे)** युद्ध में **(अविस्थताः)** स्थिर हैं।

अर्थ : हमने जिनके लिए राज्य, भोग और सुखादि की इच्छा की थी वे यह सब धन और प्राणों के मोह को त्यागकर युद्ध में स्थिर हैं।

भावार्थ : ऊपर के दोनों श्लोकों में पिछले तीनों युगों के आध्यात्मिक/धार्मिक जीवन का दर्शन और वर्तमान के भौतिक जीवन का दर्शन है। काँपता हुआ अर्जुन युद्ध के मैदान में श्रीकृष्ण से कह रहा है कि मैं सुखों की, भोगों की

और जीवित रहने की इच्छा भी अब नहीं करता। अर्जुन का इन सुखों को त्यागने के प्रति तर्क है कि यह राज्य, सुखादि तो विपक्षी सेना में खड़े भीष्म, द्रोण, सम्बन्धी, प्रजा इन सबके लिए ही थे क्योंकि हम सब एक हैं और मिलकर आज तक राज्य का सुख सब भोग रहे थे और यही सब सुख, धन और जीवन का मोह त्यागकर युद्ध करने मेरे समक्ष खड़े हैं। यही सब युद्ध में यदि मर गए तब मैं राज्य सुख, भोगों को भोग कर क्या करूँगा। अतः मैं स्वयं (अर्जुन) भी जीवित नहीं रहना चाहता। यह सब उचित प्रकार से वैदिक शिक्षा ग्रहण करने का अर्जुन पर प्रभाव था। कृपाचार्य से वैदिक शिक्षा तो कौरवों ने भी पढ़ी थी, लेकिन बचपन से ही पाण्डवों से राग-द्वेष करने के कारण मानव धर्म नहीं समझ पाए अपितु राज्य गद्दी के लोभवश और भी खूंखार होते गए। आज भी हम प्रायः वेद शास्त्रों एवं मज़हबों की बात करते हैं, एक ही ईश्वर की दुहाइयाँ देते हैं, परन्तु उग्रवाद, स्वार्थ, लोभ अहंकारवश जब असहाय बेकसूर, निहत्थे नर-नारियों, वृद्धों और बच्चों का कत्ले-आम करते हैं तो न जाने उस समय एक ही ईश्वर और ईश्वर सबका पिता है, हम सब प्राणी भाई-बहन हैं, ऐसी दुहाइयाँ कहाँ गुम हो जाती हैं। इससे यह निश्चित है कि ऐसे धर्म की आड़ में लोभ, स्वार्थ इत्यादि अनेक आडम्बर होते हैं जो धर्म का नाम लेकर इंसानियत का खून करते हैं। उग्रवाद ही क्या, नेता भी धर्म की आड़ में शायद कुर्सी से चिपके पिछले लगभग साठ वर्षों से जनता के जान-माल की रक्षा करने में समर्थ नहीं रहे हैं। क्योंकि अर्जुन की तरह, नेताओं का मकसद राज्य स्थापना का उद्देश्य, जनता, परिवार इत्यादि को सुख देना नहीं, अपितु कौरवों की तरह सम्भवतः स्वयं कुर्सी हड़पकर भाई-भतीजावाद, नारी-अपमान, बँधुआ-मजदूरी, अशिक्षा के साथ कुशिक्षा का बोलबाला, प्रदूषण, बेरोजगारी, अनाज, मकान, कपड़ा इत्यादि की कमी करना है। देश में गरीबी, भ्रष्ट राजनीति इत्यादि अनेक खामियों से परिपूर्ण भारत आज अपनी वैदिक प्रतिष्ठा खो चुका है। यही दूसरा पक्ष है गद्दी के नशे में चूर कौरवों का, जो भ्रष्ट राजनीति द्वारा सदा पाण्डवों के प्राण-हरण, नारी-अपमान, धर्म की अवहेलना इत्यादि करते रहे। **अथर्ववेद मन्त्र ३/२६/१** में कहा है कि प्रजा से कर प्राप्त करने वाला राजा प्रजा के सुखों को बढ़ाने वाला, कामनाओं को पूर्ण करने वाला तथा प्रजा को नष्ट नहीं होने देता।

अगले ही मन्त्र में कहा कि राजा का मौलिक कर्त्तव्य है कि वह प्रजा की रक्षा करे और बलवानों द्वारा निर्बलों पर अत्याचार न होने दे।

अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा-

आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः।
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।।

(गीता १/३४)

(आचार्याः) गुरुजन **(पितरः)** पितृकुल पुरुष **(पुत्राः)** पुत्र **(च)** और **(तथा एव)** वैसे ही **(पितामहाः)** दादा **(मातुलाः)** मामा **(श्वशुराः)** ससुर **(पौत्राः)** पोते **(श्यालाः)** साले **(तथा)** और **(सम्बन्धिनः)** रिश्तेदार भी हैं।

अर्थ : गुरुजन, पितृकुल पुरुष, पुत्र और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, पोते, साले और रिश्तेदार भी हैं।

एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन।
अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किं नु महीकृते।।

(गीता १/३५)

(मधुसूदन) हे कृष्ण **(घ्नतः)** मुझे मारने पर **(अपि)** भी **(त्रैलोक्य राज्यस्य)** तीन लोक के राज्य के **(हेतोः)** लिए **(अपि)** भी **(एतान्)** इन को **(हन्तुम्)** मारने के लिए **(न इच्छामि)** मैं इच्छा नहीं करता **(महिकृते नु किम्)** पृथिवी के लिए तो कहना ही क्या?

अर्थ : हे कृष्ण, मुझे मारने पर भी तीन लोक के राज्य के लिए भी, इन को मारने के लिए मैं इच्छा नहीं करता, पृथिवी के लिए तो कहना ही क्या?

निहत्य धार्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन।
पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः।।

(गीता १/३६)

(जनार्दन) हे कृष्ण! **(धार्तराष्ट्रान्)** धृतराष्ट्र के पुत्रों को **(निहत्य)** मारकर **(नः)** हमें **(का)** क्या **(प्रीतिः)** प्रसन्नता **(स्यात्)** होगी **(एतान्)** इन **(आततायिनः)** आततायियों को **(हत्वा)** मारकर **(अस्मान्)** हमें **(पापम्)** पाप **(एव)** ही

(आश्रयेत्) लगेगा।

अर्थ : हे कृष्ण! धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारकर हमें क्या प्रसन्नता होगी? इन आततायियों को मारकर हमें पाप ही लगेगा।

भावार्थ : ऊपर श्लोक ३४ में **'आचार्यः'** और **'पितरः'** शब्द वैदिक हैं। **'आचार्य'** का अर्थ है जो सत्य आचार का ग्रहण करने वाला तथा सब विद्या प्राप्त कराता है, वह आचार्य है। सत्य स्वरूप होने एवं वेद विद्या का दान करने से परमेश्वर सब का आचार्य है। इसके पश्चात वैदिक विद्या ग्रहण करके उसका दान करने वाले पूर्व के व्यास, वसिष्ठ आदि ऋषि एवं नूतन ऋषि, मुनि, साधु भी हमारे आचार्य हैं। यहाँ अर्जुन कृपाचार्य को आचार्य कह रहा है जिससे उसने चारों वेद पढ़े। दूसरा द्रोणाचार्य को आचार्य कह रहा है जिससे उसने वेदों में वर्णित शस्त्र विद्या सीखी थी। इन दोनों ही आचार्यों में वेद विद्या परिपूर्ण थी। आज यह कमी प्रायः गुरुओं में है जिसे तुलसी ने उत्तरकाण्ड में इस प्रकार कहा है:- **'द्विज श्रुति बेचक'** अर्थात् गुरुजनों ने अब वेद बेच दिए हैं, वेद के अक्षरों का उन्हें ज्ञान नहीं है। दूसरा शब्द पितर है जिसका वैदिक अर्थ है परंपरा से वैदिक विद्या जानने वाला गुरु। दूसरा अर्थ है-पितृवंश के पुरुष। **अथर्ववेद मंत्र ७/२/१** में कहा कि ऐसा जीवित पितर (गुरु) जो परम्परागत सृष्टि रचना एवं समाधि द्वारा ईश्वर को जानता है वह ही इस पृथिवी पर प्रवचन करे। इस श्लोक में अर्जुन का तात्पर्य केवल पिता के वंश के बुजुर्ग पुरुषों से है। आज हमें भगवद्गीता में कहे वैदिक शब्दार्थों को जानने की अत्यन्त आवश्यकता है जिसके अभाव में हम गीता के गलत अर्थों को ही ठीक समझ कर 'गीता ज्ञान' का अनादर कर सकते हैं अथवा कर रहे हैं। गीता वैदिक ज्ञान भण्डार है। वेदों में जीवित पितरों (बुजुर्गों) के तर्पण को सेवा से तृप्त करना कहा है। यहाँ स्पष्ट रूप में अर्जुन जीवित पितरों एवं आचार्यों के साथ युद्ध न करने की घोषणा कर रहा है और कह रहा है कि इन जीवित आचार्य, पितर एवं सम्बंधियों को मारकर पृथिवी तो क्या, तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहिए। क्षत्रिय का युद्ध करना वैदिक धर्म है। परन्तु अर्जुन की समस्या यह है कि उसके सामने खड़े जीवित पितर एवं आचार्यों की देख-रेख, आशीर्वाद एवं शिक्षा-दीक्षा तथा प्रेम पाकर ही वह सभ्य

पुरुष कहलाया है, अपने पितामह (दादा) भीष्म की गोद में खेला है। तब प्रत्युत्तर में उनके ऊपर धनुष-बाण से कैसे वार करे? अतः यहाँ मोह-ममता का इतना प्रश्न नहीं, जितना मन में बुजुर्गों के प्रति कृतज्ञता, श्रद्धा एवं प्रेम-भाव का उमड़ना है, जो वेदानुकूल है। हाँ योगेश्वर श्री कृष्ण द्वारा धर्म एवं अधर्म का निर्णय पाकर पश्चात ही युद्ध किया था। ऐसा विषय आगे आएगा। तीसरा वैदिक शब्द श्लोक ३६ में यहाँ आततायी है। **मनुस्मृति श्लोक ८/३४६ एवं ३५१ में** कहा है कि प्रकाश में अथवा गुप्त रीति से यदि राजा आततायी को दण्ड देने में उपेक्षा करता है अर्थात् दण्ड नहीं देता है, वह राजा शीघ्र ही नष्ट हो जाता है और प्रजा उससे बैर करने लगती है। परन्तु स्व-सम्बंधियों, पितरों, आचार्यों एवं पितामह इत्यादि को मारने की अर्जुन यहाँ इच्छा नहीं करता। वस्तुतः पितर, पितामह एवं आचार्य इत्यादि भी युद्ध में मन से अर्जुन के ही साथ हैं। यह भाव भी अर्जुन के मन को युद्ध न करने के लिए वात्सल्य पाश में बाँधे हुए है। अर्जुन धृतराष्ट्र के पुत्रों को आततायी और दुष्ट कह रहा है परन्तु फिर भी इनको मारने में वह सुख नहीं मानता और अर्जुन पुनः कह रहा है कि अपने ही जनों को मारकर हम कभी भी सुखी नहीं हो सकते। अतः यहाँ अर्जुन के हृदय में वैर-भाव एवं राग-द्वेष पूर्णतः समाप्त हैं। जिसके अन्तःकरण में वैर-विरोध, राग-द्वेष नहीं होता है, वह युद्ध भी नहीं कर सकता। आज के युद्ध और घर-घर की लड़ाई का आधार प्रायः वैर-विरोध, राग-द्वेष एवं सम्पत्ति इत्यादि सांसारिक विषय हैं। परन्तु अर्जुन की तो कोई इच्छा ही शेष नहीं रही। इतने सब सद्गुण अर्जुन के और उसके पश्चात योगेश्वर श्री कृष्ण का अर्जुन को आत्मज्ञान देना तथा पश्चात अर्जुन का युद्ध करना, **यजुर्वेद मंत्र ४०/२,** का ज्ञान अर्जुन के जीवन में चरितार्थ करता है जिसमें कहा है कि प्राणी वैदिक शुभ कर्मों को करता हुआ ही कर्म से निर्लेप होकर मोक्ष पद प्राप्त करता है। राग-द्वेष इत्यादि अवगुणों से दूर इच्छा-रहित होकर जब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कर्मयोग आदि ज्ञान में सुना कि आत्मा अजर-अमर-अविनाशी है और अधर्म का साथ देने वाले धार्मिक पुरुषों से भी युद्ध करना क्षत्रिय का धर्म स्थापना करने के लिए एक वैदिक धर्म है, उसके बाद ही ज्ञानयुक्त होकर उसने पूर्णतः मान-हानि, हार-जीत इत्यादि इच्छाओं से रहित होकर धार्मिक युद्ध किया। अतः उसका पितरों, पितामह एवं

आचार्यों आदि से युद्ध न करने का पहला निर्णय भी वैदिक धर्म पर आधारित था और इन्हीं पितरों का दुर्योधन, धृतराष्ट्र, दुःशासन एवं कणिक आदि धर्महीन, आततायियों का साथ देने से इनसे युद्ध करना भी वैदिक धर्म पर आधारित था। हाँ, यह अवश्य है कि युद्ध करने का वैदिक निर्णय श्रीकृष्ण के वैदिक उपदेश के पश्चात ही उसके हृदय में प्रतिष्ठित हुआ था। गीता यहाँ ज्ञान देती है कि धर्म के विषय में निर्णय वेद सम्मत होना चाहिए।

अर्जुन ने कहा-

तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान्स्वबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।

(गीता १/३७)

(तस्मात्) इससे **(माधव)** हे माधव **(वयं)** हम **(स्वबान्धवान्)** अपने बन्धुओं **(धार्तराष्ट्रान्)** धृतराष्ट्र के पुत्रों को **(हन्तुम्)** मारने के लिए **(न अर्हाः)** योग्य नहीं है **(हि)** निश्चय से **(स्वजनम्)** अपने जनों को **(हत्वा)** मारकर **(कथम् सुखिनः)** कैसे सुखी **(स्याम)** होंगे।

अर्थ : इससे हे माधव! हम अपने बन्धुओं, धृतराष्ट्र के पुत्रों को मारने के लिए योग्य नहीं हैं निश्चय से अपने जनों को मारकर कैसे सुखी होंगे?

भावार्थ : पिछले श्लोक में अर्जुन ने धृतराष्ट्र पुत्रों को आततायी कहा है जिसको मारने की वेद आज्ञा देता है। और इस श्लोक में उन्हें अपना बंधु और कुटुम्बी कहा है। जिसे हम अपना मानते हैं और यदि खून का रिश्ता हो तो वह और भी प्रिय है। दुर्योधन आदि अर्जुन के ताऊ धृतराष्ट्र के पुत्र हैं, यही मधुर सम्बन्ध अभी अर्जुन के हृदय में है जिस कारण वह उनसे युद्ध करना नहीं चाहता। अतः अर्जुन आततायी नहीं है। विपरीत में दुर्योधन आदि ने कई बार राग-द्वेष के वश होकर कुन्ती सहित पाण्डवों को लाख के घर में मारने की योजना भी बनाई। आततायी उग्रवादी होता है और वह अपना स्वार्थ सिद्ध करने के लिए भाई-बन्धु, नारी, वृद्ध, छोटे-बड़े असहाय आदि को बेरहम होकर मार डालता है। ऐसे आततायियों को बिना सोचे समझे शीघ्र ही मार डालने का आदेश मनुस्मृति में भी है। अतः कौरव आततायी होने के

कारण मारने योग्य ही हैं। परन्तु अर्जुन का विशाल हृदय इन आततायियों को भी बन्धु मानकर युद्ध नहीं करना चाहता। गीता का यह विलक्षण ज्ञान सिद्ध करता है कि आततायियों (उग्रवादियों) का कोई रिश्ता-नाता अथवा धर्म नहीं होता और अर्जुन जैसे सज्जन पुरुष आततायियों को भी बन्धु मानने को मजबूर हो जाते हैं। श्लोक में माधव शब्द का अर्थ शहद के समान मीठा है, यह श्री कृष्ण का विशेषण है।

'यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।'

(गीता १/३८)

(यद्यपि) यद्यपि **(लोभ)** लालच से **(अपहत)** मारा गया **(चेतसः)** जिसका चित्त है **(एते)** यह लोग अर्थात् कौरव **(कुलक्षयकृतम्)** कुल के नाश करने वाले **(दोषम्)** दोष को **(च)** और **(मित्रद्रोहे)** मित्रता में द्रोह के आने वाले **(पातकम्)** पाप को **(न पश्यन्ति)** नहीं देखते।

अर्थ : यद्यपि लालच से मारा गया जिसका चित है, ऐसे लोग अर्थात् कौरव कुल के नाश करने वाले दोष को और मित्रता में द्रोह के आने वाले पाप को नहीं देखते।

कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।

(गीता १/३९)

क्योंकि **(जर्नादन)** हे जनार्दन! **(कुलक्षयकृतम्)** कुल को नाश करके **(दोषम्)** कुल नाश के दोष को **(प्रपश्यद्भिः)** जानने से **(अस्माभिः)** हमारे द्वारा **(अस्मात्)** इस **(पापात्)** पाप से **(निवर्तितुम्)** निवर्त होने के लिए हमें **(कथम् न ज्ञेयम्)** क्यों नहीं विचार करके जानना चाहिए?

अर्थ : हे जनार्दन! कुल को नाश करके कुल नाश के दोष को जानने से हमारे द्वारा इस पाप से निवर्त होने के लिए हमें क्यों नहीं विचार करके जानना चाहिए?

भावार्थ : अर्जुन ने कहा लोभ के कारण मित्रों से द्रोह करके कौरव कुल के

नाश करने वाला दोष, जिसने युद्ध का रूप ले लिया है इसे नहीं जानते। अतः लोभ (स्वार्थ-सिद्धि) मनुष्य के लिए कुल-घातक तक बन जाता है। धृतराष्ट्र और दुर्योधन आदि ने राज सिंहासन का लोभ किया था, जिस कारण वह आततायी बने और अपने सच्चे बन्धु पाण्डवों को लोभ वश सदा मारने का प्रयास करते रहे। श्लोक ३१ में भी अर्जुन युद्ध में दोनों पक्षों में खड़े योद्धाओं का मरना, अपने कुटुम्बियों का मरना मानते हैं, और इस श्लोक में श्री कृष्ण से कहते हैं कि कुटुम्बियों को मारने वाले पाप से बचने के लिए हम क्यों न गहन विचार करें और युद्ध न करें। यह अर्जुन की वैदिक शिक्षा प्राप्त समान-दृष्टि है। अखबारों में लोभ वश कितने ही परिवार के सम्बन्धियों की हत्याओं के समाचार पढ़ने को मिलते रहते हैं। कहीं-कहीं तो सम्पत्ति के लालच में माँ-बाप, बेटे तक की हत्याओं के समाचार होते हैं। उस समय आततायियों का हृदय वैदिक शिक्षा प्राप्त अर्जुन का सा विशुद्ध, विचारणीय हृदय नहीं होता है। जैसे कौरव वैदिक शिक्षा के बाद भी बड़ों का आदर और सत्य-असत्य का ज्ञान भूल गए थे, उसी प्रकार बहुधा आज प्राणी वैदिक शिक्षा, यज्ञ-योगाभ्यास, ईश्वर नाम-स्मरण इत्यादि भूलाकर जड़ सम्पत्ति को ही सब कुछ मानकर लोभ से भ्रष्ट हुए चित्त द्वारा हत्याएँ, जघन्य अपराध, और यहाँ तक कि उग्रवाद को बढ़ावा देकर अशांत वातावरण उपजा रहा है जो अधर्म है। लोभ त्याग के लिए हमें सदा वैदिक संस्कृति का अनुसरण करना चाहिए, क्योंकि गीता सद्ग्रन्थ वैदिक काल की वाणी है। अतः गीता में कही वैदिक शिक्षा अपना कर ही हम श्री कृष्ण, व्यास, आदि के पथ पर चल सकेंगे।

अर्जुन ने कहा-

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।

(गीता १/४०)

(सनातनाः) सनातन **(कुलधर्माः)** कुलधर्म **(कुलक्षये)** कुल के नष्ट होने पर **(प्रणश्यन्ति)** नष्ट हो जाते हैं, **(धर्मेनष्टे)** धर्म के नष्ट होने पर **(कृत्स्नम्)** सम्पूर्ण **(कुलम्)** कुल के **(अधर्मः उत अभिभवति)** ऊपर अधर्म भी छा जाता

है, अर्थात् कुल पूर्णतः अधर्म में लिप्त हो जाता है।

अर्थ : सनातन कुलधर्म कुल के नष्ट होने पर नष्ट हो जाते हैं। धर्म के नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुल के ऊपर अधर्म छा जाता है, अर्थात् कुल पूर्णतः अर्धम में लिप्त हो जाता है।

भावार्थ :- श्लोक में वैदिक शब्द 'सनातन' वर्तमान काल में अत्यन्त गम्भीरता से अध्ययन करने योग्य है। शास्त्र कहते हैं - **'एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः सुष्ठु प्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति',** अर्थात् ठीक प्रकार से जाना तथा प्रयोग किया शब्द स्वर्ग लोक (मोक्ष) की प्राप्ति करा देता है। **'यत्र ब्रह्म च वर्त्तते'** जिसमें वेद एवं ईश्वर प्राप्त हो वह **'वर्णज्ञानम्'** वर्णों का यथार्थ ज्ञान हम जानें। आज संस्कृत भाषा के यथार्थ ज्ञान के अभाव में भगवद्गीता ग्रन्थ के भी वैदिक अर्थ न होकर मनमाने अर्थ देखने, सुनने में प्रायः आते हैं, जिससे सनातन वैदिक संस्कृति का भी नाश हो रहा है। हमें पुनः याद रहे कि जब भगवद्गीता ग्रन्थ की रचना व्यास मुनि जी ने की थी उस समय आज के मज़हब और आज की धार्मिक पुस्तकें जैसे तुलसी-कृत रामायण, १८ पुराण, सन्त-मत वा इससे सम्बन्धित धार्मिक ग्रन्थ कुरआन शरीफ, बाइबिल, श्री गुरु ग्रन्थ साहिब इत्यादि का प्रारम्भ नहीं हुआ था। अतः गीता ग्रन्थ पूर्णतः वेदों के ज्ञाता व्यास मुनि एवं योगेश्वर श्री कृष्ण की महान देन है और पूर्णतः वैदिक शिक्षा एवं वैदिक शब्दों पर आधारित है। उस समय आज की लौकिक भाषाओं का भी पूर्णतः उदय नहीं हुआ था। केवल महाभारत के आदि पर्व में धृतराष्ट्र के जबरन आदेश पर पाण्डवों की वारणावत यात्रा के बीच विदुर और युधिष्ठिर में उस समय की मूढ़म्लेच्छों की निरर्थक सी प्रतीत होने वाली भाषा का प्रयोग मिलता है और उस भाषा को भी युधिष्ठिर की माता और अन्य भाई नहीं समझ सके थे। इससे प्रमाणित होता है कि महाभारत काल तक केवल संस्कृत भाषा का ही प्रचलन था। संस्कृत भाषा ही वर्तमान की अन्य सभी भाषाओं की जननी है। संस्कृत भाषा शुद्ध, किसी भी मिलावट से रहित और परिष्कृत है, इसे देव भाषा भी कहते हैं। चार वेद, छः शास्त्र, उपनिषद्, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, गीता आदि समस्त ग्रन्थ इसी भाषा में सुरक्षित हैं। इतना कुछ कहने का तात्पर्य यही है कि गीतादि इन सद्ग्रन्थों का

ठीक-ठीक शब्दार्थ एवं भावार्थ, संस्कृत एवं योग विद्या का ज्ञाता ही करने में समर्थ है, अन्य नहीं। अन्य तो किसी भी साधारण संस्कृत के ज्ञानी अथवा अज्ञानी की कही हुई व्याख्या को ही हिन्दी या अंग्रेजी में पढ़ सकते हैं, जबकि इन ग्रन्थों के रचयिता व्यास मुनि, वाल्मीकि जी, कपिल, जैमिनी जैसे घोर अष्टांग योगी एवं चारों वेदों के ज्ञाता हुए हैं, उन्होंने स्वयं इन ग्रन्थों की हिन्दी व्याख्या नहीं की थी। क्योंकि उस समय संस्कृत ही मुख्य भाषा थी। ऊपर के श्लोक में प्रथम **'सनातन'** शब्द विशेषण है, जिसका वैदिक अर्थ सदा रहने वाला, निश्चल, शाश्वत एवं अनादि है। **'सना'** शब्द अव्यय है। इसका अर्थ भी नित्य, सदा रहने वाला है। इस **'सना'** में **'तन'** जुड़कर सनातन शब्द बना है। **'धृ'** धातु जिसका अर्थ धारण करना है, इसी से धर्म शब्द निष्पन्न (बना) हुआ है। पुनः **'धारणात् इति धर्मः'** अर्थात् जो शाश्वत ज्ञान, कर्म, उपासना जीवन में धारण (आचरण) किए जाएँ, उसे धर्म कहते हैं। **मनुस्मृति** ने **श्लोक ६/९२** में धृति, क्षमा, दम, अस्तेय, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध यह धर्म के दस गुण जीवन में उतार लेने वाले को ही धर्म का जानकार धर्मात्मा पुरुष कहा है। प्रायः पढ़, सुन, रट कर व्याख्या, कथा इत्यादि करने को वेद शास्त्र धर्म नहीं कहते। कणाद् ऋषि ने **वैशेषिक शास्त्र सूत्र १/२** में कहा कि मानव द्वारा जिस कर्म को करने से वर्तमान जीवन काल में जब सुविधाओं की प्राप्ति होती है और इसके साथ ही ईश्वर-प्राप्ति द्वारा मोक्ष की भी प्राप्ति होती है, उन शुभ कर्मों को करने का नाम धर्म है। साथ ही हम यह भी समझें कि बर्फ का धर्म (गुण) ठण्ड देना और अग्नि का धर्म (गुण) गर्मी देना है। जीवात्मा का धर्म (गुण) चेतन, सुख-स्वरूप और अविनाशी इत्यादि है। तीन गुणों रज, तम एवं सत्त्व वाली प्रकृति का धर्म (गुण) जड़ है, जिससे समस्त लोकों को ईश्वर ने रचा है। प्रकृति नाशवान, परमात्मा एवं जीवात्मा अविनाशी धर्म (गुण) वाले हैं। धर्म के ऐसे कहे कठिन स्वरूप को ही वन पर्व में युधिष्ठिर ने कहा कि धर्म का रहस्य अत्यन्त गूढ़ है तथा धर्म का मुख्य स्थान दक्षता है। अतः धर्म के ऊपर कहे लक्षणों को आचरण में लाना तथा प्रकृति, जीव एवं ब्रह्म तत्त्व के स्वरूप का बोध करके मानव हित में कहे वैदिक कर्त्तव्यों के पालन करने के द्वारा इस लोक में अर्थ, धर्म एवं कामना पूर्ति करके सुखी जीवन सहित मोक्ष प्राप्ति

कर लेने का नाम धर्म है। यह सब प्राणियों को धारण करने वाला धर्म-कर्त्तव्य है। **'अखिलः वेदः धर्ममूलम्' (मनुस्मृति २/६)** के अनुसार इन सभी मानव हितैषी कर्मों का उदय चारों वेदों से होता है। गीता ग्रन्थ भी केवल वेदों में कहे कर्मों को ही कह रहा है। अर्जुन ऊपर श्लोक में कह रहा है कि कुल के नष्ट होने पर सनातन कुल धर्म का भी नाश हो जाता है। सनातन कुल धर्म का अर्थ ही वेदों में कहे यज्ञ, योगाभ्यास, ब्रह्मचर्य, माता-पिता, आचार्य की सेवा, सत्य भाषण, नारी सम्मान, नारी धर्म, पुरुष धर्म, विशुद्ध राजनीति, कृषि, सेना-कर्त्तव्य, शस्त्र-विद्या, ब्रह्माण्ड का विज्ञान इत्यादि असंख्य कर्म हैं जो सृष्टि के आदि में ईश्वर ने यजुर्वेद में, अथर्ववेद इत्यादि में स्थान-स्थान पर कहा है। अतः वैदिक कर्म ऐसे अनेक मन्त्रों के अनुसार आदि न होकर अनादि हैं। क्योंकि **ऋग्वेद मंत्र १०/१९०/३** के अनुसार ऐसी ही असंख्य पृथिवी बनकर आज तक नष्ट हो चुकी हैं, उन सभी पर यह वैदिक धर्म मानव पर लागू था, अब भी है और इस पृथिवी के समाप्त होने पर आगे भविष्य में नई पृथिवी पर भी ऐसे ही लागू रहेगा। इसे ही वेदों के अनुसार सनातन धर्म कहते हैं जिसका अर्थ शाश्वत, सदा रहने वाला, अनादि, नित्य, इत्यादि है। अर्जुन को भय है कि जो वैदिक धर्म कुटुम्ब के आचरण में है, जिसे उन्होंने ऋषियों-मुनियों (कृपाचार्य, व्यास, श्री कृष्ण आदि) से परम्परागत ग्रहण किया है, वह धर्म, कुल के नाश होने पर नष्ट हो जाएगा। यहाँ अर्जुन का संकेत यह भी है कि धर्म-परिवार एवं देश की रक्षा तो पुरुष ही करते हैं, यदि युद्ध में पुरुष समाप्त हो गए तब शेष बच्चे, वृद्‌ध/वृद्धा एवं नारी धर्महीन होकर पापयुक्त हो जाएँगी। वैदिक नारी धर्म, पतिव्रत धर्म, ब्रह्मचर्य, योग यज्ञादि समस्त धर्म (कर्म) लुप्त हो जाएँगे। श्लोक में **'कुलम् अधर्मः अभिभवति'** का अर्थ ही कुल को अधर्म (पाप) चारों ओर से ढक-सा देगा। कहीं धर्म-कर्म शेष नहीं रहेगा। अतः श्लोक में जिस सनातन धर्म की बात अर्जुन कह रहा है, उस वैदिक धर्म को जानने के लिए हमें वेदाध्ययन में रुचि लेना अति आवश्यक है। श्री कृष्ण स्वयं गीता श्लोकों में कहते हैं **'वेदानाम् सामवेदः अस्मि',** 'वेदों में मैं सामवेद हूँ।' उन्होंने ऋषि संदीपन के आश्रम में सुदामा सखा के साथ चारों वेदों का अध्ययन किया था। वह धार्मिक पुरुष थे।

अर्जुन ने कहा :

'अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसंकरः।।'

(गीता १/४१)

(कृष्ण) हे कृष्ण **(अधर्माभिभवात्)** अधर्म के बढ़ जाने से **(कुलस्त्रियः)** कुलीन स्त्रियाँ **(प्रदुष्यन्ति)** अत्याधिक दूषित हो जाती हैं **(स्त्रीषु)** स्त्रियों में **(दुष्टासु)** दुष्टता होने से अर्थात् बिगड़ जाने से **(वार्ष्णेय)** हे कृष्ण **(वर्णसंकरः)** वर्णसंकर **(जायते)** उत्पन्न होता है।

अर्थ : हे कृष्ण! अधर्म के बढ़ जाने से कुलीन स्त्रियाँ अत्याधिक दूषित हो जाती हैं और स्त्रियों में दुष्टता होने से अर्थात् बिगड़ जाने से, हे कृष्ण! वर्णसंकर उत्पन्न होता है।

भावार्थ : चारों वेदों के अनुसार वेदाध्ययन और उसके पश्चात वेदानुसार कर्म करना धर्म है तथा वेदों के विरुद्ध कर्म करना अधर्म है। धर्म की व्याख्या इसी अध्याय के पिछले श्लोकों में भी कर दी गई है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/३** में वेदों में बताए हुए कर्मों को करने वाले पुरुष को देव और विपरीत कर्म करने वाले को असुर कहा है। देव ही धार्मिक पुरुष कहलाता है और असुर को अधार्मिक पुरुष (नर-नारी) कहते हैं। देव और असुरों का संग्राम पुरातन काल से श्रीराम-रावण, पाण्डव-कौरव, श्री कृष्ण-कंस और जनता में चला आ रहा है। असुर सदा देवों को नष्ट करने का प्रयास करते रहते हैं। आज भी जो सज्जन नर-नारी हैं उनके ऊपर असुरवृत्ति वाले पुरुष अधिक छींटाकशी करते रहते हैं।

अतः देव वृत्ति वाले सदा असुरों से बचाव करने के उपाय ही करते हैं। कहा भी है कि प्राणी कुसंग का त्याग करके सदा वैदिक सत्संग में ही जाए। पाण्डवों के परिवार एवं पाण्डवों की आधीन जनता का स्वभाव वेदों के अनुसार देव-वृत्ति वाला था एवं विपरीत में दुर्योधन एवं दुर्योधन का समर्थन करने वाले पुरुष (नर-नारी) असुर-वृत्ति धारण कर चुके थे। इसके अतिरिक्त भी रावण की तरह पाण्डव और कौरवों दोनों से अलग छिपकर भी रहने वाले

चोर-लुटेरे आदि की भी कमी नहीं थी। उन्हीं चोर-लुटेरों के वर्ग ने महाभारत युद्ध के पश्चात द्वारिका से हस्तिनापुर वापिस आते समय अर्जुन के धन एवं साथ में आईं स्त्रियों को लूट लिया था। वे स्त्रियाँ धार्मिक प्रवृत्ति वाली पवित्र कन्याएँ एवं नारियाँ थीं। विपरीत में उनको लूटकर ले जाने वाले चोर-लुटेरे पूर्णतः अधार्मिक/पापी थे। अतः स्पष्ट है कि जबरन उन धार्मिक स्त्रियों को लूटकर ले जाने वाले उन चोर लुटेरों अर्थात् अधार्मिक पुरुषों से जो भी संतान उत्पन्न हुई होगी वह निश्चित ही वर्णसंकर सन्तान थीं। वर्णसंकर अर्थात् वैदिक धर्म के विपरीत काम करने वाली पाप वृत्ति वाली संतान थी। इसी वर्णसंकर की बात प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन कह रहे हैं कि जब युद्ध में नारी एवं धर्म की रक्षा करने वाले पुरुषों का अंत हो जाएगा। तब शेष तो चोर-लुटेरों/अधार्मिक का तरुण वर्ग ही रह जाएगा जो धार्मिक स्त्रियों को बलपूर्वक उठाकर ले जाएगा। इस प्रकार स्त्रियाँ दूषित हो जाएँगी और स्त्रियों में दुष्टता स्वतः ही आ जाएगी। अतः वर्णसंकर का अर्थ जाति से बाहर विवाह करना नहीं है। उस समय भी गुणों के आधार पर ही स्वयंवर विवाह होता था।

'संकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।'

(गीता १/४२)

(संकरः) वर्णसंकर **(कुलघ्नानाम्)** कुल के नाश करने वालों के **(च)** और **(कुलस्य)** कुल के **(नरकाय, एव)** नरक के लिए होते हैं **(लुप्त)** लुप्त हो गए हैं **(पिण्ड)** भोजन **(उदक)** जल **(क्रियाः)** कार्य-व्यवहार जिनके **(एषाम्)** इन कुल के नाश करने वालों के **(पितरः)** पितरजन **(हि)** निश्चय ही **(पतन्ति)** दुःख के सागर में गिर जाते हैं।

अर्थ : वर्णसंकर, कुल के नाश करने वालों और कुल, इन दोनों के लिए नरकगामी होते हैं। अतः लुप्त हो गए हैं भोजन, जल, क्रिया-व्यवहार जिनके, उसे इन कुल के नाश करने वालों के पितर अर्थात् जीवित विद्वान्, माता-पिता, पितामह, दादी, बड़े-बूढ़े निश्चय ही दुःख के सागर में गिर जाते हैं।

भावार्थ : कुल में वर्णसंकर जैसे अवगुण उत्पन्न होने का अर्जुन ने मुख्य

कारण कुल से सनातन वैदिक धर्म नष्ट होना कहा है (श्लोक ४०) जिसकी व्याख्या वहीं कर दी गई है। महायशस्वी मार्कण्डेय, वामदेव, कश्यप एवं गौतम आदि ऋषियों ने भी वाल्मीकि रामायण में वैदिक सनातन धर्म नष्ट होने पर कहा है कि तब स्त्रियाँ घर में नहीं रहतीं अर्थात् उनमें चरित्रहीनता आ जाती है। **अथर्ववेद काण्ड २ के सूक्त १४** में ऐसी अवस्था में नारी लड़-झगड़कर परिवार को दूर कर देती है, भय एवं निरादर उत्पन्न करने वाली, कठोर बोलने वाली, जिद्दी, सर्वदा भक्षणशील, सदा क्रोध से भरी हुई, बहुत बोलने वाली इत्यादि अवगुणों से युक्त हो जाती है। ऐसी स्त्रियाँ ज्ञान से उत्पन्न होने वाले आनन्द को पूर्णतः नष्ट कर देती हैं। जहाँ कुल में सनातन धर्म नष्ट होने पर ऐसे ही असंख्य अवगुणों का वर्णन वेदों में कहा गया है वहीं वैदिक सनातन धर्म का पालन करने वाली कुल की नारियों को वेदों ने पूजनीय, उषा के समान, सुख देने वाली, ब्रह्म के समान, (शतक्रतः) सैंकड़ों प्रकार से गृहस्थ के कार्य करने में निपुण, स्वाध्यायशील, मधुर भाषिणी और ईश्वर के समान तक कहा है। पिछले तीनों वैदिक काल सत, त्रेता, द्वापर युग की नारियाँ सीता, मदालसा, सावित्री इत्यादि, विदुषी इसी श्रेणी की थीं। अतः वैदिक परम्परा पर दृष्टि डालने से यह ज्ञात होता है कि पुरुष एवं नारी का अवलोकन वैदिक सनातन धर्म में कहे गुणों के आचरण के आधार पर किया गया है। महाभारत में व्यास मुनि जी स्पष्ट कहते हैं- **'धर्मेण हीनाः पशुः समानः'** अर्थात् जो सनातन वैदिक धर्म से हीन हैं वह पशु वृत्ति वाला मनुष्य पशु के ही समान माना गया है। भगवद्गीता वैदिक काल से जुड़ी हुई है। अर्जुन अपने पूर्वजों एवं ऋषियों द्वारा सीखा हुआ कुल में आचरणीय वैदिक धर्मों का ज्ञाता है। यहाँ उसका यह विचार अति गहन-गम्भीर है कि यदि युद्ध में सब योद्धा मारे गए तब अकेली बची नारियाँ सनातन कुल धर्म नहीं निभा पाएँगी और उनमें वर्णसंकर का दोष उत्पन्न होना स्वाभाविक होगा अर्थात् जो सृष्टि के आरम्भ में मनु भगवान के समय से विवाह, खान-पान, मीठा वचन, ब्रह्मचर्य, बड़ों का आदर, यज्ञ, योगाभ्यास, शुद्धता इत्यादि अनेक गुण कुल के आचरण में चले आ रहे हैं, वह नष्ट हो जाएँगे। फलस्वरूप वर्णसंकर दोषयुक्त धर्मभ्रष्ट नारियाँ किसी से भी विवाह करने को विवश होंगी, मनमानी करेंगी, अतः अन्त में मर्यादा से हीन होंगी, वा वैदिक सनातन गुणों को त्यागकर उनमें पुनः वासना

ही वासना उत्पन्न हो जाएगी और व्यभिचार से उत्पन्न कुसंस्कार वाली संतान धर्मपरायण न होकर बुजुर्गों की सेवा नहीं करेंगी। फलस्वरूप वेद विपरीत अनेक दोष उत्पन्न हो जाएँगे, जो कुल का नाश करने में सहायक होंगे। वर्णसंकर का अर्थ नारी का पतित होना कहा है। ऊपर श्लोक में कहा **'लुप्तपिण्डोदक्रियाः'** का अर्थ भी यही है कि जीवित ज्ञानी, माता-पिता, दादा-दादी इत्यादि पितरों को कोई अन्न-पानी देने वाला नहीं रहेगा। और वह सब जीवित ही दुःखों के सागर में गिर जाएँगे। यही बुजुर्गों के लिए नरक के समान होगा। अतः यहाँ अर्जुन को प्रतिदिन किए हुए यज्ञ की परिभाषा स्मरण हो आई है। यज् धातु से यज्ञ शब्द का अर्थ है-देवपूजा, संगतिकरण एवं दान जिनका पुनः अर्थ है जीवित माता-पिता, अतिथि, आचार्य एवं परमेश्वर की नित्य सेवा। यहाँ **'पिण्ड'** शब्द का अर्थ वर्तमान में मृत पितरों को दिया पिण्ड दान इसलिए नहीं हो सकता। क्योंकि चारों वेदों में जीवित माता-पिता आदि की सेवा का विधान है, मरे हुओं का नहीं। **यजुर्वेद मंत्र २/३२** में **'पितरः रसाय, शोषाय, जीवाय, स्वधायै** इत्यादि कह कर विद्या का आनन्द देने वाले जीवित विद्वानों को नम्रतापूर्वक नमस्कार करके उन्हें हमारे दुखों, शत्रुओं को दूर करने, लम्बी आयु प्राप्त करने, अन्न एवं पृथिवी का सुख एवं न्याय प्राप्त करने तथा सुखों को प्राप्त करने आदि अनेक आशीर्वादों को देने के लिए कहा है। मरे हुओं को कुछ खिलाया नहीं जा सकता क्योंकि **यजुर्वेद अध्याय ३६** के अनुसार मृत शरीर जलकर अथवा मिट्टी में मिलकर नष्ट हो जाता है। केवल उस शरीर में वास करने वाली जीवात्मा शरीर से निकलकर दूसरा जन्म ले लेती है। जीवात्मा बिना मुख इत्यादि इन्द्रियों के अन्न आदि ग्रहण नहीं कर सकता। पुनः शरीर सहित मुख आदि इन्द्रियाँ चिता में जल जाती हैं और अति सूक्ष्म जीवात्मा शरीर रहित होकर सुषुप्त (गाढ़ निद्रा वाली स्थिति अर्थात् बेहोशी की अवस्था) अवस्था में **यजुर्वेद अध्याय ३६** के अनुसार अन्तरिक्ष में असहाय होकर सूत्रात्मा वायु के अधीन विचरण करता है और तत्पश्चात कर्मानुसार मनुष्य, पशु-पक्षी आदि योनियों में शरीर धारण करता है। अतः शरीर रहित होकर जीवात्मा न खा-पी सकता है और न ही भूत-प्रेत आदि बन सकता है। अतः मनुष्य वेदानुसार जीवित पितरों की सेवा करें।

दूसरे जन्म में जीवात्मा का दूसरा शरीर होता है और वह उस दूसरे शरीर से अन्न, दूध, घी इत्यादि ग्रहण करती है। अतः मृतकों को पिण्ड दान न देने से भी कुल नष्ट नहीं होता, क्योंकि जाने वाला तो चला गया अब वह वर्तमान कुल की उत्पत्ति अथवा पालन-पोषण नहीं कर सकता। क्योंकि उसका तो स्वयं का शरीर नष्ट हो चुका है। महाभारत के भीष्म पर्व में भी वैदिक सनातन धर्म की बात करते हुए भीष्म पितामह योद्धाओं को स्पष्ट कह रहे हैं जो कि वर्तमान में अत्यन्त विचारणीय विषय है। तनिक एकाग्रता से निम्नलिखित भीष्म पितामह के उन वचनों का गंभीरतापूर्वक चिंतन करें। संजय ने युद्ध क्षेत्र का वर्णन करते हुए धृतराष्ट्र से कहा कि हे धृतराष्ट्र! सम्पूर्ण धर्मों के विशेषज्ञ आप के ताऊ देवव्रत भीष्म जी ने : **'समानीय महीपालानिदं वचनमब्रवतीत'** अर्थात् सब राजाओं को बुलाकर उन्हें यह वचन कहे-

'इदं वः क्षत्रिया द्वारं स्वर्गायापावृतं महत्।
गच्छध्वं तेन शक्रस्य ब्रह्मणः सहलोकताम्।।'

अर्थात् : हे क्षत्रियों! यह युद्ध तुम्हारे लिए स्वर्ग का खुला हुआ विशाल द्वार है। तुम लोग इसके द्वारा इन्द्र वा ब्रह्माजी के लोकों को प्राप्त करो। पुनः भीष्म जी बोले-

'अधर्मः क्षत्रियस्यैष यद् व्याधिमरणं गृहे।
यद योनिधनं याति सोऽस्य धर्मः सनातनः।।'

अर्थात् : घर में रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्यागना क्षत्रिय के लिए अधर्म माना गया है। युद्ध में लोहे के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा आहत होकर जो मृत्यु का आलिंगन करता है वही उसका सनातन धर्म है। योद्धाओं के लिए चारों वेदों ने भी यह वचन कहे हैं। अतः इससे पूर्णतः स्पष्ट है कि युद्ध में मरकर योद्धा स्वर्ग को तथा इन्द्र व ब्रह्माजी के लोकों को प्राप्त करता है। 'इन्द्र' शब्द का वैदिक अर्थ सब सुखों को प्राप्त करने वाला तथा इन्द्रियों को जीतने वाला कहा गया है। अतः अर्जुन जो वेद-विद्या को जानने वाला था, उसका 'पिण्ड उदक' का भाव परिवार के सदस्यों को भोजन पानी देना, वर्तमान का मृतकों के लिए पिण्डदान नहीं है। हाँ, यह वैदिक सत्य है कि सनातन वैदिक

धर्म नष्ट होने पर भ्रष्ट नारी की संतान जीवित पितरों को अन्न-पानी नहीं देगी, सम्मान भी नहीं करेंगी। तब अर्जुन को डर है कि पितर (बुजुर्ग) जीवित ही दुःख के सागर में डूब जाएँगे। दूसरा सही कुल का भी अता-पता नहीं रहेगा। अतः वर्तमान काल में गीता का यह ज्ञान आचरण में लाने योग्य है कि अर्जुन की तरह सम्पूर्ण देशवासी गम्भीरतापूर्वक जीवित माता-पिता, दादा-दादी, भाई - बन्धु एवं वृद्धों के लिए भोजन-पानी, धन-वस्त्र एवं रहने की सुव्यवस्था करके वैदिक सनातन धर्म निभाते हुए पुण्य के भागी बनें और प्रत्युत्तर में इस प्रकार वेदों में कही ईश्वरीय आज्ञा का पालन करते हुए सदा सुखी रहें। यहाँ यह भी विचार करें कि अर्जुन उन युद्ध के बाद शेष बचे माता-पिता तुल्य बन्धुओं, सम्बन्धियों, वृद्धों-वृद्धाओं, को भोजन-जल एवं सेवा इत्यादि देने का विचार कर रहा है जो युद्ध में कौरवों का साथ देकर पाण्डवों और पाण्डवों के परिवार को मारना चाहते हैं। अतः आज हमें माता-पिता, बुजुर्गों, बड़े-बूढ़ों, दादा-दादियों के किसी भी दोष पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिए। और वैसे भी यह सब वृद्ध, वृद्धाएँ तथा बुजुर्ग सदा हमारे शुभचिंतक ही रहते हैं।

अर्जुन उवाच-

'दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसंकरकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।'

(गीता १/४३)

(कुलघ्नानां) कुल नाश करने वालों के **(वर्णसंकरकारकैः)** वर्ण-संकर कारक **(एतैः)** इन **(दोषैः)** दोषों से **(शाश्वताः)** सनातन **(कुलधर्माः)** कुल-धर्म **(च)** और **(जातिधर्माः)** जातिधर्म **(उत्साद्यन्ते)** नष्ट हो जाते हैं।

अर्थ : कुल के नाश करने वालों के जो वर्णसंकर करने वाले दोष हैं, इन दोषों से सनातन कुल-धर्म एवं जाति धर्म (दोनों ही) नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थ : अर्जुन श्लोक ४१ में संदेह व्यक्त कर रहें हैं कि यदि युद्ध में सब योद्धा मारे गए तो शेष बची स्त्रियाँ दूषित हो जाएँगी और फिर कुल में वर्णसंकर दोष उत्पन्न होगा जो कुल एवं जाति दोनों को नष्ट कर देगा।

वर्णसंकर दोष आने पर स्त्रियाँ मनमानी करेंगी, विवाह योग्य जाति में पुरुष बचेंगे ही नहीं, बलपूर्वक भी कन्या-नारी को कोई राक्षस वृत्ति वाला उठाकर ले जा सकता है, अतः **यजुर्वेद मन्त्र ३१/११** पर आधारित ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य व शुद्र वर्ण नष्ट हो जाएँगे। यह मन्त्र कहता है, जो प्राणी वेद-विद्या तथा ईश्वर का ज्ञाता एवं ब्रह्मचर्य आदि उत्तम गुणों से युक्त हो वह **ब्राह्मण,** जो मनुष्य बलशाली, बाहुबल वाले, देश की अंदर और बाहर की रक्षा में समर्थ हों, वह **क्षत्रिय,** खेती व्यापार, पशुपालन और व्यवहार-विद्या में जो कुशल हैं तथा देश में सब पदार्थ समान रूप से वितरण करने में सक्षम हैं, वह **वैश्य** और जो विद्याहीन परन्तु **सेवा में श्रेष्ठ** हैं वह **शूद्र** मानें जाएँ। अतः वर्ण-व्यवस्था कर्मानुसार है, जन्मानुसार नहीं। यही श्लोक ४३ में 'सनातन कुलधर्म' का नाश कहा गया है। दूसरा जब क्षत्रिय जाति के पुरुषों का युद्ध में वध हो जाएगा और नारियाँ बेरोक-टोक कहीं भी विवाह करेंगी अथवा बलपूर्वक हरण कर ली जाएँगी, तब जाति का आगे वीरता वाला इतिहास नष्ट हो जाएगा। क्योंकि तब सनातन कुलधर्म का ज्ञान कुल से नष्ट हो जाने पर अविद्या ग्रस्त पुरुष वा नारी द्वारा उत्पन्न सन्तान भी अविद्या ग्रस्त ही होगी। और वह पूर्वजों के शुद्ध आचरण, त्याग, तपस्या, कीर्ति इत्यादि गुणों को दोहरा नहीं पाएँगी और बाहर धर्महीनों में विवाह होने के कारण पुरातन काल से चला हुआ कुल का सनातन वैदिक धर्म नष्ट हो जाएगा, जिसमें शूरता, वीरता, ब्रह्मचर्य, संयम-नियम, विनम्रता, न्याय, ईश्वर-भक्ति, यज्ञ, माता-पिता, वृद्धों की सेवा, सुपात्र को दान, विषय-विकार रहित, निष्कपट व्यवहार जैसे असंख्य गुण विद्यमान थे, वह गुण नष्ट हो जाएँगें। यही सब कुछ इस श्लोक में जाति धर्म का नष्ट होना कहा है। क्योंकि श्री राम, अर्जुन आदि के खानदानी गुण जो सतयुग से चले आ रहे थे वह द्वापर तक स्थिर रहे हैं। महाभारत युद्ध के बाद सब से बड़ी हानि देश को, वैदिक परम्परा नष्ट हो जाने से हुई है। अब मनु, ययाति, हरिश्चन्द्र, दशरथ, श्री राम, युधिष्ठिर जैसे राजर्षियों का अभाव है। वह प्रजा को अपनी सन्तान की तरह पालते थे। उनमें ऊपर कहे न्याय, प्रजा की जान-माल की रक्षा इत्यादि असंख्य गुण थे। परन्तु महाभारत युद्ध के पश्चात यह गुण अब दिखाई नहीं पड़ते।

तुलसी ने तो स्पष्ट कह दिया:-

'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।।'
(उत्तरकाण्ड दो.९७ चौ.१)

अर्थात् :- कलियुग में वर्ण, धर्म नहीं रहता और न चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) आश्रम रहते हैं। सब नर-नारी वेद के विरोध में लगे रहते हैं।

चौपाई में बरन का अर्थ ही कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र है। धर्म का अर्थ सनातन वैदिक धर्म है। अर्थात् यह धर्म कलियुग में नष्ट हो गए और गृहस्थ में नारी और पुरुष सब वेद-विरुद्ध कार्य करने लगे हैं। इसी बात का डर आज से पाँच हजार वर्ष पहले अर्जुन ४० से ४४ तक के श्लोकों में कह रहा है। पहले ब्राह्मण वेदपाठी, योगाभ्यासी इत्यादि अनेक गुणों से सम्पन्न थे। वर्तमान का वर्णन तुलसी की इस चौपाई में देखें:-

'द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन।
कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।'

अर्थ :- कलियुग में ब्राह्मण गुरु आदि स्वार्थ-वश वेदों के बेचने वाले होते हैं। राजा प्रजा को खा डालने वाले होते हैं। वेद की आज्ञा, अग्निहोत्र, यज्ञ, योग इत्यादि कोई नहीं मानता। 'द्विज' अर्थात् ब्राह्मण, सन्त-साधु तो वेद बेच बैठे हैं, अर्थात् वेद जानते ही नहीं और भूप (राजा/राजनेता) प्रजा को खा रहे हैं। हिन्दुस्तान पाकिस्तान के बँटवारे के समय गृह-युद्ध में भी जबरन कन्याओं और नारियों को उठाया गया और अब उनके वास्तविक कुल का नाम-निशान तक नहीं रहा। औरंगज़ेब ने जबरन नारी-पुरुषों को मुसलमान बनाया। धर्म-संस्कृति का लोप करके धन अथवा विषय-वासना में लिप्त आज भी यदि कन्याएँ अथवा बेटे किसी भी अधर्म युक्त वर्ग में शादी करते हैं तो यह सब वर्ण-संकर दोष ही कहा जाता है। और तो क्या कहा जाए, श्री कृष्ण महाराज के शरीर त्याग के पश्चात जब अर्जुन कन्याओं, स्त्रियों तथा धन-सम्पदा को द्वारिका-पुरी से लेकर हस्तिनापुर ला रहे थे तो साथ में प्रचुर

योद्धा न होने के कारण उन सभी नारियों और धन को चोर-डाकू तथा नीच प्रवृत्ति वाले लोग अकेले अर्जुन से लूट कर ले गए थे। उन चोर डाकुओं से उत्पन्न संतान भी वर्ण-संकर दोष में आती है, क्योंकि यह वेदों में कहा आठवाँ पिशाच विवाह है, जो वर्ण-संकर दोष वाला है। धर्म ही रक्षा करता है, ऐसा व्यास-मुनि ने महाभारत में भी कहा है और वेदों में कहे जिन शुभ कर्म करने से मनुष्य को जीवित रहकर इस लोक का सुख प्राप्त होता है और शरीर त्यागने पर उत्तम लोकों का अथवा मोक्ष का सुख प्राप्त होता है उसे ही धर्म कहते हैं। वही सनातन धर्म है। अर्जुन का संदेह यही है कि यदि युद्ध में सब वीर-योद्धा मारे गए तो इस प्रकार के धर्म युक्त जाति से बाहरी विवाह इत्यादि से वर्ण-संकर दोष उत्पन्न हो जाएगा और वैदिक सनातन कुल धर्म (कर्म) भी नष्ट हो जाएँगे।

अर्जुन उवाच--

'उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरकेऽनियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।'

(गीता १/४४)

(जनार्दन) हे कृष्ण **(उत्सन्नकुलधर्माणाम्)** नष्ट हो गए हैं कुल के धर्म **(मनुष्याणाम्)** जिन मनुष्यों के उनका **(नरके)** नरक में **(अनियतम्)** अनिश्चित काल तक **(वासः भवति)** निवास होता है **(इति)** ऐसा **(अनुशुश्रुम)** हमने सुना है।

अर्थ : हे कृष्ण! जिन मनुष्यों के कुल के धर्म नष्ट हो गए हैं उनका नरक में अनिश्चित काल तक निवास होता है ऐसा हमने सुना है।

भावार्थ : वेद शास्त्रों में कहे वह शुभ कर्म, जिनको करने से इस लोक एवं परलोक दोनों लोकों का सुख प्राप्त हो उसे धर्म कहा है। वेदों में कर्मानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण की व्यवस्था भी इसी आधार पर की गई है। **महाभारत में एक अलंकारिक कथा है** कि एक बार भीम को किसी बड़े अजगर साँप ने पकड़ लिया था। युधिष्ठिर ने ना[illegible] अजगर से कहा था कि मेरा भाई भीम इतना बलवान है कि कोई अजगर उसे पकड़ नहीं सकता।

अतः हे अजगर तू कौन है? तब अजगर ने कहा मैं यक्ष हूँ। तू मेरे प्रश्न का उत्तर देगा, तभी तेरे भाई भीम को छोड़ूँगा। तभी अजगर ने प्रश्न किया कि ब्राह्मण का पुत्र यदि मदिरापान, माँस-भक्षण, जुआ-खेलना एवं व्यभिचार इत्यादि पाप-वृत्तियों वाला है और विपरीत में शूद्र कुल में उत्पन्न बालक वेदाध्ययन, योगाभ्यासी, सात्विक भोजन एवं इन्द्रिय-संयम वाला है, तब क्या ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एवं शूद्र का पुत्र शूद्र ही कहलाएगा? युधिष्ठिर ने उत्तर दिया-नहीं, तब शूद्र का पुत्र ब्राह्मण एवं ब्राह्मण का पुत्र शूद्र कहलाएगा।

ऐसा ही वृतान्त **महाभारत** में एक और है कि क्षत्रिय वंश में उत्पन्न नहुष राजा ने च्यवन ऋषि की सेवा करके आशीर्वाद माँगा था कि मेरा क्षत्रिय वंश ब्राह्मण वंश में हो जाए। तब च्यवन ऋषि के आशीर्वाद से क्षत्रिय वंश में उत्पन्न गाधी पुत्र विश्वामित्र ब्रह्म-ऋषि हुए थे। अतः जातिवाद कर्मानुसार ही कहा गया है, केवल जन्मानुसार ही नहीं। वैसे भी मनुष्य की एक जाति है, पशु-पक्षी, पेड़-पौधे इत्यादि मनुष्य से विभिन्न जातियाँ हैं। अतः हमें पुरुषार्थ और जिज्ञासा द्वारा उच्च-कोटि की भौतिक एवं आध्यात्मिक विद्या प्राप्त करके सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना चाहिए। जातिवाद के झगड़ों से देश कमज़ोर हुआ है। इसे और कमज़ोर न बनाएँ। इस श्लोक में अर्जुन ने यह बात कही है कि नारियाँ वर्ण-संकर दोष उत्पन्न होने से कुल धर्म नष्ट हुए मनुष्यों का बहुत समय तक नरक में वास होता है। चारों वेदों एवं छः शास्त्रों में स्वर्ग-नरक इसी पृथिवी पर कर्म भोगने को कहा गया है। वही बात अर्जुन कह रहे हैं।

ऊपर आकाश में कोई स्वर्ग-नरक नहीं है। जब शुभ कर्मों का फल मिलता है तो मनुष्य योनि में अर्थ, धर्म, काम (कामनाएँ पूर्ण होना) इत्यादि सुख सम्पन्न परिवार में जन्म प्राप्त होता है। यही स्वर्ग है, इसे ही देव योनि कहा है। 'स्वः' का अर्थ सुख है। और जब अशुभ कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य योनि में दुःख-सन्ताप इत्यादि भोगने पड़ते हैं, यही असुर वृत्ति वाला नरक है। इससे भी अधिक कठोर नरक **यजुर्वेद अध्याय ३६** में कही पशु-पक्षी वाली योनियाँ हैं जो केवल दुःख भोगने वाली योनियाँ हैं। योग-शास्त्र सूत्र २/१३ में कहा--**'सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः'** अर्थात् क्लेश इत्यादि किए कर्म

यदि मनुष्य के चित्त पर विद्यमान हैं, तब उन कर्मों का फल भोगने के लिए ही कर्मानुसार मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि जातियों में जन्म लेकर आयु तथा भोग के रूप में अवश्य सहता है। इसे ही अर्जुन ने अनिश्चित काल का नरक कहा है। क्योंकि योग-शास्त्र सूत्र २/१२ में कहा है-**'क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट -जन्मवेदनीयः'** अर्थात् अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश यह पाँच क्लेश योग-शास्त्र में कहे गए हैं जो कि वास्तव में मिथ्याज्ञान ही हैं। पाँचों क्लेशों की उत्पत्ति जन्म-जन्मान्तरों में किये अशुभ कर्मों को करने के कारण से होती है। जब किसी जीव की बुद्धि में मिथ्याज्ञान समा जाता है तो उसे किसी भी वस्तु के सत्य स्वरूप को समझने की क्षमता नहीं रहती है और वह प्राणी उस वस्तु के स्वरूप को उससे उल्टा ही समझता है। यही अविद्या है। योग शास्त्र ने अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुखः को सुख और अनात्मा (जड़) को आत्मा (चेतन) समझना ही अविद्या कहा है। दूसरा, आँख नहीं देखती है अपितु आँख के माध्यम से चेतन जीवात्मा सबको देखता है। परन्तु जब जीवात्मा अविवेकी होकर यह कहता है कि मेरी आँख देख रही है तब इस मिथ्याज्ञान को ही अस्मिता कहते हैं। तीसरा, एक-बार जो इन्द्रिय सुख भोगा तब उस सुख के प्रति आसक्ति उत्पन्न होती है और उस सुख को बार-बार भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है। बार-बार इच्छा उत्पन्न होना ही उस सुख के प्रति राग है। चौथा-दुःख भोगे हुए पुरुष को जब उस दुःख की याद आती है तब वह उस दुःख में तथा उस दुःख प्राप्ति के साधन से विरोध स्वरूप क्रोध करता है, यही द्वेष है। पाँचवा-अभिनिवेश का अर्थ है-मृत्यु जो एक क्लेश है। यह क्लेश ध्यान के द्वारा त्यागने योग्य है अर्थात् जीव को वेदों के स्वाध्याय, योगाभ्यास और ईश्वर भक्ति द्वारा इन क्लेश वृत्तियों का नाश करना चाहिए। यह सब करना भी हमारे सनातन-कुलधर्म हैं। पिछले तीनों युगों में प्राणी सनातन कुलधर्म जिसमें वेदाध्ययन, यज्ञ, तप, नारी-धर्म, पुरुष-धर्म, मधुर-भाषा, विद्वानों तथा बुजुर्गों की सेवा, विशुद्ध-राजनीति, न्याय जैसे असंख्य धर्म (कर्त्तव्य-कर्म) आते हैं, वह परम्परागत आचरण में रहे थे। इन्हें सनातन कुल-धर्म इसलिए कहा क्योंकि यह कुलधर्म सनातन वेद वाणी से ऋषियों द्वारा प्राप्त किए जाते रहें हैं। और ध्यान-योग विद्या द्वारा अविद्या आदि क्लेशों का नाश भी सनातन वेद सम्मत है। अर्जुन को इस श्लोक में यही डर है कि

कहीं परिवार के नाश होने पर वर्ण-संकर दोष से सनातन कुल-धर्म और क्षत्रिय जाति-धर्म नष्ट न हो जाएँ और परिवार बाद में नरकगामी न हो जाए।

अर्जुन उवाच--

'अहो बत महत्पापं कर्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।'

(गीता १/४५)

(अहो) हाय **(बत)** खेद है कि **(वयम्)** हम सब **(महत्पापम्)** महान पाप को **(कर्तुम्)** करने के लिए **(व्यवसिताः)** तैयार हुए हैं **(यत्)** जो **(राज्यसुखलोभेन)** राज्य सुख के लोभ से **(स्वजनम्)** अपने बन्धुओं को **(हन्तुम्)** मारने के लिए **(उद्यताः)** तैयार हैं।

अर्थ : हाय खेद है हम महान पाप करने को तैयार हैं, राज्य सुख लोभ से बन्धुओं को मारने को तैयार हैं।

भावार्थ : अर्जुन पिछले श्लोकों में यही बात उठा रहा है कि चाहे कौरव आततायी ही हैं, परन्तु अपने हैं और इन्हें मारने पर तथा युद्ध में हमारी ओर के योद्धाओं के मरने पर भी सनातन वैदिक कुल धर्म परम्पराएँ नष्ट हो जाएँगी, जिस कारण कुल की स्त्रियों में वर्ण-संकर दोष आएगा और स्त्रियों का कुलीन आचरण नष्ट हो जाएगा। फलस्वरूप ऐसी स्त्रियों से उत्पन्न वर्ण-संकर सन्तान, जीवित बचे हुए बूढ़े-बुजुर्गों को अन्न-वस्त्र के साधन से विहीन करके तथा उनकी सेवा न करके उन्हें जीवित ही नरक में धकेल देगी, इस प्रकार सनातन कुल की प्राचीन वैदिक परम्पराएँ सब नष्ट हो जाएँगी और हमारे कुल का नाश हो जाएगा। अतः श्लोक ३५ में अर्जुन कह रहा है कि इन्हें मारकर मुझे पृथिवी तो क्या तीनों लोकों का राज्य भी नहीं चाहिए। अतः कुल एवं कुल धर्म की रक्षा के लिए अर्जुन समस्त भूमण्डल के राज्य को धिक्कार रहा है। **ऋग्वेद मंत्र १/४८/६** में पुत्र को कुल का रक्षक एवं कुल दीपक कहा है, वहीं कन्या को पिता एवं पति दोनों कुलों का उजाला करने वाली कहा है। अतः अर्जुन का कुल एवं कुल-धर्म रक्षार्थ वैदिक, सनातन-मत आज भी गीता-काल की तरह ग्रहण करने योग्य है। प्रथम तो हमें वैदिक कुल,

मर्यादाएँ जानने के लिए गीता ग्रन्थ के अनुसार वेदों के स्वाध्याय की अति आवश्यकता है। वेदानुसार मनुस्मृति में यहाँ तक कहा है कि जिस प्रकार प्राणी को जीवित रहने के लिए वायु की आवश्यकता है उसी प्रकार ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी आदि) वानप्रस्थ (वनों में प्रस्थान करने वाले) तथा तीसरा संन्यासी, इन तीनों आश्रमों को जीवित रहने के लिए केवल एक गृहस्थाश्रम की ही आवश्यकता है। गृहस्थाश्रम हो या कोई भी आश्रम हो, वस्तु अथवा कोई कर्म हो उसके विषय में बिना जाने जब हम हाथ लगाते हैं तो वह सुखदायक नहीं होता। सनातन गृहस्थाश्रम के धर्म को पूर्णतः ना जानने के कारण ही इसमें प्रवेश करने पर यह सुखदायी सर्वश्रेष्ठ आश्रम रोग-भोग, परेशानियों एवं चिंताओं का घर बन जाता है। अर्जुन के कहे कुछ सनातन वैदिक कुल धर्म इस प्रकार हैं-

(१) माता की सेवा करो क्योंकि वह जन्म देती है।

(२) पिता की सेवा करो क्योंकि वह पालन-पोषण करता है।

(३) वेदज्ञ अतिथि की सेवा जिससे ज्ञान मिलता है।

(४) सत्यवादी, वेद स्वाध्यायशील, तपस्वी, योगाभ्यासी, आचार्य (गुरु) की सेवा क्योंकि वह मोक्षदाता है।

(५) होम करना। इन्हीं पाँचों शुभ कर्मों को करने को यज्ञ कहते हैं जो विशेषतः **यजुर्वेद अध्याय १** में कहे गए हैं। वेदानुसार स्त्री को सैंकड़ों प्रकार से कठोर कार्य गृहस्थ में करने चाहिए। उसमें आलस्य न हो, वह इन्द्रिय संयम वाली और नित्य अग्निहोत्र करने वाली हो। जैसे स्त्री-पुरुष अपने हित के लिए आचरण करते हों वैसे ही माता-पिता, आचार्य और अतिथिजन के सुख के लिए भी पूर्णतः ध्यान दें **(यजुर्वेद १५/५५)**। जो विद्वान् पुरुषों से शिक्षा को प्राप्त हुई विदूषी स्त्री हो वह शिक्षा से सबको शिक्षित करे, जिससे सब स्त्रियाँ अधर्म मार्ग में न लगें, अपने पुत्र एवं कन्याओं को शिक्षित करें। जो प्रमादी पुरुष व्यभिचार करता है एवं परस्त्री का सेवन करता है वह इस जन्म और आगामी जन्म दोनों में दुर्भागी होता है। अर्थात् दोनों जन्मों में कष्ट भोगता है। और जो मन आदि इन्द्रियाँ वश में रखता है, अपनी स्त्री का सेवन तथा परस्त्री त्यागी होता है वह इस लोक और परलोक में परम सुख

भोगने वाला होता है। **यजुर्वेद मंत्र ८/१०** के अनुसार विवाह के बिना पुरुष स्त्री को अथवा स्त्री-पुरुष को मन से भी न चाहे। अर्जुन का संकेत इन्हीं सनातन वैदिक कुल धर्म तथा ऐसे ही अनेक गुणों से है। अर्जुन कह रहा है कि कुल के नष्ट होने से सनातन कुल धर्म भी नष्ट हो जाएँगे। अतः वह यहाँ युद्ध की इच्छा नहीं करता। आज हमें अपने कुल को गुणवान एवं उन्नति युक्त करके इसकी रक्षा करनी आवश्यक है। **"सनातन कुल धर्म"** की रक्षा करना ही कुल की रक्षा है। इससे ही देश सुदढ़ बनता है।

अर्जुन उवाच--

'यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।'

(गीता १/४६)

(यदि) यदि **(माम्)** मुझ **(अशस्त्रम्)** शस्त्ररहित **(अप्रतीकारम्)** न सामना करने वाले को **(शस्त्रपाणयः)** हाथ में शस्त्र लिए हुए **(धार्तराष्ट्राः)** धृतराष्ट्र के पुत्र **(रणे)** युद्ध में **(हन्युः)** मारें तो **(तत्)** वह **(मे)** मेरे लिए **(क्षेमतरम्)** कल्याणकारी **(भवेत्)** होगा।

अर्थ :- यदि मुझ शस्त्ररहित, न सामना करने वाले को, हाथ में शस्त्र लिए हुए धृतराष्ट्र के पुत्र युद्ध में मारें तो वह मेरे लिए कल्याणकारी होगा।

भावार्थ : यहाँ भी अर्जुन सनातन कुल धर्म की रक्षा के लिए ही कौरवों को मारने के स्थान पर स्वयं मरने में कल्याण समझ रहा है। शास्त्र में धौम्य ऋषि से आज्ञा पाकर उनका शिष्य आरुणि घोर वर्षा में खेतों की मिट्टी से बनी मेढ़ रोकने के लिए रात भर स्वयं पानी में लेटा रहा था। इस प्राण सेवा का पता चलते ही धौम्य ऋषि ने शिष्य आरुणि को कहा-हे पुत्र! प्राण से प्रिय कुछ भी नहीं होता। तूने गुरु सेवा में प्राण की बाजी लगा दी, अतः मेरे आशीर्वाद से तेरे हृदय में चारों वेदों का ज्ञान प्रकट हो जाएगा। यही आरुणि आगे चलकर वेदज्ञ ब्रह्मऋषि उद्दालक नाम से प्रसिद्ध हुआ। वेद शास्त्रों में भी तन, मन, धन से भी बढ़कर प्राण अर्पित करना ही सर्वश्रेष्ठ सेवा कही गई है। इसी कारण चारों वेदों और गीता में भी जब योद्धा रण भूमि में

प्राण त्यागता है, तब देश रक्षा में यह उसकी सर्वश्रेष्ठ सेवा उसे स्वर्ग प्राप्त करा देती है। अतः यहाँ अर्जुन का भी सनातन कुल रक्षा में प्राण अर्पित करने का भाव महा चिंतनीय है। गीता के वैदिक मर्म को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि साधनों के द्वारा जानना सम्भव है। अन्यथा असंभव सा ही है। तभी तो प्रायः पूजा-पाठ इत्यादि करने वाले, पारिवारिक संपत्ति अथवा मंदिर आदि पूजा स्थलों की संपत्ति को लेकर परिवार आदि के सदस्यों की हत्या तक कर देते हैं। ऐसे समाचार नित्य प्रति अखबारों में पढ़ने को मिलते हैं।

अतः महाभारत युद्ध में पाण्डवों का पक्ष धन-संपदा प्राप्त करना कदापि नहीं रहा है। उन्होंने यह युद्ध धर्म स्थापना के लिए लड़ा था, विपरीत में कौरवों ने राजगद्दी के लोभ में लड़ा था। आज भी हमें परिवारों से लोभ-लालच, राग-द्वेष इत्यादि विकारों से सदा अलग रहने तथा सनातन कुल धर्म की रक्षा का ज्ञान इन श्लोकों में अर्जुन दे रहा है। यह बात अलग है कि अर्जुन इन श्लोकों तक यह नहीं जान पाया कि यदि युद्ध न हुआ तब भी कौरव पक्ष जो पहले ही प्रजा में अधर्म फैला चुके थे वह पूर्ण रूप से जुआ, नशा और नारी अपमान इत्यादि अधर्म फैला देंगे। यह ज्ञान आगे चलकर श्री कृष्ण के उपदेशों से ही उसे प्राप्त हुआ। हमें आज आवश्यकता है कि भारत के प्रत्येक परिवार में सनातन वैदिक कुल धर्म की स्थापना हो एवं उसकी रक्षा हो । **अथर्ववेद ४/३४/२** यही सत्य दर्शा रहा है कि जो हाड़-माँस के बने शरीर के भोगों से ऊपर उठ जाते हैं वह **(शुचिम् लोकम् अपियन्ति)** पवित्र लोक को प्राप्त होते हैं।

संजय उवाच--

'एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।'

(गीता १/४७)

(संख्ये) युद्ध-भूमि में **(एवम्)** इस प्रकार **(उक्त्वा)** कहकर **(अर्जुनः)** अर्जुन **(शोकसंविग्नमानसः)** शोक से व्याकुल मन वाला होकर **(सशरम् चापम्)** बाण सहित धनुष को **(विसृज्य)** त्यागकर **(रथोपस्थे)** रथ के पिछले भाग में

(उपाविशत्) बैठ गया।

अर्थ :- युद्ध-भूमि में इस प्रकार कहकर अर्जुन शोक से व्याकुल मन वाला होकर बाण सहित धनुष को त्यागकर रथ के पिछले भाग में बैठ गया।

भावार्थ : प्रिय व्यक्ति या वस्तु के वियोग अथवा नाश के कारण मन में होने वाला परम कष्ट शोक कहलाता है। देखने में भी आता है कि प्रायः किसी की मृत्यु पर शोक सभा आयोजित होती है अथवा कोई मृत्यु पर शोक करने किसी के पास जाता है। परन्तु यहाँ अभी तक ना तो किसी की मृत्यु हुई है और ना ही किसी का प्रिय किसी से बिछड़ा है। फिर भी अर्जुन शोक संतप्त होकर बैठ गया है। अतः वास्तव में अर्जुन ने युद्ध के पश्चात सनातन कुलधर्म के नाश से होने वाली घटनाओं को ही किसी की मृत्यु पर शोक करने के समान माना है। मोहग्रस्त जीव जिसका अभी कुछ बिगड़ा ही नहीं, वह इस प्रकार का शोक नहीं करता। क्योंकि न तो अभी युद्ध शुरू हुआ, ना कोई मरा, ना कुल की नारियों में अभी वर्ण-संकर दोष आया, ना ही उसके कुल के सनातन धर्म नष्ट हुए हैं और ना ही अर्जुन को राज्य, धन-सम्पदा अथवा बड़प्पन इत्यादि का मोह ही है। यह सब कुछ होता तो वह युद्ध करता। वह तो युद्ध के पश्चात होने वाले सनातन कुलधर्म नष्ट होने पर अभी से शोकग्रस्त हो गया है। युद्ध तो अर्जुन की क्षत्रिय कुलधर्म प्रकृति (स्वभाव) में बसा हुआ था और इससे पहले उसने कई युद्ध लड़े भी थे। आज सम्पत्ति के लिए जहाँ माता-पिता, भाई-बहन तक के कत्ल हो जाते हैं, पिता-पुत्र परिवारों के झगड़े न्यायालय में लोभ-लालच का उदाहरण पेश करते हैं, वहाँ अर्जुन जैसे संयमी पुरुष सम्पूर्ण राज्य को त्यागकर अपने सनातन कुलधर्म की रक्षा के लिए स्वयं मृत्यु का आलिङ्गन करना कल्याणकारी मान रहे हैं। अतः आज भी समाज में सनातन कुल-धर्म स्थापित करने वाले पुत्र चाहिए। कुल कलंक पैदा होना सदा दुःखदायी रहा है। यहाँ अर्जुन का यह मोह-युक्त भाव नहीं है कि वह (अर्जुन) प्राणाहुति देकर पीछे पाण्डवों एवं कौरवों की सेना के परिवार जीवित रहें, खाएँ-पीएँ अथवा सुख-सम्पन्न रहें अपितु युद्ध न करके अर्जुन, परिवार के गुणों की मूल खान नारी को वर्ण-संकर के दोष से बचाना चाहता है। एवं इस प्रकार सनातन वैदिक कुल-धर्म सदा के लिए

स्थापित करना चाहता है। क्योंकि श्लोक २३ में अर्जुन दुर्योधन को दुर्बुद्धि वाला कह रहा है, दुर्योधन, दुःशासन इत्यादि को मारने की पाण्डु पुत्रों ने द्रौपदी चीर-हरण के समय कसमें खाई हुई हैं और यदि चीर-हरण के समय स्थिति अर्जुन, भीम आदि के अनुकूल होती तो वह दुर्योधन, दुःशासन इत्यादि को उस समय मार देते और इस प्रकार एक, दो, तीन, कौरवों के मरने से ना तो समस्त परिवार अथवा परिवार के सनातन कुलधर्म नष्ट होते और ना ही नारी में वर्ण-संकर दोष उत्पन्न होता। परन्तु यहाँ तो अर्जुन के समक्ष समस्या पाण्डु एवं कौरव सेना के परिवार, उनके योद्धाओं एवं सम्पूर्ण सम्बधियों के विनाश का प्रश्न उठ खड़ा हुआ है जो सनातन कुलधर्म नाशक होगा। ऐसा प्रश्न उत्तम बुद्धि में ही होता है, मोह-युक्त भ्रष्ट बुद्धि में नहीं। हाँ, यदि मोह अर्जुन को है भी तो नारी में वर्ण संकर दोष का आना, सनातन कुल के धर्म का नष्ट होना और पीछे शेष रहे बड़े-बूढ़े बुजुर्गों की अन्न-धन आदि से सनातन रीति से चली आ रही पालन-पोषण व्यवस्था का भंग (नष्ट) होना कहा जा सकता है। ऐसे वैदिक विचार अर्जुन जैसे सुमति वाले पुरुष के ही हो सकते हैं। अर्जुन को तनिक भी आभास होता कि सामने खड़े कौरव अथवा अर्जुन की सेना के परिवार एवं योद्धाओं के युद्ध में मरने पर भी वर्ण संकर दोष नहीं आएगा तथा सनातन कुल-धर्म एवं बुजुर्गों की सेवा चलती रहेगी तब तो वह तुरन्त युद्ध के लिए तैयार हो जाता। इन्हीं गुणों के स्तम्भ भीष्म, द्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य आदि को भी मारने पर अर्जुन कुलधर्म के स्तम्भ को नष्ट करने में कल्याण नहीं मान रहा। अपितु श्लोक ४६ में कौरवों द्वारा स्वयं मरने में हित समझ रहा है तभी तो ऐसा सोचकर अर्जुन धनुष-बाण त्याग कर रथ के पिछले भाग में शोकग्रस्त होकर बैठ गया है। पुनः वह क्यों युद्ध के लिए तत्पर हुआ, इसका उत्तर आगे के श्लोकों में है। गीता सद्ग्रन्थ के अभी तक के श्लोकों तक तो यही श्रेष्ठ ज्ञान मिलता है कि गृहस्थाश्रम में वैदिक कुल-धर्म-यज्ञ, योगाभ्यास, माता-पिता, वेदज्ञ गुरुजनों की सेवा, मधुर भाषा, इंद्रिय संयम, नर-नारी द्वारा अपने-अपने धर्म का वेदों द्वारा बोध एवं उस पर आचरण, परोपकार, स्वच्छ समाज एवं सुदृढ़ राष्ट्र के निर्माण, **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** के अनुसार भौतिक (विज्ञान) एवं आध्यात्मिक ज्ञान दोनों की साथ-साथ उन्नति, न्याय, **ऋग्वेद प्रथम मण्डल सूक्त ४८-४६** के अनुसार नारी

सम्मान, **यजुर्वेद मन्त्र २२/२२** के अनुसार देश में वेद-विद्या से प्रदीप्त वेद और ईश्वर के ज्ञाता, ब्राह्मण, शत्रुओं का मान-मर्दन करने वाले, उग्रवाद का जवाब देने वाले तथा निर्भय होकर रणभूमि में जाने वाले वीर क्षत्रिय उत्पन्न हों। जिस प्रकार श्रीकृष्ण एवं अर्जुन प्रजा सहित यज्ञ करते थे, हम सब भी यज्ञ करें। जिससे जब-जब हम कामना करें, तब-तब निश्चित रूप से वर्षा बरसे, अपर्याप्त की प्राप्ति हो और जो कुछ प्राप्त है उसकी रक्षा में हम समर्थ हों। यही सब कुछ दशरथ राम राज्य एवं महाभारत काल में था। महापुरुषों के यह वचन कल्याणकारी हैं:-

'जननी जने तो पूत जन, या दाता या सूर ।
नाहिं तो तू बाँझ भली क्यूँ गवावे नूर ।।'

अर्थ : हे माता! या तो ऐसा पुत्र उत्पन्न कर जो विद्वान् होकर विद्या दान करे अथवा ऐसा पुत्र हो जो रण विद्या में कुशल होकर न्याय एवं देश की रक्षा करें। अन्यथा हे माँ! तू कोई सन्तान उत्पन्न न कर।

अर्जुन के कहने पर जब श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन के रथ को दोनों सेनाओं के बीच स्थापित कर दिया तब अर्जुन ने स्वयं के परिवार के संबंधियों को कौरवों की सेना में युद्ध करने के लिए खड़े हुए देखा। इसमें विशेषकर भीष्म पितामह, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, मामा, ताऊ, श्वसुर आदि अनेक सैनिक देखे जिनसे अर्जुन ने युद्ध करना था। वे सब अर्जुन के कुल के अर्थात् भरतवंशी थे। भरतवंशियों का वैदिक धर्म, शौर्य, पराक्रम सम्पूर्ण पृथिवी पर विख्यात था। अर्जुन ने अपनों पर ही गाण्डीव धनुष से वार करना था, विपरीत सेना के योद्धाओं, जो अर्जुन के कुल के ही थे उन्होंने भी अपने ही अर्थात् पाण्डु-कुल (भरतवंशियों) पर ही जानलेवा हमला करना था। अर्जुन सतत् ब्रह्मचारी, धर्मनिष्ठ एवं धर्मानुकूल कर्म करने वाला योद्धा था। जब उसने देखा कि युद्ध में दोनों तरफ मरने वालों की संख्या अपने परिवार जनों की ही है तो उसके हृदय में ये विचार उठे-

१. वह परिवार वालों का वध नहीं कर सकता।

२. राज्य के लिए परिवार को मारने से अच्छा वह स्वयं मरना उचित

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच --

'तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।'

(गीता २/१)

(तथा) पहले कहे गए अनुसार **(कृपया)** करुणा से **(आविष्टम्)** व्याप्त **(अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्)** आँसुओं से भरे और व्याकुल नेत्रों वाले **(विषीदन्तम्)** शोक युक्त **(तम्)** उस अर्जुन को **(मधुसूदनः)** भगवान कृष्ण ने **(इदम्)** यह **(वाक्यम्)** वचन **(उवाच)** कहा।

अर्थ : पहले कहे गए अनुसार करुणा से व्याप्त, आँसुओं से भरे और व्याकुल नेत्रों ... शोक युक्त उस अर्जुन को भगवान कृष्ण ने यह वचन कहा।

...लोक में मधु नामक राक्षस को मारने के कारण श्री कृष्ण ...हा गया है। सूदन शब्द का अर्थ वध करने वाला तथा ... शहद, मीठा इत्यादि भी है। पिछले श्लोकों में अर्जुन की, कुलधर्म की रक्षा इत्यादि अपने ढंग से कही हुई मीठी-मीठी बातों का अगले श्लोकों में श्रीकृष्ण द्वारा नाश करने के कारण भी श्री कृष्ण का नाम इस विशेष श्लोक में व्यास मुनि जी ने मधुसूदन रखा होगा। क्योंकि पिछले श्लोकों में अर्जुन अपने विचारों को वैदिक भौतिक शब्दावली द्वारा उचित ही ठहरा ...ु वैदिक शब्दार्थ का आध्यात्मिक अर्थ तो श्री कृष्ण एवं व्यास मुनि जैसे वेदज्ञ अष्टांग योगी ही जान सकते हैं। **यजुर्वेद मंत्र ३१/७** के अनुसार चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न अनादि काल से चला आ रहा अजर-अमर (सनातन) ज्ञान है। और हर पृथिवी के अंत में पुनः नई सृष्टि में उत्पन्न हो जाता है। इसलिए **योग-शास्त्र सूत्र १/२६** में पता जलि ऋषि ने ईश्वर को हमारे पूर्वजों का भी ...हा है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से उत्पन्न ज्ञान ही चार ऋषियों ... में ईश्वर की सामर्थ से प्रकट होता है। नई सृष्टि में कोई भी ऋषि-मु... ...रूष नहीं होता है जो ज्ञान दे सके। **अथर्ववेद मंत्र १०/८/३२** स्वय...

द्वितीय अध्याय

संजय उवाच --

'तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।'

(गीता २/१)

(तथा) पहले कहे गए अनुसार **(कृपया)** करुणा से **(आविष्टम्)** व्याप्त **(अश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्)** आँसुओं से भरे और व्याकुल नेत्रों वाले **(विषीदन्तम्)** शोक युक्त **(तम्)** उस अर्जुन को **(मधुसूदनः)** भगवान कृष्ण ने **(इदम्)** यह **(वाक्यम्)** वचन **(उवाच)** कहा।

अर्थ : पहले कहे गए अनुसार करुणा से व्याप्त, आँसुओं से भरे और व्याकुल नेत्रों ... शोक युक्त उस अर्जुन को भगवान कृष्ण ने यह वचन कहा।

... लोक में मधु नामक राक्षस को मारने के कारण श्री कृष्ण ... हा गया है। सूदन शब्द का अर्थ वध करने वाला तथा ... शहद, मीठा इत्यादि भी है। पिछले श्लोकों में अर्जुन की, कुलधर्म की रक्षा इत्यादि अपने ढंग से कही हुई मीठी-मीठी बातों का अगले श्लोकों में श्रीकृष्ण द्वारा नाश करने के कारण भी श्री कृष्ण का नाम इस विशेष श्लोक में व्यास मुनि जी ने मधुसूदन रखा होगा। क्योंकि पिछले श्लोकों में अर्जन अपने विचारों को वैदिक भौतिक शब्दावली द्वारा उचित ही ठहरा ... तु वैदिक शब्दार्थ का आध्यात्मिक अर्थ तो श्री कृष्ण एवं व्यास मुनि जैसे वेदज्ञ अष्टांग योगी ही जान सकते हैं। **यजुर्वेद मंत्र ३१/७** के अनुसार चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न अनादि काल से चला आ रहा अजर-अमर (सनातन) ज्ञान है। और हर पृथिवी के अंत में पुनः नई सृष्टि में उत्पन्न हो जाता है। इसलिए **योग-शास्त्र सूत्र १/२६** में पता जलि ऋषि ने ईश्वर को हमारे पूर्वजों का भी गुरु कहा है क्योंकि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से उत्पन्न ज्ञान ही चार ऋषियों के हृदय में ईश्वर की सामर्थ से प्रकट होता है। नई सृष्टि में कोई भी ऋषि-मुनि महापुरुष नहीं होता है जो ज्ञान दे सके। **अथर्ववेद मंत्र १०/८/३२** स्वयं कहत ... -

'पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।'

अर्थात् हे जीव ईश्वर के काव्य (चारों वेदों) का अध्ययन कर। जो न जीर्ण होते हैं और न कभी मरते हैं। आगे आए **गीता श्लोक १३/४** में भी इस ऋग्वेद, यजुर्वेद आदि चारों वेदों के ज्ञान को ऋषियों द्वारा वर्णित कहा है। अतः संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा सखा के साथ गुरु-सेवा करते हुए चारों वेदों का अध्ययन एवं अष्टांग योग में सिद्धि प्राप्त योगेश्वर श्रीकृष्ण पिछले प्रथम अध्याय में अर्जुन के विचारों का खण्डन करते हुए कहते हैं। श्रीकृष्ण महाराज जो कुछ यहाँ अथवा सम्पूर्ण गीता में कह रहे हैं, वह सब उनका वैदिक ज्ञान ही है।

श्रीकृष्ण उवाच --

'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन।।'

(गीता २/२)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(इदम्)** यह **(कुतः)** किसलिए **(त्वा)** तुमको **(कश्मलम्)** निंदित पाप **(विषमे)** विषम स्थान में **(समुपस्थितम्)** प्राप्त हुआ है **(अनार्यजुष्टम्)** आर्य मर्यादा से रहित और **(अस्वर्ग्यम्)** स्वर्ग का द्वार बंद करने वाला **(अकीर्तिकरम्)** कीर्ति का नाश करने वाला यह मलिन भाव क्यों उत्पन्न हुआ?

अर्थ :- हे अर्जुन! यह किसलिए तुमको निंदित पाप विषम स्थान में प्राप्त हुआ है। आर्य मर्यादा से रहित और स्वर्ग का द्वार बंद करने वाला, कीर्ति का नाश करने वाला यह मलिन भाव क्यों उत्पन्न हुआ?

भावार्थ :-श्लोक में विषम स्थान युद्ध स्थल को कहा गया है। श्री कृष्ण मानो आश्चर्यचकित हो अर्जुन को कह रहे हैं कि दोनों सेनाओं के बीच खड़े रथ में अर्जुन युद्ध न करने जैसी बातें क्यों कर रहा है। यह बातें तो युद्ध प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले भी हो सकती थी परन्तु युद्ध स्थल में खड़े होकर यह अज्ञानयुक्त बातें श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरण योग्य नहीं है। अर्जुन से श्री कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे विचार कीर्ति एवं स्वर्ग प्राप्ति के लिए बाधक हैं। ऊपर के अर्थ से स्पष्ट है कि प्रथम अध्याय में कहे अर्जुन के विचार

वैदिक दृष्टि से उचित होने पर भी अर्जुन का केवल युद्ध न करने का निर्णय वैदिक मर्यादा के विरुद्ध है। इस बात को श्री कृष्ण ही जानते हैं। इसलिए अर्जुन के युद्ध न करने के निर्णय को श्रीकृष्ण ने ऊपर के श्लोक में निंदित पाप कर्म, वैदिक मर्यादा के विरुद्ध अपयश देने वाला तथा नरक में ले जाने वाला कर्म कहा है। क्योंकि सनातन कुलधर्म की रक्षा करना तो सब प्राणियों का धर्म है परन्तु महाभारत जैसा युद्ध जिसमें कौरवों का पक्ष कामी, क्रोधी, लोभी, लालची, नारी अपमान एवं जुआ इत्यादि अनेक पापों से युक्त होकर समाज में वैदिक धर्म का नाश करने वाला है। उस युद्ध का निर्णय लेना तो श्रीकृष्ण एवं व्यास मुनि जैसी विभूतियों का ही है जिसमें केवल अपने परिवार का स्वार्थ न होकर सम्पूर्ण पृथिवी का कल्याण छिपा हुआ है। तभी श्रीकृष्ण कहते हैं :-

श्रीकृष्ण उवाच--

'क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परंतप।।'

(गीता २/३)

(पार्थ) हे अर्जुन! **(क्लैब्यम्)** नपुंसकता अर्थात् पुरुषार्थहीनता को **(मा)** मत **(स्म गमः)** प्राप्त हो **(एतत्)** यह **(त्वयि)** तुझमें **(न उपपद्यते)** नहीं होनी चाहिए। **(परंतप)** हे शत्रुओं को सता देने वाले अर्जुन! **(क्षुद्रम्)** तुच्छ **(हृदयदौर्बल्यम्)** हृदय की दुर्बलता को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(उत्तिष्ठ)** उठ खड़ा हो अर्थात् युद्ध के लिए खड़ा हो जा।

अर्थ :- हे अर्जुन! नपुंसकता अर्थात् पुरुषार्थहीनता को मत प्राप्त हो। यह तुझमें नहीं होनी चाहिए। हे शत्रुओं को सता देने वाले अर्जुन! तुच्छ हृदय की दुर्बलता को त्यागकर उठ खड़ा हो अर्थात् युद्ध के लिए खड़ा हो जा।

भावार्थ : प्रथम अध्याय में परिवार के सनातन कुलधर्म नष्ट न हो जाएँ, कुल की स्त्रियों में वर्ण-संकर दोष न आ जाए एवं यदि युद्ध में हम सब मर गए तो शेष जीवित वृद्धों को जल, अन्न इत्यादि कौन देगा? ऐसा विचार करके अर्जुन युद्ध नहीं करना चाहता। श्री कृष्ण इसे ही अर्जुन के तुच्छ हृदय की

दुर्बलता कह रहे हैं। पिछले श्लोक २/२ में विशेषतः श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि दोनों सेनाओं के आमने-सामने खड़े होते हुए जबकि युद्ध अवश्य ही होकर रहेगा, तब ऐसे विषम स्थल पर यह पुरुषार्थहीनता क्यों आई? क्योंकि कौरव तो युद्ध करने सामने आ ही गए हैं और पाण्डु सेना भी तैयार है, फिर अर्जुन क्यों नपुंसक बन रहा है।

जैसे कई बार भारत के साथ अचानक युद्ध छेड़ा गया था तब यदि कोई हमारा सैनिक कुलधर्म, स्त्री-पुत्र अथवा माँ-बाप के पालन-पोषण की बात युद्धस्थल में करे और युद्ध न करे तो गीता श्लोक २/२ के अनुसार ऐसा तुच्छ विचार विद्वानों द्वारा निदिंत पाप, वैदिक मर्यादा के विरुद्ध अपयश एवं नरक देने वाला है। युद्ध के बिना शांति स्थापित हो यह युद्ध से पहले विचार करने योग्य विषय है। परन्तु जब क्षत्रिय को युद्ध के लिए विवश कर दिया जाए तब युद्ध का त्याग नपुंसकता है। वेद धर्म एवं शांति स्थापना के लिए आततायियों को कुचल देने की आज्ञा देते हैं। **अथर्ववेद मंत्र ४/३६/२** कहता है कि जो हिंसा नहीं चाहते, परन्तु अन्य कोई उसकी हिंसा करने की इच्छा करे अथवा राज-पुरुषों को मारना चाहे अथवा उन पर आक्रमण करता है, उसे राजा प्राण दण्ड दे। अगले **मंत्र ४/३६/७** में राजशासन राष्ट्र से पिशाचों, चोरों अथवा आततायियों को नष्ट करके तथा इस प्रकार राष्ट्र को उपद्रवों से रहित करके अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करता है। दुर्योधन के राज्य में युधिष्ठिर आदि पाँचों राजपुरुष भाइयों को मारने की कई बार चेष्टा की गई। नारी अपमान, जुआ इत्यादि अनेक अपराध उभरने लगे थे। और दुर्योधन ने स्पष्ट कह दिया था कि युद्ध के बिना वह पाण्डवों को सुई की नोंक के बराबर भी भूमि नहीं देगा। अतः कौरवों की तरफ से युद्ध स्पष्ट कर दिया गया था। अब युद्ध स्थल पर अर्जुन के विचारों को श्री कृष्ण अर्जुन की नामर्दी कहकर उसे धिक्कार रहे हैं। परन्तु साथ ही अर्जुन को क्षत्रिय वंश का धर्म याद दिलाते हुए उसे परम तप-शत्रुओं को रुलाने वाला तथा पार्थ अर्थात् क्षत्रियाणी कुंती का पुत्र कहकर उसे युद्ध के लिए प्रेरित कर हृदय की दुर्बलता को छोड़कर युद्ध करने के लिए उठ खड़ा होने को कह रहे हैं। युद्ध स्थल की विषम अवस्था में यही क्षत्रिय के लिए वैदिक धर्म है, जो उसे स्वर्ग

का लाभ देने वाला है। श्री कृष्ण ने भगवद्गीता में अर्जुन को अड़तीस बार पार्थ कहकर पुकारा है। युदवंशियों में श्रेष्ठ शूरसेन हुए हैं जो वसुदेव जी के पिता हुए हैं। उनकी पुत्री का नाम पृथा था। सत्यवादी शूरसेन ने अपने फुफेरे भाई कुंतीभोज को अपनी कन्या पृथा दे दी थी। यही पृथा अर्जुन के पिता पांडु की बड़ी पत्नी थी। छोटी पत्नी का नाम माद्री था। महाभारत में युद्ध होने की संभावना को देखकर कुंती ने श्री कृष्ण के द्वारा अर्जुन को संदेश दिया था कि अर्जुन और भीम से कहना कि जिस कार्य के लिए क्षत्रिय वंश की माता पुत्रों को जन्म देती है वह समय आ गया है। अतः पृथा (कुंती) का पुत्र होने के कारण भी श्री कृष्ण अर्जुन को पार्थ कहकर पुकारते थे। कुंती श्री कृष्ण की बुआ थी।

अर्जुन उवाच --

कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणं च मधुसूदन।
इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।'

(गीता २/४)

(मधुसूदन) हे मधुसूदन! **(कथम्)** किस प्रकार **(अहम्)** मैं **(भीष्मम् च द्रोणम्)** भीष्म और आचार्य द्रोण के **(प्रति)** विरुद्ध **(संख्ये)** युद्ध-भूमि में **(इषुभिः)** बाणों से **(योत्स्यामि)** युद्ध करुँगा, क्योंकि **(अरिसूदन)** हे शत्रुनाशक! **(पूजार्हौ)** दोनों ही सत्कार के योग्य हैं।

अर्थ : हे मधुसूदन! किस प्रकार मैं भीष्म और आचार्य द्रोण के विरुद्ध युद्ध-भूमि में बाणों से युद्ध करुँगा क्योंकि हे शत्रुनाशक! दोनों ही सत्कार के योग्य हैं।

भावार्थ : अर्जुन को पिछले तीसरे श्लोक में पृथा-कुन्ती क्षत्रियाणि पुत्र तथा (परंतपः) शत्रुओं को तपाने वाला कह कर युद्ध के लिए प्रेरित किया जा रहा है। परन्तु अर्जुन ने इस चौथे श्लोक में श्री कृष्ण को मधुसूदन एवं अरिसूदन कह कर सम्बोधित किया है। सूदन शब्द का अर्थ मारने वाला होता है। मधु नामक राक्षस को मारने पर श्री कृष्ण का नाम मधुसूदन एवं अनेक राक्षसों को मारने के कारण उनका नाम अरिसूदन पड़ा था। अर्जुन का भाव है कि

हे कृष्ण! आपने भी राक्षसों का वध किया और मैंने भी राक्षसों का वध किया और समाज की पीड़ा दूर की। यह राजा का-क्षत्रिय का धर्म है। परन्तु भीष्म एवं द्रोण दोनों ही पूजनीय हैं, ये राक्षस नहीं हैं, मैं कैसे इन पर बाणों का प्रहार करुँ? अतः निश्चित ही पाण्डुपुत्रों की तरफ से महाभारत युद्ध धन-सम्पदा के लिए युद्ध नहीं था। आज तो अर्जुन जैसा वैदिक ज्ञान न रखने वाले बाप-बेटे, चाचा-भतीजे, गुरु-शिष्य, नेता की कुर्सी का लोभ इत्यादि सब जन धन-सम्पदा की लड़ाई कोर्ट में तथा बाहर सब प्रकार से लड़े जा रहे हैं। कहीं-कहीं तो कत्ल करने में भी नहीं चूकते। अतः पुनः हमारे देश को कर्त्तव्य निश्चित करने के लिए वैदिक ज्ञान की आवश्यकता है।

अर्जुन उवाच --

'गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भु जीय भोगान्रुधिरप्रदिग्धान्।।'

(गीता २/५)

इसलिए **(इह लोके)** इस लोके में **(हि)** निश्चिय करके **(महानुभावान्)** पुण्यवान **(गुरून्)** गुरुजनों को **(अहत्वा)** न मारकर **(भैक्ष्यम्)** केवल भिक्षा का अन्न **(अपि)** भी **(भोक्तुम्)** भोग करने के लिए **(श्रेयः)** श्रेष्ठ है। **(गुरून्)** गुरुजनों को **(हत्वा)** मारकर भी **(इह)** इस लोक में **(रुधिर प्रदिग्धान्)** खून से सने हुए **(अर्थकामान्)** धन एवं कामनाएँ रूपी **(भोगान्)** भोगों को **(एव)** ही **(तु)** तो **(भु जीय)** भोगूँगा।

अर्थ :- इसलिए इस लोक में निश्चय करके पुण्यवान गुरुजनों को न मारकर केवल भिक्षा का अन्न भी भोग करने के लिए श्रेष्ठ है। गुरुजनों को मारकर भी इस लोक में खून से सने हुए धन एवं कामनाएँ रूपी भोगों को ही तो भोगूँगा।

भावार्थ : गीता का यहाँ स्पष्ट ज्ञान है कि यदि हम पुण्यवान गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों को धन इत्यादि के लालच में मारते हैं अथवा निरादर करते हैं तब इस प्रकार प्राप्त धन, मकान, वस्त्र एवं परिवार आदि का जो सुख है, वह उनके खून से सींचा हुआ सुख है, जो नरक गामी है। हाँ, क्यों अर्जुन ने

उन पर शस्त्र उठाया, यह श्री कृष्ण का अलौकिक ज्ञान आगे दिया गया है। गीता स्पष्ट ज्ञान दे रही है कि यदि गुरु भी वेद-विरुद्ध होकर अधर्म के मार्ग पर चल पड़े तो ऐसे गुरु का त्याग ही श्रेष्ठ है। **मनुस्मृति ४/३० में** भी स्पष्ट कहा है कि जो गुरु पाखण्डी, वेदनिन्दक, प्रायः धन हरने वाला, अधर्म का आचरण करने वाला, हिंसा फैलाने वाला, हठी, इधर-उधर की सारहीन बातें करने वाला हो उसका वाणी से बोलकर भी सत्कार नहीं करना चाहिए।

अर्जुन उवाच --

'न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्तराष्ट्राः।।'

(गीता २/६)

(एतत् च) हम यह भी **(न विद्मः)** नहीं जानते **(नः कतरत् गरीयः)** हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है **(यद्वा जयेम)** अथवा हम जीतेंगे **(यदि वा नः जयेयुः)** या हमको वे जीतेंगें **(यान् हत्वा)** जिनको मारकर **(न जिजीविषामः)** हम जीना नहीं चाहते **(ते धार्तराष्ट्राः)** वे धृतराष्ट्र के पुत्र **(एव)** ही **(प्रमुखे अवस्थिताः)** हमारे सामने खड़े हैं।

अर्थ : हम यह भी नही जानते हमारे लिए क्या श्रेष्ठ है अथवा हम **जीतेंगे** या हमको वे **जीतेंगे,** जिनको मारकर हम जीना नहीं चाहते वे धृतराष्ट्र के पुत्र ही हमारे सामने खड़े हैं।

भावार्थ : अर्जुन अपने ही परिवार के कौरवों को मारने में कुल के सनातन धर्म नष्ट होने, कुल की स्त्रियों में वर्णसंकर दोष उत्पन्न होने और भीष्म, द्रोण तथा कृपाचार्य जैसे पूजनीय विभूतियों से युद्ध करना पूर्णतः पापयुक्त कर्म मानकर युद्ध एवं संसार के सारे सुख त्यागकर भिक्षा माँग कर खाना पसंद कर रहा है। क्योंकि उसने वेद आज्ञानुसार अभी तक महापुरुषों के आगे केवल नतमस्तक होना ही सीखा था, जो उचित भी है। परन्तु प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन ने अत्यन्त गम्भीर प्रश्न खड़ा किया है कि अर्जुन समेत पाण्डव अभी तक यह भी नहीं जानते कि उनके लिए कौन-सा मार्ग श्रेष्ठ है अर्थात् युद्ध करें अथवा नहीं? **तैत्तिरीयोपनिषद्** के ऋषि ने इस विषय में शिक्षा वल्ली के **ग्यारहवें**

अनुवाक में यह ज्ञान दिया है:- **"वेदम् अनूच्य आचार्यः अन्तेवासिनम् अनुशास्ति सत्यम् वद धर्मम् चर"। "मातृ देवो भव पितृ देवो भव"।** अर्थात् वेद विद्या का ज्ञान करा चुकने के बाद आचार्य (वेदज्ञ गुरु) अभी तक सदा साथ रहने वाले अपने शिष्यों को गुरुकुल छोड़ कर घर जाते समय उपदेश करता है कि सदा सत्य बोलना, धर्म (कर्त्तव्य) को सदा आचरण में ही लाकर रखना अर्थात् केवल पढ़-सुन-रट कर ही नहीं बोलना। वेदाध्ययन में प्रमाद-आलस्य, हंसी मज़ाक मत करना, इस प्रकार समय व्यर्थ न खोना, आचार्य अर्थात् जिसके आचरण में वेद की विद्या है उसको प्रिय धन आदि दक्षिणा रूप में देना। वंश - परम्परा को मत तोड़ना अर्थात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करना। गुणवान विद्वानों एवं अपनों से आयु में बड़े-बुजुर्गों की सेवा करके अपने कर्त्तव्य का पालन करना। **'यः ददाति सः देवः'** अर्थात् जो हमें कुछ देता है वह देव है। माता जन्म देती है, अतः देवी है। पिता पालन-पोषण करता है अतः देव है। वेदज्ञ आचार्य तथा अतिथि ज्ञान देते हैं, अतः देव हैं। वेदों में यही पाँच जीवित चेतन देव बताए गए हैं। यजुर्वेद में देवपूजा, संगतिकरण वा दानेषु, कहकर इन्हीं पाँचों देवों की सेवा करना ईश्वर-भक्ति कहा है। आगे ऋषि तीसरे श्लोक में उपदेश करते हैं कि वेदों के विद्वानों से उपदेश सुनना, उनको श्रद्धापूर्वक दान देना, अश्रद्धा से भी देना। धन घर में बढ़ रहा हो तो भी दान देना, धन न बढ़ रहा हो तो भी लोक-लाज से दान देना, आहुति एवं धन दान का पुण्य साथ जाता है, अतः भयपूर्वक भी दान देना क्योंकि मरने पर धन साथ नहीं जाता। प्रेमपूर्वक भी दान देना। आगे ऋषि कहते हैं कि यदि किसी कार्य में कर्त्तव्य निर्धारित करने में संदेह उत्पन्न हो जाए अर्थात् यह समझ न आए कि इस कर्म करने में धर्म है या अधर्म। तब ऐसे वेद के ज्ञाता ब्रह्मलीन महापुरुष से परामर्श करके उनका निर्णय स्वीकार करना जो महापुरुष परामर्श देने में समर्थ हो, किसी से प्रेरित अथवा रूखे स्वभाव वाला न हो, धर्म में निपुण और समदर्शी हो **'इतिः त्रिशंकोः वेदानुवचनम्'** यह त्रिशंकु ऋषि का वेदानुसार उपदेश है। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि अर्जुन समस्त पाण्डवों सहित वेदानुयायी रहा है और इसलिए यह भीष्म आदि महापुरुषों को मारने में वेद-विरुद्ध, पाप-युक्त कर्म समझ रहा है। दूसरा उसने परेशान होकर ऊपर लिखित वेदानुसार श्री कृष्ण के सम्मुख इस

श्लोक में प्रश्न खड़ा कर दिया है कि हम यह नहीं जानते हैं कि युद्ध के बीच अब हमारे लिए श्रेष्ठ कर्म क्या है जिसका उत्तर वह अगले श्लोक में योगेश्वर श्री कृष्ण जैसी विभूति से माँग रहा है। अतः महाभारत का युद्ध निश्चित ही पाण्डवों की तरफ से धन-संपदा अथवा गद्दी के लिए लड़ा युद्ध नहीं कहा जा सकता। यह धर्म युद्ध है। आज देश का दुर्भाग्य है कि देश में वेदों का ज्ञान क्षीण होने के कारण बेटा-बेटी, माता-पिता एवं वेदज्ञ विद्वानों की सेवा प्रायः नहीं कर रहे हैं एवं वृद्धों की दशा शोचनीय है। केवल गीता का पाठ रखने, इमारतें बनाने और वेद-विरुद्ध दिशाहीन कथा-कहानियाँ सुनने से पिछले पचपन वर्षों से साधु संतों के उपदेश चोरी, डकैती, नारी अपमान, भ्रष्टाचार नहीं रोक सके, बड़े-बूढ़ों की सेवा इत्यादि नहीं करा पाए हैं, अपितु व्यभिचार पहले से अधिक ही हो गए हैं। **यजुर्वेद मंत्र १८/५४** के अनुसार केवल ऋषि मुनि, तपस्वियों की ही तन, मन एवं धन से सेवा की जाती है, अब यदि वेद विरोधी साधु स्वयं को भगवान कहकर अविद्या को बताकर पाखण्ड एवं अंधविश्वास फैलाकर जनता को और दुःखों के सागर में डुबाए जा रहे हैं तो यह सब वेद विद्या के ज्ञान के अभाव के कारण ही है। इस दिशा में प्रत्येक भारतीय नेता एवं भारतवासी जनता को अवश्य विचार करना चाहिए एवं पुनः श्री राम, श्री कृष्ण एवं ऋषियों की भूमि पर यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेद-मंत्रों के उच्चारण का उद्घोष करके भारत भूमि को 'विश्वगुरु' की पदवी पर स्थापित करना चाहिए। यह गहन विचार भी हमें करना ही पड़ेगा कि श्री राम, श्री कृष्ण और सतयुग, त्रेता, द्वापर की संपूर्ण प्रजा जहाँ करीब एक अरब ९७ करोड़ वर्ष तक वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करके अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष प्राप्त करती रही वहाँ अचानक महाभारत युद्ध के पश्चात कैसे साधु-सन्त और जनता चारों वेद और उसमें कहे यज्ञ, योगाभ्यास के विरुद्ध हो गई है और दुःख उठा रही है। अतः हम रामायण की इस चौपाई से भी सीख लें-

'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी।
श्रुति बिरोध रत सब नर नारी।।'

(उत्तरकाण्ड दो ९७ चौ.।)

अर्थात् कलियुग में प्रत्येक नर-नारी वेद के विरुद्ध हो गए हैं।

अर्जुन का इस श्लोक में दूसरा प्रश्न है कि हम पाण्डव यह भी नहीं जानते कि युद्ध में कौन जीतेगा? इसका वैदिक उत्तर तो श्रीकृष्ण ने आगे दे ही दिया कि "हे अर्जुन! कर्म करने में तेरा अधिकार है फल की इच्छा मत कर"। क्योंकि **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** में स्पष्ट कहा है कि जीव कर्म करता है और ईश्वर उसका फल देता है। जब फल केवल ईश्वर के हाथ में ही है, अन्य के नहीं, तब हम कर्म के फल पर ध्यान देकर अपनी मानसिक शक्ति क्यों व्यर्थ करें।

अर्जुन उवाच --

'कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चिंत ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।'

(गीता २/७)

(कार्पण्य) दया **(दोषः)** दोष, बुराई से **(उपहत)** मारे हुए **(स्वभावः)** स्वभाव वाला अर्थात् मेरा हृदय युद्ध भूमि में दया रूपी दोष युक्त हो गया है जो क्षत्रिय का धर्म नहीं है तथा **(धर्मसंमूढचेताः)** धर्म के विषय में पूर्णतः मोहित चित्त वाला **(त्वाम् पृच्छामि)** आपको पूछता हूँ **(यत् निश्चितम्)** जो निश्चित **(श्रेयः स्यात्)** कल्याणकारी मार्ग है **(तत्)** वह **(मे)** मेरे लिए **(ब्रूहि)** कहें। **(अहम्)** मैं **(ते)** आपका **(शिष्यः)** शिष्य हूँ **(त्वाम्)** आपकी **(प्रपन्नम्)** शरणागत हुआ **(माम्)** मुझे **(शाधि)** शिक्षा दीजिए।

अर्थ :- दया दोष-बुराई से मारे हुए स्वभाव वाला अर्थात् मेरा हृदय युद्धभूमि में दया रूपी दोष युक्त हो गया है जो क्षत्रिय धर्म नहीं है तथा धर्म के विषय में पूर्णतः मोहित चित्त वाला मैं अब आपको पूछता हूँ कि जो निश्चित कल्याणकारी मार्ग है वह मेरे लिए कहें। मैं आपका शिष्य हूँ आपकी शरणागत हुआ हूँ। मुझे शिक्षा दीजिए।

भावार्थ : कार्पण्य शब्द का यहाँ अर्थ दया भाव है। वैदिक गुण है कि दया अमीरों को गरीबों पर तथा शूरवीर बलवानों को कमज़ोरों पर करनी चाहिये। धनुर्धारी योद्धा अर्जुन को यहाँ आततायी कौरवों पर उन्हें अपने से कमजोर समझकर दया आनी ही चाहिये। जहाँ श्लोक ६ में अर्जुन कहता है कि न

जाने पाण्डव जीतेंगें या कौरव? वहाँ इस श्लोक में अर्जुन का कौरवों पर दया दर्शाना यह सिद्ध कर रहा है कि युद्ध का परिणाम जो भी हो लेकिन यदि अर्जुन युद्ध करेगा तो वह कौरवों को निश्चित ही मार गिराएगा, जो कि अर्जुन चाहता नहीं है। अतः अर्जुन युद्ध भूमि में अपने को दया रूपी दोष वाला कह कर धर्म के विषय में भी स्वयं को मोहित चित्त वाला मान रहा है। यहाँ धर्म शब्द का अर्थ हिन्दु, मुस्लिम, सिख, ईसाई, पारसी, जैन, बौद्ध इत्यादि नहीं है। क्योंकि करीब ५००० वर्षों से पहले महाभारत काल में इन मज़हबों का उदय हुआ ही नहीं था। दूसरा धर्म शब्द का अर्थ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि भी नहीं हो सकता, क्योंकि अर्जुन क्षत्रिय वंश में तो है ही। वेदों शास्त्रों में कहे धर्म शब्द का अर्थ कर्त्तव्य ही यहाँ प्रामाणिक है। क्योंकि युद्ध करना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है लेकिन केवल राष्ट्र, ब्राह्मण, वैश्य, गऊ इत्यादि की रक्षा के लिए ही युद्ध करना धर्म कहा है। अतः अर्जुन यह अपने धर्म (कर्त्तव्य) का निश्चय नहीं कर पा रहा कि उसे युद्ध करना चाहिए अथवा नहीं। यहाँ वेद, शास्त्र, उपनिषद् कहते हैं कि "अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा. ....वर्तेथाः.........एषा वेदोपनिषत्"। (शिक्षा वल्ली तैत्तिरीय-उपनिषद्) अर्थात् यदि तुम्हें कर्त्तव्य अथवा अकर्त्तव्य निश्चित करने में संदेह उत्पन्न हो जाए तो तुम्हारे आस-पास के वैदिक ज्ञान संपन्न विचारशील तथा परामर्श देने में समर्थ स्वभाव वाले जो स्नेहमयी हों, धर्म वृद्धि चाहने वाले हों तथा रूखे स्वभाव वाले न हों, उन महापुरुषों से विचार करके उनके अनुसार ही कर्त्तव्य कर्म निर्धारित करना, यही वेदों का रहस्य है।

अतः अर्जुन कृष्ण को महापुरुष का दर्जा देकर तथा अपने को उनकी शरणागत हुआ शिष्य मान कर उनसे निश्चित किया हुआ कल्याणकारी मार्ग पूछ रहा है। वेदों के स्वाध्याय में आई कमी के कारण आज विश्व वेदों के कर्म, उपासना एवं ज्ञान के रहस्य को नहीं जान पा रहा। अतः अर्जुन की तरह विचलित, उद्विग्न, घबराए मन की स्थिति में किसी समस्या के समाधान के लिए आज नेता अथवा प्रजा कोई भी वेदों के ज्ञाता, योगाभ्यासी विद्वान् से परामर्श करके कर्त्तव्य-कर्म करना निश्चित नहीं करता। वेद विरोधी अविद्वानों के समक्ष आज जीव ने घुटने टेक कर भारत भूमि को व्यास मुनि जैसे विशुद्ध

तपस्वियों, अर्जुन जैसे योद्धाओं, सीता व मदालसा जैसी विदुषियों, राजा जनक की प्रधान आचार्या वेदज्ञ गार्गी जैसी बाल ब्रह्मचारिणियों को पुनः उत्पन्न होने से रोक दिया है। भारतवर्ष के बुद्धिजीवियों, नेताओं, समाज सुधारकों एवं संस्थाओं को इस तरफ विशेष ध्यान देकर पुनः भारत का गौरव विश्व में बढ़ाना होगा। यहाँ तैत्तिरीय उपनिषद् का पुनः यह वैदिक ज्ञान सिद्ध होता है कि वेदानूच्य ...।

अर्थात् वेदों का ज्ञाता ऋषि अपने निकट शरणागत शिष्यों को ही उपदेश करता है। श्री कृष्ण ने भी संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा मित्र के साथ चारों वेदों का ज्ञान तथा योग विद्या प्राप्त की थी और योगेश्वर कहलाए थे। वह **गीता श्लोक १३/४** में स्वयं कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह वेदों का ज्ञान ऋषियों ने कहा है। अब अर्जुन श्री कृष्ण को विद्वान् गुरु मानकर कर्त्तव्य बोध कराने के लिए स्वीकार कर रहे हैं। यही पद्धति पुनः भारतवर्ष में जीवित रहनी चाहिए, यही गीता का मार्मिक सन्देश है।

अर्जुन उवाच --

'न हि प्रपश्यामि ममापुनद्याद् यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।'

(गीता २/८)

(हि) क्योंकि **(भूमौ)** सम्पूर्ण पृथिवी में **(असपत्नम्)** शत्रु रहित **(ऋद्धम्)** उन्नति प्राप्त सम्पन्न **(राज्यम्)** राज्य को **(च)** और **(सुराणाम्)** देवताओं का **(आधिपत्यम्)** स्वामीपन **(अवाप्य)** प्राप्त होने पर **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(प्रपश्यामि)** देखता हूँ **(यत्)** जो **(मम)** मेरी **(इन्द्रियाणाम्)** इन्द्रियों के **(उच्छोषणम्)** सुखाने वाले **(शोकम्)** शोक को **(अपनुद्यात्)** दूर कर दे।

अर्थ : क्योंकि सम्पूर्ण पृथिवी में शत्रु रहित उन्नति प्राप्त सम्पन्न राज्य को और देवताओं का स्वामीपन प्राप्त होने पर भी मैं ऐसा नहीं देखता हूँ जो मेरी इन्द्रियों के सुखाने वाले शोक को दूर कर दे।

भावार्थ : अर्जुन श्री कृष्ण से धर्मयुक्त कर्म का निर्देश पाने की प्रार्थना करता हुआ पुनः कह रहा है कि कौरवों को मारकर यदि मुझे पृथिवी का शत्रुरहित

सम्पूर्ण राज्य मिल जाए और यदि मैं देवताओं का स्वामी भी बन जाऊँ तब भी मेरी इंद्रियों को सुखाने वाला शोक समाप्त नहीं हो पाएगा। अर्थात् अर्जुन युद्ध के परिणाम कौरव, भीष्म, द्रोण, एवं स्वजन आदि का वध होने के पश्चात सनातन कुल-धर्म का नाश तथा स्त्रियों में वर्णसंकर दोष का आना इत्यादि को असीम शोक उत्पन्न करने वाला जघन्य पाप मान रहा है। श्लोक के अनुसार अभी युद्ध प्रारम्भ हुआ भी नहीं है, फिर भी युद्ध के परिणाम पर विचार कर-करके श्लोक १/२८-२९ में उसके अंग शिथिल हो गए हैं, मुख सूख गया है और शरीर काँप रहा है तथा अब इन्द्रियाँ सूखती जाती हैं। जिस अर्जुन ने पहले कई युद्ध लड़े तथा द्रौपदी चीरहरण आदि अनेक अवसरों पर कौरवों को समाप्त करने का बीड़ा उठाया परन्तु सचमुच में उन्हीं कौरवों से युद्ध करने का समय उपस्थित होने पर उसकी इन्द्रियाँ जबाव दे गई हैं, शिथिल हो गई हैं, तथा अर्जुन युद्ध नहीं चाहता। महाभारत के इस युद्ध में शत्रुता तो है परन्तु इस श्लोक में तो वह स्पष्ट कह रहा है कि शत्रुरहित सम्पन्न राज्य अथवा जहाँ केवल गुण सम्पन्न देवता ही देवता वास करते हों उस राज्य को पाकर भी अर्जुन कौरवों से युद्ध स्वीकार नहीं करना चाहता। अपितु संसार के सब सुख त्याग कर भिक्षा के अन्न पर गुजर-बसर करना उत्तम समझता है। अतः शोकग्रस्त अर्जुन वस्तुतः यहाँ पारिवारिक युद्ध नहीं चाहता-उसे कुल के नाश इत्यादि का भय है।

संजय उवाच --

'एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परंतप।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूर्ष्णीं बभूव ह।।'

(गीता २/९)

संजय ने धृतराष्ट्र से कहा **(परंतप)** हे शत्रुओं को तपाने वाले राजन् **(ह)** निश्चित ही **(हृषीकेशम्)** इन्द्रियों को जीतने वाले **(गोविन्दम्)** श्री कृष्ण को **(एवम्)** ऐसा **(उक्त्वा)** कहकर **(गुडाकेशः)** निद्रा को जीतने वाला अर्जुन **(इति उक्त्वा)** इस प्रकार कहकर कि **(न योत्स्ये)** युद्ध नहीं करुँगा **(तूष्णीम्)** चुप **(बभूव)** हो गया।

अर्थ :-संजय ने धृतराष्ट्र से कहा हे शत्रुओं को तपाने वाले राजन् निश्चित

ही इन्द्रियों को जीतने वाले श्री कृष्ण को ऐसा कहकर निद्रा को जीतने वाला अर्जुन इस प्रकार कहकर कि युद्ध नहीं करुँगा, चुप हो गया।

भावार्थ : परिवार एवं स्वजनों के नाश से प्राप्त दुष्परिणामों पर विचार करके शोकग्रस्त अर्जुन अपने मन की बात कह कर श्री कृष्ण का उत्तर जानने के लिए चुप हो गया। यह शिष्टाचार एवं आचार संहिता के अनुरूप ही है कि जिज्ञासु अपने मन की व्यथा/भावना विद्वानों के समक्ष रखकर उनके निर्णय की प्रतीक्षा करे, तभी धर्मानुकूल आचरण संभव हो सकता है। आज प्रायः देखने में आता है कि बालक, बालिकाएँ, विद्यार्थी, राजनेता अथवा छोटे-बड़े इत्यादि सभी वर्ग केवल अपनी ही बात मनवाने के लिए अभद्र व्यवहार शाक्ति प्रयोग अथवा उग्रवाद तक को प्रोत्साहन दे देते हैं जो नैतिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय पतन का कारण बन जाता है। कई बार गृहस्थ, विद्यालय और यहाँ तक की संसद में भी इसका भयंकर रूप देखने में आ जाता है। यहाँ अर्जुन जिज्ञासु के रूप में वैदिक विद्वान् योगेश्वर श्री कृष्ण के उत्तर की प्रतीक्षा में चुप हो गए हैं। अर्जुन भी ब्रह्मचर्याश्रम में वैदिक शिक्षा ग्रहण किए हुए हैं। अतः अर्जुन का श्री कृष्ण एवं बड़े-बूढ़ों के प्रति आदर सम्मान स्पष्ट है जिस कारण उन्होंने श्रीकृष्ण के सम्मुख रखे अपने पक्ष को बाद में समाप्त करके तथा श्रीकृष्ण के निर्णयानुसार युद्ध करके यश-कीर्ति एवं मोक्ष को प्राप्त किया। परन्तु दूसरा पक्ष यह भी सत्य है कि श्री कृष्ण अथवा श्री राम जैसे असंख्य योगेश्वरों/राजर्षियों/गृहस्थियों ने भी सदा वैदिक ऋषि-मुनियों के वचनों का पालन किया था। आज पुनः भारतवर्ष को श्रीकृष्ण, अर्जुन, युधिष्ठिर, सीता, मदालसा आदि बनने के लिए उसी सनातन परम्परागत वेदों के अध्ययन की परम-आवश्यकता है। जिससे निश्चित ही हमारा देश वेदज्ञ, ऋषियों, शूरवीरों, भ्रष्टाचार रहित व्यवसायकों एवं गुण सम्पन्न प्रजा द्वारा निर्मित सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में उभरेगा। अतः इसके लिए देश में प्राथमिक शिक्षा अनिवार्य एवं प्राथमिक शिक्षा में संस्कृत तथा भारतीय मूल की भाषाओं को अनिवार्य करके शिक्षा का आधार राष्ट्रीयता, भारतीयता, नैतिकता एवं आध्यात्मिकता स्थापित करना होगा। वेदों की शिक्षा को अनिवार्य करना होगा। फलस्वरूप ही श्रीकृष्ण एवं अर्जुन के समान वर्तमान में भी पवित्र गुरु-शिष्य पद्धति प्रारम्भ हो सकेगी

जो सम्पूर्ण देश के लिए कल्याणकारी होगी।

संजय उवाच --

'तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।'

(गीता २/१०)

संजय ने कहा **(भारत)** हे भरतवंशी धृतराष्ट्र **(हृषीकेशः)** इन्द्रियों को जीतने वाले भगवान श्री कृष्ण ने **(उभयोः सेनयोः)** दोनों सेनाओं के **(मध्ये)** बीच में **(तम्)** उस **(विषीदन्तम्)** शोक ग्रस्त अर्जुन को **(प्रहसन् इव)** हँसते हुए के समान **(इदम् वचः)** यह वचन **(उवाच)** बोला।

अर्थ :- संजय ने कहा हे भरतवंशी धृतराष्ट्र, इन्द्रियों को जीतने वाले भगवान श्री कृष्ण ने दोनों सेनाओं के बीच में उस शोक-ग्रस्त अर्जुन को हँसते हुए के समान यह वचन बोला।

भावार्थ :- इस श्लोक में श्री कृष्ण पूर्णतः नहीं हँसे अपितु अर्जुन से सब कुछ सुनने के पश्चात हँसते हुए से बोल रहे हैं। जिसका भाव है कि अर्जुन की सारी वार्ता को उन्होंने प्रथम चरण में अज्ञानतापूर्ण विचारों से परिपूर्ण घोषित कर दिया और अर्जुन के विचारों पर हँसते से कटाक्ष करते मानो कह रहे हों कि अर्जुन यह कैसी बच्चों जैसी अज्ञानतापूर्ण बातें कर रहा है। वस्तुतः योगेश्वर श्री कृष्ण की इस मन्द हँसी ने ही अर्जुन को उसके सारे प्रश्नों का उत्तर दे दिया कि अर्जुन धर्म एवं सत्य से भटक गया है। अर्जुन भविष्य की सोच रहा है जिसका फल ईश्वराधीन है, वर्तमान का शुभ कर्म नहीं सोच रहा जो उसके हाथ में है। अतः कृष्ण बोले-

श्रीकृष्ण उवाच --

'अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।'

(गीता २/११)

श्री कृष्ण बोले हे अर्जुन **(त्वम्)** तुम **(अशोच्यान्)** जो चिन्ता करने योग्य विषय

नहीं है, उसकी तू **(अन्वशोचः)** चिन्ता करता है **(च)** और तू **(प्रज्ञावादान्)** विद्वानों जैसे वचन **(भाषसे)** कहता है जबकि **(पण्डिताः)** विद्वान् जन **(गतासून्)** मृत्यु प्राप्त **(च)** और **(अगतासून)** जो मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन दोनों के लिए **(न अनुशोचन्ति)** चिन्ता नहीं करते अथवा शोक नहीं करते।

अर्थ : श्री कृष्ण बोले हे अर्जुन! तुम जो चिन्ता करने योग्य विषय नहीं है उसकी तू चिन्ता करता है (च) और तू विद्वानों जैसे वचन कहता है जबकि विद्वान् जन मृत्यु प्राप्त और जो मृत्यु को प्राप्त नहीं हुए हैं, उन दोनों के लिए चिन्ता नहीं करते अथवा शोक नहीं करते।

भावार्थ : दोनों सेनाओं के बीच खड़े रथ पर श्री कृष्ण ने अर्जुन की चिन्ता को सुना कि अर्जुन अपने सामने पिता तुल्य भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य तथा मामा, पुत्र वा पौत्र एवं घनिष्ठ मित्रों को देखकर करुणामय हो गया है। अर्जुन काँप रहा है, उसका मुख सूख रहा है। अर्जुन का विचार है कि इस युद्ध से सनातन कुलधर्म नष्ट हो जाएँगे, कुल की स्त्रियों में वर्णसंकर दोष आ जाएगा और भविष्य में बुरे संस्कारों वाली सन्तानें उत्पन्न होएँगी जो बड़े-बुजुर्गों इत्यादि का पालन पोषण एवं सेवा नहीं करेंगी, जिससे जीवन नरकमय हो जाएगा। अर्जुन गुरुजनों एवं परिवार से युद्ध नहीं चाहता। तीनों लोकों का राज्य अथवा देवताओं पर राज्य प्राप्त करने पर भी वह उपरोक्त कारणों से युद्ध नहीं चाहता अपितु बदले में भिक्षा माँग कर पेट भरना उचित मानता है। अतः वह पूर्णतः शोकग्रस्त हो चुका है। परन्तु विपरीत में योगेश्वर श्री कृष्ण का हँसते हुए से की मुद्रा में उत्तर देना, अर्जुन के इन सब विचारों को मिथ्या एवं अज्ञानता से परिपूर्ण सिद्ध कर रहा है। क्योंकि अर्जुन युद्ध में होने वाली मृत्यु इत्यादि पर शोक कर रहा है। जबकि श्री कृष्ण कह रहे हैं कि विद्वान्/पण्डित न किसी के मरने पर शोक करते हैं, न किसी के जीने पर शोक करते हैं। यहाँ वेद वाक्य है-

"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते' (यजु ४०/१४)

अर्थात् विद्वान्/ऋषि/योगी जन योगाभ्यास वेदाध्ययन द्वारा प्रकृति रचित प च महाभूत से बना शरीर (समस्त जड़-जगत भी) सदा नाशवान मानते हैं, अतः

शरीर को सदा नाशवान समझकर इसके नाश पर शोक रहित रहते हैं। एवं मृत्यु को इस प्रकार जीत-सा लेते हैं। मृत्यु से डरते नहीं है। एवं योग-शास्त्रानुसार

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (योगशास्त्र १/३)

जीवात्मा को अविनाशी अनुभव करके अपने स्वरूप में स्थित आनन्द भोगते हैं। इसी जड़-चेतन के वैदिक रहस्य को योगेश्वर कृष्ण मुस्कराते से कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू बातें तो विद्वान्-पण्डितों जैसी कर रहा है परन्तु तू विद्वान् अथवा पण्डित है नहीं। क्योंकि विद्वान् तो मरे हुओं के लिए शोक नहीं करता क्योंकि वह जानता है कि शरीर सहित सम्पूर्ण जगत पहले से ही नाशवान है, इसका नाश निश्चित है। और विद्वान् जीते हुओं का शोक भी नहीं करता क्योंकि जीवन में दुःख स्वयं के किए पाप कर्मों का फल होता है। दूसरा, भिक्षा का अन्न खाकर तपस्या में रत रहना यह वेदों में ऋषि-मुनियों का कर्त्तव्य कहा है, क्षत्रियों का नहीं। युद्ध क्षेत्र में आया क्षत्रिय, संन्यासियों की सी बात करने लगे तो यह भी वेद-विरुद्ध पाप कर्म है। श्री कृष्ण महाराज का इस श्लोक का ज्ञान कि यदि हम अर्जुन की तरह केवल अपने परिवार के सुख की ही चिन्ता करेंगे तो निश्चित ही जीवित एवं मृत्योपरान्त भी शोकग्रस्त ही रहेंगे। वास्तव में मनुष्य का जन्म, यजुर्वेद मंत्र

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न वि चिकित्सति।।" (यजु. ४०/६)

अर्थात् जब तू दूसरों की आत्मा अपनी आत्मा के समान समझेगा अथवा **'एकत्वमनुपश्यतः'** (यजु. ४०/७) सबमें उसी एक ईश्वर को योगाभ्यास सद्कर्मो द्वारा अनुभव करेगा। तब शोक को प्राप्त नहीं होगा। इन दो मन्त्रों की अवस्था प्राप्त योगेश्वर कृष्ण ने भी सब आयु न्याय के लिए असुरों का वध किया और प्रजा को शान्ति दी तथा श्री राम ने भी क्षत्रिय वंश परम्पराओं में असुरों एवं अन्त में रावण नगरी का नाश करके प्रजा को शान्ति प्राप्त कराई। यही विद्वानपन है। परन्तु यहाँ अर्जुन क्षत्रियवंश की धर्मयुद्ध परम्परा को त्याग कर केवल अपने स्वजनों, गुरुजनों, वर्णसंकर दोष इत्यादि से पीड़ित है, जो विद्वानों के गुण नहीं हैं। क्षत्रिय-धर्म तो ऐसी परिस्थिति में दण्ड अथवा युद्ध द्वारा धर्म

स्थापना की ही आज्ञा देता है। गीता का प्रथम श्लोक भी इस महाभारत युद्ध को **'धर्म क्षेत्रे'** कहकर पुकार रहा है। भगवद्गीता महाभारत ग्रन्थ के भीष्म पर्व का एक छोटा सा भाग है। युद्ध प्रारम्भ होने से पहले ही **'भीष्म-पर्व'** में भीष्म पितामह कह रहे हैं कि क्षत्रियों के लिए युद्ध करना स्वर्ग का सीधा खुला द्वार है। दूसरा जैसे हाथी के पाँव में सबका पाँव वैसे ही राजधर्म निभाने से सब धर्म (कर्त्तव्य) निभ जाते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच --

'न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।'

(गीता २/१२)

(न तु एव) न तो ऐसा है कि **(अहं जातु न आसम्)** मैं किसी काल में नहीं था अथवा **(त्वम् न)** तुम नहीं थे या **(इमे जनाधिपाः)** यह राजा जन **(न)** नहीं थे **(च न एव)** और न ऐसा है कि **(अतः परम्)** इससे आगे आने वाले समय में **(वयम् सर्वे)** हम सब **(न भविष्यामः)** नहीं होंगे।

अर्थ : न तो ऐसा है कि मैं किसी काल में नहीं था अथवा तुम नहीं थे या यह राजा जन नहीं थे। और न ऐसा है कि इससे आगे आने वाले समय में हम सब नहीं होंगे।

भावार्थ : इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने **(अहम्)** मैं, **(त्वम्)** तू तथा **(इमे जनाधिपाः)** यह सब राजा लोग, इन सबको एक दूसरे से अलग-अलग कहकर अनन्त जीवात्माएँ होने का संकेत किया है। दूसरा, ये सब हर काल में थे और आगे भी रहेंगे। ऐसा कहकर श्रीकृष्ण महाराज ने चेतन जीव को अजर-अमर कहा है जो नाशवान प च-भौतिक शरीर से भिन्न है। अतः जीव नित्य है और प्रकृति रचित जड़ संसार तथा मनुष्य एवं पशु-पक्षी के शरीर नाशवान हैं। **श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/१०** में कहा है कि यह जीवात्मा न स्त्री है, न पुरुष, न ही यह नपुंसक लिंगी है। यह जिस-जिस शरीर को ग्रहण करता है, उस-उस शरीर के द्वारा रक्षित होता है। अर्थात् जड़ शरीर अलग है तथा चेतन जीवात्मा शरीर से अलग तत्त्व है। और कर्मानुसार जीवात्मा

जिस-जिस शरीर में आता है, अज्ञानवश वह शरीर ही ''जीवात्मा लगने'' लगता है। जबकि जीवात्मा शरीर है नहीं। **अथर्ववेद मंत्र १६/४/२-३** में कहा है कि मरणधर्मा मनुष्य शरीर में रहने वाला जीवात्मा अमर है तथा जीवात्मा मन्त्र में ईश्वर से प्रार्थना करता है कि प्राण तथा अपान (श्वास तथा प्रश्वास) उसे (जीवात्मा को) न छोड़ दें। अर्थात् जीवात्मा दीर्घ काल तक मनुष्य शरीर में रहे। इन सब प्रमाणों से जीवन तथा शरीर अलग-अलग सिद्ध होते हैं। तीसरा तत्त्व ईश्वर है जो जीव एवं प्रकृति रचित जगत का स्वामी है। यही मार्मिक वैदिक ज्ञान यहाँ श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को दे रहे हैं। जड़ शरीर को तो भोजन, वस्त्र, मकान चाहिए। यह सब अर्जुन को भी प्रचुर मात्रा में मिल रहा था। परन्तु अथर्ववेद कहता है कि जीवात्मा को भोजन इत्यादि नहीं चाहिए। उसे तो **'ब्रह्मौदनम्'** वेद के वचन, सत्संग, ईश्वर-भक्ति, यज्ञ इत्यादि चाहिए जिसे पाकर ही जीवात्मा अपने चेतन स्वरूप का बोध प्राप्त करके प्रसन्न होता है। 'ब्रह्मौदन' यहाँ श्री कृष्ण अर्जुन को देते हुए कह रहे हैं कि प्रत्येक जीवात्मा अनादि काल से कर्मानुसार शरीर धारण करता चला आ रहा है। हे अर्जुन! तू, मैं और यह राजा इत्यादि लोग अनादि काल से पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी जन्म लेते रहेंगे। जीवात्मा अजर अमर अविनाशी है। श्री कृष्ण आगे बोले-

'देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।'

(गीता २/१३)

(देहिनः) देह धारण करने वाले जीवात्मा को **(यथा)** जैसे **(अस्मिन्)** इस **(देहे)** शरीर में **(कौमारम् यौवनम् जरा)** बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था होती है **(तथा)** उसी प्रकार **(देहान्तरप्राप्तिः)** अन्य शरीर की प्राप्ति होती है अतः **(धीरः)** धीर पुरुष **(तत्र)** वहाँ **(न मुह्यति)** मोह नहीं करता।

अर्थ :- देह धारण करने वाले जीवात्मा को जैसे इस शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था तथा वृद्धावस्था होती है, उसी प्रकार अन्य शरीर की प्राप्ति होती हैं अतः धीर पुरुष वहाँ मोह नहीं करता।

भावार्थ : अथर्ववेद १०/८/२६ कहता है **'सः यः चकार, सः जजार'** अर्थात्

इस शरीर को जो परमात्मा रचता है, वही इसे जीर्ण कर देता है। यहाँ श्री कृष्ण महाराज का भी यही भाव है कि हे अर्जुन! जैसे तुझे लगता है कि कोई बाल्यावस्था का है, कोई युवावस्था को तथा कोई वृद्धावस्था प्राप्त किए हुए हैं तो यह सब शरीर की अवस्थाएँ हैं, जीवात्मा की नहीं। सबकी जीवात्मा तो चेतन, अविनाशी, एक रस तथा कभी न बदलने वाला है। परन्तु जैसे तुझे लग रहा है कि यह जीवात्मा शरीर में बाल, युवा अथवा वृद्धावस्था प्राप्त करता है तो भी यह जान ले कि फिर यह जीवात्मा इन तीनों अवस्थाओं की तरह शरीर छूटने पर पुनः दूसरे देह की प्राप्ति कर लेता है। अतः शरीर मरता है, जीवात्मा नहीं मरता। वह शरीर त्यागने पर दूसरा नया शरीर धारण कर लेता है और उस नए शरीर में पुनः बाल, युवा एवं वृद्धावस्था प्राप्त करके वह शरीर भी एक दिन त्याग देता है। जीवात्मा कर्मानुसार अगले शरीर को धारण कर लेता है। यह जन्म मृत्यु चक्र तब तक चलता है जब तक जीव विद्या प्राप्त करके ब्रह्मलीन न हो जाए। यहाँ भाव है कि हे अर्जुन यदि तू किसी को युद्ध में मार देगा तब या तो वह जीवात्मा दूसरा जन्म लेकर नया शरीर धारण कर लेगा या ब्रह्मलीन होगा। अतः तू धर्म-युद्ध कर। **श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/७** में ऋषि कहता है-गुण प्रकृति के हैं, परन्तु जीव उन गुणों का सम्बन्ध अपने साथ जोड़ लेता है। जीव फल के लिए कर्म करता है और जैसे कर्म करता है उसी का फल भोगता है। जीव सब तरह के रूप-देह-धारण कर लेता है। सत्त्व-रज-तम इन तीन गुणों वाला और उत्तम-मध्यम-अधम इन तीन मार्गों में जाने वाला यह जीव है। यह जीव प्राणों का स्वामी होकर अपने कर्मों के अनुसार विचरण करता फिरता है। अतः श्रीकृष्ण महाराज जी कहते हैं कि जीव और शरीर के अन्तर को समझकर **'धीराः'** अर्थात् **'आत्मज्ञानी'** पुरुष जन्म-मृत्यु के विषय पर मोह नहीं करते।

श्रीकृष्ण उवाच --

'मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।'

(गीता २/१४)

(कौन्तेय) हे कुन्तीपुत्र अर्जुन **(मात्रास्पर्शाः)** इन्द्रियाँ तथा उनका विषय से संयोग

(तु) तो **(शीतोष्णसुखदुःखदाः)** सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख के देने वाले हैं। तथा ये विषय **(आगमापायिनः)** आने-जाने वाले हैं, **(अनित्याः)** अनित्य अर्थात् हमेशा रहने वाले नहीं हैं अतः **(भारत)** हे भरतवंशी अर्जुन **(तान्)** उनको **(तितिक्षस्व)** सहन कर।

अर्थ : हे कुन्तीपुत्र अर्जुन! इन्द्रियाँ तथा उनका विषय से संयोग तो सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख के देने वाले हैं। तथा ये विषय आने-जाने वाले हैं, अनित्य अर्थात् हमेशा रहने वाले नहीं है अतः हे भरतवंशी अर्जुन उनको सहन कर।

भावार्थ : जड़ और चेतन दो पदार्थ हैं। **सांख्य शास्त्र सूत्र १/२६** में कहा कि रज, तम एवं सतो गुण की साम्यावस्था प्रकृति है, जो जड़ है। **यजुर्वेद मंत्र २३/५४** के अनुसार सृष्टि-रचना के समय ईश्वर की शक्ति प्रकृति को गति देती है और प्रकृति से महत् अहंकार आदि तत्त्व बनकर पाँच भूत तथा सम्पूर्ण जगत बन जाता है। अतः पानी, हवा, पृथिवी इत्यादि सब जगत जड़ होने पर भी गतियुक्त हैं, परन्तु सजीव, सचेत, जीवधारी अथवा समझदार नहीं हैं। दूसरा तत्त्व जीवात्मा है, जो चेतन तत्त्व है। जीवात्मा ज्ञानवान, चेतन तत्त्व है। इसमें बोध, समझ, ज्ञान, प्रयत्न इत्यादि चेतन के गुण हैं जो जड़ में नहीं हैं। जड़ नाशवान है, चेतन जीवात्मा अविनाशी है। अतः जीवात्मा जड़ प्रकृति रचित शरीर, इन्द्रियों, मन, बुद्धि इत्यादि से पृथक् तथा सर्वव्यापक चेतन परमात्मा से भी पृथक् है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/३७** में कहा है कि जीवात्मा को सृष्टि की उपादान कारण प्रकृति से आँख, कान इत्यादि युक्त स्थूल शरीर प्राप्त हुआ। इस प च भौतिक शरीर को पाकर ही जीवात्मा विद्या तथा संसार के पदार्थों को देख, सुन, स्पर्श, चख एवं सूंघ कर ज्ञान प्राप्त करता है सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी अनुभव करता है। इस ऋग्वेद मन्त्र में आगे कहा **'इदम् अस्मि यदि न वि, जानामि'** अर्थात् यदि जीवात्मा इस शरीर को प्राप्त नहीं होता तब तो पदार्थों के स्वरूप को भी नहीं जानता। वैसे भी यदि शरीर में किसी की आँख न हो तो वह देख नहीं सकता, कान के बगैर सुन नहीं सकता। अतः जीवात्मा को देखने, सुनने इत्यादि के लिए इन्द्रियों की आवश्यकता है। परन्तु परमात्मा सर्वशक्तिमान है उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर के विषय में **यजुर्वेद मंत्र ३१/१** कहता है कि ईश्वर के अन्दर

ही हम सब प्राणियों के असंख्य शिर, आँख, पाँव आदि विद्यमान हैं अर्थात् ईश्वर ने सब को धारण किया हुआ है। परन्तु ईश्वर को आँख, नाक इत्यादि किसी इन्द्रिय की आवश्यकता कदापि नहीं है। रामायण कहती है-

'बिनु पद चलई सुनइ बिनु काना, कर बिनु करम करइ बिधि नाना।
आनन रहित सकल रस भोगी, बिनु बानी बकता बड़ जोगी।।।'
(बालकाण्ड दो.११७ चौ.३)

अर्थात् ईश्वर बिना पैरों के चलता है और बिना कानों के सनुता है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान है, उसे इन्द्रियों की आवश्यकता नहीं है। जीव को इन्द्रियों की आवश्यकता है क्योंकि वह सर्वशक्तिमान नहीं है। ईश्वर बिना हाथों के कार्य करता है। बिना मुख (जिह्वा) के ही सारे रसों का आनन्द लेता है। और बिना ही वाणी के सब कुछ बोलता है। अतः श्लोक में यही श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि इन्द्रियों द्वारा जीवात्मा को सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी महसूस होती है-यह कर्म भोग है। परन्तु वास्तव में ज्ञानी-जन जब अपने को (जीवात्मा) इन्द्रियों से अलग कर लेते है, तब उन्हें यह सब कुछ नहीं व्यापता। पुनः यह सुख-दु:ख, सर्दी-गर्मी इन्द्रियों के विषय हैं, सदा रहने वाले नहीं हैं, अतः इसको हे अर्जुन! सहन कर और शुभ कर्म कर, सुख-दु:ख आदि में पड़कर सत्य कर्म मत छोड़। जैसा **यजुर्वेद मंत्र ३१/१** में ऊपर कहा है और रामायण की ऊपर की चौपाई तथा **यजुर्वेद मंत्र ४०/१** में भी स्पष्ट किया है कि ईश्वर सर्वव्यापक है उसे चलने-फिरने की आवश्यकता नहीं है। वह सर्वशक्तिमान है अतः सुनने, चखने, बोलने, कार्य करने आदि के लिए किसी इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं है। अर्जुन को जो, सम्बंधियों को देखकर दु:ख हो रहा है इसमें श्री कृष्ण महाराज ने समझाया कि जब ज्ञानेन्द्रियाँ मन आदि संसार के विषयों से संयोग करेगा तब इंद्रियों द्वारा उस विषय के संयोग से उत्पन्न अनुभव मन और बुद्धि के द्वारा जीवात्मा को पहुँचता है। उदाहरणार्थ आँख ने साँप देखा और तुरन्त मन-बुद्धि से होता हुआ यह साँप देखने का अनुभव जीवात्मा को प्राप्त हुआ और जीवात्मा ने साँप का अनुभव किया इत्यादि। इसी प्रकार अर्जुन (जीवात्मा) ने आँखों द्वारा पितामह भीष्म, द्रोणाचार्य आदि संबंधियों को देखा और यह देखने का अनुभव मन-बुद्धि द्वारा अर्जुन

अर्थात् जीवात्मा को पहुँचा। फलस्वरूप ही अर्जुन को युद्ध करने में दुःख का अनुभव हुआ। श्रीकृष्ण यहाँ समझा रहे हैं कि यह तो इन्द्रियों और उनका विषयों से संयोग है जिसके फलस्वरूप सर्दी-गर्मी और सुख-दुःख अनुभव होते हैं और ये सुख-दुःख रहने वाले भी नहीं हैं क्योंकि शरीर सदा रहने वाला नहीं है। अतः हे अर्जुन जो तुझे पितामह भीष्म आदि सम्बन्धियों को देखकर दुःख हो रहा है उसे सहन कर। यही धर्म है। श्री कृष्ण पुनः बोले --

'यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।'

(गीता २/१५)

(हि) क्योंकि हे **(पुरुषर्षभ)** पुरुषों में श्रेष्ठ **(यम् धीरम् पुरुषम्)** जिस धीर पुरुष को **(एते)** यह इन्द्रियों के विषय **(न व्यथयन्ति)** दुःख नहीं देते ऐसा **(समदुःखसुखम्)** दुःख-सुख में समान रहने वाला **(सः)** वह पुरुष **(अमृतत्वाय)** मोक्ष के लिए **(कल्पते)** योग्य होता है।

अर्थ : क्योंकि हे पुरुषों में श्रेष्ठ अर्जुन जिस धीर पुरुष को यह इन्द्रियों के विषय दुःख नहीं देते, ऐसा दुःख सुख में समान रहने वाला वह पुरुष मोक्ष के लिए योग्य होता है।

भावार्थ : इस श्लोक में धीर शब्द आया है जिसका श्लोक १३ में भी प्रयोग किया गया है। यहाँ धीर शब्द का अर्थ उस पुरुष के लिए प्रयोग किया गया है जो मोह अथवा भ्रम से रहित है, सुख-दुःख में समान रहता है और इस प्रकार मोक्ष प्राप्ति के योग्य है। अतः यहाँ 'धीर' शब्द का अर्थ स्थिर बुद्धि वाला, बुद्धिमान, आत्मज्ञानी विद्वान् है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०-१३** में इन्हीं धीर अर्थात् मेधावी विद्वान् योगीजनों से प्रकृति, प्रकृति से उत्पन्न सृष्टि, जीव तथा ब्रह्म का उपदेश सुनने का विधान कहा गया है। क्योंकि केवल यह धीर पुरुष ही परम्परागत विद्या-वेदाध्ययन यज्ञ एवं योगाभ्यास (अष्टांग योग) में प्रवीण होने के पश्चात ब्रह्मलीन होकर सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मोह-ममता, शरीर-विकार अथवा उत्पत्ति एवं संहार आदि क्रियाओं का शोक नहीं करते। अतः यहाँ योगेश्वर पद प्राप्त भगवान् श्री कृष्ण ही चारों वेदों को भोजपत्र पर लिखने

वाले व्यास मुनि ने अर्जुन के संशय निवारण के लिए चुना है। पिछले तीनों युगों में केवल इसी अलौकिक पद पर आसीन ऋषियों-मुनियों ने ही प्रकृति, जीव एवं ब्रह्म - के अलौकिक स्वरूप का उपदेश राजर्षियों एवं प्रजाओं को दिया था। अतः आज प्रायः केवल पढ़-सुनकर, रटकर बोलने का नाम प्रवचन अथवा सत्संग रख देना, यह केनोपनिषद् के अनुसार भी ब्रह्म-विद्या का अनादर है। वेदों के ज्ञाता प्रत्येक ऋषि का तो यह मत है ही परन्तु यहाँ **केनोपनिषद् खण्ड** ४ में यदि हम देखें तो पाएँगे कि वहाँ ऋषि कहता है कि ब्रह्म-विद्या का आधार तप, दम, कर्म एवं चारों वेदों का ज्ञान है। तप का अर्थ वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेदों में कहे शौच, संतोष आदि गुण हैं। दम का अर्थ आँख, नाक इत्यादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ-पैर इत्यादि पाँचों कर्मेन्द्रियाँ एवं मन, बुद्धि का बुराई से दमन है। कर्म का अर्थ वेदानुसार कर्त्तव्य पालन है। **सांख्य-शास्त्र के रचयिता कपिल मुनि सूत्र १/१** में कहते हैं कि मनुष्य शरीर पाकर जीवात्मा का प्रयोजन साधना द्वारा तीनों तापों का नाश करके मोक्ष पाना है। अतः सर्वगुण -सम्पन्न श्रीकृष्ण भी अर्जुन को यही ध्येय समझा रहे हैं कि मनुष्य जन्म पाकर के इसका ध्येय शुभ कर्त्तव्य-कर्म करते हुए मोक्ष प्राप्ति है। यह सुख-दुःख का अनुभव मोक्ष प्राप्ति में बाधक है। यह धीर-पुरुषों का गुण नहीं है। हे अर्जुन! तू भी वेदाध्ययन, यज्ञ आदि करता रहा है। तू धीर पुरुष की भांति सुख-दुःख से अलग हो जा।

श्रीकृष्ण उवाच --

'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः।।'

(गीता २/१६)

(असतः) असत्य पदार्थ **(न भावः विद्यते)** नित्य नहीं होते अर्थात् सदा अस्तित्व में नहीं रहते तथा **(सतः अभावः)** सत्य पदार्थों का अभाव **(न विद्यते)** कभी नहीं होता अर्थात् सत्य सदा रहने वाला अविनाशी तत्त्व है **(तत्त्वदर्शिभिः)** यथार्थ बोध प्राप्त विद्वानों द्वारा **(तु)** तो **(अनयोः)** इन **(उभयोः)** दोनों का अर्थात् सत् एवं असत् का **(अपि)** भी **(अन्तः)** तत्त्व **(दृष्टः)** देखा गया

है-अनुभव किया गया है।

अर्थ : असत्य पदार्थ नित्य नहीं होते अर्थात् सदा अस्तित्व में नहीं रहते तथा सत्य पदार्थों का अभाव कभी नहीं होता अर्थात् सत्य सदा रहने वाला अविनाशी तत्त्व है। यथार्थ बोध प्राप्त विद्वानों द्वारा तो इन दोनों का अर्थात् सत् एवं असत् का भी तत्त्व देखा गया है-अनुभव किया गया है।

भावार्थ : सत् का कभी अभाव नहीं होता वह सदा से चला आया है और किसी क्षण भी समाप्त नहीं किया जा सकता। विपरीत में असत् का अभाव है। अर्थात् असत् पदार्थ सदा विद्यमान नहीं रहते। श्री कृष्ण महाराज पिछले श्लोकों में शरीर की कुमार, युवा, वृद्धावस्था तथा शरीर की इन्द्रियाँ तथा सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख आदि विषय इन सबको असत् तत्त्व कह रहे हैं, क्योंकि यह स्थायी नहीं हैं। इन्हें श्लोक १४ में आने जाने वाले तथा नाशवान कहा है। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त** १२६ में संसार में सब जीवों के शरीर तथा इनके मन, बुद्धि, आँख, नाक इत्यादि इन्द्रियाँ एवं सूर्य, पृथिवी इत्यादि समस्त जगत जड़ प्रकृति से बना हुआ है। जो बनता है, वह नष्ट भी होता है। अतः यह सब जड़ एवं नाशवान है, स्थायी नहीं हैं। प्रलयावस्था का वर्णन करते हुए वेद के इस सूक्त में कहा है कि इस सृष्टि के उत्पन्न होने से पहले तथा पिछली सृष्टि के समाप्त होने पर, बीच के समय में यह सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी, प्राणियों के शरीर, आकाश इत्यादि कुछ नहीं होते, तब केवल परमात्मा, शरीर-रहित जीवात्माएँ तथा प्रकृति अपने वास्तविक रूप में होती हैं, अन्य कुछ भी नहीं होते। **ऐतरेयोपनिषद्** में भी कहा-**"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किंचनमिषत्। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति"**। अर्थात् वहाँ ईश्वर ईक्षण करता है तब प्रकृति से सब जगत उत्पन्न हो जाता है। यहाँ यह विचारणीय है कि इस प्रलयकाल में जीवात्माएँ होती हैं, लेकिन सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख इत्यादि कोई भोग नहीं भोगतीं क्योंकि जीवात्माओं के शरीर-इन्द्रियाँ इस प्रलय काल में नहीं होतीं। श्री कृष्ण ने श्लोक २/१४ में **'मात्रास्पर्शाः'** शब्द में यही समझाया है कि इन्द्रियों एवं इनके विषयों का संयोग होना ही जीवात्मा के सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख अनुभव होने का कारण है। जिसे गीता श्लोक २/१४ में भी कहा है। अतः संसार में जब योगीजन वेदाध्ययन एवं

योग-साधना द्वारा अपने चेतन तत्त्व "जीवात्मा" को शरीर से अलग अनुभव कर लेते हैं, तब वह सुख-दुःख आदि का अनुभव नहीं करते। इस श्लोक में **"तत्त्वदर्शिभिः अन्तः दृष्टः"** का अर्थ है कि तप, वेदों के स्वाध्याय एवं योगाभ्यास किए **"मन्त्रद्रष्टाः"** ऋषियों ने इस सत् एवं असत् पदार्थों का **"अन्तः"** अर्थात् अत्यन्त निकटता से समाधि द्वारा इसका अनुभव किया है। ऐसे समाधि प्राप्त ऋषि व्यास एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण ही इस पवित्र ब्रह्म-विद्या का बोध भगवद्गीता में करा रहे हैं। यह हमें स्वीकार होना चाहिए कि सत् अविनाशी, नित्य एवं चेतन स्थायी तत्त्व है और असत् जड़, अनित्य एवं नाशवान तत्त्व है। चेतन तत्त्व में ईश्वर एवं जीवात्मा आती हैं तथा अचेतन जड़ में प्रकृति रचित समस्त जड़ जगत एवं हमारे शरीर एवं इन्द्रियाँ आती हैं। प्रकरण के अनुसार जीव एवं ब्रह्म के ठीक-ठीक अर्थ किए जाते हैं। जैसे पयः का अर्थ पानी भी है, दूध भी है। अतः जब भोजन करते हैं तब पयः का अर्थ पानी एवं जब दूध पीने का समय हो तो पयः का अर्थ दूध किया जाएगा। उसी प्रकार जब प्रकरण में सृष्टि रचना, सबका स्वामी इत्यादि के लिए चेतन, अविनाशी एवं नित्य शब्द का प्रयोग हो तो उसका अर्थ गुणों अनुसार ईश्वर होगा एवं जब जन्म-मृत्यु में शरीर धारण करना हो तो उसका अर्थ जीवात्मा होगा। इस जड़-चेतन तथा नित्य-अनित्य के भेद को जो भी तप, वेदों के स्वाध्याय एवं योगाभ्यास द्वारा अनुभव कर लेता है वही **'तत्त्वदर्शिनः'** (योगी-ऋषि-मुनि-महापुरुष-धीर) कहलाता है और इन्हीं धीर महापुरुषों के उपदेश सृष्टि के अनादि काल से जीव को सुख-शान्ति देते आए हैं, जो अब दुर्लभ से हो गए हैं। अतः केवल पढ़-सुन-रट कर गीता आदि पर उपदेश करना तो स्पष्ट ब्रह्म-विद्या का अपमान है ऐसा **केनोपनिषद् श्लोक ४/८** में कहा है।

श्रीकृष्ण उवाच –

'अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्तुमर्हति।।'

(गीता २/१७)

(अविनाशि) विनाश रहित, सदा रहने वाला **(तु)** तो **(तत् विद्धि)** उसको जान

(येन इदम् सर्वम्) जिससे यह सब संसार **(ततम्)** फैलाया गया है। **(अस्य अव्ययस्य)** इस अव्यय अर्थात् अविनाशी के **(विनाशम् कर्तुम्)** विनाश करने को **(कश्चित् न अर्हति)** कोई भी समर्थ नहीं है।

अर्थ :- विनाश रहित, सदा रहने वाला तो उसको जान जिससे यह सब संसार फैलाया गया है। इस अव्यय अर्थात् अविनाशी के विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है।

भावार्थ : श्लोक में अविनाशी शब्द का अर्थ अजर-अमर, शरीर में वास करने वाली चेतन जीवात्मा है जो भूत, भविष्य, वर्तमान काल में सदा विद्यमान मृत्यु रहित तत्त्व है उसे अविनाशी कहते हैं, यह गुण ईश्वर तथा जीवात्मा दोनों में घटित हैं, परन्तु श्लोक २/१२ से २/१३ तक प्रकरण है कि हे अर्जुन हर काल में मैं और तू (जीवात्मा) था। अर्थात् जीवात्मा सदा रहने वाला अविनाशी तत्त्व है। कुमार, युवा एवं वृद्धावस्था तो शरीर की होती है। शरीर में रहने वाली जीवात्मा की यह अवस्थाएँ नहीं होती। **'मात्रास्पर्शाः'** कह कर भी यह समझाया है कि जीवात्मा से बिल्कुल अलग शरीर की इन्द्रियाँ हैं। इन इन्द्रियों के विषयों से संयोग सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख देने वाले क्षणभंगुर आने जाने वाले हैं। अतः धीर पुरुष इनसे व्याकुल नहीं होता क्योंकि धीर पुरुष जीवात्मा को शरीर से अलग कर लेते हैं। अतः इस श्लोक में अविनाशी शब्द का अर्थ जीवात्मा है। क्योंकि इस श्लोक से अगले श्लोक में भी **'शरीरिणः'** पद का अर्थ जीवात्मा है। श्लोक में दूसरा शब्द ततम् है। तन् धातु फैलाने के अर्थ में आती है, व्यापक में नहीं। तन् धातु में क्त प्रत्यय लगकर तत शब्द बना है। जिसका अर्थ है फैलाया हुआ-विस्तार किया हुआ। श्लोक में अर्थ बना कि अविनाशी तत्त्व जीवात्मा वह है अर्जुन, जिसने इस संसार का विस्तार किया है क्योंकि जीवात्मा शरीर धारण करके संसार का विस्तार करता है। अर्थात् नित्य नए ज्ञान, विज्ञान का विस्तार करता है। संसार की नई-नई बातें जो जड़-चेतन सम्बंधित हैं उन्हें जानने की चेष्टा करता है। सत्संग प्राप्त प्राणी मिथ्या त्याग कर सत् पथ का ज्ञान प्राप्त करता है, कुसंग वाला अधर्म युक्त अज्ञान का ताना बाना बुनता है। यह सब ज्ञान जीवात्मा प्राप्त करता है। यही इस श्लोक में अविनाशी तत्त्व है। अतः श्रीकृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि

तूने (अर्जुन की जीवात्मा ने) जो यह संसारी रिश्ते आदि का मोह रूपी ताना-बाना बुना है, यह माया है-मिथ्या है। तू समझता है कि तू अपने सम्बन्धियों को मारेगा, परन्तु हे अर्जुन! वह तो अविनाशी जीवात्माएँ हैं जो मारी जा ही नहीं सकती। अतः इन असत्य विचारों के ताने बाने को बुनना बन्द कर और धर्म स्थापना के लिए युद्ध करने को खड़ा हो जा। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** में यही ज्ञान है कि शरीर, इन्द्रियाँ एवं समस्त भौतिक जगत, जड़ प्रकृति रचित नाशवान पदार्थ हैं। अतः धीर पुरुष इस जड़ जगत को नाशवान जानकर मृत्यु भय को प्राप्त नहीं होते। वैसे तो यह केवल शब्दों का ज्ञान ही है परन्तु वेदानुसार प्रथम "शब्दब्रह्म" ही जाना जाता है। पश्चात साधना द्वारा परब्रह्म अनुभूति होती है। अतः हमें अपने शरीर एवं शरीर में रहने वाली जीवात्मा का अध्ययन इस भगवद्गीता में बड़े सुन्दर ढंग से प्राप्त होता है जिसे दृढ़ करके हम पाप-मुक्त हो सकते हैं। सर्दी, गर्मी, सुख, दुःख आदि विकारों से छूट सकते हैं। इस वर्तमान सृष्टि जैसी रचना अनन्त बार होकर महाप्रलय को प्राप्त हो चुकी है। यह सृष्टि की रचना, पालना एक प्रलय में समाप्त होना अनादि काल से चला आ रहा है। इसी क्रम में पिछली सृष्टि समाप्त होने के पश्चात वर्तमान सृष्टि उत्पन्न हुई जिसे बने करीब एक अरब सत्तानवे करोड़ वर्ष हो चुके हैं। सृष्टि क्रमानुसार ही ईश्वर ने इस सृष्टि के आरम्भ में प्रकृति से प्रथम तत्त्व महत् बनाया, जिसे बुद्धि कहते हैं। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६ मन्त्र ४** में पुनः कहा कि **"अग्रेकामः"** अर्थात् पुनः इच्छा भाव मन के अन्दर वर्तमान रहता है। इसी इच्छा भाव से जीवात्मा अपने अन्दर संसार रचता है-फैलाता है। अर्थात् नित्य नए-नए सम्बन्ध रचकर अपने मन में नए संसार को संसार से सम्बन्ध को दृढ़ करता है।

यही ताना-बाना है, जगत का फैलाव है। इसे ही श्लोक में **'ततम्'** कहा है अर्थात् जीवात्मा मन, बुद्धि से सम्पर्क करके अपने अन्दर संसार का फैलाव करता है। जैसे कि अर्जुन ने ऐसा ही अपने निजी संसार के फैलाव में फँसकर-मोह में फँसकर श्रीकृष्ण को कह ही दिया कि मैं अपने सम्बंधियों को नहीं मार सकता-युद्ध नहीं कर सकता इत्यादि। परन्तु **ऋग्वेद** कहता है कि विद्वान् ऋषि, योगी जन इसी इच्छा भाव को जीवात्मा में पनपने नहीं देते।

क्योंकि यह इच्छा भाव भोग को भोगने के लिए कामना उत्पन्न करता है। जिससे जीव सत्य मार्ग से भटक जाता है। इसी इच्छा-भाव के द्वारा ही अर्जुन ने भी अपना एक अलग संसार रचा था। जिसका ज्ञान द्वारा श्री कृष्ण महाराज खण्डन कर रहें हैं। इसी इच्छा भाव को 'ततम्' कहते हैं, जो कि जीवात्मा द्वारा बुना जाता है और विवेकी पुरुष, योगी जन इत्यादि इस इच्छा भाव को प्रथम ही समाप्त कर देते हैं। और ब्रह्मलीन हो जाते हैं। अतः जीवात्मा द्वारा रचा-फैलाया इच्छा-भाव (ततम्) ही बन्धन का कारण है। और श्लोक में अविनाशी तत्त्व जीवात्मा को कहा है और यह जीवात्मा ही ततम्-जगत का फैलाव करता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

'अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।'

(गीता २/१८)

(अनाशिनः) नाश रहित **(अप्रमेयस्य)** बुद्धि से न जानने योग्य, **(नित्यस्य)** सदा रहने वाली, **(शरीरिणः)** शरीर धारण करने वाली जीवात्मा के **(इमे देहाः)** सब शरीरों को **(अन्तवन्तः)** नाशवान **(उक्ताः)** कहा गया है **(तस्मात्)** अतः **(भारत)** हे भरतवंशी अर्जुन! **(युध्यस्व)** तू युद्ध कर।

अर्थ : नाश रहित, बुद्धि से न जानने योग्य, सदा रहने वाली, शरीर धारण करने वाली जीवात्मा के सब शरीरों को नाशवान कहा गया है। अतः हे भरतवंशी अर्जुन! तू युद्ध कर।

भावार्थ : चेतन अविनाशी जीवात्मा पाँच तत्त्वों से बने इस जड़ शरीर में निवास करती है। शरीर में निवास करने के कारण ही जीवात्मा को इस श्लोक में **'शरीरिणः'** अर्थात् शरीरी कहा है। हम जीवात्मा हैं और हमारा यह शरीर है। शरीर नष्ट होता है, जीवात्मा अविनाशी है। वेदों में तीन तत्त्व सत्य कहे गए हैं। चेतन जीव, चेतन ब्रह्म एवं जड़ प्रकृति। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६** में प्रकृति को **'भूमा'** कहा है। ईश्वर ने यह सारा जड़-जगत इस प्रकृति से रचा है। इस प्रकृति से पृथिवी आदि पाँच तत्त्व बनते हैं जिनसे यह मानव

शरीर बना है। यह मानव शरीर ईश्वर की सबसे उत्तम रचना कही गई है। ऋग्वेद के इसी मन्त्र में आगे कहा है कि ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में अमैथुनी सृष्टि की रचना की। तथा **ऐतरयोपनिषद्** में कहा कि आकाश, पृथिवी, जल इत्यादि तत्त्व बना कर प्रथम गाय फिर घोड़ा तथा फिर मनुष्य के शरीर की रचना की। ऐतरयोपनिषद् में इस रचना का वर्णन करते हुए आगे कहा कि ईश्वर ने युवा मानव शरीर में प्राण स्थापना की तथा चेतन जीवात्मा इस शरीर में डाल दी। पुनः ईश्वर सम्पूर्ण जगत के कण-कण में समा गया। **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/२०** में कहा कि मानव शरीर जो नाशवान है उसमें अविनाशी चेतन जीवात्मा एवं परमात्मा वास करते हैं। इन सब वैदिक प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि ईश्वर ने जड़ शरीर को बना कर इसमें जीवात्मा को रहने का स्थान दिया है। जैसे हम मकान में रहते हैं, लेकिन स्वयं मकान नहीं है। मकान अलग है, जीवात्मा अलग है। श्री कृष्ण महाराज यही वैदिक सत्य यहाँ अर्जुन को समझा रहे हैं कि जीवात्मा तो अजर-अमर अविनाशी है, परन्तु जीवात्मा के शरीर प्रकृति से रचे हैं। प्रकृति जड़ है। अतः शरीर जड़ एवं नाशवान हैं। अतः हे अर्जुन! जब तेरे सामने खड़े सम्बन्धी इत्यादि वास्तव में अविनाशी जीवात्माएँ हैं। यह स्वभाव से अजर अमर हैं, इनका नाश नहीं हो सकता। नाश तो जीवात्मा के शरीर का होता है। अर्थात् हे अर्जुन! तेरा तीर तो तेरे सामने खड़े सम्बन्धियों के शरीरों को लगेगा, जीवात्माओं को नहीं लग सकता। अतः मृत्यु शैया पर शरीर लेटेंगे, जीवात्माएँ नहीं। अतः जब किसी भी कारण से जीवात्मा मर ही नहीं सकती, तब तू परेशान क्यों है? उठ युद्ध कर। क्योंकि पिछले श्लोक में श्री कृष्ण कह रहे हैं कि यह जीवात्मा ताना बाना बुनकर अपने निज जगत का विस्तार करता है अर्थात् जैसे मकड़ी जाला बुनती है और स्वयं ही उसमें फँस जाती है इसी प्रकार जीवात्मा प्रकृति से रचित पदार्थों से संपर्क करके भाई-बन्धु, सोना-चांदी, मकान-दुकान, रिश्तेदार इत्यादि की सूरतों को अपने दिल में बैठा लेता है और सारी उम्र उन से मोह युक्त होकर व्यवहार करता है। यही उसका रचा संसार का विस्तार (ततम्) है। ज्ञान उपदेश द्वारा जो समझ जाता है कि मेरे दुःख का कारण मेरा जगत एवं शरीर से जुड़कर जगत का विस्तार करना एवं पुनः मोह करना है, तो वह प्राणी मोह-ममता, ताना-बाना सब जंजाल साधना द्वारा तोड़कर

स्वयं के (जीवात्मा के) स्वरूप में स्थिर हो जाता है। इसे **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** में कहा कि जब योगी योगाभ्यास, तप, स्वाध्याय इत्यादि द्वारा अपने स्वरूप एवं एक ईश्वर के स्वरूप को जान जाता है। तब उसे शोक और मोह कदापि नहीं होते। वह सदा आनन्द में निवास करता है। यही सब सत्य उपदेश करते श्री कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि शरीर नाशवान है, जीवात्मा अविनाशी है। अतः शरीर का मोह त्याग कर धर्म स्थापना के लिए युद्ध कर। क्योंकि जगत से सम्पर्क रखने के कारण अज्ञान वश जीवात्मा पापयुक्त कर्म करके परिवार, मौहल्ला अथवा देश को परेशानी में डाल देती है। जैसा कि कौरवों का अज्ञानयुक्त एवं पापयुक्त कर्म सब को परेशान कर रहा था और श्री कृष्ण चाहते थे कि ये पापी शरीर मृत्यु शय्या पर लिटाने योग्य हैं। परन्तु जीवात्माएँ अविनाशी हैं। सम्पूर्ण वैदिक साधना केवल इसी सत्य पर आधारित होती है कि साधक साधना, उपदेश आदि द्वारा अपने नाशवान शरीर को चेतन, अविनाशी जीवात्मा का रहने वाला अस्थायी स्थान समझे। इसी को योग शास्त्र में कहा है- चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं जिससे साधक अपने चेतन स्वरूप में स्थित होता है।

श्रीकृष्ण उवाच --

"य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।"

(गीता २/१६)

(एनम्) इस जीवात्मा को **(यः)** जो **(हन्तारम्)** मारने वाला **(वेत्ति)** जानता है **(च)** और **(यः)** जो **(एनम्)** इसको **(हतम्)** मर जाने वाला **(मन्यते)** मानता है, **(तौ)** वे **(उभौ)** दोनों ही **(न)** नहीं **(विजानीतः)** जानते कि **(अयम्)** यह जीवात्मा **(न)** न **(हन्ति)** मारता है और **(न)** न **(हन्यते)** मारा जाता है।

अर्थ : इस जीवात्मा को जो मारने वाला जानता है और जो इसको मर जाने वाला मानता है, वे दोनों ही नहीं जानते कि यह जीवात्मा न मारता है. और न मारा जाता है।

भावार्थ : इससे पहले श्लोक २/१८ में भी श्री कृष्ण जीवात्मा को **"शरीरिणः"**

अर्थात् शरीर में निवास करने वाली अविनाशी जीवात्मा कह रहे हैं। श्री कृष्ण महाराज का यह वैदिक उपदेश आज भी सम्पूर्ण पृथिवी के लिए कल्याणकारी है। **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में याज्ञवल्क्य** ने परमेश्वर का ज्ञान देते हुए कहा है-**"यस्य आत्मा शरीरम्"** यह जीवात्मा मानो ईश्वर का शरीर है। एक तो पंच भौतिक शरीर है जिस में जीवात्मा निवास करती है, दूसरा जीवात्मा में परमात्मा निवास करता है। यह तीन तत्त्व हैं। पहला तत्त्व जड़ प्रकृति से रचित प्राणियों के नाशवान शरीर, दूसरा चेतन अविनाशी जीवात्मा जो इस शरीर में कुछ समय के लिए आया है, तीसरा संसार का रचयिता एवं कर्मानुसार जीवात्माओं को फल देने वाला चेतन, अविनाशी एवं सर्वशक्तिमान परमात्मा है। वैसे तो **यजुर्वेद मंत्र ४०/५** कह रहा है-**"तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः"** वह ईश्वर सब पदार्थों के अन्दर बाहर सब जगह है तथा **"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्कि च जगत्यां जगत्" (यजु.४०/१)** अर्थात् संसार में यह जो कुछ भी सूर्यादि जड़ पदार्थ एवं सब चेतन जीवात्माएँ हैं, इन दोनों जड़ एवं चेतन तत्त्वों में ईश्वर विद्यमान है। यहाँ हमें जान लेना चाहिए कि इस वेद मन्त्र में **"जगत्याम् जगत्"** कह कर दो जगत का उपदेश दिया है और वह दो जगत हैं-सम्पूर्ण पृथिवी, सूर्य, जल, वायु इत्यादि एवं दूसरा चेतन जगत जिसमें पशु-पक्षी, मानव इत्यादि के सम्पूर्ण जड़ शरीरों में रहने वाली चेतन, अविनाशी जीवात्माएँ। इन दोनों जगत अर्थात् सम्पूर्ण पृथिवी इत्यादि जड़ पदार्थ एवं अनन्त चेतन जीवात्माओं में स्वयं सर्वशक्तिमान परमेश्वर बसा हुआ है। इस वैदिक सत्य को जानकर भी हम मोह इत्यादि से दूर रहें क्योंकि सब में तो ईश्वर बसा हुआ है। हमारे शरीर, घर, मकान-दुकान, धन, हमारे सम्बन्धी सबमें हमसे पहले ईश्वर बसा हुआ है, तब जब हम कुछ समय के लिए शरीर, मकान इत्यादि में बसने आते हैं और अज्ञानवश व्यर्थ में इन पदार्थों को हमेशा के लिए अपना मान बैठते हैं, छोड़ना नहीं चाहते, दान नहीं करते इत्यादि तब इस झूठे प्यार एवं मोह के कारण ही प्राणी शोक करता है। यही एक कारण अर्जुन का भी शोक करने का है। श्री कृष्ण उसे इस श्लोक में भी समझा रहें हैं कि जब जीवात्माएँ अविनाशी हैं तब जो नर-नारी यह समझें कि यह शरीर में निवास करने वाली जीवात्मा किसी दूसरी जीवात्मा को शस्त्रादि द्वारा मार सकती है, अथवा दूसरा कोई यह समझे कि स्वयं जीवात्मा

या कोई भी दूसरी जीवात्मा मारने पर मर जाती है, तो हे अर्जुन! दोनों ही वेद-विद्या, ब्रह्म-विद्या के रहस्य को नहीं जानते। क्योंकि यह जीवात्मा न तो अपने आप मर सकती है और न ही किसी अन्य के द्वारा मारी जा सकती है। इस ब्रह्म रहस्य को समझाने का अभिप्रायः यह है कि हे अर्जुन! भीष्म, द्रोण आदि पूजनीय गुरु की जीवात्मा इनके शरीरों में रह रही हैं। परन्तु दुर्योधन के साथ सशरीर रहते हुए भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि की जीवात्माएँ चाहकर भी अपने शरीरों से तुम पाण्डवों का साथ नहीं दे पा रहीं। अतः इन भीष्मादि के शरीर समाप्त कर दो लेकिन इनकी पवित्र जीवात्माओं को हे अर्जुन! कोई भी नहीं मार सकता। अतः सत्य यह है कि हे अर्जुन! तेरे पूजनीय भीष्म, द्रोण एवं कृपाचार्य तथा कौरव इत्यादि अन्य भी जो हैं वे सब जीवात्माएँ हैं। इनके शरीर धर्मयुक्त कार्य नहीं कर रहे। अतः इन शरीरों को समाप्त कर दो परन्तु इनकी जीवात्माएँ अजर, अमर, अविनाशी हैं। अतः वास्तव में ये महापुरुष और दूसरे सम्बन्धी शरीर से मर जाएँगे। शरीर को तू नहीं भी मारेगा तब भी एक दिन शरीर नष्ट होकर रहेगा। अतः पापयुक्त कर्म करने वाले शरीरों को अभी ही समाप्त कर दे, जिससे इन शरीरों के द्वारा और अधिक पृथिवी पर पाप न हों। परन्तु तेरा आत्मिक सम्बन्ध तो इनकी अमर जीवात्माओं से है। तेरे पितामह भीष्म जीवात्मा हैं, शरीर नहीं हैं, अतः वह मर नहीं सकते। ऐसे ही अन्य भी मर नहीं सकते।

श्रीकृष्ण उवाच --

"न जायते म्रियते वा कदाचिन
नायं भूत्वा भविता वा न भूयः ।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।

(गीता २/२०)

हे अर्जुन! **(कदाचित्)** कभी भी **(अयम्)** यह जीवात्मा **(न जायते)** जन्म नहीं लेता **(वा)** और **(म्रियते)** न कभी मरता है, **(वा)** और **(न)** न **(अयम्)** यह जीवात्मा **(भूत्वा)** कभी होकर-बनकर **(भूयः)** कभी कालान्तर में **(न)** नहीं **(भविता)** होगा, नहीं उत्पन्न होगा **(अयम्)** यह जीवात्मा **(अजः)** जन्म नहीं लेता

(नित्यः) यह नित्य है अर्थात् अनादि काल से है, **(शाश्वतः)** सदा से चला आ रहा, **(पुराणः)** पुरातन है। **(शरीरे)** शरीर के **(हन्यमाने)** मरने पर, नष्ट होने पर भी **(न)** नहीं **(हन्यते)** मरता।

अर्थ :- हे अर्जुन! कभी भी यह जीवात्मा जन्म नहीं लेता और न कभी मरता है, यह जीवात्मा कभी होकर-बनकर, कभी कालान्तर में नहीं होगा, यह जीवात्मा जन्म नहीं लेता, यह नित्य है अर्थात् अनादि काल से है, सदा से चला आ रहा, पुरातन है। शरीर के मरने पर, नष्ट होने पर भी नहीं मरता।

भावार्थ : वेद कहता है-**"इयं कल्याण्यजरा मर्त्यस्यामृता गृहे"** अर्थात् जीवात्मा अजर है और मनुष्य के शरीर रूपी घर में अमृत है- न मरने वाली है। इसी प्रकार **अथर्ववेद मंत्र ५/६/७** में कहा **"अयम् अहम् अस्तृत नाम अस्मि"** अस्तृत का अर्थ है न मरने वाला। मंत्र का भाव है कि जीवात्मा अहिंसिक नाम वाली है अर्थात् कभी न मरने वाली है। इन दोनों मंत्रों का यही भाव है कि जीवात्मा शरीर में रहने वाली चेतन और कभी न मरने वाली अजर अमर सत्ता है। नष्ट वह पदार्थ नहीं होता, जिसका कभी निर्माण नहीं होता। अतः न तो जीवात्मा कभी बनी है और ना ही कभी मरेगी। इस सत्य को ही श्रीकृष्ण वेदानुसार इस श्लोक में दर्शा रहे हैं। **भगवद्गीता श्लोक ३/१५ में** श्री कृष्ण स्वयं कह रहे हैं कि वेद परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। स्वयं **यजुर्वेद मंत्र ३१/७** कहता है कि चारों वेदों का ज्ञान ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार व्यास मुनि रचित सम्पूर्ण गीता का ज्ञान चारों वेदों का अंश ही है। वेद त्याग कर गीता का व्याख्यान अप्रमाणिक हो सकता है। जीवात्मा की अमरता के वैदिक रहस्य को समझाते हुए श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे अर्जुन! ये जीवात्मा न कभी जन्म लेता है और न कभी मरता है। दूसरा कि यह जीवात्मा सदा से चला आ रहा है। और जन्म नहीं लेता। क्योंकि जन्म का अर्थ है उत्पन्न हो जाना, अस्तित्व में आ जाना, बन जाना। परन्तु यह सब गुण जीवात्मा के नहीं हैं। उत्पन्न तो वह होगा जो पहले बना नहीं था और अब अस्तित्व में आ गया। परन्तु जीवात्मा तो कभी बना ही नहीं है। इसका अस्तित्व तो सदा से है और सदा रहेगा। यही बात ऊपर वेद मन्त्रों में कही गई है। हाँ, बनता तो पंच भौतिक शरीर है, जिसके बारे में

अथर्ववेद मंत्र १०/८/२६ कहता है-**"सः यः चकार सः जजार"** अर्थात् जो परमात्मा शरीर को बनाता है वही इसका नाश कर देता है। इसलिए श्रीकृष्ण श्लोक में कह रहे हैं कि **"हन्यमाने शरीरे"** शरीर के मरने पर जीवात्मा नहीं मरता। अनादि काल से इस सत्य की खोज तप, स्वाध्याय एवं योग बल द्वारा ऋषि-मुनि करते हुए परमगति को प्राप्त हुए हैं। स्वयं श्रीकृष्ण संदीपन गुरु के आश्रम में तप, वेदों का स्वाध्याय तथा योग पद प्राप्त करके योगेश्वर कहलाए हैं। तभी तो वेदों में कहे जीवात्मा के गूढ़ रहस्य को अर्जुन को समझा रहे हैं, जो किसी अन्य व्यक्ति के सामर्थ्य की बात नहीं हो सकती। केवल शब्दों को रट कर बोलने पर **केनोपनिषद् श्लोक-८ खण्ड ४** ने इसे ब्रह्म-विद्या का अनादर कहा है तथा विद्या को समझने-समझाने के लिए तप, वेदाध्ययन तथा योगाभ्यास को अनिवार्य कह दिया गया है। ऐसे ही वेद एवं योग विद्या में प्रवीण महाराज जनक से किसी ने एक प्रश्न पूछा। जनक एक वृक्ष के पास खड़े थे बोले-यह वृक्ष मुझे छोड़ दे तो मैं कुछ बोलूँ। पूछने वाले ने कहा-महाराज, आप ज्ञानी होकर मूर्खों की सी बात करते हैं। वृक्ष ने आपको नहीं पकड़ा। यह तो जड़ है। यह आपको कैसे पकड़ सकता है, आपने ही वृक्ष को पकड़ रखा है। जनक बोले, सच है यह वृक्ष जड़ है। मैंने ही इसे पकड़ रखा है। तो इसी प्रकार मन, बुद्धि, शरीर सब जड़ हैं, यह जीवात्मा को नहीं पकड़ सकते। वस्तुतः जीवात्मा के विषय में वेद में आए एक शब्द **"परिष्वंग"** के अनुसार यह जीवात्मा मेल-मिलाप अर्थात् लगाव का धर्म रखने वाली है। ईश्वर और प्रकृति दो तत्त्व इस जीवात्मा के सम्मुख आते हैं। दोनों में से जिस एक से भी यह जीवात्मा लगाव करता है, उसी के गुणों का प्रभाव इसमें आ जाता है। अर्जुन (जीवात्मा) का लगाव प्रकृति रचित पंच भौतिक अपने शरीर तथा अपने पितामह आदि सब सम्बन्धियों के शरीरों से हो गया था। शरीर नाशवान है। अतः यहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण इस सनातन वैदिक रहस्य को समझा रहें हैं कि हे अर्जुन! तू एवं तेरे सब सम्बंधियों का शरीर प्रकृति से रचा पंचभूतों से बना नाशवान है। तू और तेरे सम्बंधी अजर-अमर अविनाशी जीवात्माएँ हैं जो किसी शस्त्र से कभी भी मर नहीं सकती। यह गहन रहस्य आज भी सबको उत्तम आचार्य द्वारा समझने योग्य है। आचार्य की कृपा से जब जिज्ञासु साधक वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन

तीनों विद्याओं को सुनकर समझ लेता है और पुनः यज्ञ, ईश्वर नाम स्मरण एवं अष्टांग योग-विद्या का अभ्यास करता है तब ही जीव अपने शरीर से पृथक् (अलग) स्वयं को अर्थात् जीवात्मा को जान लेता है-अनुभव कर लेता है। इस अवस्था में जीवात्मा में ही विराजमान सर्वशक्तिमान ईश्वर की अनुभूति संभव होती है। अतः जिज्ञासु ऐसे सन्तों से बचें जो वेद-विरुद्ध हैं, झूठे आश्वासन तथा लचीली मनघढ़न्त कथा सुनाते हैं और जनता का पैसा लूटते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच --

"वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।"

(गीता २/२१)

(पार्थ) हे पृथा पुत्र अर्जुन **(यः)** जो **(एनम्)** जीवात्मा को **(अविनाशिनम्)** नाशरहित **(नित्यम्)** नित्य **(अजम्)** अजन्मा **(अव्ययम्)** अपरिवर्तनशील **(वेद)** जानता है **(सः पुरुषः)** वह पुरुष **(कथम्)** कैसे **(कम् घातयति)** किसको मरवाता है। **(कम्)** किसको **(हन्ति)** मारता है।

अर्थ : हे पृथा-पुत्र अर्जुन जो जीवात्मा को नाशरहित, नित्य, अजन्मा अपरिवर्तनशील जानता है वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है अथवा किसको मारता है।

भावार्थ : शरीर में रहने वाला यह चेतन जीवात्मा अति सूक्ष्म, अपरिवर्तनशील अविनाशी एवं जन्म-मृत्यु, (बनने-बिगड़ने) से रहित गुणों वाला है। जीवात्मा ज्ञानवान एक चेतन तत्त्व है। यह स्वयं अणु नहीं है। परन्तु अणु से बने पंचभौतिक शरीर में निवास करता है। शरीर धारण करने पर इसमें इच्छा-द्वेष, सुख-दुःख प्रयत्न आदि गुण आ जाते हैं। शरीर में रहकर जब जीवात्मा ज्ञानोपार्जन के लिए प्रयत्न करता है तब यह अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष प्राप्त करने में समर्थ होता है। शरीर नष्ट हो जाने पर यह जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीर सहित पहले दिन सूर्य, दूसरे दिन अग्नि, तीसरे दिन वायु, चौथे दिन आदित्य, पाँचवे दिन चन्द्रमा, छठे दिन ऋतु, सातवें दिन मनुष्यादि प्राणी, आठवें दिन

सूक्ष्म वायु, नवें दिन प्राण, दसवें दिन उदान, ग्यारवें दिन विद्युत, बारहवें दिन सब दिव्य गुणों को प्राप्त करती है। कुछ समय तक आकाश, पृथिवी इत्यादि पर भ्रमण करके पुनः कर्मानुसार, गर्भाशय में पहुँचकर शरीर धारण करती है। और पाप-पुण्य कर्मों द्वारा सुख-दुःख भोगती है। जब तक यह जीवात्मा वेदानुकूल यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि शुभ कर्मों को करती हुई मोक्ष को प्राप्त नहीं होती तब तक बार-बार जन्म मृत्यु व सुख-दुःख को प्राप्त होती रहती है। शरीर नष्ट होते रहते हैं, परन्तु जीवात्मा कभी नष्ट नहीं होती। जिस शरीर को परमेश्वर निर्माण करता है उसी शरीर को वह नष्ट भी कर देता है। इस प्रकार इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज जीवात्मा के इसी वैदिक एवं सनातन स्वरूप को समझाते हुए कह रहे हैं- हे अर्जुन! जब यह जीवात्मा नित्य, अजन्मा, अविनाशी एवं अपरिवर्तनशील है तो फिर कौन किसको मरवा सकता है और कौन किसको कैसे मार सकता है। अतः हे अर्जुन! तू भी अपने सामने खड़े संबंधियों को (अविनाशी जीवात्माओं को) कैसे मार सकता है। हे अर्जुन! तू तो केवल इनके शरीरों का नाश कर सकता है। परन्तु इन (जीवात्मा) का नाश नहीं कर सकता। जब इनका शरीर नहीं रहेगा तब या तो कर्मानुसार यह ब्रह्मलीन होकर मोक्ष का सुख पाएँगे। अथवा ईश्वर की व्यवस्थानुसार/कर्मानुसार पुनः दूसरा शरीर धारण कर लेंगे परन्तु इनका वध कोई नहीं कर सकता।

वस्तुतः यह रहस्य मोह-माया में पड़े जीव को समझ नहीं आता। अविद्याग्रस्त प्राणी अपने को शरीर मान बैठता है और शरीर के नष्ट होने को मृत्यु मानता है। श्रीकृष्ण इसी भ्रम से अर्जुन को मुक्त करने के लिए यह वैदिक उपदेश दे रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच --

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।"

(गीता २/२२)

(यथा) जैसे **(नरः)** मनुष्य **(जीर्णानि)** पुराने **(वासांसि)** वस्त्रों को **(विहाय)**

त्यागकर **(अपराणि)** दूसरे **(नवानि)** नए वस्त्रों को **(गृह्णाति)** ग्रहण करता है **(तथा)** वैसे **(देही)** जीवात्मा **(जीर्णानि)** पुराने **(शरीराणि)** शरीरों को **(विहाय)** त्यागकर **(अन्यानि)** दूसरे **(नवानि)** नए शरीरों को **(संयाति)** प्राप्त होता है।

अर्थ : जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्याग कर दूसरे नए वस्त्रों को ग्रहण करता है वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे नए शरीरों को प्राप्त होता है।

भावार्थ : ऋग्वेद मंत्र ६/६/४ में कहा है कि शरीर में दो चेतन तत्त्व हैं। प्रथम निश्चल, सर्वज्ञ एवं कर्म फल के संबंध से रहित, स्वयं अपनी ज्योति से प्रकाशित चेतन परमात्मा है, जिसने सारा संसार बनाया। दूसरा तत्त्व चेतन जीवात्मा है जो शरीर में रहकर पाप और पुण्य के फल का भोग करता है। यह शरीर नाशवान है जबकि जीवात्मा और परमात्मा दोनों अविनाशी तत्त्व हैं। अगले ही मंत्र में कहा है कि इस शरीर की रचना में मन, इन्द्रियाँ, प्राण एवं शरीर वर्तमान हैं एवं शरीर की इन्द्रियों के कारण जीवात्मा कार्य व्यवहार करता है। जबकि ईश्वर सर्व-शक्तिमान है। अर्थात् सब प्रकार की शक्तियाँ स्वयं ईश्वर में विद्यमान हैं। वह स्वयंभू है। अतः उसे किसी इन्द्रिय इत्यादि पर आश्रित होने की जरूरत नहीं होती। **ऋग्वेद मंत्र १/२४/२** पुनर्जन्म सिद्ध करता हुआ कहता है कि **"सः नः पुनः दात्"** अर्थात् ईश्वर हमें पुनः दूसरा जन्म देता है एवं **"पुनः पितरम् मातरम् च दृशेयम्"** हम पुनर्जन्म में फिर माता-पिता, स्त्री, पुत्र एवं भाई-बन्धुओं के दर्शन करते हैं। भाव यह है कि जीवात्मा का शरीर वृद्धावस्था पाकर एवं वृद्ध शरीर को त्यागकर पुनः कर्मानुसार दूसरा जन्म लेकर जीवात्मा दूसरा शरीर धारण करता है। इसी वैदिक सत्य को श्रीकृष्ण महाराज यहाँ समझा रहें हैं कि हे अर्जुन! इस वृद्ध शरीर को त्यागकर जीवात्मा दूसरा जन्म लेकर नया शरीर धारण करता है। और बड़ा उत्तम उदाहरण दे रहे हैं कि जैसे कोई मनुष्य फटे-पुराने कपड़ों को फेंककर दूसरे नए वस्त्र पहन लेता है, वैसे ही यह जीवात्मा पुराने वृद्ध शरीर को त्यागकर परमेश्वर की व्यवस्थानुसार गर्भ में पहुँचकर बिल्कुल नया शरीर धारण कर लेता है। श्री कृष्ण महाराज का भाव यही है कि हे अर्जुन! तू जिस भी शरीर को अपने बाणों से भेद देगा वह शरीर मरण समान होकर पृथिवी पर

गिर जाएगा और उस शरीर में रहने वाली जीवात्मा समयानुसार ईश्वर के नियमानुसार नया शरीर धारण कर लेगी। अतः जीवात्मा तो वही होगी जो सदा से चली आ रही है और जो नित्य है, केवल शरीर ही बदल जाएगा। यह कार्य सचमुच ऐसा होगा जैसे कोई किरायेदार एक मकान को छोड़कर दूसरे मकान में चला जाता है। अतः श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित कर रहे हैं। और सत्य ज्ञान देकर उसका शरीर के प्रति मोह दूर कर रहे हैं कि हे अर्जुन! तेरे पितामह आदि सब के सब अजर-अमर अविनाशी जीवात्माएँ हैं, उन्हें तू अथवा कोई भी मार नहीं सकता। परन्तु ये जीवात्माएँ इस शरीर में रहकर पापी दुर्योधन का साथ देते हुए अधर्म कार्यों में लग गई हैं। जीवात्मा शरीर के बिना कुछ नहीं कर सकता। अतः जब तू इन शरीरों को गिरा देगा तब यह जीवात्माएँ शरीर के बिना अधर्म युक्त कार्य न कर पाएँगी और धर्म की जीत हो जाएगी। अतः हे अर्जुन! तू धर्म स्थापना के लिए युद्ध कर।

श्रीकृष्ण उवाच --

"नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।"

(गीता २/२३)

(एनम्) इस आत्मा को **(शस्त्राणि)** शस्त्र आदि **(न)** नहीं **(छिन्दन्ति)** काट सकते हैं (और) **(एनम्)** इसको **(पावकः)** आग **(न)** नहीं **(दहति)** जला सकती है **(एनम्)** इसको **(आपः)** जल **(न)** नहीं **(क्लेदयन्ति)** गीला कर सकते हैं **(च)** और **(मारुतः)** वायु **(न)** **नहीं** **(शोषयति)** सुखा सकता है।

अर्थ : इस आत्मा को शस्त्रादि नहीं काट सकते और इसको न आग जला सकती है। इसको जल नहीं गीला कर सकता है और वायु नहीं सुखा सकता है।

"अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।"

(गीता २/२४)

(अयम्) यह आत्मा **(अच्छेद्यः)** अच्छेद्य है **(अयम्)** यह आत्मा **(अदाह्यः)** जो

अग्नि से जल नहीं सकती **(अक्लेद्यः)** पानी से गीली नहीं हो सकती **(अशोष्यः)** सूख नहीं सकती **(अयम्)** यह **(एव)** निःसन्देह **(नित्यः)** नित्य है **(सर्वगतः)** सब पदार्थों में गमन करने योग्य, सब स्थानों में बेरोक-टोक जाने योग्य **(अचलः)** अचल **(स्थाणुः)** न बदलने वाली **(च)** और **(सनातनः)** सदा रहने वाली है।

अर्थ : यह आत्मा अच्छेद्य है अर्थात् इसमें किसी प्रकार भी छेद नहीं किया जा सकता। यह आत्मा अग्नि से जल नहीं सकती, पानी से गीली/नम नहीं हो सकती, हवा से सूख नहीं सकती, यह निःसन्देह सब पदार्थों में गमन करने योग्य, सब स्थानों में बेरोक-टोक जाने योग्य, अचल, न बदलने वाली और सदा रहने वाली है।

भावार्थ : जैसा कि प्रकरण में चला आ रहा है कि जीवात्मा अजर-अमर अविनाशी तत्त्व है और कर्मानुसार शरीर में निवास करती है। अतः इस जीवात्मा को कोई भी तलवार, चाकू, गोली, बारूद, बम इत्यादि शस्त्र न घायल कर सकता है, न काट सकता है। बिल्कुल ऐसे ही जैसे यदि खाली स्थान-आकाश में गोलियां चलाई जाएँ तो आकाश न घायल होगा न कटेगा लेकिन जीवात्मा तो आकाश से भी अति सूक्ष्म तत्त्व है। अतः उसे शस्त्रादि क्या काटेगें! दूसरा, जैसे आकाश को अग्नि जला नहीं सकती, वैसे ही अविनाशी जीवात्मा को अग्नि जला नहीं सकती। अंतिम समय में जीवात्मा शरीर से निकल जाती है। तीसरा, इसी प्रकार इस जीवात्मा को पानी गीला नहीं कर सकता। केवल मुर्दे को ही पानी से स्नान कराया जाता है। चौथा इस जीवात्मा को वायु सुखा नहीं सकती। वायु केवल कपड़े सुखाती है। अतः शरीर में रहने वाली प्राण-अपान आदि वायु से भी शरीर का संबंध है, जीवात्मा का नहीं। कौरव-पाण्डवों की सेना के बीच में खड़े श्रीकृष्ण शस्त्रादि शब्दों का इस श्लोक में इसलिए उपयोग कर रहे हैं क्योंकि अर्जुन गांडीव धनुष आदि छोड़कर बैठ गया है और युद्ध नहीं चाहता। अर्जुन सोचता है कि मेरे धनुष से निकले तीर मेरे संबन्धियों को मार देंगे। फिर उनको स्नान करवाया जाएगा और चिता पर डाल दिया जाएगा। श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तेरे गांडीव धनुष के तीर शरीरों में लगेगें, शरीर में रहने वाली जीवात्माएँ जो तेरे संबंधी हैं उन्हें यह तीर अथवा कोई भी शस्त्र कष्ट नहीं दे सकते। मुर्दे शरीरों को

स्नान करवाया जाएगा और उन्हें चिता पर जलाया जाएगा। चिता की अग्नि अंत में वायु से सूख जाएगी। परन्तु इन सब तत्त्वों का प्रभाव जीवात्मा पर कदापि नहीं हो सकता।

गीता श्लोक २४ में जीवात्मा को नित्य अर्थात् अविनाशी और सनातन अर्थात् जो कभी बना नहीं और कभी नाश नहीं होगा, ऐसा सदैव रहने वाला तत्त्व कहा है। **"सर्वगतः"** कहकर यह समझाया है कि यह जीवात्मा किसी भी पदार्थ अथवा शरीर में प्रवेश कर सकता है। और जैसा कपिल मुनि ने **सांख्य शास्त्र** में कहा है-**"न देशयोगतः" (१/१३)** अर्थात् यह जीवात्मा गतिशील है एवं सर्वत्र आने जाने की सामर्थ्य रखती है। अर्थात् जैसे किसी का जन्म यहाँ भारतवर्ष में हुआ है। तो मृत्यु पश्चात किसी भी अन्य देश अथवा भारत के किसी भी स्थान पर हो सकता है।

अतः किसी एक स्थान विशेष से बंधी हुई नहीं है। और **"असंगः अयम् पुरुषः इति" (सांख्य शास्त्र १/१५)** कहकर कपिल मुनि ने भी इसे अविनाशी एंव संगदोष से भिन्न कहा है।

श्रीकृष्ण उवाच --

"अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।"

(गीता २/२५)

(अयम्) यह जीवात्मा **(अव्यक्तः)** अव्यक्त **(अयम्)** यह जीवात्मा **(अचिन्त्यः)** मन द्वारा चिन्तन करने योग्य नहीं **(अयम्)** यह जीवात्मा **(अविकार्यः)** निर्विकार **(उच्यते)** कहा जाता है **(तस्मात्)** इसलिए **(एवम्)** इस प्रकार **(एनम्)** इस जीवात्मा को **(विदित्वा)** जानकर **(अनुशोचितुम्)** शोक करने **(न अर्हसि)** योग्य नहीं है।

अर्थ : यह जीवात्मा अव्यक्त, यह जीवात्मा मन द्वारा चिन्तन करने योग्य नहीं तथा यह जीवात्मा निर्विकार कहा जाता है। इसलिए इस प्रकार इस जीवात्मा को जान कर शोक करने योग्य नहीं है।

भावार्थ : यह जीवात्मा अव्यक्त है। व्यक्त का अर्थ स्पष्ट अथवा दर्शनीय है। अतः अव्यक्त उसे कहते हैं जो इन आँखों से देखने योग्य नहीं है। **अथर्ववेद मंत्र १०/८/२५** में जीवात्मा को **"बालादेकमणीयः"** अर्थात् बाल से भी अत्यंत अणु अर्थात् सूक्ष्म कहा है। परन्तु जीवात्मा का यह स्वरूप केवल बुद्धि से समझने योग्य ही कहा गया है। **ऋग्वेद १०/५३/६** कहता है **"मनुः भव"** अर्थात् हे प्राणी! अपनी बुद्धि से वेदमन्त्रों का मनन करके सत्य का निश्चय कर। **ऋग्वेद मन्त्र १/६१/१,२** में कहा है कि हे विद्वान्! **त्वम् मनीषा चिकिताः"** अर्थात् आप बुद्धि द्वारा वेदमन्त्रों का मनन करके मन को वश में रखकर अविद्या का नाश करके सत्य-असत्य को जानते हो। अतः जिज्ञासु भी वेद मन्त्रों के अध्ययन एवं गहन मनन के द्वारा ही प्रथम ईश्वर, जीवात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप को जानने में सफल होता है ततूपश्चात ऐसा वैराग्य को प्राप्त हुआ जिज्ञासु वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि में इन तीनों तत्त्वों का अनुभव प्राप्त करता है। इसी वैदिक विचार को यहाँ श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! जब तू बुद्धि द्वारा वेद मन्त्रों का मनन करके जीवात्मा के अव्यक्त, निर्विकार एवं अविनाशी स्वरूप को जान जाएगा तब तू शोक करने योग्य नहीं रहेगा।

श्वेताश्वतरोपनिषद् (अ.५श्लोक९) में जीवात्मा को **"बालाग्रशत भागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः"** अर्थात् बाल के अगले हिस्से की नोंक का सौंवा हिस्सा और उस सौंवे हिस्से के एक हिस्से (नोंक, को लेकर उसका पुनः सौंवा हिस्सा, इतना सूक्ष्म कहा गया है।) ऐसा सूक्ष्म जीवात्मा किसी भी प्रकार से देखा नहीं जा सकता। अतः इसे यहाँ अव्यक्त कहा है। वस्तुतः जीवात्मा इससे भी अत्यन्त सूक्ष्म है। वेद के ज्ञाता महर्षि व्यास के अनुसार गीता ज्ञान वैदिक विज्ञान पर ही आधारित है क्योंकि महाभारत (गीता) काल में केवल वेद विद्या का ही प्रकाश था। उस सयम वर्तमान के मज़हब अथवा संत-मत की पुस्तकों इत्यादि का उदय नहीं हुआ था। अतः गीता ग्रंथ का प्रत्येक शब्दार्थ एवं भावार्थ वैदिक वाङ्मय के अन्तर्गत है। आज इसका मनमाना अर्थ नहीं निकाला जा सकता। पुनः इस श्लोक में जीवात्मा को **"अचिन्तयः"** अर्थात् मन से चिन्तन करने योग्य नहीं है, ऐसा कहा है। मन

स्वयं प्रकृति रचित एक सूक्ष्म तत्त्व है। इससे भी सूक्ष्म जीवात्मा है। मन में संकल्प-विकल्प आते हैं। मन वह सब देखता, सुनता है जो आँख, नाक इत्यादि की इन्द्रियाँ मन को बताती हैं क्योंकि जीवात्मा आँख द्वारा देखा नहीं जा सकता। अतः मन द्वारा इसका चिन्तन नहीं हो सकता। निर्णय बुद्धि लेती है। मनन द्वारा बुद्धि उचित निर्णय ले। तीसरा, श्री कृष्ण महाराज इस जीवात्मा को यहाँ विकाररहित निर्विकार कह रहे हैं। पिछले श्लोकों में जीवात्मा के स्वरूप को अजर-अमर-अविनाशी कहा है। ऐसा तत्त्व कभी जन्म नहीं लेता अर्थात् इसका निर्माण नहीं होता। अतः जो बनता नहीं है, वह बिगड़ता भी नहीं है। इसका स्वरूप सदा एक सा रहता है। इसके स्वरूप में कभी घटने-बढ़ने वाली क्रिया का होना संभव नहीं है। ऐसा घटने-बढ़ने का विकार तो प्रकृति रचित जड़ जगत में हमारे शरीरों में होता है। शरीर-पेड़-पौधे आदि घट-बढ़कर अपना रूप बदलते रहते हैं। रूप के बदल जाने को ही विकार कहते हैं।

अतः जीवात्मा जो बनता बिगड़ता नहीं है। वह स्वरूप से अविकारी है। अर्थात् जीवात्मा में कोई विकार नहीं हो सकता है। श्री कृष्ण का यहाँ भाव यह है कि जब जीवात्मा शस्त्र इत्यादि से काटा-पीटा नहीं जा सकता, मर नहीं सकता। तो हे अर्जुन! तू शोक क्यों करता है? क्योंकि युद्ध में तेरे शस्त्र (धनुष आदि हथियार) केवल प्रकृति रचित नाशवान शरीर को ही मार गिराएँगे। शरीर में रहने वाली भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य अथवा तेरे संबंधियों की जीवात्माओं को तेरे शस्त्र न काट सकते हैं, न मार सकते हैं। अतः शोक न कर, अपितु युद्ध कर।

श्रीकृष्ण उवाच --

"अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापित त्वं महाबाहो नैवं शोचितुमर्हसि।।

(गीता २/२६)

(च) और **(अथ)** इसके बाद भी यदि **(त्वम्)** तू **(एनम्)** इस जीवात्मा को **(नित्यजातम्)** सदा जन्मने **(वा)** और **(नित्यम्)** सदा **(मृतम्)** मरने वाला

(मन्यसे) मानता है। **(तथापि)** तब भी **(महाबाहो)** हे अर्जुन **(एवम्)** इस प्रकार **(शोचितुम्)** शोक करने के लिए **(अर्हसि)** योग्य **(न)** नहीं है।

अर्थ : और इसके बाद भी यदि तू इस जीवात्मा को सदा जन्मने और सदा करने वाला मानता है। तब भी हे अर्जुन, इस प्रकार शोक करने के लिए योग्य नहीं है।

भावार्थ : चारों वेद, छः शास्त्रादि तथा ऋषि-मुनियों के अनुभव द्वारा सत्य यही है कि जीवात्मा न जन्म लेता है और न कभी मरता है। यह एक सदा रहने वाला अजर, अविनाशी, अजन्मा तत्त्व है। परन्तु श्रीकृष्ण महाराज यहाँ दूसरी तरह अर्जुन को समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि तेरे सम्बंधी युद्ध में मर जाएँगे और पुनः वह जन्म लेंगे। अतः तब भी कदापि तुझे शोक नहीं करना चाहिए क्योंकि यदि तू मानता है जीवात्मा सदा जन्म लेने एवं पुनः मरने वाले, गुण वाला है तब भी यह सब मर के पुनः नया शरीर धारण करेंगे। पुनः जवान होकर तथा फिर वृद्धावस्था प्राप्त करके मर जाएँगे और फिर नया जन्म लेंगे। इस तरह भी तेरे संबंधी तथा तेरे परिवार के लोग हमेशा के लिए कभी नहीं मरेंगे, अपितु जन्म-मृत्यु में आते ही रहेंगे। और जब यह सब परिवार हमेशा के लिए समाप्त नहीं होगा, तब भी तेरे शोक का कोई कारण नहीं है। अतः उठ युद्ध कर। वास्तव में तो यह सिद्धान्त के विपरीत है कि जीवात्मा जन्म या मृत्यु में आए। परन्तु अर्जुन को युद्ध करने को तैयार करने के लिए दूसरी तरह से श्रीकृष्ण सिद्धान्त के विपरीत भी समझा रहे हैं। क्योंकि बार-बार जन्म मृत्यु में आकर इस तरह भी जीवात्मा हमेशा ही रहेगा-कभी समाप्त नहीं होगा। ज्ञान-विज्ञान से रहित आम जनता की यही धारणा है कि मनुष्य जन्म लेकर मरते हैं और फिर दूसरा जन्म लेते हैं। यहाँ मोक्ष का सिद्धान्त समझाना श्रीकृष्ण उचित नहीं समझ रहे। अतः श्रीकृष्ण पुनः कह रहे हैं:-

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।

(गीता २/२७)

(हि) क्योंकि **(जातस्य)** जन्म लेने वाले की **(मृत्युः)** मृत्यु **(ध्रुवः)**

निश्चित है **(च)** और **(मृतस्य)** मरने वाले का **(जन्म)** जन्म **(ध्रुवम्)** निश्चित है **(तस्मात्)** इसलिए **(त्वम्)** तू **(अपरिहार्ये)** इस कभी न समाप्त होने वाले **(अर्थे)** विषय में **(शोचितुम्)** शोक करने के **(न अर्हसि)** योग्य नहीं है।

अर्थ : क्योंकि जन्म लेने वाले की मृत्यु निश्चित है और मरने वाले का जन्म निश्चित है। इसलिए तू इस कभी न समाप्त होने वाले विषय में शोक करने के योग्य नहीं है।

भावार्थ : पिछले श्लोकों के भावों को दर्शाते हुए ही श्रीकृष्ण यहाँ बता रहे हैं कि हे अर्जुन! यह भी मान लिया जाए कि जीवात्मा सदा जन्म लेने एवं मरने वाला ही है तब भी तो यह बात निश्चित हो जाती है कि जो जन्म लेगा वह एक दिन मरेगा और जो मरेगा वह पुनः जन्म लेगा। अतः इस प्रकार भी जीवात्मा एक बार मर कर हमेशा के लिए कभी नहीं मरेगा। वह जीवात्मा फिर भी तो बार-बार जन्म मृत्यु में आता ही रहेगा। तब हे अर्जुन! तेरा परिवार सदा के लिए कैसे मर सकता है। और जब कोई सदा के लिए मर ही नहीं सकता तब युद्ध में मरने वालों के लिए शोक करना ही व्यर्थ है।

वस्तुतः यहाँ कहा गया यह ज्ञान योगेश्वर श्रीकृष्ण भगवान के लिए तो अनुभव वा आचरण वाला ज्ञान है। व्यास मुनि स्वयं एक मंत्रद्रष्टा ऋषि एवं योगी थे। उनके द्वारा भी प्रत्येक श्लोकों में दिया ज्ञान अनुभव प्राप्त है, जिसे अनुभवहीन अर्जुन बुद्धि द्वारा ग्रहण नहीं कर पा रहा। जबकि अर्जुन एवं वेदों का साधक यज्ञ करने वाला योगाभ्यासी एवं माता-पिता गुरुजनों की सेवा करने वाला एक महान क्षत्रिय है-श्रोता है।

आज का एक गंभीर विचारणीय विषय है कि भगवान श्रीकृष्ण जैसे संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा के साथ सेवारत वेदों के अध्ययन करने वाले महापुरुष और व्यास मुनि जैसे वेदों के प्रकांड ज्ञाता जैसों के उपदेशों के अभाव में तथा अर्जुन जैसे संयमी श्रोताओं के अभाव में कौन, कैसे और किसको भगवद्गीता के वैदिक अर्थ समझने और समझाने में समर्थ हो सकता है? भगवद्गीता वैसे भी आज के किसी भी मज़हब से संबंधित न होकर संपूर्ण विश्व के प्राणियों के लिए व्यास मुनिकृत् तथा श्रीकृष्ण महाराज के मुख से

निकली पावन वैदिक ज्ञान गंगा है।
श्रीकृष्ण उवाच --

'अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।

(गीता २/२८)

(भारत) हे भरतवंशी अर्जुन **(भूतानि)** सब पृथिवी आदि भूत **(अव्यक्तादीनि)** अव्यक्त-अप्रकट तथा **(अव्यक्तनिधनानि एव)** मरने के बाद भी अव्यक्त ही हैं **(व्यक्तमध्यानि)** बीच में वर्तमान में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से देखने सुनने गुण वाले हैं **(तत्र)** फिर इस अवस्था में **(का)** क्या **(परिदेवना)** शोक करना।

अर्थ : हे भरतवंशी अर्जुन! उत्पन्न होने से पहले सब पृथिवी आदि भूत अव्यक्त-अप्रकट तथा मरने के बाद भी अव्यक्त ही हैं। बीच में व्यक्त अर्थात् इन्द्रियों से देखने सुनने गुण वाले हैं। फिर इस अवस्था में क्या शोक करना।

भावार्थ : श्लोक में **'भूतानि'** का अर्थ पाँच महाभूत है। इन्हीं के द्वारा सृष्टि (हमारे शरीर भी) रची गई है। **यजुर्वेद मंत्र ३१/३** में कहा **"अस्य विश्वा भूतानि पादः"** अर्थात् ईश्वर के यह सब पृथिवी आदि पाँच भूत एक अंश के समान हैं जो बनते बिगड़ते रहते हैं। शास्त्रानुसार केवल जीवात्मा परमात्मा एवं प्रकृति को छोड़कर कोई भी वस्तु की उत्पत्ति का कोई न कोई कारण निश्चित है। जैसे बच्चे के जन्म का कारण माता-पिता हैं। इसी प्रकार सृष्टि की उत्पत्ति का कारण रजो, तमो, सतो गुणों वाली प्रकृति अदर्शनीय अवस्था में अपने मूल रूप कारण अवस्था में विद्यमान रहती है। इस कारण रूप प्रकृति से ही कार्य रूप जगत की उत्पत्ति ईश्वर प्रदत्त शक्ति द्वारा होती है। **(देखें ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १२६ एवं सांख्य शास्त्र १/२६)** तब प्रकृति से महत् आदि पाँच भूत और इन्हीं पाँच भूतों से सम्पूर्ण सृष्टि एवं हमारे शरीर बनते हैं और दिखाई देने लगते हैं। शरीरादि पदार्थ नाशवान हैं। श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ यही वैदिक उपदेश है कि हे अर्जुन! यह सब पाँच भूत उत्पत्ति से पहले अव्यक्त रूप से कारण रूप प्रकृति के अंदर विद्यमान रहते हैं। केवल उत्पत्ति के समय यह दृष्टिगोचर होते हैं और पुनः अंत में महाप्रलय के समय अदर्शनीय प्रकृति रूप में विद्यमान हो जाते हैं। अर्थात् उत्पत्ति से पूर्व और

विनाश काल के बीच के समय में उत्पन्न होकर दृष्टिगोचर होते हैं। यह वर्णन सृष्टि रचना, पालन पोषण एवं संहार का है। तथा रचना, पालना-पोषण करने वाला एक ही निराकार परमेश्वर है जो जन्म-मृत्यु में नहीं आता। इसी प्रकार पंचभूतों से बना हमारा शरीर भी सृष्टि के रहते-२ उत्पन्न होकर कुछ समय रहकर पुनः नष्ट हो जाता है। इस श्लोक का यह भी भाव है कि हे अर्जुन! अविनाशी जीवात्मा के गर्भ में आने से जब प्राणी जन्म लेता है तो उसका पंचभौतिक शरीर दिखाई देने लगता है। फिर इस शरीर का पालन पोषण होता है और व्यक्त रूप से दृष्टिगोचर होता रहता है। वृद्धावस्था प्राप्त यह शरीर अंत में नष्ट हो जाता है और पुनः दिखाई नहीं देता। तो जन्म से पहले भी यह शरीर दिखाई नहीं देता था, व्यक्त रूप में नहीं था, अव्यक्त था। पंचभूतों से बना यह शरीर जन्म लेने के बाद व्यक्त हुआ अर्थात् दिखाई देने लगा तथा यह शरीर वर्णन करने योग्य हुआ कि काला है, गोरा है, स्त्री है, पुरुष है इत्यादि। लेकिन मृत्यु के बाद पुनः यह शरीर अव्यक्त रूप बन गया अर्थात् दिखाई नहीं देता। केवल जन्म लेने के पश्चात मृत्यु से पहले ही कुछ समय के लिए विद्यमान रहा और यह नियम अनादि काल से चला आ रहा है। पिछले श्लोक में इसे **"अपरिहार्ये"** अर्थात् कभी न रुकने वाला नियम कहा है। जब यह नियम अटल है तो हे अर्जुन! शरीर के नष्ट होने का शोक क्या करना अर्थात् शरीर नष्ट होने का शोक नहीं करना चाहिए। अध्याय २ के श्लोक ११ में अर्जुन की शोक संतप्त वाणी को सुनकर श्रीकृष्ण ने बड़ी मार्मिक बात कही है कि हे अर्जुन! तू पण्डितों जैसे वचन कहता है परन्तु पण्डित जन मृत्यु प्राप्त प्राणियों के लिए शोक नहीं करते। अतः देखने सुनने में आता है कि सम्पूर्ण पृथिवी पर गीता के प्रचार के बावजूद भी प्रायः प्राणी मृत्यु पर अत्याधिक शोक करते हैं। हमें यह विचार करना होगा कि गीता उपदेश के पश्चात वेद, शास्त्रों एवं गीता में कहा यज्ञ, माता-पिता, गुरु की सेवा, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि ज्ञान को जब तक हम जीवन में श्रीकृष्ण, व्यास गुरु वशिष्ठ एवं सतयुग से चले आ रहे अपने पूर्वजों/महापुरुषों की परम्पराओं को जीवन में धारण नहीं करेंगे, गृहाश्रम में रहते हुए ज्ञान, उपासना एवं कर्म को समझकर जीवन में धारण नहीं करेंगे तब तक रोग, चिंता, व्याधियाँ, उग्रवाद, गरीबी, जातिवाद, घर-२ की कलह, नारी अपमान,

भ्रष्टाचार, भ्रष्ट राजनीति इत्यादि अनेक व्यसनों पर विजय प्राप्त नहीं कर पाएँगे। यहीं हमें सोचना होगा कि कथनी और करनी में बड़ा अंतर होता है। यदि वर्षों से आजाद हुए भारत को प्रायः साधु सन्तों के प्रवचन आज तक शांति नहीं दिला सके तो यह एक गहन गम्भीर विचारणीय विषय होगा, तब भ्रष्टाचार, गरीबी, अन्याय आदि की क्या बात करें?

श्रीकृष्ण उवाच--

'आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।
(गीता २/२६)

(एनम्) इस जीवात्मा को **(कश्चित्)** कोई एक विद्वान् ही **(आश्चर्यवत्)** आश्चर्य के साथ **(पश्यति)** देखता है। **(च)** और **(तथा)** उसी प्रकार **(एव)** ही **(अन्यः)** कोई दूसरा **(आश्चर्यवत्)** आश्चर्य की तरह इसको **(वदति)** कहता है **(च)** और **(अन्यः)** कोई दूसरा **(एनम्)** इस जीवात्मा को **(आश्चर्यवत्)** आश्चर्य की तरह **(शृणोति)** सुनता है **(च)** और **(कश्चित् श्रुत्वा)** कोई तो सुनकर **(अपि)** भी **(एनम्)** इस जीवात्मा को **(न एव)** नहीं ही **(वेद)** जानता।

अर्थ : इस जीवात्मा को कोई एक विद्वान् ही आश्चर्य के साथ देखता है और उसी प्रकार ही कोई दूसरा आश्चर्य की तरह इसको कहता है और कोई दूसरा इस जीवात्मा को आश्चर्य की तरह सुनता है और कोई तो सुनकर भी इस जीवात्मा को नहीं ही जानता।

भावार्थ : शरीर के अन्दर निवास करने वाली इस जीवात्मा को बिरला ही कोई जिज्ञासु अथवा विद्वान् आश्चर्यचकित होकर देखता है। देखने से भाव है कि जीवात्मा के अजर, अविनाशी, शुद्ध एवं चेतन गुण तथा अदर्शनीय स्वरूप, आँख से न दिखाई देने वाले स्वरूप के विषय में ब्रह्मचर्य, जिज्ञासा एवं पुरुषार्थ आदि गुण संपन्न होकर ऋषियों द्वारा वेद-शास्त्रों के अध्ययन एवं योगाभ्यास के बाद बोध प्राप्त करके चकित सा, ठगा सा रह जाता है। यही उसका जीवात्मा को यहाँ आश्चर्यचकित होकर देखना कहा गया है। जैसे कि **अथर्ववेद मन्त्र १०/८/३२** में कहा कि एक ही शरीर में जीव एवं ब्रह्म

साथ-साथ रहते हैं परन्तु घोर आश्चर्य है कि जीव ईश्वर को देख नहीं पाता। अतः इसी मन्त्र में आदेश है कि हम ईश्वर के काव्य चारों वेद जो कभी मरते नहीं हैं उनका अध्ययन करके ईश्वर एवं जीवात्मा को जाने। यह कार्य भी कोई बिरला विद्वान् ही करता है। पढ़, सुन, रट कर गीता तो कोई भी सुना कर पैसे बटोर सकता है। अतः श्री कृष्ण महाराज यह कह रहे हैं कि दूसरा कोई बिरला साधक अथवा विद्वान् ही इस जीवात्मा के रहस्य को वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा जानकर इसके विषय में कहता है-प्रवचन करता है। क्योंकि **अथर्ववेद मन्त्र ७/२/१** में कहा है कि जो जीवात्मा वेदाध्ययन तथा योगाभ्यास के बाद ब्रह्म में लीन हो गया है, ईश्वर के द्वारा रची सृष्टि में ईश्वर के बनाए वेदों के नियमों पर ही चलता है तथा महाप्रलय के पश्चात अमैथुनी सृष्टि के निर्माण को योगदृष्टि के द्वारा जानता है, **"तम इह प्रवोचस"** केवल वह ऋषि ही इस संसार में प्रवचन करे। ऐसा मन्त्रदृष्टा ऋषि ही जीव, ब्रह्म एवं प्रकृति के रहस्य को जानने वाला होता है। इस विशेष कारण से ही श्रीकृष्ण यहाँ यह कह रहे हैं कि कोई बिरला ही यहाँ इस जीवात्मा के विषय में आश्चर्यचकित होकर कहता है। तीसरी रहस्यमयी बात श्रीकृष्ण यह कह रहे हैं कि कोई अन्य ही इस जीवात्मा के रहस्य को आश्चर्य में डूबकर सुनता है। चारों वेद एवं शास्त्र इस सत्य का भी डंका बजा रहे हैं कि कोई बिरला जिज्ञासु ही ऐसी रहस्यमयी वाणी सुनने योग्य होता है। योग, सांख्य, मिमांसा आदि छः शास्त्रों में प्रारम्भ का पहला सूत्र "अथ" शब्द से प्रयुक्त किया गया है। **'अथ'** शब्द का अर्थ है **'तदन्तरम्'** अर्थात् बहुत समय तक वेद मन्त्रदृष्टा ऋषियों के आश्रम में सेवा, साधना, अध्ययन, ब्रह्मचर्य आदि नियम पालन करने के पश्चात ऋषिगण योग जिज्ञासु को विद्या का उपदेश करते हैं। **ऋग्वेद मंत्र १/१६६/१** में भी कहा है कि आचार्य अपने शिष्य के पिछले और इस जन्म के कर्मों को देखकर शिष्य की योग्यतानुसार विद्या दान करें। इसका अर्थ यह नहीं कि शिक्षा में कुछ भेदभाव किया जाए या छुपाई जाए। प्राचीन काल में भी प्रत्येक बालक शिक्षा का अधिकारी था और गुरुकुल में जाता था। परन्तु अथ शब्दानुसार ही ऋषिगण बहुत समय के पश्चात जिज्ञासु की योग्यतानुसार उसे शिक्षा देते थे। वर्तमानकाल में तो प्रवचन करने वाले की शिक्षा, दीक्षा और सुनने वालों की योग्यता इत्यादि की

परीक्षा का कोई विधान नज़र नहीं आता। अतः श्रीकृष्ण जी का यह श्लोक गीता में आज अत्याधिक विचारणीय है। क्योंकि श्लोक में जीवात्मा को देखना, इसके विषय में बोलना तथा सुनना, तीनों स्थितियों में आश्चर्य शब्द जुड़ा हुआ है। परन्तु प्रायः देखने में आता है कि आज का सत्संग जानने वाला, सत्संग बोलने वाला एवं तीसरा श्रोता सुनने वाला हँसते, चुटकुले सुनाते, गाते वा नाचते एवं केवल तालियाँ बजाते तो नहीं रहते, वहाँ आश्चर्य वाली कोई बात दिखाई देती भी है या नहीं देती? कहीं प्रकृति की चमक-दमक का उन्माद दृष्टिगोचर तो नहीं होता है। चौथा एवं अंतिम और भी आश्चर्यजनक वचन श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि कई गम्भीर श्रोता तो इस जीवात्मा के तत्त्व को ऋषियों से सुनकर भी नहीं जान पाते। यह ऐसा गम्भीर विषय है जिसे हँसी मज़ाक में उड़ाया नहीं जा सकता। चारों वेदों, छः शास्त्रों, उपनिषदों एवं संपूर्ण गीता में कहीं भी चुटकुले, हँसी-मज़ाक का कथन नहीं किया गया है। वाल्मीकि रामायण के अरण्यकाण्ड के चौबीसवें सर्ग में कहा है कि लंकापति रावण जब पहली बार सीता हरण करने के लिए मारीचि को सोने का मृग बनने की आज्ञा देता है। तब मारीचि उसे समझाता है कि श्रीराम बहुत शक्तिशाली हैं और जिसने तुम्हें उनकी सीता चुराने के लिए उकसाया है, हे रावण! वह तुम्हारा कुल नष्ट करना चाहता है। यह सब सुनकर रावण वापिस चला जाता है। परन्तु शूर्पनखा आदि के उकसाने पर पुनः वापिस आकर मारीचि को मृग बनने की आज्ञा देता है। अथवा उसके वध की धमकी देता है। तब मारीचि रावण को कहता है कि हे राजन्! कानों को अच्छे लगने वाले, चापलूसी के शब्द कहने वाले बहुत मिल जाएँगे परन्तु सुनने में कठोर तथा जीवन का कल्याण करने वाले वचनों को बोलने वाले वक्ता तथा सुनने वाले श्रोता दुलर्भ हैं।

ऋग्वेद मंत्र १/१६४/४ में कहा है **"प्रथमम् जायमानम् अस्थन्वन्तम् भूम्याः अनस्था असुः असृक् आत्मा बिभर्त्ति"** अर्थात् सृष्टि रचना के समय हड्डियों से युक्त देह को, प्राण और रुधिर आदि से बनी देह को, जीवात्मा धारण करता है। तब **"कः ददर्श"** अर्थात् इन शरीरों की रचना को जीवात्मा नहीं देखती। इसी मन्त्र में ही प्रश्न है **"कः एतत् प्रष्टुम् विद्वांसम् उप गात्"** अर्थात् शरीर रचना और रचना के बाद जीवात्मा का शरीर में प्रवेश होना,

इस विषय में कौन जिज्ञासु विद्वान् को पूछने उसके पास जाए? क्योंकि यह भेद तो केवल वेद में है। और प्रायः सन्त वेद नहीं पढ़ते और दूसरों को भी कठिन कह-कह कर डरा देते हैं। अतः वर्तमान में यह प्रश्न अति गम्भीर है। अतः सृष्टि रचना के कर्म को न जानने के कारण नाशवान देह (शरीर) एवं अविनाशी देही (जीवात्मा) के विषय में वैदिक प्रमाण द्वारा कोई बिरला ही जानकारी प्राप्त करता है। वैदिक स्वाध्याय से ऐसी गूढ़ जानकारी प्राप्त करने के पश्चात कोई बिरला ही यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा इस गूढ़ विषय की अनुभूति प्राप्त करता है। शेष तो **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/१६** में कहा है-**"अक्षण्वान् पश्यत् अन्धः न"** अर्थात् विज्ञानवान पुरुष जीवात्मा के रहस्य को देखे और अंध अर्थात् वेद एवं योग विद्या के ज्ञान से रहित अज्ञानी पुरुष नहीं देख सकता। सारांश है कि परम्परागत वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के अभाव में अविनाशी जीवात्मा एवं प्रकृति रचित नाशवान शरीर तथा इन दोनों के मालिक परमात्मा के सत्य वैदिक स्वरूप को अज्ञानी अलग-अलग जान नहीं पाते। यही विचार श्री कृष्ण ने इसी श्लोक २६ में कहे हैं कि कोई बिरला आश्चर्यलीन होकर इस आत्मा को देखता है, बोलता है तथा सुनता है। और किसी-किसी को तो सुनकर भी यह वैदिक रहस्य समझ नहीं आता। आश्चर्य के विषय में **अथर्ववेद मंत्र ५/११/३** कहता है-**'अहम् सत्यम् काव्येन गभीरः'** अर्थात् मैं वेद रूपी काव्य के अध्ययन से गम्भीर वृत्ति वाला बन गया हूँ अर्थात् सनातन अमर एवं दिव्य परमेश्वर की वाणी चारों वेदों के अध्ययन से विद्वान-जन गम्भीर एवं विवेकशील बनते हैं। उनके प्रवचन में सांसारिक हँसी-मज़ाक के चुटकुले आदि अथवा नाच-गाना सम्भव नहीं। इसी देह और देही के विषय में आगे श्री कृष्ण महाराज कहते हैं-

'देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।

(गीता २/३०)

(भारत) हे अर्जुन **(अयम्)** यह **(देही)** आत्मा **(सर्वस्य)** सबके **(देहे)** शरीर में **(नित्यम्)** सदा ही **(अवध्यः)** नाशरहित है **(तस्मात्)** इसलिए **(सर्वाणि)** सम्पूर्ण **(भूतानि)** भूतप्राणियों के लिए **(त्वम्)** तू **(शोचितुम्)** शोक करने को **(न अर्हसि)**

योग्य नहीं है।

अर्थ : हे अर्जुन यह आत्मा सबके शरीर में सदा ही नाशरहित है इसलिए सम्पूर्ण भूत प्राणियों के लिए तू शोक करने को योग्य नहीं है।

भावार्थ : ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/३७ "यदा प्रथमजाः मा आ अगन्" अर्थात् जीव को सृष्टि रचना के आरम्भ में प्रकृति से उत्पन्न शरीर प्राप्त हुआ। और जब तक अविनाशी जीवात्मा शरीर को प्राप्त नहीं होता तब तक आँख, नाक, कान, जिह्वा एवं त्वचा के बिना किसी भी विषय को देखने, सुनने और समझने में समर्थ नहीं होता। शरीर प्राप्त करके भी यदि जीवात्मा विद्या अध्ययन एवं योगाभ्यास नहीं करता तब शास्त्र उस जीवात्मा को **'विद्या-विहीन नर पशुः समानः'** विद्या से रहित होने के कारण पशु समान कहते हैं। क्योंकि पात जल योगदर्शन में कहा- **'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः', 'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् वेदों में वर्णित योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त योगी अपने स्वरूप को अर्थात् जीवात्मा को जानता है। अगले ही सूत्र में कहा-**'वृत्तिसारुप्यमितरत्र'** अर्थात् जो इस योग-विद्या से हीन है वह अपने आप को चित की वृत्ति के समान समझता है। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६ में तथा सांख्य शास्त्र १/२६** में कहा कि यह सब विश्व जड़-प्रकृति से बना है और प्रकृति से बना पहला तत्त्व महत् (बुद्धि) है। बुद्धि से अहंकार, मन एवं पुनः चित्त बनते हैं। अतः ऊपर कहे योगशास्त्र सूत्र **'वृत्तिसारुप्यमितरत्र'** के अनुसार जीव अपने आप को जड़ चित्त वृत्ति जैसे समझ बैठता है। पुण्य फल से वृत्ति सुखी होती है तो सुख समझता है। और पाप फल से चित्त-वृत्ति दुःखी होती है तो अपने आप को दुःखी समझता है। जबकि स्वयं जीवात्मा का अपना स्वरूप सुखी दुःखी एवं जड़ न होकर चेतन अविनाशी सुख स्वरूप है। लेकिन विद्या-विहीन होकर जीवात्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता इसलिए ऊपर **ऋग्वेद** में कहा **"नचिकेत् अन्धः"** अर्थात् विद्या से अंधा हुआ जीव अपने स्वरूप को नहीं जानता। यही सत्य इस श्लोक में सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता एवं योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को समझा रहे हैं कि **'देह'** (शरीर) एवं **'देही'** (चेतन अविनाशी जीवात्मा) दोनों में अन्तर है। देह प्रकृति रचित पंचभौतिक शरीर है जो नाशवान है, मृत्यु योग्य है एवं शरीर में रहने वाली जीवात्मा ज्ञानवान

अविनाशी एवं चेतन तत्त्व है। जीवात्मा शरीर इन्द्रियों एवं मन बुद्धि से सदा अलग तत्त्व है। तथा परमात्मा से भी पृथक् सत्ता है। जीवात्मा अनादि काल से शरीर धारण करता आ रहा है। शरीर नष्ट होता रहता है और अविनाशी जीवात्मा पुनः पाप एवं पुण्य कर्मानुसार नया शरीर धारण करता रहता है। अतः जीवात्मा अजर-अमर एवं अविनाशी है। श्री कृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह जीवात्मा सदा अबध्य है, अर्थात् नाशरहित है। हम सब जीवात्माएँ हैं और शरीर में रहती हैं। नाश शरीर का होता है, हमारा नहीं। अतः हम जब कभी मर कट नहीं सकते तब हे अर्जुन! तू सब प्राणियों के लिए शोक क्यों करता है-ऐसा क्यों सोचता है कि तू युद्ध में अपने सम्बंधियों को मार देगा। यह सब तो अविनाशी तत्त्व हैं। हे अर्जुन तू युद्ध कर। गीता का जीवात्मा एवं शरीर के विषय में यह उपदेश वस्तुतः सब प्राणियों को वर्तमान में भी वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा ग्रहण करके जन्म-मृत्यु आदि के शोक से रहित होने की प्रेरणा देता है। परन्तु यदि हम भगवद्गीता केवल पढ़, सुन, रट कर, लचकीली भाषा में इसका व्याख्यान करके अपनी प्रशंसा करवाते हैं तो यह ब्रह्मविद्या का अपमान ही होगा। क्योंकि ब्रह्मविद्या का आधार तो **केनोपनिषद् श्लोक ४/८** के अनुसार तप, दम, वेदोक्त शुभ कर्म तथा चारों वेदों के अध्ययन पर आधारित है।

श्रीकृष्ण उवाच --

"स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते।।"

(गीता २/३१)

(च) और **(स्वधर्मम्)** अपने धर्म को **(अपि)** भी **(अवेक्ष्य)** देखकर तू **(विकम्पितुम्)** भय करने के लिए **(न अर्हसि)** योग्य नहीं है। क्योंकि **(हि)** निश्चय ही **(क्षत्रियस्य)** क्षत्रिय के लिए **(धर्म्यात्)** धर्मपूर्वक **(युद्धात्)** युद्ध से **(श्रेयः)** श्रेष्ठ कल्याणकारी कर्म **(अन्यत्)** कोई अन्य **(न)** नहीं **(विद्यते)** है।

अर्थ : और अपने धर्म को भी देखकर तू भय करने के लिए योग्य नहीं है। क्योंकि निश्चय ही क्षत्रिय के लिए धर्मपूर्वक युद्ध से श्रेष्ठ कल्याणकारी कर्म कोई अन्य नहीं है।

भावार्थ : यजुर्वेद मंत्र ४०/११ में **"सम्भूतिम्"** एवं **"विनाशम्"** इन दो शब्दों का ज्ञान भण्डार है। **'सम्भूतिम्'** का अर्थ है प्रकृति से बनी समस्त सृष्टि जिसमें सूरज-चांद और हम सब प्राणियों के शरीर आदि आते हैं। मन्त्र में **'विनाशम्'** का अर्थ है कारण रूप प्रकृति जिसमें यह समस्त सृष्टि प्रलयकाल में नष्ट होकर अदृश्य हो जाती है। इन शब्दों का ज्ञान देकर ईश्वर इस मंत्र में कहता है-**"विनाशेन मृत्युम् तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते"** अर्थात् प्रकृति के अविनाशी स्वरूप एवं प्रकृति से बने संसार के पदार्थों के नाशवान स्वरूप को जानकर, जीवात्मा का मृत्यु के भय से सर्वदा छूट जाना है। क्योंकि वह जान जाता है कि मूलतः कोई भी सृष्टि का पदार्थ नाश को प्राप्त नहीं होता अपितु उस पदार्थ का स्वरूप बदल जाता है। एवं सब पदार्थ प्रलयावस्था में पुनः प्रकृति में लीन हो जाते हैं। तथा शरीर द्वारा धर्मयुक्त कार्य करके जीवात्मा मोक्ष सुख को प्राप्त करता है। अथवा कर्मानुसार जन्म लेता है। इसी नियम के ही अंतर्गत जीवात्मा का शरीर मृत्यु के समय जीवात्मा से केवल अलग हो जाता है और शरीर भस्म हो जाता है। **यजुर्वेद अध्याय ३६** के अनुसार यह अविनाशी जीवात्मा पुनः कर्मानुसार नया शरीर धारण कर लेता है। यह मृत्यु चक्र है। और यदि जीव वेदाध्ययन, यज्ञ, तप एवं योगाभ्यास आदि नहीं करता तो भिन्न-भिन्न योनियों से जन्म लेता हुआ सदा कष्ट प्राप्त करता है। इस मृत्यु-चक्र को समाप्त करने के लिए ही धर्म धारण करने की आवश्यकता होती है। प्रायः इसी मंत्र का भाव समझाने के लिए श्रीकृष्ण पिछले श्लोक ३० में **'देह'** (प्रकृति रचित शरीर) तथा **'देही'** (अविनाशी जीवात्मा) का ज्ञान दे रहे थे। जिसे समझकर जन्म-मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। वस्तुतः यह भय वेदाध्ययन एवं योगसाधना आदि विद्या के आचरण में आए बिना समाप्त नहीं होता। परन्तु प्रथम तो शब्द-ब्रह्म के उपदेश की ही आवश्यकता होती है। श्रीकृष्ण महाराज शब्दों द्वारा देह-देही का ज्ञान देकर अब इस श्लोक में क्षत्रिय धर्म का उपदेश देकर अर्जुन को धर्म युद्ध के लिए प्रेरित करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! तू अपने स्वयं के धर्म को भी देख कि तू क्षत्रिय है और तेरा धर्म (कर्त्तव्य) धर्मयुक्त युद्ध ही करना है। अतः तुझे युद्ध में किसी की या स्वयं की मृत्यु का भी भय नहीं होना चाहिए। वस्तुतः जैसा महाभारत के **शान्तिपर्व, २४/८२** में युधिष्ठिर कह रहे हैं कि धर्म का विषय अति गूढ़

है। **मनुस्मृति** कह ही रही है कि **'वेदः अखिलः धर्ममूलम् (२/६)** अर्थात् सब धर्म-कर्त्तव्य कर्म केवल वेदों से ही उत्पन्न हैं। अतः वेदाध्ययन के बिना धर्म का सत्य स्वरूप समझना कठिन है। वेद-विद्या के ज्ञाता ऋषियों ने जो धर्म का स्वरूप हमें शास्त्रों में भी समझाया है, वह स्वरूप अब लुप्त प्रायः सा है। **मीमांसा शास्त्र के ऋषि जैमिनि** कहते हैं कि **"नोदना वचः इति धर्म,"** वेद सुनना हमारा धर्म है। दूसरा **वैशेषिकदर्शन के ऋषि कणाद् मुनि** कहते हैं- **"अभ्युदय (लौकिक कल्याण)** और **निःश्रेयस (मोक्ष) (१/२)"**

अर्थात् जिन-जिन कर्मों को करने से इस लोक एवं परलोक (मोक्ष) दोनों का सुख प्राप्त हो, उन कर्मों को करने को धर्म कहते हैं। और ऐसे शुभ कर्मों का कथन चारों वेदों में है। वस्तुतः यजुर्वेद अध्याय ३१ मंत्र ११ के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्णों का उदय कर्मोनुसार ही है। चारों वर्णों को यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि कर्म समान रूप से करने का अधिकार है। बल, तेज, ओज एवं शस्त्र-विद्या में प्रवीण अर्जुन क्षत्रिय-वंश के सूर्य हैं। अतः अर्जुन का स्वधर्म अर्थात् स्वयं का धर्म क्षत्रिय-धर्म है। जिसमें उसे धर्म-युद्ध करके ही धर्मयुक्त जीने का अधिकार है। **धृत** धातु से **'धर्म'** शब्द बना है। जिसका अर्थ है धारण करना। ब्राह्मण यदि वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास न करे एवं क्षत्रिय यदि युद्ध में प्रवीण न हो, वैश्य (महाजन) यदि वित्त विषय, पदार्थ वितरण विषय में प्रवीण न हो तो कोई भी स्वधर्म अर्थात् अपने-अपने धर्म को धारण नहीं करेगा जिस कारण अधर्मी ही कहलाएगा। **महाभारत के भीष्म पर्व** में योद्धाओं को सम्बोधित करते हुए भीष्म **श्लोक २/३३** में कह रहे हैं कि क्षत्रियों यह युद्ध तुम्हारे लिए स्वर्ग का खुला विशाल द्वार है। तुम लोग इसके द्वारा इन्द्र वा ब्रह्मा जी के लोकों को प्राप्त करो। श्लोक २/३४ वा ३५ में भीष्म कहते हैं कि युद्ध पूर्वजों के पूर्वजों द्वारा स्वीकार किया हुआ सनातन मार्ग है। घर में रोगी होकर पड़े-पड़े प्राण त्यागना क्षत्रिय के लिए अधर्म माना गया है। युद्ध में लोहे के अस्त्र-शस्त्रों द्वारा आहत होकर जो मृत्यु का आलिंगन करता है। वही उसका सनातन धर्म है। क्षत्रियों के ऐसे ही वेदोक्त विलक्षण गुणों का सारांश **"स्वधर्मः अवेक्ष्य"** अर्थात् हे अर्जुन! तू स्वयं के क्षत्रिय-धर्म को भी यदि देखे तो पाएगा कि तुझे धर्म-युद्ध

करना चाहिए। अतः तू गांडीव धनुष छोड़कर भीरु क्यों हो रहा है। उठ! क्षत्रिय धर्मानुसार धर्म-युद्ध कर। यहाँ यह विशेष ज्ञान भी है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य इत्यादि वर्णों का धर्मानुसार निर्धारण होने पर भी वैदिक उपदेश की शिक्षा अति अनिवार्य है। एवं सब वर्णों को अपने-अपने धर्म-कर्म के उपदेश के अतिरिक्त जीव, प्रकृति, सृष्टि रचना एवं ब्रह्म के उपदेश एवं साधना की आवश्यकता है। यदि अर्जुन को जीव, ब्रह्म तथा प्रकृति रचित संसार एवं शरीर का ज्ञान श्री कृष्ण न प्रदान करते तो भी अर्जुन अज्ञानी होकर युद्ध न करता एवं अपने संबंधियों को मारने का उसे भय एवं शोक होता। अतः सभी वर्णों को शोक एवं भय से तरने के लिए समान रूप से वैदिक ब्रह्म ज्ञान जिसमें जीव, प्रकृति, संसार रचना एवं परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान है, जिसमें ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन वेदोक्त विद्याओं का विस्तार है उस को वेदाध्ययन द्वारा जानने की आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण उवाचः-

"यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।"

(गीता २/३२)

(पार्थ) हे पृथा= कुन्ती पुत्र अर्जुन **(यदृच्छया)** अकस्मात् स्वयं **(उपपन्नम्)** प्राप्त **(च)** और **(अपावृतम्)** खुले **(स्वर्गद्वारम्)** स्वर्ग के द्वार रूपी **(ईदृशम्)** इस तरह के **(युद्धम्)** युद्ध को **(सुखिनः)** पुण्यवान **(क्षत्रियाः)** क्षत्रिय ही **(लभन्ते)** प्राप्त करते हैं।

अर्थ : हे पृथा पुत्र अर्जुन अकस्मात् स्वयं प्राप्त और खुले स्वर्ग के द्वार रूपी इस तरह के युद्ध को पुण्यवान क्षत्रिय ही प्राप्त करते हैं।

भावार्थ : राजा शूरसेन की पुत्री पृथा थी जिसे शूरसेन ने अपने फुफेरे भाई कुन्तीभोज को दे दिया था। पृथा का नाम बाद में कुन्ती पड़ा। पृथा पुत्र होने के कारण अर्जुन को भगवद्गीता में प्रायः पार्थ कहकर संबोधित किया गया है। जैसा श्लोक में कहा गया है, महाभारत का युद्ध पाण्डवों को इच्छा के विरुद्ध अचानक ही प्राप्त हुआ था। पाण्डवों द्वारा वनवास, ततूपश्चात बारह

वर्ष का अज्ञातवास भुगता तथा पाण्डवों द्वारा जीविका उपार्जन हेतु केवल पाँच गाँव माँगने पर भी दुर्योधन ने युद्ध के बिना सुई की नोक के बराबर भी भूमि न देने की घोषणा कर दी थी।

ऐसी विकट परिस्थिति में अकस्मात ही पाण्डवों के सिर पर यह युद्ध थोप दिया गया था। क्योंकि युद्ध के बिना अब प्रजा में सत्य, धर्म, न्याय इत्यादि की स्थापना असंभव थी। क्षत्रिय द्वारा धर्म स्थापना के लिए युद्ध करना वैदिक मत के अनुसार पुण्यवान कर्म है। **सामवेद मंत्र १४३४** कहता है कि हे ईश्वर आप दुष्टों, विषय-विकारी तथा उपद्रवी अधार्मिकों को फूँक दीजिए। **यजुर्वेद मंत्र १०/२** प्रेरणा देता है कि राष्ट्र का सेनापति शत्रुओं की सेना को जीतकर प्रजा को सुरक्षा प्रदान करे। ऋग्वेद **मंत्र १०/१०३/१३** सेना नायकों को धर्म स्थापना के लिए युद्ध की प्रेरणा देता है। **मनुस्मृति ८/१५** में स्पष्ट कहा है कि मारा हुआ धर्म मनुष्य को मार देता है और रक्षा किया हुआ धर्म मनुष्य की रक्षा करता है। राजा शत्रुओं से युद्ध करके राज्य को उपद्रवों से रहित करे तथा राजपुरुष और प्रजा में आलस्य प्रमाद, वेद और ईश्वर की निन्दा रूपी नास्तिकपन कभी न आने दे (देखें **यजुर्वेद मंत्र १०/२२ एवं ११/१४**) ऐसी असंख्य वैदिक वाणियाँ राजा को धर्म स्थापना के लिए युद्ध की प्रेरणा दे रही हैं। श्रीकृष्ण भी यही वेदों का ज्ञान, अर्जुन को दे रहे हैं। पशु, पक्षी, मनुष्य इत्यादि राष्ट्र के सब प्राणी सदा सुख एवं शांति की कामना करते हैं। परन्तु सदा से इस शांति स्थापना में असुर वृत्तियों ने मानवता को कुचल कर इसमें बाधा पहुँचाई है। पिछले तीनों युग एवं वर्तमान का इतिहास भी इस सत्य को दर्शाता है कि सुख व शांति सदा संघर्ष एवं युद्ध से ही स्थापित की जा सकती है। अहिंसा को जब अधिक दबाया जाता है तब अहिंसा ही हिंसा का रूप धारण कर लेती है। वर्तमान काल में भी अहिंसा को दबाने पर श्री गुरु गोविन्द सिंह, छत्रपति शिवाजी एवं झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई आदि द्वारा युद्ध किए जाने की अनेक वीर गाथाएँ इसका उदाहरण हैं। जब दुर्योधन में भी नास्तिकपन, वेद एवं ऋषियों का निरादर, नारी-अपमान, मदिरापान इत्यादि अवगुणों के साथ अन्याय से राज्य को हड़पने तक का बुरा विचार आ गया था, तब श्री कृष्ण महाराज ने वेदानुसार अर्जुन को युद्ध की प्रेरणा

दी। भगवद्गीता में प्रत्येक श्लोक में वेदवाणी का ही आह्वान है। क्योंकि गीता ग्रन्थ लिखा ही वेदज्ञ ऋषि व्यास जी ने है। इन्हीं सब वैदिक कारणों से श्री कृष्ण ने यहाँ क्षत्रिय के लिए ऐसा अकस्मात प्राप्त धर्म युद्ध स्वर्ग का खुला द्वार कहा है। **सामवेद मन्त्र १४०६** कहता है कि शत्रुओं का मानमर्दन करने वाला योद्धा पूर्णतः पवित्रता धारण करता हुआ ईश्वर को प्राप्त होता है। ईश्वर को प्राप्त होना ही वेदों में स्वर्ग प्राप्ति कहा है। इसके अतिरिक्त आकाश में स्वर्ग नरक वेद ने नहीं कहे हैं। **महाभारत के शान्ति पर्व ५५/१** में क्षत्रियों का धर्म युद्ध में देह त्याग ही उनका धर्म है। इसी श्लोक में ब्राह्मणों का धर्म, यज्ञ, दान, तप एवं वेदाध्ययन, इत्यादि हैं। यदि ब्राह्मण (आज के ब्रह्म ऋषि, सन्त इत्यादि भी) यदि ऐसे शुभ कार्य न करें और क्षत्रिय (सेना) धर्म स्थापना के लिए युद्ध न करें तो ऊपर वेद वचनों तथा **मनुस्मृति ८/१५** द्वारा धर्म (कर्त्तव्य) तो मर ही जायेगा। और जब धर्म मर जायेगा तो मारा हुआ धर्म प्राणियों को मारने लग जायेगा। क्या आज ऐसा हो तो नहीं रहा? इसका हमें निरीक्षण करना है।

अतः यदि ब्राह्मण को वेदाध्ययन यज्ञ, तप आदि शुभ कर्म मिल गये तो वह ब्राह्मण पुण्यात्मा है और उसके लिए तो स्वर्ग का द्वार ही खुल गया अन्यथा नरक तो है ही। और इसी प्रकार क्षत्रिय को धर्म-युक्त युद्ध प्राप्त हो गया तो वह क्षत्रिय महा पुण्यवान है। ऐसी ही वैदिक वचनों की ज्ञान-गंगा यहाँ श्री कृष्ण बहा रहे हैं कि हे अर्जुन! अपने आप प्राप्त ऐसा धर्म-युक्त धर्म-युद्ध पुण्यवान क्षत्रियों को ही सुख (स्वर्ग) का लाभ देता है।

श्रीकृष्ण उवाच --

"अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।"

(गीता २/३३)

(अथ) और **(चेत्)** यदि **(त्वम्)** तू **(इमम्)** इस **(धर्म्यम्)** धर्म के **(संग्रामम्)** युद्ध को **(न)** नहीं **(करिष्यसि)** करेगा। **(ततः)** तब तो **(स्वधर्मम्)** स्वयं के धर्म को **(च)** और **(कीर्तिम्)** कीर्ति को **(हित्वा)** नष्ट करके **(पापम्)**

पाप को **(अवाप्स्यसि)** प्राप्त करेगा।

अर्थ : और यदि तू इस धर्म के युद्ध को नहीं करेगा तब तो स्वयं के धर्म को और कीर्ति को नष्ट करके पाप को प्राप्त करेगा।

भावार्थ : 'अथ' शब्द शास्त्रों में मांगलिक माना जाता है। इसका अर्थ 'तदन्तरम्' अर्थात् 'इसके बाद' है। यहाँ भाव है कि हे अर्जुन! जीव, शरीर एवं क्षत्रिय-धर्म इत्यादि का इतना गम्भीर ज्ञान सुनने के बाद भी यदि तू धर्म युद्ध नहीं करेगा, तो तू पापी हो जाएगा। पाप क्या है इसकी सर्वोत्तम व्याख्या यही कही जाएगी कि वेद-शास्त्रों के विपरीत चलना पाप है। क्योंकि **मनुस्मृति** कह ही रही है-**वेदः अखिलः धर्ममूलम् (२/६)** अर्थात् सब शुभ कर्मों का उदय चारों वेदों से है। जैसे कि **यजुर्वेद मंत्र १०/३३** कहता है कि दुष्टों से श्रेष्ठों की रक्षा के लिए राजा होता है। युधिष्ठिर उस समय राजा थे, परन्तु उनसे राजगद्दी दुर्योधन ने छल कपट से ले रखी थी। **सामवेद मंत्र १४०६ तथा १८७२** में कहा है कि सैनिक धर्मयुद्ध द्वारा मोक्ष प्राप्त करे तथा जो हमारा है परन्तु जो हम से दूर रहकर हमें मारना चाहता है, राजा और विद्वान् उन्हें घोर दण्ड दें, इत्यादि-इत्यादि। चारों वेदों के अनेक मंत्रों में शांति एवं धर्मस्थापना के लिए युद्ध का आदेश है। वेदों की आज्ञा न मानना ही पाप है। **अथर्ववेद मंत्र ६/२६/१** में कहा **'पाप्मन् मा अवसृज'** हे पाप तू मुझे दूर से ही छोड़ दे। अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म न करने की भावना तो सदा हमसे दूर ही रहे। तभी जीव सुखी हो पाएगा। कर्त्तव्य त्याग करके कभी कोई सुख पूर्वक नहीं जीवन व्यतीत कर पाया है। यह वैदिक-धर्म है। यही सब वैदिक-धर्म का उपदेश करते हुए श्री कृष्ण कह रहे हैं कि हे अर्जुन! अब भी तूने युद्ध नहीं किया तो तू अपने क्षत्रिय-धर्म को न निभा पाने के कारण यश, कीर्ति को नष्ट करके पापी कहलाएगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। बिल्कुल इसी प्रकार यदि देश के ब्राह्मण, वैश्य, गृहस्थी, कृषक, नेता इत्यादि सब नर-नारी अपने-अपने धर्म (कर्त्तव्य) को न समझे और पुनः इसका पालन न करें, तब समझें कि परिवार, प्रान्त, देश एवं विश्व काम-क्रोध, छल-कपट, भ्रष्टाचार, देशद्रोह, कायरता, जाति इत्यादि के अभिमान इत्यादि बारूद के ढेर पर बैठा अपने नाश का इन्तजार कर रहा है। अर्जुन ने कर्त्तव्य को जान कर

युद्ध करके क्षत्रिय-धर्म निभाया तथा अमर हो गया। युद्ध के पश्चात् ३६ वर्ष तक राज्य करने का सुख भी भोगा। युद्ध न करता तो सब भाई भिखारियों की तरह, आलसियों की तरह जंगल में भटक-भटक कर मर जाते और आज उन्हें कोई जान भी न पाता। अतः हमारा यश-कीर्ति तथा अमर होना हमारी कर्त्तव्य-परायणता पर ही आधारित है और कर्त्तव्य बोध हमें वेदों/शास्त्रों के उपदेश से प्राप्त होगा। जैसा कि अर्जुन को वेदों का उपदेश श्रीकृष्ण महाराज से प्राप्त हुआ था। अतः वेद-विद्या के ज्ञाता, उपदेशक ही पुनः भारत को कर्त्तव्यबोध कराने में समर्थ हैं। जहाँ यह सत्य कहा गया है कि वेदों से ही सब कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान निकला है वहाँ वेदों में सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ शब्द के तीन अर्थ हैं- देवपूजा, संगतिकरण एवं दान। देवपूजा में-माता, पिता, अतिथि, आचार्य और ईश्वर की सेवा, हवन, योगाभ्यास इत्यादि। माता, पिता, अतिथि, आचार्य की सेवा तन-मन-धन अन्न, वस्त्र, मीठी वाणी, सत्कार आदि द्वारा की जाती है और पाँचवा देव ईश्वर है जिसकी सेवा हवन, योगाभ्यास, वेदाध्ययन कही गई है। वेदों की आज्ञा पालन ही ईश्वर की श्रेष्ठ पूजा कही है। जिसमें क्षत्रिय के लिये युद्ध जैसे कर्म का बोध भी कराया है। संगतिकरण का अर्थ वेदों के ज्ञाता एवं योगाभ्यासी ब्रह्मर्षि की सेवा करके उनसे विद्या लाभ प्राप्त करना कहा गया है। एवं ऐसे ही सुपात्र विद्वान् को दान देना यज्ञ का तीसरा अंग दान कहा गया है। जब यज्ञ होता है तब ही वहाँ वेदों का ज्ञान सुनकर कर्त्तव्य कर्म का बोध होता है।

यज्ञभूमि (यज्ञशाला) में आने के लिए चारों वेद कह रहे हैं। जैसा कि **सामवेद मंत्र १६४** कहता है **'आ तु आ इत निषीदत'** आओ-आओ यहाँ यज्ञभूमि पर बैठो और ईश्वर के लिए वेदों का गुणगान करो। तथा **सामवेद मंत्र ११७** में कहा **'यज्ञस्य मही रप्सुदा उभा कर्णा'** यज्ञ की भूमि वेद मंत्रों के प्रभाव वाली हो और तुम्हारे दोनों कान ज्योतिर्मय ज्ञान से भर जाएँ। **यजुर्वेद अध्याय १८,** यज्ञ द्वारा आयु, धन, बल, बुद्धि एवं ब्रह्म प्राप्ति का आह्वान कर रहा है। यज्ञ में ही ब्रह्मर्षि वेदव्याख्या द्वारा सब सत्य कर्मों का बोध कराता है। यही बोध वेदज्ञ एवं योगेश्वर श्री कृष्ण ने अर्जुन को कराया। **भगवद्गीता अध्याय ३ श्लोक १५** में स्पष्ट श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि

सब कर्मों को तू वेदों से उत्पन्न एवं वेदों को परमेश्वर से उत्पन्न हुआ जान। आज हम इस सत्य को, कि वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और सब कर्म वेदों से उत्पन्न हुए हैं, भूल गए हैं। और प्रायः सन्त वेदों को कठिन कह-कहकर जनता को डरा रहे हैं क्योंकि अधिकतर संत वेदों का अध्ययन करते ही नहीं और अपनी इस बुराई को छिपाने के लिए वेदों को कठिन, यज्ञ को कठिन, योग-विद्या को कठिन कह-कहकर जनता को वेदों से उत्पन्न सत्य विद्या से दूर कर रहे हैं और प्रायः कर दिया है। भारतीय संस्कृति का सूर्य यहीं से अस्त होना प्रारम्भ हुआ है। आज प्रायः सन्त गीता के शब्दों का मनमाना अर्थ करते हैं और बिरला ही कोई गीता के श्लोकों के अर्थों का वेद-मन्त्रों से प्रमाण देता है कि यह गीता पूर्णतः वेदों के ज्ञान पर आधारित है क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज और व्यास मुनि दोनों ही विभूतियाँ वेद एवं योग विद्या में प्रवीण थीं और उनके द्वारा ही यह गीता लिखी गई है। अतः न्याय यह कहता है कि वेद का ज्ञाता ही गीता का ज्ञान सुनाए अन्यथा अर्थ का अनर्थ और मनमाने अर्थों का उदय होगा जो जनता के लिए अहितकर होगा।

श्रीकृष्ण उवाच --

"अकीर्तिं चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते।।'

(गीता २/३४)

(च) और **(भूतानि)** सब प्राणी **(ते)** तेरी **(अव्ययाम्)** कभी न समाप्त होने वाले **(अकीर्तिम्)** अपयश का **(अपि)** भी **(कथयिष्यन्ति)** कथन करेंगे **(च)** और **(सम्भावितस्य)** सम्मानित पुरुष का **(अकीर्तिः)** अपयश **(मरणात्)** मृत्यु से भी **(अतिरिच्यते)** अधिक होता है।

अर्थ : और सब प्राणी तेरे कभी न समाप्त होने वाले अपयश का भी कथन करेंगे और सम्मानित पुरुष का अपयश मृत्यु से भी अधिक होता है।

भावार्थ : एक सम्मानित व्यक्ति जिसकी समाज में गुण विशेष से प्रतिष्ठा है, यदि उसको उन्हीं गुणों की हीनता आ जाए तो ऐसी दशा में वह व्यक्ति अपने आप को मृत्यु प्राप्त अवस्था से भी अधिक हीन महसूस करता है, वह कहीं

मुँह दिखाने योग्य नहीं रहता। ऐसी अवस्था में वह व्यक्ति सोचता है कि अब जीवित रहकर क्या करना है। अर्जुन ऐसी बातों से अनभिज्ञ है, फलस्वरूप ही युद्ध नहीं लड़ रहा। श्रीकृष्ण उसे अपयश के विषय में समझा रहे हैं। अर्जुन ने कई युद्ध किए और सब में विजयी रहा। घूमती मछली की आँख में तीर मारकर द्रौपदी को स्वयंवर में जीता था। कई राक्षसों का वध किया था। आचार्य द्रोण का भी आशीर्वाद प्राप्त था कि अर्जुन जैसा धनुषधारी उस समय कोई दूसरा नहीं था। गुरुदक्षिणा में राजा द्रुपद को मारने आए राजाओं को हराना। अग्निदेव की रक्षा हेतु खाण्डव-वन का दाह, इत्यादि-इत्यादि अनेक शौर्यपूर्ण कार्यों द्वारा अर्जुन एक सम्मानित एवं प्रतिष्ठित योद्धा था। अविवेक के कारण वह अपने धर्म से हीन हो रहा था। श्री कृष्ण उसकी वीरता की दुहाई देकर उसे समझा रहे हैं कि यदि तू युद्ध नहीं करेगा तो तेरा अपयश तुझे ले डूबेगा। संयम-नियम द्वारा गुण अर्जित करना अति कठिन होता है, परन्तु एक भी अवगुण, अर्जित किए सब गुणों को ले डूबता है। मनुष्य मात्र का धर्म (कर्त्तव्य) ही यही है कि पुरुषार्थ, वेदाध्ययन इत्यादि द्वारा गुणवान होकर समाज में प्रतिष्ठित होकर जीए और उसी अवस्था में प्राण त्याग करे। इसी तर्क को आगे बढ़ाते हुए श्री कृष्ण कहते हैं-

'भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।

(गीता २/३५)

(च) और इस प्रकार **(महारथाः)** महारथी लोग **(त्वाम्)** तुझे **(भयात्)** डर के कारण **(रणात्)** युद्ध से **(उपरतम्)** हटा हुआ **(मंस्यन्ते)** मान लेंगे। **(येषाम्)** जिन के बीच में **(त्वम्)** तुम **(बहुमतः)** बड़े **(भूत्वा)** हो उनमें **(लाघवम्)** तुच्छता-छोटेपन को **(यास्यसि)** प्राप्त हो जाओगे।

अर्थ : और इस प्रकार महारथी लोग तुझे डर के कारण युद्ध से हटा हुआ मान लेंगे। जिनके मध्य में तुम बड़े हो, उनमें तुच्छता-छोटेपन को प्राप्त हो जाओगे।

भावार्थ : यह भी विचित्र बात है कि कई स्थान पर वेद/गीता में उपदेश है

कि हम निन्दा, स्तुति, मान, अपमान वा शत्रुता-मित्रता इत्यादि में समान रहें (देखें गीता अ. १२ श्लोक १३, १५, १८ एवं १६) परन्तु इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज धनुष-धुरन्धर अर्जुन की निन्दा न हो और उसका मान बना रहे, इस प्रकार का उपदेश दे रहे हैं। इसी प्रकार वेदों में कहीं युद्ध की ललकार, दुष्टों का ताड़न तथा चोर, डाकू, उग्रवादी इत्यादि अशांति फैलाने वाले धर्म-विरोधियों को निर्दयी होकर दण्ड देने का विधान है, तो कहीं इसके विपरीत पूर्णतः हिंसा-त्याग, क्षमा एवं भाई-चारे का उपदेश है। अतः इससे निश्चित है कि धर्म (कर्त्तव्य) का उपदेश परिस्थिति अनुसार ग्रहण करने योग्य होता है। जहाँ क्षत्रिय राजा धर्मानुसार दुष्टों को दण्ड देकर एवं सज्जनों का मान करके सत्य धर्म का पालन करता है वहाँ ब्राह्मण स्वयं शस्त्र न उठाकर यज्ञ, तप, योगाभ्यास इत्यादि इन धार्मिक कर्मों द्वारा विश्व को विद्या दान करके अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष-प्राप्ति तक ले जाता है। इसलिए ही वेदों ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र इत्यादि वर्ण-परम्परा का उपदेश देकर यह सत्य समझाया है कि अपने-अपने कर्त्तव्यों का निर्धारण वेद द्वारा करके पुनः उन कर्त्तव्यों के पालन द्वारा जीव शुभ कर्मों को करता-करता ही सौ वर्षों से अधिक निरोग आयु प्राप्त करता हुआ भी कर्म में लिप्त न होकर मोक्ष प्राप्त करे **(यजुर्वेद मंत्र ४०/२)**। **महाभारत शान्तिपर्व १३/३२** में भीष्म शर्शय्या पर लेटे युधिष्ठिर को उपदेश दे रहे हैं-**"ब्राह्मणानां यथा धर्मो दानमध्ययनं तपः। क्षत्रियाणां तथा कृष्ण समरे देहपातनम्"** अर्थात् जैसे ब्राह्मणों का धर्म यज्ञ, तप, विद्या दान करना है उसी प्रकार क्षत्रियों का धर्म-युद्ध में देह त्याग है। परन्तु चारों वर्गों को वेदाध्ययन, यज्ञ इत्यादि अनिवार्य कहे हैं। तुलसीदास जी भी रामायण में वर्तमान का यही दुःख आलाप कर रहे हैं कि **"बरन् धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी"**। (उत्तरकाण्ड दो.६७चौ।) अर्थात् अब ब्राह्मणादि चारों वर्ण तथा ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास यह चारों आश्रम कोई नहीं निभा रहा एवं सब नर-नारी तथा कहीं-कहीं तो सन्त-साधु भी वेद-विरोधी हैं। सरेआम यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेदाध्ययन का स्वार्थ-वश विरोध कर रहे हैं कि इसकी आवश्यकता ही नहीं है।

यह संसार का बड़ा विचित्र आश्चर्य है कि रामायण एवं गीता में यज्ञ, वेद

एवं योगाभ्यास का विस्तृत वर्णन है। परन्तु प्रायः वर्तमान के अधिकतर संत-साधु वेदाध्ययन न करने के कारण एवं यज्ञ इत्यादि के महत्व को न जानने के कारण इसका खण्डन कर देते हैं। जहाँ तुलसीदास जी इस बात को ऐसे कह रहे हैं-**"द्विज श्रुति बेचक, भूप प्रजासन"** (उत्तराकाण्ड दो.६७चौ।) अर्थात् आज के द्विज (सन्तों, महात्माओं ने) वेद बेच दिए हैं। अर्थात् अब वह वेदों का अध्ययन नहीं करते। वहीं गुरुनानक देव साहिब कह रहे हैं-**"वेद ओंकार निरमाय"** अर्थात् वेद झूठ कदापि नहीं अपितु वेदों का अध्ययन करके जो वेद विचार नहीं करते वह झूठे हैं। वर्तमान-काल वेद-विरोधी परिस्थिति में इन महान सन्तों की वाणी का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। अतः इस श्लोक तथा पिछले श्लोक ३४ में भी कृष्ण महाराज वर्णो के अनुसार क्षत्रिय वर्ण का विशेष उपदेश अर्जुन को देते हुए कह रहे हैं- क्षत्रिय-धर्म तो धर्मयुद्ध करने की ही बात कहता है और यदि तू क्षत्रिय शिरोमणी धनुष धुरन्धर होकर भी युद्ध नहीं करेगा तो ऐसा अपयश, अकीर्ति तो तेरे लिए मरने से भी अधिक होगी। तथा तू योद्धाओं में तुच्छता को प्राप्त होगा। पुनः योद्धा तुझे यह नहीं कहेंगें कि तू अपने परिवार-सम्बन्धियों को न मारने के लिए युद्ध नहीं करना चाहता अपितु यह कहकर तेरी निन्दा करेंगे कि तू मौत के भय इत्यादि से डर कर युद्ध छोड़कर भाग गया है। ब्राह्मण यदि वेदाध्ययन, यज्ञ, तप आदि धार्मिक कर्म छोड़कर भाग गया तो उसे ऊपर न तो रामायण ब्राह्मण कह रही है और न गुरुग्रन्थ साहिब उसे सच्चा इन्सान कह रहा है। **मनुस्मृति श्लोक २/११ "नास्तिको वेदनिन्दकः"** वेद के निन्दक को पहले से ही नास्तिक कह रही है। इसी प्रकार यदि क्षत्रिय किसी भी कारण से धर्म-युद्ध न करे तो वेद, शास्त्र एवं विद्वान् उसकी निन्दा ही करेंगे। अतः क्षत्रिय को उस समय युद्ध करने से पीछे नहीं हटना चाहिए जिस समय युद्ध द्वारा ही धर्म स्थापना एवं कल्याण संभव हो।

श्रीकृष्ण उवाच --

"अवाच्यवादांश्च बहून्वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।"

(गीता २/३६)

(**च**) और (**तव**) तेरे (**सामर्थ्यम्**) सामर्थ्य की (**तव**) तेरे (**अहिताः**) हित न चाहने वाले शत्रु (**निन्दंतः**) निन्दा करते हुए (**बहून्**) बहुत प्रकार के (**अवाच्य**) अयोग्य (**वादान्**) वचनों को (**वदिष्यन्ति**) कहेंगे (**नु**) अवश्य ही (**ततः**) तब उससे (**दुःखतरम्**) अधिक दुःख (**किम्**) क्या है?

अर्थ : और तेरे सामर्थ्य की तेरे हित न चाहने वाले शत्रु निन्दा करते हुए बहुत प्रकार के अयोग्य वचन कहेंगे, अवश्य ही तब उससे अधिक दुःख क्या है?

भावार्थ : इस श्लोक में भी **'अहिताः'** तथा **'निन्दन्तः'** शब्द प्रयुक्त करके श्री कृष्ण अर्जुन की शूर-वीरता को ललकारते एवं उसे युद्ध करने के लिए प्रेरित करते हुए कह रहे हैं कि तेरा बुरा चाहने वाले कौरव इत्यादि युद्ध न करने पर तेरी जानबूझ कर खिल्ली उड़ाकर समाज में तुझे अपमानित करने का प्रत्यन करेंगे। और तेरे जैसे यौद्धा का ऐंसा अपमान करना तेरे लिए अत्याधिक दुःख का कारण बन जाएगा जो तू बाद में सहन नहीं कर पाएगा। ब्रह्मर्षि वेद आदि विद्या दान न करे, क्षत्रिय धर्मयुद्ध न करे, वैश्य एवं शूद्र अपने-अपने कर्त्तव्यों का बोध प्राप्त करके उसे न निभाएँ तब देश में दुःख, संताप, अन्याय एवं भ्रष्टाचार इत्यादि अधर्म युक्त वातावरण में संताप सहित जीने से बढ़कर भी दूसरा और कौन सा दुःख होगा। वस्तुतः वेदों में वर्णित ब्रह्मविद्या, वैश्य एवं शूद्र वर्ण का ठीक-ठाक पालन करने का विधान देश का राजा ही निर्माण करके इसे प्रजा के आचरण में लाता है, जिस कारण राष्ट्र महान होता है। **अथर्ववेद २/७/२** में कहा कि राजा यदि प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है तो प्रजा आनन्द युक्त होती है अन्यथा विपरीत में **यजुर्वेद मंत्र २३/२२** में कहा कि जिस देश का राजा राष्ट्र की रक्षा में असमर्थ है वहाँ प्रजा बाज के सामने छोटी सी निर्बल चिड़िया के समान हो जाती है। प्रजा इस प्रकार दिन-प्रतिदिन क्षीण होती जाती है। श्रीकृष्ण महाराज ने चारों वेदों का अध्ययन सुदामा सखा के साथ संदीपन ऋषि के आश्रम में किया था और योगाभ्यास द्वारा वह योगेश्वर कहलाए थे। ऐसे योगेश्वर श्री कृष्ण में महाभारत युद्ध के अवसर पर धर्मयुद्ध नीति से ओत-प्रोत इसी प्रकार के वेद मंत्रों का मर्मज्ञ ज्ञान हिंडोले ले रहा है जिसे

वह देववाणी अर्जुन को सुना कर धर्मयुद्ध करने की प्रेरणा दे रहे हैं। आज के राजनेताओं के लिए वेदों द्वारा प्रेरित भगवद्गीता में दिया ज्ञान यदि आचरण में नहीं है तो देश की प्रजा चोर, डाकू, लुटेरे तथा आततायियों के सम्मुख एक निर्बल सी चिड़िया बनी दुःख संतप्त होकर जीने पर मजबूर है। धर्मयुद्ध को श्रेष्ठ बताते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं-

'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।"

(गीता २/३७)

(हतः) मरकर **(वा)** या **(स्वर्गम्)** स्वर्ग को **(प्राप्स्यसि)** प्राप्त करेगा **(वा)** अथवा **(जित्वा)** विजयी होकर **(महीम्)** पृथिवी का **(भोक्ष्यसे)** राज्य भोगेगा **(तस्मात्)** अतः **(कौन्तेय)** हे कुन्ती पुत्र अर्जुन **(युद्धाय)** युद्ध के लिए **(कृतनिश्चयः)** निश्चय वाला होकर **(उत्तिष्ठ)** उठ खड़ा हो।

अर्थ : मरकर या स्वर्ग को प्राप्त करेगा अथवा विजयी होकर पृथिवी का राज्य भोगेगा, अतः हे कुन्ती पुत्र अर्जुन युद्ध के लिए निश्चय वाला होकर उठ खड़ा हो।

भावार्थ : वेद-नीति पर चलते हुए श्रीकृष्ण द्वारा कंस एवं मधु जैसे अनेक राक्षसों का वध, ऋषि विश्वामित्र की आज्ञानुसार श्रीराम द्वारा सुंद नामक असुर, उसकी पत्नी ताटका तथा उसके पुत्र मारीच तथा रावण का वध इस सत्य को दर्शाता है कि शांति स्थापना के लिए युद्ध अनिवार्य है। **सामवेद मंत्र १४०६** इतना स्पष्ट कहता है कि युद्ध में प्राण त्यागने वाला योद्धा मोक्ष सुख प्राप्त करता है। महाभारत के शांति पर्व में भीष्म पितामह स्पष्ट कर रहे हैं कि हे युधिष्ठिर! संधि करने योग्य पुरुषों से ही संधि करो, जो सन्धि योग्य नहीं हैं उनसे डटकर युद्ध करो। महाभारत ग्रन्थ के भीष्म पर्व में महाभारत युद्ध प्रारम्भ होने से पहले युद्ध क्षेत्र में खड़े भीष्म पितामह कह रहे हैं कि हे क्षत्रियों! यह युद्ध तुम्हारे लिए स्वर्ग का खुला द्वार है। श्लोक २/३७ महाभारत ग्रंथ के **'उद्योग पर्व'** में कहा-**'धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्'** अर्थात् धर्म के द्वारा ही राज्य प्राप्त करना चाहिए तथा धर्म द्वारा ही प्रजा का पालन करना चाहिए। धृतराष्ट्र ने अधर्म-पूर्वक युधिष्ठिर से राज्य छीना था।

अतः महाभारत का युद्ध धर्म-स्थापना के लिए वैदिक प्रमाण सहित भी अनिवार्य हो गया था। क्योंकि दुर्योधन ने श्रीकृष्ण अथवा पाण्डवों द्वारा रखी प्रत्येक सन्धि को ठुकरा दिया था। यही सब कुछ वैदिक ज्ञान से ओत प्रोत अर्जुन को धर्मयुद्ध की प्रेरणा देते हुए श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि युद्ध में क्षत्रिय परम्परा अनुसार तूने प्राण त्याग दिए तो इस प्रकार की मृत्यु को प्राप्त होकर तू स्वर्ग (मोक्ष) को प्राप्त करेगा और यदि युद्ध में जीत गया तो सम्पूर्ण पृथिवी के राज्य सुख का भोग करेगा। अतः धर्मयुद्ध करने से जीत अथवा हारकर दोनों में ही तूझे सुख प्राप्त है और युद्ध न करने से तो तू निन्दित होकर जीवित रहकर भी मृत्यु प्राप्त दुःख से भी बढ़कर दुःख प्राप्त करेगा। अतः धर्म पालन अमरता की ओर ले जाती है और अधर्म हमें जीते जी ही मार देता है। राजनेताओं को यह शिक्षा तथा प्रजा को अपने कर्त्तव्यों के लिए वेदाध्ययन एवं कर्त्तव्य-पालना की शिक्षा यहाँ गीता का यह श्लोक दे रहा है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/३** में मनुष्य की दो योनियाँ बताई हैं-असुर-योनि और देव योनि। **याज्ञवल्क्य ने शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ ३/७/३/१०** में कहा **'विद्वांसो हि देवाः'** अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ एवं ब्रह्मचर्य तथा सत्यभाषण करने वाले मनुष्य देव योनि में आते हैं। इसके विपरीत मिथ्या भाषण, विषय-विकार वाले मनुष्य जिनकी आत्मा में कुछ हो और मन में कुछ हो तथा वाणी में कुछ हो तथा आचरण में कुछ और ही हो वह असुर योनि में आते हैं। और देव तथा असुर संग्राम जिसमें रावण-राम, कृष्ण-कंस, पाण्डव-दुर्योधन जैसे युद्ध हैं, वह प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। अतः शांति एवं धर्म स्थापना के लिए देवासुर संग्राम अनिवार्य है जिसकी प्रेरणा यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को देते हुए कह रहे हैं कि उत्तिष्ठ अर्थात् उठ युद्ध कर।

श्रीकृष्ण उवाच --

"सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।"

(गीता २/३८)

(सुखदुःखे) सुख-दुःख **(लाभालाभौ)** लाभ-हानि **(जयाजयौ)** जय-पराजय को **(समे)** समान **(कृत्वा)** मानता हुआ **(ततः)** उसके पश्चात **(युद्धाय)** युद्ध

करने के लिए **(युज्यस्व)** जुड़ जा **(एवं)** इस प्रकार **(पापम्)** पाप को **(न)** नहीं **(अवाप्स्यसि)** प्राप्त होगा।

अर्थ : सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय को समान मानता हुआ उसके पश्चात युद्ध करने के लिए जुड़ जा इस प्रकार पाप को नहीं प्राप्त होगा।

भावार्थ : यजुर्वेद मंत्र ४०/२ में कहा है कि शुभ कर्म करने से सौ वर्ष से अधिक आयु प्राप्त करते हुए जीव कर्म बन्धन में लिप्त नहीं होता। अर्थात् वैदिक शुभ कर्म करने से कर्म बन्धन समाप्त हो जाता है। विपरीत में कर्म न करने से कर्त्तव्य पालन न करने से जीव वेद/शास्त्र के विरुद्ध चलकर पापी हो जाता है। अतः श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि यदि हे अर्जुन तू स्वर्ग अथवा राज्य सुख की इच्छा नहीं भी करता तो भी तू अपना क्षत्रिय धर्म न निभाने के कारण पापी हो जाएगा। **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** में कहा है कि जीव कामना करता है, कर्म करता है तथा ईश्वर जीव के लिए कर्मों का फल देता है। कर्म फल सदा से ईश्वर के हाथ है। अतः जीव वेद में कहे शुभ कर्म ही करे तथा फल की इच्छा न करे। क्योंकि कर्म-फल ईश्वर के हाथ है। कामना किए बिना मनुष्य आँख कभी नहीं झपक सकता, भोजन नहीं कर सकता। पाठशाला इत्यादि में पढ़-लिख नहीं सकता, वेद शास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता। अतः वेदानुसार कर्म अनिवार्य है। क्या आज का कोई भी सन्त बिना कामना-इच्छा के व्याख्यान करता है अथवा बिना इच्छा जनता से धन एकत्र करता है? जब अर्जुन की युद्ध करने की कामना नहीं रही और वह गाण्डीव धनुष छोड़कर रथ के पिछले भाग में बैठ गया, तभी यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को बारंबार क्षत्रिय धर्मानुसार युद्ध कर्म करने का वैदिक उपदेश दे रहे हैं। इस प्रकार का उपदेश वैदिक ज्ञान से ओतप्रोत है। कर्म ज्ञानयुक्त ही श्रेष्ठ होता है। लेकिन ईश्वर के स्वरूप, ज्ञान, गुण स्वभाव इत्यादि का ज्ञान हो, और ईश्वर उपासना न हो तब भी सब कुछ चौपट हो जाता है। चारों वर्णों को चारों वेदों ने ज्ञान, कर्म एवं उपासना के रहस्य को विद्वानों द्वारा समझ कर, सम्पूर्ण जीवन वेदोक्त शुभ कर्म करने की आज्ञा दी है। तभी श्री राम भी एवं श्रीकृष्ण भी यज्ञ, माता-पिता आदि की सेवा, प्रजापालन इत्यादि शुभ कर्म सम्पूर्ण आयु करते रहे। **यजुर्वेद मंत्र ४०/२** में भी यही भाव है कि जीव

वेदोक्त निष्काम कर्म करे। इस प्रकार श्रेष्ठ कर्म करने से पापकर्मों की ओर से बुद्धि हटने लगती है। अतः श्रीकृष्ण महाराज यहाँ वैदिक उपदेश दे रहे हैं कि हे अर्जुन! लाभ-हानि, जीत-हार एवं सुख-दुःख यह सब कर्मोनुसार ईश्वर द्वारा दिया कर्म फल है, अतः इसका विचार न कर। केवल क्षत्रिय धर्मानुसार अब फल की इच्छा त्याग कर के केवल धर्मयुद्ध कर। **इस दूसरे अध्याय के ग्यारहवें से तीसवें श्लोक तक श्रीकृष्ण महाराज ने केवल सांख्य के विषय में वैदिक ज्ञान दिया है।** सांख्य शब्द का यहाँ अर्थ विवेचक, विचारक, तर्क-कर्त्ता इत्यादि है। दूसरा ६ शास्त्रों में एक शास्त्र सांख्य-शास्त्र है जिसमें कपिल मुनि ने चेतन जीवात्मा एवं प्रकृति रचित समस्त सृष्टि एवं शरीर को अलग-अलग तत्त्व कहकर समझाया है। इसके पश्चात इक्तीसवें श्लोक से अठतीसवें श्लोक तक सांख्य विद्या पर आधारित ज्ञान देकर अर्जुन को क्षत्रिय-धर्म का पालन करते हुए युद्ध के लिए प्रेरित किया है। यहाँ श्रीकृष्ण जीवात्मा एवं प्रकृति रचित शरीर का विवेचन करते हुए तर्क सहित इस अनादि, वैदिक, सत्य को समझा रहे हैं कि जीवात्मा नित्य एवं अविनाशी तत्त्व है जो जन्म मरण से रहित है। हमारा वास्तविक स्वरूप जीवात्मा है। जिसका वर्णन सांख्य के ऋषि कपिल ने सांख्य-शास्त्र में किया है। कपिल मुनि की प्रशंसा स्वयं कृष्ण ने **'सिद्धानाम् अहम् कपिलः' (श्लोक १०/२६)** कहकर की है कि सिद्धों में मैं कपिल हूँ। इसलिए इन श्लोकों को सांख्य ज्ञान के श्लोक कहा है। दूसरा कि जीवात्मा को परमेश्वर द्वारा दिया हुआ प्रकृति रचित-पंचभौतिक शरीर और इसकी मन, बुद्धि आदि इन्द्रियाँ नाशवान हैं। जैसा कि **अथर्ववेद मंत्र ५/६/७ में** कहा है-

'अहम् अस्तृत नाम अस्मि'

अर्थात् मेरा विनाश नहीं होता। मैं अविनाशी तत्त्व हूँ और सूर्य, वायु अंतरिक्ष आदि जड़-पदार्थों से मेरे शरीर की रक्षा होती है अर्थात् मैं चेतन जीवात्मा अलग हूँ और शरीर मुझसे अलग है। ऐसे वेद-मंत्रों के अनेक प्रमाणों से जीवात्मा, परमात्मा एवं शरीर अपने-अपने गुणों के आधार पर अलग-अलग सिद्ध होता है। इस वैदिक सत्य को समझाकर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को कहा कि जब तू, भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य एवं तेरे अनेक, संबंधी अविनाशी जीवात्मा हैं, नाशवान शरीर नहीं हैं तो युद्ध से क्यों मुँह मोड़ता है? क्योंकि तेरे तीरों से

भेदते हुए उनके रक्त रंजित शरीर पहले ही नाशवान हैं, उन्हें तू कैसे मार सकता है? और दूसरा उन शरीरों में रहने वाली जीवात्माएँ तो हैं ही अविनाशी। अतः उनके मरने का प्रश्न ही नहीं। **गीता श्लोक २/४** में अर्जुन ने प्रश्न किया कि मारा तो आततायियों को ही जाता है परन्तु भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि तो पूजनीय हैं, उन्हें कैसे मारूँ? उसके उत्तर में **अथर्ववेद मंत्र ५/८/४,५** में कहा है **"इन्द्रस्य वचसा हत"** अर्थात् ईश्वर की आज्ञानुसार समाज के शत्रु को मार डालो। **'इव वृकः अविम्'** जैसे भेड़िया भेड़ को मार डालता है। फिर कहा-**'अमी यम्, ब्रह्माणम् अपभूतये'** अर्थात् यदि समाज किसी ज्ञानी को भी राष्ट्र विरोधी कार्य और राष्ट्र की हानि करता हुआ देखता है तो राजा **'तम मृत्यवे प्रत्यस्यामि'** उस ज्ञानी को भी मृत्युदण्ड दें। इस वैदिक आधार पर ही श्रीकृष्ण ने युद्ध करने के लिए अर्जुन को प्रेरित किया। और भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि ज्ञानियों पर भी शस्त्र-प्रहार की आज्ञा प्रदान की थी। आज गीता में वर्णित उस सत्य को नेता, राजपुरुष एवं प्रजा पूर्ण रूप से समझकर भ्रष्टाचार एवं भ्रष्टाचारी को समाप्त करने का संकल्प लेकर सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण कर सकते हैं। अन्यथा केवल गीता पढ़-सुन कर तो स्वयं **श्लोक २/२६** में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि इस वैदिक आत्मिक रहस्य को तो सुन कर भी नहीं जाना जा सकता। अतः विद्या आचरण में लाने के लिए वैदिक विद्वानों के उपदेश द्वारा वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि की अत्यंत आवश्यकता है। केवल पाठ सुन-रट कर कथा कहानी इत्यादि द्वारा मिर्च-मसाले लगा कर बोला हुआ भाषण **केनोपनिषद् श्लोक ४/८** में ईश्वर और ब्रह्म विद्या का अनादर कहा है। साधनाहीन प्रवृत्ति ने ही तो जड़ और चेतन का अंतर शून्य कर दिया है। यही अविवेक है। भाव यह है कि जैसे श्रीकृष्ण महाराज ने वेदाध्ययन द्वारा शुभ एवं अशुभ कर्मों के स्वरूप को प्रथम जान लिया था, फलस्वरूप ही अर्जुन को सुख-दुःख, लाभ-हानि, जय-पराजय, राज्य आदि प्राप्त करने की इच्छा तक को त्यागकर अधर्म का साथ देने वाले भीष्म एवं द्रोण आदि महान, पवित्र एवं ज्ञानियों को भी मार गिराने का आदेश दे दिया था। आज हम लगभग प्रत्येक विभाग में भाई-भतीजावाद, जातिवाद, अपने-परायों में अन्तर जानना, प्रायः नेताओं एवं गुरुओं द्वारा अधर्मयुक्त आचरण एवं अधर्मियों की रक्षा करने जैसे समाचार, समाचार-पत्रों एवं टी.

वी. (दूरदर्शन) आदि के माध्यम से पढ़ते-सुनते रहते हैं। कहाँ ज्ञान प्राप्त अर्जुन अधर्म का साथ देने वाले ज्ञानी पितामह आदि को युद्ध में धराशायी कर रहा है और कहाँ गीता, रामायण आदि का ज्ञान देने वाले प्रायः गुरुजन एवं सुनने वाले नेता आदि ऊपरलिखित अधर्मयुक्त वातावरण निर्माण कर रहे हैं। प्रायः गुरुओं के पास भी अमीरों की विशेष देखभाल होती है और गरीबों को तो प्रायः दूर-दूर ही रखा जाता है। अमीरों को विशेष प्रसाद प्राप्त है और गरीबों को साधारण प्रसाद भी दुर्लभ है। जबकि प्रस्तुत श्लोक भी प्रत्येक दशा में समान व्यवहार करने की प्रेरणा देता है।

श्रीकृष्ण उवाच --

"एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।"

(गीता २/३९)

(पार्थ) हे पृथा पुत्र अर्जुन **(ते)** तेरे लिए **(एषा)** यह सब अत तक **(सांख्ये)** सांख्य विषय के आधार पर **(बुद्धिः)** ज्ञान **(अभिहिता)** कहा गया **(तु)** और **(इमाम्)** इसी को अब **(योगे)** कर्म योग के विषय में **(शृणु)** सुन **(यया)** जिसके द्वारा **(बुद्धया)** बुद्धि से **(युक्तः)** युक्त होकर तू **(कर्मबन्धम्)** कर्मबन्धन को **(प्रहास्यसि)** नाश कर देगा।

अर्थ : हे पृथा पुत्र अर्जुन तेरे लिए यह सब अब तक सांख्य विषय के आधार पर ज्ञान कहा गया और इसी को अब कर्म योग के विषय में सुन, जिसके द्वारा बुद्धि से युक्त होकर तू कर्मबन्धन को नाश कर देगा।

भावार्थ : प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज अत्यंत अद्भुत एवं ज्ञानयुक्त बात कह रहे हैं कि हे अर्जुन! अब तक तेरे लिए सांख्य विषय के आधार पर ज्ञान दिया गया था अब इसी ज्ञान को कर्मयोग के विषय में सुन। स्पष्ट है कि ज्ञान धर्मयुद्ध करने के लिए दिया गया था। सांख्य विषय के आधार पर आत्मा को अजर, अमर, अविनाशी बताया और शरीर को नाशवान। ऐसा कहकर समझाया कि न कोई किसी को मारता है और न कोई मरता है इत्यादि और उस सांख्य विषय में भी यह सब समझाकर कह दिया

कि हे अर्जुन! युद्ध के लिए उठ खड़ा हो, कर्महीन अथवा नपुंसक मत बन। अतः हमारे देश में नर-नारी, नेतागण अथवा गुरुजन आत्मा के स्वरूप को सुनकर भी नहीं समझते और कर्महीन होकर, बैठकर जनता का धन लूटकर, बंगलों, बड़ी-बड़ी गाड़ियों और जहाज़ आदि की सैर करके आनन्द लेते फिरते हैं तो वह कितने पापी होंगे और वर्तमान तथा भविष्य में कितना दुःख उठाएँगे, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। श्लोक २/३८ तक श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को सांख्य दृष्टि के अनुसार ज्ञान दिया है। सांख्य शब्द का अर्थ विवेचन, विचारक अथवा तर्क कर्त्ता है। विवेक समझ को कहते हैं। जिसे गेहूँ में मिली हुई मिट्टी की समझ है वह गेहूँ से मिट्टी को अलग करके गेहूँ का आटा पिसवाकर फुलका बनाता है। इसी प्रकार सोने की धातु में यदि पीतल इत्यादि मिला हो इसका विवेक (समझ) सुनार को होता है, अन्य को नहीं। अतः असत्य, न्याय-अन्याय, ज्ञान-अज्ञान एवं जड़-चेतन का विवेचन करके उसे अलग-अलग करके जान लेने का नाम ही विवेक है। सांख्य शास्त्र के ऋषि कपिल ने भी जीवात्मा एवं जड़-प्रकृति का विवेचन करके दोनों तत्त्वों को गुणों के आधार पर अलग-अलग समझा कर अति उत्तम विवेक अपने शास्त्र में प्रस्तुत किया है। जैसे **सांख्य सूत्र १/५** में कहा कि वेदानुसार जीवात्मा मनुष्य योनि पाकर दुःखों का नाश करके मोक्ष सुख प्राप्त करे, यही इसका मुख्य लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के विषय में **सूत्र १/२** में कहा कि धनादि सांसारिक उपायों से दुःखों का नाश नहीं होता। धन, परिवार, घर, मकान इत्यादि से क्षणिक सुख तो मिलेगा परंतु कर्मानुसार दुःखों का नाश न होने के कारण मोक्ष का सुख नहीं मिलेगा। बिल्कुल वैसे जैसे कि प्रातः काल भोजन करने से भूख शान्त हो गई, परन्तु हमेशा के लिए शान्त नहीं हुई है, सायंकाल पुनः जीव भूख से व्याकुल होता है। जीवात्मा एवं प्रकृति रचित जड़ शरीर का ज्ञान श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अभी तक यह कहकर समझाया है कि जीवात्मा अजर-अमर, अविनाशी है जो हमारा वास्तविक स्वरूप है और इस जीवात्मा को कुछ समय के लिए धार्मिक कर्म करने के लिए मानव शरीर दिया गया है। शरीर नाशवान है। परंतु अविनाशी जीवात्मा शरीर के नाश होने पर कर्मानुसार दूसरा शरीर धारण कर लेती है। तीसरी बात **श्लोक २/१७** में अविनाशी परमेश्वर की कही जिसने यह सम्पूर्ण सृष्टि बनाई और हम

जीवात्माओं को शरीर प्रदान किए हैं। यही सब कुछ सांख्य अर्थात् विवेक ज्ञान देकर अर्जुन को युद्ध करने के लिए प्रेरित किया है। गहन विचारणीय विषय यह है कि रणभूमि में अभी अर्जुन को युद्ध का जोश दिलाने के स्थान पर श्रीकृष्ण अर्जुन को जीवात्मा, परमात्मा एवं प्रकृति रचित नाशवान शरीर के विषय में समझा रहे हैं। अतः भगवद्गीता का यह अकाट्य ज्ञान मानव द्वारा गंभीर मनन करके आचरण में लाने योग्य है कि युद्ध को अथवा संसार की कोई भी जटिल समस्या हो उन सब को सुलझाने के लिए हमें प्रकृति एवं प्रकृति रचित शरीर, परमात्मा तथा जीवात्मा के रहस्य को जानना आवश्यक है। क्योंकि इस प्रकार ज्ञान प्राप्त मानव सदा अधार्मिक कामों से बचा रहेगा। फलस्वरूप धर्मयुद्ध ही लड़े जायेंगे अहंकार रूपी मानवता के नाश होने वाले युद्ध समाप्त हो जायेंगे।

इस ज्ञान को पाकर ही तो अर्जुन धर्म एवं अधर्म में अंतर समझा था एवं पश्चात धर्म स्थापना के लिए युद्ध किया था। आज मानव के समक्ष जटिल समस्या यह है कि वह भौतिक उन्नति में तो अग्रसर हो रहा है तथा अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र एवं भौतिक सुविधाओं का खजाना भरे जा रहा है। परंतु आध्यात्मिकवाद से शून्य होकर इस भौतिक चकाचौंध में आत्मिक शांति से दूर होता जा रहा है। जहाँ अर्जुन युद्ध के परिणाम को सोचकर तथा घबराकर धर्मयुद्ध करने से इंकार कर बैठा था, वहीं श्रीकृष्ण के जीवात्मा, प्रकृति एवं शरीर के ज्ञान-रहस्य को जानकर धर्मयुद्ध के लिए उठ खड़ा हो गया एवं युद्ध के पश्चात भी उन्हीं संबंधियों की मृत्यु का शोक उसे व्याकुल ना कर सका था। परंतु युधिष्ठिर ने महाभारत युद्ध के पश्चात अपने वंश, मित्र एवं सगे संबंधियों सहित दोनों सेनाओं के संहार को देखकर के राज्यसुख न भोगकर विपरीत में संन्यास ग्रहण करने की प्रबल इच्छा प्रकट कर दी थी। महाभारत के शांतिपर्व में व्यास मुनि स्पष्ट कहते हैं-शोकाकुल युधिष्ठिर श्रीकृष्ण, माता कुंती, अपने भ्राताओं और यहाँ तक कि भीष्म पितामह के समझाने पर भी संन्यास की इच्छा का त्याग नहीं कर सके थे। केवल अंत में व्यास मुनि के समझाने पर ही शांति यज्ञ करके अपनी संन्यास की इच्छा का त्याग किया था। इस भ्रांति का कारण केवल यही था कि उस समय युधिष्ठिर

ने महाभारत युद्ध से पहले गीता का ज्ञान नहीं सुना था। अतः प्रत्येक कार्य की कुशलता, सत्यता अथवा विवेक इस बात पर आधारित है कि मनुष्य शरीर में आकर जीव धर्म-परायण होकर वैदिक-विद्या का आलंबन करके जीवात्मा, परमात्मा एवं प्रकृति के रहस्य को पूर्णतः विद्वान् आचार्य से समझकर पुनः शुभ कर्म प्रारंभ करे। तब कभी भी अधर्म, पश्चाताप एवं शोक-मोह इत्यादि को प्राप्त नहीं होना पड़ेगा। भारतवर्ष में उग्रवाद, भ्रष्टाचार, जातिवाद, भुखमरी, गरीबी, नारीत्व पर कुठाराघात, शोषण आदि अनेक समस्याओं के उत्पन्न होने का कारण केवल वैदिक ज्ञान का राजनेताओं, वर्तमान के अधिकतर गुरुजन एवं प्रजाओं में शून्यता का आ जाना ही है। इस श्लोक के आगे श्री कृष्ण सांख्य (विवेक) ज्ञान समाप्त करके कर्म ज्ञान का उपदेश करते हैं। अर्जुन ऐसे क्षत्रिय परिवार में उत्पन्न हुआ था जहाँ उनके कुल में सत्युग से ही अनादि, ईश्वरीय वेदविद्या का ज्ञान विद्यमान था। ऐसी स्थिति में भी जब उसने बाल्य अवस्था से ही वेद विद्या सुनी, यज्ञ जैसे शुभ कर्म किए, ऋषियों की सेवा की, फिर भी धर्मयुद्ध जैसे शुभ कर्म को वह नहीं समझ सका और शस्त्र त्याग बैठा था। विवश होकर श्रीकृष्ण महाराज ने ही वेदानुसार उसे ज्ञान दिया था। अब यह विचार करना है कि **अथर्ववेद मन्त्र १६/४१/१** के अनुसार ऋषियों का तप जिसमें वेदाध्ययन, यज्ञ, ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास आदि विशेष हैं, ऐसे तप को करने का कारण ऋषियों और राजाओं द्वारा धर्म, न्याय इत्यादि गुणों पर आधारित एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना है। परन्तु यदि आज गुरुजनों और नेताओं में वेदविद्या ही नहीं रहेगी तब **यजुर्वेद मन्त्र २३/२२,२३** के अनुसार प्रजा असहाय, असुरक्षित, एक निर्बल चिड़िया के समान दुःखी रहकर जीने पर बाध्य हो जाएगी, जिस चिड़िया के आगे एक शक्तिशाली बाज़ आन खड़ा है। आज का बाज़ जो जनता के सामने आन खड़ा हुआ है वह स्वार्थी, भ्रष्ट नेता एवं गुरुजन हैं।

श्रीकृष्ण उवाच --

"नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।

(गीता २/४०)

(इह) इस कर्म योग में **(अभिक्रमनाशः)** प्रारम्भ किए कर्म का नाश **(न)** नहीं **(अस्ति)** होता **(प्रत्यवायः)** विपरीत कर्म फल दोष भी **(न)** नहीं **(विद्यते)** विद्यमान होता है **(अस्य)** इस कर्म योग रूपी **(धर्मस्य)** धर्म का **(स्वल्पम्)** तनिक सा **(अपि)** भी आचरण **(महतः)** महान् **(भयात्)** भय से **(त्रायते)** रक्षा करता है-तार देता है।

अर्थ : इस कर्म योग में प्रारम्भ किए कर्म का नाश नहीं होता । विपरीत कर्म फल दोष भी नहीं विद्यमान होता है। इस कर्म योग रूपी धर्म का तनिक सा भी आचरण महान भय से रक्षा करता है-तार देता है।

भावार्थ : भारतीय संस्कृति में ६ शास्त्र प्रसिद्ध हैं-(१) योग-शास्त्र रचयिता ऋषि पताञ्जलि (२) सांख्य-शास्त्र रचयिता कपिल मुनि (३) वेदान्त-शास्त्र रचयिता व्यास मुनि (४) न्याय-शास्त्र रचयिता गौतम ऋषि (५) मिमांसा-शास्त्र रचयिता जैमिनी ऋषि (६) वैशेषिक-शास्त्र रचयिता कणाद् ऋषि।

गीता श्लोक २/३९ में सांख्य योग एवं कर्म योग की बात कही गई है। विद्वानों का मत है कि भगवद्गीता के सम्पूर्ण होने के पश्चात भी यह शास्त्र निर्माण अवस्था में ही थे। अतः भगवद्गीता में कहे शास्त्रों के अनुसार भी सांख्य शब्द का अर्थ विवेचक अथवा विचारक है अर्थात् स्वाध्याय, साधना एवं तर्क वितर्क आदि के पश्चात विवेक (ज्ञान) सम्पन्न हो कर शुभ वैदिक कर्म का आचरण करना। अभी तक श्री कृष्ण ने जीवात्मा एवं परमात्मा की अमरता एवं प्रकृति रचित संसार एवं मानव शरीर के सर्वदा नष्ट होने का विवेक अर्जुन को देकर यह समझाया है कि युद्ध में पितामह आदि के शरीरों का ही नाश होगा। स्वयं उनका (जीवात्माओं) नाश कदापि नहीं हो सकता, जीवात्मा शरीर छूटने पर दूसरा शरीर धारण करती है। अथवा मोक्ष प्राप्त कर लेती है। अतः तू युद्ध कर। यह सांख्य विचार है। अर्थात् जीवात्मा की अमरता के ज्ञान को प्राप्त करके शोक एवं भय रहित होकर तथा विवेक प्राप्त करके धर्मयुद्ध करने का आह्वान है। दूसरा शब्द कर्मयोग है जिसका अर्थ योगशास्त्र में कही अष्टांग योग साधना नहीं है। यहाँ कर्मयोग का अर्थ कर्म-मार्ग अर्थात् वैदिक शुभ कर्मों को आचरण में लाने का मार्ग है। क्षत्रिय के लिए धर्म-युद्ध से बढ़कर और कोई श्रेष्ठ कर्म नहीं कहा गया है। जिसे युद्ध के प्रारम्भ में

भीष्म पितामह ने क्षत्रियों के लिए स्वर्ग का खुला द्वार बताया है। स्वर्ग का अर्थ मोक्ष है अथवा मृत्यु के पश्चात सुख सम्पन्न उच्च कुल में जन्म लेना है। अतः यहाँ से श्रीकृष्ण कर्म योग अर्थात् कर्म को आचरण में लाने के मार्ग का ज्ञान दे रहे हैं। इस श्लोक में **'अभिक्रमनाशः'** का भाव है कि कर्म-मार्ग में जब जीव वेदानुसार निष्काम कर्म करता है तब ऐसे कर्म के प्रारंभ से ही वह पुण्य फल प्राप्त करता है और यदि बीच में ही वह कर्म छूट जाए तब भी शेष कर्म पूर्ण न करने का दोष भी नहीं आता। जैसे किसी ने कुआँ खोदना शुरू किया लेकिन चार-पाँच फीट खोद कर छोड़ दिया, तब उसका किया परिश्रम एवं खर्च किया धन व्यर्थ/बेकार हो गया। अथवा किसान ने भूमि में बीज डाल कर उसके पश्चात पानी की व्यवस्था, आस-पास घास उगने पर उसे उखाड़ने की व्यवस्था अथवा अन्य देखभाल नहीं की तब वह भूमि में डाले गए बीज व्यर्थ हो गए। परंतु जप, तप, स्वाध्याय, माता-पिता की सेवा, परोपकार, धर्म धारण करना क्षत्रियों द्वारा धर्म युद्ध, सत्य धर्म पर चलना इत्यादि अनेक ऐसे वैदिक शुभ कार्य हैं, जिनके प्रारम्भ करने के संकल्प एवं कर्म प्रारम्भ करने मात्र से ही पुण्य फल तुरन्त उसी क्षण से प्राप्त होने लगते हैं। एवं बीच में छोड़ देने पर भी कोई दोष नहीं आता। अपितु शुभ कर्मों का संस्कार चित्त पर हमेशा के लिए बन जाता है। जो बाद में सुखकारी होता है। अतः यह आश्चर्यचकित वैदिक शुभ कर्म सदा हमारा साथ देते हैं जिन्हें यहाँ **'अभिक्रम-नाशः'** के नाम से कहा है। जैसे अर्जुन ने क्षत्रिय धर्म निभाते हुए युद्ध जीता तथा संपूर्ण युद्ध कर्म समाप्ति पर पुण्य प्राप्त किया। पुण्य भीष्म पितामह इत्यादि ने युद्ध हारकर भी प्राप्त किया एवं अभिमन्यु ने युद्ध के बीच ही प्राण त्याग दिए थे। उसने युद्ध प्रारम्भ तो किया परंतु युद्ध पूर्ण नहीं लड़ा एवं बीच में ही मृत्यु को प्राप्त करके भी पूर्ण पुण्य प्राप्त किया। अतः परम्परागत वैदिक विद्या का अध्ययन एवं तदानुसार शुभ कर्म करने पर कर्म के बीच में ही समाप्त होने पर भी किये कर्मफल का कदापि नाश नहीं होता। दूसरा **'प्रत्यवायः'** का अर्थ है उल्टा (विपरीत) कर्मफल। जब कर्म के प्रारम्भ से ही उस कर्म के फल की इच्छा निश्चित कर ली जाए तो यदि कर्म के पूर्ण होने से पहले विघ्न होने से कर्म छूट जाएँ और फल प्राप्त न हो तो क्रोध, शोक इत्यादि उत्पन्न होगा। जैसा कि दुर्योधन युद्ध हार कर क्रोधित हुआ

और पाण्डवों के ललकारने पर क्रोधित होकर अपने छिपे हुए स्थान से बाहर आया तथा मारा गया। पुनः दुर्योधन के साथी अश्वत्थामा ने युद्ध के पश्चात क्रोध में आकर सोए हुए पाँचों पाण्डवों के पुत्रों को मार दिया था। ऐसी दशा में इन्हे **'प्रत्यवायः'** अर्थात् विपरीत कर्म फल प्राप्त हुआ। क्योंकि क्षत्रिय-धर्म में तो युद्ध करके एवं मृत्यु प्राप्त होकर भी पुण्य प्राप्त होता है, यदि वह युद्ध धर्मयुक्त हो एवं निष्काम हो। यदि दुर्योधन एवं अश्वत्थामा इत्यादि निष्काम रूप से युद्ध लड़े हुए होते तो उन्हें युद्ध लड़ने का विपरीत कर्मफल अर्थात् पाप नहीं लगता। आगे श्लोक में कहा कि ऐसे कर्मयोग रूपी धर्म का थोड़ा सा भी किया कर्त्तव्य महान से महान भय से अर्थात् जन्म-मृत्यु के चक्कर तक से पार कर देता है।

जैसा कि अभिमन्यु के विषय में ऊपर कहा गया है। क्षत्रिय वंश में अर्जुन पुत्र अभिमन्यु ने माता के गर्भ में युद्ध में रचा चक्रव्यूह तोड़ने का रहस्य जान लिया था। परंतु उस व्यूह से निकलने के रहस्य को नहीं जानता था। महाभारत युद्ध में आचार्य द्रोण द्वारा रचा वह चक्रव्यूह केवल अर्जुन द्वारा ही तोड़ा जा सकता था परंतु उस समय अर्जुन कहीं और युद्ध कर रहा था। समय की कमी देखकर बालक अभिमन्यु प्रसन्नतापूर्वक चक्रव्यूह में घुस गया परंतु दुर्योधन की चालाकी से अंदर मार गिराया गया। अभिमन्यु के तनिक से प्रयत्न को **'अभि-क्रमनाशः'** की संज्ञा कही जाएगी। जिस कारण उसे परम धाम प्राप्त हुआ। अर्थात् कर्म योग रूपी धर्म में अभिमन्यु का तनिक सा ही पुरुषार्थ उसके लिए मोक्ष क़ा कारण बन गया और आज तक उसका नाम अमर है। भगवद्गीता के यह श्लोक वैदिक परम्परा की देन हैं। जैसे कि **सामवेद मंत्र १४०६** में कहा कि युद्ध भूमि में प्राण त्याग करने वाला योद्धा पापों से छूट कर पवित्र हो जाता है।

आज देश का दुर्भाग्य है कि भगवद्गीता के श्लोकों का वेदानुकूल अर्थ, ज्ञान सुलभ न होने के कारण प्रायः गीता श्लोक के अप्रमाणिक अर्थ सुनाकर अन्धविश्वास और धन बटोरने का व्यवसाय चला सकते हैं। यह देश पर कलंक ही होगा। क्योंकि भगवद्गीता वा महाभारत ग्रन्थ के अनुसार तो कुरुक्षेत्र की रणभूमि योद्धाओं के रक्त से अत्यन्त परिपूर्ण हो गई थी। माताएँ,

बहनें, विधवा एवं पति, पुत्र, भ्राताओं से विहीन हो गई थीं और विपरीत में इसी ग्रंथ के माध्यम से बड़े-बड़े पण्डाल सजाकर हँसी मजाक करते हुए चुटकुले सुनाकर नाच-गा-बजाकर इस महान उपदेश के माध्यम से अर्थ का अनर्थ करके पैसे कमाए जा रहे हैं। भारतवासियों को इन श्लोकों के अनुसार खेती, सेना, व्यवसाय, उत्पादन, विद्यार्थी-वर्ग, गृहस्थी इत्यादि हर क्षेत्र में निष्काम शुभ कर्म करने की प्रेरणा लेकर, सुदृढ़ राष्ट्र निर्माण का संकल्प लेकर ही महाभारत युद्ध के योद्धाओं को सच्ची श्रद्धाजंलि अर्पित करनी होगी। गीता सुनने से पहले इस कटु सत्य को हमें समझना होगा कि चारों वेदों के ज्ञाता व्यास मुनि जी हैं जिन्होंने गीता ग्रन्थ लिखा है। इस प्रकार गीता ग्रन्थ वेदानुकूल है। अतः गीता का सत्य अर्थ/भाव वेद का ज्ञाता ही समझा सकने में समर्थ है। अब यदि हम गीता प्रवचन वेद-विद्या न जानने वालों से सुनते हैं तो यह अर्थ का अनर्थ ही होगा और फलस्वरूप देश में मिथ्यावाद बढ़ेगा।

श्रीकृष्ण उवाच --

"व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।"

(गीता २/४१)

(कुरुनन्दन) हे कुरुवंशी अर्जुन **(इह)** यहाँ अर्थात् इस निष्काम कर्म योग में **(व्यवसायात्मिका)** निश्चयात्मक **(बुद्धिः)** बुद्धि **(हि)** निश्चय से **(एका)** एक ही है। **(च)** और **(अव्यवसायिनाम्)** निश्चयात्मक बुद्धि रहित पुरुषों की **(बुद्धयः)** बुद्धियाँ **(अनन्ताः)** अनन्त-असंख्य **(बहुशाखाः)** बहुत भेदों वाली होती है।

अर्थ : हे कुरुवंशी अर्जुन यहाँ अर्थात् इस निष्काम कर्म योग में निश्चयात्मक बुद्धि निश्चय से एक ही है। और निश्चयात्मक बुद्धि रहित पुरुषों की बुद्धियाँ अनन्त (असंख्य) भेदों वाली होती हैं।

भावार्थ : निश्चयात्मक बुद्धि एक ही होती है। संसार में एक ही सत्य है, वह ईश्वर है। उस ईश्वर का स्वरूप वेदों में वर्णित है। मनुष्यों के लिए (गीता- ३/१५) कर्त्तव्य-कर्म का वर्णन भी चारों वेदों में ही कहा गया है। वेद

ईश्वर द्वारा दिया ज्ञान है। ईश्वर एक है, वेदों का ज्ञान भी एक है। अतः अत्याधिक परिश्रम करके, जिसमें कठोर वैदिक स्वाध्याय, वेदों में कहे शुभ कर्मों का आचरण तथा योगाभ्यास आदि करने के पश्चात जब जीव की बुद्धि एक निश्चय पर अडिग हो जाती है कि सम्पूर्ण विश्व का एक ही अनन्त गुणयुक्त निराकार, एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर है और वह जन्म-मरण से रहित सर्वव्यापक होकर सम्पूर्ण संसार को नियंत्रण में रखने वाला है। और इसी एक ईश्वर की भक्ति वेदवाणियों में कहे शुभ कर्मों को करने से अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि होती है। तब ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि को यहाँ व्यवसायात्मिक बुद्धि कहा है और वह एकाग्र होने के कारण एक ही प्रकार की होती है। ऐसी बुद्धि में परमेश्वर भक्ति अथवा कर्म आदि के विषय में केवल एक वैदिक विचार होते हैं। परमेश्वर आदि के विषय में भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार नहीं होते हैं। जैसे वेद ने कहा **"एको ब्रह्म"** अर्थात् सारे संसार का तथा सब प्राणियों का केवल एक ही ईश्वर है, उसके समान कोई दूसरा ईश्वर नहीं है। तो वैदिक ज्ञान में यहाँ केवल एक ईश्वर की बात कही है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/२१** में कहा कि जिस परमात्मा में सब लोक-लोकान्तर लय हो जाते हैं अर्थात् जो परमात्मा तीनों लोकों को रचकर **'विश्वस्य भुवनस्य गोपाः आ, विवेश'** इन लोकों में समा जाता है, उस परमात्मा को जानकर ही मोक्ष प्राप्त होता है। अन्य किसी तरह से भी मोक्ष को प्राप्त नहीं हो सकते। और अगले ही मंत्र २२ में कहा कि अनादि-अनन्त काल से सृष्टि की उत्पत्ति, पालन एवं प्रलय होती आई है जिसमें जीवात्मा शरीर धारण करती है और पुनः कर्मानुसार शरीर नष्ट होते रहते हैं। अतः जो जीव ईश्वर के गुण, कर्म एवं स्वभाव को वेदानुकूल समझकर शुभ कर्मों का आचरण करते हैं, वह आनन्द भोगते हैं। यही एक मार्ग है। इसके विपरीत चलने वाले सदा दुःख भोगते हैं, इन विचारों से ओत-प्रोत बुद्धि को ही यहाँ व्यवसायात्मिक बुद्धि कहा है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/३९** कहता है **'यस्मिन् ऋचः अक्षरे परमे व्योमन् विश्वे देवाः अधि निषेदुः'** अर्थात् जिस ऋग्वेदादि मंत्रों में वर्णित ईश्वर में आकाश, पृथिवी, सूर्य आदि समस्त लोक स्थित हैं **'यः तत् न वेद'** जो उस परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जानता तब **'ऋचा किम् करिष्यति'** अर्थात् तब चारों वेदों का ज्ञान भी मनुष्य का क्या भला करेंगा? यह अत्यन्त गूढ़-गहन एवं मार्मिक

विचार है कि वेदों में यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि अनेक शुभ कर्मों का वर्णन है। जिसको आचरण में लाने पर ईश्वर एवं शुभ कर्त्तव्यों-कर्मों का ज्ञान होता है। अब यदि हम वेदाध्ययन द्वारा योगाभ्यास एवं शुभ कर्त्तव्यों को न करें तो वेद हमारा क्या भला करेगें? यह बात स्वयं वेद कह रहे हैं। तब गीता रामायण इत्यादि का केवल पाठ एवं कथा कीर्तन हमारा क्या भला कर सकते हैं। जबकि हमारी बुद्धि सनातन शाश्वत वैदिक अध्ययन के अनुसार यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि करके एक ईश्वर पर केन्द्रित नहीं हुई, निश्चयात्मक नहीं हुई एवं ईश्वर को नहीं जान पाए। तब तो गृहस्थ के सारे कर्म, नेतागिरी इत्यादि सब मोह-माया का पिटारा बनकर हमारे अगले जन्म को नष्ट करने का व्यवसाय मात्र ही रह जाएँगें। भाव यह है कि ईश्वर एक है और यदि हमारी बुद्धि केवल उस एक ईश्वर को नहीं जानती जिसका वर्णन चारों वेदों में है और विपरीत में अनेक प्रकार के वेद-विरुद्ध कर्म काण्डों का चिन्तन करने वाली बुद्धि के द्वारा हम अनेक प्रकार की पूजा इत्यादि करते हैं तब ऐसी बुद्धि निश्चयात्मक-व्यवसायात्मिक बुद्धि नहीं होगी और हमारा कर्म निष्फल होगा। ऋग्वेद में कहा कि जो कर्म करते हैं परंतु ईश्वर की उपासना एवं स्तुति नहीं करते वह ज्ञानवान नहीं होते। अर्जुन क्षत्रिय धर्म के अनुसार केवल युद्ध-विद्या में प्रवीण था परंतु कहाँ, कब और कैसे धर्म युद्ध किया जाए उसका उसे ज्ञान नहीं था, जिसका ज्ञान श्री कृष्ण महाराज जी यहाँ गीता ग्रन्थ में उसे दे रहे हैं। उस समय केवल वेद-विद्या ही थी, आज के उदय हुए कर्म-धर्म, धार्मिक पुस्तकें नहीं थीं। श्रीकृष्ण अर्जुन को वेदानुसार बुद्धि को एकाग्र करने का उपदेश दे रहे हैं, जैसे ब्राह्मण की बुद्धि यज्ञ, वेदाध्ययन, योगाभ्यास इत्यादि तप पर एकाग्र होकर मोक्ष प्राप्त करती है। परंतु कर्त्तव्य कर्म का उपदेश प्राप्त करना और उसके लिये निश्चात्मक बुद्धि होना प्रथम अनिवार्य है। अर्जुन की विचलित बुद्धि को यहाँ एकाग्र करने के लिए भगवान श्रीकृष्ण वैदिक उपदेश दे रहे हैं। चारों वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना का उपदेश है। संसार में जिसकी बुद्धि इस सत्य विद्या पर एकाग्र होकर अपने-अपने कर्त्तव्य का पालन करती है वही व्यवसायात्मिक बुद्धि है क्योंकि उसकी बुद्धि का चिन्तन-मनन केवल वेदानुसार ज्ञान, कर्म एवं उपासना पर ही आधारित रहता है-अनेक प्रकार के कर्म-काण्डों के पचड़े में नहीं पड़ता। अतः आज भी

हमें थोथे कर्म काण्ड एवं अन्धविश्वास पर आधारित पूजा पाठ को त्याग कर वैदिक विद्या पर केन्द्रित होकर निश्चयात्मक बुद्धि द्वारा संसार-सागर से तरना होगा। इसके विपरीत अव्यवसायात्मिक अर्थात् अनिश्चयात्मक पुरुषों की बहुत शाखा वाली बुद्धि भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। वह भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्म काण्डों में उलझी रहती है और मोक्ष मार्ग से भटक जाती है। व्यवसाय का अर्थ किसी कर्म के लिए प्रयत्न करना है। सनातन वैदिक कर्म निश्चित करके उस कर्म पर ही सब शक्ति केन्द्रित करना एक व्यवसायात्मिक बुद्धि का ही कार्य है। यदि बुद्धि सनातन धर्म एवं कर्म के उपदेश से विहीन, एकाग्र नहीं है, तब उसका प्रयत्न निष्फल होगा। अतः अव्यवसायात्मिक बुद्धि चंचल एवं बहुत प्रकार के कुविचारों में संलग्न होती है और वैदिक धर्म-कर्म से उपदेश प्राप्त बुद्धि व्यवसायात्मिक एकाग्र होती है। श्लोक में अर्जुन को कुरुनन्दन अर्थात् कुरुवंशी कहा है। कुरुवंशी का इतिहास महाभारत में वर्णित है कि इस वंश के पुरुष एवं नारियाँ वैदिक उपदेश से ओत-प्रोत ऋषि-मुनियों की सेवा करने वाले तथा यज्ञ-योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करने वाले महान योद्धा हुए हैं। परंतु महाभारत युद्ध के प्रारम्भ में दोनों सेनाओं के बीच रथ में खड़ा अर्जुन अव्यवसायात्मिक बुद्धि अर्थात् चंचल बुद्धि वाला हो गया था। अर्जुन ने एकतरफा निश्चय कर लिया था कि वह युद्ध नहीं करेगा। इस प्रकार उसकी बुद्धि वेदों में वर्णित क्षत्रिय धर्म-कर्म पर एकाग्र (व्यवसायात्मिक) नहीं रह पाई थी। अर्जुन की इसी त्रुटि को कृष्ण महाराज वैदिक उपदेश द्वारा समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तेरी बुद्धि वेदों में कहे क्षत्रिय-धर्म जिसमें धर्मयुद्ध विशेष है उस पर एकाग्र होनी चाहिए तथा चंचल होकर युद्ध की एकाग्रता को खोकर वेद-विरुद्ध अनेक विचारों वाली बुद्धि नहीं होनी चाहिए। वेदाध्ययन द्वारा निश्चयात्मक/एकाग्र बुद्धि हो जाती है। इस निश्चयात्मक बुद्धि होने से यह तात्पर्य है कि वेदों में कही तीन विद्याएँ-ज्ञान, कर्म एवं उपासना हैं। अब असंख्य कर्म, असंख्य प्रकार के पदार्थ-विज्ञान का ज्ञान तथा उपासना में कहे यज्ञ में देवपूजा, संगतिकरण, दान, वेदों में कहे अनन्त ईश्वर के नाम, योग के आठ अंग इत्यादि कहे गए हैं। जिसने वेद सुन लिए उसकी बुद्धि वेदों में कहे ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूप, इन तीन विद्याओं पर स्थिर हो जाती है। उस बुद्धि का केवल एक वैदिक विचार ही होता है। वह विभिन्न प्रकार के

थोथे कर्मकाण्ड एवं अप्रामाणिक भक्ति इत्यादि में भटकती नहीं फिरती। उस बुद्धि के लिए यह प्रश्न सदा के लिए समाप्त हो जाता है कि किस ईश्वर अथवा किस देवी-देवता अथवा किस प्रकार की पूजा-पाठ इत्यादि करें।

श्रीकृष्ण उवाच --

"यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।"

(गीता २/४२)

(अविपश्चितः) जो मूढ़ लोग **(याम्)** जिस **(इमाम्)** इस **(पुष्पिताम्)** फूलों के समान **(वाचम्)** वेदवाणी को **(प्रवदन्ति)** कहते हैं **(पार्थ)** हे पृथा पुत्र अर्जुन ऐसे मूढ़ **(वेदवादरताः)** केवल वेदमंत्रों के वाद-विवाद में रत= उलझे हुए **(अन्यत्)** हमारी बात से अतिरिक्त **(न अस्ति)** कुछ और सत्य नहीं है **(इति)** ऐसा **(वादिनः)** कहने वाले हैं।

अर्थ :- जो मूढ़ लोग जिस इस फूलों के समान वेद-वाणी को कहते हैं, हे पृथा पुत्र अर्जुन ऐसे मूढ़ केवल वेद मंत्रों के वाद-विवाद में रत (उलझे हुए) हमारी बात से अतिरिक्त कुछ और सत्य नहीं है ऐसा कहने वाले हैं।

भावार्थ : गीता में सांख्य योग का अर्थ संन्यास है-अर्थात् सब सांसारिक कर्म छोड़कर संन्यास लेकर केवल ईश्वर प्राप्ति के लिए भक्ति करना। इसमें गीता श्लोक ११ से ३० तक संन्यास के विषय में कहा कि जीवात्मा अजर-अमर, अविनाशी, अजन्मा इत्यादि है। और हे अर्जुन! तू तथा तेरा परिवार जीवात्मा है, शरीर नहीं-शरीर तो पंच भौतिक है, नाशवान है। अतः हे अर्जुन! जीवात्मा अर्थात् तू तथा तेरा परिवार शस्त्र इत्यादि से मर-कट नहीं सकता-केवल शरीर का ही नाश होगा। ऐसा समझा कर श्री कृष्ण अर्जुन को युद्ध न करने के भय से मुक्त करना चाहते हैं। परंतु संन्यासी को तो युद्ध नहीं करना होता। अर्जुन गृहस्थी क्षत्रिय है। अतः अमरता का उपदेश सांख्य योग द्वारा देकर श्लोक ३१ से आगे अर्जुन का संशय दूर करके उसे धर्म युद्ध के लिए प्रेरित करते हैं, जो कि क्षत्रिय का कर्त्तव्य कर्म-धर्म है। श्लोक ३९ में योग बुद्धि से युक्त होकर कर्म-बन्धन से मुक्त होकर, कर्म करने की शिक्षा

है। अर्थात् युद्ध कर्म तो अर्जुन करेगा परंतु युद्ध में होने वाले वध इत्यादि का दोष अथवा पाप उसे नहीं लगेगा।

इसी विषय पर समझाते हुए इस श्लोक में श्री कृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! **'अविपश्चितः'** अर्थात् मूढ़ लोग वेदवाणी का रहस्य नहीं जानते। ये लोग इस वाणी को चटपटी, लच्छेदार बनाकर अपने स्वयं के घड़े हुए अर्थ कहकर यह सिद्ध करते हैं कि हमने जो कुछ वेदों से कहा केवल वह ही सत्य है। इस विषय में **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/१६** स्पष्ट कहता है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा प्राप्त विशेष बुद्धि वाला योगी ही समस्त विद्याओं का ज्ञाता होकर ईश्वर को जानता है, वही योग दृष्टि से वेद-मंत्रों के अर्थों को ठीक-ठीक जानता है। **'न वि चेतत् अन्धः'** अर्थात् अन्य मूढ़ व्यक्ति ईश्वर के स्वरूप और वेद-मंत्रों के अर्थ को नहीं जानता। **'अन्धः'** अर्थात् योगाभ्यास से हीन-इस प्रकार का अन्धा ईश्वर के स्वरूप को नहीं जानता वह तो धन बटोरने के लिए वेदमन्त्रों तक को भी पूर्ण रूप से नहीं जानता अपितु अथर्ववेद के अनुसार कहीं-कहीं से वेदमन्त्रों की कुतरन लेकर, उन्हें चुराकर, अपने मनघढ़न्त अर्थ करके, अभिमानी होकर संसार में विचरन करता है। ऐसे सन्त/नर-नारियों को **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** में विद्या का अभिमानी तथा सदा दुखों में पड़े रहने वाला कहा है। इस क्रम में वसिष्ठ मुनि, विश्वामित्र ऋषि व्यास मुनि, अत्रि ऋषि इत्यादि महान वेदों के ज्ञाता आते हैं। गीता काल में वेद-मंत्रों के मनमाने अर्थ एवं मिथ्या कर्मकाण्ड तथा स्वर्ग आदि का लोभ प्रचलित होने लगा था कि वेदों में कहे केवल कर्मकाण्डों से स्वर्गादि सुखों की प्राप्ति करो इत्यादि-इत्यादि अथवा इस वैदिक कर्मकाण्ड के अतिरिक्त और कुछ वेदों का ज्ञान नहीं है। अर्थात् योगाभ्यास, माता-पिता, गुरुओं की सेवा, वृद्धजनों का आदर, नारी धर्म, पुरुष धर्म, ब्रह्मचर्य इत्यादि अनेक शुभ कर्मों की खान जो वेदों में कही गई है, वह कुछ भी नहीं है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/३९** स्पष्ट कहता है कि यदि हम वेदों में वर्णित ईश्वर को योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों द्वारा नहीं जानते। **'ऋचा किम् करिष्यति'** तब ऋग्वेदादि के मंत्र तुम्हारा क्या भला करेंगे? उसी अज्ञान में रत आज भी प्रायः अनेक साधु संत यज्ञ, योगाभ्यास से हीन होकर वेदमंत्रों, यज्ञ एवं योगाभ्यास की निंदा करते

हैं। अनेक तो स्वयं को भगवान ही बनाकर अपनी पूजा कराते हैं।

इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने यही सत्य दर्शाया है कि ऐसे लोग **'वेदवादरता:'** वेद मंत्रों के मिथ्यावाद-विवाद में रत और वेदमंत्रों के अपने ही अनर्थ निकालकर उसे ही सत्य बताते फिरते हैं। और जनता को मूर्ख बनाते हैं। जबकि इस श्लोक में श्रीकृष्ण का उपदेश है कि ऐसी **'पुष्पिताम् वाचम्'** अर्थात् वेदों के मनघढ़न्त, लच्छेदार अर्थ में न फँसकर हे अर्जुन! तू कर्मयोग को समझ जिसके जरा से भी करने से बहुत बड़े मृत्यु के भय से भी तू तर जाएगा। कर्मयोग में किया कर्म **'अनासक्ति'** एवं फल की इच्छा किए बिना करते हुए सब कुछ ईश्वर को अर्पण कर दिया जाता है। यहाँ अर्जुन के लिए ऐसा कर्मयोग धर्मयुद्ध है। वर्तमान के कई संतों के मुख से सुनते हैं कि राधा तथा श्रीकृष्ण इत्यादि का वर्णन वेदों में है। यह मनमाने अर्थ हैं। **सामवेद मंत्र १६०० में 'राधानाम् पते'** (ऐश्वर्याणां स्वामिन्) अर्थात् ऐश्वर्यों के स्वामी। **'गिर्वाह:'** अर्थात् वेदवाणियों से प्राप्त होने योग्य शूरवीर परमात्मा यहाँ **'राधा नाम पते'** ईश्वर के लिए आया है। **सामवेद मंत्र १५१० में 'हरीणाम्'** प्राणों के **'पतिम्'** पालक **'राध:'** धन को **'पृञ्चन्तम्'** देने वाला ईश्वर।

अतः यहाँ राधा का अर्थ धन देने वाला ईश्वर है। **यजुर्वेद मंत्र २/१ में 'आखरेष्ठः कृष्णः असि'** अर्थात् यह यज्ञ सब ओर से खुदे हुए वेदि स्थान में स्थित होकर 'कृष्ण' अग्नि से सूक्ष्म रूप तथा वायु से आकर्षित 'असि' है। यहाँ 'कृष्ण' शब्द का अर्थ आकर्षित करने वाला है। अतः इन मंत्रों में द्वापर में आए राधा एवं श्रीकृष्ण का भाव नहीं है। हाँ, नामकरण संस्कार ऋषियों ने सदा वेदों से ही किया है। जब श्रीकृष्ण और राधा का जन्म द्वापर में हुआ तब उनके जीवन की घटनाओं का वर्णन महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में आया है और इसी के मुताबिक हमें मानना चाहिए। **अथर्ववेद मंत्र ७/६४/१** में 'शकुनि' शब्द भी आया है जिसका अर्थ 'पाप-वासना' है। परंतु शकुनि के नाम के गुणगान कोई भी नहीं करता इसी तरह वेदों में तीर्थ, देव एवं यज्ञ इत्यादि अनेक शब्दों के अर्थों का अनर्थ आज देखने में आ रहा है और हमारी संस्कृति को घुन लग गया है।

श्रीकृष्ण उवाच--

"कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति।।

(गीता २/४३)

(कामात्मानः) कामना करने वाले लोग **(स्वर्गपराः)** स्वर्ग की इच्छा करने वाले हैं, ऐसे लोग **(जन्मकर्मफलप्रदाम्)** कर्म फल देकर पुनः जन्म देने वाली **(क्रियाविशेषबहुलाम्)** बहुत सी क्रियाओं को करने की विशेषता वाली तथा **(भोगैश्वर्यगतिम्)** भोग और ऐश्वर्य की गति की **(प्रति)** प्राप्ति के लिए ऐसी लच्छेदार वाणी का प्रयोग करते हैं।

अर्थ : कामना करने वाले लोग स्वर्ग की इच्छा करने वाले हैं, ऐसे लोग कर्म फल देकर पुनः जन्म देने वाली बहुत सी क्रियाओं को करने की विशेषता वाली तथा भोग और ऐश्वर्य की गति की प्राप्ति के लिए ऐसी लच्छेदार वाणी का प्रयोग करते हैं।

भावार्थ : इस श्लोक का संबंध पिछले श्लोक ४१ एवं ४२ से है। श्लोक ४१ में श्रीकृष्ण जी ने व्यवसायात्मिक और अव्यवसायात्मिक दो प्रकार की बुद्धियों का उपदेश किया है। वेदों-शास्त्रादि में कही सूक्ष्म विद्या जिससे मोक्ष प्राप्ति होती है उस विद्या को ही प्राप्त करने तथा पुरुषार्थ करने वाली बुद्धि व्यवसायात्मिक बुद्धि कही है-यह निश्चयात्मक बुद्धि है। मनुष्य जीवन का लक्ष्य मोक्ष है, केवल भोग प्राप्ति नहीं। ऐसे विचार पर दृढ़ रहने वाली अविचलित बुद्धि है। इसमें भोग, विकार इत्यादि की इच्छा की सम्भावना न होकर पर-वैराग्य दृढ़ हुआ होता है जो कि इस बुद्धि को निष्काम यज्ञ, अष्टाँग योग का दीर्घकालीन अभ्यास का फल वेदज्ञ-विद्वान् की सेवा द्वारा प्राप्त हुआ होता है। यह सांसारिक भोग की लेश मात्र भी कामना नहीं करती। इसके विपरीत पढ़-सुन रट कर वेद-विरुद्ध मिथ्यावाद बोलने वाले साधु-संत तथा उनकी लच्छेदार बातें सुनने वाले प्राणियों की बुद्धि अव्यवसायात्मिक बुद्धि यहाँ कही गई है। ऐसी बुद्धि अनेक शाखाओं अर्थात् अनन्त विचार रखने वाली होती है। इसे अनिश्चयात्मक बुद्धि भी कहेंगे। यह एक ब्रह्म विचार वाली न होकर

ईश्वर की भक्ति से परलोक में स्वर्ग के सुख और इस लोक के परिवार, पुत्र धन-सम्पदा तथा यज्ञ द्वारा अनेक सिद्धियों का सुख प्राप्ति वाली-ऐसे विचार वाली बुद्धि होती है। इस अनिश्चयात्मक बुद्धि को ही गीता श्लोक ४२ में **'इमाम् पुष्पिताम् वाचम्'** अर्थात् फूलों के समान अच्छी लगने वाली लच्छेदार रसीली मनघढ़न्त वाणी अर्थात् मिथ्यावाद द्वारा मन को लुभाने वाली वाणी कहा है जो **'अविपश्चितः'** वेद-शास्त्र विरोधी अज्ञानियों द्वारा बोली जाती है। ऐसे अज्ञानी वेद के सत्य स्वरूप को नहीं जानते अपितु अपने स्वयं के अर्थ करके -**'वेदवादरताः'** वेद के वाद-विवाद में रत हुए कहते हैं कि जो हमने वेद-मंत्रों का अर्थ किया बस वही ठीक है इससे अन्य और कुछ सत्य नहीं है। श्रीकृष्ण महाराज यहाँ वेदमंत्रों के सत्य अर्थ को न जानने वाले ऐसे स्वार्थी तथा अधर्मी लोगों पर प्रहार करते हुए अर्जुन को समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! ऐसे लोग वेद वाक्यों के अपने मुताबिक मनघढ़न्त अर्थ करके स्वर्गादि के प्रलोभन युक्त लच्छेदार वाणी बोलकर जनता को गुमराह करके अपने पक्ष को ही सत्य साबित करके स्वार्थ पूर्ति करते हैं। जबकि चारों वेदों में कही विद्या का ध्येय पुरुषार्थ, नैतिक कर्त्तव्य, राष्ट्रनिर्माण, ब्रह्मचर्य इत्यादि अनेक शुभ कर्मों द्वारा अर्थ, धर्म, काम एवं मुख्यतः मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करना है। **सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल सूत्र १/५** में कहते हैं-**'उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः'** अर्थात् वेद मनुष्य के लिए मोक्ष के सुख को सबसे उत्तम सुख कहते हैं। अर्थात् सभी शास्त्र जो वेदों की ही देन हैं, यह कहते ही हैं कि मनुष्य जीवन का सबसे उत्तम अन्तिम लक्ष्य ईश्वर भक्ति द्वारा मोक्ष प्राप्ति है। परंतु वेदमंत्रों के अर्थों का अनर्थ करते हुए आज भी कोई स्वर्ग प्राप्ति के लिए, कोई किसी को मारने के लिए, कोई किसी का बुरा करने के लिए, कोई किसी को वश में करने के लिए, कोई मृत्यु प्राप्त पूर्वजों का श्राद्ध करने के लिए, कोई पुण्य कमाने के लिए, कोई सत्ता हड़पने के लिए तरह-तरह यज्ञ अथवा पूजा के आयोजन करता है। जिसका लेशमात्र भी वर्णन वेदों में नहीं है। ऐसे सकामी लोगों को ही यहाँ **(स्वर्गपराः)** अर्थात् स्वर्ग चाहने वाले तथा **(भोगैश्वर्यगतिं प्रति)** भोग और ऐश्वर्य की चाहना वाले **(जन्मकर्मफलप्रदाम्)** बार-बार जन्म-मृत्यु में डालने वाली तथा **(क्रियाविशेषबहुलाम्)** बहुत सी व्यर्थ क्रियाओं, कर्मों में उलझाने वाली **'पुष्पिताम् वाचम्'** फूलों के समान लुभावनी लगने वाली लच्छेदार

वाणी को कहते हैं। जो प्रायः वर्तमान के अधिकतर बड़े-बड़े साधु-संतों की भाषा में देखने को मिलता है, यह स्पष्ट ही वेद निन्दा करते दिखते हैं। आज देश में न जाने कितने प्रकार के यज्ञ-हवन इत्यादि कामनाओं सहित हो रहे हैं। परंतु यह तो कोई व्यास मुनि अथवा योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे अष्टाँग योगी एवं वेदों का सत्यवक्ता ही निर्णय दे सकता है कि ऐसे कर्मों में कितनी सच्चाई है और कितना झूठ। **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** कहता है कि जीव सदा कामना करता है एवं कामना करने वाले जीव को ईश्वर कर्म-फल देता है। अर्थात् कामना के बिना कोई चक्षु की पलक भी नहीं झपक सकता। अतः सब मनुष्य धर्म की ही कामना करें अधर्म की नहीं। यह ईश्वर आज्ञा है यदि कोई कामना न करें तो वेदों का अध्ययन, योगाभ्यास, धन कामना, परिवार का पालन-पोषण, माता-पिता गुरुओं की सेवा एवं प्रवचन इत्यादि शुभ कर्म भी नहीं हो सकते। प्रायः संत कहते हैं कि कामना छोड़ो परंतु ऐसे संतों की कामना भीड़ इकट्ठी करके एवं प्रवचन करके धन अर्जित करने इत्यादि की ही होती है। अन्यथा कामना-रहित होकर वह प्रवचन करके धन इकट्ठा नहीं कर सकते। **कठोपनिषद्** ने भी **'श्रेयश्च प्रेयश्च'** अर्थात् धर्मयुक्त शुभ कर्म करने वाली इच्छा एवं पाप युक्त कर्म वाली दोनों इच्छाओं में धर्मयुक्त कर्म वाली इच्छा को प्राणी के लिए कहा है। पुनः हम शुभकर्म करने का पुरुषार्थ करें, फल की इच्छा ईश्वर पर छोड़ें। ऐसा हमारा कर्त्तव्य है। पिछले तीनों युगों में वेदानुकूल यज्ञ की भरमार थी। परंतु सतयुग, त्रेता, द्वापर की तरह आज न तो वेदज्ञ ऋषि-मुनि रहे और न ही जनता अब वेदों को जानती है। अतः प्रायः आज की कई धार्मिक क्रियाएँ गीता में कहे इस श्लोकानुसार बहुत सी व्यर्थ क्रियाओं-कर्मों को देखें जो थोथे कर्म-काण्ड एवं अंधविश्वास पर टिके धर्मों को करने वाली ही दिखती हैं। परंतु इसमें वैदिक प्रमाण युक्त कर्म कुछ भी नहीं दिखाई देता क्योंकि ऐसी क्रियाओं में वेद-मंत्रों के दिए सत्य ज्ञान का अभाव होता है। तुलसी इसी विषय पर उत्तरकाण्ड दोहा १०० (ख) में कहते हैं।

'श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।

अर्थात् वेद में कहे ज्ञान तथा वैराग्य के अनुसार जो परमेश्वर की भक्ति का मार्ग है उस सच्चे मार्ग को मनुष्य ने मोह वश छोड़ दिया और वेद के विरुद्ध अनेकों नए-नए पंथों की कल्पना करते हैं। दोहे में नए-नए पंथों की कल्पना से तुलसी का तात्पर्य वेद-मंत्रों के भी अपने मनघढ़न्त अर्थ करना और जो वैराग्य एवं ईश्वर भक्ति का वर्णन वेदों में है, उसे त्यागकर स्वयं नए-नए भक्ति के मार्गों की कल्पना करना तथा उसे मानना है जो वेद-विरुद्ध होने के कारण पूर्णतः नाशवान है, नरकगामी है। इस विषय में सांख्य शास्त्र के रचयिता कपिल मुनि **सूत्र २/२५** में कहते हैं **'न कल्पनाविरोधः प्रमाणदृष्टस्य'** अर्थात् जो वस्तु प्रमाण द्वारा सिद्ध है उसका केवल कल्पना के आधार पर विरोध नहीं किया जा सकता। अतः वेद जो स्वतः प्रमाण है। आज प्रायः इस प्रमाणिक विद्या के विपरीत मनघढ़न्त भक्ति जोर-शोर पर है। जिसके विषय में यहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह स्वयं बनाई हुई भक्ति (स्वर्गपराः) स्वर्ग इत्यादि का लालच देने वाली है। जबकि वेदों में ऊपर आकाश में किसी स्वर्ग और नरक नाम की कोई चीज नहीं है। पृथिवी पर ही अपने किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों का भोग सुख और दुःख के रूप में भोगना होता है। तथा यह स्वयं बनाई भक्ति **'भोगैश्वर्य्यगतिं प्रति'** भोग और ऐश्वर्य का लालच देने वाली है। विद्वानों का मत है कि गीता काल में ऐसी अप्रमाणिक भक्ति का कुछ चलन हो चला था जिसका खण्डन यहाँ श्रीकृष्ण कर रहे हैं। वेद ऊपर कहीं स्वर्ग-नरक की बात ही नहीं कहते। अतः आज यह मिथ्या कहना है कि यज्ञ कठिन है और इससे केवल कामना पूर्ण होती है या स्वर्ग-नरक मिलते हैं। अतः यज्ञ न करो। यज्ञ करने की आज्ञा वेद में स्वयं ईश्वर ने दी है और गीता ग्रंथ भी यज्ञ करने को कहता है। ऐसी ही भक्ति को उत्तरकाण्ड दोहा १०० (ख) के अगले छन्द में तुलसी ने इस प्रकार कहा है

'बहु दाम सँवारहिं धाम जती।
विषया हरि लीन्हि न रहि बिरती।
तपसी धनवंत दरिद्र गृही।
कलि कौतुक तात न जात कही।'

अर्थात् संन्यासी बहुत धन लगाकर घर सजाते हैं। उनमें वैराग्य नहीं रहा। उसे विषयों ने हर लिया। तपस्वी धनवान हो गए और गृहस्थ दरिद्र। हे तात्! कलियुग की लीला कुछ कही नहीं जाती।

यहाँ तुलसी स्पष्ट कह रहे हैं कि संन्यासी, तपस्वी और सन्त इत्यादि धन लूट रहे हैं और धनवान बन गये तथा गृहस्थी दरिद्र हो गए हैं। बीते तीन युगों में जब वेद-विद्या घर-घर थी तब ऋषि-मुनि लोग साधारण जीवन व्यतीत करते थे और उनके आशीर्वाद से समस्त प्रजा धनवान, दीर्घायु एवं सुख सम्पन्न थी। जहाँ पहले ऋषि-मुनियों के आश्रम में विद्या पाने वाले सेवक श्रीकृष्ण तथा श्री राम तक भिक्षा माँग कर, गऊ सेवा इत्यादि करके चारों वेदों की विद्या प्राप्त करते थे। वहाँ आज के संत-साधु वेद-विरुद्ध, मिथ्यावाद भाषण तथा ऐसे एक-एक प्रवचन का कई-कई लाख रुपया लेते हैं और प्रवचन में विपरीत में जनता को यह कहते हैं कि धन बेकार है, सब मोहमाया है, उसको छोड़ दो, ऐसा आदेश करते हैं। और स्वयं बोरियाँ भरकर पैसे ले जाते हैं। ऐसे संतो के लिए भी तुलसी उत्तरकाण्ड दोहा ९९ (ख) की दूसरी चौपाई में कह गए हैं-

'आपु गए अरु तिन्हहू घालहिं
जे कहुँ सत मारग प्रतिपालहिं।।
कल्प कल्प भरि एक एक नरका।
परिहं जे दूषहिं श्रुति करि तरका।'

अर्थात् ऐसे संत-साधु जो वेद की निन्दा करते हैं वह स्वयं तो नष्ट होते ही हैं और नरकगामी होते हैं साथ ही अपने मिथ्यावाद द्वारा वेद-विरुद्ध भाषण करके सत्यमार्ग पर चलने की निष्ठा करने वालों को भी नष्ट कर देते हैं। इस चौपाई में तुलसी द्वारा कहे वेद-विरुद्ध विचार तुलसीकृत रामायण से भी पहले **मनुस्मृति २/१६८** में इस प्रकार कहे हैं-

'योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः।'

अर्थात् जो गुरु होकर वेद नहीं जानता अपितु वेद के अतिरिक्त अन्य

वेद-विरुद्ध ग्रंथों को पढ़-सुन-रट कर श्रम करता है तथा पृथिवी पर मिथ्यावाद फैलाता है वह गुरु जीते जी ही अपने वंश तथा अनुयायियों के साथ शीघ्र ही शूद्रभाव को प्राप्त होता है और नीच योनियों में जन्म लेता है। अतः गीता के इस उपदेश तथा तुलसीकृत रामायण उत्तरकाण्ड की चौपाइयों से हमें वेद विरुद्ध मिथ्यावाद का खण्डन करके सत्य-विद्या के प्रसार द्वारा सुखी गृहस्थ एवं सुदृढ़ राष्ट्र निर्माण का संकल्प लेना होगा क्योंकि गीता ग्रंथ केवल वेद-विद्या से जुड़ा है और आज के मत-मतान्तर उस समय उदय नहीं हुए थे। उस समय केवल घर-घर में वेद-विद्या ही विद्यमान थी।

श्रीकृष्ण उवाच --

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते।

(गीता २/४४)

(तया) उस पुष्प के समान लुभावनी वाणी से **(अपहृतचेतसाम्)** हरा गया है चित्त जिनका और जो **(भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्)** भोग और ऐश्वर्य में रत्त हैं उनकी **(समाधौ)** समाधि में **(व्यवसायात्मिका)** निश्चयात्मक **(बुद्धिः)** बुद्धि **(न)** नहीं **(विधीयते)** होती है।

अर्थ : उस पुष्प के समान लुभावनी वाणी से हरा गया है चित्त जिनका और जो भोग और ऐश्वर्य में रत हैं उनकी समाधि में निश्चयात्मक बुद्धि नहीं होती है।

भावार्थ : धन, सम्पदा, काम, ऐश्वर्य इत्यादि अनेक भोगों की कामना रख कर लुभावनी वाणी द्वारा यज्ञादि अनेक कर्म काण्ड करने वाले जीव ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग से सर्वदा भटक जाते हैं क्योंकि वह स्वर्गादि धन सुखों के अतिरिक्त और कुछ संसार में है ही नहीं ऐसा मानते हैं। और इन्हीं सांसारिक मिथ्या भोगों की प्राप्ति के लिए तरह-तरह के मनघढ़न्त अर्थात् स्वयं के द्वारा निर्मित कर्म काण्डों की कल्पना करते हैं। ऐसे प्राणी की बुद्धि समाधि के लिए उपयुक्त नहीं होती अर्थात् वह ईश्वर प्राप्ति नहीं कर सकता। वेद में जीवात्मा को अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख-दुःख, ज्ञान वाला चेतन तथा नित्य कहा है।

वेद में जीवात्मा के लिए एक शब्द **'परिष्वंगधर्मी'** आया है। अर्थात् जीवात्मा लगाव गुण वाला है। जन्म लेने पर उसके समक्ष चेतन परमात्मा एवं रज, सत, तम गुणों वाली जड़ प्रकृति आती है। यह परिस्थिति अनुसार दोनों में से एक से लगाव (जुड़ना) कर बैठता है। जब प्रकृति से इसका लगाव होता है तो जीवात्मा इच्छा, द्वेष, सुख एवं दुःख गुणों वाला होकर दुखी रहता है, और साधन विवेक से यदि प्रकृति के गुणों से वियोग कर लेता है तो स्वयं अपने स्वरूप को जानकर मोक्ष सुख प्राप्त करता है। श्लोक में श्री कृष्ण यही समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! जो प्रकृति से लगाव रखते हैं उनका इच्छा-द्वेष आदि विकारों के कारण संसार के भोग-पदार्थों, ऐश्वर्य, स्वर्ग आदि की प्राप्ति हेतु वेद-विरुद्ध मनघढ़न्त पुष्पित वाणी (मिथ्या झूठी वाणी) द्वारा उनका **(अपहृतचेतसाम्)** चित्त हर लिया गया है और वह सांसारिक भोगों में आसक्त हैं और इस कारण से वह प्रकृति से वियोग नहीं कर पाते। सांसारिक भोगों को ही वह अन्तिम सुख का ध्येय मानते हैं अतः लुभावनी एवं लच्छेदार वाणी द्वारा **(अपहृतचेतसाम्)** हरे गए मन वाले तथा इस प्रकार **(भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम्)** भोग और ऐश्वर्य में रत लोगों की **(समाधौ)** योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त करने वाली **(व्यसायात्मिका)** अर्थात् एक दृढ़ निश्चय वाली बुद्धि नहीं होती। उनकी तो भोग, ऐश्वर्य की प्राप्ति ही आखिरी मंजिल होती है। अतः वह वेद-निन्दक मिथ्यावाद तथा स्वयं कल्पित मार्गों द्वारा भोग व ऐश्वर्य कमाने में ही रत रहते हैं। और यह मिथ्यावाद गीता-काल से फैलता-फैलता आज लगभग सम्पूर्ण देश को अपने माया जाल में फँसा चुका है। वर्तमान के अधिकतर सन्त वेदों की निन्दा करके, अपने स्वयं के बनाए वेद-विरुद्ध पूजा, गुरुपूजा आदि मनघढ़न्त मार्गों को सत्य सिद्ध करके धन एवं भोग पदार्थ बटोरे जा रहे हैं। केवल भोग पदार्थों की इच्छा पूर्ति के लिए नर-नारी तरह-तरह की पूजा-पाठ, यज्ञ-हवन करवाते रहते हैं और ऐसी सांसारिक इच्छाओं में, गीता में कही लच्छेदार-लुभावनी वाणी में फँसकर मोक्ष प्राप्ति हेतु वैदिक यज्ञ-योगाभ्यास-भक्ति भूल जाते हैं और इस प्रकार जीवन नष्ट हो जाता है। वेदों में राजा को चारों वेदों का ज्ञाता होना कहा है। आज नेता आदि वेद ज्ञान से प्रायः शून्य होने के कारण प्रायः पाखण्डी सन्तों के पास जाकर जनता को उन सन्तों के पास जाने के लिए विवश करते हैं और पृथिवी पर भोग वा ऐश्वर्य का साम्राज्य

बढ़ता ही जा रहा है। बड़े-बड़े नेताओं को सन्तों के साथ नाचते तक देखा जा सकता है। यही नेता कभी तो वेद को सत्य बताते हैं और वोटों के लिए हँस-हँसकर पाखण्डियों के साथ भी हैं। ऐसी बुद्धि को ही यहाँ स्वर्गादि सुखों की इच्छा करने वाली अव्यवसायात्मिका अर्थात् अनिश्चयात्मक बुद्धि कहा है जो कभी ईश्वर को साकार तो कभी स्वार्थवश निराकार और कभी कुछ तो कभी कुछ मानती फिरती है और उन्हीं नेताओं का अनुसरण करके सम्पूर्ण प्रजा भी नरकगामी दुखों, अविद्या की लपेट में तथा अन्याय से ग्रस्त है।

श्रीकृष्ण उवाच --

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।

(गीता २/४५)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(वेदाः)** चारों वेद **(त्रैगुण्यविषयाः)** त्रिगुण विषयक हैं अर्थात् वेद प्रकृति के रज, सत तथा तम इन तीनों गुणों के विषय में कहते हैं **(निस्त्रैगुण्यः)** तू तीनों गुणों से रहित **(भव)** हो जा **(निर्द्वन्द्वः)** द्वन्द्व से रहित हो **(नित्यसत्त्वस्थः)** नित्य अर्थात् सदा सत्त्व भाव में स्थित हो **(निर्योगक्षेमः)** योगक्षेम की इच्छा से रहित **(आत्मवान्)** आत्मिक बल वाला बन।

अर्थ : हे अर्जुन! चारों वेद त्रिगुण विषयक हैं अर्थात् वेद प्रकृति के रज, सत तथा तम इन तीनों गुणों के विषय में कहते हैं। तू तीनों गुणों से रहित हो जा, द्वन्द्व से रहित हो, नित्य अर्थात् सदा सत्त्व भाव में स्थित हो। योगक्षेम की इच्छा से रहित आत्मिक बल वाला बन।

भावार्थ : प्रस्तुत श्लोक का कदापि यह भाव नहीं है कि वेदों में केवल प्रकृति के तीन गुणों का ही वर्णन है, अतः वेदों के अध्ययन का कोई लाभ नहीं। वस्तुतः ऐसा तो वेद विरोधी, असत्य कहने वाले स्वार्थी सन्त ही कहते हैं। **'वेदाः त्रैगुण्यविषयाः'** का भाव है कि वेदों में अन्य विद्या प्रकृति के तीन गुण-सत्त्व, रज एवं तम एवं ईश्वर का भी वर्णन है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद यह चार वेद हैं। **ऋग्वेद मंत्र १/२४/१३** कहता है-**"शुनः शेपः त्रिषु आदित्यं अह्वत्"** अर्थात् विद्वान् वेदों में कही तीन विद्याओं-ज्ञान, उपासना एवं कर्म काण्ड में अविनाशी ईश्वर का आह्वान करता

है। इन्हीं तीन विद्याओं द्वारा जीव को प्रकृति के उक्त तीनों गुणों से ऊपर उठना होता है। तीनों गुण जीवात्मा को कर्म-बन्धन में डालकर और इस प्रकार पापयुक्त करके जन्म-मृत्यु के पाश में बाँधे रहते हैं। इस विषय में **ऋग्वेद मंत्र १/२४/१५** कहता है कि हे प्रभु! हमारे **'अधमम्'** अर्थात् निकृष्ट बंधन, **'मध्यमम्'** अर्थात् निकृष्ट से कुछ ऊपर के बंधन और **'उत्तमम्'** अर्थात् अत्यंत दुःख देने वाले **'पाशम्'**-बंधन को **'व्यवश्रथाय'**-नष्ट कीजिए। साधक के लिए उत्तम बंधन सतो गुणी है जिसमें विद्या का अभिमान एवं भौतिक सुख प्राप्त होता है। **"सत्त्वं सुखे सज्जयति"** अर्थात् सत्त्व गुण भी हमें विद्या एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों के करने का सुख एवं अभिमान प्रदान करता है, जो ब्रह्म प्राप्ति में घातक है। **मनुस्मृति ६/४७,४८** में कहा कि साधक अपमान-जनक वचनों को सहन कर ले, कभी किसी का अपमान न करे और इस शरीर का आश्रय लेकर अर्थात् मन, वचन और कर्म से किसी से वैर न करे। इसी बात को कबीर ने ऐसे कहा-**"निन्दक नियरे राखिए आंगन कुटी बिछाय। बिन सावन पानी बिना निर्मल करे सुभाय।।"** क्योंकि निन्दा को सहने से दुर्गुणों का नाश होकर चरित्र में निर्मलता आती है। अधम बंधन सबसे नीच तमोगुणी बंधन है जिसमें पुरुषार्थ न करने की भावना, आलस्य, निद्रा आदि अवगुण रूपी बन्धन हैं, अधम बंधन से कुछ ऊपर मध्यम बंधन रजोगुणी बंधन है जिसमें काम तथा धन की तृष्णा आदि विशेष होती है। क्योंकि सतो गुण प्रकाश युक्त, रजो गुण क्रियाशील और तमोगुण स्थिति का प्रतीक है। प्रकृति के इन तीनों गुण रज, तम एवं सत्व से ही चित्त, बुद्धि, अहंकार और मन की उत्पत्ति हुई है। अतः प्रकृति के तीनों गुण इनमें विद्यमान हैं। सतो गुणी चित्त, ज्ञानवान (ज्ञान का अभिमान), रजो गुणी चित्त, ऐश्वर्य चाहने वाले तथा तमो गुणी चित्त, पुरुषार्थहीन, वैराग्यहीन, अज्ञानी और अधर्मी बनकर दरिद्रता को प्राप्त होता है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार प्रकृति के तीनों गुणों से रचित जड़ हैं। वेद कहता है कि जीवात्मा में लगाव का गुण है। जीवात्मा तो जन्म के बाद प्रकृति से अथवा परमात्मा से लगाव करता है। जैसा कि अर्जुन सोच रहा है कि उसके मारने पर उसके पितामह आदि सम्बन्धी मर जाएँगे। इसी अज्ञान का नाश श्री कृष्ण यहाँ कर रहे हैं। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६** में सृष्टि रचना एवं प्रकृति का वर्णन है। पहले दूसरे मंत्र में कहा

कि प्रलयावस्था में जब कुछ भी नहीं होता और सृष्टि की रचना प्रारम्भ होना बाकी होता है, उस समय जीवन-मृत्यु, सूरज-चाँद, खाली स्थान-आकाश, कर्म अथवा मोक्ष इत्यादि कुछ भी नहीं होता। क्योंकि उस समय कोई पैदा ही नहीं होता। अतः मृत्यु आदि कुछ भी नहीं होता। इसी सूक्त के मंत्र तीन में कहा कि **"आभू"** नामक रज, तम एवं सतो गुणी अव्यक्त प्रकृति जिसके द्वारा चेतन ब्रह्म (ईश्वर) सृष्टि की रचना करता है, वह प्रकृति प्रलयकाल में भी होती है क्योंकि प्रकृति जीवात्मा की तरह ही अविनाशी तत्त्व है। **सांख्य-शास्त्र** के मुनि कपिल ने **सूत्र १/३२** में कहा कि तीन गुणी मूल प्रकृति की कोई रचना नहीं करता। अपितु ईश्वर शक्ति द्वारा मूल प्रकृति के तीनों गुणों से ही समस्त चराचर जड़ जगत रचा है। जिसमें शरीर, सूर्य, वायु, चन्द्रमा, आकाश, जल, अग्नि इत्यादि असंख्य पदार्थ हैं। जिनका प्रलयावस्था में पुनः नाश हो जाता है। और प्रकृति अपने मूल स्वरूप में विराजमान हो जाती है। इसी बात को कपिल मुनि ने **सांख्य शास्त्र सूत्र १/२६** में ऐसे कहा-**"सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः"** अर्थात् सत्त्व, रजस एवं तमस इन तीनों तत्त्वों की साम्यावस्था का नाम प्रकृति है। साम्यावस्था का भाव है कि जब यह तीनों तत्व निढाल पड़े होते हैं और इनसे संसार का कोई भी तत्त्व नहीं बनता, यह अवस्था प्रलयकाल की होती है। इन सब प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि श्री कृष्ण ईश्वरीय वाणी वेद का प्रमाण देकर कह रहे हैं कि हे अर्जुन! **"वेदाः त्रैगुण्यविषयाः"** अर्थात् वेदों में प्रकृति के तीनों गुणों के विषय में विस्तार से कहा है। और इन तीनों गुणों से ही हमारा शरीर मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं सूर्य, चन्द्र इत्यादि संपूर्ण संसार की रचना हुई है। और इन तीनों गुण जीव को ऊपर कहे तीन बंधनों में बाँधकर तथा जीव को पापयुक्त करके ८४ लाख योनियों के जन्म-मृत्यु के चक्कर में घुमाते रहते हैं, जो बड़ा दयनीय विषय है। जिससे जीव इन गुणों के आधीन होकर और इस प्रकार इन्द्रियों का गुलाम होकर केवल धन, परिवार आदि विषयों में फँसा दुःखी रहता हुआ मृत्यु को प्राप्त हो जाता है और पुनः कर्मानुसार जन्म लेता है। इस जन्म-मृत्यु के चक्र से निकलने के लिय **अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ३४** में कहा है कि शरीर की रक्षा के लिए तो धन, वस्त्र, भोजन इत्यादि चाहिए परन्तु प्रकृति के तीनों गुणों से अलग होकर मोक्ष के सुख को पाने के लिए

जीवात्मा को **"ब्रह्मौदनम्"** अर्थात् वैदिक विद्या के ज्ञाता विद्वान् द्वारा ब्रह्मभोज अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान चाहिए। यही ब्रह्मभोज श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को देते हुए कहते हैं-**"निस्त्रैगुण्यः"** अर्थात् हे अर्जुन! तू प्रकृति के इन तीनों गुणों से ऊपर उठ जा। विचार यह करना है कि श्रीकृष्ण महाराज तो चारों वेदों के पूर्ण ज्ञाता हैं और चारों वेदों में कहे भौतिकवाद एवं आध्यात्मिकवाद, दोनों के मर्मज्ञ हैं और उन्होंने सहज स्वभाव इस श्लोक में कह दिया कि हे अर्जुन! चारों वेद प्रकृति के तीन गुणों का ज्ञान देते हैं परन्तु वेद न जानने वाले स्वार्थी एवं अज्ञानी इस वचन को तोड़-मरोड़ कर ऐसा कह देते हैं कि वेदों में तो केवल प्रकृति के तीन गुणों का ही वर्णन है अन्य कुछ भी नहीं। ऐसे अज्ञानियों ने वेद-विद्या तो किसी आचार्य से ग्रहण की नहीं होती और जनता वैसे ही विद्या से अनजान है तब इन अज्ञानी सन्तों की बन जाती है और वह कह देते हैं कि वेद में कुछ नहीं है, वेद कठिन हैं। यदि तुमने अशुद्ध उच्चारण किया तो पापी बन जाओगे, यज्ञ करने से कामना पूर्ण होती है परन्तु भगवान नहीं मिलते इत्यादि-इत्यादि मिथ्यावाद कह देते हैं और जनता ऊपर के श्लोकों में कही इनकी लच्छेदार, रसभरी बातों और कथाओं में फँसकर इनका झूठ अपना लेती है। आज हमें सावधान होकर समाज एवं देश निर्माण के लिए वैदिक संस्कृति की ओर विशेष ध्यान देना होगा। फलस्वरूप ही हम निरोग, दीर्घायु, आनन्द एवं सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण कर सकेगें। क्योंकि चेतन जीवात्मा अविनाशी तत्त्व है, और प्रकृति रचित पंचभौतिक शरीर जड़ है, तथा नाशवान है। अर्जुन प्रकृति के तीनों गुणों में फँसकर अपने को शरीर समझकर वैदिक धर्मानुसार युद्ध को भूलकर आज के नेताओं की तरह भाई-भतीजावाद और परिवार की रक्षा के चक्कर में फँस गया है। अर्जुन तो श्रीकृष्ण के उपदेश से भाई-भतीजावाद से निकल गया था। लेकिन दुर्भाग्यवश वैदिक विद्वान् की विद्या को न जानने के कारण आज प्रायः नेता देश को ताक में रखकर भाई-भतीजावाद, कुर्सी-लोभ, भ्रष्टाचार एवं वोटों की राजनीति इत्यादि अनेक अवगुणों में फँस सकते हैं। जीव प्रकृति के इन तीनों गुणों से अलग होकर ही अपने चेतन अविनाशी नित्य सत्त्व स्वरूप में स्थित हुआ **"निर्द्वन्द्वः"** अर्थात् प्रत्येक प्रकार के द्वन्द्व से मुक्त हो जाता है। द्वन्द्व का अर्थ है दो विरोधी अवस्थाओं का होना। जैसे एक अवस्था सुख की है तो दूसरी इसकी विरोधी

अवस्था दुःख की है। इसी प्रकार सर्दी, गर्मी, मान-अपमान, जीत-हार इत्यादि। अतः श्रीकृष्ण अर्जुन को प्रकृति के तीनों गुणों से ऊपर उठकर द्वन्द्व तथा योगक्षेम कामना से रहित होकर आत्मिक बल वाला **"सत्त्वस्थः"** अर्थात् सात्विक-वृत्ति द्वारा आध्यात्मिक ज्ञान-युक्त होकर आत्मचिन्तन वाला बनने को कह रहे हैं। क्योंकि वास्तविक ज्ञान तो यही है कि योगाभ्यास, वेदाध्ययन एवं यज्ञादि आध्यात्मिक शुभ कर्मों द्वारा हम प्रकृति रचित शरीर से अलग होकर जीवित ही अपने स्वरूप अर्थात् जीवात्मा में स्थित हों। जो प्रत्येक बुराई से अलग शुद्ध स्वरूप है। तब योगी बनना और फिर योग-बल से प्राप्त सिद्धियों इत्यादि की रक्षा करना जिसे क्षेम कहते हैं इसकी आवश्यकता नहीं रहती। जीव सदा अपने जीवात्मा के स्वरूप में स्थित मोक्ष को प्राप्त होता है। क्योंकि जीवात्मा में ही परमात्मा का वास है। ऐसी सात्विक-वृत्ति में धर्मयुद्ध करने का पाप भी नहीं लगता। परन्तु यहाँ स्थिति दूसरी है। अर्जुन को श्रीकृष्ण यहाँ ब्राह्मणों की तरह वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि करके अपने स्वरूप को जानते हुए ब्रह्मलीन होकर मोक्ष प्राप्त करने के लिए नहीं कह रहे क्योंकि दोनों सेनाओं के बीच में रथ में खड़े होकर ऐसा करना वैसे भी असंभव है। श्रीकृष्ण महाराज केवल शब्द-ब्रह्म (वेद ज्ञान) सुनाकर यह समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तेरा युद्ध न करने का कारण प्रकृति के तीन गुणों में फँसे रहना है। इनसे ऊपर उठ और युद्ध कर।

श्रीकृष्ण उवाच --

'यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।

(गीता २/४६)

(सर्वतः) सब ओर से **(संप्लुतोदके)** परिपूर्ण जलाशय की प्राप्ति पर मनुष्य का **(उदपाने)** छोटे जलाशय में **(यावान्)** जितना **(अर्थः)** प्रयोजन रह जाता है इसी प्रकार **(विजानतः)** ब्रह्म को जानने वाले **(ब्राह्मणस्य)** वेदज्ञ ब्राह्मण का **(सर्वेषु)** सम्पूर्ण **(वेदेषु)** वेदों में **(तावान्)** उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

अर्थ : सब ओर से परिपूर्ण जलाशय की प्राप्ति पर मनुष्य का छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रह जाता है इसी प्रकार ब्रह्म को जानने वाले

वेदज्ञ ब्राह्मण का सम्पूर्ण वेदों में उतना ही प्रयोजन रह जाता है।

भावार्थ : इस श्लोक में श्रीकृष्ण जी ने वेदों के महत्त्व की ओर ध्यान खींचा है। पिछले श्लोक ४५ में वेदों को प्रकृति के तीन गुणों के विषय में बताने वाला कहा है। जड़ प्रकृति से समस्त भोग पदार्थ उत्पन्न होते हैं जिसमें अज्ञानी जीव फँसकर सदा दुखी रहता है। इन प्रकृति के गुणों से वही जीव सावधान रह सकता है, जिसे वेदों का सम्पूर्ण ज्ञान हो और वेदों में कही योगविद्या द्वारा उसे ईश्वर का साक्षात्कार हो। ऐसे पुरुष को श्लोक में **(ब्राह्मणस्य विजानतः)** वेदों को तत्त्व से जानने वाला ब्राह्मण कहा है। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/१०** में प्रश्न है कि ईश्वर की सृष्टि में मुख के समान श्रेष्ठ क्या है? भुजाबल को धारण करने वाला कौन कहलाता है? जानु एवं पाँव के समान कौन है? **अगले मन्त्र ११** में उत्तर हैं, वेद और ईश्वर का ज्ञाता पुरुष मुख के समान उत्तम, भुजाबल से युक्त क्षत्रिय, जंघाओं के समान वेग आदि परिश्रमयुक्त कर्म करने वाला वैश्य (व्यापारी) और जो विद्या न पढ़ सके तथा मूर्ख रह जाए, वह शुद्र है। अतः वेदानुसार, जन्म से जातिवाद नहीं अपितु कर्मानुसार कहा गया है। परन्तु यहाँ हम ब्राह्मण शब्द को देखें जिसका अर्थ वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाला, ईश्वर का ज्ञाता है। **यजुर्वेद अध्याय ३१** में कहा कि ईश्वर के एक अंश मात्र से सृष्टि रचना होती है। उसी रचना में **मन्त्र ३१/७ "सः ऋचः सामानि जज्ञिरे"** अर्थात् चारों वेद सृष्टि के आरम्भ में मनुष्य के कल्याण के लिए ईश्वर से उत्पन्न होते हैं। अतः **योगशास्त्र सूत्र १/२६**-

"स एषः पूर्वेषामपि गुरुः" अर्थात् प्रत्येक सृष्टि रचना के आरम्भ में ईश्वर ही हमारे पूर्वजों का गुरु होता है। क्योंकि ईश्वर को मृत्यु प्राप्त नहीं होती। जैसे आज भी बिना विद्वान् के कोई विद्या प्राप्त नहीं कर सकता उसी प्रकार सृष्टि के आरम्भ में जब कोई विद्वान् नहीं होता तब ईश्वर उपदेश के बिना कोई भी मनुष्य विद्या और ज्ञान को प्राप्त नहीं कर सकता। ईश्वर सामर्थ्य से जिन चार ऋषियों में यह ज्ञान प्रकट होता है उनसे सुन-सुनकर अन्य नर-नारी ज्ञानवान हुए। इसलिए वेदों को श्रुति भी कहते हैं। जिन ऋषियों ने वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया उन्होंने छः शास्त्र, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रन्थ

वाल्मीकि रामायण, महाभारत (**भगवद्गीता**) इत्यादि सद्ग्रंथों की रचना की। अर्थात् वेदों के ज्ञान के अभाव में वह एक अक्षर भी नहीं लिख सकते थे। क्योंकि आज भी ज्ञान दिए बिना ज्ञान हो नहीं सकता। आज भी घने जंगलों में रहने वाले वनवासियों की जातियाँ जिन्होंने यह ज्ञान नहीं सुना वह विद्वान् नहीं हैं। अतः यह सिद्ध है कि दुनिया के सब आध्यात्मिक ग्रन्थ एवं अणु शक्ति समेत सारा विज्ञान, मानवता को वेदों की देन है। और यह चारों वेद आज भी विश्व के पुस्ताकालय में पुरातन कृति के रूप में सुरक्षित हैं। इन सबसे यह सिद्ध है कि ईश्वर हमारा प्रथम गुरु है और उसी के दिए वेदों के ज्ञान से सृष्टि के मनुष्यों को ज्ञान प्राप्त हुआ है। अतः श्लोक में छोटे एवं बड़े जलाशय का उदाहरण जब वेद विद्या में घटित किया जाएगा तो इसका अर्थ यह कदापि नहीं होगा कि तत्त्वज्ञानी ऋषियों को वेदों से प्रयोजन नहीं रहता। वेदों से ही तो उन्होंने ज्ञान प्राप्त किया है। तब वेद और ईश्वर के प्रति वह कृतघ्न (एहसान फरामोश) कैसे हो सकते हैं। दूसरा **सांख्य शास्त्र** के मुनि कपिल के **सूत्र ५/४८** का भाव है कि वेद एक अनिच्छित वाणी है जो योगाभ्यासी ऋषि के हृदय में, ईश्वर की प्रेरणा से प्रकट होती है। अतः तत्त्ववेता ब्राह्मण के अन्दर तो यह सदा प्रकट ही रहती है। बड़े जलाशय को प्राप्त करके जैसे छोटे जलाशय का प्रयोजन नहीं रहता उसी प्रकार प्रारम्भ में वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास, ब्रह्मचर्य, जो ईश्वर प्राप्ति में मुख्य हैं इन सबका ईश्वर प्राप्ति के बाद कोई प्रयोजन नहीं रहता। अर्थात् उस ऋषि को वेदाध्ययन इत्यादि से फिर कोई प्रयोजन नहीं रहता। क्योंकि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि द्वारा वेदवाणी उसके हृदय में प्रकट हुई होती है। अतः प्रयोजन तो रहता ही है। वेदवाणी अमृत है इसके प्रकट होने पर ही तो ब्रह्मर्षि वह कहलाता है और ब्रह्म के आनन्द में डूबा रहता है। कुएँ में जल है जिससे प्राणी प्यास बुझाता है। और अपने शरीर की रक्षा करता है। यदि इतनी बरसात हो कि कुआँ भी पानी से मुँह तक भर जाए और उसके आस-पास भी प्रचुर मात्रा में जल एकत्र हो जाए, तब निश्चित ही उस कुएँ का उस समय तक उपयोग नहीं होता जब तक वर्षाकाल समाप्त होने पर कुएँ के आस-पास का पानी सूख न जाए। सत्य यह भी है कि कुएँ में भी पानी है और कुएँ से बाहर भी पानी ही है। आवश्यकता तो पानी की ही होगी। बिना

पानी के कुएँ की आवश्यकता नहीं होती। इसी प्रकार **ऋग्वेद मण्डल सात** में कहा है कि वर्षाकाल में सूखे तालाब पानी से भर जाते हैं और बड़े-बड़े मेंढकों का शोर सुनकर छोटे-छोटे मेंढक उनके पास आवाज से आवाज मिलाते हैं। मानो **ऋग्वेद मन्त्र ८/१००/११** के अनुसार **"देवीं वाचम् देवाः अजनयन्त"** अर्थात् प्रथम वेदवाणी विद्वानों के मुँह से उच्चारण की जाती है। पश्चात साधारण मनुष्य छोटे मेंढक की भांति इस अलौकिक वेदवाणी को विद्वानों से सुनकर बोलने लग जाते हैं। और स्वयं विद्वान् हो जाते हैं। अतः वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग के अभ्यास द्वारा जब ऋषि के अन्दर चारों वेद स्वतः प्रकट होते हैं एवं **"यु जते उत् मन यु जते" (यजुर्वेद ५/१४)** तथा **विष्णोः परमं पदम् सदा पश्यन्ति सूरयः (यजुर्वेद ६/५)** के अनुसार वह ऋषि ईश्वर की अनुभूति कर लेता है, तब ही उस विशेष अथवा योगी को वेदाध्ययन अथवा वेदों में कही किसी कर्मकाण्ड को करने की आवश्यकता नहीं होती। क्योंकि वेदानुसार वह **"न कर्म लिप्यते नरे" (यजुर्वेद ४०/२)** वह किसी कर्म में लिप्त नहीं होता और **सांख्य सूत्र ३/८२ के** अनुसार जैसे कुम्हार का चाक एक बार शक्तिपूर्वक घुमाकर छोड़ दिया जाता है और जब लगाई शक्ति समाप्त हो जाती है तब चाक स्वयं रुक जाता है। उसी प्रकार ऐसा योगी-ऋषि, जितने उसके श्वास बाकी है उतने साँस तक वह स्वाभाविक इन्द्रियों की क्रियाएँ करता है। तथा समाज को वैदिक तथा योग-विद्या का ही ज्ञान देता है। अन्य ज्ञान उसके पास होता ही नहीं है। अतः इस श्लोक का यह अर्थ करना कि कुएँ से बाहर सर्वत्र पानी होने के कारण कुएँ की आवश्यकता नहीं, इसी प्रकार किसी ब्रह्मज्ञानी को वेदों की आवश्यकता नहीं ऐसा मिथ्यावाद वाला भाषण अनर्थ, स्वार्थ सिद्धि आदि से प्रेरित होगा। अन्यथा जिस प्रकार साधक को वेद एवं योगाभ्यास की आवश्यकता है उसी प्रकार वेद एवं योगविद्या में पारंगत ब्रह्मर्षि व्यास, कपिल, वसिष्ठ मुनि, वाल्मीकि एवं ऐसे असंख्य ऋषियों को उनकी स्वयं की अपनाई हुई वेद विद्या एवं योगविद्या की, परमार्थ के लिए आवश्यकता रही है। हाँ, साधक जो कर्मबन्धन में फँसता है, वह वेदज्ञ ऋषि नहीं क्योंकि ऋषि सदा सत्यवादी धर्म परायण निष्पक्ष बोलने वाले, न्यायप्रिय, समाधिवान परोपकारी इत्यादि अनेक गुण संपन्न होते हैं। ऐसे ऋषि का जितना भी वार्तालाप, प्रश्न-उत्तर इत्यादि है वह हृदय में प्रकट

वेदवाणी के आधार पर ही होता है। कोई ब्रह्मलीन हो और वेदवाणी से प्रयोजन न हो तो यह ऐसी बात हुई कि जैसे कोई कहे कि अमुक प्राणी जीवित तो है पर इसमें प्राण नहीं हैं, जो असंभव है। वस्तुतः चारों वेदों का भाव है कि जो छापेखाने में छपी हुई वेद की पुस्तकें हैं यह वेद-संहिता हैं, वेदवाणी नहीं है। इन संहिताओं का तो नाश एक दिन निश्चित है। परन्तु ईश्वर से उत्पन्न वेदवाणी का कभी नाश नहीं होता, इस सत्य भाव को **सांख्य शास्त्र** के ऋषि कपिल ने **सूत्र ५/४८** में कहा कि वेदवाणी किसी पुरुष या नारी की लिखी कृति नहीं है, यह **"अपौरुषयः"** अर्थात् ईश्वर से निकली है। अतः वेद संहिता वेदवाणी नहीं है, अपितु इस श्रुति एवं संहिता द्वारा ज्ञान प्राप्त ऋषि के हृदय में प्रकट हुई वाणी को अविनाशी वेदवाणी कहते हैं। और इस प्रकट हुई वेदवाणी का सदा प्रयोजन रहता है। ईश्वर कृपा से वेदविद्या आई, वेदविद्या द्वारा ईश्वर प्राप्त हुआ। तब क्या ईश्वर प्राप्त करने के बाद ईश्वर का प्रयोजन नहीं रहता अथवा पुत्र द्वारा विवाह करने एवं संतान प्राप्त करने के पश्चात माता-पिता की सेवा का प्रयोजन नहीं रहता?

अतः भारतीय सनातन संस्कृति चारों वेदों को मिथ्या भाषणों द्वारा जो घुन लग गया है उसका उद्धार करने के लिए समाज एवं सरकार को वेद-विरोधियों को दण्ड देने की व्यवस्था आज अनिवार्य है। जो अपना-अपना मत कहना चाहे कहें, परन्तु वेद-विद्या की आलोचना अथवा निन्दा न करें।

श्रीकृष्ण उवाच --

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि।।"

(गीता २/४७)

(कर्मणि) शुभ कर्म करने में **(एव)** ही **(ते)** तेरा **(अधिकारः) अधिकार (फलेषु)** कर्म फल में **(कदाचन)** कभी भी **(मा)** नहीं हो। तू **(कर्मफलहेतुः)** कर्मफल की इच्छा रख कर कर्म करने वाला भी **(मा)** मत **(भूः)** हो, **(ते)** तेरा **(अकर्मणि)** कर्म न करने में भी **(संगः)** संयोग **(मा)** न **(अस्तु)** हो।

अर्थ : शुभ कर्म करने में ही तेरा अधिकार हो, कर्मफल में कभी

भी नहीं हो। तू कर्मफल की इच्छा रखकर कर्म करने वाला भी मत हो, तेरा कर्म न करने में भी संयोग न हो।

भावार्थ : योगेश्वर श्री कृष्ण की योगदृष्टि ने अर्जुन के चित्त की विक्षिप्त अवस्था देखी कि वह युद्ध से पहले ही युद्ध के फल को निश्चित करके भयभीत हुआ कह रहा है कि युद्ध में कुल के नाश होने से सनातन धर्म नष्ट और धर्म नष्ट होने पर कुल पाप कर्मों में लिप्त हो जाएगा, कुल की स्त्रियाँ दूषित और उनमें वर्णसंकर दोष उत्पन्न हो जाएगा तथा हमारे युद्ध में मर जाने के पश्चात वृद्ध माता-पिता वा संबंधियों को कौन अन्न-जल देगा इत्यादि। अर्जुन के अंग शिथिल, मुख सूखा, शरीर कम्पित, त्वचा में जलन एवं गाण्डीव धनुष उसके हाथ से छूटा जा रहा है। यह चित्त की विक्षिप्त अवस्था है। जिसमें ज्ञान नहीं दिया जा सकता। वृत्ति की अवस्थाओं के विषय में **योग शास्त्र सूत्र १/१** व्यास मुनि कृत भाष्य में पाँच अवस्थाओं-क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध का वर्णन किया है। रजोगुणी चित्त जब काम, क्रोध, मोह आदि संसारी विषयों में भटकता है वह उसकी क्षिप्त अवस्था, जब तमोगुणी हुआ चित्त पुरुषार्थहीन हो, कर्त्तव्य पालना में असमर्थ हो जाता है तो वह मूढ़ावस्था तथा जब अनेक सांसारिक इच्छाओं में भटकते हुए चित्त की कामना पूर्ति में विघ्न आता है तब चित्त की विक्षिप्त अवस्था होती है। इन तीन अवस्थाओं में प्राणी द्वारा ज्ञान ग्रहण नहीं होता। एकाग्र अवस्था में ही ज्ञान ग्रहण होता है। चित्त की निरुद्ध अवस्था में योगी सब कर्म बंधनों से छूटकर ईश्वर का दर्शन करता है। अर्जुन की चित्त की इस समय क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त अवस्था है। कभी तो अर्जुन रजोगुण के प्रभाव से क्षिप्त-वृत्ति वाला हुआ संसारी विषयों में फँसा परिवार की चिन्ता कर रहा है कि उन्हें अन्न-जल कौन देगा? कभी तमोगुण के प्रभाव में चित्त की मूढ़ अवस्था वाली वृत्ति द्वारा पुरुषार्थहीन होकर धर्मयुद्ध रूपी शुभ कर्म से मुँह फेर रहा है। और कभी सत्त्वगुण के प्रभाव से उसकी युद्ध न करने की इच्छा पूर्ण नहीं हो रही, तब वह विक्षिप्त वृत्ति वाला होकर दुखी है। प्रकृति के इन तीन गुणों का बड़ा उत्तम वर्णन **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६** में है। इन गुणों द्वारा सृष्टि रचना एवं महत् (बुद्धि) तत्त्व पर टिका मिथ्या स्वार्गादि का भौतिक सुख का वर्णन

है, जिसे विद्वान् त्याग देते हैं। **यजुर्वेद ४०/१** में भी इस सुख में लीन न होने को कहा है। अर्जुन इन गुणों के प्रभाव में डूबा धर्मयुद्ध को त्यागकर ऐसे ही पारिवारिक सुख के चिन्तन में डूब गया है। चेतन जीवात्मा को प्रकृति रचित शरीर आदि इन्द्रियाँ धर्मयुक्त कर्म करने के लिए दी है परन्तु वैदिक उपदेश के अभाव में शरीर में रम रहे प्रकृति के गुणों में जीव डूबकर विक्षिप्त वृत्ति के अधीन हुआ सत्य को भूलकर दुखी रहता है। शरीर से लगाव नहीं होना चाहिए। तथा वह अपने अविनाशी स्वरूप को भूलकर मृत्यु से डरता है। दोनों सेनाओं के बीच अर्जुन की यही दशा है। जिसके प्रभाव से वह अशान्त एवं कर्महीन हो गया है। **गीता श्लोक २/४१** में इसे **"अव्यवसायात्मिका बुद्धि"** अर्थात् बहुत इच्छाओं में रमण करने तथा अनन्त भेदों वाली बुद्धि कहा है। इसी कारण **गीता श्लोक २/४५** में श्री कृष्ण ने प्रकृति के गुणों का उपदेश देकर उससे ऊपर उठकर **(निस्त्रैगुण्यः)** आत्मवान् बनने को कहा। ऐसा नहीं कि वेदों में केवल प्रकृति का ही वर्णन है। वेदों में विस्तार से प्रकृति, जीवात्मा एवं परमात्मा के वर्णन सहित ज्ञान, कर्म एवं उपासना का पूर्ण उपदेश है। श्री कृष्ण इस उपदेश द्वारा प्रकृति के गुणों से अलग होकर अर्जुन को यह समझाना चाहते हैं कि तेरा केवल शुभ कर्म करने में अधिकार है। फल की चिन्ता छोड़ दे, जो तेरे हाथ में नहीं है। अर्जुन को महाभारत में वेद सुनने, यज्ञ करने वाला, संयमी एवं माता-पिता, ऋषि-मुनियों की सेवा करने वाला गुण सम्पन्न महारथी कहा है जो उपदेश का अधिकारी होता है। **अथर्ववेद मन्त्र १६/४/२** में कहा-**"मर्त्येषु अमृतः असि"**-जीवात्मा अजर-अमर है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३४/१** में कहा कि अन्न, दूध, जल इत्यादि पदार्थ भौतिक शरीर का भोजन हैं। जीवात्मा इसे ग्रहण नहीं करती। विक्षिप्त चित्त को शान्त करने के लिए जीवात्मा का भोजन **"ब्रह्मौदनम्"** अर्थात् ब्रह्मज्ञान कहा है। अतः योगेश्वर श्री कृष्ण ने पहले गीता **श्लोक २/१२ से २/३०** तक वेदों में कहे ब्रह्मज्ञान द्वारा जीवात्मा का अजर, अमर, अविनाशी स्वरूप समझाया जिससे अर्जुन यह समझा कि शस्त्रों अथवा किसी भी तरह जीवात्मा का वध किया नहीं जा सकता। इस उपदेश के पश्चात कर्म करने एवं कर्मफल त्याग का उपदेश दिया। **यजुर्वेद मन्त्र ७/४८** में प्रमाण है कि जीव कर्म करता है और ईश्वर फल देता है क्योंकि जब कर्म कर ही लिया तब फल तो मिलेगा

ही, जो ईश्वर द्वारा निश्चित है। शुभ कर्मों का फल पुण्य एवं सुख तथा अशुभ कर्मों का फल पाप एवं दुःख है। अतः वेद ने जीव को सुखी रहने के लिए फल की इच्छा त्याग कर केवल धर्मयुक्त शुभ कर्म करने की ही प्रेरणा दी है। श्रीकृष्ण भी यही प्रेरणा देकर अर्जुन को युद्ध के लिए प्रेरित कर रहे हैं। वैसे वेदों में शुभ कर्म के बहुत से आलौकिक फल कई स्थान पर पहले ही कह दिए हैं। जैसे यज्ञ से शुद्धिकरण, यज्ञ द्वारा दीर्घायु, योगाभ्यास द्वारा समाधि, अहिंसा द्वारा सब प्राणियों से विरोध समाप्त इत्यादि। परन्तु यह शुभ कर्म भी निष्काम करने की आज्ञा दी है। अतः उपदेश तो केवल शुभ कर्म करने का दिया है, फल पर दृष्टि लगाकर अपनी शक्ति व्यर्थ करना अथवा निश्चित किए समय पर फल प्राप्त न होने पर व्याकुल होना, इस प्रकार के अज्ञान से दूर होने को कहा कि **"मा फलेषु कदाचन"** जीव फल की इच्छा त्यागकर केवल शुभ कर्म पर ही ध्यान दें। ऐसे ही कर्म प्रकृति के तीन गुणों से ऊपर उठा होने के कारण धर्मयुक्त कर्म, कहलाते हैं। कर्मफल के विचार में फँस कर तो कभी भी कोई धर्मयुक्त कर्म नहीं हो सकता। हमारे नेताओं ने १९४८ में युद्ध के मृत्यु आदि भीषण परिणामों को सोचकर ही तो सेना को युद्ध रोकने का आदेश कई बार दिया। **गीता श्लोक २/४०** में अर्जुन को समझाया कि निष्काम कर्म योग द्वारा तो बहुत बड़ा मृत्यु का भी भय समाप्त हो जाता है। जीव मोक्ष प्राप्त कर लेता है। हे अर्जुन! तू प्रकृति के गुणों में फँसा कर्मफल सोच-सोचकर क्यों चिन्तित है।

श्रीकृष्ण उवाच --

यजुर्वेद मन्त्र ३/६१ में प्रेरणा है कि क्षत्रिय शस्त्र द्वारा धर्मयुद्ध से शत्रु रहित राज्य करके प्रजा को सुख दे। योगेश्वर श्री कृष्ण भी अर्जुन को नपुंसक न बनकर धर्मयुद्ध की प्रेरणा दे रहे हैं। धर्म-युद्ध की ऐसी वैदिक प्रेरणा देते-देते ही उनके श्री मुख से ऊपर लिखा विश्व प्रसिद्ध श्लोक निकला-**"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"** हे अर्जुन! तेरा केवल शुभ कर्म करने में अधिकार है, फल कब, क्या और कैसे मिलेगा इस पर तेरा अधिकार नहीं है अर्थात् तू वर्णसंकर अथवा परिवार को अन्न-जल देने की चिन्ता क्यों करने लगा यह सब ईश्वर के हाथ है। आज भी यह प्रत्यक्ष प्रमाण

है कि परिवार के जिस बड़े सदस्य पर हम ध्यान देते हैं कि यही हमारा पालन-पोषण कर रहा है और अचानक उसका स्वर्गवास हो जाता है तब भी उसके पीछे से परिवार को कर्मानुसार अन्न-जल निश्चित रूप से मिलता ही है। हाँ, आयु यज्ञ आदि शुभ कर्मों से दीर्घायु इसलिए की जाती है कि धर्मयुक्त कर्म करते हुए हम मोक्ष प्राप्त करें। क्षत्रिय को यह मोक्ष सुख धर्मयुद्ध से प्राप्त होता है। अतः अर्जुन को अथवा किसी भी योद्धा को युद्ध स्थिति में मोक्ष के लिए यज्ञ, योगाभ्यास की आवश्यकता नहीं। अतः अर्जुन को कहा कि क्षत्रिय-धर्म को ही जान। तेरी एकाग्र बुद्धि में तो धर्मयुद्ध के अतिरिक्त अन्य संसारी विचार आना ही नहीं चाहिए। दूसरा उपदेश दिया कि तू पुरुषार्थहीन होकर नपुंसक भी न बन कि **"कर्म ही न करे तथा कर्मफल प्राप्ति के लालच में फँसा हुआ भी तू कर्म न कर।"** यह तमोगुणी मूढ़ वृत्ति है। तू निष्काम कर्म कर। हे अर्जुन! तुझे यह कैसे ज्ञात हुआ कि जो तू युद्ध का फल वर्णसंकर आदि अभी से निश्चित कर बैठा है वही फल ईश्वर ने भी निश्चित कर दिया है? कर्मफल के विषय में यही भ्रांति युद्ध के पश्चात युधिष्ठिर को भी हुई थी। महाभारत में व्यास मुनि लिखते हैं कि युद्ध के पश्चात हुई खूनी क्रान्ति का दोषी स्वयं को ही मानकर युधिष्ठिर ने राज्य त्यागकर संन्यास लेने का निर्णय कर लिया था। तब शर-शय्या पर लेटे भीष्म-पितामह ने युधिष्ठिर की शंका मिटाने के लिए उन्हें सतयुग से चली आई एक अलंकार रूप में कथा सुनाई। भीष्म बोले हे युधिष्ठिर! एक बार एक वृद्धा के पुत्र को साँप ने डस लिया और उसका पुत्र मृत्यु को प्राप्त हुआ। एक शिकारी ने उस साँप को पकड़ लिया और वृद्धा से पूछा कि बता मैं साँप को काट दूँ या जला दूँ। वृद्धा बोली कि साँप को मत मारो। मेरा बेटा तो अब वापिस आएगा नहीं। तब शिकारी बोला नहीं, मैं तो साँप को जरूर मारूँगा। उसी समय साँप बोला मेरा दोष कुछ नहीं है। मुझे मृत्यु के देवता ने इस बालक को डसने के लिए कहा था। अब मृत्यु का देवता प्रकट हुआ और बोला मुझे कुछ न कहो। मुझे काल (समय) के देवता ने डसने के लिए कहा था। पुनः समय का देवता प्रकट हुआ और बोला मुझे कुछ न कहो। इस बालक का एक कर्म ही ऐसा था कि इसका मरना निश्चित था। फलस्वरूप ईश्वर की प्रेरणा से मैंने मृत्यु के देवता से इसे मारने के लिए कहा, मृत्यु

के देवता ने साँप को कहा और साँप ने बालक को डस लिया। अतः मृत्यु का कारण स्वयं बालक का कर्म ही है। किसी अन्य का दोष नहीं। इसी प्रकार दुर्योधन ने भी कर्मफल निश्चित करके पाण्डवों को मारने के लिए लाख का घर बनाया, अर्थात् शीघ्र जलने वाले पदार्थ से एक घर बनाया, जिसमें पाण्डवों को ठहराया था। उस घर में आग लगा दी परन्तु पाण्डव बच गए थे। भाव है कि कर्म दुर्योधन ने पाण्डवों को मारने के लिए किया परन्तु फल ईश्वर के हाथ था और पाण्डव बच गए। भीम को विष देकर नदी में बहाया, जुए में हराकर पाण्डवों को वन भेजा इत्यादि। यह सब अन्याय पूर्वक राज्य हड़पने के लिए किया परन्तु दुर्योधन द्वारा पहले से ही निर्धारित किया कर्मफल उसे नहीं मिला। रावण ने सीता हरण रूपी पापकर्म किया, यह निश्चित करके कि किसी को पता नहीं चलेगा कि सीता को कौन ले गया? परन्तु सब व्यर्थ। गीता का यह श्लोक यही कह रहा है कि हे प्राणी! तेरा केवल शुभ कर्म करने में अधिकार है, फल की इच्छा न कर। श्री कृष्ण जी ने गीता पढ़कर गीता का ज्ञान नहीं दिया था। अतः गीता, रामायण वा शास्त्र इत्यादि में वेदों में कहा ज्ञान ही है। वेदज्ञान से शून्य, अलग से गीता-शास्त्रादि में गीता ज्ञान, रामायण ज्ञान आदि नहीं है। अतः आज भी हमें प्रथम वेदाध्ययन एवं पश्चात गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थ पढ़कर धर्म-कर्मों को सुनिश्चित करके केवल उन्हीं शुभ कर्मों को ही करना चाहिए। अध्ययन, उपदेश के बिना शुभ-अशुभ कर्मों का ज्ञान होना असम्भव है। फिर शान्ति कहाँ? व्यास मुनि एवं श्री कृष्ण ने प्रथम वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान लिया तब गीता ग्रन्थ बना। अतः वेदाध्ययन के अभाव में गीता शब्दों के वह अर्थ जो व्यास मुनि एवं श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाए हैं उनका ज्ञान होना भी प्रायः असम्भव है। तभी तो आज के अधिकतर साधु-सन्तों द्वारा केवल पढ़-सुन-रट कर गीता, रामायण, उपनिषद् आदि का ज्ञान देने पर भी चित्त पर लेश मात्र असर नहीं करता और पुनः घर, समाज एवं देश में हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई के झगड़े भड़क उठते हैं। आज हमने वेद-विद्या के ज्ञान से शून्य होकर घर, प्रान्त, देश एवं विश्व तक के झगड़े सुलझाने के लिए क्रमशः घर के मुखिया, पंचायत, न्यायालय एवं विश्व सुरक्षा परिषद् तक का गठन कर लिया है परन्तु भ्रष्टाचार, जातिवाद, भ्रष्ट राजनीति, मज़हबी उन्माद, नारी-अपमान, विषय-विकार एवं उग्रवाद आदि

कई मुख्य समस्याओं को सुलझाने में पूर्णतः असफल रहे हैं और मानवता चीत्कार कर रही है। कारण यह है कि समझाने वाले श्री कृष्ण, श्रीराम, दशरथ, व्यास, वशिष्ठ, हरिशचन्द्र, सीता, मदालसा, जनक आचार्या गार्गी जैसी एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त वृत्तियों वाली विभूतियों का विश्व में अकाल पड़ गया है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/५३/६** ने प्राणी को **"मनुः भव"**, प्रत्येक मन्त्र, श्लोक पर चिंतन मनन, विचार करने की आज्ञा दी है, आँख मींचकर बात मान लेना, अंधविश्वास है। श्री कृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि से चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त करके एवं योगाभ्यास द्वारा अनुभूति करके अर्जुन को महाभारत के भीष्म पर्व (गीता) में वैदिक उपदेश ही दिया था। योगेश्वर श्री कृष्ण की वैदिक प्रेरणा को पाकर ही धर्म स्थापना के लिए अर्जुन अपने सगे दादा भीष्म, शस्त्र विद्या के गुरु द्रोण एवं सगे भाई कर्ण आदि तक के वध करने में नहीं झिझका क्योंकि वैदिक उपदेश पाकर उसने धर्मयुद्ध तक ही अपनी वृत्ति एकाग्र कर ली थी-फल की इच्छा का त्याग कर दिया था। प्रस्तुत श्लोक पर मनन करते हुए हम निःस्वार्थ शुभ कर्मों में ही शक्ति लगाएँ, फल की इच्छा त्याग दें एवं पुरुषार्थहीन न होकर कठोर परिश्रमी हों। किसी भी कर्म को करते समय उसमें लालच न रखें, यही सब कुछ हमारे अधिकार में है। कर्मफल की इच्छा सर्वदा त्याग दें क्योंकि यह ईश्वर के अधिकार में है। भगवद्गीता में कहे इस महान वैदिक ज्ञान को यदि हम जीवन में उतार लें तब कभी भी कोई किसी का बुरा नहीं चाहेगा। क्योंकि हम जान जाएँगे कि **"मुद्दई लाख बुरा चाहे तो क्या होता है, होता है वही जो मंजूरे खुदा होता है।"** तब हम सदा निष्काम शुभ कर्म ही करेंगे और उसमें फल की इच्छा का त्याग होगा। जैसे कहा है कि **"नेकी कर खड्डे में डाल"** यही ऊपर गीता के श्लोक में कहा अमर वैदिक ज्ञान है।

श्रीकृष्ण उवाच –

'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गम् त्यक्त्वा धनंजय।
सिद्धयसिद्धयोः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।'

(गीता २/४८)

(धनंजय) हे अर्जुन **(सङ्गम्)** आसक्ति को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर

(सिद्धयसिद्धयोः) सिद्धि एवं असिद्धि में **(समः)** एक समान **(भूत्वा)** होकर **(योगस्थः)** कर्म योग में स्थित होकर **(कर्माणि)** शुभ कर्मों को **(कुरु)** कर। इस प्रकार कर्म करने का **(समत्वम्)** समभाव **(योगः)** योग **(उच्यते)** कहते हैं।

अर्थ : हे अर्जुन! आसक्ति को त्याग कर सिद्धि एवं असिद्धि में एक समान हुआ कर्म योग में स्थित होकर शुभ कर्मों को कर। इस प्रकार कर्म करने को 'समभाव' योग कहते हैं।

भावार्थ : योग में स्थित होकर कर्म करना तथा कर्म के प्रति लगाव भी न होना यह शुभ कर्म करने का रहस्य है। इस प्रकार प्राणी कभी चिन्ता मग्न नहीं होता। फिर जब कर्म की सिद्धि अथवा असिद्धि में एक समान ही विचार हो अर्थात् कर्मफल में लाभ हो तब उसको खुशी एवं अभिमान न हो तथा कर्मफल हानिदायक हो, तो ऐसी अवस्था में प्राणी को तनिक सा भी दुःख महसूस न हो, तो इसे इस श्लोक में **"समत्वं योगः"** अर्थात् समभाव योग कहा है। ऐसी अवस्था में प्राणी समान चित्त वाला होता है। अर्थात् लाभ-हानि रूपी सुख-दुःख उसे छू तक नहीं पाता। अर्थात् सुख-दुःख में समान रहता है। परन्तु विचार यह करना है कि ऐसे समत्व योग का ज्ञान तो स्वयं योगेश्वर श्री कृष्ण दे रहे हैं जो चारों वेद, अष्टाँग योग एवं कर्म योग के मर्मज्ञ हैं। अतः गीता के श्लोकों का अर्थ वेदज्ञ विद्वान् ही जानता है। श्लोक में **'योग'** शब्द आया है, उसका शास्त्रीय विधि से विवेचन करते हैं-**यजुर्वेद मन्त्र ७/४** में कहा **'उपयामगृहीतः असि'** अर्थात् हे जीव तू यम-नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि इन योग के आठ अंगों को ग्रहण करने योग्य है। जिज्ञासु जब वेदाध्ययन के पश्चात इन अंगों का अभ्यास करता है, तब वह आठवाँ पद समाधि प्राप्त करता है। योग शास्त्र का पहला सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** है। **'अथ'** शब्द का अर्थ है 'इसके बाद' अर्थात् बहुत दिन गुरु सेवा एवं इन्द्रिय संयम के बाद, योग की शिक्षा प्रारंभ हुई। युज् धातु से निष्पन्न 'योग' शब्द का अर्थ समाधि है। **'अनु'** शब्द का अर्थ **"परम्परागत योगाभ्यास के बाद"**। भाव यह है कि गुरु भक्ति द्वारा ज्ञान प्राप्त योगाभ्यास साधक को करने के पश्चात समाधि प्राप्त होती है। दूसरे सूत्र में कहा:-**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** योग अर्थात् समाधि "चित्त की वृत्तियों के निरोध

(रुकने) को" कहते हैं। योग के आठ अंगों के अभ्यास के बाद ही चित्त की वृत्तियों का निरोध होता है। तब योगी समाधि पद प्राप्त करता है, योगी कहलाता है-मोक्ष प्राप्त करता है, ईश्वर में लीन होता है इत्यादि यह सब योग अथवा समाधि की अवस्थाएँ हैं। **"सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात"** ये दो प्रकार की समाधि हैं। **योग शास्त्र सूत्र १/१७** में चार प्रकार की "सम्प्रज्ञात समाधि" का वर्णन है। समाधि प्राप्त साधक ही योगी कहलाता है। समाधि का अर्थ ही योग कहा गया है। अतः योग की ऐसी अवस्था में जब सब चित्त की वृत्तियाँ रुक जाती हैं, तब कोई भी प्राणी कोई भी कर्त्तव्य करने में समर्थ नहीं होता। उस समय वह ब्रह्मलीन होता है। इस अवस्था में जीव के सब संशय नष्ट हो जाते हैं एवं तब किसी उपदेश की आवश्यकता नहीं होती। यह महान अवस्था तो योगेश्वर श्रीकृष्ण, श्री राम अथवा व्यास मुनि जैसे ऋषियों, मुनियों, योगियों की हुई है। तथा युद्ध क्षेत्र में ऐसी योग विद्या का उपदेश अर्जुन को दिया भी नहीं जा सकता। क्योंकि योग के आठ अंगों का शब्दों द्वारा वर्णन मात्र भी तो अष्टाँग योग नहीं है। आठों अंगों का वर्षों अभ्यास करना होता है। अतः केवल पढ़, सुन, रट कर बोलने, नाचने, गाने वा हँसने हँसाने का नाम ब्रह्म विद्या नहीं है। अतः गीता के इस श्लोक में कहा गया योग शब्द वेदों में अथवा शास्त्रों में कहा आठ अंगों वाला अष्टाँग योग नहीं है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को यहाँ कहा है:-**'योगस्थः कुरु कर्माणि'** योग में स्थित होकर कर्म कर। योग-समाधि में तो कर्म किया ही नहीं जा सकता। परन्तु श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि कर्म तो कर लेकिन योग में स्थित होकर कर्म कर। अतः यहाँ **'योग'** शब्द का अर्थ **'कर्मयोग'** है जिसके करते समय अथवा बाद में लाभ-हानि, हार-जीत इत्यादि वाली सिद्धि अथवा असिद्धि का फल सुख वा दुःख महसूस नहीं होता। एवं जिस एक शुभ कर्म में वृत्ति लग गई है, उससे हटती नहीं है। कर्म करते समय परिवार इत्यादि का मोह भी नहीं सताता। कर्म फल पर दृष्टि न होने के कारण, कर्म पूर्ण शक्ति से किया जाता है। यह वैदिक अनादि विचार है कि ज्ञान दिए बिना ज्ञान नहीं होता। अतः हम निम्नलिखित वेदमंत्रों के भावों को जानने का प्रयत्न करें, जो प्राणीमात्र को यह समझा रहे हैं कि परमेश्वर और विद्वान् के बिना किसी को कभी भी कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता और इस प्रकार न कोई धार्मिक हो सकता है और न

ही कोई परमेश्वर और वेदों के ज्ञाता विद्वान् के बिना कोई सुख प्राप्त कर सकता है।

१. **ऋग्वेद मंत्र १/७७/२** का भाव है कि परमेश्वर और धर्मात्मा मनुष्य के बिना मनुष्यों को विद्या का देने वाला दूसरा कोई नहीं है तथा उन दोनों को छोड़ के उपासना तथा सत्कार भी किसी का नहीं करना चाहिए।

२. **ऋग्वेद ४/२८/१** का भाव है कि जैसे सूर्य सब के सुख के लिए वर्षा करके सबको आनन्द देता है वैसे ही वेदों के ज्ञाता विद्वानों की मित्रता सबको आनन्द देने वाली है।

३. **ऋग्वेद १/७८/१** का भाव है कि सब मनुष्यों को चाहिए कि परमेश्वर की उपासना और वेदों के ज्ञाता विद्वानों का सङ्ग करके विद्या का विचार करें।

श्री कृष्ण अर्जुन को यही ज्ञान देकर केवल 'धर्मयुद्ध' में ही वृत्ति एकाग्र करने की प्रेरणा देते हुए योग में अर्थात् कर्म योग में स्थित होकर तथा सिद्धि-असिद्धि में समान होकर शुभ कर्म, यहाँ पर 'धर्म-युद्ध' करने को कह रहे हैं। कर्म में आसक्ति के त्याग की भी बात है। जब लाभ-हानि, सिद्धि-असिद्धि पर ध्यान नहीं रहता, तब ध्यान केवल कर्म करने तक सीमित हो जाता है। और अधिक शक्ति से कर्म किया जाता है। क्योंकि कर्म योग करते यह तो विचार ही नहीं होगा कि कर्म का फल लाभ या यश कीर्ति इत्यादि मिलनी है। अतः जल्दी-जल्दी कर्म समाप्त करना है इत्यादि। तो कर्म फल में आसक्ति न होने पर कर्म में भी आसक्ति नहीं होगी। यह आसक्ति एवं इससे प्राप्त कर्म फल ही जीव को कर्म बंधन में फँसा कर जन्म-मृत्यु के चक्कर में बांधता है। अतः विद्वानों से वेदों में कहे यज्ञ, परिवार, समाज तथा देश के प्रति शुभ कर्मों को समझकर तथा कर्म योग के मर्म को जान कर जब कोई शुभ कर्म करेगा तब वह कर्म बंधन में नहीं फँसेगा-कर्म करता हुआ ही मुक्त हो जायेगा। (देखें **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२**) कर्म योग को समझने के लिये **योग शास्त्र सूत्र १/१** की व्याख्या में व्यास मुनि कहते हैं कि 'योग-समाधि' चित्त की सब अवस्थाओं में चित्त का गुण है। पिछले श्लोक २/४७ की व्याख्या में चित्त की क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध। इन

अवस्थाओं का वर्णन किया था। निरुद्ध अवस्था में ही साधक योग-समाधि प्राप्त करता है लेकिन ऊपर व्यास मुनि के अनुसार समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का गुण है। अतः शेष चार अवस्थाओं में भी चित्त समाधिवान ही है। यहाँ समाधि का अर्थ संसारी वृत्ति अथवा कर्म से जुड़ना है। देखने में आता है कि जब कोई पढ़ाई में बिल्कुल लीन है तो उसे दूसरी कोई बात याद नहीं रहती। कोई खेल में, आफिस के कार्य में, नींद में यदि बिल्कुल लीन है तो उसे अन्य संसारी कर्म या बातें उस समय रुकावट नहीं डालती। अतः अच्छे-बुरे सब कर्मों में चित्त लीन हो जाता है। यही चित्त की सब अवस्थाओं में समाधि अवस्था है। जरूरत इस बात की है कि हम चित्त को केवल शुभ कर्मों में ही लगायें तथा भवसागर से पार उतरें। क्योंकि समाधि-योग सब पाँचों अवस्थाओं में चित्त का गुण है। अतः श्री कृष्ण ने इसे कर्म योग कह कर अर्जुन के लिये धर्म-युद्ध से जुड़ना समाधि अथवा कर्म योग-समाधि कह दिया है। अतः वेदोक्त किसी भी शुभ कर्म से जुड़ना चित्त की समाधि अवस्था है यदि हम कर्म फल से वृत्ति हटा लेते हैं। चित्त तो शुभ या अशुभ कर्म में लगा दो वह उसी में लग जायेगा क्योंकि यह सब अवस्थाओं में उसका गुण है। परन्तु यहाँ तो शुभ कर्मों का आदेश है। अतः भवसागर से तरने के लिये हमारा पुरुषार्थ, उत्साह केवल वेदोक्त शुभ कर्मों के लिये ही हो, चित्त तो वहाँ भी लगा रहेगा। इसे ही श्री कृष्ण ने कर्म योग अथवा समत्व योग कहा है। अर्जुन को यह कर्म योग योगेश्वर श्री कृष्ण के समझाने पर ही समझ में आया था। गीता में कहा सम्पूर्ण ज्ञान वेदों द्वारा ही कहा ज्ञान है। गीता पढ़कर श्री कृष्ण ने गीता ज्ञान नहीं दिया, अपितु गीता में उन्होंने वेदों का ज्ञान दिया है। अर्जुन बचपन से चारों वेद सुनता आया था, अतः उसे श्री कृष्ण की भाषा समझते देर नहीं लगी। तथा कर्म योग समझ कर धर्मयुद्ध करके अर्जुन ने कर्म योगी का पद प्राप्त किया तथा भवसागर तर गया। परन्तु वेद की निन्दा करने वाले, योग, यज्ञ इत्यादि को नकारने वाले, तथा केवल गीता ग्रन्थ को पढ़, सुन, रट कर बोलने वाले सन्त, गुरु, मनुष्य तथा नेताओं के भविष्य तथा फलस्वरूप देश के भविष्य पर तो प्रश्न चिन्ह लग जाता है। हमें पुरुषार्थी, ज्ञानी एवं कर्मयोगी बनकर समाज एवं राष्ट्र के सुन्दर भविष्य का निर्माण करने का संकल्प लेना होगा।

श्रीकृष्ण उवाच --

'दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।

(गीता २/४६)

(बुद्धियोगात्) निष्काम कर्म-रूप योग से **(कर्म)** सकाम कर्म **(दूरेण)** अत्यन्त **(अवरम्)** छोटा है। **(धनंजय)** हे अर्जुन **(बुद्धौ)** बुद्धि योग में **(शरणम्)** आश्रय **(अन्विच्छ)** प्राप्त कर **(हि)** निश्चय ही **(फलहेतवः)** कर्म फल की कामना करने वाले **(कृपणाः)** अत्यन्त दयनीय हैं।

अर्थ : निष्काम कर्म-रूप योग से सकाम कर्म अत्यन्त छोटा है। हे अर्जुन! तू बुद्धि योग में आश्रय प्राप्त कर। निश्चित ही कर्म फल की कामना करने वाले अत्यन्त दयनीय हैं।

भावार्थ : यजुर्वेद मंत्र ४०/२ सम्पूर्ण यजुर्वेद में कहे कर्म काण्ड का सार है कि कर्म करने का कौशल यही है कि **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि, न कर्म लिप्यते नरे"** अर्थात् मनुष्य कर्म तो करे परन्तु उसे उस कर्म का फल न भोगना पड़े। कर्म फल ही बंधन है। जैसा कि इस विषय में **ऋग्वेद मंत्र ७/१८/१०** एवं सभी वेद स्पष्ट ज्ञान देते हैं **"यथाकृतम् ईयुः"** अर्थात् जैसा जीव कर्म करता है ईश्वर व्यवस्था में उसे वैसा ही फल मिलता है। परन्तु जब योगेश्वर कृष्ण अथवा कोई वेदज्ञ ऋषि-मुनि कर्म का उपदेश देता है, तो मुख्यतः शुभ और अशुभ कर्म का अंतर समझाकर वह केवल शुभ कर्म करने की प्रेरणा देता है। यहाँ श्लोक में **'बुद्धियोगात्'** शब्द का अर्थ बुद्धि-योग एवं बुद्धि योग का अर्थ कर्मयोग तथा कर्मयोग का अर्थ निष्काम कर्म करना है-वह शुभ कर्म जिसके फल की इच्छा न हो। इस कर्म योग का वर्णन श्लोक ४८ में भी है। परन्तु यहाँ इसका नाम बुद्धियोग कहा है। **श्लोक २/४१** में मुख्य रूप से व्यवसायात्मिका एवं अव्यवसायात्मिका, इन दो प्रकार की बुद्धि का वर्णन है। **कठोपनिषद् तृतीय वल्ली श्लोक ३** में जड़ शरीर को रथ, चेतन जीवात्मा को रथ का मालिक, बुद्धि को शरीर रूपी रथ चलाने वाला सारथी (चालक) तथा मन को लगाम कहा है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ घोड़े कहें हैं।

यदि बुद्धि (सारथी) समझदार (ज्ञानी) है, तब तो मन रूपी लगाम को कसकर तथा इन्द्रिय रूपी घोड़ों को लगाम के द्वारा वश में रखकर, जीवात्मा की आज्ञा मानकर शरीर रूपी रथ को ब्रह्म प्राप्ति की ओर यह बुद्धि रूपी सारथी ले चलता है। अन्यथा भव सागर में डूबो देता है। इसलिए आगे के श्लोक ८ में कहा कि जो वेदों का उपदेश सुनकर तदानुसार शुभ कर्मों को करता हुआ तथा योगाभ्यास इत्यादि द्वारा आत्मज्ञानी हो गया है। उस पुरुष की बुद्धि चेतन जीवात्मा से जुड़ी होती है तथा उसकी प्रत्येक इंद्रियाँ भी वश में होती हैं। अर्थात् बुद्धि आत्मिक निर्णय मानती है। इंद्रियों के भौतिक निर्णय नहीं मानती। इस स्थिति में **योगशास्त्र सूत्र १/४८** में कहा- **"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"** अर्थात् योगाभ्यास द्वारा प्राप्त निर्विचार समाधि से निर्मल हुई ऐसी बुद्धि सदा सत्य में ही स्थित होती है। तथा अविद्या आदि क्लेश के प्रभाव से सदा रहित होती है। यह बुद्धि केवल सत्य का ही पालन करती है एवं शुद्ध वैदिक कर्मों की आज्ञा देकर कर्म-इन्द्रियों द्वारा केवल शुभ कर्म कराती है। इस समय बुद्धि वा मन पूर्णतः आत्मा से जुड़ा होता है। इसे ही बुद्धि योग, व्यवसायात्मिका बुद्धि अथवा निश्चयात्मक बुद्धि कहते हैं। अर्थात् बुद्धि का योग आत्मा से है, सत्य से है, वैदिक-विद्या से है। वैदिक विद्या में ही कर्म-काण्ड, ज्ञान काण्ड एवं उपासना काण्ड ये तीन विद्याएँ कही गई हैं जिनका ज्ञान इस निश्चयात्मक बुद्धि में होता है। इसी बुद्धि द्वारा निष्काम कर्म किए जाते हैं। और जब यह बुद्धि इस प्रकार निष्काम कर्म करती है तो इस प्रकार के किए हुए कर्मों को ही कर्म योग कहते हैं। क्योंकि इस अवस्था में जीवात्मा, बुद्धि इत्यादि इन्द्रियों से नहीं जुड़ा हुआ है और न ही इन्द्रियों की विषय-विकारी बात मानता है। अपितु बुद्धि जो कर्म करने का निर्णय लेती है वह योगाभ्यास तथा साधना विशेष द्वारा जीवात्मा से जुड़ी हुई है। ऐसे में जीवात्मा इन्द्रियों की गुलाम नहीं है। विपरीत में जो मनुष्य वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि शुभ कर्मों से आत्मज्ञान को प्राप्त नहीं होता, उसकी इन्द्रियाँ भी चंचल होती हैं। और जीवात्मा, बुद्धि व मन से जुड़ी होकर, इन्द्रियों द्वारा प्रेरित पाप कर्म करता है। इस दशा में जीवात्मा अपने स्वरूप को भूलकर अविवेकी हो जाता है। अतः चंचल इन्द्रियों पर संयम रखने वाले मनुष्य की अवस्था ही बुद्धि योग की होती है जिसमें निष्काम कर्म या कर्म योग सम्भव होता है। वस्तुतः जैसा **ऋग्वेद**

मंत्र १०/१३५/३ में कहा कि प्राणी बिना वेदाध्ययन एवं वेदज्ञ विद्वानों के साथ विचार किए हुए ही अनेक इच्छाओं को अपने अन्तः करण में उत्पन्न कर लेता है। ऐसी इच्छाएँ ही दुःखदायक परेशान करने वाली एवं रोग ग्रस्त युक्त आदि आत्मघाती होती हैं। अब क्योंकि अर्जुन की बुद्धि इस समय चंचल है, अव्यवसायात्मिका-अनिश्चयात्मक है। वह क्षत्रिय धर्मयुद्ध पर एकाग्र न होकर वर्णसंकर दोष एवं परिवार की मृत्यु आदि युद्ध के कर्म फल पर विचार कर रही है, निष्काम कर्म पर स्थिर नहीं है। तभी श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुन को मन, बुद्धि वा इन्द्रियों से न जुड़ने का ज्ञान देते हुए बुद्धि योग-कर्मयोग की बात समझा रहे हैं। और ऐसा वैदिक ज्ञान कोई वेद एवं योग विद्या का ज्ञाता व्यास-मुनि अथवा योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसी विभूति ही दे सकती है, वेद-विद्या से विहीन अन्य नहीं दे सकता। ऐसी चंचल बुद्धि के विषय में भी **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/४** कहता है कि जब मनुष्य वेदज्ञ विद्वानों की प्रेरणा-उपदेश ग्रहण करके उनके अनुसार शुभ कर्म करता है तभी उसे आत्म ज्ञान एवं शांति प्राप्त होती है। क्योंकि **मंत्र १०/१३५/५** स्पष्ट करता है कि मनुष्य को जीवन के अद्भुत रहस्यों को जानने के लिए किसी न किसी विद्वान् की शरण में निश्चित रूप से जाना ही होगा। अर्जुन बचपन से वेद सुने हुए था, और इस कथित मंत्र ५ के रहस्य को भी जानता था। अतः दोनों सेनाओं के मध्य रथ में खड़े होकर जब उसे अज्ञान जागा तो उसने **गीता श्लोक २/७** में स्पष्ट कह दिया कि मैं धर्म के विषय में मोहित चित्तवाला हूँ मुझे कल्याणकारी साधन बताओ क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ अतः आपकी शरण में हूँ। मुझे शिक्षा दीजिए।

अर्जुन की इसी प्रार्थना पर श्री कृष्ण ने उसे वैदिक उपदेश दिया और यहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि तू बुद्धि योग का सहारा ले अर्थात् निष्काम कर्म कर, कर्म फल की इच्छा न कर। क्योंकि बुद्धियोग-निष्काम कर्म-कर्मयोग की तुलना में फल की इच्छा से किया हुआ सकाम कर्म अत्यन्त छोटा है-तुच्छ है। अर्थात् कर्मयोग की तुलना में सकाम कर्म कुछ भी नहीं है। सकाम कर्म में फल की तरफ दृष्टि होने के कारण कर्म पूर्ण शक्ति से भी नहीं होता। तथा लोभ, मोह, बना रहता है। जिससे कर्म बीच में रुक सकता है। जैसे योद्धा

को युद्ध करते-करते परिवार की याद आ जाए तो वह बीच में ही युद्ध छोड़कर भाग सकता है, जो महापाप होता है। पुनः निश्चित किया हुआ फल यदि कर्म करने के पश्चात प्राप्त नहीं होता तो क्रोध, दुःख एवं क्लेश प्राप्त होता है। अतः वेदोक्त निष्काम कर्म ही श्रेष्ठ है। यही समत्व बुद्धियोग है। जिसका सहारा लेने के लिए श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में अर्जुन को उपदेश दिया है और उसको समझाया कि जो कर्म करने में फल की वासना रखते हैं वह **"कृपणाः"** अत्यन्त दीन हैं, भिखारी हैं। विद्वान् को तो केवल शुभ कर्म ही करने चाहिए। दुर्योधन ने पाण्डवों को बारह वर्ष का पुनः अज्ञातवास दिया था। यह सोचकर कि पाण्डव वनों में भटक-भटक कर मर जाएँगे अथवा बारह वर्ष से पहले दुर्योधन उन्हें देख लेगा तो पुनः उन्हें बारह वर्ष जंगल में काटने होंगे। परन्तु जब यह कर्मफल उसे नहीं मिला तो वह राज्य के लिए अत्यन्त दीन होकर भीष्म, श्रीकृष्ण जैसे अनेक योद्धाओं से युद्ध में उसका साथ देने के लिए भीख मांगने गया था। जबकि पाण्डवों को वन इत्यादि में भेजने का उसका यह कर्म वेद विरुद्ध पाप कर्म था। मनुष्य को तो वैदिक उपदेश में केवल शुभ निष्काम कर्म की प्रेरणा है। जैसे **सामवेद मंत्र २५९** में कहा-**"इन्द्र नः क्रतुंआभर"** हे परमेश्वर हमें शुभ कर्म करने की प्रेरणा दो। **ऋग्वेद मंत्र ७/६६/१०** का भाव है कि जो विद्वान् पुरुष पुरुषार्थी होकर शुभ कर्मों द्वारा कर्म-क्षेत्र को बढ़ाते हैं, वही कर्म, उपासना तथा ज्ञान द्वारा अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष का सुख प्राप्त करते हैं। इसी को इस **ऋग्वेद मंत्र में "त्रीणि"** शब्द द्वारा प्रस्तुत किया है। त्रीणि शब्द यहाँ कर्म, उपासना एवं ज्ञान, इन तीन विद्याओं का द्योतक है। **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में इसे **"त्रयम् ब्रह्म सनातनम् दुदोह"**-अर्थात् यही कर्म आदि तीन विद्याओं को ऋषियों ने वेदों से दोह (निचोड़) लिया। अतः शांति न केवल कर्म, न केवल ज्ञान और न केवल उपासना में है। ज्ञान प्राप्त करके ज्ञान युक्त शुभ कर्म तथा ज्ञान युक्त उपासना ये तीनों ही विद्याएँ मिलकर मनुष्य को सुख-शांति एवं मोक्ष पद देती हैं। हमें यह जान लेना चाहिए कि ईश्वर जानने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि हम रामायण, गीता, उपनिषद् अथवा वेदादि पढ़ सुन रट कर बोलते अथवा सुनते हैं। यह तो केनोपनिषद् में ईश्वर भक्ति एवं विद्या का अपमान कहा है। वस्तुतः ईश्वर जानने तक पहुँचने में चारों वेदों का ज्ञान उसमें कई शुभ कर्म,

उपासना एवं ज्ञान काण्ड इन सबको गुरु के शब्दों द्वारा जानने के पश्चात वेदों में ही कहे ब्रह्मचर्य एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार करना कहा है। इसलिए गीता में भी प्रथम छः अध्याय कर्म, मध्य के छः अध्याय उपासना एवं अंतिम छः अध्याय ज्ञान काण्ड कहे गए हैं। तभी शांति पर्व के श्लोक ५३/२० में भीष्म ने कहा कि हे युधिष्ठिर! जो (शब्द ब्रह्म) वेद मंत्रों के अर्थ एवं भाव को उपदेश द्वारा जान जाता है वही निराकार ब्रह्म को पा लेता है। अतः व्यवसायात्मिका-निश्चयात्मक बुद्धि में शब्द-ब्रह्म अर्थात् वैदिक शुभ कर्मों का ज्ञान एवं पर ब्रह्म अर्थात् योगाभ्यास इत्यादि द्वारा ब्रह्म के साक्षात्कार का ज्ञान यह दोनों ही ज्ञान समाए होते हैं। तभी श्री कृष्ण अर्जुन को कहते हैं कि तू बुद्धि योग-कर्मयोग का सहारा ले। क्योंकि अर्जुन **यजुर्वेद ११/१५, १०/२२ तथा १०/३३, ऋग्वेद ७/१८/११ तथा सामवेद १४०६** एवं ऐसे अनेक वेदमन्त्रों में क्षत्रिय द्वारा धर्म-युद्ध करने की आज्ञा भूल गया था। हमारी बुद्धि जीवात्मा से जुड़कर, जीवात्मा का निर्णय लेकर काम करे, जीवात्मा मन व बुद्धि से कभी न जुड़े। जीवात्मा मन, बुद्धि की आज्ञा कभी न माने। अपितु गृहस्थ के शुभ कर्म करते-करते ही योगाभ्यास द्वारा मन बुद्धि तथा चंचल इन्द्रियों को वश में करे। तभी परिवार, समाज एवं राष्ट्र सुखी हो पाएगा। यही अवस्था है सुदृढ़ राष्ट्र-निर्माण की। अन्यथा श्री कृष्ण जैसे महानुभाव के वैदिक उपदेश तथा योगाभ्यास के अभाव में पढ़े-लिखे बुद्धिजीवी वर्ग के प्राणी ही तो ऊँचे-ऊँचे पद पर बैठे राष्ट्रद्रोह, भ्रष्टाचार, झूठ, छल-कपट, वासना इत्यादि में लिप्त हैं। उनकी बुद्धि-मन जो उनकी जीवात्मा को पापयुक्त आज्ञाएँ देती हैं, वह मनुष्य सिर झुकाकर उनको मानता है-पाप करता है। एक उक्ति है:- **"पराधीन स्वपनेहु सुख नांहि"** जो गुलाम है उसे कभी सुख नहीं मिल सकता। अतः आज विश्व की इन्द्रियों के गुलाम नर-नारियों को धन, उच्च पद इत्यादि तो रावण की तरह मिल सकते हैं, परन्तु सुख शान्ति कहाँ? वेद एवं योग-विद्या से हीन कई प्राणी तो गीता पर प्रवचन कर-कर के धन कमा रहे हैं जिसकी धर्म अनुमति नहीं देता।

श्री कृष्ण उवाच-

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते
तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।
(गीता : २/५०)

(बुद्धि) निष्काम कर्म रूपी बुद्धि से **(युक्तः)** युक्त पुरुष **(सुकृत)** पुण्य एवं **(दुष्कृते)** पाप **(उभे)** दोनों को **(इह)** इसी लोक में **(जहाति)** छोड़ देता है **(तस्मात्)** इसलिए तू **(योगाय)** योग के लिए **(युज्यस्व)** जुड़ जा क्योंकि **(योगः)** कर्म योग **(कर्मसु)** कर्मों में **(कौशलम्)** चतुरता है।

अर्थ : निष्काम कर्म रूपी बुद्धि से युक्त पुरुष पुण्य एवं पाप दोनों को इसी लोक में छोड़ देता है। इसलिए तू योग के लिए जुड़ जा क्योंकि कर्म योग, कर्मों में चतुरता है।

भावार्थ : प्रत्येक नर-नारी स्वभाव से ही सदा सुख चाहता है। परन्तु ईश्वर भक्ति द्वारा आत्म ज्ञान प्राप्त किए बिना सुख की प्राप्ति सदा असम्भव है। आत्म ज्ञान के विषय में प्रथम इतना जानना आवश्यक है कि हम शरीर नहीं है। यह हमारा शरीर है। शरीर प च भौतिक जड़ एवं नाशवान पदार्थ है। इसी शरीर में हम रहते हैं। हम का यहाँ अर्थ है चेतन जीवात्मा। जो अजर, अमर, अविनाशी है। इसी जीवात्मा में परमात्मा है जो केवल इसी मानव शरीर में वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा प्रकट होता है। इसी सत्य को **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/२०** में यूँ कहा-**"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते। तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभि चाकशीति।।"** अर्थात् एक वृक्ष है, जिस पर दो चेतन पक्षी रहते हैं। एक पक्षी उस वृक्ष के फल खाता है दूसरा चेतन पक्षी केवल द्रष्टा है। वृक्ष नाशवान है। इसे ही यहाँ शरीर कहा है। दो चेतन पक्षी में चेतन जीवात्मा है दूसरा परमात्मा । जीवात्मा शरीर द्वारा शुभ-अशुभ करके उसके फल पुण्य या पाप भोगता है परन्तु परमात्मा जीवात्मा के कर्मों का द्रष्टा है, परमात्मा कर्मफल नहीं भोगता। **मनुस्मृति श्लोक २/९३** में कहा **"इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन"** जीवात्मा इन्द्रियों के साथ मन लगाने पर **"दोषम् ऋच्छति"** दोषी हो जाता है। अर्थात् सत्य धर्म का त्याग करके अधर्म युक्त पाप कर्म करता है। और वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि शुभ कर्म किया हुआ जीवात्मा, बुद्धि व मन से न जुड़कर बुद्धि ही जीवात्मा के अधीन

होकर शुभ कर्म में प्रवृत्त होती है। जब जीवात्मा की ऐसी स्थिति होती है कि बुद्धि एवं मन योगाभ्यास इत्यादि द्वारा जीवात्मा से जुड़ कर केवल वेदोक्त शुभ कर्म ही करता है तब जीवात्मा को कर्म करने का कौशल प्राप्त होता है। और वह **"बुद्धियुक्तः"** अर्थात् कर्म योग में प्रवीण है। ऐसे जीवात्मा की बुद्धि सत्य से जुड़ी होती है। ईश्वर में लीन होती है। ऐसी बुद्धि जीवात्मा से जुड़ी होकर आँख, हाथ, पैर इत्यादि पाँच ज्ञान इन्द्रियों एवं पाँच कर्मेन्द्रियों द्वारा केवल शुभ कर्मों का ही अनुष्ठान करती है। एवं परमात्मा में लीन होने के कारण जीवात्मा को कर्म फल भोगने के लिए भी दुबारा जन्म लेकर जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसना नहीं पड़ता है। ऐसी बुद्धि ही कर्म योग में कुशलता प्राप्त किए होती है। कर्म योग, निष्काम कर्म योग, बुद्धि योग, योग, समत्व बुद्धि योग यह शब्द एक दूसरे के पर्यायवाची हैं अर्थात् इन सब शब्दों का एक ही अर्थ है। जैसे ऋग्वेद मंत्र में कहा कि वेदों के उपदेश के बिना कर्मयोग सिद्ध हो नहीं सकता। उपदेश पहले शब्दों से होता है, पुनः योगाभ्यास इत्यादि द्वारा इन्द्रियाँ संयम की जाती हैं तब स्वभाविक गुण उत्पन्न होता है। अर्जुन का मन, बुद्धि एवं इन्द्रियाँ इस समय चंचल हैं एवं आत्मा मन वा बुद्धि से जुड़ा हुआ है, अर्थात् इन्द्रियों की पकड़ में है। इस अवस्था में अर्जुन युद्ध के बाद परिवार की होने वाली दुर्दशा आदि पर विचार कर रहा है जो क्षत्रिय योद्धा के लिये धर्म के विरूद्ध है। अतः श्री कृष्ण अर्जुन को **"बुद्धियुक्तः"** अर्थात् कर्म योग का उपदेश देकर समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तू मन बुद्धि की मोह इत्यादि वाली बातें न मान। कर्म करने का कौशल यह है कि तेरी आत्मा से मन-बुद्धि जुड़ें, तू इनसे न जुड़े। यही **"बुद्धियुक्तः"** अर्थात् कर्म-योग समत्व बुद्धि योग इत्यादि है। अतः तू **"योगाय, युज्यस्व"** कर्म योग से जुड़ जा। क्योंकि ऐसे कर्म योगी की जीवात्मा ईश्वर से जुड़ी होती है, सदा शुभ कर्म करती है। फलस्वरूप **"सुकृत-दुष्कृते जहाति"** पाप-पुण्य में लिप्त नहीं होती, उसे कर्म बन्धन में नहीं पड़ना होता। यह "कर्म-योग" ही कर्म करने में कौशल है। परन्तु प्रश्न है कि उपदेश देते समय तक भी अर्जुन को जीवात्मा, कर्म योग, प्रकृति के तीन गुण एवं परमात्मा के स्वरूप का शब्दों से तो ज्ञान हो रहा था परन्तु योगाभ्यास आदि द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि में अनुभव नहीं हो गया था। यह तो अर्जुन ने जब श्री कृष्ण का विराट रूप एंवं उनमें अद्भूत ज्ञान

महसूस किया तब अर्जुन ने श्री कृष्ण के शब्द ज्ञान को रण क्षेत्र में स्वीकार कर लिया एवं पश्चात युद्ध किया था। समाधि का ज्ञान तो अर्जुन को महाभारत युद्ध के पश्चात योगाभ्यास के बाद ज्ञात हुआ था। अतः प्रथम कृष्ण जैसे योगेश्वर के वैदिक वचनों पर विश्वास करके भी जीव कर्म योग करने में कौशल प्राप्त करने में सफलता प्राप्त करके बाद में आत्म ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी बन जाता है। इस विषय में महाभारत में कहा है कि जो शब्द ब्रह्म में पारंगत हो जाता है वह ही पर-ब्रह्म को पा जाता है। फल की इच्छा उसको नहीं होगी जो ब्रह्म में लीन है क्योंकि ब्रह्म प्राप्ति का ही इतना स्थायी आलौकिक सुख है कि किसी प्रकार की इच्छा का जन्म होता ही नहीं है। दूसरा श्री कृष्ण ने इस श्लोक में कहा **"सुकृत-दुष्कृते जहाति"** अर्थात् कर्मयोगी पाप और पुण्य को इसी संसार में त्याग देता है। तो इसका भी वैदिक अर्थ **बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३** में कहा -**"तद् एतत् ऋचा अभि उक्तम्"** यह विचार वेदों से कहा गया है कि **"ब्राह्मणस्य"** ब्रह्मलीन **"तम् विदित्वा"** उस ईश्वर को जानकर **"पापकेन"** पापकर्म से लिप्त नहीं होता। और इससे आगे कहा-**"एष नित्यो महिमा ब्रह्मणस्य न वर्धते कर्मणा नो कनीयान्"** अर्थात् यह ब्रह्म ज्ञानी की नित्य महिमा है कि वह न तो कर्म से बढ़ता है और न घटता है। अर्थात् शुभ कर्म करने का पुण्य नहीं मिलता एवं दुष्कर्म के फल पाप से लिप्त नहीं होता। वास्तव में अष्टांग योग-सिद्ध समाधि प्राप्त योगी, ऋषि-मुनि वेद-विरुद्ध पाप कर्म की इच्छा नहीं करता। वेद शास्त्र स्पष्ट करते हैं कि वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि प्रत्यक्ष साधना करने वाला जीव ही पाप-पुण्य से छूट पाएगा। यदि प्राणी साधना नहीं करेगा तब तो केवल पढ़ा-सुना-रटा ज्ञान उसे नीच योनियों में ही ले जाएगा। **अथर्ववेद मन्त्र ८/४/८** कहता है, जो मनुष्य ऊपर से पवित्र मन वाले बनकर असत्य बोलते हैं वेद-विरुद्ध बोलते हैं वह नष्ट हो जाएँ। इस वेद मन्त्र पर आज के सन्तों एवं नेताओं को विशेष ध्यान देना चाहिए कि वह जुबान से क्या बोलते हैं और मन में क्या पाप छिपा है। क्योंकि इन्हीं दो शक्तियों अर्थात् ऋषि-मुनि, सन्त एवं नेताओं दोनों पर राष्ट्र-निर्माण का भार है। अगर यह असत्यवादी हैं तो **सांख्य शास्त्र** के मुनि **कपिल सूत्र ३/८१** में कहते हैं **"इतरथा अन्धपरम्परा"** तब तो समाज में अन्धों की परम्परा अर्थात्

अज्ञान, आडम्बर, अन्धविश्वास फैल जाएगा और मनुष्य उस असत्य को ही सत्य जानेगा। लगता है कि पिछले ५५ साल में नई पीढ़ी ने सम्भवतः यह राजनीति पुराने नेताओं से सीख ली है कि झूठ बोलो, पाप करो, कुर्सी हथियाने के लिए धर्म की आड़ इत्यादि जो मर्जी काण्ड रचो और इस प्रकार अपना डण्डा चलाओ। दूसरी ओर प्रायः सन्त साधुओं ने यह सीख लिया है कि पण्डाल सजाओ, जनता इकट्ठी करो, उन्हें नचाओ, तालियाँ बजवाओ, वेदों के विरुद्ध बोलो, वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास को परे फैंको, केवल बातें बना-बना कर धन ऐंठो। यह सब कुछ वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास का जीवन में सचमुच अभ्यास न करने का फल हुआ है। अतः हमें वेदज्ञ विद्वानों के वचन सुनकर तर्क-वितर्क द्वारा सत्य निर्धारित करके केवल शुभकर्मों का ही अनुसरण करना चाहिए। नित्य ईश्वर भक्ति, योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वश में करके कर्म योगी बनने का प्रयत्न करना चाहिए। केवल पढ़, सुन, रट कर ज्ञानी कहलाना, धन लूटना इत्यादि अशुभ कर्म करना यह तो ब्रह्म विद्या का अनादर है। अतः कर्मयोग का अर्थ अथवा पाप पुण्य त्यागने का अर्थ यह कदापि नहीं है कि केवल गीता सुनकर कोई कर्म योगी हो गया अब चाहे वह पुण्य करे या पाप। अपितु इसका वास्तविक अर्थ यह है कि जैसा योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को शब्द ब्रह्म (वेदमंत्रों) से ज्ञान दे रहे हैं तो साधक भी आज अपने विद्वान् आचार्य से ज्ञान, कर्म एवं उपासना के रहस्य को शब्दों द्वारा (वेदमंत्रों के प्रवचन द्वारा) सुने और समझे तथा उस सुने हुए ज्ञान को समझकर जीवन में धारण करे-आचरण में लाए। फलस्वरूप ही साधक संयमी बनकर कर्म के कौशल को जानने और इस प्रकार निष्काम कर्म करने में प्रवीण हो जाएगा। केवल पढ़, सुन, रट कर बोलने और सुनने में तो अवगुण प्रकट होने की संभावना है।

श्री कृष्ण उवाच-

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्वक्तवा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।

(गीता : २/५१)

(मनीषिणः) वेदों के मनन करने वाले पुरुष **(बुद्धियुक्ताः)** बुद्धियोग से **(हि)**

निश्चय से **(कर्मजम्)** कर्मों के करने से उत्पन्न होने वाले **(फलम्)** कर्म फल को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः)** जन्म के बन्धन से छूटे हुए **(अनामयम्)** दुःख रहित **(पदम्)** अमर पद को **(गच्छन्ति)** जाते हैं।

अर्थ : वेदों के मनन करने वाले पुरुष बुद्धियोग से निश्चय से कर्मों के करने से उत्पन्न होने वाले कर्म फल को त्यागकर जन्म के बंधन से छूटे हुए दुःख रहित अमर पद को जाते हैं। अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं।

भावार्थ : आज से लगभग सवा पाँच हजार वर्ष पहले महाभारत के वन पर्व में यक्ष ने धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया था **"कः पन्थाः"** जीवन पथ क्या है? अर्थात् हम किस मार्ग पर चलकर जीवन सफल करें। उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था **"तर्कः अप्रतिष्ठः"** तर्क की स्थिति नहीं है अर्थात् पूजा, पाठ अथवा धर्म इत्यादि के विषय में प्रश्न-उत्तर, तर्क-वितर्क, वाद-विवाद, शास्त्रार्थ इत्यादि अब किया जा नहीं सकता। विशेषकर अब कलियुग में तो धर्म के ठेकेदार डरा-धमका कर मुँह बंद कर देते हैं और कहते हैं कि जो धर्म ग्रन्थ वा पुराण इत्यादि में कहा है, वह सच है, इस पर वाद विवाद नहीं करना। चुपचाप मान लो। यह सब वेद विरुद्ध पाप कर्म हैं। दूसरा युधिष्ठिर ने कहा कि अब ऐसा कोई ऋषि मुनि भी नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाए।

अतः **"महा जनाः येन गतः स पन्थाः"** जिस मार्ग से महापुरुष जाते रहे हैं वही मार्ग है। युधिष्ठिर का भाव है कि सवा पाँच हजार वर्ष पहले जो ऋषि मुनि हुए, वह जिस सत्य मार्ग पर चलते आए वही हमारे लिए श्रेष्ठ मार्ग है। और वह पुरातन काल के ऋषि मुनि केवल वेदाध्ययन, यज्ञ, वेदोक्त शुभ कर्म एवं योगाभ्यास इत्यादि ही करते थे तथा गुरुकुलों में भी श्रीराम एवं योगेश्वर श्री कृष्ण तक को वेदों की ही शिक्षा दी गई थी। क्योंकि उस समय आज के धर्म अथवा आज के धर्म ग्रन्थों का उदय ही नहीं हुआ था। श्रीकृष्ण वही वैदिक शिक्षा अर्जुन को यहाँ दे रहे हैं। क्योंकि युधिष्ठिर की बात एवं गीता के श्लोक से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्जुन ने भी कई कर्म काण्डियों द्वारा वेद मन्त्रों का अनर्थ सुना था जिसमें स्वर्ग-नरक के झूठे प्रलोभन की बात उस समय में भी कहनी प्रारंभ हो गई थी। गीता श्लोक ४२, ४३, एवं ४४ में भी श्रीकृष्ण ने सकामी पुरुषों की स्वर्ग में प्रीति एवं लच्छेदार वाणी

द्वारा मन हर कर प्रलोभन इत्यादि की बात कही है और उसे मिथ्या कह कर अर्जुन को उस तरफ से मन हटाने के लिए कहा है। गीता में वेदों का ही ज्ञान है। अतः आज भी हम उन सन्तों से दूर रहें जो प्रलोभन और लच्छेदार बातों से जनता को बहकाते हैं।

श्रीकृष्ण इस श्लोक में कह रहे हैं **(मनीषिणः)** वेदों के मनन करने वाले पुरुष **(बुद्धियुक्ताः)** बुद्धियोग, कर्मयोग अथवा निष्काम कर्म द्वारा (यह शब्द पर्यायवाची हैं) कर्म से उत्पन्न होने वाले फल का त्याग कर देते हैं और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूट कर **(अनामयम्)** रोग वा दुःख रहित अमर पद को प्राप्त करते हैं जो मनुष्य जन्म का लक्ष्य है। ''आमय'' का अर्थ रोग या विकार है। योगाभ्यास द्वारा सात्विक भोजन वा संयम से रोग तथा विकार समाप्त होकर जीव जन्म-मरण से रहित मोक्ष-रूपी अमर पद प्राप्त करते हैं।

यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४ में कहा कि ऐसे पुरुष **''विद्यायाम् अमृतम् अश्नुते''** विद्या द्वारा अमृत स्वरूप मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं। ऐसे महापुरुषों की बुद्धि ही आत्मा से जुड़ी होती है और यह ही कर्मयोग के रहस्य को जानकर कर्मफल रहित होकर शुभ कर्म करते हैं। परन्तु बुद्धियोग कैसे हो, इस विषय में **मुण्डकोपनिषद् खण्ड** एक में शौनक ऋषि ब्रह्म विद्या प्राप्ति की जिज्ञासा सहित श्रद्धापूर्वक महर्षि अङ्गिरा के आश्रम में गए। शुभ समय पर उन्होंने पूछा **''कस्मिन् विज्ञाते''** किसके जान लेने पर-**''इदम् सर्वम् विज्ञातम्''** यह सब कुछ जाना जाता है। महर्षि अंगिरा बोले **''द्वे विद्ये एवं वेदितव्ये परा च अपरा''** दो ही विद्याएँ जानने योग्य हैं परा तथा अपरा। चारों वेदों का अध्ययन इत्यादि अपरा विद्या में आते हैं जिससे सम्पूर्ण पृथिवी के तत्त्व, शरीर में रहने वाली चेतन जीवात्मा, प्रकृति, परमेश्वर इनका विस्तार से केवल शब्दों द्वारा ज्ञान प्राप्त होता है, अर्थात् ऋषि द्वारा वेदों के उपदेश से इन तत्त्वों का शाब्दिक ज्ञान प्राप्त होता है। दूसरा कि जिस विद्या द्वारा ईश्वर की अनुभूति होती है अर्थात् अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है वह परा विद्या है। भाव यह है कि वेदों में कहे ब्रह्मचर्य, शुभ कर्म, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि के कठोर अभ्यास द्वारा समाधि में ईश्वर की अनुभूति होती है। **सामवेद मन्त्र**

५०, यजुर्वेद ४०/१०, ऋग्वेद ५/५१/१२ तथा कठोपनिषद् १/२/८ में स्पष्ट किया है कि इन विद्याओं का रहस्य किसी जीवित वेद-विद्या के जानने वाले आचार्य से सुना जाता है, वेद विरोधी से नहीं। उपनिषद् में कही इस परा और अपरा विद्या को **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** में अविद्या तथा विद्या के नाम से कहा है।

अविद्या भौतिक उन्नति जिसमें पढ़ाई-लिखाई, विज्ञान सब आ जाता है तथा विद्या आध्यात्मिक उन्नति का नाम है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१२** में विद्या का वास्तविक रूप वेदाध्ययन, योगाभ्यास इत्यादि द्वारा चेतन जीवात्मा एवं ईश्वर को जानना है तथा प्रकृति से उत्पन्न सम्पूर्ण जगत में सूर्य, चन्द्रमा एवं मानव शरीर आदि सम्पूर्ण जड़ पदार्थों के विज्ञान को वेदाध्ययन द्वारा जानना अविद्या कहा है। जड़ एवं नाशवान शरीर में रहने वाली चेतन जीवात्मा को शरीर एवं इन्द्रियाँ वेदाध्ययन एवं योग साधना इत्यादि धर्मयुक्त कार्य करके ईश्वर प्राप्ति के लिए दी गई हैं। इस में गृहस्थ के एवं राष्ट्र के सब शुभ कार्य आ जाते हैं। अतः प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज का यह स्पष्ट उपदेश है कि **"मनीषिणः"** अर्थात् केवल वेदों के मनन करने वाले पुरुष ही शुद्ध बुद्धि द्वारा कर्मफल को त्यागकर जन्म-मरण के बन्धन से छूटकर, दुःख रहित मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। **"मनीषिणः"** पद का अर्थ ही वेदों का मनन करने वाला पुरुष कहा है। अतः स्पष्ट है कि जो वेदों का मनन नहीं करता और वेदों में कही विद्या को आचरण में नहीं लाता, वह निष्काम कर्म योगी नहीं हो सकता। अतः हमें गीता के अनुसार भी वेद विद्या को सुनने का पुण्य अर्जित करना है। जीव इस बहकाए में न आए कि वेद कठिन है। जब वेद सुनाने वाला है तब सुनना कठिन कैसे होगा?

ऋग्वेद में बड़ा सुन्दर ज्ञान दिया गया है कि अकेली चेतन जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकती। उसे कुछ करने के लिए शरीर एवं आँख, कान, हाथ, पैर, मन इत्यादि इन्द्रियाँ चाहिए। विपरीत में अकेला शरीर एवं इन्द्रियाँ भी कुछ नहीं कर सकती। जब जीवात्मा शरीर से निकल जाती है तब हाथ, पैर, आँख-नाक कुछ भी नहीं कर पाते। इन्हें कार्य करने के लिए इनमें रहने वाली जीवात्मा चाहिए। अतः निर्णय हुआ कि चेतन जीवात्मा एवं शरीर और

इन्द्रियाँ, सब मिलकर शुभ कार्य करें।

शरीर को स्थिर रखने के लिए प्रकृति के अन्न-जल, सूर्य-चाँद, पेड़-पौधे इत्यादि सभी पदार्थ चाहिए अन्यथा शरीर नहीं रहेगा। अतः जो प्रायः आज के सन्त, जगत एवं जगत के पदार्थों को मिथ्या कहते हैं उन्हीं सन्तों की जीवात्माएँ अन्न जल, कार-बंगला, बिजली, पलंग, ए.सी., कपड़े, सोना-चाँदी, दूध-दही, ड्राईफ्रूट, स्त्री-पुरुष सब का खुलकर प्रयोग करते हैं, जनता से धन बटोरते हैं और जगत, जगत के पदार्थ, धन-दौलत तथा परिवार इत्यादि को मिथ्या कहते रहते हैं। यह मिथ्यावाद **"सत्यं ब्रह्म जगत मिथ्या"** के अर्थ का अनर्थ है। ऐसे महानुभाव वेदाध्ययन द्वारा परा-अपरा अथवा विद्या एवं अविद्या का वैदिक शाब्दिक अर्थ एवं यज्ञ, योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म अनुभूति प्राप्त करने के पश्चात ही जनता को उपदेश दें। यह ऋषियों की परम्परा रही है। गीता के इस श्लोक में प्रसंग चल रहा है **"बुद्धियुक्ताः"**। अर्थात् बुद्धियोग का। जब जीव परा-अपरा अथवा विद्या-अविद्या द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है तब ही उसकी बुद्धि आत्मा से जुड़ जाती है।

यजुर्वेद मन्त्र ३७/२ कहता है कि **"विप्राः मन उत यु जते विपश्चित्तः"** अर्थात् योगी योगाभ्यास द्वारा अपना मन, चित्त, बुद्धि ईश्वर में लीन कर देता है। यही बुद्धियोग है। जैसे ऊपर से संदर्भ आ रहा है कि अकेला जीवात्मा अथवा अकेला शरीर वा इन्द्रियाँ कुछ नहीं कर सकतीं। अतः दोनों के मेल द्वारा वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास से शुभ कर्म का ज्ञान, आचरण एवं ईश्वर प्राप्ति होती है। बुद्धि योग पूर्ण होता है। यही कर्मयोग इत्यादि कहा है। इस प्रकार जब विद्वान् जड़ एवं चेतन के रहस्य को जान लेता है और उसकी सभी इन्द्रियाँ वश में होती हैं तब उसकी बुद्धि आत्मा से जुड़ती है तथा केवल शुभ कर्म करती है। वह विद्वान् कर्मफल की भी इच्छा त्याग देता है। उसका पुरुषार्थ परोपकार के लिए केवल शुभ कर्म करना ही होता है। इस प्रकार वह बुद्धियोग (कर्मयोग) द्वारा कर्म करता हुआ ही दुबारा जन्म लेने के बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त करता है।

अतः इस श्लोक में भी **"बुद्धियुक्ता एवं मनीषिणः"** शब्दों द्वारा श्रीकृष्ण ने केवल वेदमन्त्रों का मनन करने वाले आत्मज्ञानी पुरुषों को बुद्धियोगी

या कर्मयोगी कह कर **(कर्मजम् फलम् त्यक्त्वा)** कर्म करने से उत्पन्न होने वाले कर्मफल को त्यागकर **(जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः)** पुनः जन्म लेने वाले बन्धन से मुक्त हुआ कहकर, जीवन मुक्त कहा है। आज हमने अपनी सनातन वैदिक संस्कृति का त्याग करके बड़ा दुख उठाया है। हमें पुनः वेदाध्ययन द्वारा कर्म योगी बनने की आवश्यकता है। सत्यं ब्रह्म अर्थात् ईश्वर सत्य है। जगत मिथ्या का अर्थ है कि यह जो जड़ जगत है, इसके सभी पदार्थ एक दिन प्रलय में नष्ट हो जाते हैं, अतः जीव इस जड़ जगत के पदार्थों की चमक-दमक में आकर्षित होकर ईश्वर जो सत्य है, उसे न भूल जाए। जगत के पदार्थों का, **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१** के अनुसार त्यागपूर्वक भोग करें, जो कि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए आवश्यक हैं। परन्तु साधना करते-करते किसी समय, **योगशास्त्र सूत्र १/१५ एवं १६** के अनुसार योगी को इन पदार्थों से भी वैराग्य हो जाता है और इनका मिथ्या-नाशवान स्वरूप समझ में आ जाता है। परन्तु जगत मिथ्या का यह अर्थ नहीं है कि जगत या जगत के पदार्थ हैं ही नहीं। ईश्वर की शक्ति जड़ प्रकृति में जब प्रलय अवस्था के बाद शून्यकाल में कार्य करती है। तब प्रकृति से यह सारा जगत और जगत के पदार्थ बनते हैं। यह पदार्थ ईश्वर नहीं हैं और न ईश्वर के अंश हैं। क्योंकि ईश्वर के अंश (टुकड़े) नहीं हो सकते। यह बात **यजुर्वेद मन्त्र ४०/८** के **"अकायम् अव्रणम्"** पद से भी सिद्ध होती है। **"अकायम्"** पद का अर्थ है जिसका शरीर नहीं होता अर्थात् निराकार और **"अव्रणम्"** पद का अर्थ है छिद्ररहित अर्थात् जिसके टुकड़े नहीं हो सकते। अतः ईश्वर, सूर्य, चाँद, शरीर, पेड़-पौधों जैसे टुकड़ों में नहीं बँट सकता। सत्य का अर्थ जो सदा से, अनादिकाल से चला आ रहा है, वर्तमान काल में भी है, भविष्य में भी वही एक ईश्वर रहेगा। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/८** में इन गुणों से युक्त ईश्वर को **स्वयंभूः** कहा है अर्थात् ईश्वर अनादि-स्वरूप वाला, संयोग-वियोग से रहित है अर्थात् ईश्वर की संयोग से उत्पत्ति और वियोग से विनाश नहीं होता। वह अविनाशी स्वरूप है। ईश्वर के कोई माता-पिता नहीं है और न ही वह गर्भ में आता है। अतः **'सत्यम् ब्रह्म'** इन गुणों से युक्त ईश्वर है जो कि सत्य है। **'जगत मिथ्या'** अर्थात् जगत के पदार्थ सब नाशवान हैं।

श्री कृष्ण उवाच-

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।

(गीता २/५२)

(यदा) जब **(ते)** तेरी **(बुद्धिः)** बुद्धि **(मोहकलिलं)** मोह से घुली-मिली-मोह ग्रस्त स्थिति से **(व्यतितरिष्यति)** अन्त में तर जाएगी **(तदा)** तब तू **(श्रोतव्यस्य)** सुनने के योग्य **(च)** तथा **(श्रुतस्य)** सुने हुए के **(निर्वेदम्)** विरक्ति-वैराग्य को **(गन्तासि)** प्राप्त होगा।

अर्थ : जब तेरी बुद्धि मोह से घुली-मिली-मोह ग्रस्त स्थिति से अन्त में तर जाएगी तब तू सुनने के योग्य तथा सुने हुए के विरक्ति-वैराग्य को प्राप्त होगा।

भावार्थ : वैराग्य के बिना बुद्धि-योग कर्मयोग अथवा ईश्वर प्राप्ति सर्वदा असम्भव कही है। लेकिन श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि वैराग्य बिना मोह त्याग के सम्भव नहीं। तुलसी ने रामायण में कहा **"मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला। तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।"** (उत्तर काण्ड दो. १२० चौ.१५) अर्थात् मोह ही सारे दुःखों की जड़ है। धृतराष्ट्र के पुत्र मोह के कारण भीषण महाभारत युद्ध में पृथिवी खून से रंग गई थी। रावण का मोह परिवार सहित लंका को ले डूबा। कैकेयी का अपने पुत्र भरत से मोह हुआ और वह आज तक निन्दा का पात्र बनी हुई है। मोह का स्वरूप इसी श्लोक में यह है कि मोह में फँसे प्राणी को कोई भी उपदेश अच्छा नहीं लगता। रावण, धृतराष्ट्र, दुर्योधन, कैकेयी इत्यादि को समस्त महापुरुषों ने ही समझाया था लेकिन **"मोह कलिलम्"** मोह में फँसी उनकी बुद्धि में जो झूठ एवं अज्ञान बैठ गया था, वे उसे छोड़ कर सत्य नहीं समझ पाए जिससे घोर विनाश हुआ और उनके इस मोह को आज तक पीढ़ी क्षमा नहीं कर पायी है।

यहाँ श्रीकृष्ण यही कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तुझे परिवार से मोह हो गया है और युद्ध के परिणाम सोचकर विचलित हुए मन से तू धर्मयुद्ध न करने का मिथ्या फैसला कर बैठा है। जब तू **"मोहकलिलम् तरिष्यति"** मोह

से पार होगा तभी मेरी बात ध्यान लगाकर **"श्रोतव्यस्य"** सुनेगा और समझेगा। जब समझ जाएगा तब **"श्रुतस्य"** सुने हुए ज्ञान द्वारा **"निर्वेदम्"** विवेक प्राप्त करके विरक्त होगा अर्थात् तुझे समझ आ जाएगा कि जो तू वेदविरूद्ध सोच रहा था वह त्यागने योग्य था। फलस्वरूप तू वैराग्य को प्राप्त होगा। योगशास्त्र सूत्र २/३४ में कहा कि:-

"वितर्का हिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता
लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्।"

अर्थात् हिंसा आदि अशुभ कर्म, लोभ, क्रोध एवं मोह में फँसकर होते हैं। मनुस्मृति अध्याय २ में कहा है-**"धर्म जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।"** अर्थात् धर्म की जिज्ञासा करने वाले श्रद्धालुओं का केवल वेद ही प्रमाण है। आज यह दुःख का विषय है कि गीता श्लोक के अर्थ अधिकतर वे लोग कर रहे हैं जो वेद पढ़े हुए नहीं हैं। स्पष्ट है कि वे लोग जिस मत-मतान्तर के हैं उसी के अनुसार मनघढ़न्त अर्थ कर देते हैं, जो अप्रमाणिक हैं। हमें सत्य को जानना आवश्यक है कि गीता के लेखक व्यास-मुनि जी और सुनाने वाले श्रीकृष्ण महाराज दोनों ही चारों वेद एवं वेदों में कही अष्टाँग योग-विद्या में पारंगत हैं, पृथिवी की विभूतियाँ हैं। फलस्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता केवल वेदमन्त्रों पर आधारित प्रवचन है क्योंकि आज से लगभग सवा पाँच हजार वर्ष पहले महाभारत काल में आज के मत-मतान्तरों का उदय नहीं हुआ था। उस समय केवल चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना ये तीन विद्याएँ ही घर-घर में प्रचलित थीं। अतः गीता ग्रन्थ केवल वेद-मन्त्रों पर आधारित ज्ञान है और वेदों का ज्ञाता ही गीता के श्लोकों का उचित अर्थ कर सकता है। पुनः यह भी दुःख की बात है कि मनुस्मृति के ऊपर कहे श्लोक और योगशास्त्र तथा सांख्य शास्त्र आदि में कहे सूत्र **"प्रत्यक्षानुमानागमः प्रमाणानि"** (योगशास्त्र सूत्र १/७) के वचनों की प्रायः उपेक्षा कर रहे हैं और अप्रमाणिक अर्थ प्रचलित होते जा रहे हैं। इस अप्रमाणिक पद्धति को रोकना अति आवश्यक है अन्यथा जनता में मिथ्यावाद फैलता जाएगा।

अतः **ऋग्वेद मन्त्र १/५८/५** में जीव को चेतन अल्पज्ञ, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान गुण वाला तथा नित्य गुण वाला कहा है। नित्य

अर्थात् जीवात्मा अविनाशी तत्त्व है। जीव में इच्छा है। जीव के शरीर में रहने पर ही इच्छा इत्यादि भावनाएँ होती हैं।

वेद में जीव को **"परिष्वंग"** अर्थात् लगाव गुण वाला कहा है। जन्म लेने के बाद यदि जीव का लगाव प्रकृति से हो जाता है तब जीव काम, क्रोध, मोह, लोभ इत्यादि की इच्छा में फँसकर जीवन व्यर्थ कर लेता है। और यदि अच्छी संगत में पड़कर जीव का लगाव वेदज्ञ विद्वान् एवं ईश्वर से हो जाता है तब जीव वेद में कहे शुभ कर्म करता हुआ अपने तथा ईश्वर के स्वरूप को जानकर मोक्ष पद प्राप्त करता है। जीव के इस लगाव गुण को ही मोह कहते हैं।

ऊपर कहे जीवात्मा को आँख, नाक इत्यादि इन्द्रियाँ दी हैं जो केवल बाहर की तरफ ही हैं और बाहरी जगत के शरीर, परिवार, धन,, सुन्दरता, काम, क्रोध, मोह आदि अनेक पदार्थों वा विकारों का ज्ञान प्राप्त करके मन, बुद्धि के द्वारा जीवात्मा को बाहर की तरफ आकर्षित करके रखती हैं। इन संसारी पदार्थों के मोह में फँसा जीवात्मा वेदाध्ययन वा योगाभ्यास इत्यादि साधना द्वारा अपने नित्य, शुद्ध, चेतन स्वरूप और अपने में बसे चेतन ब्रह्म को नहीं जान पाता। यही न जानना ही उसके पतन, दुःख, रोग वा भोग इत्यादि अनेक परेशानियों का कारण है। सुख की इच्छा होने के बावजूद भी यह दुःखी रहता है। अतः **योगशास्त्र सूत्र २/३३** में कहा कि मोह इत्यादि में फंसकर जीव **"प्रतिपक्षभावनम्"** मोह इत्यादि के विरुद्ध भावना करे कि मैं भयंकर नाशवान संसार की दुःख देने वाली अग्नि में विद्या को त्यागकर विषय विकारी संसार के कीचड़ में धँसता हूँ। यह मेरा कार्य कुत्ते के व्यवहार के समान होगा। जैसे कुत्ता अपनी उल्टी करके उसको फिर खा जाता है। भाव यह है कि मैं जीवात्मा कई जन्म कुत्ता, बिल्ली इत्यादि अनेक पशु पक्षी योनियाँ घूमकर बड़े भाग्य से मनुष्य जन्म में आया हूँ। पशु योनियों में मैं केवल काम, क्रोध, मोह आदि विकार ही करता रहा परन्तु अब तो मैं मोह इत्यादि का त्याग करूँ। उल्टी की तरह वापिस फिर काम, मोह इत्यादि विकारों को ग्रहण न करूँ। मोह का शाब्दिक अर्थ है चेतन जीवात्मा एवं चेतन परमात्मा का ज्ञान न होना। फलस्वरूप प्रकृति रचित शरीर, धन इत्यादि अनेक संसार के पदार्थों

से लगाव हो जाना। यह लगाव ही मोह है। आचार्य की सेवा द्वारा वेदों को सुनना यज्ञ एवं योगाभ्यास नित्य करना इत्यादि उपासना करते हुए जब साधक का संसार के प्रति मोह नष्ट हो जाता है तब वह वैराग्यवान होकर **योग-शास्त्र सूत्र १/१५** के अनुसार संसार के विषय में जो कुछ भी देखता और सुनता है उसके प्रति उदासीन रहता है। ऊपर लिखे योगशास्त्र सूत्र का यही अर्थ है कि साधक देखे और सुने विषयों से सर्वदा तृष्णारहित हो जाता है। इसमें जो देखने योग्य पदार्थ हैं वह बाहरी धन सम्पदा आदि हैं और कुछ पदार्थ ऐसे हैं जो देखे नहीं जाते वे वेदों-शास्त्रों आदि में कहे पारलौकिक सुख, सुन्दर पुनर्जन्म योग-सिद्धियाँ अथवा मोक्ष की अनुभूति हैं। इन सबसे साधक तृष्णा हीन हो जाता है। अतः मिथ्यावादी संतों का यह कहना भी असत्य है कि वेदों में, या कर्मकाण्ड में, स्वर्ग का लोभ दिया जाता है।

यजुर्वेद मन्त्र ४०/७ में बड़ा सुन्दर आत्मिक ज्ञान है कि जब मनुष्य वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि साधना द्वारा प्रत्येक प्राणी मात्र को अपनी ही आत्मा के समान जान लेते हैं तथा इस प्रकार परमात्मा को भली-भांति जान लेते हैं तब उन्हें मोह, शोक एवं लोभ आदि विकार कभी नहीं छूते। यह ऐसी स्थिति योगेश्वर श्रीकृष्ण, श्रीराम, व्यासमुनि, शृंग्य ऋषि इत्यादि असंख्य विभूतियों की हुई है। परन्तु अर्जुन की यह स्थिति नहीं है। अतः श्रीकृष्ण इस श्लोक में **"मोहकलिलम् बुद्धि"** कहकर अर्जुन को संसारी पदार्थ अथवा परिवार के मोह रूपी कीचड़ से निकलने को कह रहे हैं क्योंकि प्रकरण के अनुसार क्षत्रिय योद्धा को युद्ध-क्षेत्र में परिवार अथवा धन इत्यादि किसी भी पदार्थ का मोह उसे नरक में ले जाता है।

यह अर्जुन के प्रति शाब्दिक उपदेश है और इससे पहले के श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को चेतन जीवात्मा, चेतन ब्रह्म एवं प्रकृति के तीन गुण इत्यादि का गहन ज्ञान दिया है। क्योंकि कपिल मुनि भी **सांख्य शास्त्र सूत्र १/४८** में यह प्रमाण दे रहे हैं-

"तत्र प्राप्तविवेकस्य अनावृत्तिश्रुतिः"

अर्थात् वेद कहता है कि चेतन जीव, परमेश्वर तथा जड़ पदार्थों में

विवेक प्राप्त किये हुए व्यक्ति को ही मोक्ष प्राप्त होता है। इस प्रकार श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन! जब तेरी बुद्धि परिवार एवं सांसरिक मोह के कीचड़ से **(तरिष्यति)** तर जाएगी तब तू **(श्रोतव्यस्य)** विद्या को सुनने योग्य तथा **(श्रुतस्य)** उस सुनी हुई विद्या को सुनकर **(निर्वेदम्)** संसार के बन्धन एवं झूठे पदार्थों में वैराग्य को प्राप्त होगा। अर्थात् जो कुछ तूने अब तक सुना, देखा, परखा उसमें विरक्ति उत्पन्न हो जाएगी-तुझे वह सब कुछ अच्छा नहीं लगेगा। **'निर्वेदः'** का शाब्दिक अर्थ घृणा, निराशा इत्यादि है। यह शब्द निर्वेदम् श्रीकृष्ण ने यहाँ प्रयोग किया है। श्रीकृष्ण के यह वैदिक उपदेश अजर, अमर हैं। उपदेशक का अत्याधिक महत्त्व वेदों में कहा है। **"स एषः पूर्वेषाम् अपि गुरुः"** योगशास्त्र के इस **सूत्र १/२६** के अनुसार सम्पूर्ण विश्व का एक ईश्वर ही गुरु है जो अनादिकाल से पृथ्वी के आरम्भ में चार ऋषियों को वेदों का उपदेश देता आया है। उसके पश्चात ऋषि मुनि हमारे जीवित उपदेशक (गुरु) हुए हैं।

संदीपन गुरु के आश्रम में इन्हीं वेदों का उपदेश ग्रहण करके श्रीकृष्ण वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा योगेश्वर कहलाए एवं सम्पूर्ण महाभारत (गीता) में उन्होंने वेदों का उपदेश दिया है। आज भी जीवित उपदेशक जो वेद एवं योगाभ्यास का ज्ञाता है, उसकी अत्यंत आवश्यकता है। और यह आवश्यकता परंपरागत है। जैसा कि **सामवेद मन्त्र ७४४** में कहा-हे ईश्वर! मैं तेरी स्तुति करता हूँ, इससे पहले मेरे गुरु ने तेरी चारों वेदो के मन्त्रों द्वारा स्तुति की है। अतः सम्पूर्ण गीता का उपदेश वैदिक दृष्टि से अपनाकर दुखों के बन्धन से छूटने का यत्न सदा करते रहें। हम पाखण्ड से सदा दूर रहें और ईश्वर द्वारा दी गई वेद-विद्या का अनुसरण करके सब दुःखों से छूट जाएँ।

श्री कृष्ण उवाच-

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।

(गीता : २/५३)

(यदा) जब **(ते)** तेरी **(श्रुतिविप्रतिपन्ना)** सुने हुए ज्ञान-वचनों से व्याकुल

हुई **(बुद्धिः)** बुद्धि **(समाधौ)** समाधि में **(अचला)** अचल **(निश्चला)** निश्चल **(स्थास्यति)** स्थिर हो जाएगी **(तदा)** तब तू **(योगम्)** योग को **(अवाप्स्यसि)** प्राप्त हो जाएगा।

अर्थ : जब तेरी सुने हुए ज्ञान-वचनों से व्याकुल हुई बुद्धि समाधि में अचल, निश्चल, स्थिर हो जाएगी तब तू योग को प्राप्त हो जाएगा।

भावार्थ : योगशास्त्र में चित्त की पाँच अवस्थाओं में विक्षिप्त वह अवस्था है जब चित्त अनेक संसारी इच्छाओं में भटकता है और उसकी इच्छा पूर्ण नहीं होती। फलस्वरूप चित्त व्याकुल होता है। **"श्रुतिविप्रतिपन्ना"** चित्त की विक्षिप्त अवस्था है। अर्जुन परिवार के विषय में अनेक प्रकार की धारणाओं से चिन्तित है। धर्म स्थापित करने के लिए धर्म कार्य पर ही चित्त को एकाग्र करना होता है। दूसरा उस समय वेदों के मन लुभावने मनघढ़न्त अर्थ जिसमें स्वर्ग आदि का लोभ है, उन्हें सुन-सुनकर अर्जुन भी वेदों में कहे शुभ कर्म काण्ड को नहीं जान पा रहा था। इसलिए श्री कृष्ण मुख्यतः दूसरे अध्याय में भौतिक नाशवान शरीर एवं पदार्थों तथा अजर, अमर, चेतन जीवात्मा इत्यादि का ज्ञान देते हुए इस श्लोक में समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तूने बहुत से विचारों को सुन रखा है। परन्तु भिन्न-भिन्न विचारों को सुने हुए तेरी बुद्धि व्याकुल है, परेशान है। तू निश्चय नहीं कर पा रहा है कि सत्य क्या है? परन्तु इन उलझनों में फँसी तेरी बुद्धि जब सत्य विद्या को सुन कर एकाग्र हो जायेगी तथा निरुद्ध अवस्था में पहुँचकर जब समाधि (परमात्मा) में स्थिर हो जायेगी उस अवस्था में ही तू योग को प्राप्त होगा। योग का अर्थ ही समाधि है, समाधि का अर्थ ही योग है। **योगशास्त्र सूत्र** १/२ में कहा-**'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'** अर्थात् योग चित्त की वृत्तियों के निरोध को कहते हैं। योगाभ्यास द्वारा जब चित्त की वृत्तियों का बाहरी विषयों से संबंध हट जाता है और पांचों ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान जिह्वा, नासिका, त्वचा) के विषयों (रूप, श्रवण, रस, गंध, स्पर्श) को ग्रहण करने से रुक जाती हैं तब इस अवस्था को योग कहते हैं। **यजुर्वेद मंत्र ३४/१-६** में भिन्न-भिन्न कर्म करने से मुख्यतः मन को पाँच प्रकार का कहा है। देव मन, यक्ष मन, प्रज्ञान मन, चेतस् मन एवं धृति मन। इनमें जो चेतस् मन है, इसी को चित्त कहते हैं

जिस पर जीव द्वारा किये कर्मों के संस्कार अंकित होते हैं। चित्त का स्वभाव है कि वह जीवन की पिछली घटनाओं का स्मरण करता रहता है और भविष्य पर भी विचार करता है। इस प्रकार सांसारिक विषयों से जुड़ा रहता है। चित्त का इस प्रकार का सोच विचार जब योगाभ्यास द्वारा रुक जाता है यही योग है जिसे **योगशास्त्र सूत्र २** में **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** कहा है। संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात यह दो प्रकार का योग है। जब सब चित्त वृत्ति निरुद्ध हो जाती हैं तो जीवात्मा समाधि अवस्था को प्राप्त कर लेती है अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाती है, इस अवस्था में प्रकृति के तीनों गुण एवं उससे उत्पन्न मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार योगी पर प्रभाव नहीं डालते। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ऐसे योगी की बुद्धि परमात्मा में अचल रूप से स्थिर हो गई है। **यजुर्वेद मंत्र ११/४** में यही बात भगवान ने कही है।

"यु जते मन उत यु जते धियो
विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः"

अर्थात् योगाभ्यास में प्रवीण विद्वान् योगीजन उस सर्वव्यापक परमेश्वर में योग युक्ति के द्वारा अपने चित्त-मन को ठीक-ठाक जोड़ते हैं। यही बात श्री कृष्ण इस श्लोक में समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! जब भिन्न-भिन्न विचारों को सुनी हुई तेरी बुद्धि सत्य ज्ञान सुनकर एक परमेश्वर में स्थिर हो जाएगी तब तू योग को प्राप्त होगा। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि वेद सत्य विद्या है और इसको सुनकर ही अर्जुन की बुद्धि क्षत्रिय के धर्म युद्ध रूपी कर्म में जुड़ गई थी। परन्तु अर्जुन की योगाभ्यास द्वारा उस समय समाधि नहीं लगी थी। अर्थात् योग को प्राप्त नहीं था। क्योंकि योग को प्राप्त करने के लिए **यजुर्वेद मंत्र ७/४** एवं चारों ही वेद कहते हैं-**"उपयामगृहीतः असि अन्तः यच्छ"** अर्थात् हे योग के जिज्ञासु तू यम, नियमादि योग के आठ अंगों को ग्रहण कर एवं सोम (मोक्ष) की रक्षा कर तथा अत्यंत योगाभ्यास से अविद्या आदि क्लेशों का नाश कर। योग के आठ अंगों को **योगशास्त्र सूत्र २/२९ में** यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि कहा है। इन्हें किए बिना समाधि प्राप्त अर्थात् ईश्वर का साक्षात्कार अर्थात् योग सिद्ध नहीं होता। अतः **महाभारत के शांतिपर्व (५३/२०)** में भीष्म पितामह द्वारा

कहे यह वचन अनमोल हैं कि हे युधिष्ठिर! ब्रह्म के दो रूप समझने चाहिए। पहला शब्द-ब्रह्म अर्थात् चारों वेद और दूसरा पर-ब्रह्म (ईश्वर का साक्षात्कार)। जो मनुष्य शब्द ब्रह्म में पारंगत है, वह पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। अतः संपूर्ण गीता, महाभारत वाल्मीकि रामायण, ६ शास्त्र, उपनिषद् इत्यादि सब ग्रंथ केवल शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेदों के ज्ञान से ही उत्पन्न हैं। ईश्वर साक्षात्कार तो शब्द-ब्रह्म में पारंगत होने के पश्चात योगाभ्यास द्वारा ही होता है। अतः प्रथम विद्वान् द्वारा शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेदों का उपदेश अनिवार्य एवं महान है। इसके बिना गति नहीं। इस श्लोक में यही भाव है कि विभिन्न मतों को सुनी हुई अर्जुन की व्याकुल बुद्धि शब्द-ब्रह्म सुनकर ही शांत हुई थी। यहाँ बुद्धि को शांत होकर धर्मयुद्ध में प्रेरित होना ही योग अर्थात् कर्मयोग है। **मनुस्मृति** कह रही है-**'वेदः अखिलः धर्ममूलम्' (२/६)** अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य आदि चारों वर्णों के लिए कहे शुभ कर्मों का उदय वेदों से हुआ है। अर्जुन को भी धर्मयुद्ध की प्रेरणा श्री कृष्ण द्वारा वैदिक ज्ञान प्राप्त करके ही हुई है। जिसे यहाँ कर्मयोग, बुद्धि योग, समत्व योग अथवा निष्काम कर्म के नाम से कहा गया है। अष्टाँग योग द्वारा ईश्वर के साक्षात्कार वाला योग अथवा समाधि का विषय अन्य है, जो तनिक सा ऊपर अष्टाँग योग के नाम से कहा है। सारांश यह है कि हम वैदिक प्रवचन सुन-सुन कर प्रथम अर्जुन की तरह कर्मयोगी होकर गृहस्थाश्रम सहित अन्य आश्रमों के शुभ कर्म कर्त्तव्य को जाने तथा सचमुच में उन्हें निभाएँ। इस अवस्था को शब्द-ब्रह्म में प्रवीण होना कहा जाएगा। तत्पश्चात साथ-साथ ही प्रातः एवं सांय नित्य अष्टाँग योग यज्ञादि का अभ्यास करके ईश्वर का साक्षात्कार करें। योग का अर्थ जुड़ना है जिसके विषय में कई बार इस ग्रंथ में कह दिया गया है। पीछे श्लोक २/४६, ५० एवं ५१ तथा ५२ में यह कहा गया है कि जो साधक वेदाध्ययन द्वारा ईश्वर के अविनाशी स्वरूप को समझ कर निष्काम कर्म करने लगता है, वह पाप एवं पुण्य दोनों को छोड़ देता है और ईश्वर को प्राप्त करता है। ऐसा साधक वैदिक ज्ञान प्राप्ति के कारण शुद्ध बुद्धि वाला होता है और उसकी बुद्धि मोह रूप दुःखों के समुद्र से पार होकर सत्य-असत्य, जड़-चेतन आदि विषय को समझने वाली होती है। ऐसा बुद्धि-युक्त योगी **योगशास्त्र सूत्र १/१५ एवं १६** के अनुसार पर-वैराग्य को प्राप्त होता है। वैराग्य को कोई बिरला पुरुष ही

प्राप्त होता है। क्योंकि बिना वैराग्य के किसी को भी ईश्वर प्राप्त नहीं हुआ। फलस्वरूप ही वैराग्यवान ऋषि-मुनि साधारण अवस्था में एकान्त में रहते थे और एकान्त प्रिय होते थे। वैराग्यवान कभी भी चमक-दमक, ऊँचे-२ आसन पर बैठ कर वेद बोलना, पैसा बटोरना, बड़े-२ महल खड़े करना अमीर अथवा ऊँचे-२ पदों वाले व्यक्तियों से जानबूझ कर मेलजोल बढ़ाना, अपने मुँह मिंया मिट्ठू होना, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनना और इस प्रकार काम, क्रोध, मद लोभ अहंकार को अन्दर रखकर मुँह से मीठी-२ मिथ्यावादी बातें कहना पसंद नहीं करते थे। अतः ऐसे वैराग्यवान योगी को जब वेदों का ज्ञान सुनाया जाता है तब जो कुछ उसने वेदों के विरूद्ध सुना था उससे जो उसकी बुद्धि विचलित हो गई थी, वह एकाग्र हो जाती है। तो प्रथम, जीव वेदों को सुनकर ज्ञान प्राप्त करे और निष्काम कर्म के रहस्य को अपने आचार्य से जानकर निष्काम कर्म करे। ईश्वर के बनाए हुए यजुर्वेद में कर्मों का स्वरूप है। अतः कर्मों को हम मिथ्या कैसे कर सकते हैं और जब जीव नित्य की साधना, यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि द्वारा वेदानुकूल शुभ कर्म करता है तब योग-युक्त होकर अर्थात् समाधि प्राप्त करके मन और बुद्धि परमात्मा में स्थिर कर लेता है। इसी को प्रस्तुत श्लोक **२/५३** में **"योगम् अवाप्स्यसि"** अर्थात् योग को प्राप्त होना कहा है। इस श्लोक का यह अर्थ नहीं हो सकता कि जीव और ब्रह्म एक हो गए हैं।

अर्जुन उवाच --

स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।

(गीता २/५४)

(केशव) हे कृष्ण **(स्थितप्रज्ञस्य)** जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई उसका **(समाधिस्थस्य)** समाधि में स्थिर होने की **(का)** क्या **(भाषा)** परिभाषा है? **(स्थितधीः)** इस प्रकार स्थिर बुद्धि वाला पुरुष **(किम्)** किस प्रकार **(प्रभाषेत)** बोलता है **(किम्)** कैसे **(आसीत)** बैठता है **(किम्)** कैसे **(व्रजेत)** चलता है?

अर्थ : हे कृष्ण जिसकी बुद्धि स्थिर हो गई उसका समाधि में स्थिर होने की क्या परिभाषा है? इस प्रकार स्थिर बुद्धि वाला पुरुष किस प्रकार बोलता है,

कैसे बैठता है, कैसे चलता है?

भावार्थ : इससे पिछले श्लोक ५३ में श्री कृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन! तेरी बुद्धि कई प्रकार के ज्ञान सुनने से व्याकुल हुई, जब सत्य ज्ञान सुनकर योगाभ्यास आदि द्वारा समाधि में स्थिर हो जाएगी तब तू योग (समाधि) को प्राप्त होगा। समाधि, योग अथवा स्थिर प्रज्ञा यह सब एक दूसरे के पर्यायवाची शब्द हैं। इस वैदिक शब्द को सुनकर अर्जुन अवश्य चकित हुआ होगा और सोचा होगा कि समाधिवान पुरुष कोई अजीब कर्म करने वाला ही होगा या वह विचित्र समाधिवान पुरुष साधारण पुरुष ही होगा। तब वह कैसे बोलता, बैठता और चलता होगा? अर्जुन का भाव है कि जब बुद्धि तो ईश्वर में स्थिर हो गई, और बुद्धि के बिना उठना, बोलना इत्यादि कोई कार्य होता ही नहीं है। तब वह समाधिवान पुरुष न जाने कैसा होगा? **योगशास्त्र सूत्र २/२७ में "तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा"** अर्थात् उस समाधि प्राप्त योगी की बुद्धि में सात प्रकार के भाव उत्पन्न होते हैं:- जैसे भोग इन्द्रियों की तृप्ति झूठी शान्ति है, ताप दुःख, संस्कार दुःख इत्यादि में जीव फँसकर दुःखी रहता है। योगी प्रकृति रचित जगत के नाशवान स्वरूप को जान लेता है इत्यादि। **योगशास्त्र सूत्र १/४८** में ऐसे पुरुष की बुद्धि **"ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा"** सत्य परमेश्वर में स्थित होती है। वह केवल सत्य को ही ग्रहण करती है तथा अविद्यादि क्लेश के प्रभाव से रहित होती है। समाधि का विषय अति गहन है। योगशास्त्र में सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात यह दो प्रकार की समाधि कही हैं-**योग शास्त्र सूत्र १/४४** में **"एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता"** सम्प्रज्ञात समाधि के चार भेद कहें हैं- **१. सवितर्क २. निर्वितर्क ३. सविचार और ४. निर्विचार।** सवितर्क और निर्वितर्क में पृथिवी आदि स्थूल भूत साक्षात्कार होते हैं तथा सविचार और निर्विचार समाधि में पृथिवी आदि सूक्ष्म तत्त्व प्रत्यक्ष होते हैं। जैसा कि इस सूत्र से ऊपर वर्णन किया गया है। अतः यह चारों समाधि स्थूल एवं सूक्ष्म तत्त्व के आधार वाली होने के कारण सबीज समाधि (सम्प्रज्ञात समाधि) कही गई है। जड़ तत्त्व में प्रकृति ही सूक्ष्मतम तत्त्व है। निर्विचार समाधि में भी सूक्ष्मतम प्रकृति से सम्बन्ध बना रहता है। यह चारों समाधियाँ वस्तुतः इसी **शास्त्र के सूत्र १/१७** में कही गई सम्प्रज्ञात समाधि के

भेद हैं। व्यास मुनि कहते हैं कि यह चार समाधियाँ सांसारिक विषयों के बीज सहित हैं अर्थात् इन समाधियों में स्थूल अथवा सूक्ष्म सांसारिक पदार्थों का सम्बन्ध बना रहता है। **सूत्र १/५१** में ऋषि पात जलि ने स्पष्ट किया-**"तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः"** अर्थात् ऊपर कही उस ऋतम्भरा प्रज्ञा के संस्कार के भी निरोध (रुकने, समाप्त होने पर) करने पर अर्थात् और अधिक योगाभ्यास करने पर सब वृत्तियों के निरोध होने से निर्बीज समाधि (असम्प्रज्ञात) प्राप्त होती है। ऋतम्भरा प्राप्त बुद्धि जब समाधि से चित्त का निरोध कर लेती है, तब निर्बीज समाधि अथवा निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है। भाव यही है कि ऋतम्भरा प्राप्त बुद्धि जो पढ़े, सुने, रटे ज्ञान से विलक्षण होती है और जिसके संसारी संस्कार नष्ट हुए होते हैं तथा समाधि के नए संस्कार उत्पन्न होते हैं। इन संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण जब चित्त की वृत्तियों का पूर्णतः निरोध हो जाता है तब निर्बीज समाधि अर्थात् निर्विकल्प समाधि होती है। यह समाधि सबीज समाधि के संस्कारों को भी नष्ट करने वाली होती है। यह चित्त वृत्ति की निरोध अवस्था है। इस निवृत्त अवस्था में शरीर में निवास करने वाला गन्ध, रस, स्पर्श, शब्द, परिग्रह रूप सहित इन सबसे अनभिज्ञ जीवात्मा अब अपने निज के स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा अब शुद्ध मुक्त होता है। यही कैवल्य पद है। जीवात्मा का मुक्ति अर्थात् मोक्ष पद है। इसी समाधि अवस्था प्राप्त पुरुष की बात इस श्लोक में कही जा रही है। **यजुर्वेद मन्त्र १७/७३** में ऐसे योगी सदा ईश्वर में लीन होते हैं। **यजुर्वेद मंत्र ७/४,५,६** में कहा कि समाधिवान पुरुष अणिमा आदि आठ सिद्धियों को प्राप्त करके तीनों लोकों पर विजयी होकर परमेश्वर को प्राप्त करके सदा आनन्द में रहता है। अर्जुन का समाधिवान पुरुष के विषय में किया प्रश्न विचारणीय है। उस समय वेद एवं वेदों में कही योग-विद्या, यज्ञ इत्यादि का ही प्रभाव था, फिर भी अर्जुन समाधि के विषय से अनभिज्ञ है। श्री कृष्ण स्वयं योगेश्वर हुए हैं। अर्जुन उनकी समाधि अवस्था को भी नहीं पहचानता। अतः जब तक ज्ञान दिया नहीं जाएगा तब तक ज्ञान होना असम्भव है। श्री कृष्ण ने अर्जुन को समाधि का ज्ञान दिया तब भी केवल शब्दों के द्वारा ही अर्जुन समाधि को कुछ जान पाया था। आज हमारा दुर्भाग्य है कि प्रायः कई सन्त-साधु वेद एवं समाधि के विषयों का खण्डन करके सनातन

एवं पुरातन भारतीय संस्कृति की जड़ें उखाड़ कर फैंक रहे हैं। **सांख्य के मुनि कपिल सूत्र ३/८१ "इतरथाऽन्धपरम्परा"** में कह ही रहे हैं कि यदि जीवित समाधिवान पुरुष नहीं रहे तो अन्धों की परम्परा चल पड़ेगी। अर्थात् सत्संग कहने वाला भी अन्धा (मिथ्यावादी, अज्ञानी) और सुनने वाला भी अन्धा। ऊपर अणिमा आदि आठ सिद्धियों का वर्णन किया है, वह साधक को सामान्यतः और स्वाभाविक रूप से प्राप्त होती हैं, परन्तु न तो कोई योगी इनमें फँसता है और न ही इसका स्वयं के लिए प्रयोग करता हुआ देखा गया है। इसका विस्तृत वर्णन मैंने पात जल योगदर्शन की अपनी पुस्तक में हिन्दी की व्याख्या में किया है। अतः किसी व्यक्ति का यह कहना कि योगी सिद्धियों में फँस जाते हैं, यह वेद विरुद्ध है और पूर्णतः असत्य है।

श्री कृष्ण उवाच-

प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते

(गीता : २/५५)

(पार्थ) हे पृथा पुत्र अर्जुन **(यदा)** जब **(सर्वान्)** साधक सभी **(मनोगतान्=मनः गतान्)** मन में उठने वाली **(कामान्)** इच्छाओं को **(प्रजहाति)** अच्छी तरह से त्याग देता है **(तदा)** तब ही **(आत्मना)** आत्मा के द्वारा **(एव)** ही **(आत्मनि)** आत्मा में **(तुष्टः)** सन्तुष्ट हुआ **(स्थितप्रज्ञः)** ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाला समाधिवान **(उच्यते)** पुरुष कहलाता है।

अर्थ : हे पृथा पुत्र अर्जुन! जब साधक मन में उठने वाली सभी इच्छाओं को अच्छी तरह से त्याग देता है, तब ही आत्मा के द्वारा ही आत्मा में सन्तुष्ट हुआ ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाला समाधिवान पुरुष कहलाता है।

भावार्थ : अर्जुन संसार में रहकर सभी वर्ग के पुरुषों को नित्य देखता तथा उनसे व्यवहार करता था। परन्तु जब श्लोक ५३ में **"ते बुद्धि समाधौ स्थास्यति"** तेरी बुद्धि समाधि में स्थिर हो जाएगी तब तू बुद्धि योग को प्राप्त होगा। इस विचार को सुनकर ही अर्जुन की जिज्ञासा उस समाधिवान पुरुष के विषय में जानने की हुई। उत्तर में योगेश्वर श्री कृष्ण इस श्लोक में कह रहे

हैं कि जब कोई साधक कठिन योगाभ्यास द्वारा मन में उठने वाले सभी संकल्प तथा विकल्प को त्याग देता है, तब उस पुरुष के आनन्द का स्रोत संसारी भोग पदार्थ नहीं होते अपितु स्वयं आत्मा में ही संतुष्ट अर्थात् स्वयं की आत्मा में ही स्थायी आनन्द उपजने लगता है। क्योंकि आत्मा, में ही उसे परमानन्द परमात्मा की अनुभूति हो जाती है। आँख, कान, नासिका, जिह्वा तथा त्वचा आदि इन्द्रियों में प्राप्त संसारी सुख/विषयों से वह कभी भी सुखी नहीं होता। उसके लिए महल अथवा झोंपड़ी दोनों एक समान हो जाती है। इसी स्थिति को योग शास्त्र में कहा **"योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"** अर्थात् योग (समाधि) चित्त की वृत्तियों के निरोध (रोकने) को कहते हैं। यह सम्प्रज्ञात समाधि है। और जब सम्पूर्ण चित्त वृत्तियाँ योगाभ्यास द्वारा रुक जाती हैं तब योगी को असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त होती है जिसमें वह ईश्वर की अनुभूति करता है। इसी अवस्था को श्री कृष्ण महाराज ने यहाँ **"प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् मनः गतान्"** कहा है। अर्थात् मन में उठने वाली सभी इच्छाओं को योगी त्याग देता है।

"युज् समाधौ" धातु से **'योग'** शब्द बनता है अर्थात् चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों को बाहरी विषयों से रोकना ही असम्प्रज्ञात योग है। अर्थात् पूर्ण समाधि है और जीव आनन्द स्वरूप परमेश्वर में लीन हो जाता है। **'युजिर् योगे'** इस धातु से भी योग शब्द निष्पन्न होता है। जिसका अर्थ आत्मा का परमात्मा के साथ मेल होना कहा गया है। जब वेदाध्ययन, योगाभ्यास के पश्चात चित्त पर रज, तम, तथा सत इन तीन गुणों का प्रभाव समाप्त हो जाता है, तब जीव को जड़ बुद्धि तथा चेतन जीवात्मा का अलग-अलग ज्ञान हो जाता है। अर्थात् जड़ बुद्धि चित्त, अहंकार मन अलग हैं और अविनाशी चेतन जीवात्मा अलग तत्त्व है। इस समाधि अवस्था में चित्त संसार से बाहरी सम्पर्क तोड़ चुका होता है। और जीवात्मा परमेश्वर में लीन हो चुकी होती है। अब जीवात्मा ने पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं चित्त द्वारा बाहरी संसारी ज्ञान प्राप्त करना समाप्त कर दिया होता है, वह ब्रह्मलीन है। श्री कृष्ण महाराज इस अवस्था का वर्णन करते हुए ही कह रहे हैं हे अर्जुन! जब यह जीवात्मा बाहरी पदार्थों से इस प्रकार लेन-देन समाप्त कर चुका है अर्थात् **'मनोगतान् सर्वान् कामान् प्रजहाति'** मन

की सारी कामनाओं को त्याग देता है तब उसका सम्पर्क स्वयं से (स्वयं जीवात्मा से) हो जाता है और जीवात्मा चेतन एवं आनन्द स्वरूप है, जो वैदिक ज्ञान और योगाभ्यास के अभाव में अपने स्वरूप को भूले हुए थी। अब वह अपने स्वरूप में स्थित हुई **'आत्मना एव आत्मनि तुष्टः'** अर्थात् आत्मा से ही आत्मा में सन्तुष्ट हुई होती है। अर्थात् स्वयं अपने स्वरूप में मग्न हुई होती है। उसी को **'स्थितप्रज्ञः उच्यते'** स्थित बुद्धि वाला पुरुष कहा जाता है। ऐसा ही जीव ब्रह्मलीन कहा जाता है। क्योंकि जीवात्मा स्वयं में ही परमात्मा की अनुभूति करता है। श्लोक ३९ में श्री कृष्ण जी ने स्पष्ट किया है कि हे अर्जुन! अब तक मैंने तुझे सांख्य योग (संन्यास) का ज्ञान दिया कि जीवात्मा चेतन, अविनाशी तत्त्व है इत्यादि और तू जीवात्मा है। शरीर जड़ प्रकृति रचित नाशवान है। अतः युद्ध कर। श्लोक ३९ से आगे श्री कृष्ण कर्म योग अर्थात् वेदों में कहे शुभ कर्म करने से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त होने की बात कर रहे हैं। और सर्वोत्तम वैदिक विचार कहा कि हे अर्जुन! तू फल की इच्छा त्याग कर केवल शुभ कर्म करने की वृत्ति वाला हो। तू क्षत्रिय है, अतः कर्म योग में लीन होकर धर्म युद्ध कर। फिर श्लोक ५३ में बुद्धि को समाधि में स्थिर होने की बात कही है। जिसका अर्थ है कि संसार की मोह-माया इत्यादि एवं कर्म फल की इच्छा भी त्याग कर एकाग्र बुद्धि द्वारा केवल शुभ कर्म करना जो कि मुक्ति प्राप्ति का मार्ग है। अतः एकाग्र बुद्धि द्वारा किया कर्म ही यहाँ कर्म योग, समत्व योग, बुद्धि योग अथवा निष्काम कर्म योग कहा है।

ऊपर कही ऋषि-मुनियों की समाधि अवस्था दूसरी बात है। अर्जुन को यहाँ समाधि का केवल शब्दों द्वारा ज्ञान देकर कर्म योग अर्थात् धर्म-युद्ध रूपी शुभ कर्म करने की प्रेरणा दी गई है। **महाभारत के शांति पर्व** अध्याय ५३ श्लोक २० में भीष्म पितामह का यह कथन सत्य है कि ब्रह्म के दो भेद समझने चाहिए। पहला शब्द-ब्रह्म (प्रवचन द्वारा वेदमन्त्रों का ज्ञान) और दूसरा पर-ब्रह्म (शब्द ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके योगाभ्यास आदि द्वारा सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की समाधि में अनुभूति)। और हे युधिष्ठिर! जो मनुष्य शब्द-ब्रह्म में पारंगत है, वह पर-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। **मुण्डकोपनिषद्** में शौनक ऋषि जब अंगिरा ऋषि से ब्रह्म तत्त्व पूछने आए तब भीष्म पितामह

वाली बात ही उन्होंने दोहराई कि ब्रह्म को पाने के लिए **'द्वे विद्ये वेदितव्ये परा च अपरा'** अर्थात् दो ही विद्याएँ जानने योग्य हैं-परा और अपरा। अगले श्लोक में अंगिरा ऋषि बोले-चारों वेद, व्याकरण, भौतिक ज्ञान आदि का अध्ययन अपरा विद्या में आता है। तथा जिस विद्या से (योगाभ्यास आदि) उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है वह परा विद्या है। इसी परम्परागत ज्ञान के अंतर्गत ही श्री कृष्ण गीता में वैदिक (शब्द-ब्रह्म) विद्या द्वारा अर्जुन को यहाँ केवल शब्द-ब्रह्म का ही ज्ञान दे रहे हैं जिसे हम प्रवचन अथवा उपदेश कहते हैं। परन्तु ऐसा नहीं कि बिना योगाभ्यास के श्रीकृष्ण महाराज के द्वारा समाधि वर्णन करने मात्र से अर्जुन की समाधि लग गई हो, यह बात वैदिक नियम में नहीं आती। अर्जुन को समाधि का ज्ञान देकर एकाग्र बुद्धि से धर्म युक्त कर्म करने की प्रेरणा दी जा रही है। क्योंकि **योग शास्त्र सूत्र १/१** की व्याख्या में व्यास मुनि ने भी स्पष्ट कहा है कि समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का गुण है अर्थात् चित्त जीवन की पिछली घटनाओं का स्मरण करता रहता है और भविष्य पर भी विचार करता रहता है और किसी भी विषय में स्थित भी हो जाता है। अतः सब सांसारिक विषयों से अर्जुन का मन मोड़ने के लिए भी गीता ग्रन्थ में श्री कृष्ण ने समाधि आदि का वर्णन करके अर्जुन को एकाग्र बुद्धि करके युद्ध करने की प्रेरणा दी गई है। गीता में श्री कृष्ण ने वेदों में कही तीन विद्याओं का ही उपदेश किया है। पहले छः अध्याय कर्म काण्ड, दूसरे छः अध्याय में भक्ति काण्ड तथा तीसरे छः अध्याय ज्ञान काण्ड में वैदिक विद्या का ही वर्णन है। यह सब शब्द-ब्रह्म है, महान उपदेश है। समाधि प्राप्ति के लिए सम्पूर्ण वेद एवं अष्टांग योग का कठोर अभ्यास वेदों ने अनिवार्य कहा है। केवल पढ़ा-सुना-रटा ज्ञान व्यर्थ हो जाता है क्योंकि ऐसा ज्ञान सांख्य के मुनि कपिल ने **सूत्र १/२३** में **'वाङ्मात्रं न तु तत्त्वं चित्तस्थितेः'** अर्थात् पढ़ा-सुना रटा ज्ञान केवल कहने के लिए है, वह ज्ञान वास्तविक नहीं है क्योंकि ऐसा ज्ञान केवल चित्त में ही स्थित रहता है। और समाधि प्राप्ति के लिए योगाभ्यास द्वारा चित्त की सारी वृत्तियों को समाप्त किया जाता है। इस वैदिक रहस्य को न जानने के कारण ही जनता आज के पाखण्डी गुरुओं की चिकनी-चुपड़ी, गाई-बजाई, पढ़ी-सुनी-रटी बातों में फँसकर प्रायः नरकगामी होकर वेद एवं योग विद्या से शून्य है। ऐसे गुरुओं को

मनुस्मृति श्लोक २/१६८ में कहा है कि ये अपने अनुयायियों सहित स्वयं भी नरकगामी होते हैं। क्योंकि ये वेद एवं योग को छोड़ कर केवल बातों का जाल बुनते रहते हैं।

श्री कृष्ण उवाच-

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।

(गीताः २/५६)

जिसका **(मनाः)** मन **(दुःखेषु)** दुःखों की प्राप्ति में **(अनुद्विग्न)** शोक रहित है, **(सुखेषु)** सुखों की प्राप्ति में **(विगतस्पृहः)** सुख भोगने की इच्छा से रहित है, **(वीतरागभयक्रोधः)** राग, भय और क्रोध से रहित है उस **(मुनिः)** वेदों का मनन करने वाले मुनि को **(स्थितधीः)** स्थिर बुद्धि वाला **(उच्यते)** कहते हैं।

अर्थ : जिसका मन दुःखों की प्राप्ति में शोक रहित है, सुखों की प्राप्ति में सुख भोगने की इच्छा से रहित है, राग-भय और क्रोध से रहित है, उस वेदों का मनन करने वाले मुनि को स्थिर बुद्धि वाला कहते हैं।

भावार्थ : सुख-दुःख एवं राग-भय तथा क्रोध को जिसने वेद ज्ञान एवं योगाभ्यास द्वारा जीत लिया है, उसे ही यहाँ श्री कृष्ण ने चंचल बुद्धि वाला न कहकर ब्रह्म के आनन्द में लीन स्थिर बुद्धि वाला अर्थात् समाधिस्थ पुरुष कहा है। राग का अर्थ **योग शास्त्र सूत्र २/७ में 'सुखानुशयी रागः'** कहा है अर्थात् एक बार संसारी विषयों का सुख प्राप्त होने पर उसी सुख की बार-बार इच्छा करना राग कहलाता है। जो कि एक क्लेश है, दुःखदायी है। जैसे किसी को शराब, गांजे, चरस इत्यादि अथवा भोग-विलास व सोना-चाँदी, रुपया इकट्ठा करने की लत लग गई है और उसी में मग्न रहता है। तो इसे राग रूपी क्लेश कहते हैं, जो एक दिन जीव को दुःखों में डालकर नरकगामी कर देता है। जो कुछ हमें संसारी पदार्थ प्राप्त हैं तथा शरीर की भी प्राप्ति है, तो इन पदार्थों के छिन जाने का नाम भय है, डर है। और यह निश्चित ही है कि ये एक दिन छिन ही जाएँगे और खाली हाथ जीवात्मा को शरीर छोड़ना पड़ेगा। इसी सत्य को जानकर हमें वैराग्य धारण करके जीना

चाहिए। कामना (इच्छाओं) की पूर्ति न होने पर क्रोध उत्पन्न होता है। अतः प्रथम तो हम वेदों में कहे केवल शुभ कर्मों की कामना करें दूसरा अशुभ कामनाओं पर सदा अंकुश लगाते रहें। यह अंकुश इत्यादि शुभ फल यज्ञ करना, वेद सुनना तथा योगाभ्यास के पश्चात ही प्राप्त होता है। केवल उपदेश सुनने से कुछ नहीं होता। उपदेश सुनना एवं उस पर आचरण करना शांति स्थापना के लिए दोनों ही अनिवार्य हैं। अन्यथा गीता ग्रन्थ सुनते-सुनते तो वर्षों बीत गए हैं, परन्तु इसे पढ़-सुन-रट कर सुनाने वाले गुरुओं एवं सुनने वाली जनता के क्या काम-क्रोध, राग-द्वेष एवं भय समाप्त हो गए हैं? यह एक आज का गहन विचारणीय विषय है।

सांख्य सूत्र १/६६ (चिदवसानो भोगः) चेतन जीव ही भोग की अनुभूति करता है। चेतन जीवात्मा द्वारा ही शरीर व इन्द्रियों के माध्यम से शुभ कर्मों का फल सुख और पाप कर्मों का फल दुःख भोगा जाता है। प च भौतिक शरीर जड़ पदार्थ हैं, इसलिए प च भूतों से रचित जड़ शरीर सुख-दुःख नहीं भोग सकता। सुख, दुःख, रोग, परेशानी इत्यादि को जीव द्वारा अनुभव करना ही भोग है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/२०** में इसी सत्य का वर्णन है कि मानव शरीर में जीवात्मा एवं परमात्मा दोनों ही रहते हैं। अविवेकी जीवात्मा तो जन्म-जन्मांतरों में किए पाप-पुण्य रूपी कर्मों से उत्पन्न सुख एवं दुःख आदि भोगों को स्वाद ले-ले कर भोगता है। अपितु परमात्मा कर्मफल का दाता है तथा जीवात्मा के कर्मों का साक्षी (द्रष्टा) है। और इस प्रकार परमात्मा जीवात्मा को कर्म करते एवं भोगते हुए देखता है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/२२** में कहा कि जो जीव पालना करने वाले परमात्मा को नहीं जानता अपितु मनमाने पाप-कर्म करता है, वह सुख नहीं पाता। क्योंकि सुख-दुःख कर्मानुसार हैं। अतः प्राणी को सदा वेदानुकूल शुभ कर्म ही करने चाहिए। **सांख्य शास्त्र के सूत्र १/१२७** में कहा **'नित्यमुक्तत्वम्'** अर्थात् जीवात्मा स्वरूप से सदा मुक्त है, किसी प्रकृति आदि गुणों के बन्धन में नहीं है। अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आकर अपने शुद्ध, चेतन और मुक्त स्वरूप को भूल गया है। अविवेक का अर्थ होता है-जड़ और चेतन तत्त्व का अलग-अलग ज्ञान न होना। वेद ज्ञान एवं योगाभ्यास द्वारा ही समाधि प्राप्त करके जीवात्मा अपने

स्वरूप को पहचानने में समर्थ होता है। तब अविवेक का नाश हो जाता है एवं जन्म-जन्मान्तरों से किए कर्म तथा उनके फल सुख एवं दुःख आदि सब नष्ट हो जाते हैं। और जीवात्मा मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। प्रस्तुत श्लोक में ऐसे ही समाधि प्राप्त योगी का वर्णन करते हुए श्री कृष्ण अर्जुन को पुनः समझाते हैं कि ऐसे पुरुष का मन **'दुःखेषु अनुद्विग्नमनाः'** दुःखों की प्राप्ति के समय परेशान नहीं होता तथा **'सुखेषु विगतस्पृहः'** सुखों की प्राप्ति के समय सुख भोगने की लालसा नहीं रहती। ऐसा समाधिस्थ पुरुष ईश्वर अनुभूति के आनन्द में मग्न होने के कारण राग-द्वेष, काम-क्रोध एवं भय इत्यादि सभी विकारों से शून्य होता है। क्योंकि योगाभ्यास इत्यादि द्वारा उसने इन्द्रियों को पहले ही जीत लिया होता है। श्लोक में 'मुनि' शब्द का अर्थ वेद-मंत्रों को मनन करने वाला है। श्री कृष्ण ने स्वयं गीता में कहा - **'मुनीनाम् अपि अहम् व्यासः'** अर्थात् मुनियों में मैं व्यास मुनि हूँ। व्यास मुनि वेदों के ज्ञाता, ऋषि हुए हैं, जिन्होंने महाभारत काल में चारों वेदों को सर्वप्रथम भोजपत्र पर लिखा था। इससे पहले सतयुग से वेद मुँहजुबानी याद किए जाते रहे थे। इसी मुनि शब्द को यहाँ प्रयोग करके श्रीकृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि सुख-दुःख एवं राग, भय व क्रोध आदि विकारों से मुक्त, ऐसे वेदों के ज्ञाता मुनि को **'मुनिः स्थितधीः उच्यते'** स्थिर बुद्धि वाला मुनि कहते हैं। गीता वैदिक काल की रचना है। अतः वेद एवं वेद में कहे योगाभ्यास से अलग गीता-ग्रन्थ का कोई अस्तित्व नहीं है। अतः आज भी प्राणी इन्द्रियों को वश में करने, गृहस्थ में ही मुनि पद प्राप्त करने तथा सुख, दुःख, काम, क्रोध आदि विकारों से अलग होने के लिए भारतीय सनातन पद्धति वेद और योगाभ्यास को अपनाकर स्वच्छ राष्ट्र का निर्माण करें। हम याद रखें कि श्लोक में श्री कृष्ण वैदिक उपदेश दे रहे हैं। उपदेश के पश्चात उपदेश में कही हुई विद्या को आचरण में लाकर ही जीव सुख-दुःख से पार होकर परमेश्वर को प्राप्त कर सकता है। वेद एवं योग-विद्या को त्यागकर केवल पढ़-सुन-रट कर बोलना तो पाखण्ड फैलाकर धन बटोरना मात्र ही कहा जाएगा जो कि स्वयं एक छल-कपट रूपी महापाप होगा। श्री कृष्ण ने समाधिवान पुरुष के प्रिय लगने वाले गुणों का व्याख्यान करके अर्जुन की बुद्धि को एकाग्र किया तथा उस एकाग्र बुद्धि में कर्म-योग अर्थात् धर्म-युद्ध करने की प्रेरणा भर दी थी। अर्जुन वस्तुतः

गाण्डीव-धनुष त्याग-कर जब युद्ध न करने की बात करने लगा तथा श्रीकृष्ण को अन्य भी कई शिक्षा जैसी बातें कहने लगा तब श्रीकृष्ण ने उसे उपदेश दिया कि तू पण्डितों जैसी बातें कहता है परन्तु पण्डित है नहीं क्योंकि हे अर्जुन! पण्डितजन मृत्यु प्राप्त अथवा जीवित प्राणियों के लिए शोक नहीं करते। इस पर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को समाधि प्राप्त योगियों का स्वरूप समझाया कि केवल योगी ही शोक नहीं करते क्योंकि वह योगी वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों के द्वारा एवं कठोर तप के द्वारा सत्य-असत्य, जड़ और चेतन के रहस्य को जानकर, नित्य एवं अनित्य पदार्थों को जानकर, पर-वैराग्य को प्राप्त हुए ब्रह्मलीन होते हैं। परन्तु हे अर्जुन! तू ब्रह्मलीन नहीं है और युद्ध से पहले ही युद्ध के परिणाम को सोचकर शोक कर रहा है। अतः हे अर्जुन! तुझे तो ज्ञान, कर्म एवं उपासना, यह जो तीनों विद्या वेदों में कही हैं, इनको बुद्धि द्वारा समझ कर प्रथम क्षत्रिय वंश के शुभ कर्म को करना चाहिए। क्षत्रिय का कर्त्तव्य है कि वह धर्म स्थापना के लिए युद्ध करे न कि योगियों और पण्डितों जैसी बातें करे। यही भाव प्रत्येक प्राणी पर भी लागू होते हैं कि प्रत्येक नर-नारी विद्वानों से ज्ञान, कर्म एवं उपासना के रहस्य को जानकर ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थाश्रम आदि के शुभ कर्मों को करें और इस प्रकार **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** के अनुसार जब वह शुभ कर्म करता-करता कर्मों में लिप्त नहीं होगा, वैराग्यवान हो जाएगा तब ही ईश्वर को प्राप्त नहीं कर सकता। अर्जुन ने भी धर्मयुद्ध रूपी शुभ कर्म किया, छत्तीस वर्ष राज्य का सुख भोगा और इस प्रकार छत्तीस वर्षों में भी वेदों के अनुसार शुभ कर्म करते-करते, वैराग्यवान हुए अन्त में पाँचों पाण्डव राज्य त्यागकर वनों में चले गए थे। अतः केवल पढ़ा सुना रटा भाषण घातक है।

श्री कृष्ण उवाच-

"यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।"

(गीता : २/५७)

(यः) जो **(सर्वत्र)** सब जगह सब स्थिति में **(अनभिस्नेहः)** किसी से स्नेह या लगाव नहीं रखता **(तत् तत्)** उस उस **(शुभम्+अशुभम्)** शुभ अथवा अशुभ

दोनों को **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(न)** न तो **(अभिनन्दति)** प्रसन्नता का अनुभव करता है और **(न)** न ही **(द्वेष्टि)** किसी से द्वेष करता है **(तस्य)** उसकी **(प्रज्ञा)** बुद्धि **(प्रतिष्ठता)** स्थिर है।

अर्थ : जो सब जगह-सब स्थिति में किसी से स्नेह या लगाव नहीं रखता उस-उस शुभ अथवा अशुभ दोनों को प्राप्त करके न तो प्रसन्नता का अनुभव करता है और न ही किसी से द्वेष करता है उसकी बुद्धि स्थिर है।

भावार्थ : समाधिवान पुरुष के गुणों का पुनः वर्णन करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह किसी से स्नेह/लगाव नहीं रखता। संसार में प्राणी का किसी न किसी से स्नेह अवश्य होता है। चाहे रुपये, सोना-चाँदी, राजगद्दी, पढ़ाई, लिखाई, परिवार इत्यादि-इत्यादि। यदि विचार करेंगे तो पाएँगे कि यह स्नेह किसी न किसी कारण से होता है। धन का लालच, शारीरिक सुख, बुढ़ापे इत्यादि में सुख मिले ऐसा होता है। परिवार से स्नेह, मोह, ममता एवं एक दूसरे पर आश्रित भाव से होता है। माता-पिता सोचते हैं कि बच्चे हमारी बुढ़ापे में सेवा करेंगे इत्यादि। जबकि कल क्या होगा इसका किसी को पता नहीं। और इसी मोह-माया में फँसा जीव दिन-प्रतिदिन मौत के नज़दीक जा रहा है, सब यहीं रह जाएगा, यह सत्य लगभग सभी भूल जाते हैं। अनन्त वेद-विद्या को सुनकर ही यह ज्ञान बिरला किसी को हो पाता है कि धन-सम्पदा, परिवार के शरीर इत्यादि प्रकृति से उत्पन्न नाशवान तत्त्व हैं। और हम (जीवात्माएँ) चेतन, अविनाशी स्वरूप वाले हैं। श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ यह वैदिक भाव है कि योगाभ्यास इत्यादि से समाधि प्राप्त पुरुष प्रकृति के तीनों गुणों से अलग हो जाता है। **सांख्य-शास्त्र सूत्र ६/४३** में स्पष्ट कहा है-**'विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्'** अर्थात् विमुक्त को बोध हो जाने पर उसके लिए सृष्टि नहीं होती। बोध का यहाँ अर्थ है समाधि में हुई ईश्वर अनुभूति। अर्थात् मुक्त योगी के लिए प्रकृति अपना कार्य छोड़ देती है। वेद-शास्त्रों का तत्त्व-बोध यही कहा गया है कि सारे विकार रजो, तमो एवं सतो गुण से उठते हैं और समाधिवान पुरुष के लिए प्रकृति के तीनों गुण अपना कार्य समाप्त कर देते हैं और अन्य प्राणियों के लिए यह तीनों गुण कार्य करते रहते हैं। इन्हीं तीनों गुणों के कारण धन इत्यादि का लोभ, परिवार

से मोह, काम, क्रोध, राग, द्वेष, अविद्या एवं मृत्यु आदि क्लेश जीव को बाँध कर रखते हैं और इन्द्रियों के वश में हुआ जीव दुःख को सुख, जड़ को चेतन, अनित्य को नित्य, अनात्मा को आत्मा, अपवित्र को पवित्र, समझता हुआ अंत में नरकगामी हो जाता है। परन्तु संक्षेप में यहाँ श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! समाधिवान मुक्त पुरुष किसी भी स्थिति में किसी से स्नेह या लगाव नहीं रखता। क्योंकि स्नेह या लगाव प्रकृति के गुणों का प्रभाव होता है जो समाधिवान पुरुष पर लागू नहीं होता। और ऐसा पुरुष शुभ अथवा अशुभ की प्राप्ति में न तो शुभ को प्राप्त करके प्रसन्न होता है और न अशुभ की प्राप्ति में किसी से द्वेष करता है क्योंकि उसकी बुद्धि ब्रह्म में स्थिर है। श्रीराम को जब पता चला कि उन्हें राजसिंहासन मिल रहा है तो वह प्रसन्न नहीं हुए और जब तुरन्त १४ वर्ष वनवास में जाने का समय आया तो न तो उन्होंने तीनों भाइयों से द्वेष किया और न ही दुःखी हुए। स्वयं श्रीकृष्ण महाराज को अपना शरीर त्यागते समय कोई दुःख नहीं हुआ था। प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न विकार ही जीव को रोग, भोग, काम, क्रोध, द्वेष इत्यादि से परेशान किए रहते हैं।

अथर्ववेद मंत्र ४/३३/७ में प्रार्थना है कि हे प्रभु **'न द्विषः अतिपारय'** हमें द्वेष वाली वृत्ति से उसी प्रकार पार कीजिए जैसे कि नौका से नदी पार की जाती है। **मंत्र ६/१८/२** में यह ज्ञान है कि यह भूमि मरे हुए मन के समान है तथा जड़ है। जैसे मरते समय मरने वाले पुरुष का मन पृथिवी के समान मरा हुआ सा हो जाता है उसी प्रकार जो प्राणी किसी से ईर्ष्या/द्वेष करता है उसका मन भी मरी हुई पृथिवी के समान अथवा मरते हुए प्राणी के समान अचेतन सा ही बना रहता है। ईर्ष्या मनुष्य के मन को मार डालती है। हम किसी से द्वेष अथवा ईर्ष्या न करें और श्लोक में यही कहा गया है कि समाधिवान पुरुष का यह बहुत बड़ा गुण है कि वह किसी से द्वेष नहीं करता। यह श्लोक भी पिछले दो श्लोकों की तरह ब्रह्मलीन (समाधिवान) पुरुष के ही गुण वर्णन कर रहा है। **यजुर्वेद मंत्र ७/६** का भाव है कि जब तक कोई वेदों में वर्णित अष्टांग योग विद्या द्वारा अपना अन्तःकरण शुद्ध करके श्रेष्ठ आचरण वाला योगी नहीं हो जाता तब तक ईश्वर किसी को अपनाता नहीं है। और बिना ईश्वर-प्राप्ति (समाधि) के सुख उत्पन्न नहीं

हो सकता। अतः **यजुर्वेद मंत्र ७/६** में कहा कि मनुष्य वेद-विद्या को सुन कर तथा उपदेश ग्रहण करके, योगविद्या के यम, नियम आदि आठ अंगों को धारण करके श्रीराम, श्रीकृष्ण, सीता वा ऋषि-मुनियों की तरह गृहस्थाश्रम में ही योगाभ्यास से जुड़ा रहे। यह चारों वेदों एवं गीता आदि ग्रन्थों का उपदेश है कि प्राणी यज्ञ, योगाभ्यास आदि को कभी न छोड़े। विद्वानों को ही ईश्वर पसन्द करता है, बातें बनाने वाले शेखी खोरों को नहीं। क्योंकि **ऋग्वेद मंत्र १/१५१/६** में कहा भी है कि जिस विद्या को वेदज्ञ विद्वान् प्राप्त करते हैं उसे साधारण मनुष्य प्राप्त नहीं कर सकते। विद्वानों की उपमा केवल विद्वान् ही होते हैं, अन्य जन नहीं हो सकते। भगवद्गीता में ही देखें कि श्रीकृष्ण योगविद्या के ज्ञाता योगेश्वर हैं। सन्दीपन ऋषि के आश्रम में मित्र सुदामा के साथ चारों वेदों का अध्ययन किए हुए पूर्ण-विद्वान् हैं अतः श्रीकृष्ण जैसे योगेश्वर ही तो इन श्लोकों में समाधि के विषय एवं समाधि प्राप्त विद्वानों के गुण गा रहे हैं। जो वेद नहीं जानता, योगाभ्यास नहीं किए हुए है वह इस विद्या को क्या जाने? ऐसे गुरु ही जो वेद एवं योग विद्या नहीं जानते प्रायः योग एवं वेद-विद्या की निन्दा करके तथा पढ़-सुन-रट कर बोल-बोल कर आज धन बटोर रहे हैं। और ऐसे गुरु-विद्वानों की उपमा कैसे हो सकते हैं। यही आज के युग में भारतीय सनातन वैदिक संस्कृति पर कुठाराघात है। श्री राम को राज्य मिलने का आनन्द नहीं और जंगलों में जाने का दुःख नहीं और न ही उन्होंने भरत को गद्दी पर बैठे देखकर द्वेष इत्यादि किया। आज यह बड़े दुःख की बात है कि प्रायः हम छः शास्त्र, गीता, रामायण आदि में समाधिवान पुरुषों द्वारा लिखा अनुभव पढ़, सुन, रट कर बोलते हैं अथवा सुनते हैं परन्तु योगाभ्यास द्वारा उन्हीं के समान गुणों को प्रकट नहीं करते। इसी कारण बड़ी-बड़ी पूजा, सत्संग समारोह, गुरुओं के प्रवचन भारतीय जनता एवं भारतवर्ष को सनातन संस्कृति से उखाड़कर भ्रष्टाचार, उग्रवाद, देशद्रोह, नारी-अपमान आदि असंख्य बुराइयों को जन्म दे रहे हैं। ऊपर कहे ऋग्वेद का यह वाक्य अमर है कि वेदज्ञ विद्वान् ही विद्वानों की उपमा है एवं विद्वानों की परम्परा को कायम रखता है, अन्य कोई नहीं कर सकता।

योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज भी प्रस्तुत श्लोक में वेद एवं योग विद्या के कठोर अभ्यास द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगी के ही तीन गुणों का

व्याख्यान कर रहे हैं। वह दो गुण हैं कि हे अर्जुन! ऐसा योगी किसी भी स्थिति में किसी से स्नेह अथवा लगाव नहीं रखता, दूसरा शुभ अथवा अशुभ की प्राप्ति में वह न तो प्रसन्नता का अनुभव करता है और न ही किसी से द्वेष करता है। ऐसे योगी की बुद्धि सदा ब्रह्म में स्थिर रहती है। वस्तुतः योगी के अनेक गुण हैं परन्तु यहाँ दो गुणों का ही वर्णन है।

श्री कृष्ण उवाच-

यदा संहरते चायं कूर्मोऽगांनीव सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

(गीता : २/५८)

(च) और **(कूर्मः)** कछुए **(इव)** की तरह अर्थात् जैसे कछुआ **(अंगानि)** अपने अंगों को संकट के समय पीछे खींच लेता है वैसे ही **(यदा)** जब **(अयम्)** यह समाधिवान पुरुष **(सर्वशः)** सब तरह से **(इन्द्रियार्थेभ्यः)** इन्द्रियों के विषय-विकारों से अपनी **(इन्द्रियाणि)** सब इन्द्रियों को **(संहरते)** संहरणम् अर्थात् समेट लेता है, **(तस्य)** उस पुरुष की **(प्रज्ञा)** बुद्धि **(प्रतिष्ठिता)** स्थिर होती है।

अर्थ : और कछुए की तरह अर्थात् जैसे कछुआ अपने अंगों को संकट के समय पीछे खींच लेता है वैसे ही जब वह समाधिवान पुरुष सब तरफ से इन्द्रियों के विषय-विकारों से अपनी सब इन्द्रियों को संहरणम् अर्थात् समेट लेता है, उस पुरुष की बुद्धि स्थिर होती है।

भावार्थ : यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने कछुए के अंगों का बड़ा सुन्दर उदाहरण दिया है। सभी जानते हैं कि कछुए के अंगों की रचना इस प्रकार है कि एक बहुत ही पत्थर जैसा मज़बूत टोप सा होता है जिसके अन्दर उसके कोमल अंग सुरक्षित होते हैं। जब कछुआ पानी में तैरता है अथवा जमीन पर चलता है तब वह उस सुदृढ़ टोप से अपने कोमल अंग पैर, हाथ, सिर, आँख इत्यादि बाहर निकालता है। परन्तु जैसे ही उसे कोई संकट महसूस होता है वह तुरन्त अपने सभी कोमल अंग उस मजबूत टोप में खींच कर एकत्र कर लेता है। योगाभ्यास किए समाधिवान पुरुष की पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन समाधि अवस्था में कछुए के अंगों के समान संसारी विषय-विकारों

से सिमट कर एकत्र हुए होते हैं। समाधि अवस्था में वह पुरुष अपने शरीर तथा स्वयं (जीवात्मा) को भी भूले हुए होता है। समाधि से उठकर ही वह केवल व्यवहार मात्र के लिए पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कमेन्द्रियाँ से खाना, पीना, हँसना, सोना, सांसारिक शुभ कार्य इत्यादि करता है और जैसे ही कोई बुराई उस व्यवहार के समय उसे दिखाई देती है वह अपनी ज्ञानेन्द्रिय के रूप, रस, गंध, स्पर्श, सुनना इत्यादि पाँचों विषयों को कछुए के शरीर की भांति ही विषयों से समेट लेता है। **अथर्ववेद मंत्र ६/४/१७** इस विषय में कहता है कि **'यः गवाम् पतिः'** अर्थात् जो वेदवाणियों का ज्ञाता एवं योगी है वह **'अघ्न्य'** अर्थात् विषय-विकार वाली वृत्तियों वाला नहीं होता, वह **'कर्णाभ्याम् भद्रम् शृणोति'** कान इन्द्रिय द्वारा भद्र (शुभ) ही सुनता है, अशुभ एवं विषय रस वाली बातों अथवा निंदा इत्यादि में उसकी वृत्ति नहीं होती। **'चक्षुषा अवर्तिम् हन्ति'** अर्थात् ज्ञान दृष्टि से दुर्भाग्य का नाश करता है तथा सुन्दर भविष्य का निर्माण करता है। यह सब गुण ऋषि परम्परा से वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त ब्रह्मलीन योगी के ही कहे गए हैं जिसकी आँख, कान, नाक, जीह्वा, त्वचा एवं मन यह छः इन्द्रियाँ वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा संयम में हो जाती हैं। इसका यह अर्थ नहीं है कि वह पुरुष समाधिवान है जो अपनी इन्द्रियों को कछुए के समान विषयों से समेट लेता है। ऐसा तो हर कोई कहकर अपने को समाधिवान घोषित कर लेता है। प्रश्न यह है कि इन्द्रियाँ किस साधना अभ्यास से संयम में होती हैं? वह साधन अभ्यास ही वेदाध्ययन एवं वेदों में कहा यज्ञ तथा अष्टांग योग का अभ्यास है जिसका फल यह होता है कि इन्द्रियाँ संयम में हो जाती हैं और साधक की समाधि लग जाती है। **यजुर्वेद मंत्र ३४/११** में इन्द्रिय संयम के लिए उपदेश किया है कि मनुष्य की मन के समान बहने वाली पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो एक नदी के समान विषयों में बहती ही रहती हैं। यह ज्ञानेन्द्रियाँ योगाभ्यास आदि द्वारा सांसारिक विषयों से हटाकर **'सरस्वतीम् अपि यन्ति'** अर्थात् वेद वाणी को प्राप्त हो जाती हैं। हम इन ज्ञानेन्द्रियों को संयम करके वेदवाणी के ज्ञाता होकर शुभ एवं अशुभ, जड़ एवं चेतन तथा योगाभ्यास के रहस्य को जानकर उसे आचरण में लाकर समाधि अवस्था को प्राप्त करें। **अथर्ववेद मंत्र ६/४/२०** भी स्पष्ट करता है कि वेद विद्या से **'गावः सन्तु'** इन्द्रियाँ सशक्त

बनती हैं। **'बलम् अस्तु'** सम्पूर्ण शरीर में बल रहता है। और इससे अगले मंत्र में ही कहा कि जो साधक योगाभ्यास द्वारा **'वशम् विपश्चितम्'** अर्थात् इन्द्रियों को वश में करता है उसके लिए ही ईश्वर **'धेनुम् दुहाम्'** वेद-विद्या का दोहन कराता है। यहाँ भाव यह है कि इन्द्रिय संयम वाले पुरुष के हृदय में ही चारों वेदों का ज्ञान ईश्वर कृपा से प्रकट होता है। योगाभ्यास न हो, वेदाध्ययन न हो, यज्ञ न हो, शुभ कर्म न हो तो न तो इन्द्रिय संयम होता है और न ईश्वर की कृपा होती है और कभी भी वेद का ज्ञान प्रकट नहीं होता। पुरुषार्थहीन पुरुष वेद-विरुद्ध मार्ग अपना लेते हैं। जैसा कि तुलसी ने कहा-

"कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।।"
[उत्तरकाण्ड दोहा ९७ (क)]

अर्थात् कलियुग के पापों ने सब धर्मों को खा लिया, सच्चे ग्रन्थ लुप्त हो गए। दंभियों ने (छली-कपटी) अपनी बुद्धि से कल्पना कर-कर के बहुत से पंथ बना दिए हैं।

श्लोक ५५ से इस ५८ श्लोक तक श्रीकृष्ण अर्जुन के श्लोक ५४ में पूछे समाधिवान पुरुष के गुणों का व्याख्यान कर रहे हैं। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि गीता के इन श्लोकों की व्याख्या सुन-सुनकर किसी की बुद्धि ब्रह्मलीन हो जाएगी। पढ़-सुन कर तो आज के कई सन्त व्याख्या, हँसी-मज़ाक इत्यादि करते हुए प्रवचन-सत्संग की महिमा गा-गाकर पैसे बटोर ही रहें हैं लेकिन उनकी प्रायः वेद-विरुद्ध इन व्याख्याओं से आज तक न तो व्याख्या करने वाले सन्त और न सुनने वाले श्रोता ही ब्रह्मलीन हुए हैं। विपरीत में वेद विरुद्ध भाषण द्वारा दोनों वर्गों को सदा कष्ट ही उठाना पड़ा है। क्योंकि जहाँ **श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लोक २/१२, १३** में ऐसे योगी/सन्त के विषय में कहते हैं कि वह रोग रहित, जरा एवं मृत्यु रहित हो जाता है वहीं आज के प्रायः वेद विरोधी सन्त बड़ी-बड़ी बीमारियों के शिकार हुए देखे हैं और अफसोस है कि जनता वेद न जानने के कारण ऐसे वेद विरोधियों को समझ नहीं पाती। क्योंकि प्रायः यह अपनी बीमारियों को छुपाने के लिए कह

देते हैं कि हमने शिष्यों को आशीर्वाद दिया था और हम शिष्यों की बीमारियों को सह रहे हैं। परन्तु वेदों में ऐसा कोई विधान नहीं है। अतः केवल समाधिवान पुरुष ही अपनी इन्द्रियों को कछुए के समान समेटता है।

क्योंकि स्वयं आगे के श्लोक ६६ में श्रीकृष्ण कह ही रहे हैं कि हे अर्जुन! **'अयुक्तस्य बुद्धि न अस्ति'** अर्थात् अयुक्त की बुद्धि ब्रह्म में स्थिर नहीं होती। **'युज्'** धातु में **'क्त'** प्रत्यय से **'युक्त'** शब्द बनता है जिसका अर्थ है जुड़ना। **'युक्त'** का अर्थ-जो ब्रह्म से जुड़ गया है। **'युजिर् समाधौ'** से ही समाधि शब्द बनता है।

यजुर्वेद मंत्र ७/४ एवं योगशास्त्र **सूत्र १/१ एवं २/२६** में कहा कि वेदाध्ययन एवं अष्टांग योगाभ्यास से ही साधक समाधि अवस्था प्राप्त करता है। अतः श्रीकृष्ण जी कह रहे हैं कि जो इस प्रकार की सनातन साधना से नहीं जुड़े हुए एवं केवल पढ़-सुन-रट कर ही बोले जा रहे हैं अथवा श्लोकों की व्याख्या मात्र ही करते हैं, उनकी बुद्धि कभी भी ब्रह्म में स्थिर नहीं है। अतः इस श्लोक में कछुए के समान अपनी इन्द्रियों को सब विषयों से समेटने का उदाहरण केवल वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास किए समाधिवान पुरुष पर ही लागू होता है, केवल सुनने-सुनाने वालों पर नहीं। हाँ, सुनने का आदेश वेद देता है। जैसे **सामवेद मंत्र ५०** में कहा **'श्रुधि श्रुत्कर्ण'** वेदों शास्त्रों का उपदेश कानों से सुनो। क्योंकि सुनकर ही उपदेश आचरण में लाया जाता है। अतः सुनने का अत्यन्त महत्त्व है। लेकिन सुन-सुनाकर आचरण में न लाकर केवल पैसे कमाना यह महापाप है। अर्जुन श्लोक ५३ में समाधि के विषय में सुनकर हैरान था कि न जाने समाधिवान पुरुष कैसे होते होंगे, जबकि उनके सम्मुख ही साक्षात् समाधिवान योगेश्वर श्रीकृष्ण खड़े हैं जिन्हें वह उस समय नहीं पहचान पा रहा। इसी प्रकार योगाभ्यास एवं वेदाध्ययन न करने वाले भी श्रीकृष्ण के स्वरूप को बिल्कुल भी हीं जानते।

अतः श्रीकृष्ण ने इन चार श्लोकों (५५ से ५८ तक) में समाधिवान पुरुषों के गुणों का वर्णन किया है। क्योंकि ऐसा वर्णन सुनना आज भी दुर्लभ है, उस समय भी दुर्लभ था। क्योंकि कोई जीवित समाधिवान पुरुष (अष्टांग योगी) ही तो ऐसा वर्णन कर सकता है, अन्य जो अष्टांग योगी है ही नहीं

वह तो पढ़-सुन-रटकर झूठ ही बोल सकता है।

ऐसे वर्णन सुनने से ही तो आगे चलकर अर्जुन समझा था कि मेरे सम्मुख ही समाधिवान, योगेश्वर, ब्रह्मलीन, ईश्वर स्वरूप श्रीकृष्ण खड़े हैं। और फलस्वरूप अर्जुन श्रीकृष्ण महाराज की धर्म-युद्ध की आज्ञा मानने पर विवश हुआ था। ऐसे ही सतयुग से द्वापर तक के ब्रह्मलीन व्यास मुनि, गुरु वशिष्ठ, कपिल मुनि, अत्रि ऋषि, विश्वामित्र, श्रीराम, श्रीकृष्ण, राजर्षि ययाति राजा इत्यादि असंख्य योगियों के गुणों का वर्णन चारों वेदों, महाभारत एवं सभी शास्त्रों में है। परन्तु आज हमारे देश का दुर्भाग्य है कि वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग के अभाव में जीवित योगी के दर्शन और उनके मुख से समाधि अवस्था के गुण सुनना दुर्लभ हो गया है। परन्तु हमें पराजय नहीं माननी चाहिए। भारत के गौरव को पुनः वेदज्ञ, ऋषि-मुनियों, तपस्वियों की भूमि कहलाने के लिए बच्चों को संस्कृत एवं वैदिक शिक्षा के लिए हम आह्वान करें। अन्यथा वेद संस्कृति, यज्ञ एवं योगाभ्यास के विरोधी पाखण्डी गुरु दिन पर दिन मक्खी-मच्छर तथा बरसाती मेढ़कों की टर्र-टर्र-टर्र करते हुए बढ़ते ही जायेंगें।

श्री कृष्ण उवाच-

विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहिनः
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते

(गीता : २/५६)

(देहिनः) पुरुष अर्थात् जीवात्मा के **(विषयाः)** इन्द्रियों के विषय-भोग **(निराहारस्य)** इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने पर **(विनिवर्तन्ते)** निवृत्त तो हो जाते हैं परन्तु **(रसवर्जम्)** विषय रस की तृष्णा समाप्त नहीं होती। परन्तु **(अस्य)** इस समाधि प्राप्त पुरुष द्वारा **(परम्)** परमेश्वर **(दृष्ट्वा)** का दर्शन करके तो **(रसः)** विषय-भोग की तृष्णा-लगाव **(अपि)** भी **(निवर्तते)** निवृत्त अर्थात् नष्ट हो जाता है।

अर्थ : पुरुष अर्थात् जीवात्मा के इन्द्रियों के विषय भोग इन्द्रियों द्वारा विषयों को ग्रहण न करने पर निवृत्त तो हो जाते हैं परन्तु विषय रस की तृष्णा समाप्त नहीं होती। परन्तु इस समाधि प्राप्त पुरुष (जीवात्मा) द्वारा परमेश्वर का दर्शन करके तो विषय-भोग की तृष्णा-लगाव भी निवृत्त अर्थात् नष्ट हो जाता

है।

भावार्थ : एक बार मैं ऋषिकेश के घने जंगल की गुफा में अपने योगी आचार्य के चरणों में बैठा था कि वहाँ अमेरिका से एक स्त्री पत्रकार अपने साथियों सहित आई और महाराज जी से प्रश्न किया कि आज की भक्ति एवं योगाभ्यास में क्या अंतर है? महाराज ने उत्तर दिया कि आज की भक्ति में प्रायः फिल्मों की तरह अभिनय हो सकता है परन्तु योगाभ्यास में कभी भी अभिनय नहीं हो सकता। महाराज ने स्पष्ट किया कि मानो कई भक्त-भक्तनी मूर्ति के आगे वस्त्रों इत्यादि से सज-धज कर संगीत की लहरी में मग्न हो नाच गा रहे हैं तो दूर से ऐसा लगेगा कि यह सब भक्ति में लीन हो गए हैं परन्तु वास्तव में नाचते-गाते समय इनके मन में कैसे-कैसे संसारी विचार आ और जा रहे थे, इसका किसी को भी पता नहीं लगेगा। और ऐसे नृत्य आदि समाप्त होने पर बाद में संगीत, भजन वालों की प्रशंसा एवं संसारी बातों का ताना-बाना बुनना शुरू हो जाएगा। थोड़े समय के लिए अवश्य वृत्ति गाने-बजाने में रहेगी। यह सब कान, आँख, स्पर्श की इन्द्रियों द्वारा सजावट देखने, सुनने और स्पर्श करने का आनन्द तथा नाक द्वारा खुशबु एवं जीह्वा द्वारा भोजन आदि का आनन्द के अनुभव हैं। परन्तु योगाभ्यास द्वारा तो आँख, कान आदि पाँचों इन्द्रियों का संयम किया जाता है अर्थात् इन्हें प्रत्येक विषय से रोका जाता है। पुनः यदि योगाभ्यास के लिए यह योगी शिष्य को आसन लगाने अथवा प्राणायाम करने के लिए कहेगा तो या तो शिष्य आसन-प्राणायाम कर लेगा अथवा नहीं करेगा। अतः योग-विद्या में आसन, प्राणायाम विद्या का अभिनय नहीं किया जा सकता। कुछ ऐसे ही ज्ञान का दर्शन इस प्रस्तुत श्लोक में होता है। इस श्लोक में दो पक्ष हैं। पहला उस साधक के विषय में है जो रूप, रस आदि इन्द्रियों के विषयों को रोकने का उपदेश अपने आचार्य से सुनकर हठ-पूर्वक काम-क्रोध आदि विषयों को ग्रहण करना छोड़ देता है। ऐसे साधक की आँख, नाक आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ हठ-पूर्वक अर्थात् जबरदस्ती **'विषयाः विनिवर्तन्ते'** विषयों को ग्रहण करना छोड़ देती हैं परन्तु समाधि अवस्था अर्थात् ब्रह्मानुभूति का परमानन्द प्राप्त न होने के कारण मन ही मन विषयों के प्रति लगाव एवं विषय-विचारों का आना-जाना समाप्त नहीं होता एवं

विषयों के अत्यंत वेग में ऐसा साधक कभी-भी विषय भोग की तरफ आकर्षित हो सकता है। इसका उदाहरण स्वयं ऋषि विश्वामित्र जी भी हैं जो अभी तपस्या की ही अवस्था में थे कि मेनका अप्सरा ने उनको अपनी ओर आकर्षित करके उनका तप भंग कर दिया था। बाद में विश्वामित्र जी को चेतना आई एवं मेनका को त्यागकर पुनः घोर अष्टांग योग, तप किया एवं परमपिता परमात्मा का साक्षात्कार किया। दूसरा पक्ष ऊपर के श्लोकों से ही चला आ रहा है कि जो समाधिवान पुरुष अथवा स्थिर बुद्धि वाले पुरुष अर्थात् समाधिवान पुरुष जिसने वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग के कठोर अभ्यास द्वारा प्रत्यक्ष में अपने हृदय में ईश्वर का साक्षात्कार किया है। जिसे इस श्लोक में **'परम दृष्ट्वा'** अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार करने वाला योगी कहा है। श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि ऐसे समाधिवान पुरुष के तो विषय रस-विषयों के प्रति लगाव अथवा क्षणिक चिंतन भी समाधि काल में परमात्मा का दर्शन एवं दर्शन से उपजे सर्वोत्कृष्ट परम आनन्द को अनुभव करके इन्द्रियों के विषयों के प्रति लगाव अथवा विषयों के प्रति क्षणिक चिंतन मात्र प्रभाव भी समूल नष्ट हो जाता है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/६** ऐसे समाधिवान पुरुष के विषय में कहता है **"सर्वभूतेषु आत्मानम् अनुपश्यति"** अर्थात् वह पुरुष जब वेद-विद्या धर्माचरण तथा योगाभ्यास के पश्चात सब संसार के सूर्यादि पदार्थों के कण-कण में परमात्मा को देखता है, तब वह **'न वि चिकित्सति'** कभी भी किसी प्रकार के संशय में नहीं पड़ता क्योंकि उसका अनुभव सत्य पर आधारित होता है, परन्तु वर्तमान का मनघढ़न्त एवं आडम्बर पर आधारित तीसरा पक्ष भी हमें विचारना होगा कि जो संत प्रायः वेद एवं योग विद्या आदि लक्षणों से हीन एवं सनातन वेद-विद्या एवं यज्ञ आदि का खण्डन तथा मज़ाक उड़ाते हैं एवं पढ़-सुन-रटकर हँसी मज़ाक व डरा धमका कर भीड़ इकट्ठी करके पैसा कमाते हैं उनकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ किस-किस विषय में रमण करती हैं, यह एक आज का गहन विचारणीय विषय है। क्योंकि ऐसे महात्मा भी स्वयं को कथाओं द्वारा पूर्ण संत, पूर्ण महापुरुष, पूर्ण सद्गुरु और कहीं-कहीं तो अपने-आप को भगवान घोषित किए हुए हैं। भगवान श्रीकृष्ण का यहाँ यही ज्ञान है कि केवल समाधिवान पुरुषों की इन्द्रियों के विषय ही समूल नष्ट होते हैं अन्य के नहीं। योग शास्त्र सूत्र १/२ स्पष्ट रूप में कह ही रहा है कि

वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग के कठोर अभ्यास से जब चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ रुक जाती हैं उसी को ही योग अथवा असम्प्रज्ञात समाधि कहते है। **अथर्ववेद मंत्र ७/२/१** कहता है कि **'अथर्वाणम्'** अर्थात् स्थिर बुद्धि वाला समाधिवान पुरुष **'यः इमम्'** जो इस ईश्वर को **'मनसा चिकेत'** वेद-विद्या के मनन एवं योगाभ्यास द्वारा जानता है वह पुरुष **'नः प्रवोचः'** हमें ब्रह्म का प्रवचन-उपदेश करें। अर्थात् ऐसे समाधिवान पुरुष से ही हम ब्रह्म का उपदेश सुनें। ऐसे समाधिवान पुरुष/योगी के विषय में ही श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में अर्जुन को कह रहे हैं कि परमात्मा का साक्षात्कार करके इस योगी के विषयों के प्रति राग एवं सभी क्लेश आदि विकार नष्ट हो जाते हैं और जो विपरीत में वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग साधना से रहित हैं, वह कुछ समय के लिए स्थान विशेष में बलपूर्वक अपनी इन्द्रियों को वश में कर लेते हैं परन्तु विषयों के प्रति उनका राग कभी समाप्त नहीं होता और वह नरकगामी हो जाते हैं।

यजुर्वेद मंत्र १७/९० भी स्पष्ट कहता है-**'चतुः श्रृंगः'** सींग के समान चार वेदों वाला तथा **'गौरः'** गौ अर्थात् वेद-विद्या की वाणी में रमण करने वाला विद्वान् **'अवमीत्'** हमें उपदेश करे, तथा **'उपश्रृण्वत्'** हमें विद्या सुनाएँ। परन्तु आज ऐसे सनातन वैदिक मंत्रों के प्रमाणों के अभाव में कोई भी गीता, रामायण अथवा शास्त्रों को पढ़-सुन-रट कर व्याख्यान करके पैसा कमाने लगता है और पुजने लगता है। तब विचार यही करना है कि ऐसे महात्माओं की इन्द्रियाँ किस विषय में रमण करती हैं। इस श्लोक के अनुसार संतो का चोला पहन, तिलक लगा, भीड़ इकट्ठी करके कोई भी थोड़ी देर के लिए जबरदस्ती **'निराहारस्य देहिनः'** विषयों से मुख मोड़ सकता है परन्तु जैसा श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने कहा **'रसवर्जम्'** ऐसे महात्मा का इन्द्रिय विषय के गंध एवं काम-क्रोध आदि अनेक से अनेक विषयों को भोगने की तृष्णा कभी समाप्त नहीं होती। और वह पाप में युक्त ही रहता है क्योंकि ऐसा संत सद्गुरु अथवा महात्मा इस श्लोक एवं श्लोक ५५ से ५८ तक के श्लोकों के अनुसार वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त पुरुष नहीं है। गीता का ज्ञान वस्तुतः वेदाध्ययन एवं समाधि प्राप्त व्यास मुनि एवं योगेश्वर कृष्ण दे रहे हैं। और आश्चर्य यह है कि प्रायः गीता की व्याख्या करने वाला संत,

सद्गुरु अथवा महात्मा वेद एवं योग-विद्या विहीन, वेद एवं यज्ञ का निदंक होता है। यह कलियुग का परम आश्चर्य है जिसके विषय में मनु भगवान ने कहा **'नास्तिको वेद निन्दकः'**-अर्थात् वेद-विद्या की निंदा करने वाला नास्तिक होता है और इस सूत्र के अनुसार वह संत, सद्गुरु अथवा महात्मा कैसे हो सकता है, तुलसी जिन्होंने रामायण के प्रथम पृष्ठ पर ही वेदाध्ययन करने का प्रमाण दिया उन्होंने भी उत्तरकाण्ड में यह अफसोस जाहिर किया है-**'द्विज श्रुति बेचक'** अर्थात् कलियुग के संतों ने वेद बेच दिए हैं, वेद का ज्ञान उनमें नहीं है और **'वेद-विदूषक'** अर्थात् वेदमंत्रों का हँसी-मज़ाक उड़ाते हैं। हमें वेद-विद्या द्वारा ऐसे पाखण्डी गुरुओं से सावधान होना चाहिए।

श्रीकृष्ण उवाच-

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः ।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः ।।

(गीता : २/६०)

(कौन्तेय) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन **(हि)** निश्चय ही **(यततः)** यत्न करते हुए **(विपश्चितः)** विद्वान् **(पुरुषस्य)** पुरुष के **(मनः)** मन को **(अपि)** भी **(प्रमाथीनि)** अच्छी तरह मथ डालने वाली **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियाँ **(प्रसभम्)** बलपूर्वक-जबरदस्ती **(हरन्ति)** हर लेती हैं।

अर्थ : हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! निश्चय ही यत्न करते हुए विद्वान् पुरुष के मन को भी अच्छी तरह मथ डालने वाली इन्द्रियाँ बलपूर्वक जबरदस्ती हर लेती है।

भावार्थ : बुद्धिमान पुरुष जो इन्द्रियाँ को वश में करने के लिए प्रार्थना, पूजा-पाठ, योगाभ्यास इत्यादि में सदा रत रहते हैं, ऐसे पुरुषों के सम्मुख भी जब संसारी विषय प्रकट होते हैं तो यह आँख, कान इत्यादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उस पुरुष के भी मन को प्रायः विषय में लीन करके उसे सत्य मार्ग से भटका देती हैं, तो आज के वेद, योग व यज्ञ-विरोधी संतों की मीठी-मीठी चिकनी चुपड़ी, हँसी-मज़ाक, चुटकुलों आदि से पूर्ण भटकाने वाली वाणी ने ही तो प्रायः जनता का मन हर लिया है। और उसे असत्य की ओर मोड़ दिया है। **महाराजा भर्तृहरि** ने अपनी **'त्रिशतक'** नामक विख्यात पुस्तक में लिखा है कि

मैंने जंगल में कन्दमूल, फल-फूल पर गुजारा करने वाले केवल एक फटी-पुरानी गुदड़ी और लंगोटी पहने साधुओं का भी विषय-विकार जाग्रत होते देखा है, तब दूध, घी, मलाई, बादाम इत्यादि खाने वाले घर-घर घुसते साधु-संतों की इन्द्रियाँ वश में हो जाए तो समझो कि हिमालय पर्वत उत्तर से उखड़कर दक्षिण में चला गया है। अतः वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि सनातन पद्धति के अभ्यास किए बिना मन व इन्द्रिय संयम असम्भव है। कहते हैं प्रातः काल भर्तृहरि कहीं जा रहे थे। रास्ते में पान की पीक किसी ने थूकी हुई थी। सूर्य की रोशनी उस पान की थूक पर इस तरह चमक रही थी कि वह थूक सोने का टुकड़ा सा दिखाई दे रहा था। भर्तृहरि ने बिना सोचे समझे वह पान की पीक वाला थूक हाथ में उठा लिया। उसके हाथ गंदे हो गए। वह कभी राजा था। सोना-चाँदी तो वह त्याग कर ही आया था। परन्तु फिर भी मन का सोने-चाँदी से पुराना मोह जाग उठा। इस पर भर्तृहरि को बड़ा अफसोस हुआ और कहा-

"महल तजे मंडप तजे तजी सहस्रों नार
आशा तृष्णा न तजि हे मन तुझे धिक्कार"

तो इस श्लोक में श्री कृष्ण कह रहे हैं कि यह ज्ञानेन्द्रियाँ बलपूर्वक-जबरन मन को विषय में खींच लेती है। धृतराष्ट्र, रावण, कंस इत्यादि असंख्य राजा-प्रजा इन्द्रियों के जाल में फंस कर नरकगामी हुए हैं। अर्जुन योगी नहीं फिर भी बचपन से यज्ञ, योगाभ्यास करने वाला इन्द्रिय-संयमी है। युद्ध में उसकी इन्द्रियाँ शिथिल हो रही थीं। इन्द्रियों ने उसके मन पर काबू पा लिया था। वह तो श्रीकृष्ण के उपदेश से ही धर्म-युद्ध करने में सक्षम हुआ था। **कठोपनिषद् तृतीया वल्ली श्लोक ३ में** ऋषि ने कहा है कि इस मानव शरीर में चेतन जीवात्मा रहती है, जो शरीर का स्वामी है। यह शरीर एक रथ के समान है जिसमें रथ को चलाने वाला सारथि बुद्धि है। इन्द्रियाँ इसके घोड़े हैं, मन लगाम है। इन्द्रिय और मन जो भी कार्य करती हैं उसका भोक्ता जीवात्मा है। बुद्धि ज्ञान से शुद्ध होती है, और शुद्ध विचारों वाली बुद्धि ही इन्द्रियों को वश में करती है। तभी जीव परम शांति को प्राप्त होता है। **अथर्ववेद मंत्र १०/५/२८-२६** में कहा कि हे जीवात्मा! तू तेजस्वी मन वाला

बन कर विषय-विकार रूपी शत्रुओं का नाश कर। **कठोपनिषद् तृतीया वल्ली श्लोक १०** में इन्द्रियों से परे मन और मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे जीवात्मा को महान कहा है। ज्ञानेन्द्रियाँ सब विषयों को पहले मन को देती हैं। मन बुद्धि को देता और बुद्धि भ्रष्ट है तो वह जीवात्मा को भ्रमित करके पाप-युक्त कर्म कराती है। जिसका भोक्ता जीवात्मा होता है। क्योंकि तप, स्वाध्याय हीन जीवात्मा अपने चेतन स्वरूप को नहीं जानता। **अथर्ववेद मंत्र ६/५/३७** में कहा कि जीव पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करे। और यदि पति-पत्नी गृहस्थाश्रम में अपने को प्रभु के प्रति समर्पित करते हैं तो इस लोक और परलोक दोनों का सुख प्राप्त करते हैं। इससे पहले श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने स्पष्ट किया है कि समाधिवान पुरुष द्वारा **'परम दृष्ट्वा रसः अपि निवर्तते'** अर्थात् परमेश्वर का दर्शन करके उसके मन में सभी विषय भोग की कामना समूल नष्ट हो जाती है। क्योंकि अर्जुन का मन धर्म-युद्ध करने से हट रहा है तभी श्रीकृष्ण मन की स्थिति यहाँ समझा रहे हैं कि जो बुद्धिमान पुरुष मन को वश में करने की साधना करता है, इन्द्रियाँ तो उसके मन को भी ज़बरदस्ती विषयों में लपेट लेती हैं। जैसे दही को मथ के मक्खन निकलता है और मथते हुए दही का बुरा हाल हो जाता है, दही पूरी तरह पिस जाती है। इसी प्रकार यह इन्द्रियाँ विषय-विकार की चमक-दमक दिखाकर मन को ज़बरदस्ती हर लेती हैं और पिस जाता है बेचारा जीवात्मा। तो हे अर्जुन! तू शुद्ध चेतन जीवात्मा है। तेरी इन्द्रियों ने तेरे संबंधियों का मोह-ममता वाला रूप तेरे मन और बुद्धि में प्रकट करके तुझे भटका दिया है। जिससे तू क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए धर्म युद्ध नहीं कर रहा है। सारांश यह है कि पिछले श्लोकों में योगाभ्यास एवं वेदाध्ययन आदि में रत पुरुष की बुद्धि समाधि अवस्था में ईश्वर का दर्शन करती है। और उस परमानन्द में डूबने के कारण उसकी सारी इन्द्रियाँ वश में होती हैं। बाकि प्राणियों को वेदज्ञ-विद्वानों द्वारा पहले-पहले वेद, शास्त्र एवं उपनिषद् आदि सद्ग्रंथों का उपदेश सुनकर अपनी इन्द्रियों को हठपूर्वक वश में रखने का अभ्यास करना चाहिए और साथ ही साथ गृहस्थाश्रम में रहते हुए ईश्वर अनुभूति के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योग-विद्या आदि का अभ्यास करना चाहिए। फलस्वरूप ही ईश्वर दर्शन संभव होता है और समस्त इन्द्रियाँ वश

में होती हैं। अन्यथा श्रीकृष्ण महाराज सत्य कह रहे हैं कि पूजा-पाठ, यज्ञ, वेदाध्ययन आदि साधना/यत्न करते हुए साधक के भी मन को इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं। इन्द्रियों को वश में करने की समस्या तो तब ही सफल होती है जब जीव वेद, यज्ञ, योगाभ्यास इन सनातन विद्याओं पर श्रद्धा करके साधना करता है, वेद के विद्वानों का संग करता है, उनकी सेवा करता है और इस प्रकार धर्माचरण करता हुआ प्रथम सम्प्रज्ञात और उसके पश्चात असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करके ईश्वर की अनुभूति करता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता

(गीता : २/६१)

(तानि) उन **(सर्वाणि)** सब इन्द्रियों को **(संयम्य)** संयम अर्थात् वश में करके **(युक्तः)** योग में स्थिर होकर **(मत्परः)** मुझ में लीन होकर **(आसीत)** बैठे। क्योंकि **(हि)** निश्चय से **(यस्य)** जिसकी **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियाँ **(वशे)** वश में हैं **(तस्य)** केवल उसकी ही **(प्रज्ञा)** बुद्धि **(प्रतिष्ठिता)** ब्रह्म में स्थिर है।

अर्थ : उन सब इन्द्रियों को संयम अर्थात् वश में करके योग में स्थिर होकर मुझ में लीन होकर बैठे। क्योंकि निश्चय से जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं, केवल उसकी ही बुद्धि ब्रह्म में स्थिर है।

भावार्थ : इस श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ईश्वर की भक्ति करने के लिए ध्यान में बैठने की विधि बताते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! साधक सब इन्द्रियों को वश में करके **(युक्तः)** योग में स्थिर हुआ **(मत्परः)** मुझ में लीन होकर बैठे। प्रश्न उठता है कि इन्द्रियाँ कैसे वश में हों। क्योंकि इन वैदिक शब्दों के रहस्य को वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के बिना कोई नहीं जान सकता। (देखें **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/१६**)

प्रायः ऐसे आज के साधु संत कह देते हैं कि इन्द्रियों को वश में करके सच्चे मन से भगवान का ध्यान करो। अब वो सच्चा मन कैसे बने? और मन सच्चा होता भी है कि नहीं तथा इन्द्रियाँ कैसे वश में हो? क्योंकि

मन भी ग्यारहवीं इन्द्रिय है। तो यह रहस्य चिकनी-चिपुड़ी बातें, हँसी-मज़ाक, चुटकुलों और तालियों में दबकर रह जाता है। इन्द्रिय संयम के लिए ही वैदिक ज्ञान में कहा कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार (इन्द्रिय संयम) का विशेष ज्ञान ही तो आवश्यक है। जिसे हमारे पूर्व के ऋषियों, मुनियों, राजर्षियों, श्रीराम एवं श्रीकृष्ण एवं गीता के लेखक व्यास मुनि जैसी विभूतियों ने जीवन में अपनाया था। जिसको अपनाए बिना गीता, रामायण अथवा कथा-कीर्तन केवल पढ़-सुन रट कर सुनाने वाले भौतिक शाब्दिक वचन बन कर रह जाते हैं। जिसके द्वारा सुख शांति पारिवारिक राष्ट्रीय कर्त्तव्य बोध तथा ईश्वर अनुभूति कभी भी संभव नहीं हो पाती।

इन्द्रिय-संयम के विषय में **अथर्ववेद मंत्र ६/४/१७** स्पष्ट कहता है-**'यः गवां पतिः'** अर्थात् जो वेदाध्ययन द्वारा वेद-वाणियों का स्वामी (ज्ञाता) बनता है वह **'अहन्यः'** वह विषय-विकारों वाली वृत्तियों से अलग हो जाता है-वह पापी नही रहता। **'कर्णाभ्याम् भद्रं शृणोति'** वह कानों से सदा शुभ एवं हितकारी वचन ही सुनता है।

'शृंगाभ्याम् रक्षः ऋषति' प्राणायाम आदि क्रियाओं से शारीरिक रोगों को नष्ट कर देता है तथा इस प्रकार **'चक्षुषा अवर्तिम हन्ति'** ज्ञान चक्षु जाग्रत होने से अपने दुर्भाग्य, भविष्य में आने वाले विघ्न इत्यादि सब को नष्ट कर देता है। **अथर्ववेद मंत्र ६/२/६** में कहा-**अग्नेः होत्रेण सपत्नान् प्रणुदे'** अग्निहोत्र (हवन) द्वारा मैं अपने काम-क्रोध आदि समस्त शत्रुओं को परे धकेलता हूँ। **अथर्ववेद मंत्र ६/२/१८** में कहा कि वेद जानने वाला विद्वान् ही आसुरी विचारों को नष्ट कर डालता है।

यजुर्वेद मंत्र ७/४ में भी स्पष्ट किया **'उपयामगृहीतः'** अर्थात् हे जीव तू यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि के अभ्यास द्वारा **'सोमम् पाहि'** जीवित ही ईश्वर की अनुभूति के आनन्द में लीन हो कर ब्रह्मानन्द की रक्षा कर। अर्थात् इस प्रकार वेद एवं योगाभ्यास विद्या को जानने वाला जीवित ऋषि ही जनता को ईश्वर अनुभूति का सत्य-सत्य उपदेश कर सकता है, जो इस विद्या को नहीं जानते वह केवल पढ़, सुन, रट कर अविनाशी सत्य का उपदेश नहीं कर सकते। वह वेद विरुद्ध असत्य भाषण करता है। ऊपर वेद

मन्त्रों से स्पष्ट है कि यज्ञ करने से इन्द्रियाँ शुद्ध होती हैं, पाप नष्ट होते हैं, सामवेद में कहा है कि ऐसे यज्ञ केवल वेदमन्त्रों द्वारा किए जाते हैं। वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास, आदि वैदिक साधना द्वारा जीव ईश्वर को प्राप्त करता है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करके ब्रह्मलीन योगी की बुद्धि को ही स्थिर बुद्धि वाला कह रहे हैं। आज प्रायः कोई भी अपने आपको ब्रह्मलीन कहकर सनातन विद्या का अपमान करके पाप का भागी न बने। गीता ग्रन्थ के वक्ता श्री कृष्ण एवं लेखक ऋषि व्यास दोनों ही विभूतियाँ वेद एवं अष्टांग योग-विद्या में सिद्धहस्त थीं। अतः योगेश्वर कृष्ण उस समय शरीर अवस्था में रहकर कह रहे हैं **"युक्तः"** हे अर्जुन योग-विद्या में प्रवीण होता हुआ **"मत्परः आसीत"** मेरे ध्यान मग्न एवं मुझ में लीन होकर बैठ। ध्यान लगाने के लिए **योगशास्त्र सूत्र १/३३, ३४, ३७** का प्रमाण हैं-**"वीतराग विषयं वा चित्तं"** अर्थात् वीतराग को विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है। अर्थात् वेदाध्ययन एवं यम, नियम, आसन इत्यादि अष्टांग योग **(योग शास्त्र सूत्र २/२९)** की साधना में प्रवीण जिस योगी के राग-द्वेष नष्ट हो गए हैं ऐसे वीतराग योगी को ध्येय बनाकर योगाभ्यास करने वाले साधक का चित्त चंचलता त्यागकर स्थिर हो जाता है। अथवा **"प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् वा प्राणस्य"** प्राणायाम के करने से चित्त एकाग्र हो जाता है। **मनुस्मृति श्लोक ६/७१** में भी कहा कि जैसे अग्नि में डालने और गलाने से सोना, लोहा इत्यादि धातुओं के मैल नष्ट हो जाते हैं तथा **"प्राणस्य निग्रहात् इन्द्रियाणाम् दोषाः दह्यन्ते"** अर्थात् उसी प्रकार प्राणों के निग्रह (प्राणायाम) द्वारा मन आदि इन्द्रियों के दोष समूल नष्ट हो जाते हैं। योगशास्त्र की टीका करते हुए व्यास मुनि ने तो यहाँ तक कह दिया है कि जो योग-विद्या से हीन हैं उसे साधु-संत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि उस समय किसी भी मज़हब का उदय नहीं हुआ था। युधिष्ठिर ने महाभारत के वन पर्व में यक्ष को उत्तर देते हुए कहा कि अपने को झूठ-मूठ का महात्मा प्रसिद्ध करना दम्भ है। इन थोड़े से प्रमाणों का ही भाव यह है कि योगेश्वर श्री कृष्ण एवं ऋषि व्यास की तरह हम वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा आँख-नाक आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों, हाथ-पैर आदि पाँच कर्मेन्द्रियों एवं ग्यारहवें मन को वश में करें। ध्यान लगाने एवं इन्द्रियं संयम के लिए किसी योगी एवं उसकी बताई

विद्या यम, नियम, प्राणायाम आदि वेदों में वर्णित अष्टांग योग की क्रियाओं का ही सहारा लें। क्योंकि इस श्लोक में भी भगवान श्री कृष्ण स्वयं कह रहे हैं कि हे अर्जुन! **"यस्य इन्द्रियाणि वशे"** जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं," **"तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता"** उसकी ही बुद्धि कर्म, उपासना, ज्ञान एवं ब्रह्म में स्थिर होती है। यहाँ अर्जुन की चंचल बुद्धि धर्मयुद्ध का त्याग कर रही है, तभी श्री कृष्ण महाराज उसे श्लोक में कहे शब्द **"युक्तः"** अर्थात् योग युक्त अर्थात् योग-विद्या द्वारा इन्द्रियाँ वश में रखने का ज्ञान दे रहे हैं परन्तु उससे भी विशेष शब्द **"मत्परः"** अर्थात् श्री कृष्ण के ध्यान में तन्मय होने का उपदेश है। क्योंकि वेदों में तथा ऊपर **योग-शास्त्र सूत्र १/३७** में स्पष्ट है कि जो योगी की सेवा में रत हुआ श्रद्धा से योगी का ही ध्यान धरेगा उसकी इन्द्रियाँ स्वतः ही वश में हो जाएगी। और जिसकी इन्द्रियाँ वश में हैं उसी की बुद्धि चंचलता छोड़कर ब्रह्म अथवा धर्म युक्त कार्य करने में स्थिर हो जाती है। आधुनिक मनोविज्ञान का कहना है कि विषय-वासना प्राणी की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसे दबाना नहीं चाहिए। परन्तु ऐसे विचार वेदशास्त्र विरुद्ध हैं। **गीता श्लोक २/५९** में ही कहा कि जबरदस्ती इन्द्रियों के विषय न भोगने पर थोड़ी देर के लिए मन विषयों से हट जाएगा। परन्तु विषय भोग में वृत्ति तो लगी ही रहेगी। लेकिन परमात्मा का दर्शन करने वाले योगी के तो विषय समूल नष्ट हो जाते हैं। अतः जिस प्रकार छोटे तालाब की जगह बड़ा निर्मल सरोवर पानी के लिए मिल जाता है तब छोटे तालाब की जरूरत नहीं होती। इसी प्रकार जब झूठे तुच्छ एवं क्षणिक इन्द्रियों के सुख की जगह ईश्वर साक्षात्कार जैसा परम आनन्द प्राप्त हो जाए तब इन्द्रिय सुख की इच्छा कहाँ रह जाएगी। श्लोक में यह उपदेश स्पष्ट है कि हम भी गृहस्थ, समाज एवं देश में शांति लाने, पुरुषार्थ युक्त वेदोक्त शुभ कर्म करने तथा इन्द्रिय संयम करने के लिए वेदाध्ययन, वेदज्ञ विद्वानों की सेवा व ध्यान तथा अष्टांग योग की साधना गृहस्थ आश्रम में करें। क्योंकि सभी ऋषि-मुनि तथा श्री राम, कृष्ण आदि विभूतियों ने इस विद्या को गृहस्थ में ही अपनाकर **भारतवर्ष** को **सोने की चिड़िया** एवं **विश्वगुरु** की पद्वी से सुशोभित किया था।

श्रीकृष्ण उवाच-

ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूपजायते ।
संगात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।
(गीता : २/६२)

(विषयान्) विषयों का **(ध्यायतः)** चिंतन करने वाले **(पुंसः)** पुरुष की **(तेषु)** उन विषय-भोग में **(संगः)** संग दोष अर्थात् आसक्ति रूपी **(उपजायते)** योग्यता उत्पन्न हो जाती है पुनः उस **(संगात्)** आसक्ति से विषय-भोग की **(कामः)** कामना **(संजायते)** पूर्णतः उत्पन्न हो जाती है। और इस प्रकार **(कामात्)** कामना से **(क्रोधः)** क्रोध **(अभिजायते)** सब ओर से उत्पन्न होता है।

अर्थ : विषयों का चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषय-भोग में संग दोष अर्थात् आसक्ति रूपी योग्यता उत्पन्न हो जाती है। पुनः उस आसक्ति से विषय-भोग की कामना पूर्णतः उत्पन्न हो जाती है। और इस प्रकार कामना से क्रोध सब ओर से उत्पन्न होता है।

भावार्थ : यजुर्वेद मंत्र ३४/१ से ३४/६ तक में जीवात्मा कल्याणकारी विचार करते हुए ही **(तत् मे मनः शिवसंकल्पमस्तु)** मन को वश में करने का उपदेश है। परन्तु वर्तमान में यही सबसे बड़े दुःख की बात है कि आज प्रायः साधु संतों के द्वारा भी मन, बुद्धि, प्रकृति, जीवात्मा एवं परमात्मा के विषय में वेदों द्वारा उपदेश समाप्त प्रायः होता जा रहा है। **यजुर्वेद मंत्र ३१/१२** में स्पष्ट ज्ञान है कि **'चंद्रमाः मनसः जातः'** अर्थात् ईश्वर ने जड़ प्रकृति से मन को उत्पन्न किया है। अतः मन भी चेतन न होकर जड़ है और कहा कि चंद्र लोक मनस्वरूप है। जिस तरह ईश्वर की ज्योति से जड़ सूरज रोशनी पाकर चमक रहा है, पुनः सूर्य की ज्योति पाकर जड़ चंद्रमा चमकता है और कार्य करता है। उसी प्रकार चेतन जीवात्मा के शरीर में निवास करने के कारण ही जड़ मन चिंतन-मनन करने में समर्थ होता है। अच्छी या बुरी बात का चिन्तन हमारा मन ही करता है। मन जीवन की पिछली घटनाओं का स्मरण और भविष्य पर विचार भी करता रहता है। अतः सांसारिक विषयों से जुड़ा ही रहता है। और किसी भी एक विषय में स्थित भी हो जाता है। ऋग्वेद में कहा कि मन का यह भी गुण है कि वो किसी से भी लगाव कर बैठता है। जन्म के समय इसके पास रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण वाली प्रकृति से बने

संसारी पदार्थ सोना-चाँदी, चमक-दमक, विषय-विकार और दूसरा ईश्वर यह दो ही विषय लगाव के होते हैं। पिछले कर्मों के फल एवं जन्म के समय वातावरण के अनुसार अधिकतर मन विषय-विकारों का ही चिन्तन करता है। आँख-नाक आदि बाहरी इन्द्रियाँ मन को संसारी विषय का ज्ञान देती हैं, जिसका मन चिन्तन करता रहता है। ऊपर के मंत्रों में यही बात कही है कि हे प्रभु आपकी कृपा से जागते हुए दूर तक जाने वाला और सोते हुए स्वप्न में अन्दर रहने वाला यह मेरा मन सदा कल्याणकारी एवं धार्मिक इच्छा करने वाला ही हो। जिस मन से ऋषि-मुनि और ध्यानी यज्ञ/अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म करते हैं और जो मन स्मृति एवं धैर्य स्वरूप है और जिस मन के चिंतन मनन के बिना कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता वह मुझ जीवात्मा का मन ईश्वर प्राप्ति की इच्छा वाला हो। जिस मन की परमात्मा में लीनता होने से भूत, भविष्य और वर्तमान आदि का ज्ञान होता है जो योगाभ्यास एवं यज्ञ आदि शुभ कर्मों को करने वाला है वह मेरा मन मोक्ष प्राप्ति की इच्छा वाला हो। अतः सब वेद शास्त्र एवं सद्ग्रंथों का यही उपदेश है कि मन सांसारिक मिथ्यावादी भोग पदार्थों के चिंतन से हटकर कल्याणकारी विचार वाला हो। अन्यथा काम, क्रोध आदि विषयों का चिन्तन करने वाला मन जीवात्मा को बार-बार जन्म-मृत्यु रूपी कष्ट एवं भवसागर में डूबो देता है। यही वैदिक ज्ञान श्री कृष्ण महाराज यहाँ देते हुए कहते हैं कि जब जीवात्मा मन के द्वारा रज, तम एवं सत्त्व गुणों से भरपूर संसार के विषय-विकारों का ही चिन्तन करता है तब उसमें **'संगः उपजायते'** अर्थात् उन विषयों-भोगों से आसक्ति हो जाती है अर्थात् उन विषयों को सोचते-सोचते प्राणी उन विषय भोग को पाने की तीव्र लालसा करने लगता है। जैसे कि कोई डाकू पहले डाका डालने की योजना का विस्तार से चिंतन-मनन करता है, किसी विषय भोग में चिंतन मग्न होकर पुनः उस भोग पदार्थ को पाने की तीव्र आसक्ति में रत हो जाते हैं। और फिर एक दिन वो विनाशकारी कार्य कर ही बैठते हैं। और यदि किसी प्रकार कोई इच्छा पूर्ण न हो तो श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं-**'क्रोधाभिजायते'** प्रचण्ड क्रोध उत्पन्न होता है। अतः हम सदा वैदिक शुभ कार्य ही करें और वह भी फल की इच्छा त्यागकर। क्योंकि कर्मानुसार यदि हमें किए हुए शुभ कर्म का भी फल प्राप्त नहीं होगा तो क्रोध तो कभी भी निश्चित रूप से

उत्पन्न होगा ही जो कि शांति के लिए बाधा है। इसलिए सदा सत्संग, जहाँ वेद शास्त्र, गीता आदि का शुद्ध वैदिक प्रवचन हो, वही जीव के लिए कल्याणकारी है। वैदिक विद्वान् गुरु के उपदेश के बिना ज्ञान संभव नहीं है। भगवद्गीता में अर्जुन अविद्याग्रस्त है और स्पष्ट है कि चारों वेद एवं योग-विद्या के ज्ञाता योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज के उपदेश से ही वह धर्मयुक्त कर्म करने में समर्थ हुआ था। आज भगवद्गीता के भी वैदिक स्वरूप का ज्ञान एवं उस ज्ञान का आचरण ही हमें परम शांति दे सकता है। अतः अप्रमाणिक, वेद-विरुद्ध थोथे कर्म काण्ड, अंधविश्वास एवं आडम्बर युक्त भक्ति कभी भी किसी को शांति नहीं दे पाई है। **जगद्गुरु शंकराचार्य** ने **'भज-गोविन्दम्'** नामक अपने प्रसिद्ध भजन में बड़ा गम्भीर ज्ञान दिया है कि **'बालः तावत् क्रीड़ा सक्तः तरुणः तावत् तरुणी सक्तः'** अर्थात बचपन में तो तू खेल-कूद में मस्त रहा। जवानी में नारी के संग आसक्ति रखी, **'वृद्धः तावत् चिंता सक्तः'** फलस्वरूप वृद्धावस्था में तुझे चिंताओं ने घेर लिया। **'परमे ब्रह्मणि कोऽपि न सक्तः'** कि हे जीव आश्चर्य की बात है कि इन सब नाशवान पदार्थों के चिंतन-मनन में तो तू मग्न रहकर दुःखी रहा परन्तु शांति प्राप्ति के लिए परमेश्वर का चिंतन किसी ने भी नहीं किया। आगे श्री शंकराचार्य जी कहते हैं कि **'सत्संगत्व निस्संगत्व'** वैदिक सद्वचनों को सुनकर ही तू विषय-विकारी वृत्ति के चिंतन मनन से दूर हट पाएगा और तभी तेरा मोह दूर होगा और तू जीवन मुक्त हो पाएगा। भगवद्गीता में वैदिक सत्संग को सुनकर ही अर्जुन का उद्धार हुआ था। हम शरीर को तो भोजन दें लेकिन शरीर के अन्दर हम जीवात्मा हैं उसको तो वेद एवं योग-विद्या तथा यज्ञ आदि शुभ कर्म भोजन ही तृप्त करता है। श्लोक में क्रोध का मुख्य कारण विषय-विकारों का चिंतन है। ऊपर कहे वेद मंत्रों का भी यही उपदेश है कि हम सदा कल्याणकारी उपदेश का ही चिंतन करें तभी हम कोध को वश में कर सकेंगे।

श्रीकृष्ण उवाच-

क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ।।

(गीता : २/६३)

हे अर्जुन इस प्रकार **(क्रोधात्)** क्रोध से **(संमोहः)** अत्याधिक मूढ़भाव **(भवति)** उत्पन्न होता है **(संमोहात्)** उस मूढ़ता से **(स्मृतिः)** स्मरण शक्ति **(विभ्रमः)** विशेष रूप से भ्रमित हो जाती है, **(स्मृति भ्रंशात्)** स्मृति के भ्रम द्वारा **(बुद्धिनाशः)** बुद्धि का नाश तथा **(बुद्धिनाशात्)** बुद्धि के नाश होने पर **(प्रणश्यति)** पूर्ण रूप से नाश हो जाता है।

अर्थ : हे अर्जुन! इस प्रकार क्रोध से अत्याधिक मूढ़भाव उत्पन्न होता है, उस मूढ़ता से स्मरण शक्ति विशेष रूप से भ्रमित हो जाती है, स्मृति के भ्रम द्वारा बुद्धि का नाश तथा बुद्धि के नाश होने पर पूर्ण रूप से नाश हो जाता है।

भावार्थ : जब मनुष्य एकाग्र बुद्धि द्वारा वेद शास्त्रों में कहे प्रमाणिक शुभ कर्म करता है तभी वह धर्म में स्थिर रहकर इस जन्म और अगले जन्म का सुख प्राप्त करता है। इसी अध्याय के पिछले श्लोकों में श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन को कर्मयोग, समत्व योग एवं बुद्धि योग में स्थिर होकर कर्त्तव्य-कर्म करने का सन्देश दिया है और कहा कि यह तभी सम्भव है जब साधक विशेष साधना द्वारा प्राणी की ज्ञानेन्द्रियाँ वश में हों तो मन विषय-विकार एवं अधर्म युक्त कर्म को छोड़कर केवल वेदोक्त शुभ कर्म ही करे। जैसे रामायण में श्रीराम के लिए कहा-**'श्रुतिपथ पालक धर्म धुरन्धर'** अर्थात् श्रीराम केवल वेदों में कहे शुभ कर्म ही करते थे। तथा उनकी सभी इन्द्रियाँ संयम में थी। क्या कारण है कि श्रीकृष्ण धर्मयुद्ध करने की बात कर रहे हैं और अर्जुन युद्ध नहीं चाहता? इसका विशेष कारण ही यही है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज श्रीराम की ही तरह **'श्रुति पथ पालक'** अर्थात् वेदानुसार चलने वाले तथा वेदों का ही ज्ञान देने वाले हैं। सन्दीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा मित्र के साथ उन्होंने मत मतान्तर, गंगा-स्नान, देवी-देवता, व्रत, आज का ज्योतिष, कथा-कहानियाँ अथवा वेद-विरुद्ध बातों का अध्ययन नहीं किया था। क्योंकि उस समय आज के मत मतान्तरों का उदय हुआ भी नहीं था। श्रीकृष्ण अर्जुन को **सामवेद मंत्र १४०६, यजुर्वेद मंत्र १०/३३** में कहे योद्धाओं के धर्म युद्ध सम्बंधी विचार प्रकट कर रहें हैं। और यह विचार श्री कृष्ण महाराज में इसलिए स्थिर हैं क्योंकि योगाभ्यास एवं वेद अध्ययन द्वारा उनकी बुद्धि ब्रह्म में स्थिर है, वह कभी भी कहीं भी कोई गलती नहीं कर सकते। जबकि

विपरीत में अर्जुन योगाभ्यास एवं वेद मंत्रों के मर्म से अनभिज्ञ कर्त्तव्य-कर्मों में स्थिर बुद्धि वाला नहीं है। अर्जुन धर्महीन होकर पतन के कगार पर है। इसी कमी के कारण ही हमारे भारतवासियों का पतन हुआ है और हम कई बार विदेशियों के गुलाम भी रह चुके हैं। **'धृत्'** धातु से **धर्म** शब्द **निष्पन्न** होता है जिसका अर्थ है **'धारण करना'**। किसी भी राष्ट्र की संस्कृति का विकास उसकी राजनैतिक व सामाजिक उन्नति प्रथम धर्म के सत्यस्वरूप को जानकर उसके आचरण में लाने पर ही सम्भव है। यदि धर्म के विषय में परम्परागत तर्क-संगत प्रमाणिक विचार हैं जो मानव का कल्याण कर सकें, तब ही समाज को धर्म के प्रति निष्ठा तथा धर्म पालन में रूचि प्रकट हो सकेगी। और यदि धर्म अन्धविश्वास, कुरीतियों, स्वार्थ, रूढ़िवाद, मिथ्या-धारणा और तर्क-हीन युक्तियों पर टिका होता है तब समाज का तेजी से विनाश प्रारम्भ हो जाता है। धर्म की गलत मान्यता के फलस्वरूप ही समाज में भ्रष्टाचार, कुरीतियाँ, चारित्रिक दुर्बलताएँ, नारी-शोषण इत्यादि सहित असंख्य बुराइयाँ जन्म लेकर राष्ट्र के सम्पूर्ण तंत्र को खोखला बना देती हैं। इतिहास गवाह है कि हमारे देश में धर्म खण्डित होने से ही देशवासियों की चरित्र हीनता ने देश को गुलाम बनाया था। वर्तमान काल में यह आश्चर्य ही है कि सब धर्म, मज़हब, सम्प्रदाय, मत-मतान्तर इत्यादि भाईचारे तथा संसार के सब प्राणियों का एक ही ईश्वर होने का दावा करते हैं परन्तु जब जब मानवता पर घोर हिंसा का प्रहार हुआ है, कत्लेआम हुआ है वह सब धर्म के नाम पर ही हुआ है। उस समय एक परमेश्वर, भाईचारा, मानव कल्याण, अहिंसा इत्यादि की दुहाइयाँ कहाँ गुम हो जाती हैं? तब कहीं ऐसा तो नहीं कि हाथी के दांत खाने के और दिखाने के और? स्वार्थवश पढ़, सुन, रटकर केवल मुँह जुबानी भाषण देकर स्वयं के विचारों को जनता पर थोपकर वस्तुतः धर्म के सत्यस्वरूप को जानना तथा उस पर आचरण करना अब एक जटिल समस्या बनकर विश्व में उभरता जा रहा है।

मनुस्मृति में कहा **'धर्मो धर्म एवं हतो हन्ति रक्षति रक्षितः'** अर्थात् जो धर्म की हानि करता है धर्म उसे नष्ट कर देता है और जो धर्म की रक्षा करता है, धर्म भी उसकी रक्षा करता है। धर्म का प्रथम शास्त्रोक्त चरण

मानव कल्याणार्थ शील, समाधि एवं शुद्ध बुद्धि द्वारा किया शुभ कर्म है। इसी वैदिक धर्म (कर्त्तव्य) का ज्ञान यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुन को दे रहे हैं। हम शुभ कर्म इसलिए नहीं कर पाते क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज २/६२ में कह रहे हैं कि जब जीव संसारी विषय-विकार का बार-बार चिन्तन करता है तब विकार मन को अच्छा लगने लगता है, विषय भावना पूर्ण न होने पर क्रोध, तथा बुद्धि में कहीं पहले सुना सत्य ज्ञान इत्यादि भी उस समय याद नहीं रहता और जीव पाप कर्म में पूर्णतः लिप्त होने के कारण पथ भ्रष्ट हो जाता है। उसकी बुद्धि सत्य और असत्य का निर्णय नहीं कर पाती। जगत में इसके उदाहरण असंख्य हुए हैं। परन्तु मुख्यतः रावण, दुर्योधन, कंस, नेपोलियन, सिकन्दर तथा औरंगजेब जैसों की स्मृति एवं बुद्धि के नाश के फलस्वरूप इन सबका पूर्णतः नाश होना इतिहास का एक कटु सत्य है। अर्जुन की बुद्धि भी यहाँ नाश की तरफ जा रही है। योद्धा होकर उसे धर्म युद्ध का तनिक भी ज्ञान नहीं रहा क्योंकि वह बुद्धि द्वारा बार-बार परिवार, सम्बंधियों एवं मित्रों इत्यादि की बातों का चिन्तन कर रहा है। जिसके फलस्वरूप परिवार की सुरक्षा की कामना, तथा आसक्ति दृढ़ होती जा रही है। और वह अपने कर्त्तव्य-कर्म अर्थात् धर्मयुद्ध को त्यागकर रथ में पीछे चुप होकर बैठ गया है। इसी कमी को श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि जो पुरुष विषयों का चिन्तन करता है तो उसकी उन विषयों में आसक्ति हो जाती है। आसक्ति से कामना उत्पन्न होती है और कामना पूर्ण न होने से क्रोध उत्पन्न होता है। अर्जुन का बार-बार परिवार के विषय में चिन्तन करना आसक्ति का कारण बन गया था जो आगे चलकर घातक सिद्ध होता। परन्तु इसके पहले ही श्रीकृष्ण महाराज के वैदिक उपदेश से अर्जुन को ज्ञान प्राप्त हो गया था। पहले का कहीं सुना वैदिक ज्ञान जो उसकी बुद्धि में शेष था वह नष्ट होता जा रहा है। वह योद्धा होने के नाते धर्मयुद्ध जैसे कर्त्तव्य को भूल रहा है। इस अवस्था से पार ले जाने के लिए ही श्रीकृष्ण महाराज उसे यहाँ समझा रहे हैं कि विषयों की आसक्ति से जब जीव को उन विषयों की प्राप्ति की इच्छा होती है और अप्राप्ति के समय क्रोध उत्पन्न होता है तब **"क्रोधात् संमोहः भवति"** अर्थात् क्रोध से सत्य और असत्य का विचार करने वाली विवेक शक्ति नष्ट हो जाती है। फलस्वरूप हे अर्जुन! **"स्मृतिविभ्रमः"** इस समय उस पुरुष के पूर्व जन्म या इस जन्म में

सुने वैदिक शुभ उपदेश का ज्ञान भी याद नहीं रहता। और इस प्रकार **"बुद्धिनाशः"** बुद्धि का नाश अर्थात् बुद्धि सत्य पथ से भ्रष्ट हो जाती है। क्योंकि बुद्धि प्रकृति से उत्पन्न तत्त्व है एक तरह से कह सकते हैं कि मशीन है। जिसे **मनुस्मृति** में कहा-**"बुद्धि ज्ञानेन शुद्ध्यति"** अर्थात् बुद्धि जब वैदिक सत्य ज्ञान प्राप्त करती है तो वह पूर्णतः शुद्ध अर्थात् शुभ विचारों से परिपूर्ण होती है और जब वेद-विरूद्ध काम-क्रोध, मोह-लोभ इत्यादि अनेक विचारों का चिन्तन करती है तब बुरे विचारों से परिपूर्ण बुद्धि को ही यहाँ **"बुद्धिनाशः"** नाशवान बुद्धि अर्थात् भ्रष्ट बुद्धि कहा है। जब ऐसी बुद्धि की दुर्गति होती है तब मनुष्य का **"प्रणश्यति"** ही नाश हो जाता है। अर्थात् यह अविनाशी जीवात्मा अपने को रोगी, चिन्ताग्रस्त, जन्मने-मरने वाला तथा कामी-क्रोधी इत्यादि अनेक विकारों वाला तथा कामी-क्रोधी इत्यादि अनेक विकारों वाला समझ बैठता है। इसे ही इस श्लोक में **"संमोहः"** अविवेकी कहा है। और **सांख्य शास्त्र सूत्र १/१६** में कहा स्वभाव से तो जीवात्मा बन्धन में नहीं आता। परन्तु **कपिल मुनि** सूत्र **१/२० में कहते** हैं **"तत् योगः अपि अविवेकात्"** अर्थात् जीवात्मा का प्रकृति से अविवेक के कारण सम्बन्ध ही जीवात्मा के कर्म बन्धन, जन्म-मृत्यु, रोग-भय इत्यादि का कारण है। अविवेक का अर्थ है अपने चेतन स्वरूप को भूल जाना। इस चेतन स्वरूप को जानने के लिए ही वैदिक शिक्षा, योगाभ्यास, यज्ञ, माता-पिता एवं वेदज्ञ गुरु की सेवा, समत्त्व योग, बुद्धियोग एवं कर्मयोग आदि की अनेक शिक्षाएँ वेदों में कही गई हैं, जिसे बाद में अर्जुन ने धारण किया और आज हम सबको धारण करने की आवश्यकता है। यही उपदेश श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को इस श्लोक में दे रहे हैं कि हे अर्जुन! तू अपनी इन्द्रियों को अपने वश में करके आसक्ति, कामना, क्रोध और भ्रम इत्यादि पाप से बच, कहीं **"बुद्धिनाशात् प्रणश्यति"** तेरी भी बुद्धि नाश को प्राप्त होकर तुझे ही नष्ट न कर दें।

श्रीकृष्ण उवाच-

रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।

(गीता : २/६४)

(तु) परन्तु **(रागद्वेषवियुक्तैः)** राग द्वेष से रहित **(विधेय-आत्मा)** अन्तः करण को अपने वश में रखने वाला पुरुष **(आत्मवश्यैः)** अपने वश में की हुई **(इन्द्रियैः)** इन्द्रियों से **(विषयान्)** विषयों को **(चरन्)** भोगता हुआ **(प्रसादम्)** प्रसन्नता को **(अधिगच्छति)** प्राप्त होता है।

अर्थ : परन्तु राग द्वेष से रहित अन्तःकरण को अपने वश में रखने वाला पुरुष अपने वश में की हुई इन्द्रियों से विषयों को भोगता हुआ प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

भावार्थ : इस श्लोक में मुक्त पुरुष का वर्णन है। मुक्ति का अर्थ कर्म बन्धनों से छुटकारा पाना है। पाप एवं पुण्य कर्म करने से पुनः जन्म लेना होता है। यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि वेदोक्त शुभ कर्म करने से इन्द्रियाँ जीवात्मा के वश में होती हैं। **कठोपनिषद् तृतीय वल्ली श्लोक ८** में कहा है कि जीवात्मा के साथ इन्द्रियाँ लगें अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ मन, बुद्धि आदि जीवात्मा के अधीन हों-जो जीवात्मा कहे वही मानें, ऐसा जीव ब्रह्म प्राप्त कर लेता है। जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध चेतन एवं अविनाशी है। ऐसा जीवात्मा निश्चित ही इन्द्रियों को शुद्ध आज्ञा देगा। परन्तु जो जीवात्मा अविवेकी होकर प्रकृति से जुड़ गया है, तथा इन्द्रियों के अधीन है, वह सदा पाप कर्मों में ही लिप्त रहता है। **अथर्ववेद मंत्र ६/५/१८** में कहा कि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्ति में लगाए हुए एवं बुराइयों को दूर करने वाला जीवात्मा अपने विनाश को (बार-बार जन्म मृत्यु तथा पशु योनियों में जन्म) रोक लेता है और **'सूर्यवतः लोकान् जयेम'** अर्थात् ब्रह्म लोक को जीत लेता है-प्राप्त कर लेता है। **यजुर्वेद मंत्र ३७/२** में कहा कि योगी लोग अपना मन और बुद्धि उस सर्वव्यापक ईश्वर में लीन कर देते हैं। अर्थात् विषयों का चिन्तन करने वाला मन जब ईश्वर में ही मग्न हो जाता है तब जीवात्मा इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि विषयों का चिन्तन कैसे कर सकती है? क्योंकि विषयों का सुख तो क्षणिक-तुच्छ है और ईश्वर प्राप्ति का सुख अनन्त एवं स्थायी है। इस अवस्था में ही योगशास्त्र में कहे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश (बार-बार जन्म मृत्यु) रूपी यह पाँचों क्लेश पूर्णतः समाप्त हो जाते हैं। यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास न करने से ईश्वर प्राप्ति असंभव कही गई है, तब अप्रमाणिक

भक्ति करके जीव सदा रोग, भोग, इन्द्रिय जाल एवं परेशानियाँ से ही घिरा रहता है, और संयमी पुरुष इन्द्रियों द्वारा धर्मयुक्त, सांसारिक कर्म भोगता हुआ भी प्रसन्नता को ही प्राप्त होता है।

और उसे पाप तथा ग्लानि नहीं छू पाती। **योग शास्त्र सूत्र २/७ में 'सुखानुशयी रागः'** अर्थात् सुख के पीछे प्रतीति को राग कहा है। **'दुखानुशयी द्वेषः'** (२/८) तथा दुःख के पीछे प्रतीति को द्वेष कहा है। राग का तात्पर्य यह है कि किसी नर-नारी, परिवार वस्तु विशेष से हमें जो सुख प्राप्त हो रहा है वह बार-बार मिलता ही रहे। जैसे रसगुल्ले खाने का सुख एक बार मिला तो बार-बार रसगुल्ला खाने की इच्छा हो जाती है। यही राग है। अर्जुन भीष्म, द्रोण एवं अपने सम्बन्धियों से जो सुख प्राप्त करता रहा था वह उस सुख को सदा बनाए रखने की इच्छा कर रहा है। युद्ध करने से इन सबके मरने का उसे भय है। अतः वह अपना सुख बनाए रखने की इच्छा से क्षत्रिय धर्म अर्थात् धर्मयुद्ध नहीं करना चाहता। दूसरा द्वेष का अर्थ है-जिससे हमें एक बार दुःख प्राप्त हुआ है तो उसका दर्शन करके मन में जो घृणा, जलन सड़न अथवा क्रोध पैदा होता है, वह द्वेष है।

अर्जुन को कई युद्धों में मरे हुओं का साक्षात्कार हुआ था। अब वह इस भयंकर युद्ध में अपने स्वयं के संबंधियों को मरा हुआ नहीं देखना चाहता। अतः उसे अज्ञानवश धर्मयुद्ध से भी स्वार्थवश द्वेष है। योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में यही ज्ञान दे रहे हैं कि ऐसा इस (विधेय+आत्मा) उपर्युक्त साधना द्वारा अन्तःकरण को वश में करने वाला पुरुष राग-द्वेष जैसी बुराइयों से दूर रहता हुआ **'आत्मवश्यैः इन्द्रियैः'** अपने आधीन की हुई इन्द्रियों द्वारा धर्मयुक्त विषयों को भोगता हुआ भी **यजुर्वेद मंत्र ४०/२** के अनुसार **'न कर्म लिप्यते नरे'** कर्म में लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्मफल नहीं भोगता। और ऐसा मुक्त पुरुष कर्म करता हुआ ही **'प्रसादम् अधि गच्छति'** सुख, शांति प्रसन्नता को प्राप्त होता है।

यहाँ अर्जुन को संदेश है कि बचपन से सुने वेद ज्ञान, यज्ञ माता-पिता, ऋषि-मुनियों की सेवा, ईश्वर-भक्ति आदि अनेक पुण्य कर्मो के प्रभाव से श्रीकृष्ण के उपदेश द्वारा अपनी इन्द्रियों को संयम में रखकर मोह,

राग, द्वेष आदि का त्याग करके, धर्म युद्ध रूपी कर्म करें। और इस प्रकार अर्जुन के द्वारा मारे गए योद्धाओं का पाप अर्जुन को कभी भी नहीं लगेगा। अपितु अर्जुन कर्मयोग/समत्व योग/बुद्धियोग द्वारा परम गति को प्राप्त होगा।

आज समस्या यह है कि प्रायः गीता के उपदेशक और श्रोता यज्ञ, वेदाध्ययन एवं अष्टांग योगाभ्यास से कोसों दूर हैं। तो उनके केवल गीता सुनने-सुनाने के द्वारा राग-द्वेष आदि अनेक अवगुण कैसे दूर हों, यह एक विकट प्रश्न है। हमें गीता संदेश देती है कि हम वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास से पूर्व के गृहस्थियों के समान शुभ कर्म करने वाले होकर राग-द्वेष आदि बुराईयों का नाश करें। हमें गीता की तरह उपदेशक भी व्यास मुनि एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण की तरह वेद एवं योग विद्या के ज्ञाता ही चाहिए।

श्रीकृष्ण उवाच-

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।

(गीता : २/६५)

(प्रसादे) चित्त के प्रसन्न होने पर **(अस्य)** प्राणी के **(सर्वदुःखानाम्)** सब दुःखों की **(हानिः)** हानि **(उपजायते)** हो जाती है। **(प्रसन्नचेतसः हि)** निश्चय ही प्रसन्नचित्त हुए प्राणी की **(बुद्धिः)** बुद्धि **(आशु)** शीघ्र **(पर्यवतिष्ठते)** ब्रह्म में स्थिर हो जाती है।

अर्थ : चित्त के प्रसन्न होने पर प्राणी के सब दुःखों की हानि हो जाती है। निश्चय ही प्रसन्नचित हुए प्राणी की बुद्धि शीघ्र ब्रह्म में स्थिर हो जाती है।

भावार्थ : श्लोक में **'प्रसादः'** का अर्थ मन की स्वस्थता एवं मन की प्रसन्नता है। श्लोक २/६१ में सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करने वाले पुरुष की बुद्धि को ही ब्रह्म में स्थिर होना कहा है। क्योंकि ऐसे पुरुष का अंतःकरण तो ब्रह्म के आनन्द में डूबा होता है तथा उसे विषयों के चिन्तन की फुर्सत कभी नहीं होती। यही चित्त प्रसाद है। अन्यथा आगे के श्लोकों में विषय-विकार का चिन्तन करने वाला क्रोधी, मूढ़भाव वाला, अविवेकी, तथा वेदादि के ज्ञान से

शून्य होकर शुभ-अशुभ, पाप-पुण्य से बेखबर रहता है और वह जीवित भी दुःखी तथा मरकर भी नीच योनियों को प्राप्त होता हुआ दुःखों के सागर में डूब जाता है। इस श्लोक में भी वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों को वश में किए मुक्त पुरुष के विषय में ही वर्णन किया गया है।

अक्सर हम यह सुनकर झूठा सन्तोष कर लेते हैं कि मन के निर्मल होने पर दुःखों का नाश एवं बुद्धि ब्रह्म में स्थिर हो जाती है। कई आज के सन्त कहते हैं-तुम्हारा मन साफ़ नहीं है, श्रद्धा में कमी है, पहले मन साफ़ करो इत्यादि-इत्यादि। यह सब गुमराह करने की बातें हैं। पूछना तो यही है कि मन कैसे निर्मल हो? **योग शास्त्र सूत्र १/३३** में कहा है-

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणाम् सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणाम् भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।।

अर्थात् ब्रह्म-विद्या में सुखी से मैत्री, सेवा इत्यादि दुःखी से करुणा, पुण्यवान से प्रसन्नचित्त होकर सत्संग करना तथा पापी की उपेक्षा करने से चित्त निर्मल होता है। सुखी से मित्रता का भाव है कि जो धर्मानुसार कर्म करके आत्मा में आनन्द प्राप्त किए हुए हैं। ऐसे धर्मात्मा पुरुषों से मित्रता करनी चाहिए। दुःखी पर दया भाव होना चाहिए। यदि अपनी सामर्थ्य में हो तो उसका दुःख दूर करना चाहिए। जो पुण्यात्माएँ हैं उनके साथ हर्ष की भावना हो तथा पापी से उदासीन हो जाना श्रेष्ठ है। उदासीन का भाव है कि न भलाई में न बुराई में। व्यास मुनि इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि ऐसे व्यवहार से सात्विक धर्म उत्पन्न होता है उससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न हुआ चित्त एकाग्रता को प्राप्त होता है। बिना मनुष्य देह के योग एवं मोक्ष भी सम्भव नहीं। अतः परमेश्वर की महान कृपा है उसने हमें मानव देह दी इस देह की पालना के लिए सब पदार्थ दिए तथा मोक्ष पाने के लिए वेदों में उस प्रभु ने योग-विद्या (परा विद्या/ब्रह्म विद्या) का उपदेश दिया। इसलिए ऋग्वेद में कहा:-**'न विचेतदन्धः'** अर्थात् बिना योग दृष्टि वाला (अन्धा) वेद के मंत्र और ब्रह्म को नहीं जान सकता। इसलिए केनोपनिषद् में ब्रह्म विद्या की जानकारी केवल योग साधना वाले के लिए ही कही गई है :-

'तस्यैतपोदमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वांगानि सत्यमायतनम्' अर्थात्

उस ब्रह्म-विद्या के तपस्या मन व इन्द्रियों का दमन तथा शास्त्रोक्त शुभ कर्म यह तीन आधार हैं। और वेदों में इस योग (ब्रह्म विद्या) का सम्पूर्ण विस्तार से वर्णन है। अतः केवल पढ़कर, पढ़े हुए को याद करके, केवल प्रवचन करने से कोई भी ब्रह्म-ज्ञानी नहीं बन सकता। ऐसा करने वाला परमेश्वर की बनाई योग-विद्या (ब्रह्म) तथा परमेश्वर का निरादर करता है, एवं पाप का भागी बनता है। महाभारत में भी कहा हैः **'तत्वज्ञः सर्वभूतानाम् योगज्ञ सर्वकर्मणाम् उपायज्ञो मनुष्याणाम् नरः पंडित उच्यते'** अर्थात् जो सब भूतों को तत्त्व से जानता है, सब कर्मो को योग से जानता है, वही मनुष्य मनुष्यों में पंडित (विद्वान्) कहलाता है। एवं बिना योग के जीव, ब्रह्म एवं प्रकृति के रहस्यों को पढ़-सुन तथा रट के बताता फिरता है उसे विद्वान् नहीं कहते। इसलिए गीता में कहा हैः-**'योग संज्ञितम् तम् विद्यात्' (गीता ६/२३)** जिसकी संज्ञा योग है अर्थात् जिसका नाम योग है उस योग को जानो। यहाँ श्रीकृष्ण सब संसार को चाहे गृहस्थी अथवा किसी भी आश्रम में हो सब मनुष्यों को योगाभ्यास करने की शिक्षा दते हैं।

योगाभ्यास करते-करते मन तथा पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ जब विषयों से हट जाती हैं और बुद्धि परमेश्वर में स्थित हो जाती है तो यह योग की सबसे उत्तम अवस्था होती है। **कठोपनिषद् श्लोक ६/११** कहता हैः **'ताम् स्थिराम् इन्द्रियधारणाम् योगम् इति मन्यन्ते'**। अर्थात् उस इन्द्रियों की स्थिर धारणा को ही योग कहते हैं। अतः मन को निर्मल करने के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास परमावश्यक है जो अनादि काल से चला आ रहा है और जिसका कोई विकल्प नहीं है।

इस विद्या के अभ्यास से ही **'योगः चित्त वृत्ति निरोधः' (योगशास्त्र सूत्र १/२)** अर्थात् चित्त की सभी विषय वाली वृत्ति समाप्त हो जाती हैं, **'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्'** और जीवात्मा अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में स्थिर हो जाता है। एवं **'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'** प्राणी ब्रह्म में लीन हो जाता है जो कि मानव जन्म का लक्ष्य है।

श्रीकृष्ण उवाच-

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ।।
(गीता : २/६६)

(अयुक्तस्य) योगाभ्यास रहित जो पुरुष ब्रह्म से जुड़ा नहीं है उसकी **(बुद्धिः)** बुद्धि स्थिर **(न)** नहीं **(अस्ति)** होती **(च)** और **(अयुक्तस्य)** ब्रह्म से न जुड़े पुरुष की **(भावना)** भक्ति भाव वाली शुद्ध भावना **(न)** नहीं होती **(च)** और **(अभावयतः)** भक्तिहीन भाव वाले को **(शान्तिः)** शान्ति **(न)** नहीं होती और **(अशान्तस्य)** शान्ति रहित पुरुष को **(कुतः सुखम्)** सुख कहाँ?

अर्थ : योगाभ्यास रहित जो पुरुष ब्रह्म से जुड़ा नहीं है उसकी बुद्धि स्थिर नहीं होती और ब्रह्म से न जुड़े पुरुष की भक्ति भाव वाली शुद्ध भावना नहीं होती और भक्तिहीन भाव वाले को शान्ति नहीं होती और शान्ति रहित पुरुष को सुख कहाँ?

भावार्थ : युज् धातु में **'क्त'** प्रत्यय जुड़कर युक्त शब्द बनता है जिसका अर्थ है जुड़ा हुआ-मिला हुआ अर्थात् जीव ब्रह्म से जुड़ा हुआ। इसी अध्याय के श्लोक ६१ में श्रीकृष्ण कह रहें है कि **'युक्तः'** जो प्राणी योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में लीन होता है उसकी बुद्धि ही ब्रह्म स्थिर कही जाती है। यहाँ **'अयुक्तस्य'** शब्द प्रयोग करके बताया कि जो योगाभ्यासी नहीं हैं उनकी बुद्धि ब्रह्म में स्थिर नहीं होती। **शिव-संहिता १/२** में स्पष्ट कहा है कि योग-विद्या का कोई विकल्प नहीं है।

आजकल सन्तों द्वारा प्रायः कई प्रकार के योग का नाम लिया जाता है। लेकिन चारों वेद जो ईश्वर की प्रमाणिक सनातन वाणी हैं, उसमें केवल अष्टांग योग का ही वर्णन है जिसके अभ्यास से जीव मोक्ष पद प्राप्त करता है। और वेदों में कहे योगाभ्यास न करने वाले अन्य प्राणियों की बुद्धि चंचल होती है। ऐसी बुद्धि काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार इत्यादि अनेक वृत्तियों का चिन्तन करने वाली होने के कारण शारिरिक रोग, भोग, चिंता एवं बार-बार जन्म-मृत्यु के सागर में दुःख भोगती हैं। ऐसी योगाभ्यास विहीन बुद्धि में स्थिर भक्ति व श्रद्धा की भावना नहीं होती। ऐसी बुद्धि मिथ्यावाद द्वारा

धन बटोरने वाली होती है।

मन में आया तो कभी सच्ची-झूठी भक्ति कर ली। और संसारी विषय, लोभ-लालच इत्यादि में लीन हो गए तो कह दिया कि भक्ति के लिए समय नहीं है-अतः ऐसी बुद्धि में स्थिर, नियमित एवं स्थायी भक्ति भावना नहीं होती। जनक, दशरथ, हरिश्चन्द्र राजा एवं उनकी प्रजाओं में उस समय वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योग-विद्या का प्रचार था। अतः हरिश्चन्द्र जैसे राजा की बुद्धि भक्ति में इस प्रकार स्थिर थी कि उनका परिवार भी बिक गया एवं स्वयं राजा हरिश्चन्द्र डूम के यहाँ काम करने लगे। लेकिन योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में स्थिर भक्ति में स्थिर बुद्धि होने के कारण भक्ति से तिल भर भी अलग नहीं हुए। श्रीकृष्ण महाराज श्लोक ४१ में कह रहे हैं कि जो योग में प्रवीण निश्चयात्मक बुद्धि है वह तो एक ही है, एक मार्ग वाली है, परन्तु जो निश्चयात्मक बुद्धि नहीं है, ऐसे सकामी पुरुषों की बुद्धि बहुत शाखाओं वाली अर्थात् चंचल बुद्धि होती है। कभी कहीं लग जाती है तो कभी कहीं इत्यादि। तो ऐसी **'अयुक्तस्य'** योगाभ्यास एवं ब्रह्म विहीन बुद्धि में **'भावना न'** श्रद्धा भक्ति की स्थिर भावना नहीं होती।

अतः हमें सनातन विद्या वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि का सहारा लेना अति आवश्यक है जिससे हमारी इन्द्रियाँ संयम में आएँ तथा बुद्धि सत्य मार्ग में ब्रह्म में स्थिर हो और हमारी भक्ति भावना स्थिर हो जाए। कभी भी न डगमगाए। इस विद्या की कमी से ही पिछले करीब एक हजार वर्षों से धर्म परिवर्तन जोरों पर है। क्योंकि हम भारतवासियों ने वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास छोड़ दिया जिस कारण हमारी बुद्धि एक धर्म में स्थिर नहीं है। जब हमारी भावना डगमगाई है तब श्रीकृष्ण कहते हैं **'अभावयतः शान्तिः न'** तब अंतःकरण में शान्ति स्थिर नहीं रहती। लड़ाई-झगड़े, काम-क्रोध, धर्म-परिवर्तन, उग्रवाद, देश-द्रोह, भ्रष्टाचार आदि असंख्य पापों में जीव लीन हो जाता है। चारों तरफ अशान्त वातावरण होता है।

जो सन्त प्रायः ग्रन्थ पढ़-सुन-रट कर सुनाते हैं। योगाभ्यास-यज्ञ, वेद इत्यादि की निन्दा करते हैं। अतः उनके मन की शान्ति, पूजा पाठ, प्रवचन आदि सुनने के पश्चात भी भंग रहती है। शान्त अंतःकरण ही तो स्थाई ब्रह्म

सुख का अनुभव करता है।

परन्तु जब योगाभ्यास रहित बुद्धि अन्त में अशान्त हो जाती है तो श्रीकृष्ण श्लोक के अन्त में कहते हैं फिर जीव को **'कुतः सुखम्'** सुख कैसे प्राप्त हो सकता है। आजकल के प्रायः सन्त वेद एवं योग-विद्या के विरोध में प्रचार कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप आज समस्त भारत एवं संसार वेद, यज्ञ और योग-विद्याओं को त्यागकर अकारण युद्ध, राग-द्वेष, भ्रष्टाचार, विषय-विकार एवं असंख्य अत्याचार रूपी अग्नि में धूं-धूं करता जल रहा है।

हमें श्री राम, श्रीकृष्ण, ऋषि-मुनियों जैसी असंख्य विभूतियों की अपनाई शाश्वत वैदिक पद्धति को अपनाने में देर नहीं करनी चाहिए। तभी हम भी कृष्ण महाराज द्वारा इस श्लोक में कही शाश्वत शान्ति एवं स्थायी ब्रह्म-सुख को प्राप्त करने में सफल होंगे। इस श्लोक में भी श्री कृष्ण महाराज शत प्रतिशत यह सिद्ध कर रहे हैं कि जो पुरुष वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि साधना से रहित है उसके अन्तःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती अतः हम वैदिक विद्वानों के पास जाकर वैदिक साधना को शीघ्र अपनायें। साथ ही हम यह भी ध्यान दें कि कहीं हम विरोधी सन्तों की बातों के जाल में तो नहीं फँस गए।

श्रीकृष्ण उवाच-

"इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि ।।"

(गीता : २/६७)

(हि) क्योंकि **(अम्भसि)** जल में **(इव)** जैसे **(वायुः)** वायु **(नावम्)** नाव को हर लेता है वैसे ही **(चरताम्)** विचरण करती हुई **(इन्द्रियाणाम्)** इन्द्रियों के बीच में **(यत्)** जिस इन्द्रिय के **(अनु)** पीछे **(मनः)** मन **(विधीयते)** चलने लगता है **(तत्)** वह इन्द्रिय **(अस्य)** इस साधन हीन पुरुष की **(प्रज्ञाम्)** बुद्धि को **(हरति)** हर लेता है।

अर्थ : क्योंकि जल में जैसे वायु नाव को हर लेता है, वैसे ही विचरण करती हुई इन्द्रियों के बीच में जिस इन्द्रिय के पीछे मन चलने लगता है वह इन्द्रिय

इस साधनहीन पुरुष की बुद्धि को हर लेती है।

भावार्थ : इस श्लोक में अयुक्त अर्थात् योगाभ्यास इत्यादि विद्या से रहित पुरुष के विषय में कहा है कि ऐसे पुरुष की पाँचों इन्द्रियाँ संसारी विषय-विकार, स्वार्थ, आलस्य इत्यादि अनेक विषयों में भटकती रहती हैं। क्योंकि उसका कार्य पशु के समान आहार, निद्रा, भय एवं मैथुन तक ही सीमित रहता है। इसी से **योगाभ्यास सूत्र २/३** में कहे अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश (बार-बार जन्म-मृत्यु) इत्यादि क्लेश उत्पन्न होते हैं। वेद व योगाभ्यास की शरण के बिना जीव मनुष्य जन्म का लक्ष्य जो भक्ति भाव द्वारा मोक्ष पाना है, उस तक को समझ नहीं पाता फिर लक्ष्य प्राप्त कैसे करेगा? तभी तो वैदिक उपदेश अनिवार्य है। अतः जिस प्रकार समुद्र में जाती नाव को तूफानी वायु उसे समुन्द्र में डुबो देती है, उसी प्रकार मन एक ही विषयवती इन्द्रिय के साथ लगकर पुरुष को जंन्म-मृत्यु रूप सागर में डूबो देता है, प्राणी चौरासी लाख योनियों के चक्कर में फँसकर बार-बार मृत्यु को प्राप्त होता है।

"गज अलि मीन पतंग मृग इक इक दोष विनाश जे काहू पाँचों बसे ताकी कैसी आस।" हाथी काम वासना के वश में है। शिकारी एक बड़े खड्डे के ऊपर कच्ची टहनी-पत्ते रखकर उसके ऊपर कागज की झूठी हथिनी को खड़ा कर देते हैं। दूर से आता काम वासना से अन्धा हाथी बिना सोचे समझे उस हथिनी पर झपटता है और खड्डे में गिरकर शिकारी के हाथ पड़ जाता है, जो उस हाथी से जन्म भर भार उठवाते हैं इत्यादि। नाक का कच्चा भौंरा कमल की सुगन्ध पर फिदा हुआ सूर्य डूबने पर कमल में बन्द होकर प्राण त्यागता है। मछली जीभ को सम्भाल नहीं पाती और अत्याधिक भोजन लेकर मर जाती है। पतंगा रोशनी पर लपकता है और जलते दीये से लगकर प्राण खो देता है। उसकी आँख की इन्द्रिय संयम में नहीं है। मृग रसीली वाणी का आशिक होकर शिकारी के जाल में फँसता है। यह तो पशु योनि केवल एक-एक विषय में फँसकर मृत्यु को प्राप्त हुई हैं। वेद एवं योगाभ्यास से हीन मनुष्य में तो प्रायः पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के विषय एक साथ होते हैं। अतः केवल मिथ्यावाद एवं पढ़-सुन-रट कर इन्द्रियाँ वश में नहीं होती अपितु अधिक विकारी होती हैं। यही भाव इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को बता

रहे हैं कि यदि केवल किसी एक ही विकार युक्त इन्द्रिय के वश में मन हो जाता है, तब ही पुरुष ध्येय से गिर जाता है, और कहीं पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के काम, क्रोध, मद, लोभ, अभिमान इत्यादि अनेक विषयों के पीछे मन चलने लगे तब तो प्राणी का महाविनाश ही समझो। क्योंकि प्राणी इतने पाप कर बैठता है कि उसे भोगने के लिए चौरासी-लाख योनियों में ही अनेक वर्षों भटकना पड़ता है। जड़ मन स्वयं भी तो छटी इन्द्रिय ही है। **अथर्ववेद मन्त्र ८/६/१६** में कहा **"षट् भूता जाता"** ज्ञान प्राप्त कराने वाली आँख, कान इत्यादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा छटा मन उत्पन्न हुआ। जब **"सीरम् षट् योगम्"** शरीर इन छः इन्द्रियों के योग (चित्त वृत्ति निरोध) वाला हो जाता है **"अनु सामसाम"** इस के बाद ही शान्ति प्राप्त होती है। विषयों में भटकती इन्द्रियाँ तो जीव को सदा अशान्त ही रखती हैं। आज के अधिकतर वेद, योग एवं यज्ञ आदि की निन्दा करने वाले तथा पढ़-सुन-रट कर बोलने वाले संत अथवा मनुष्यों को ही गीता श्लोक ६६ में "अयुक्तस्य बुद्धिः न अस्ति" अर्थात् ऐसे पुरुषों की बुद्धि ब्रह्म में स्थिर नहीं होती, कहा है, और वह स्वयं इस बात को जानता भी है परन्तु स्वार्थवश अपने को ब्रह्मर्षि सिद्ध कर लेते हैं। जनता के लिए ऐसे अयुक्त पुरुष हानिकारक हैं। हमें वैदिक सनातन पद्धति वेद एवं योग-विद्या को पिछले तीनों युगों की भांति पुनः अपनाकर सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण करना होगा।

अतः गीता के इस अध्याय के चुने हुए इन श्लोकों ३८, ४०, ४१, ४४, ४७, ४८, ५०, ५१, ५३ के अनुसार वेदाध्ययन, योगाभ्यास एवं कर्त्तव्य-कर्म में जुटना होगा। गीता के अर्थ का अनर्थ ही हमें बर्बाद कर रहा है। हम गीता के अनर्थ सुनते हैं। जीवन में वेद एवं योगाभ्यास धारण नहीं कर रहे हैं। अतः हमें सावधान होकर वेदज्ञ विद्वानों की संगत से गीता-ज्ञान, जो वैदिक-ज्ञान से भरा पड़ा है, उसे जैसे का तैसा समझकर जीवन में धारण करना है। जैसे उपदेश को जीवन में धारण करके अर्जुन ने न तालियाँ बजाई, न नाच-गाना किया अपितु गंभीरतापूर्वक उपदेश को जीवन में धारण करके धर्म-युद्ध में कूद पड़ा। यह है उपदेश को जीवन में धारण करना।

श्रीकृष्ण उवाच-

तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।

(गीता : २/६८)

(तस्मात्) इसलिए **(महाबाहो)** हे महाबाहो अर्जुन **(यस्य)** जिसकी **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियाँ **(इन्द्रियार्थेभ्यः)** विषयों से **(सर्वशः)** पूरी तरह **(निगृहीतानि)** वश में होती हैं **(तस्य)** उसकी **(प्रज्ञा)** बुद्धि **(प्रतिष्ठिता)** स्थिर होती है।

अर्थ : इसलिए हे महाबाहो अर्जुन! जिसकी इन्द्रियाँ विषयों से पूरी तरह वश में होती हैं उसकी बुद्धि स्थिर होती है।

भावार्थ : तस्मात् (इसलिए) यह शब्द पिछले श्लोक २/६७ से सम्बंध रखता है। जिसमें कहा है कि जिस एक इन्द्रिय के पीछे भी मन चलने लगता है तो वह एक इन्द्रिय ही उस पुरुष की बुद्धि को हर लेती है। पुरुष की बुद्धि स्थिर नहीं रहती और वह विषयों में लीन होकर लक्ष से भटक जाता है। 'महाबाहो' का अर्थ बड़ी-बड़ी लम्बी बलिष्ठ भुजाओं वाला अर्जुन है। भाव यह है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि तप द्वारा जिस पुरुष की इन्द्रियाँ पूर्णतः विषयों-अधर्म से हट गई हैं, इन्द्रियों में विषय-आसक्ति का पूर्णतः अभाव हो गया है और मन तथा बुद्धि कभी भी किसी भी विषय को देख, सुन, अथवा स्पर्श आदि द्वारा क्षण-भर के लिए भी विचलित नहीं होती, उसी की बुद्धि ब्रह्म में स्थिर हो जाती है। अतः साधन विशेष द्वारा जिसकी बुद्धि स्थिर नहीं है वह जन्म-मृत्यु रूपी संसार सागर में असुर अथवा चौरासी लाख की नीच योनियों में भ्रमता हुआ सदा दुःख उठाता रहता है। जैसे **यजुर्वेद मंत्र ३१/१८** में कहा **'तमेव विदित्वा मृत्युमेति'** अर्थात् ईश्वर को जाने बिना न तो इन्द्रियां संयम में होती हैं और न ही मृत्यु संसार सागर से तर पाता है। **अथर्ववेद मंत्र ६/६/२१** में कहा-**'यस्मिन् वृक्षे मध्वदः सुपर्णाः'** अर्थात् रज, तम तथा सतो गुण वाली प्रकृति से रचित यह संसार एक वृक्ष के रूप में है। जिसमें प्राणी विविध भोगों का भोग भोगते हैं और **'निविशन्ते'** आसक्ति वाले हो जाते हैं। **'अधि सुवते'** और ज्यादा से ज्यादा इन्द्रियों के विषयों का लाभ लेते हैं तथा **'पिप्पलम् न उत्लशत्'** अर्थात् मोक्ष-पद को प्राप्त नहीं कर पाते। वस्तुतः इन्द्रियों का आजाद रहना ही परिवार, सम्पत्ति, मोह-माया इत्यादि में फंसे रहने

का कारण बनता है। और साधन विशेष द्वारा इन्द्रियों पर संयम ही बुद्धियोग द्वारा गृहस्थ में ही शुभ कर्म करते हुए तथा अनासक्ति को प्राप्त हुए मोक्ष-पद प्राप्त करना है। आज हम भक्ति और प्रेम की बातें करते हैं लेकिन वेदों के मर्म को नहीं जानते कि इन्द्रियां जिसमें मन बुद्धि भी शामिल है, वह जीवात्मा को इन्द्रिय सुख में फंसाकर नरकगामी कर रही हैं। इन्द्रियों को वश में करने के लिए यज्ञ, वैदिक उपदेश और सबसे महत्वपूर्ण अष्टांग योग की साधना हम भूलकर भक्ति एवं प्रेम केवल प्रायः मन को प्रसन्न करने के लिए ही करते हैं। और इस सच्चाई को जान भी नहीं पाते क्योंकि माया में लिप्त होते हैं। अतः **अथर्ववेद मंत्र ८/६/१०** आश्चर्यचकित बात कहता है **'कः विराजः मिथुनत्वम् प्र वेद'** अर्थात् कोई बिरला ही वेदवाणी के साथ ईश्वर का अटूट सम्बंध जानता है अर्थात् ईश्वर हमारे पिता हैं और वेदवाणी माता के समान है। अतः वेद एवं वेद में कहे अष्टांग योग के द्वारा 'कः ऋतून' कोई बिरला ही ज्योति स्वरूप परमेश्वर को जानता है। जैसे कि अर्जुन भी अपने आप को विद्वान समझकर और कई मोह-ममता की बातें कहकर धनुष छोड़ पीछे रथ में जा बैठा था। तब श्रीकृष्ण ने श्लोक २/११ में उसे कहा था कि हे अर्जुन तू शोक न करने वालों के लिए शोक करता है और अपने को पंडित (वेदज्ञ विद्वान) समझकर बातें करता है। अर्थात् तू वास्तव में पंडित है नहीं। जीवात्मा के स्वरुप अथवा परमात्मा के स्वरुप को जानने के लिए बिरला ही कोई योगाभ्यास इत्यादि की तरफ चलता है। जिसका सुन्दर फल **अथर्ववेद मंत्र ६/१०/११** में कहा **'गोपाम् अनिपद्यमानम् अपश्यम्'** अर्थात् जिसकी इन्द्रियां योगाभ्यास द्वारा संयम में हो गई हैं फिर उसको विविध प्रकार की नीच योनियों में गिरते हुए नहीं देखा। आज प्रायः प्राणी इन्द्रिय संयम के लिए वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग की परम्परायुक्त साधना विशेष को छोड़कर प्रायः वेद-विरोधी संतो से मनमानी 'भक्ति और प्रेम ये दो शब्दों को रट-रटकर **अथर्ववेद मंत्र ६/१०/१६** के अनुसार **(अपाङ्एति)** पक्षी-मृगादि की नीच योनियों को प्राप्त होता जा रहा है। क्योंकि **मनुस्मृति श्लोक २/१६८** कहता है-**'यः अनधीत्य द्विजः'** वेद न जानने वाले साधु/संत **'वेदम् अन्यत्र श्रमम् कुरुते'** वेद छोड़कर अन्य ही बाते करते हैं। अर्थात् वेद-विरोधी बात करते हैं। वह अपने अनुयायियों सहित 'शूद्रत्व गच्छति' नीच योनियों को प्राप्त होते

हैं। अतः जैसा कि प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में करने वाले की बुद्धि को ही स्थिर बुद्धि कहा है अर्थात् ऐसी बुद्धि ही ब्रह्म में स्थित कही गई है तब प्रश्न उठता है कि इन्द्रियाँ संयम में कैसे की जाएँ जिससे इन्द्रियाँ संसारी विषयों से सदा के लिए निवृत्त हो जाएँ अर्थात् हट जाएँ। इस समस्या के हल के लिए ही श्रीकृष्ण महाराज ने पिछले श्लोकों में वेद, यज्ञ एवं योगाभ्यास अपनाने की बात कही है। अतः हम वेदों के पथ पर चलते हुए योगाभ्यास आदि द्वारा इन्द्रियों को संयम में करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः

(गीता : २/६६)

(या) जो **(सर्वभूतानाम्)** सब प्राणियों की **(निशा)** रात्रि है **(तस्याम्)** उस रात्रि में **(संयमी)** इन्द्रियों को वश में करने वाला पुरुष **(जागर्ति)** जागता है तथा **(यस्याम्)** जिस समय में **(भूतानि)** साधारण प्राणी **(जाग्रति)** जागते हैं **(पश्यतः)** तत्त्व को जानने वाले **(मुनेः)** मुनि की **(सा)** वह **(निशा)** रात्रि है।

अर्थ : जो सब प्राणियों की रात्रि है, उस रात्रि में इन्द्रियों को वश में करने वाला पुरुष जागता है तथा जिस समय में साधारण प्राणी जागते हैं, तत्त्व को जानने वाले मुनि की वह रात्रि है।

भावार्थ : यह संसार स्वप्नवत् है। जीव काम, क्रोध, मोह, माया आदि विषयों की नींद में मग्न सा, शरीर और आँख से जागता हुआ भी सोए के समान है। जबकि मनुष्य चोला इन विषयों से जागृत रहते हुए साधन विशेष द्वारा ईश्वर प्राप्ति के लिए मिला है। अतः जहाँ बहुशाखा बुद्धि वाले प्राणी जिन संसारी विषयों में सोए पड़े हैं अर्थात् विषयों में लिप्त हैं और नहीं जानते कि कुछ ही वर्षों के लिए दुर्लभ मानव शरीर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि के लिए मिला है। और यदि हम पुरुषार्थ एवं शुभ कर्म करते हुए ईश्वर प्राप्ति की ओर नहीं चले तो **अथर्ववेद मंत्र ६/१०/१६** के अनुसार जीवित भी दुःखी रहेंगे और मरने के पश्चात ८४ लाख योनियों में भ्रमण करना होगा। यह

मनुष्य का शरीर भी पाकर इस प्रकार जाग्रत में सोए अथवा मरे के समान है। यही विद्या-विहीन साधारण जन के लिए रात्रि है। और वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास तथा यह मनुष्य शरीर शुभ कर्मों में लगे हुए प्राणियों के लिए जागृत अवस्था है। अर्थात् मानव चोला पाकर ईश्वर को भूला प्राणी मनुष्य शरीर में सोए, मरे एवं पशु के समान है। वहीं विपरीत में संयमी पुरुष विषयों विकारों से जागता है तथा ईश्वर प्राप्त करके मानव जीवन का लक्ष्य जो कि मोक्ष पद है उसे प्राप्त करता है। जैसे **अथर्ववेद मंत्र १०/८/२३** कहता है **'अहोरात्रे'** दिन और रात **'अन्यो अन्यस्य रूपयोः'** एक दूसरे के रूपों में से **'प्र जायेते'** उत्पन्न होते हैं। अर्थात् दिन से रात्रि तथा रात्रि से दिन उत्पन्न होता है। और **ऋग्वेद मंत्र १/१२३/७,८** में कहा कि रात्रि और दिन एक साथ आते जाते हैं। अर्थात् सूर्य और पृथिवी के घूमने के साथ एक ही समय में पृथिवी के आधे भाग में दिन और आधे भाग में रात्रि होती है। जब अंधेरा हटता है तो उस स्थान पर प्रकाश आ जाता है अर्थात् जहां अंधकार दूर होकर सूर्य का प्रकाश हुआ है। उस प्रकाश हुई जगह से जितने स्थान में से प्रकाश अंधकार को छोड़ता है उतना अंधकार रात्रि ले लेती है। इसी कारण पृथिवी पर दिन एवं रात्रि सदा एक साथ विराजमान रहते हैं। इस संसार में अंधेरा और उजाला यह दो पदार्थ हैं। ज्ञान की दृष्टि में अंधेरा साधन एवं कर्महीन बुद्धि में समाया हुआ अविवेक, अज्ञान अथवा अविद्या है। इस अज्ञान आदि को ही इस श्लोक में निशा अर्थात् रात्रि (अज्ञान आदि) कहा गया है। **'तस्याम् संयमी जागर्ति'** अर्थात् इस अज्ञान रूपी रात्रि में इन्द्रियों को वश में करने वाला संयमी पुरुष जागता है। और ब्रह्म के आनन्द में डूबा रहता है। दूसरी तरफ इस अज्ञान आदि के इन्द्रिय सुख में जहाँ साधन एवं विवेकहीन पुरुष विषयों के भोग में डूबे रहते हैं जो कि अज्ञानियों का एक प्रकार से जागना है। वहीं वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग-सिद्ध पुरुष जिन्होंने संयम द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार किया है, **'पश्यतः मुनेः निशा'** उनके लिए संसार में वह विषय-विकारी अज्ञान आदि युक्त वातावरण रात्रि के समान है। अर्थात् वह विषय-अधर्म की तरफ दृष्टि नहीं डालते। जहाँ अज्ञानियों के लिए धन, सम्पदा, विषय, विकार आदि ही सब कुछ है, वहाँ श्रीराम, युधिष्ठिर, मीरा, भर्तृहरि आदि असंख्य विभूतियों ने यह सब सुख छोड़कर धर्म स्थापना

के लिए जंगल की राह स्वीकार की थी। क्योंकि वह जागे हुए थे। विपरीत में रावण, दुर्योधन, कंस आदि अनेक पुरुष जो विषय-विकार में सोए हुए थे, उन्होंने अधर्म एवं छल-कपट से धन, महल इत्यादि प्राप्त किए और नाश को प्राप्त हो गए। **सामवेद मंत्र १८२६** में कहा कि जो प्राणी इन विषयों के रस का त्याग करके जाग जाता है, ईश्वरीय शक्ति उन प्राणियों की सखा बन कर सहायता करती है। जैसे सूर्य उदय होने पर उस सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार वेद के ज्ञान को प्राप्त हुए पुरुष की बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश उत्पन्न होता है और वह ज्ञान का प्रकाश अज्ञान को नष्ट कर देता है।

कठोपनिषद् ने स्पष्ट आदेश दिया कि हे प्राणी उतिष्ठत् जाग्रत, प्राप्य अर्थात् विषयों की नींद से जागो और उठो। फिर वेद में कहा- **"आ बोधि"** अर्थात् बोध को प्राप्त हो जाओ। थोड़ा भ्रान्ति सहित कुछ बोध अथवा थोड़ी सी जागृति और थोड़ी सी निद्रा ऐसा कुछ नहीं अपितु पूर्ण चेतना, पूर्ण जागृति की आवश्यकता है। तभी देश पुनः खोई हुई गरिमा को प्राप्त होकर **'विश्व गुरु'** एवं **'सोने की चिड़िया'** का पद प्राप्त करने में समर्थ होगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ।।

(गीता : २/७०)

(यद्वत्) जिस प्रकार **(आपूर्यमाणम्)** सब तरफ से परिपूर्ण **(अचलप्रतिष्ठम्)** अचल प्रतिष्ठा वाले **(समुद्रम्)** समुद्र को **(आपः)** नदियों का जल **(प्रविशन्ति)** प्रवेश करता है और समुद्र की अचल मर्यादा को भंग नहीं कर पाता **(तद्वत्)** उसी प्रकार **(यम्)** जिस पुरुष में **(सर्वे)** सब **(कामाः)** विषय भोग **(प्रविशन्ति)** प्रवेश करते हैं परन्तु उस पुरुष को अपने धर्म से विचलित नहीं कर पाते **(सः)** वह पुरुष ही **(शान्तिम्)** स्थिर शान्ति को **(आप्नोति)** प्राप्त करता है। **(कामकामी)** भोगों की कामना करने वाला **(न)** शान्ति को प्राप्त नहीं करता।

अर्थ : जिस प्रकार सब तरफ से परिपूर्ण अचल प्रतिष्ठा वाले समुद्र को नदियों

का जल प्रवेश करता है और समुद्र की अचल मर्यादा को भंग नहीं कर पाता, उसी प्रकार जिस पुरुष में सब विषय-भोग प्रवेश करते हैं परन्तु उस पुरुष को अपने धर्म से विचलित नहीं कर पाते, वह पुरुष ही स्थिर शान्ति को प्राप्त करता है। भोगों की कामना करने वाला शान्ति को प्राप्त नहीं करता ।

भावार्थ : कहावत है कि **'थोथा चना बाजे घना'** अर्थात् कीड़े से खाए हुए थोथे चने की तरह जब इन्सान में साधन, विवेक आदि द्वारा अर्जित विद्या से उत्पन्न कोई गुण नहीं होते, तब उसमें से काम, क्रोध आदि वाली अथवा अहंकार, अभिमान वाली अनेक मिथ्या वाली बोलियाँ निकलने लगती हैं। फल वाला वृक्ष अकड़ कर खड़ा रहता है परन्तु फल लगने पर शान्त एवं गम्भीर बन तुरन्त झुक जाता है। तभी तो कहा है-**'विद्या ददाति विनयम्'** अर्थात् विद्या पाकर जीव में विनय, नम्रता, शान्त एवं गम्भीर प्रवृत्ति वाले गुण आते हैं। और जब प्राणी में शुभ कर्म, ज्ञान, उपासना, भक्ति आदि विद्या नहीं होती तब अहंकार, अभिमान आदि अनेक विषय वाली प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा व्यक्ति किसी भी मामले में शान्त एवं गम्भीर दिखाई नहीं देता। इसी प्रकार का सा कुछ ज्ञान समझाते हुए श्रीकृष्ण महाराज यहाँ शान्त चित्त योगी की, जिसकी वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा तप की हुई बुद्धि ब्रह्म में स्थिर हो चुकी है उसकी अपने गुणों से परिपूर्ण शान्त एवं गम्भीर समुद्र से उपमा करते हुए कहते हैं कि हे अर्जुन! जैसे समुद्र सब ओर से पानी द्वारा परिपूर्ण है, नित्य सूर्य कितना ही पानी उस में से निकाल कर भाप बनाकर आकाश में ऊपर ले जाता है और ऐसे ही नित्य कितनी ही छोटी और बड़ी-बड़ी नदियों के पानी का वेग नित्य समुद्र में प्रवेश करता है। परन्तु इससे समुद्र का अचल रूप जिस कारण वह समुद्र कहलाता है, उसमें जरा सा भी बिगाड़ या उतार-चढ़ाव नहीं आता। समुद्र शान्त एवं गम्भीर ही बना रहता है। बिल्कुल इसी प्रकार उस ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाले योगी के अन्दर भी परिस्थितियों अनुसार पांचों ज्ञानेन्द्रियां द्वारा अनेक विषय प्रवेश कर जाते हैं, परन्तु उस योगी को यह विषय तनिक भी विचलित नहीं कर पाते। और वह सदा गम्भीर एवं शान्त हुआ ब्रह्म में स्थिर रहता है। **अथर्ववेद मंत्र ५/११/३** में इस सम्बंध में बड़ा सुन्दर ज्ञान है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास करने वाला साधक

अनुभव करता है कि **'अहम् सत्यम्'** मैं सत्य ही **'काव्येन'** वेदाध्ययन द्वारा **'गभीरः'** गम्भीर वृत्ति वाला सा हुआ हूँ। आगे कहा कि मैं जिस भी शुभ कार्य को करता हूँ उसमें कोई भी भय अथवा बाधा आदि वा लोभ मुझे नहीं विचलित कर पाता और मेरा लक्ष्य ब्रह्मलीनता ही है। इसी प्रकार **मन्त्र १८/४/६२** में कहा कि प्राणी गम्भीर-शान्त चित्त वाले विद्वानों का ही सत्संग करके सुखी रहे। वाल्मीकी रामायण में सर्वगुण सम्पन्न भगवान राम के अनेक गुण कहे हैं। जैसे धर्म के जानने वाले, सत्यप्रतिज्ञ, परोपकारी, कीर्तियुक्त, ज्ञाननिष्ठ, पवित्र, जितेन्द्रिय, समाधि लगाने वाले तथा जिस प्रकार अनेक नदियाँ समुद्र में पहुँचती हैं उसी प्रकार उनके पास सदा सज्जनों का समागम रहता है तथा वह भगवान राम **'समुद्र इव गाम्भीर्यः'** गम्भीरता में समुद्र के समान हैं। अतः महान विभूतियों की उपमा वेद शास्त्रों आदि सद्ग्रन्थों ने सदा समुद्र से ही की है।

समुद्र का दूसरा स्वभाव यह भी है कि गन्दी से गन्दी नदियों का पानी भी जाकर समुद्र में मिलकर समुद्र ही हो जाता है। इसी प्रकार ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाले योगी के पास ब्रह्म जिज्ञासा वाले जिज्ञासुओं के सब अवगुण सेवा, श्रद्धा द्वारा समाप्त होने लगते हैं और योगी के अन्दर, बाहर से आए विकार योगी में प्रवेश कर शान्त हो जाते हैं और योगी को विचलित कर नहीं पाते। समुद्र का स्वभाव गम्भीर कहा गया है और वह अनेक नदियों के अच्छे बुरे पानी को समा लेता है। समुद्र में मिलने वाली नदियों का स्वरूप समुद्र ही हो जाता है। जैसे गंगा-यमुना नदी समुद्र में मिलते ही समुद्र बन जाती है। गंगा, यमुना नहीं रहती। इसी प्रकार योगी का स्वभाव भी समुद्र के समान गम्भीर एवं शान्त होता है और उसमें सामने वाले अनेक दोष योगी के अन्दर प्रवेश करते ही अपने दोषों से शून्य होकर योगी के गम्भीर एवं शान्त स्वरूप और गुणों जैसे ही हो जाते हैं। अतः हमें गृहस्थाश्रम में ही पूर्व के ऋषि व राजर्षियों के समान वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा गंभीर, शान्त एवं प्रसन्नचित ब्रह्मवृत्ति को धारण करके जीवन लक्ष्य को प्राप्त करना चाहिए। और ब्रह्मवृत्ति सदा वेदों के ज्ञान को प्राप्त करके यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना करने के पश्चात ही प्राप्त होती है। केवल पढ़, सुन, रट कर कथा आदि कहने से ब्रह्म

वृत्ति के विषय में याद करके बोला तो जायेगा परन्तु स्वयम् की वृत्ति सांसारिक ही रहेगी, वह वृत्ति ब्रह्म वृत्ति कदापि नहीं हो पायेगी।

श्रीकृष्ण उवाच-

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।

(गीता : २/७१)

(यः) जो **(पुमान्)** पुरुष **(सर्वान्)** सब **(कामान्)** कामनाओं को **(विहाय)** त्यागकर **(निःस्पृहः)** लालसा रहित **(निर्ममः)** ममता रहित **(निरंहकारः)** अहंकार रहित होकर **(चरति)** विचरता है, व्यवहार करता है **(सः)** वह पुरुष **(शान्तिम्)** शान्ति को **(अधिगच्छति)** प्राप्त होता है।

अर्थ : जो पुरुष सब कामनाओं को त्यागकर कर लालसा रहित, ममता रहित, अहंकार रहित होकर विचरता है, व्यवहार करता है वह पुरुष शान्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थ : अथर्ववेद मंत्र २/५/५-६ में कहा है कि सभी इन्द्रियों को अच्छी तरह वश में करने वाला प्राणी वासनाओं को नष्ट करके ज्ञान की अग्नि अपने अन्दर प्रकट कर लेता है जिससे अविद्या, मोह, ममता अहंकार एवं लालसा सभी वेद-विरुद्ध अधर्मयुक्त कर्म नष्ट कर लेता है। ऐसे जितेन्द्रिय पुरुष को मंत्र में इन्द्र कहा है। इन्द्र स्वरूप वह साधक शांत एवं सोम स्वभाव वाला बनता है। परन्तु प्रश्न उठता है कि मनुष्य इन्द्रियों को वश में कैसे करे। कई कहते हैं कि सत्संग में जाकर, कई कहते हैं कि ईश्वर को जानकर, कई कहते हैं ईश्वर में मन लगाकर इत्यादि इन्द्रियाँ वश में हो जाती हैं। परन्तु यह कोई बिरला ही बताता है कि सत्संग में क्या प्राप्त करके तथा ईश्वर को कैसे जानकर अथवा ईश्वर में कैसे मन लगाकर इन्द्रियाँ वश में होती हैं।

यह विद्या श्रीकृष्ण महाराज ने पहले ही कह दी है कि जिस पुरुष की योगाभ्यास द्वारा चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं, अर्थात् अन्दर ही रुक जाती हैं, उसी की इन्द्रियाँ वश में होती हैं। बिना वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के इन्द्रियों पर संयम असंभव है। योगाभ्यास द्वारा इन्द्रिय संयम करने वाले

पुरुष के ही विषय में मंत्र ७ में कहा कि ऐसा ज्ञान एवं ऐश्वर्यवाला पुरुष ही कामादि शत्रुओं को नष्ट कर डालता है।

ऋग्वेद मंत्र १/५/१ में कहा **'स्तोमवाहसः'** वेद-विद्या के ज्ञान से परिपूर्ण विद्वान् ही छल, कपट, अभिमान छोड़कर विद्या आदि उत्तम गुणों की उन्नति करता है। अतः यदि हममें वेद एवं योगविद्या का ज्ञान एवं आचरण नहीं है तब यह मोह-ममता, काम-क्रोध, आदि अवगुण कहने मात्र से प्राणी को कभी नहीं छोड़ते। आज हम सबको पिछले तीनों युगों की भांति वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा काम, क्रोध, ममता, अहंकार एवं लालसा आदि अवगुणों का नाश करना चाहिए। क्योंकि इन अवगुणों को छोड़ने वाले के लिए ही यहाँ श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं-**'सः शान्तिम् अधिगच्छति'** अर्थात् केवल ऐसा पुरुष ही शांति को प्राप्त करता है। वस्तुतः कामनाओं का त्याग असंभव होता है अतः इस श्लोक में भी 'चरति' पद का प्रयोग करके यह कह दिया है कि कामादि शत्रुओं का नाश करके प्राणी जगत में शुभ कर्म करे। अतः कर्म का का त्याग नहीं अपितु अधर्म की लालसा, मोह-ममता एवं अहंकारपूर्ण अधर्म युक्त कर्मों को करने की इच्छा का प्राणी त्याग कर दे और वह त्याग वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों के करने पर ही संभव होता है। **यजुर्वेद** तो **'तेन त्यक्तेन भु जीथा'** कहकर समझाता है कि पूर्णतः त्याग नहीं अपितु अविद्याग्रस्त अशुभ कर्मों का त्याग करके केवल धर्मयुक्त कर्मों का भोग भोगो और उन धर्मयुक्त कर्मों में भी फल की कामना, मोह-ममता आदि अवगुण न हों, तभी जीवन में स्थायी शांति प्राप्त होती है। अहंकार का अर्थ है-मैं पन अर्थात् जीव प्राकृतिक गुणों में लिप्त होकर अपने-आप को शरीर-समझता है और मैं बहुत कुछ हूँ, ऐसी अकड़ में रहता है जिस कारण वह क्रोध में गाली-गलोच का उत्तर गाली द्वारा ही देता है और जीवन में शांति स्थापित नहीं करता। **अथर्ववेद मंत्र २/७/४** में कहा कि जीव सात्विक आहार, दान प्रवृत्ति एवं योगाभ्यास द्वारा अहंकार-अभिमान पर विजय प्राप्त करे। ममता का अर्थ है कि धन-सम्पदा, परिवार आदि सांसारिक पदार्थों में मेरा पन आ जाना। उनको अपना मान बैठना। फलस्वरूप उनकी प्राप्ति एवं संतुष्टि के लिए अज्ञानवश सब अच्छे बुरे कार्य करना। **यजुर्वेद ४०/१** कहता

है **'मा गृधः कस्य स्विद्धनम्;** अर्थात् लोभ, लालच मत करो, पदार्थों से ममता मत करो। ये धन एवं परिवार आदि पदार्थ यही छोड़ कर जाना होता है। ये किसी के भी नहीं हुए। अतः त्यागपूर्वक सबके प्रति कर्त्तव्य पालन करो और व्यवहार में अहंभाव न हो।

'स्पृहा' का अर्थ है लालायित होना अर्थात् परिवार को खुश करने के लिए पदार्थों की प्राप्ति की लालसा। यह लालसा भी यदि धर्मयुक्त है तभी उचित है अन्यथा प्राणी को बर्बाद कर देती है। यह सब दोष अर्जुन में उत्पन्न हो चुके थे। इन दोषों के कारण ही वह युद्ध नहीं चाहता था। तभी श्रीकृष्ण यहाँ भी अर्जुन को समझा रहे हैं-ऐसी-वेद-विरुद्ध कामनाओं, अहंकार, ममता एवं स्पृहा को जो त्यागकर धर्मानुसार शुभ कर्म करते हैं वह कर्म एवं कर्मफल से निवृत्त ही रहते हैं एवं इस प्रकार परम शांति को प्राप्त करते हैं।

अतः हे अर्जुन! तू भी इन दोषों को त्यागकर धर्म युद्ध कर। आज भी यदि प्राणी वेदाध्ययन, सेवा, दान एवं प्रातः-सायं योगाभ्यास करता हुआ गृहस्थ के धन-प्राप्ति आदि शुभ कर्म इन दोषों को त्यागकर करता है, निश्चित ही परम शान्ति को प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति

(गीता : २/७२)

(पार्थ) हे अर्जुन **(एषा)** यह **(ब्राह्मी)** ब्रह्म में स्थित पुरुष की **(स्थितिः)** स्थिति है। **(एनाम्)** इसको **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(न)** नहीं **(विमुह्यति)** मोह करता। तथा **(अन्तकाले)** अन्तिम समय में **(अपि)** भी **(अस्याम्)** इस अवस्था में **(स्थित्वा)** स्थिर होकर **(ब्रह्मनिर्वाणम्)** ब्रह्मलीन अर्थात् मोक्ष पद को **(ऋच्छति)** प्राप्त करता है।

अर्थ : हे अर्जुन यह ब्रह्म में स्थित पुरुष की स्थिति है। इसको प्राप्त करके मोह नहीं करता तथा अन्तिम समय में भी इस अवस्था में स्थिर होकर ब्रह्मलीन अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करता है।

भावार्थ : श्लोक १/२१ में जब श्रीकृष्ण महाराज ने दोनों सेनाओं के बीच में अर्जुन का रथ खड़ा किया तब धर्मयुद्ध के मर्म से अनभिज्ञ अर्जुन ने अपने पिता के भाइयों पितामह, आचार्यों, मामों, पुत्रों, पौत्रों तथा मित्र आदि सम्बधियों को देखकर मोह-ममता वश घबराकर श्रीकृष्ण से कहा कि हे कृष्ण! मेरा मुख सूखा जाता है, मेरे शरीर में कंपन हो रही है, मेरे हाथ से गाण्डीव-धनुष गिरता जा रहा है और मैं भ्रमित सा होकर खड़ा रहने में भी समर्थ नहीं हूँ। श्लोक १/३७ में अर्जुन बोला कि हम अपने कुटुम्ब को मार कर कैसे सुखी हो सकते हैं। श्लोक २/७ में स्वयं अर्जुन कहता है कि हे कृष्ण मैं **'धर्मसंमूढचेताः'** अर्थात् मैं धर्म के विषय में अनभिज्ञ हूँ तथा मोह में फंस गया हूँ। अतः हे कृष्ण! आप ही मुझे शिक्षा दीजिए। इसके पश्चात श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को प्रकृति के तीन गुण और उससे रचा सारा संसार एवं शरीर के विषय में समझाया कि यह सब नाशवान है। इस शरीर में रहने वाली जीवात्मा अजर-अमर अविनाशी है और सम्पूर्ण विश्व को रचने वाला ईश्वर जो सबमें व्यापक है वह ईश्वर स्वयं भी जन्म-मृत्यु एवं विनाश आदि से रहित है। शरीर में रहने वाली चेतन अमर जीवात्मा जन्म-मृत्यु से रहित है परन्तु यह जीवात्मा कर्मानुसार शरीर धारण करती है। इस जीवात्मा को कोई मार नहीं सकता परन्तु इस आत्मा को आश्चर्यचकित होकर कोई बिरला ही विद्वान देखता है, इसके विषय में सुनता है और इस आत्म तत्त्व को जानता है। इन्द्रियों के विषयों में फंसा हुआ प्राणी इस आत्म रहस्य को नहीं जान पाता अपितु सदा दुखी होता हुआ बार-बार कर्मानुसार शरीर धारण और शरीर त्याग रूपी प्रकृति के चक्कर में फंसा नरकगामी रहता है। अतः हे अर्जुन तू अपने क्षत्रिय धर्म को जानकर धर्म युद्ध करके मोक्ष पद को प्राप्त कर। तेरा कर्त्तव्य केवल धर्मयुक्त कर्म करना है, परन्तु फल की इच्छा कभी न कर इससे तू निष्काम कर्म योग को प्राप्त करके मोक्ष को प्राप्त कर लेगा। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को समत्व योग, बुद्धि-योग, कर्म-योग अथवा योग का ज्ञान दिया। श्रीकृष्ण ने कहा कि आसक्ति त्याग कर निष्काम भावना से किया कर्म जीव को पाप और पुण्य दोनों का ही त्याग कराकर कर्मबंधन से छुटकारा दे देता है और इस प्रकार जीव कर्मयोग अर्थात् शुभ कर्म करता-करता ही मुक्त हो जाता है। इस पर श्लोक २/५४ में अर्जुन

समत्व योग अर्थात् समाधि में स्थिर बुद्धि वाले पुरुष के विषय में पूछता है। जिस पर श्रीकृष्ण कहते हैं कि हे अर्जुन जो पुरुष सब कामनाओं का त्याग कर देता है और अपने आत्मिक स्वरुप को जानकर स्वयं अपने में ही सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहता है, वह योगी ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाला कहा गया है। ऐसा योगी सुख-दुःख, राग-द्वेष, भय, क्रोध आदि सब विकारों से दूर रहता है। और उसे प्रसन्न रहने के लिए संसार के किसी बाहरी पदार्थ की आवश्यकता नहीं रहती। ऐसे योगी की समस्त इन्द्रियाँ उसके वश में होती हैं। और उसके हृदय में कोई विकार उत्पन्न नहीं होता। **अथर्ववेद मंत्र ५/६/११** में भी कहाः- **'इन्द्रस्य गृहोसि। तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्रविशामी सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन।।'** हे परमेश्वर! जो इन्द्रियों को जीत लेता है, आप उसे स्वीकार, ग्रहण कर लेते हैं। मैं सारी इन्द्रियों, सम्पूर्ण पुरुषार्थ, सम्पूर्ण आत्मा, शरीर तथा जो कुछ भी मेरा है, उन सबके साथ आपको समर्पित होता हूँ, आपकी शरण में आता हूँ, आप में प्रवेश करता हूँ। अतः तन, मन, प्राण को ईश्वर का ही मानकर सदा ईश्वर प्राप्ति में लगाए रखो नहीं तो इस शरीर में विकार आ जाते हैं।

परन्तु यहाँ प्रश्न यह है कि ऐसे योगी को इतने गुण और आत्म अनुभूति कैसे प्राप्त हुई? जिसका उत्तर स्वयं श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि योगी होता ही वह है जो वेदाध्ययन एवं वेदों में कही योग-विद्या के अभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त अवस्था में ईश्वर का दर्शन करता है। क्योंकि बिना योग साधना के न तो इन्द्रियाँ वश में हो सकती हैं और न ही समाधि अवस्था प्राप्त करके कोई ईश्वर का दर्शन कर सकता है। तभी श्लोक २/६६ में कहा कि हे अर्जुन! साधन रहित पुरुष के अंतःकरण में श्रेष्ठ बुद्धि तथा भक्ति-भाव नहीं होता। श्लोक २/७१ में ऐसे योगी के विषय में ही श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि वे वेद अध्ययन एवं योग साधना द्वारा ईश्वर को प्राप्त हुआ योगी सब कामनाओं, ममता एवं अहंकार को त्यागकर शुभ कर्म करता हुआ सदा शांति को प्राप्त होता है। अतः इस ऊपर कहे श्लोक ७२ में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि वह योग-साधना के फल को प्राप्त योगी ब्रह्म को प्राप्त हुआ योगी कभी मोहित नहीं होता और ब्रह्मानंद को प्राप्त हो जाता है। हम गहराई से गीता

के रहस्य को जानें कि योगेश्वर कृष्ण यहाँ वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास, दोनों का फल प्राप्त किए ब्रह्मलीन योगी के विषय में कह रहे हैं। और यह अवस्था अर्जुन की भी यहाँ नहीं है। अगर ऐसी अवस्था अर्जुन की होती तो वह मोह में ही क्यो फँसता? और कृष्ण महाराज को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं होती। यहाँ तक उपदेश सुनकर स्वयं अर्जुन भ्रमित बुद्धि वाला ही है, क्योंकि इससे अगले अध्याय तीन के पहले ही श्लोक में पुनः अर्जुन ने कर्म एवं ज्ञान इत्यादि के विषय में प्रश्न पूछने प्रारम्भ कर दिए हैं और तीसरे अध्याय के श्लोक २ में पुनः अर्जुन ने कह दिया है कि ज्ञान, कर्म योग आदि सब आपस में मिले हुए से वचनों से मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। अर्थात् मुझे अभी तक कुछ समझ नहीं आया। तब कई महात्मा पहले, दूसरे अथवा आगे के अध्यायों को सुनने के ऊँचे-ऊँचे लुभाने वाले फलों का प्रलोभन देकर गीता के यह शब्द सुना-सुनाकर पैसे इकट्ठे करते हैं और कहानियाँ आदि सुनाकर समय व्यर्थ करते हैं। इस पर गम्भीर चिंतन करने की आवश्यकता है। जिस प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन गुरु के आश्रम में सुदामा के साथ रहकर वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास करके योग सिद्धि एवं योगेश्वर पद प्राप्त किया। और उसके बाद ही उन्होंने अर्जुन अथवा पाण्डवों का अथवा अन्य को सत्य उपदेश किया। तब आज भी हम उस वैदिक पद्धति को आचरण में लाएं। केवल पढ़-सुन-रट कर बोलना तो केनोपनिषद् **श्लोक ४/८** में ब्रह्म-विद्या का अपमान कहा गया है। गीता सद्ग्रन्थ के इस दूसरे अध्याय के अन्तिम श्लोक का भाव ही यही है कि हे अर्जुन! वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त पुरुष ही ईश्वर का दर्शन करता है और कामनाओं, राग-द्वेष क्रोधादि सब विकारों से रहित स्थिति ही ब्रह्म-प्राप्ति वाले पुरुष की कही गई है।

द्वितीयः अध्यायः इति

तृतीयः अध्यायः

श्रीकृष्ण उवाच-

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन ।
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ।।

(गीता : ३/१)

(जनार्दन) के कृष्ण **(चेत्)** यदि **(ते)** आपको **(कमर्णः)** कर्मों की अपेक्षा **(बुद्धिः)** बुद्धि योग अर्थात् ज्ञान मार्ग **(ज्यायसी)** श्रेष्ठ **(मता)** मान्य है **(तत्)** तो **(केशव)** हे केशव! **(किम्)** क्यों **(माम्)** मुझे **(घोरे)** भयंकर **(कर्मणि)** युद्ध वाले कर्म में **(नियोजयसि)** लगाते हो?

अर्थ : हे कृष्ण यदि आपको कर्मों की अपेक्षा बुद्धि-योग अर्थात् ज्ञान-मार्ग श्रेष्ठ मान्य है तो केशव क्यों मुझे भयंकर युद्ध वाले कर्म में लगाते हो?

भावार्थ : पिछले दोनों अध्यायों में श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को धर्मयुद्ध करने की प्रेरणा दी जो कि क्षत्रिय का कर्त्तव्य-कर्म है। इसी में उन्होंने सकाम व निष्काम कर्म आदि का भी ज्ञान दिया। साथ ही साथ प्रकृति के तीनों गुण, परमेश्वर एवं जीवात्मा, इन तीनों के स्वरूप का ज्ञान भी दिया। शरीर को नाशवान एवं जीव को अविनाशी तत्त्व सिद्ध किया। बहुशाखा वाली चंचल बुद्धि एवं ब्रह्म में स्थित स्थिर बुद्धि के विषय में भी जानकारी दी। इन सब विद्याओं को सुनकर ही अर्जुन भ्रांति-युक्त होकर एवं ऊपर के श्लोक में प्रश्न कर रहा है कि हे कृष्ण शांति एवं मोक्ष पाने के लिए यदि योग समाधि प्राप्त करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है तब मुझे क्षत्रिय के कर्त्तव्य कर्म को समझाकर भयंकर युद्ध में क्यों लगाते हो? तब तो मुझे केवल ईश्वर प्राप्ति के लिए योग साधना एवं संन्यास आदि का ही ज्ञान दीजिए।

ऋग्वेद मंत्र ४/२४/४ का भाव है कि योगाभ्यास के बिना बुद्धि का विकास नहीं होता एवं **मनुस्मृति श्लोक ५/१०६** में कहा कि जैसे जल से शरीर शुद्ध होता है। सत्याचरण द्वारा मन शुद्ध होता है और इसी प्रकार ज्ञान प्राप्ति के द्वारा बुद्धि शुद्ध होती है। और शुद्ध ज्ञान-युक्त बुद्धि से ही धर्मयुक्त शुभ कर्म होते हैं। **ऋग्वेद १/१२१/१५** में इसलिए कहा कि मनुष्यों को चाहिए

कि उत्तम बुद्धि की प्राप्ति के लिए परमेश्वर की उपासना एवं प्रार्थना करें। वेदों में इसी तात्पर्य से गायत्री मंत्र की विशाल महिमा कही है। क्योंकि उसमें ईश्वर से बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश करने की प्रार्थना है। और ज्ञान-युक्त बुद्धि ही शुद्ध कर्म करती है। अतः ज्ञान के बिना कर्म व्यर्थ है। वेदाध्ययन द्वारा जड़-चेतन का ज्ञान, पृथिवी से लेकर परमेश्वर तथा सब पदार्थों का ज्ञान एवं शुभ तथा अशुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त करने पर ही मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। शुद्ध बुद्धि से ही धर्मयुक्त शुभ कर्म होते हैं। अतः संसार के किसी भी कर्म जैसे कृषि, पढ़ाई-लिखाई, गृहस्थ, ब्रह्मचर्य आदि समस्त कर्मों को करने से पहले उन कर्मों को करने का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। अन्यथा अज्ञानी पुरुष तो अशुभ एवं पापयुक्त कर्मों को ही शुभ कर्म मान बैठेगा अथवा अज्ञानवश धर्मायुक्त कर्मों का त्याग ही कर देगा। गीता के श्लोक में समस्या ही यही है कि अर्जुन की बुद्धि में प्रकृति, जीव और परमेश्वर से लेकर सब पदार्थ आदि का ज्ञान नहीं है। साथ ही साथ परिणामस्वरूप उसे अपने क्षत्रिय धर्म में कहे धर्मयुद्ध करने का भी ज्ञान नहीं है। श्रीकृष्ण ने पिछले पहले-दूसरे अध्याय में इसलिए अर्जुन को जीवात्मा, परमात्मा, प्रकृति, प्रकृति के तीनों गुण, संसार रचना, उसके पदार्थ, कर्मयोग, बुद्धियोग आदि समस्त विषयों का ज्ञान दिया है जिससे आगे चलकर अर्जुन की बुद्धि ज्ञान-युक्त तथा शुद्ध हुई और उसने अंत में अपने क्षत्रिय धर्म को स्वीकार कर किया। वेदों में एक शब्द **'त्रिषु'** आया है, जिसके कई अर्थों में एक अर्थ यह भी है कि ईश्वर ने चारों वेदों में **त्रिषु** अर्थात् तीन विद्याओं का ज्ञान दिया है। वह तीन विद्याएँ हैं-**ऋग्वेद में ज्ञानकाण्ड** अर्थात् संसार के समस्त पदार्थों का विशेष ज्ञान। दूसरी **यजुर्वेद** में कहा गया **कर्मकाण्ड** जिसमें संसार भर के समस्त कर्मों का उपदेश है। और **सामवेद मंत्र १७६** में स्पष्ट कहा है कि **'मंत्र श्रुत्यं चरामसि'** अर्थात् मानव केवल वेदों में कहे शुभ कर्म ही करे, ऐसा उपदेश है। स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने गीता श्लोक ३/१५ में कहा है कि हे अर्जुन वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं और कर्म की उत्पत्ति वेदों से है। तीसरा **सामवेद** में कहा **उपासना-काण्ड** अर्थात् पूजा-पाठ, यज्ञ-योगाभ्यास की वास्तविक विधि सामवेद में ही कही गई है। **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में इस सत्य को इस प्रकार दर्शाया है-**'अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्**

दुदोह' अर्थात् अग्नि, वायु अंगिरा, आदित्य इन चारों ऋषियों ने वेदों में कही **'त्रयं'** अर्थात् तीन विद्याओं (ज्ञान, कर्म एवं उपासना) को चारों वेदों से दोह लिया-प्राप्त कर लिया। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने भी महाभारत जैसे भयंकर धर्म-युद्ध को कराने के लिए अर्जुन की बुद्धि में प्रथम ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विषयों का प्रकाश करना प्रारम्भ किया। अन्यथा अर्जुन तो गाण्डीव-धनुष छोड़कर रथ के पिछले हिस्से में जा बैठा था और युद्ध न करने का निश्चय कर लिया था । यह धर्म-युद्ध न करना उसके लिए अधर्म युक्त कर्म था। उसकी बुद्धि से यह अज्ञान निकालने के लिए ही श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वेदों में ऊपर कही तीनों विद्याओं का उपदेश दिया है, जो आज समस्त संसार के लिए कल्याणकारी हैं। क्योंकि जैसा ऊपर कहा कि बिना ज्ञान के शुभ कर्म सम्भव नहीं है अन्यथा प्रश्न तो केवल युद्ध का है परन्तु ज्ञान के बिना शुद्ध अथवा कोई भी कर्म ठीक प्रकार से किया जा नहीं सकता। परन्तु ज्ञान के स्वरूप को न जानने के कारण अभी भी भ्रमित बुद्धि युक्त अर्जुन इस श्लोक में प्रश्न कर रहा है कि हे कृष्ण यदि कर्मयोग की अपेक्षा बुद्धि-योग (ज्ञान) अधिक श्रेष्ठ है तब मुझे भयंकर युद्ध रूपी कर्म में क्यों फंसाते हो? ज्ञान न होने से अर्जुन यहाँ भी युद्ध में न फंसने की बात को ही महत्त्व दे रहा है। आज भी विश्व को किसी भी प्रकार के कर्म करने से पहले ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को समझना परमावश्यक है। यही वेद, शास्त्र, गीता का सन्देश है।

अर्जुन उवाच-

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे ।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ।।

(गीता : ३/२)

हे कृष्ण आप **(व्यामिश्रेण)** मिले जुले **(इव)** जैसे **(वाक्येन)** वचनों द्वारा **(मे)** मेरी **(बुद्धिम्)** बुद्धि को **(मोहयसि इव)** मोह में फँसी हुई सी करते हो अतः **(निश्चित्य)** निश्चय करके **(तत्)** उस **(एकम्)** एक बात को **(वद)** कहो **(येन)** जिससे **(अहम्)** मैं **(श्रेयः)** कल्याण को **(आप्नुयाम्)** प्राप्त कर सकूँ।

अर्थ : हे कृष्ण आप मिले-जुले जैसे वचनों द्वारा मेरी बुद्धि को मोह में फँसी हुई सी करते हो अतः निश्चय करके उस एक बात को कहो जिससे मैं कल्याण को प्राप्त कर सकूँ।

भावार्थ : अर्जुन को चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन वैदिक विद्याओं की मिली-जुली बातें सुनकर मन में भ्रम उत्पन्न हो रहा है कि प्रश्न तो महाभारत युद्ध का है, परन्तु श्री कृष्ण महाराज कभी ज्ञान, कभी कर्म तो कभी उपासना-योग की बात कर रहे हैं। अतः अर्जुन श्रीकृष्ण को इस श्लोक में **'एकम् निश्चित्य वद'** केवल एक बात कह, ऐसा कह रहें हैं। यह बड़ी मार्मिक बात है। आज हम देखते हैं कि कोई कहता है कि घर में अच्छे कर्म करो, कोई कहता है पूजा-पाठ करो, कोई कहता है वेद शास्त्र गीता आदि पढ़कर ज्ञानमार्ग से मुक्ति प्राप्त करो। परन्तु वेद एवं गीता-ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विषय को एक-साथ कह रहे हैं।

सामवेद मंत्र ३६ में मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना करता है कि हे पूजनीय परमात्मा **'एकया नः पाहि'** ऋग्वेद के उपदेश से हमारी रक्षा करो **'द्वितीयया** पाहि' यजुर्वेद की वाणी से रक्षा करो **'तिसृभिः पाहिः'** चारों वेदों की वाणी से हमारी रक्षा करो। जैसे महाभारत में कहा **'धर्मं रक्षति'** धर्म हमारी रक्षा करता है। **मनुस्मृति श्लोक २/६** ने कहा **'वेदः अखिलः धर्ममूलम्'** चारों वेदों से ही धर्म अर्थात् कर्त्तव्य-कर्म निकले हैं। **वैशेषिक शास्त्र १/२** में कहा-**'यतोभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः'** अर्थात् जिन कर्मों को करने से इस लोक एवं मरने के बाद दूसरे जन्म में रक्षा हो, अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि हो उसे धर्म कहते हैं। अतः धर्म का अर्थ वेदों में कहे कर्त्तव्य कर्म हैं, मनुष्य के द्वारा बनाए मज़हब नहीं है। अतः ऊपर के **सामवेद मंत्र ३६** का सारांश है कि चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना विद्या हमारी रक्षा करती है। केवल कर्म या ज्ञान या उपासना व्यर्थ है, परम्परागत नहीं है। आज प्रायः संतजन वेद के प्रमाण के विरुद्ध ही अधिक बातें करते हैं। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/४५** में विद्वान् और अविद्वान् अर्थात् सच्चे गुरु एवं अज्ञानी गुरु के विषय में यही अन्तर कहा है कि सच्चा गुरु, वेद, योग विद्या, आख्यात् (क्रियावाची शब्द), नाम (संज्ञा) निपात एवं उपसर्ग, इन सबका ज्ञाता होता है।

जबकि अज्ञानियों को इस परम्परागत सत्य विद्या का ज्ञान जरा सा भी नहीं होता। अज्ञानी गुरु प्रायः इन सब विद्याओं की किसी न किसी प्रकार से निंदा करके अपना उल्लू सीधा करता रहता है। अतः तुलसीदास जी ने सत्य ही कहा है:-

बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।
(उत्तरकाण्ड दो ९७ (ख) की अगली चौपाई)

अर्थात् कलियुग में वर्ण, धर्म नहीं रहता और न चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास) आश्रम रहते हैं। ब्राह्मण स्वार्थवश वेदों को बेचने वाले होते हैं। राजा प्रजा को खा डालने वाले होते हैं। वेद की आज्ञा, अग्निहोत्र, यज्ञ, योग आदि कोई नहीं मानता।

अर्थात् वर्तमान में प्रायः ब्रह्मण ने वेदों का स्वाध्याय, अनुष्ठान एवं यज्ञ इत्यादि त्याग दिये हैं। और नेता लोग प्रजा को 'कर' इत्यादि लगाकर तथा न्याय न दिलाकर खा रहे हैं। और भी इनके विषय में कहा जाए वह कम ही है। अतः सत्य एवं धर्म-कर्त्तव्य कर्म को ठीक-ठाक समझने के लिए वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जानना परम आवश्यक है। जिसके अभाव में आज सम्पूर्ण संसार, पूजा पाठ करके भी दुख, चिंता, रोग, अकाल, मृत्यु, भ्रष्टाचार, चोर बाजारी, धार्मिक घृणा, नारी-अपमान, बेकार के युद्ध इत्यादि अनेक जटिल समस्याओं में उलझा हुआ है। अतः इन्हीं तीनों विद्याओं का एक साथ ज्ञान सम्पूर्ण भगवद् गीता में अर्जुन को श्रीकृष्ण महाराज ने दिया है। अर्जुन से कराना तो युद्ध ही है, परन्तु तीनों विद्याओं को दिए बिना धर्मयुद्ध का महत्व अर्जुन तो क्या कोई भी नहीं समझ सकता। एवं अर्जुन इस श्लोक में विचलित सा हुआ कह रहा है कि मुझे केवल एक मार्ग का ही ज्ञान दो। या तो मैं कर्मयोग का ज्ञान लेकर के युद्ध करूँ अथवा ज्ञान के साथ उपासना एवं ईश्वर के स्वरुप इत्यादि को समझकर मोक्ष प्राप्त करूँ, फिर भयंकर युद्ध जैसे कर्म करने की क्या आवश्यकता है। परन्तु तीनों विद्याओ के बिना केवल कर्म अथवा केवल ज्ञान अथवा केवल उपासना सर्वदा व्यर्थ है। यह भी आश्चर्य ही है कि प्रायः गीता सुनाने वाले कोई-काई केवल

कर्म को उत्तम मानते हैं। कोई केवल ज्ञान को, कर्म और उपासना को नहीं और कोई केवल उपासना (भक्ति) को उत्तम मानते हैं और कर्म एवं ज्ञान को त्याग देते हैं। ऐसा करने का फल ही है कि हमारे देश में पुरुषार्थ सहित वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास प्रायः लुप्त होता जा रहा है और आडम्बर, मिथ्यावाद वा अंधविश्वास बढ़ता जा रहा है। एक साधु ने तो पुरुषार्थ हीनता सहित अविद्या फैलाने के लिए यहाँ तक कह डाला कि संस्कृत, गीता इत्यादि सुनाना कोई खास बात नहीं है। एक अनपढ़ चेले ने अपने सामने उल्टी गीता रखी हुई थी। किसी साधु ने पूछा कि क्या कह रहा है। उस अनपढ़ ने कहा गीता पढ़ रहा हूँ। साधु बोला तू अनपढ़ है तो गीता में क्या पढ़ा? चेला बोला बस मैं इतना जानता हूँ। कि भगवान अपने चेले अर्जुन को ज्ञान दे रहे हैं। आगे कुछ नहीं जानता। साधु बड़ा प्रसन्न हुआ और बोला तूने सच-सच में सच्ची गीता का अध्ययन किया है। तो यह सब स्पष्टतः विद्वानों का अनादर एवं अविद्या को बढ़ावा देना है। ऐसे तो चारों वेद भी ईश्वर ने हमें दिए हैं। अब यदि व्यास मुनि, वसिष्ठ गुरु, श्री राम आदि असंख्य महापुरुष ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि न करते और अनपढ़ रहकर केवल इतना ही रट-रट कर खुश हो जाते है कि चारों वेदों का ज्ञान हमें भगवान ने दे दिया है तो वे महान कैसे बन सकते हैं। अतः केवल वेदों का ज्ञाता ही जानता है कि ऊपर श्लोक में मिले-जुले वचन नहीं अपितु वेदों में कही तीनों विद्या हैं।

श्रीकृष्ण उवाच-

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।।

(गीता : ३/३)

(अनघ) हे निष्पाप अर्जुन **(अस्मिन्)** इस **(लोके)** लोक में **(द्विविधा)** दो प्रकार की **(निष्ठा)** साधन की अवस्थाएँ **(मया)** मेरे द्वारा **(पुरा)** पूर्वकाल में **(प्रोक्ता)** कही गई हैं **(सांख्यानाम्)** सांख्य दृष्टि रखने वालों की **(ज्ञानयोगेन)** ज्ञान-मार्ग से तथा **(योगिनाम्)** योगियों की **(कर्मयोगेन)** कर्मयोग से।

अर्थ : हे निष्पाप अर्जुन इस लोक में दो प्रकार की साधन की अवस्थाएँ मेरे

द्वारा पूर्वकाल में कही गई हैं-सांख्य दृष्टि रखने वालों की ज्ञानमार्ग से तथा योगियों की कर्म योग से।

भावार्थ : अथर्ववेद मंत्र ४/१/१ में कहा है **'वेन पुरस्तात् जज्ञानम् प्रथमं वि आवः' 'वेन'** का अर्थ निरन्तर प्रयत्न करने वाला ज्ञानी, उपासक, **'पुरस्तात्'** का अर्थ है 'सृष्टि के आरम्भ में' 'जज्ञानं' का अर्थ है उत्पन्न होने वाले **'प्रथमं'** सर्वप्रथम वेद ज्ञान को **'वि आवः'** अपने हृदय में प्रकट करता है। इस गीता श्लोक में कहा **'पुरा'** शब्द का अर्थ भी **'सृष्टि के आरम्भ में'** ऐसा अर्थ है। वेदों में **'पुरस्तात्** व **'पुरा'** शब्द कई जगह आया है, जिसका अर्थ सृष्टि के आरम्भ में' कहा है और यही अर्थ **'पुरा'** शब्द का भी है। अतः ऊपर कहे **अथर्ववेद मंत्र** में भी **'पुरस्तात्'** शब्द से सृष्टि के आरम्भ का तात्पर्य है। स्वयं श्री कृष्ण महाराज भी **गीता श्लोक ४/१** में कहते हैं कि अविनाशी योग-विद्या का ज्ञान मैंने सृष्टि के आरम्भ में सूर्य के प्रति कहा था। **ऋग्वेद मंत्र १०/१८१/१** में स्पष्ट कहा गया है कि विद्वान् ऋषि ब्रह्मा ने मंत्रद्रष्टा अग्नि, वायु, आदित्य एवं अंगिरा ऋषि से वेद वाणी का अध्ययन किया है। **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में भी मनु भगवान ने कहा है कि जिस परमात्मा ने जगत रचना में मनुष्यों को उत्पन्न करके अग्नि, वायु, रवि (सूर्य) और अंगिरा इन चारों महर्षियों के हृदय में वेद प्रकट किए और इन चारों महर्षियों से ब्रह्मा नामक ऋषि ने चारों वेदों का अध्ययन किया, हम उसी परमात्मा की उपासना करें। मनु भगवान ने कहा कि ब्रह्मा जी ने इन चार ऋषियों से वेद-विद्या सीखकर फिर आगे वेद का प्रचार किया। यह सब सत्य इतिहास कहने का तात्पर्य यह है कि ऊपर गीता श्लोक ३ में कहा **'पुराः'** शब्द का भाव सृष्टि के आरम्भ में कही वेद-विद्या से ही है। स्वयं श्रीकृष्ण महाराज **गीता श्लोक १३/४** में कह रहे हैं कि प्रकृति रचित शरीर और इसमें रहने वाली जीवात्मा इत्यादि के विषय में पहले ही ऋषियों द्वारा एवं मंत्रों द्वारा यह ज्ञान कहा गया है। अर्थात् हे अर्जुन! मैं यह जो ज्ञान तुझे दे रहा हूँ, यह अनादिकाल से ईश्वर द्वारा वेदों में कहा हुआ ज्ञान है। अतः श्रीकृष्ण महाराज के मुख से निकला वेदों का ज्ञान व्यास-मुनि ने महाभारत ग्रंथ में लिखा था। इस वैदिक ज्ञान को पुस्तक के रूप में छापकर इस पवित्र पुस्तक

का नाम किसी विद्वान के द्वारा भगवद्गीता रखा गया है। अन्यथा गीता के यह **१८ अध्याय** तो महाभारत के भीष्म पर्व में हैं। चिंतन-मनन द्वारा हमें यह भी समझना होगा कि गीता में गीता का ज्ञान न होकर गीता ग्रंथ में वेदों का ज्ञान है। और इस चारों वेदों के ज्ञान को श्रीकृष्ण महाराज ने अपने सुदामा सखा के साथ संदीपन गुरु के आश्रम में प्राप्त किया था। अतः हम गीता को वैदिक दृष्टि से देखें परन्तु मजहब की दृष्टि से कभी न देखें। क्योंकि गीता काल में मज़हबों का उदय नहीं हुआ था। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट होता है कि अग्नि आदि ऋषियों को यह वेदों का ज्ञान सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर से प्राप्त हुआ था और उसके पश्चात् ब्रह्मा ने इन चारों ऋषियों से सीखा और गुरु परम्परा से आज तक यह सृष्टि पर चला आ रहा है। यही पुरातन, सनातन, अविनाशी एवं परम्परागत ज्ञान विवस्वान (सूर्य) को और सूर्य ने मनु को और मनु ने इक्ष्वाकु राजा को कहा था। अतः जितने भी पिछले तीनो युगों क्षत्रिय वंशीय राजा हुए उन सबको चारों वेदों का ज्ञान और उसमें कही ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों विद्याओं का ज्ञान था। **यजुर्वेद मंत्र ६/२४, २५** में उसे ही राजा कहा है, जो चारों वेदों का ज्ञान जानता है, परन्तु आज ऐसा नहीं है। अतः इससे सिद्ध है कि गीता में कहा ज्ञान सनातन वैदिक ज्ञान है। अतः वेद-विद्या से विहीन कोई संत अथवा प्राणी इसके रहस्य को नहीं जान सकता। उसी वैदिक परम्परागत विद्या का व्याख्यान करते हुए श्रीकृष्ण महाराज यहाँ सांख्य एवं कर्मयोग इन दोनों के विषय में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह दो प्रकार की निष्ठा-साधन मार्ग मेरे द्वारा कोई नया नहीं कहा गया है। यह वेदों में वर्णित ऋषियों द्वारा कहा और इस सृष्टि में विवस्वान (सूर्य) आदि राजाओं को कहा **'पुरा'** अर्थात् सनातन्, पुरातन एवं अविनाशी ज्ञान है। अर्जुन को शंका है कि मिली-जुली बातों से उसे बार-बार क्यों मोहित किया जा रहा है। अर्थात् या तो श्रीकृष्ण उसे कहें कि सांख्य योग अर्थात् संन्यास धारण करके योग-साधना आदि ज्ञान द्वारा ब्रह्मलीन हो जा अथवा कर्म योग को समझकर धर्मयुद्ध कर। **गीता श्लोक २/४६** में श्रीकृष्ण महाराज ने बुद्धि योग का उपदेश किया है जिसका अर्थ कर्मयोग अथवा निष्काम कर्म करना है। वह वेदोक्त, शुभ कर्म जिसके फल की इच्छा न हो वह कर्म योग कहा गया है, और क्षत्रिय का धर्म वैसे भी युद्ध करना है, तो

अर्जुन को शंका है कि कहीं तो उसे श्रीकृष्ण जीवात्मा की अमरता, प्रकृति गुण, आदि का ज्ञान (ज्ञान काण्ड) समझा रहे हैं तो कभी सांख्य योग और कर्म योग का ज्ञान दे रहे हैं। श्रीकृष्ण एक बात अपनाने को क्यों नहीं कहते। इसी शंका समाधान हेतु श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि ज्ञान, कर्म और उपासना, यह चारों वेदों में कही तीनों विद्याएँ अनादि काल से चली आ रही हैं। हम यहाँ पुनः समझने का प्रयत्न करें कि प्रश्न तो केवल अर्जुन को युद्ध से जोड़ने का है। परन्तु ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों के विषयों को समझे बिना कोई भी प्राणी शुभ कर्म के स्वरूप और उसको आचरण में लाने का प्रयत्न नहीं कर सकता। अन्यथा योगेश्वर श्रीकृष्ण गीता में केवल युद्ध-युद्ध की ही बात करते, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, इन्द्रियाँ, ब्रह्मचर्य, मन की चंचलता इत्यादि वेदों में कहे अनेक विषयों का व्याख्यान कदापि न करते। अतः आज भी हमें गृहस्थी, नेता, विद्यार्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी, कृषक, व्यवसाय करने वाले अथवा किसी भी क्षेत्र से जुड़े हों, हमें शुभ कर्म करने के लिए वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को समझने की आवश्यकता है, तभी हृदय में शांति एवं सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण संभव होगा। मनघढ़न्त भक्ति हमें नाश की तरफ ले जाएगी। अतः हम वेदों की परम्पराओं का उल्लंघन कदापि न करें। यही गीता का सनातन एवं शाश्वत वैदिक सन्देश है।

श्रीकृष्ण उवाच-

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यम् पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति ।।

(गीता : ३/४)

(पुरुषः) मनुष्य **(न)** न **(कर्मणाम्)** कर्मों के **(अनारम्भात्)** आरम्भ किए बिना **(नैष्कर्म्यम्)** निष्कर्मता को **(अश्नुते)** प्राप्त होता है **(च)** और **(न)** न **(संन्यसनात्)** कर्मों के त्यागने से **(एव)** ही **(सिद्धिम्)** सिद्धि को **(समधिगच्छति)** प्राप्त होता है

अर्थ : मनुष्य न कर्मों के आरम्भ किए बिना निष्कर्मता को प्राप्त होता है और न कर्मों के त्यागने से ही सिद्धि को प्राप्त होता है।

भावार्थ : पिछले श्लोक ३/२ में अर्जुन ने शंका जताई है कि कभी तो कृष्ण महाराज सांख्य अर्थात् संन्यास लेकर **'सर्वान कामान् विहाय'** (श्लोक २/७१) अर्थात् सब सांसारिक कामनाएं कर्मों को त्याग कर ज्ञान-मार्ग से ब्रह्मलीन हो जाएं और युद्ध कर्म अथवा किसी कर्म को करने की आवश्यकता ही नहीं है। अथवा कभी कहते हैं कि कर्त्तव्य कर्म को करके शान्ति को प्राप्त करें। अतः अर्जुन चाहता है कि केवल एक मार्ग पर चलने का उपदेश करें। उत्तर में यहाँ श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि मनुष्य यदि कर्मफल त्यागकर वेदोक्त शुभ कर्म नहीं करेगा तब तक निष्काम कर्म की सिद्धि नहीं पा सकेगा। बात गम्भीर है कि परमानन्द तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक जीव के शुभ-अशुभ कर्मों का नाश न हो जाए। शुभ कर्म भी यदि शेष है तब भी जीव को जन्म लेकर अर्थात् शरीर धारण करके उन शुभ कर्मों का भोग भोगने पृथिवी पर आना ही पड़ेगा जो कि स्वयं एक कर्मबन्धन है। एवं श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक १३/८** में इस जन्म-मृत्यु को दोष कहा है। **योग-शास्त्र सूत्र २/९** में पाता जलि ऋषि ने भी बार-बार की मृत्यु को भयंकर कष्टदायक क्लेश कहा है। तुलसीदास जी ने भी कहा है : **'बड़े भाग मानुष तनु पावा'** अर्थात् पूर्वजन्म के शुभ कर्मों से भाग्यशाली को मनुष्य का शरीर प्राप्त होता है। फिर कहा-**'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'** अर्थात् जिसमें साधन विशेष द्वारा सुख शांति एवं मोक्ष प्राप्त होता है और यदि हम कर्म ही न करेंगे साधन ही नहीं करेंगे तो सुख शांति कहाँ?

अतः जीवात्मा द्वारा मानव शरीर धारण करने का मुख्य लक्ष्य तो मोक्ष प्राप्ति ही कही गई है जो आज मानव झूठे संसारी झगड़े मोह एवं चमक-दमक में फंसकर अपने लक्ष्य को भूल गया है। इसी मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य को समझाते हुए कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि कर्त्तव्य कर्म त्यागकर कर्मों के फल से बचा नहीं जा सकता। कर्त्तव्य-कर्म न करने पर जीव कर्त्तव्य न निभाने के पाप में फंस जाता है। और पुनः यह पाप कर्म दुःख के रूप में भोगना पड़ता है। अतः कर्म त्यागकर कर्मफल भोगने से कोई बच नहीं सकता। इसी सत्य को इस श्लोक में इस प्रकार कहा-(कर्मणाम् अनारम्भात्) शुभ कर्मों के न करने से कोई भी (नैष्कर्म्यम् न अश्नुते) अर्थात् निष्कर्मता को प्राप्त नहीं कर

सकता। निष्कर्मता अर्थात् कर्म करें और कर्म फल न दे ऐसा नहीं हो सकता। अतः संयासी भी सब कर्त्तव्य-कर्म करके ही सन्यास लेता है, परन्तु योगाभ्यास, विद्यादान आदि एंव सम्पूर्ण मानव-जाति के कल्याण के लिए कर्म करता ही रहता है। सच्चे वैदिक ज्ञान से परिपूर्ण सन्यासी अपना कर्त्तव्य निभाता हुआ सम्पूर्ण मानव समाज को अपना परिवार मानता है। परन्तु कई सन्त-संन्यासी कहते हैं कि हमारा अब कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा। दूसरा ज्ञान इस श्लोक में यह है कि कर्त्तव्य-कर्मों के त्यागने पर सुख शांति एवं मोक्ष की सिद्धि कभी नही होती। **अथर्ववेद मंत्र १९/४१/१** स्पष्ट कहता है कि ऋषियों ने तप किया एवं सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण किया। हमारे पूर्व के अथवा नूतन ऋषियों ने कभी नहीं कहा है कि संसार छोड़ो, कर्म छोड़ो एवं केवल भगवान का नाम जपो। यज धातु से कर्म एवं देवपूजा में माता-पिता, अतिथि, आचार्य एवं परमेश्वर इन पाँच चेतन देवों की पूजा अर्थात् इनका आदर मान सम्मान रूपी शुभ कर्म करने को कहा है। संगतिकरण मे वैदिक आचार्य की धन, अन्न, वस्त्र, तन, मन, प्राण से भी सेवा करके उसे तृप्त करके विद्या प्राप्त करने को कहा है। दान में **यजुर्वेद मंत्र १८/५७** के अनुसार ऋषि मुनि यज्ञनीय पुरुषों को अर्थात् सुपात्र को दान देना कहा है। चारों वेद ईश्वरीय ज्ञान है। यह ऋषि-मुनियों द्वारा दिया ज्ञान, नहीं है अपितु ऋषि मुनियों ने वेदों से ज्ञान प्राप्त करके यज्ञ, योगाभ्यास एवं कर्म आदि का ज्ञान समाज को दिया है। इस प्रकार हम समझने का प्रयत्न करें कि संपूर्ण यजुर्वेद में विशेष कर गहन अवस्था से ईश्वर ने विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी एवं संन्यासी तथा सम्पूर्ण मानव जाति को शुभ कर्मों को करने का उपदेश दिया है।

अतः कर्मों का त्याग तो किसी भी अवस्था में नहीं हो सकता और प्राणी किसी भी क्षण कर्म किए बगैर रह भी नहीं सकता। अतः **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** में कहा **"कोऽदात्कस्मा अदात्कामोऽदात्कामायादात्। कामो दाता कामः प्रतिग्रहीता कामैतत्ते"**।। इस जगत में कर्म करने वाला जीव और फल देने वाला ईश्वर है, ऐसा समझें। कामना के बिना कोई चक्षु का निभेष (मींचना) उन्मेष (खोलना) भी नहीं कर सकता। अतः सब मनुष्य विचारपूर्वक धर्म की ही कामना करें, अधर्म की नहीं। यह ईश्वर की आज्ञा है। अर्थात् जीवात्मा

शरीर धारण करके कर्म करता है और परमात्मा किए हुए कर्मों का फल देता है। यह वैदिक ईश्वरीय नियम है जो कभी भी भंग नहीं किया जा सकता।

अतः साधु संत संन्यासी एवं सभी प्राणियों को अपने-अपने क्षेत्र में रहते हुए सदा शुभ कर्म करते रहना ही उनका कर्त्तव्य है जिसके त्यागने पर श्रीकृष्ण यहाँ तक कह रहे हैं कि **'मोक्ष सिद्धि सम्भव नहीं है'**। यजुर्वेद के प्रथम अध्याय के पहले ही मंत्र में कहा कि विश्व का सर्वोत्तम कर्म यज्ञ है और अंतिम अध्याय में समझाया-**'कुर्वन्नेवेह कर्माणि'** अर्थात् मनुष्य इस लोक में सदा शुभ कर्म करेंगे तभी पिछले कर्मों का भी नाश होगा और वर्तमान के लिए किए हुए कर्म का भी फल हमें नहीं भोगना पड़ेगा। अतः गीता में कहा वैदिक ज्ञान यही है कि सब प्राणी वेदाध्ययन द्वारा शुभ कर्मों का बोध प्राप्त करें एवं शुभ कर्म करते रहें।

श्रीकृष्ण उवाच-

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ।।

(गीता : ३/५)

(ही) निश्चर्य ही **(कश्चित्)** कोई भी प्राणी **(जातु)** कदाचित् **(क्षणम्)** एक क्षण **(अपि)** भी **(अकर्मकृत)** कर्म किए बिना **(न)** नहीं **(तिष्ठति)** रहता है। **(हि)** क्योंकि **(सर्वः)** सब **(प्रकृतिजैः)** प्रकृति से उत्पन्न **(गुणैः)** गुणों के द्वारा **(अवशः)** विवश होकर **(कर्म)** कर्म **(कार्यते)** कराया जाता है। अर्थात् मनुष्य प्रकृति के रज, तम, सत्त्व गुणों के आधीन होकर कर्म अवश्य करता है।

अर्थ : निश्चय ही कोई प्राणी कदाचित् एक क्षण भी कर्म किए बिना नहीं रहता है। क्योंकि प्रकृति से उत्पन्न गुणों के द्वारा विवश होकर कर्म कराया जाता है। अर्थात् मनुष्य प्रकृति के रज, तम, सत्त्व गुणों के आधीन होकर कर्म अवश्य करता है।

भावार्थ : पुनः श्रीकृष्ण महाराज कर्म करने के विषय में उपदेश देते हैं कि कोई भी प्राणी क्षण मात्र भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता। खाना, पीना, सोना, हँसना, रोना एवं यजुर्वेद में कहा **'यज्ञम् कुरु'** यज्ञ करो, माता-पिता

वृद्धों की सेवा करो, विवाह, सन्तान प्राप्ति इत्यादि असंख्य शुभ कर्म करने योग्य हैं, इन्हें कौन त्याग सकता है? मनुस्मृति कहती है कि बिना कामना किए तो वेदाध्ययन और वेद-विहित उत्तम कर्म कोई भी नहीं कर सकता। तब आज के सन्त भी रामायण, गीता और कथा रट-रट कर कैसे बोल सकते हैं। जो मनुष्य कर्म त्याग की बात करता है तो वह अपने नेत्रों को खोलना और बंद करना रूपी कार्य भी नहीं कर सकता। जीवात्मा में चेष्टा एवं कामना प्रकृति के तीन गुणों से स्वयं होती है। जिसके अभाव में कोई भी प्राणी कुछ भी नहीं कर सकता। रज, तम एवं सत्त्व गुणों में फँसा प्राणी क्रमशः विषय-विकार, आलस्य, निद्रा एवं अहंकार के प्रभाव से कर्म करता है। और योगी लोग इन तीनों गुणों से ऊपर उठने के लिए वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करते हैं। अगर कर्मों का त्याग कर दिया जाए तब भी प्राणी शुभ कर्म न करने के कारण कर्म न करने का पाप कर्म तो करेगा ही। अतः किसी भी अवस्था में कर्म का त्याग असंभव है। **तैत्तिरियोपनिषद् वल्ली १ अनुवाक ११** में वेदों का ज्ञाता आचार्य अपने आश्रम में रहने वाले शिष्यों को उपदेश करता है कि सत्य बोलो, धर्म का आचरण करो, वेदों के स्वाध्याय में कभी आलस्य मत करो, आचार्य के लिए दक्षिणा के रूप में धन दो (आज प्रायः सन्त धन तो ठग लेते है और अमीर बन जाते है और उपदेश करते हैं कि केवल ज्ञान से मुक्ति है, कर्म मत करो तो फिर उन्हें दक्षिणा रूपी धन भी नहीं लेना चाहिए क्योंकि कर्म में तो यह मुक्ति कहते ही नहीं है) और धन दान करना भी कर्म है। यह सब शिक्षा देकर आचार्य गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने की आज्ञा देते हैं। और कहते हैं कि माता-पिता, आचार्य, अतिथि की सेवा और जो-जो शुभ कर्म वेदों में कहे हैं उन कर्मों को करो। अतः यदि हम कर्मों के त्याग की बात करेंगे तो महापापी हो जाएंगे। **केनोपनिषद्** का ऋषि खण्ड ४ में स्पष्ट कहता है **'तपः दमः कर्म इति प्रतिष्ठा'** अर्थात् ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति के लिए तपस्या, मन आदि इन्द्रियों को दमन एवं कर्त्तव्य-कर्म करना, यह तीन आधार हैं एवं **'वेदाः सर्वांगनि'** वेद में इन सबका वर्णन है। अतः कर्म त्याग महान पाप है। हमें सदा वेदोक्त शुभ कर्त्तव्य-कर्म करके परिवार समाज एवं राष्ट्र का भविष्य उज्जवल करना होगा। श्रीकृष्ण द्वारा कर्त्तव्य-कर्म के विषय में कही इसी वैदिक प्रेरणा को पाकर अर्जुन धर्म युद्ध

करके अमर हो गया है। अतः हमें वेद-शास्त्रों की प्रमाणिक विद्या का अनुसरण करके सत्य को प्रतिष्ठित करके अधिकतर आधुनिक सन्तों की चिकनी-चुपड़ी अप्रमाणिक बातों द्वारा जीवन को नष्ट नहीं करना चाहिए।

श्रीकृष्ण उवाच-

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थन्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ।।

(गीता : ३/६)

(यः) जो **(विमूढात्मा)** मूढ़ बुद्धि वाला पुरुष **(कर्मेन्द्रियाणि)** कर्मेन्द्रियों को हठ से **(संयम्य)** रोककर **(इन्द्रियार्थान)** इन्द्रियों के विषयों को **(मनसा)** मन द्वारा **(स्मरन्)** चिन्तन करता **(आस्ते)** रहता है तो **(सः)** वह पुरुष **(मिथ्याचारः)** मिथ्या आचार वाला **(उच्यते)** कहा जाता है।

अर्थ : जो मूढ बुद्धि वाला पुरुष कर्मेन्द्रियों को हठ से रोककर इन्द्रियों के विषयो को मन द्वारा चिन्तन करता रहता है तो वह पुरुष मिथ्या आचार वाला कहा जाता है।

भावार्थ : जड़ प्रकृति के रज, तम, सत्त्व इन तीनों गुणों से ही बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त की उत्पत्ति हुई है। रजो गुण, मोह, सतोगुण अहंकार और तमो गुण आलस्य प्रधान हैं, अतः साधना रहित पुरुष के मन, बुद्धि चित्त अहंकार में यह तीनों ही विकार समाए रहते हैं। ऐसी अवस्था में चित्त तीन अवस्थाओं वाला कहा गया है। योग शास्त्र सूत्र **'अथ योगानुशासनम्'** की व्याख्या में व्यास मुनि ने कहा है कि समाधि सब अवस्थाओं में चित्त का गुण है अर्थात् चित्त की पाँच अवस्थाएं हैं-क्षिप्त, विक्षिप्त, मूढ़, एकाग्र एवं निरुद्ध। रजो, तमो एवं सतो गुण में भटकते हुए चित्त की क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त अवस्था संसारी विषयों में भटकने, कर्त्तव्यों का ज्ञान न होने एवं कामनाओं में विघ्न होने पर क्रोधादि विक्षेप वाली अवस्थाएं कही गई हैं। और जब चित्त संसारी विषयों से रोक कर एक विषय अर्थात् सत्य में लगा दिया जाता है तो यह चित्त की एकाग्र अवस्था ही ईश्वर का ज्ञान सुनने, समझने एवं योग-विद्या को प्राप्त करने वाली अवस्था होती है। अतः आज के प्रायः

बड़े-बड़े सजे पांडालों में नाचना, हँसना ही सब मुख्यतः संसारी विषयों में लीन हुए चित्त की संसारी सुख प्राप्ति वाली स्थिति है। जिसमें सृष्टि रचयिता ब्रह्म अथवा योग-विद्या का ज्ञान होना सम्भव नहीं। यही सब कुछ इस श्लोक में कहे 'विमूढ़' पुरुष वाले चित्त की मूढ़ अवस्था कही गई है, कि हे अर्जुन! ऐसे विमूढ़ चित्त वाले पुरुष द्वारा यदि कुछ पढ़, सुन, रटकर कर्म इन्द्रियों को बुराई की ओर जाने से जबरदस्ती रोका भी जाता है तो, ऐसा पुरुष अवश्य ही अपने मन में उन विषय-विकारों को सदा चिंतन करता रहता है। और समय आने पर पाप कर्मों में अवश्य लिप्त होता है। अतः हे अर्जुन! वह पुरुष **'मिथ्याचारः उच्यते'** अर्थात् मिथ्याचारी है, ढोंगी है। उसके मन में दुराचार, विषय-विकार, बुरे-विचार, मोह-ममता इत्यादि भरे रहते हैं और ऊपर से वस्त्र, झूठी वाणियों द्वारा साधु का चोला पहने रहता है। अथवा प्रायः विमूढ़-आत्मा प्राणी पूजा-पाठ का ढोंग रचकर भ्रष्टाचार, स्वार्थ, नारी अपमान एवं देशद्रोह तस्करी एवं देश-द्रोह जैसे कुकर्म करते रहते हैं। वास्तव में ईश्वर द्वारा उत्पन्न चारों वेदों में कहे यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा ही मनुष्य की इन्द्रियाँ विषय-विकारों का त्याग करने में समर्थ होती है। जैसा कि **सामवेद मंत्र ३७६** में कहा कि हे मनुष्यों वेद मंत्रों द्वारा जानने योग्य परमात्मा को वेद वाणियों से प्रसन्न करो। फलस्वरूप ही परमात्मा तुम्हें परमानन्द में डुबो देगा। **मंत्र ३७५** में कहा कि परमानन्द चाहने वाली बुद्धि वेदमंत्रों से ईश्वर की स्तुति करे अर्थात् यज्ञ करें। **मंत्र ६५१** में कहा कि हे मनुष्यों आप वेद के जानने वाले ऋषियों के आश्रित होकर उनसे ज्ञान प्राप्त करो और परमेश्वर की वेदवाणी द्वारा महिमा का गान करो। मंत्र **६५७** में कहा कि योगी जन ही योगाभ्यास द्वारा ईश्वर को प्राप्त करते हैं। मंत्र **६७६** में कहा कि ईश्वर प्राणी को वेद-विद्या द्वारा संपूर्ण ज्ञान देता है अन्यथा वह अज्ञानियों के लिए सदा छुपा रहता है। अतः वेद शास्त्रों, उपनिषदों आदि में कहे असंख्य प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि आज भी सनातन वेद-विद्या के ज्ञाता विद्वान् आचार्य, योगी द्वारा वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेदों में कहे शुभ कर्मों को आचरण में लाने पर ही अन्दर हृदय में ईश्वर की ज्योति प्रकट होती है और गृहस्थ में रहता हुआ साधक ब्रह्म के आनन्द में मग्न हो जाता है। इस विद्या के फलस्वरूप ही साधक के हृदय में ईश्वर की ज्योति-ज्ञान उत्पन्न होने के कारण

इस श्लोक में कहा मन में विकारों का चिंतन पूर्णतया समाप्त हो जाता है। अतः ऐसे साधक का मन, वचन एवं कर्म तीनों ही एक लय में पवित्र होते हैं। गीता भी वैदिक ज्ञान में परिपूर्ण है। वैदिक ज्ञान से परिपूर्ण इस धार्मिक ग्रंथ का तो केवल नाम ही गीता है परन्तु गीता में गीता का ज्ञान नहीं अपितु गीता में श्री कृष्ण के मुख से सनातन वेदों का ज्ञान निकला है। यदि गीता में गीता का ज्ञान होता तो पहले श्रीकृष्ण महाराज गीता का अध्ययन करते और फिर अर्जुन को गीता का ज्ञान देते। परन्तु ऐसा नहीं था। प्रायः साधु संतों द्वारा केवल पढ़-सुन-रट कर और कथा कहानियों द्वारा रूचिकर बनाकर उपदेश करना **केनोपनिषद् श्लोक ४/८** में ब्रह्म-विद्या का अनादर कहा गया है और आगे उपनिषद् कहता है कि ब्रह्म विद्या का आधार तो चारों वेद, स्वाध्याय तथा तप है। और इसके बाद ही मन में विकारों का नाश होता है। इसी विशेष अभिप्राय से श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में केवल कर्मेन्द्रियों को हठ-पूर्वक रोकने वाले पुरुष को मिथ्यावादी कहा है। हाथ, पैर, मुँह, गुदा और उपस्थ यह पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं। परन्तु यह कर्मेन्द्रियाँ आँख, नाक, कान, जीह्वा और त्वचा इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों एवं छठे मन को वश में किए बगैर विषयों का त्याग नहीं करती। और इन ज्ञानेन्द्रियों और मन को वश में केवल सामवेद के ऊपर कहे मंत्र एवं केनोपनिषद का वचन ही प्रमाण है कि मनुष्य को वेदाध्ययन, यज्ञ, तप एवं योगाभ्यास श्रीकृष्ण एवं श्री राम की तरह गृहस्थ में ही रहते हुए करना होगा। जो ऐसा नहीं करते उन्हें ही इस श्लोक में विमूढ़ अर्थात् मूढ़ मति वाला पुरुष कहा है। और ऐसे ही साधना रहित पुरुष (जीवात्मा) की कर्मेन्द्रियाँ केवल कुछ समय के लिए जबरदस्ती रोकी जा सकती है, परन्तु ऊपर कहे साधन विशेष के अभाव में ज्ञानेन्द्रियाँ और मन विषय-विकारों का चिन्तन करता रहता है और दाव मिलते ही पाप में लीन हो जाता है। अतः हम ज्ञानेन्द्रियों एवं मन को वश में करने के लिए ऊपर कहा वैदिक आचरण करें। तब कर्मेन्द्रियाँ तो अपने आप ही वश में हो जाएगी क्योंकि कर्मेन्द्रियाँ मन के कहने से कार्य करती हैं और जब साधन विशेष से मन ही वश में हो गया है, तब मन कर्मेन्द्रियों को पाप-कर्म करने की आज्ञा कैसे दे सकता है। अतः हम योगेश्वर श्रीकृष्ण, भगवान राम, व्यास मुनि पात जलि ऋषि इत्यादि असंख्य विभूतियों के वैदिक ज्ञान को अपने आचरण

में लाने का प्रयत्न करके समाज एवं देश की उन्नति में अग्रसर होएँ।

श्रीकृष्ण उवाच-

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ।।

(गीता : ३/७)

(तु) और **(अर्जुन)** हे अर्जुन **(यः)** जो पुरुष **(मनसा)** मन द्वारा **(इन्द्रियाणी)** इन्द्रियों को **(नियम्य)** वश में करके **(असक्तः)** आसक्ति रहित होकर **(कर्मेन्द्रियैः)** कर्मेन्द्रियों द्वारा **(कर्मयोगम्)** कर्मयोग को **(आरभते)** आरम्भ करता है **(सः)** वह पुरुष **(विशिष्यते)** श्रेष्ठ होता है।

अर्थ : हे अर्जुन! जो पुरुष मन द्वारा इन्द्रियों को वश में करके आसक्ति रहित होकर कर्मेन्द्रियों द्वारा कर्म-योग को आरम्भ करता है, वह पुरुष श्रेष्ठ होता है।

भावार्थ : इस श्लोक में 'मनसा इन्द्रियाणि नियम्य' अर्थात् मन द्वारा इन्द्रियाँ वश में करने की बात कही है, जबकि पिछले श्लोक ६ में कर्मेन्द्रियों को विषय भोग में जबरदस्ती रोककर, मन से विषयों का चिन्तन करने वाले को मिथ्यावादी, कपटी कहा है। यह सब यहाँ श्रीकृष्ण द्वारा दिया वैदिक सूक्ष्म-विद्या का मार्मिक ज्ञान है। मन से विषयों का चिन्तन वही करेगा जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास जैसी सनातन विद्याओं को त्याग कर मनघढ़न्त अन्धविश्वास युक्त भक्ति की बातें करता है। जब हम वैदिक सनातन परम्पराओं से ही दूर हो जाएँगे तो उन परम्पराओं में कही विद्या, शुद्धता, श्रीराम, कृष्ण, हरिश्चन्द्र जैसे माता-पिता वृद्धों की सेवा, संयम, ब्रह्मचर्य, भाईचारा, नारी-सम्मान आदि शुभ संस्कारों से हम स्वतः ही वंचित हो जाएँगे। इसमें अनगिनत वैदिक प्रमाणों में से **अथर्ववेद मंत्र २/१२/२** का प्रमाण है कि मनुष्य वेदज्ञ विद्वानों से प्रार्थना करता है कि **'देवाः'** हे विद्वानों **'इदम् श्रृणुत'** आप हमारी इस प्रार्थना को सुनें कि **'भरद्वाज'** अर्थात् अन्न तथा शक्ति को हमारे अन्दर भरने वाला श्रेष्ठ विद्वान् ही **'मह्यम् यः अस्माकम् इदम् मनः हिनस्ति'** अर्थात् हे वेदों के ज्ञाता ऋषि हमारा मन हमें नष्ट कर देता है अर्थात् हमें (जीवात्मा को)

इन्द्रियों का गुलाम बना देता है। अतः आप कृपा करो कि हमारा मन मर जाए। अतः वैदिक प्रमाण में वर्तमान में जीवित वेदों का ज्ञाता एवं योगाभ्यासी विद्वान् ही विद्या दान द्वारा मनुष्य के मन को विषयों से मोड़ने में समर्थ होता है। अन्य वेद विहीन पुरुष तो केवल वाणी के झूठे व्य जन बना-बना कर ही जनता को ठगते हैं। **मनुस्मृति श्लोक २/१६८** स्पष्ट कहता है कि वेद एवं योग विद्या को न जानने वाले गुरु अपने अनुयायियों सहित नीच योनियों में चले जाते हैं। इसमें तुलसीकृत रामायण (उत्तरकाण्ड) का भी प्रमाण है कि **'द्विज-श्रुति बेचक भूप प्रजासन'** अर्थात् कलियुग में तो गुरुओं ने वेद ही बेच खाए हैं। **कठोपनिषद् अध्याय१** तृतीया वल्ली **श्लोक ५, ७** में वेदज्ञ ऋषि कह रहा है कि जो प्राणी वैदिक ज्ञान-विज्ञान से रहित है उसका मन कभी भी आत्मा की आवाज नहीं सुनेगा और ऐसे प्राणी की इन्द्रियाँ भी वश में नहीं होती। जैसे कि दुष्ट घोड़े सारथि के वश में नहीं होते। ऐसा प्राणी सदा अपवित्र विचारों में डूबा रहता है। ऐसे प्राणी का मन सदा पाप-युक्त कर्म में लीन रहता है। जैसा कि ऊपर श्लोक ६ में भी श्रीकृष्ण ऐसे व्यक्ति को मिथ्याचारी ही कह रहे हैं। क्योंकि वह थोड़ी देर के लिए हठपूर्वक (जबरदस्ती) कर्मेन्द्रियों को रोकता है और मन में विषय-विकारों का चिन्तन करता रहता है। श्रीकृष्ण स्वयं योग-सिद्ध पुरुष योगेश्वर हैं। अतः उनके द्वारा भगवद्गीता में कहे एक-एक श्लोक में वेद एवं योग-विद्या का परोक्ष एवं अपरोक्ष रूप से समावेश है। प्रस्तुत श्लोक ७ में श्रीकृष्ण ऐसे व्यक्ति को श्रेष्ठ पुरुष कह रहे हैं, जो वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि द्वारा मन से इन्द्रियों को वश में कर लेता है जिस कारण उसकी पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ कभी अधर्मयुक्त विचार अथवा पाप कर्म में लिप्त नहीं हो पाती और स्वयं संसार के विषयों, मोह-माया से आसक्ति त्यागकर अपनी कर्मेन्द्रियों द्वारा सदा वेद शास्त्रों में कहे शुभ कर्म ही करता है। यहाँ हम पुनः विचार कर लें कि **कठोपनिषद् श्लोक १/३/७** में कहा है जो पुरुष वेद एवं योग-विद्या से रहित हैं अर्थात् सनातन परम्पराओं से अलग हो चुका है, वह ज्ञान एवं विज्ञान दोनों से खोखला हो जाता है और ऐसे पुरुष का मन आत्मा से कभी जुड़ नहीं पाता। अतः हम सदा वेद, शास्त्र आदि सद्ग्रंथों का ही अनुकरण करें और वेदज्ञ विद्वानों की शरण में जाकर विद्या द्वारा मन को वश में कर के पृथिवी

पर सुख-शांति, निरोगता, भाईचारा आदि शुभ संस्कारों का निर्माण करें। क्योंकि आज प्रायः अधिकतर संत अपनी झूठी वाणी में सिद्धहस्त होकर कभी यज्ञ, कभी योगाभ्यास की और कभी वेदों की निन्दा ही करते रहते, संपूर्ण विश्व को सनातन एवं परम्परागत ईश्वरीय वाणी से भटका कर अपना उल्लू सीधा करते दिखाई देते हैं। अतः हम भगवद्गीता के माध्यम से भी सनातन ईश्वरीय वाणी चारों वेदों की तरफ पुनः लौट कर भारत वर्ष को पुनः **'विश्वगुरु'** एवं **सोने की चिड़िया'** का खिताब हासिल कराएँ जो कि हमारा धर्म है।

प्रस्तुत श्लोक से स्पष्ट है कि जो पुरुष मन द्वारा इन्द्रियों को वश में कर लेता है वह संसार के काम, क्रोध, मोह आदि सभी विकारों से सर्वदा आसक्ति रहित हो जाता है अर्थात् उस जीवात्मा का संसार के किसी भी पदार्थ सोना-चाँदी, मकान, दुकान, परिवार आदि किसी से लगाव नहीं रहता। फलस्वरूप उसकी प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा किया कर्म सत्य पर आधारित, पक्षपात रहित, समाज के लिए कल्याणकारी एवं निःस्वार्थ होता है। ऐसा ही पुरुष (जीवात्मा) श्रेष्ठ होता है। यह सब तो सत्य है परन्तु प्रश्न उठता है कि ऐसा श्रेष्ठ जीवात्मा बनने के लिए कौन सा तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति करना आवश्यक है। क्योंकि कोई कथावाचक कहे कि तुम मन को वश में करके कर्म करो तो केवल ऐसा कहने से तो बात नहीं बनती। श्रीकृष्ण वेदों के ज्ञाता है अतः वेदों के मन्त्रों के प्रमाण की आवश्यकता है।

यजुर्वेद मन्त्र ५/१४ का भाव है कि कई प्रकार से हवन करने वाले, वेदवाणी के अध्ययन से वेदों द्वारा अनन्त विद्या का ज्ञान प्राप्त करके वेदों के विद्वान् अपने मन, बुद्धि एवं कर्मों को ईश्वर में लगाते हैं अर्थात् ईश्वर में समाधिस्थ करते हैं। इसी प्रकार **यजुर्वेद मन्त्र ७/३** का भाव है कि यह जीवात्मा स्वयंभू है अर्थात् इसकी सत्ता स्वयं अपने आप से है। इसे किसी ने बनाया नहीं है। अर्थात् जीवात्मा की न तो उत्पत्ति होती है और न ही इसका विनाश होता है। इस वेद मन्त्र में इसे सूर्य के समान प्रकाशमान, दिव्य गुणों से युक्त कहा है। जीवात्मा मन द्वारा शुद्ध विज्ञान और वेदवाणी को प्राप्त करके अन्न तथा अन्तःकरण को निर्मल करके परमेश्वर की उपासना द्वारा मन को वश में करके परमेश्वर को प्राप्त करता है। योगशास्त्र प्रथम समाधिपाद में

ऋषि पता जलि ने मन को वश में करने के लिए **सूत्र १ से ३८** तक कई प्रकार के अभ्यास द्वारा मन को एकाग्र करने की बात कही है जिसका विशेष वर्णन मैंने योगशास्त्र भाग-१ की व्याख्या में किया है। यह सब कुछ लिखने का भाव यह है कि जब तक जीवात्मा वेदों में कही अनन्त विद्या जिसमें अष्टाँग योग विद्या का भी सम्पूर्ण वर्णन है, उसे नहीं सुनता और यज्ञ, नाम स्मरण, योगाभ्यास आदि नहीं करता और केवल गीता, रामायण, अथवा अन्य कथा आदि सुनता है तब उसका मन इस संसार की काम, क्रोध आदि असंख्य बुराइयों से कैसे निकल सकता है? ध्यान से इस श्लोक को जब हम विद्वानों से सुनेंगे तब वेदों में पारंगत योगेश्वर श्रीकृष्ण का यही भाव समझ में आएगा कि हे अर्जुन! जो पुरुष (जीवात्मा) वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा मन से इन्द्रियों को वश में करके सभी विषयों से आसक्ति-रहित होकर जब शुभ कर्म करता है वही पुरुष श्रेष्ठ है। श्लोक में कर्मयोग का अर्थ है वेदानुकूल शुभ कर्म करना। स्पष्ट है कि जब पुरुष (जीवात्मा) ऊपर कही साधना से मन को वश में कर लेता है और मन पुनः इन्द्रियों को वश में कर लेता है, फलस्वरूप ही जीवात्मा शुभ कर्म करता हुआ श्रेष्ठ पुरुष कहलाता है। बिना साधना वेद-शास्त्र, गीता आदि ग्रन्थ मन की शुद्धि की बात नहीं मानते। भाव यह है कि यदि कोई गीता का कथा वाचक कहे कि श्रोताओं श्रीकृष्ण महाराज ने कह दिया है कि मन द्वारा इन्द्रियों को वश में कर लो तब आसक्ति रहित हो जाओगे और कर्मयोगी भी हो जाओगे तब यह अर्थ का अनर्थ एवं वेद एवं गीता ग्रन्थ के विरुद्ध असत्य भाषण होगा। क्योंकि ऐसे कथावाचक यह भी कह देते हैं कि यही ज्ञान है और ज्ञान से ही मुक्ति है, न कर्म की आवश्यकता है, न भक्ति की आवश्यकता है। जबकि वेद एवं गीता ग्रंथ ज्ञान, कर्म एवं उपासना (भक्ति) तीनों को ही आवश्यक कह रहे हैं। इस विषय में अगले श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट किया है कि हे अर्जुन! तू वेद एवं शास्त्रों के अनुसार कहे शुभ कर्म कर। अब कोई कथावाचक कहे कि कर्म की आवश्यकता नहीं है तब उसका कहना असत्य होगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मणः ।।

(गीता : ३/८)

(त्वम्) तू **(नियतम्)** सदा **(कर्म)** वेदोक्त शुभ कर्म **(कुरु)** कर **(हि)** क्योंकि **(अकर्मणः)** कर्म न करने से **(कर्म)** कर्म करना **(ज्यायः)** अधिक अच्छा है **(च)** तथा **(अकर्मणः)** कर्म न करने से **(ते)** तेरी **(शरीरयात्रा)** शरीर यात्रा **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(प्रसिद्धयेत्)** सिद्ध होगी।

अर्थ : तू सदा वेदोक्त शुभ कर्म कर क्योंकि कर्म न करने से कर्म करना अधिक अच्छा है तथा कर्म न करने से तेरी शरीर यात्रा भी सिद्ध नहीं होगी।

भावार्थ : श्लोक में 'नियतम्' शब्द के अर्थ हमेशा, लगातार या 'निश्चयात्मक रूप से' हैं। यहाँ श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि हे अर्जुन! तू हमेशा शुभ कर्म कर अथवा निश्चित रूप से कर्म ही कर। हम भगवान श्रीकृष्ण की इस वैदिक प्रेरणा को जीवन में धारण करें। क्योंकि वेद पहले ही कह रहे हैं कि बिना कर्म किए कोई प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। (देखें **यजुर्वेद मंत्र ७/४८**) तथा वेदोक्त शुभ कर्म किए बिना इंसान कर्म बंधन से छूट नहीं सकता (देखें **यजुर्वेद मंत्र ४०/२**) यजुर्वेद सम्पूर्ण कर्म काण्ड पर ही मुख्यतः आधारित है। जिसमें कहा-**यज्ञम् कुरु, तपसा तप्यध्वम् (तप द्वारा तपो यजुर्वेद मंत्र १/१८), श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु आदि** (यज्ञादि शुभ कर्म को प्राप्त हो) अर्थात् यज्ञ करो जिसमें माता, पिता, अतिथि, गुरु एवं परमेश्वर की सेवा कही है। जिसे हरिश्चंद्र, दशरथ, श्रीराम, कृष्ण आदि विभूतियों ने अपनाया था। तो आज हम कर्म-काण्ड से कैसे मुँह मोड़ सकते हैं। **ऋग्वेद मंत्र ७/७०/२** में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे याज्ञिक लोगों! तुम उत्तम बुद्धि द्वारा अनुष्ठानी बनकर यज्ञ का सेवन करो, क्योंकि तुम्हारे तप से उत्पन्न हुआ स्वेद मानो सरिताओं का रूप धारण करके तुम्हारे मनोरथरूपी समुद्र को परिपूर्ण करता है अर्थात् जब तक पुरुष पूर्ण तपस्वी बनकर अपने लक्ष्य की पूर्ति के लिए उद्यत नहीं होता तब तक उस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती। इसलिए आप लोग अपने वैदिक लक्ष्यों की पूर्ति तपस्वी कठिन परिश्रमी बनकर ही कर सकते हो, अन्यथा नहीं। **ऋग्वेद मंत्र ७/७०/७** में परमात्मा उपदेश करते हैं कि हे

विद्वानों! तुम इस वेदवाणी का सदा सेवन करो जो विद्या की बुद्धि द्वारा सब कामनाओं को पूर्ण करने वाली है, और तुम सदैव वेद के उन स्रोत्रों का पाठ करो, जिनमें परमात्मा की स्तुति, प्रार्थना तथा उपासना का वर्णन किया गया है, जिससे तुम्हारा जीवन पवित्र होकर परमात्मा प्राप्ति के योग्य हो।

वेदों में तो यहाँ तक कहा कि जैसे सूर्य द्वारा रात दिन बनते हैं और यह क्रम क्षण मात्र के लिए भी नहीं रुकता इसलिए हे प्राणी! तू भौतिक और आध्यात्मिक उन्नति करने के लिए दिन रात पुरुषार्थ कर। तभी तो इसी श्लोक में श्रीकृष्ण आगे कह रहे हैं कि हे अर्जुन! **'अकर्मणः कर्म ज्यायः'** अर्थात् कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना ही श्रेष्ठ है। अतः यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि हम प्रायः ऐसे वेद-विरोधी संतों की मिथ्या वाणी सुनते हैं जो कहते हैं कि केवल ज्ञान में मुक्ति है और कर्म करने की प्रेरणा यह कहकर मना कर देते हैं कि कर्म काण्ड से मुक्ति नहीं है। जबकि स्वयं ऐसे संतो का कर्म पूरा तंत्र दिन-रात भीड़ जुटाने और धन कमाने में लगा रहता है। वेद में तीन विद्याओं का उपदेश है। यजुर्वेद-कर्मकाण्ड, ऋग्वेद-ज्ञान काण्ड और सामवेद-उपासना काण्ड और इन तीनों में से एक को भी छोड़ने पर गृहस्थ में सुख शांति एवं मोक्ष कभी प्राप्त नहीं होता। इसी वैदिक सत्य को दर्शाती हुई **मनुस्मृति (श्लोक १/२३)** कहती है कि हमारे पूर्व के ऋषियों ने चारों वेदों से इन तीन विद्याओं को प्राप्त करके गृहस्थ जीवन में सुख, दीर्घायु एवं मोक्ष प्राप्त किया।

पुरुषार्थ से हीन तो हमारे देश के नवाबों ने बैठे-बैठे माँस, मदिरा एवं वेश्याओं के नाच में मग्न होकर देश को गुलाम बना दिया था। इस श्लोक में तो आलस्य मग्न प्राणियों को शिक्षा देते हुए श्री कृष्ण अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि तू शुभ कर्म नहीं करेगा तो इज्जत की रोटी भी नहीं खा पाएगा। तो फिर तेरा शरीर निर्वाह कैसे होगा? तब तो भिखारियों की तरह भीख मांग कर खाना पड़ेगा। तो फिर आध्यात्मिकवाद की तो बात ही छोड़ दो। पुरुषार्थ धारण करने के लिए श्री कृष्ण ने यहाँ रोजी-रोटी तक का उदाहरण पेश कर दिया जो बिना पुरुषार्थ के संभव नहीं होता। अतः हम सनातन परम्पराओं का उल्लंघन न करते हुए वेदोक्त शुभ कर्म करने में लगे

रहें। यही हमारा धर्म है। भ्रान्तियुक्त सन्तों की मिथ्या वाणी के प्रभाव में आकर हम वेद विद्या में कहे कर्मों का त्याग करके ईश्वरीय, सनातन वाणी वेद का अपमान न करें। वेदवाणी को सुनना तथा अपनाना ईश्वर की आज्ञा है, मनुष्य की नहीं। ईश्वर की आज्ञा का पालन ही ईश्वर का उत्तम सम्मान और ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा कही गई है। श्रीकृष्ण महाराज ने भी इसी ईश्वरीय वेदवाणी को ही स्वीकार किया था। प्रस्तुत मन्त्र में श्रीकृष्ण महाराज ने 'कर्म' शब्द का उपयोग किया है। श्रीकृष्ण महाराज ने गीता श्लोक ३/१५ में स्पष्ट किया है कि सब कर्म वेदों से उत्पन्न हुए हैं और वेद अविनाशी परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। अतः गीता में अथवा कहीं भी जब कर्म शब्द प्रयोग किया जाएगा तो उसका भाव होगा वेदों में कहे शुभ कर्म। क्योंकि प्रत्येक शुभ कर्म वेदों से ही उत्पन्न हुआ है। धर्म स्थापित करने के लिए क्षत्रिय द्वारा धर्मयुद्ध रूपी कर्म करने की आज्ञा भी चारों वेदों ने ही दी है जिसे श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को वैदिक ज्ञान द्वारा ही समझा रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच-

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।

(गीता : ३/९)

(यज्ञार्थात्) यज्ञ (युज् धातु का अर्थ जुड़ना भी है) की भावना से **(कर्मणः)** किए कर्म से **(अन्यत्र)** भिन्न **(अयं)** यह **(लोकः)** संसार **(कर्मबन्धनः)** कर्मबन्धन में फँसाने वाला है अतः **(कौन्तेय)** हे अर्जुन **(मुक्तसंगः)** आसक्ति से रहित होकर **(तदर्थम्)** यज्ञ भावना से **(कर्म)** निष्काम कर्म को **(समाचर)** आचरण में ला अर्थात् निष्काम कर्म कर।

अर्थ : यज्ञ (युज् धातु का अर्थ जुड़ना भी है) की भावना से किए कर्म से भिन्न यह संसार कर्मबन्धन में फँसाने वाला है अतः हे अर्जुन! आसक्ति से रहित होकर यज्ञ भावना से निष्काम कर्म को आचरण में ला अर्थात् निष्काम कर्म कर।

भावार्थ : वेदों में यज्ञ के कई प्रमाणिक अर्थ हैं। युज् धातु से यजुर्वेद का

यजुः पद भी बना है जिसमें विशेषकर कर्म का रहस्य समझाया है। यजुर्वेद में भक्ति, ईश्वर स्वरूप, विज्ञानादि अनेक उपदेश सहित कर्मकाण्ड का विशेष उपदेश है। जैसे माता, पिता, विद्यार्थी, नेता, कृषक इत्यादि के कर्त्तव्यादि। परन्तु शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ के रचयिता यास्क मुनि ने **'यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्मः'** कहकर सब कर्त्तव्य कर्मों में यज्ञ कर्म को संसार का सबसे श्रेष्ठ कर्म कहा है। अतः यजुर्वेद प्रथम अध्याय के प्रथम छः मन्त्र तो सीधा ही उपदेश करते हैं कि यज्ञ करने की आज्ञा ईश्वर द्वारा दी गई है, जिसे सब प्राणी करें। मनुष्यों के मना करने से कोई भी प्राणी यज्ञ न छोड़े क्योंकि यजुर्वेद मन्त्र १/२ में विद्वान् वेदज्ञ गुरु को ईश्वर ने आदेश दिया **"ते यज्ञपतिः मा ह्वार्षीत्"** अर्थात् विद्वान् गुरु और उसका यजमान शिष्य दोनों ही कभी यज्ञ का त्याग न करें। यज्ञ का सबसे महान एवं सुन्दर अर्थ **"यज्ञ-देवपूजासंगतिकरणदानेषु"** धातु से निष्पन्न होता है जिसके तीन अर्थ हैं-वेद-विद्या, कर्त्तव्य, धर्म-कर्म को जानने एवं उस पर आचरण करने के लिए वेद एवं योग-विद्या के ज्ञाता विद्वानों की सेवा-सत्कार करना जिससे इस लोक और परलोक दोनों में सुख शांति प्राप्ति होए। यज्ञ के इस अर्थ को देवपूजा कहते हैं। दूसरा अर्थ है-संगतिकरण। नित्य वेद के ज्ञाता विद्वानों का संग और उनकी सेवा से विद्या लाभ प्राप्त करना। तीसरा अर्थ है दान। सुपात्र को दान एवं विद्वानों द्वारा विद्या एवं शुभ गुणों का दान।

देवपूजा में भी माता, पिता, कम से कम एक वेद का ज्ञाता अतिथि, सम्पूर्ण वेदों का विद्वान् आचार्य तथा जगत रचयिता ईश्वर की सेवा कही गई। इसमें अग्निहोत्र भी आ जाता है। अतः चारों वेदों में यह ईश्वर की आज्ञा है कि तीनों लोकों को पवित्र करने वाला सूर्य की किरणों में स्थित होने वाला वायु को शुद्ध करने वाला आयु, धन एवं विश्व के सभी सुखों को धारण करने वाला, संसार का सबसे श्रेष्ठ यज्ञ कर्म सभी प्राणी नित्य करें। परमेश्वर ने सामवेद में यज्ञ द्वारा अपनी सर्वश्रेष्ठ श्रुति, उपासना करने को कहा है। **सामवेद मंत्र ८३०** इसे प्राणी के सम्पूर्ण सौभाग्य का उदय कहता है। **यजुर्वेद के १८वें अध्याय** में आयु, धन, सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति यज्ञ द्वारा कही गई है। **"यज्ञो वै प्राणः"** इत्यादि कहकर वेद में यज्ञ को ही साक्षात् ईश्वर कह

दिया है एवं **यजुर्वेद मंत्र ३१/१६** में **"देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त"** कहकर स्पष्ट किया है कि विद्वान् ऋषि गण एवं समस्त प्राणी यज्ञ द्वारा ही ईश्वर की श्रेष्ठ पूजा करते हैं। युजू धातु का अर्थ जुड़ना भी है। अतः यज्ञ, योगाभ्यास एवं गृहस्थ तथा समाज के प्रति शुभ कर्म करके ईश्वर से जुड़ना यज्ञ कहा गया है। इसलिए **"यज्ञो वै विष्णुः"** अर्थात् यज्ञ ही को विष्णु कहा है। क्योंकि यज्ञ में ईश्वर स्वयं प्रकट होता है। विष्णु शब्द का वैदिक अर्थ "विष्लृ व्याप्तौ इति विष्णुः" अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर का नाम ही विष्णु है। क्योंकि **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/४६** में स्पष्ट किया है कि वह सत्य स्वरूप ईश्वर तो एक ही है परन्तु वेदों के विद्वान् उसे वेदों में कहे कई नामों से पुकारते हैं। वेद कहता है **"ब्रह्मा यज्ञेन कल्पतां स्वर्यज्ञेन कल्पताम्"** अर्थात् यज्ञ द्वारा ईश्वर की प्राप्ति निश्चित है। अतः यज्ञ के कई अर्थ करने पर सारांश यही निकलता है कि वेदों में ईश्वर प्राप्ति के लिए परिवार एवं समाज के लिए जो-जो माता-पिता, गुरुजनों की सेवा आदि शुभकर्म करने को कहे हैं और उन शुभ कर्मों के करने से इस लोक और परलोक का सुख प्राप्त होता हो तो वह सब यज्ञ कर्म ही हैं। इसी प्रकार वेद विरुद्ध किए कर्म ही अशुभ कर्म कहें गए हैं। तो गीता के इस श्लोक में भी अर्जुन को **'यज्ञार्थात् कर्मणाः'** अर्थात् यज्ञ की भावना से कर्म करने का उपदेश है। यज्ञ का स्वरूप न समझने वाले केवल भौतिक चमक-दमक का सुख लेने के लिए ही वेद-विरुद्ध सांसारिक कर्म करते हैं जो यज्ञार्थात् अर्थात् यज्ञ की भावना के लिए नहीं होते अर्थात् ईश्वर के लिए-ईश्वर प्राप्ति के लिए नहीं होते अपितु इन्द्रियों का सुख पाने के लिए कर्म में आसक्ति रखकर किए जाते हैं। आज तो वेद, यज्ञ एवं योगाभ्यास के विरुद्ध बोलने वाले कई ढोंगी गुरु कथा कहानियाँ और हँसी-मजाक करके पैसे बटोरने में लगे हुए रहते हैं। अतः हम गीता के सत्युपदेश को भी समझने के लिए वेदज्ञ विद्वानों से वेदों का ज्ञान सुनें क्योंकि वेद सुनने के लिए स्वयं ईश्वर ने **सामवेद मंत्र ५०** में आज्ञा दी है और इस आज्ञा को ऋषि-मुनि, भगवान राम, भगवान कृष्ण आदि असंख्य विभूतियों ने जीवन में अपनाया था। तुलसीदास जी स्वयं कहते हैं-**"वेद पुरान बसिष्ठ बखानहीं, सुनहि राम जद्यपि सब जानहि"** (उ.का.दो.२५की चौ।) अर्थात् वह मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम यद्यपि वेद-विद्या आदि स्वयं जानते थे परन्तु नित्य

वसिष्ठ मुनि से प्रेम पूर्वक इस सनातन परमेश्वर की वाणी वेद को सुनते थे। एक जगह तो तुलसी ने राम को वेदों का रक्षक तक कहा है। अर्थात् वह स्वयं वेद सुनते थे एवं प्रजा भी वेद सुनती थी। वेदों ने गृहस्थवासियों को मुख्यतः पाँच यज्ञ की आज्ञा दी है। ऊपर कहा देवयज्ञ, बलिवैश्व देव-यज्ञ-अर्थात् पक्षी इत्यादि को घर में बने हुए भोजन का कुछ भाग नित्य देना, अतिथि यज्ञ-वेद जानने वाले विद्वान् की सेवा, पितर यज्ञ-परम्परागत सृष्टि क्रम एवं योगाभ्यास द्वारा ब्रह्मलीन, वेद के ज्ञाता ऋषि की सेवा करना। जैसा ऊपर कहा है कि इसमें (यज्ञ में) गृहस्थ आदि के वैदिक शुभ कर्म भी आ जाते हैं जो निष्काम एवं ईश्वर निमित्त होते हैं अतः इस श्लोक में श्री कृष्ण अर्जुन को यह भी संकेत कर रहे हैं कि हे अर्जुन! तू कामना एवं आसक्ति रहित होकर ईश्वर के निमित्त धर्मयुद्ध कर। क्योंकि अर्जुन क्षत्रिय वंश में जन्मा था और धर्म युद्ध करना उसका वैदिक कर्त्तव्य-कर्म है। अतः हम कर्म उपासना एवं ज्ञान इन तीनों पर चलकर मोक्ष प्राप्त करें। इस श्लोक के अन्तिम पदों का भी यही भाव है कि हे अर्जुन! वैदिक यज्ञादि शुभ कर्म करते-करते जीवन गुजारो और क्षत्रिय धर्म युद्ध जैसे कोई भी शुभ कर्म करने का अवसर जीवन में आए, तब **"मुक्तसंगः"** अर्थात् परिवार, स्व-सम्बन्धियों एवं सांसारिक धन इत्यादि से पूर्णतः आसक्ति रहित होकर **'तदर्थम्'** उस यज्ञ सिद्धि अर्थात् परमेश्वर के निमित्त ही **'कर्म समाचार'** ऐसे शुभ कर्म करके मोक्ष पद प्राप्त करो। प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ-अर्थात् **कर्मणः** अर्थात् यज्ञ की भावना से कर्म करना चाहिए। इसका वैदिक, मार्मिक अर्थ समझना आवश्यक है। पहली बात तो यह कि जो वेद का अध्ययन नहीं करता वह यज्ञ शब्द के पवित्र अर्थ को नहीं समझ पाएगा क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज ने संपूर्ण गीता वेद-मंत्रों पर आधारित ज्ञान के अनुसार कही है। ऊपर कहे समस्त वेद मंत्रों के भाव भी यही अर्थ प्रकट कर रहे हैं कि यज्ञ द्वारा ईश्वर एवं आनंद की अनुभूति होती है। यज्ञ ही ब्रह्म है, यज्ञ ही ब्रह्म है, यज्ञ ही विष्णु है, यज्ञ ही प्राण है। यज्ञ ही विश्व का सर्वश्रेष्ठ शुभ कर्म है। सामवेद स्पष्ट करता है कि यज्ञ केवल वेदमंत्रों से किया जाता है। और वेद-मंत्रों से ही सब शुभ कर्मों का उदय हुआ है। इन सबसे यह भाव उत्पन्न होता है कि जो प्राणी वेद-विद्या को सुनता है, वेदों के ज्ञाता विद्वानों का संग एवं उनकी सेवा करता है तब उसे

इस बात का सत्य बोध अर्थात् सत्य वैदिक ज्ञान हो जाता है कि वेदों में कहे शुभ कर्म करना पुण्य है और वे सभी वैदिक शुभ कर्म करना ही यज्ञ है एवं वेद-विरुद्ध कर्म करना पाप है। इस सत्य मर्म को यहाँ श्री कृष्ण महाराज इस प्रकार कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू बाल्यकाल से ही वेदों का अध्ययन ऋषियों-मुनियों से करता रहा है, नित्य वेदमंत्रों से हवन करता है, ऋषियों के साथ बैठकर तूने बड़े-२ यज्ञ किए हैं। अतः जो धर्मयुद्ध तुझे करना है वह भी वेदों में कहा यज्ञरूप श्रेष्ठ कर्म है। और वेदानुसार कहा प्रत्येक कर्म शुभ एवं यज्ञरूप कर्म है। अतः तू इस युद्ध को भी यज्ञ की भावना से किया शुभ कर्म समझकर युद्ध कर। अतः आज जो गीता के कथावाचक आदि हैं और यदि वह वेदों के ज्ञान से रहित हैं, यज्ञ नहीं करते हैं तब वे अपने मनमाने अर्थ से यदि यह कहते हैं कि उनके सब कर्म यज्ञ की भावना से ही हैं तब वे वेदविरुद्ध असत्य वचन कहते हैं। पुनः श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को समझा रहें हैं कि जिसे यज्ञ का ज्ञान नहीं अर्थात् वेदों का ज्ञान नहीं तथा वेदों के अनुसार वेदों का अर्थ, यज्ञ कर्म आचरण में नहीं है तब ऐसा व्यक्ति जब संसार के जो भी कर्म करेगा तो निश्चित ही उसके वे सब कर्म वेद अर्थात् यज्ञ-भावना के विपरीत किए कर्म होंगें। और श्रीकृष्ण महाराज यहाँ स्पष्ट कह रहे हैं कि यज्ञ-भावना के विपरीत किए सभी कर्म जैसे कि पढ़ना-लिखना, खाना-पीना, धन कमाना, पढ़-सुन-रट के प्रवचन करना, कृषि, व्यवसाय, राजनीति, विज्ञान की उन्नति, युद्ध, जातिवाद इत्यादि सभी कर्म **"अयम् लोकः कर्मबन्धनः"** यह संसार मनुष्य को कर्म बन्धनों में बाँधने वाला है अर्थात् यज्ञ की भावना से यदि हम कर्म नहीं करते तब संसार का प्रत्येक कर्म वेद-विरुद्ध होगा एवं हमें कर्मबन्धनों में फँसाकर सदा जन्म-मृत्यु रूपी दुःख के सागर में गोते लगाने वाला होगा। अतः श्री कृष्ण महाराज ने पिछले श्लोक ८ और इस श्लोक ९ में कर्मयोग को ज्ञान में भी आस्था रखने से अधिक महत्त्व देने के लिए वर्णन किया है। पिछले श्लोक में तो यहाँ तक कह दिया कि यदि केवल ज्ञान मार्ग ही श्रेष्ठ है और कर्म जो कि वेदों में करने के लिए कहे हैं, उन कर्मों को करने की आवश्यकता नहीं है तब तो कोई भी मनुष्य जीविका उपार्जन के लिए धन कमाने का पुरुषार्थ भी नहीं करेगा। तब या तो वह भीख माँग कर खाएगा अथवा भूखा मर

जाएगा। तब तो जो मनुष्य शरीर भगवान ने कृपा करके दिया है, वह मनुष्य का जन्म व्यर्थ चला जाएगा और जीव पापी हो जाएगा। वस्तुतः देखने में आता है कि प्रायः ऐसे वक्ता ही कर्म न करने का उपदेश देते हैं जिन्हें धोखाधड़ी इत्यादि से जनता से प्रचुर मात्रा में अत्यन्त धन प्राप्त हो चुका है और उन सन्तों की बात भी वो ही श्रोता जानते हैं जो मेहनत, पुरुषार्थ द्वारा कर्म करके प्रचुर मात्रा में धन कमा चुके हैं। परन्तु जिन्हें परिवार समाज एवं देश को सुदृढ़ बनाना है, वह तो सदा कठिन परिश्रम करने की ही बात कहेंगे। ईश्वर सबसे महान है, सब कुछ जानने वाला है। फलस्वरूप ही ईश्वर ने हर समय भक्ति करने की बात नहीं कही है। अपितु तीन विद्याओं को साथ-साथ आचरण में लाने की कही है और वह तीन विद्याएँ हैं-पहला संसार के समस्त पदार्थों का ज्ञान-विज्ञान अर्थात् विज्ञान में उन्नति, दूसरा वैदिक शुभ कर्म करने में दिन-रात का पुरुषार्थ और तीसरा उपासना अर्थात् यज्ञ, नाम-सिमरन और योगाभ्यास इत्यादि के द्वारा ईश्वर की पूजा। हम वेदों के विरुद्ध कभी न जाएँ अन्यथा यही हमारा सबसे बड़ा अपराध एवं पाप होगा जिसे ईश्वर कभी क्षमा नहीं करता और अपराधी को कठोर दण्ड देता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।"

(गीता : ३/१०)

(प्रजापतिः) प्रजा का स्वामी अर्थात् परमेश्वर ने **(पुरा)** पुरातन काल में **(सहयज्ञाः)** यज्ञ के सहित **(प्रजाः)** प्रजा को **(सृष्ट्वा)** उत्पन्न करके **(उवाच)** कहा कि **(अनेन)** इस यज्ञ के द्वारा तुम **(प्रसविष्यध्वम्)** प्रसव अर्थात् उत्तम सन्तान उत्पन्न करो **(एषः)** यह यज्ञ **(वः)** तुम्हें **(इष्टकामधुक्)** अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला **(अस्तु)** होवे।

अर्थ : प्रजा का स्वामी अर्थात् परमेश्वर ने पुरातन काल में यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न करके कहा कि इस यज्ञ के द्वारा तुम प्रसव अर्थात् उत्तम सन्तान उत्पन्न करो यह यज्ञ कामना पूर्ति करने वाला होवे।

भावार्थ : श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि एवं छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार अङ्गिरस ऋषि से वेद एवं योगादि की सम्पूर्ण विद्या प्राप्त की थी अतः सम्पूर्ण गीता ग्रन्थ उनके वैदिक प्रवचन से भरा पड़ा है। इस श्लोक में भी परमेश्वर द्वारा चारों वेदों में कही सृष्टि रचना एवं विश्व कल्याण हेतु यज्ञ का वर्णन है। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/२** में कहा कि जब-जब सृष्टि हुई तब-तब ईश्वर ने ही इसकी रचना की है। अब वर्तमान में ईश्वर सबका पालन-पोषण कर रहा है। और अन्त में सबका विनाश करके पुनः सृष्टि की रचना करेगा। इसी मन्त्र में कहा कि **'अन्नेन रोहति'** अर्थात् अन्नादि व्यवस्था से सब जीव-जन्तु इत्यादि बढ़ रहे हैं। **मन्त्र ५,६ एवं ७** में कहा कि उस पूर्ण पुरुष परमात्मा से यह ब्रह्माण्ड रूप जगत उत्पन्न होता है। तथा उसी पूजनीय परमेश्वर से ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद उत्पन्न हुए हैं। इन वेदों में ही यज्ञ की महिमा का सम्पूर्ण वर्णन है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३५/१** में कहा **"प्रजापतिः ऋतस्य प्रथमजाः तपसा यम् ओदनम् ब्रह्मणे अपचत्"** अर्थात् सृष्टि रचना के आरंभ में ही सब प्रजाओं के स्वामी ईश्वर ने मृत्यु से तरने के लिए चारों वेदों के रूप में 'ब्रह्मौदनम' अर्थात् वैदिक ज्ञान रूपी भोजन मनुष्यों को दिया। इन्हीं वेदों में सृष्टि रचना, यज्ञ, शुभ कर्त्तव्य-कर्म, योगाभ्यास आदि सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार भरा पड़ा है जिसकी छवि गीता ग्रन्थ में भगवान श्रीकृष्ण ने अर्जुन एवं पश्चात लोक कल्याण के लिए दर्शाई है। मुख्यतः वेदों में यज्ञ की अत्यन्त एवं मार्मिक प्रशंसा है जिसे आज प्रायः सन्त भिन्न-२ असत्य तर्क एवं वाणियों द्वारा झुठला रहे हैं। **'युज्'** धातु से **'जुड़ना'** शब्द भी बनता है। अतः यज्ञ शब्द के कई अर्थों में एक अर्थ यह भी है कि दो के जुड़ने पर तीसरा तत्त्व पैदा होता है, उसे यज्ञ कहते हैं। ईश्वर शक्ति एवं जड़ प्रकृति, इन दो तत्त्वों के मिलने पर यह समस्त संसार उत्पन्न होता है जो स्वयं में एक ईश्वरीय यज्ञ है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१२९/६** में ईश्वर ने इस सृष्टि रचना रूपी यज्ञ के विषय में अति मार्मिक प्रश्न किए हैं कि-ठीक-ठीक कौन जान सकता है इस विषय में कौन उत्तम रीति से प्रवचन या उपदेश कर सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से प्रकट हुई? यह विविध प्रकार का सर्ग किस मूल कारण से और क्यों हुआ? विद्वान् लोग भी इस जगत को विविध प्रकार से रचने वाले मूल कारण के पश्चात ही हुए हैं। तो फिर कौन उस तत्त्व को जानता है, जिससे

यह चारों ओर प्रकट हुआ? एवं यह विविध प्रकार की सृष्टि जिस मूल तत्त्व से प्रकट हुई है, जो इस जगत को धारण कर रहा है। पर उसकी इच्छा न हो तो वह धारण नहीं करता और प्रलय कर देता है। जो समस्त संसार का अध्यक्ष स्वयं ईश्वर परम पद में विद्यमान है। हे विद्वान् केवल वही ईश्वर वह सब तत्त्व जानता है अन्य कोई जाने या न जाने। इसी सत्य के आधार पर कि समस्त विद्वान् भी सृष्टि रचना के बाद ही उत्पन्न होते हैं और ईश्वर कृपा से वेद-विद्या को जानकर ही विद्वान् बनते हैं, तो पता जलि ऋषि **योग शास्त्र सूत्र १/२६** में ईश्वर को ही समस्त विश्व का प्रथम गुरु सिद्ध करते हैं। जिस परमेश्वर ने मनुष्य पर दया करके सृष्टि रचना के साथ ही चारों वेदों की भी विद्या प्रदान की। इसके पश्चात वेद के जानने वाले ऋषि-मुनि ही हमारे गुरु होते आए हैं जबकि आज अधिकतर वेद, यज्ञ एवं योग विद्या के विरोधी गुरुओं ने यज्ञ की महिमा को समाप्त प्रायः कर दिया है। यजुर्वेद के प्रथम मन्त्र **'श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु'** अर्थात् हम यज्ञ रूपी श्रेष्ठ कर्म को प्राप्त होएँ, इस ईश्वरीय वचन के आधार पर यास्क मुनि द्वारा यज्ञ को संसार का सर्वश्रेष्ठ शुभकर्म घोषित किया गया है। ऐसे यज्ञ का अर्थ अग्निहोत्र, माता-पिता, गुरुओं की सेवा, सुपात्र को दान इत्यादि करना कहते हैं। यज्ञ कर्म है जिसमें नवीन की उत्पत्ति होती है, दो के मेल से तीसरा पदार्थ। जैसे हाइड्रोजन एवं ऑक्सीजन यह दो पदार्थ मिलकर पानी की रचना करते हैं इत्यादि-२। ऐसा यज्ञ असुर भी करते हैं। देव और असुर में विद्या और अविद्या, हित और अहित आदि अनेक अन्तर हैं। असुरों का किया यज्ञ, अवयज्ञन् है। अर्थात् किसी निष्कृत तत्त्व को मिलाकर मानव जाति को हानि पहुँचाना अथवा ईश्वर प्रदत्त यज्ञ का खण्डन करके जनता को हानि पहुँचाना अथवा ईश्वर प्रदत्त यज्ञ का खण्डन करके जनता को यज्ञ न करने देना। यह असुरों का अवयज्ञन् है। ऐसे अवयज्ञन् रावण, कंस, दुर्योधन आदि अनेक असुरों ने किए थे जिसका प्रभाव आज अत्याधिक रूप से पृथिवी पर बढ़ता जा रहा है। और मानव विश्व कल्याण यज्ञ जिसे **ऋग्वेद मण्डल १०** और सम्पूर्ण यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में अग्निहोत्र, माता-पिता, गुरुओं की सेवा, सुपात्र को दान, वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि अनेक शब्दों से अलंकृत किया गया है, उसे भूलता जा रहा है। **ऋग्वेद मण्डल १०** में इसी अग्निहोत्र,

वेदाध्ययन आदि यज्ञ का भी विस्तार है जो इस गीता के श्लोक से सम्बंधित है। गीता के प्रस्तुत श्लोक में ईश्वर ने यज्ञ के सहित प्रजा को उत्पन्न किया है। अर्थात् कोई भी मनुष्य बिना कामना के क्षण-मात्र भी नहीं रह सकता। अतः श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ उपदेश है कि वेदों में कही ईश्वर आज्ञा में रहकर प्रत्येक प्राणी यज्ञ करके अपने स्वास्थ्य, धन, सम्पदा, परिवार इत्यादि के लिए शुभ-शुभ कामनाओं की पूर्ति करे क्योंकि यज्ञ, अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष सब कामनाओं की पूर्ति करने वाला है। श्लोक में **'इष्टकामधुक्'** अर्थात् यज्ञ को शुभ कामनाओं की पूर्ति करने वाला कहा है, जप, तप एवं शुभ कर्म इत्यादि क्रियाएँ यज्ञ से ही उत्पन्न होती हैं। अतः यज्ञ विहीन पृथिवी आज अनेक विपदाओं से गुजर रही है और धर्म की आड़ लेकर स्वार्थी तत्त्व गीता जैसे सद्ग्रन्थों का भी प्रायः उल्टा अर्थ प्रस्तुत करके जनता को गुमराह कर रहे हैं। आज भारतवर्ष को पुनः श्रीकृष्ण, श्रीराम, जनक, एवं यज्ञ के आयोजन करके विश्व को पुनः सुख देना होगा। श्लोक में स्पष्ट कहा है कि **'सहयज्ञः'** अर्थात् ईश्वर ने यज्ञ के साथ ही प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् यज्ञ एवं प्रजा की उत्पत्ति साथ-साथ है। अब यदि प्रजा को हटा दो तो यज्ञ का औचित्य कुछ नहीं रहेगा और इसी प्रकार यदि प्रजा उत्पन्न होती रहे और यज्ञ को हटा दो तो यज्ञ के बिना कोई भी उत्पत्ति मिथ्या कही गई है। **सामवेद मंत्र ६३६** यज्ञ द्वारा ही शारीरिक, मानसिक बल एवं मोक्ष सुख प्राप्त होने की बात करता है। सारे धनों एवं आध्यात्मिक सुखों की प्राप्ति **सामवेद मंत्र ६०५** कह रहा है और **मंत्र ८६६** कहता है कि यज्ञ से अपवित्र पदार्थ एवं मनुष्य पवित्र होते हैं। इसी यज्ञ की बात श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में भी कही है कि यज्ञ **'इष्टकामधुक्'** अर्थात् अभीष्ट कामनाओं की पूर्ति करने वाला है। कई वेद-विरोधी साधु कह देते हैं कि यज्ञ से केवल कामनाएँ पूर्ण होती हैं जिसकी आवश्यकता नहीं जबकि परिवार पालन के लिए धन, बल-बुद्धि एवं सुख की कामना किए बिना कोई क्षण मात्र के लिए भी नहीं रह सकता। वेद-विरोधी साधु संतो की भी तो प्रबल कामना है कि वे ऊँची गद्दी पर बैठकर प्रवचन करें और बहुत सारी प्रजा इकट्ठी हो और वे बोरियों में धन बटोर कर आश्रम बनाएँ और भौतिक सुख प्राप्त करें। तब किसी भी तर्क से यज्ञ का खण्डन करना ईश्वर का विरोध एवं महापाप है। वेद एवं प्रस्तुत श्लोक में यज्ञ

द्वारा ही संतान उत्पत्ति कही है और आज बिना यज्ञ के भारत भूमि अर्जुन, भीष्म जैसे वीरों, व्यास, वसिष्ठ जैसे वेद के जानने वाले ऋषियों एवं सीता मदालसा अनुसूइया जैसी सती नारियों से प्रायः शून्य होती जा रही हैं। आज यज्ञ के भिन्न-भिन्न अर्थ अपने-अपने मतानुसार किए जा रहे हैं परन्तु वेदों में वर्णित यज्ञ ही सत्य स्वरूप प्रमाणिक यज्ञ है।

इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज ने यज्ञ की महिमा का वर्णन किया है कि जीव यज्ञ द्वारा उन्नति को प्राप्त होए और यज्ञ द्वारा अपनी शुभ इच्छित कामनाओं को पूर्ण करे। चारों वेदों में इस सत्य का वर्णन है। **यज्ञ** द्वारा ही विवाह संस्कार पूर्ण होता है, उत्तम सन्तान प्राप्त होती है और यज्ञ ही शुभ कामनाओं को पूर्ण करने वाला होता है। वैसे तो चारों वेदों में ही गृहस्थ, यज्ञ द्वारा उत्तम कामनाओं की पूर्ति एवं यज्ञ द्वारा ही शुद्ध अन्न की प्राप्ति, समय पर वर्षा, दीर्घायु, सुख-शांति आदि अनेक गुणों की प्राप्ति करते हुए मोक्ष तक की प्राप्ति का वर्णन है परन्तु विशेषकर यजुर्वेद अध्याय १, २, ८, १२ आदि यज्ञ की महिमा एवं यज्ञ द्वारा गृहस्थ, समाज एवं राष्ट्र की उन्नति की बात कह रहे हैं। वेदों के उन्हीं मन्त्रों पर आधारित श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में संक्षेप में यज्ञ की महिमा का गायन किया है। अतः जो यज्ञ मनुष्य, प्राणी, पृथिवी एवं समस्त ब्रह्माण्ड को सुख देने का स्रोत है और जिस यज्ञ कर्म को करने के लिए स्वयं सृष्टि रचयिता निराकार ब्रह्म एवं श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं, उस महान, पवित्र संसार के सर्वश्रेष्ठ उत्तम कर्म को कोई अज्ञानी पुरुष ही ना करने की बात कहेगा क्योंकि ऐसा पुरुष केवल मनुष्यों द्वारा रची अप्रमाणिक, वेद विरुद्ध पुस्तकों का अध्ययन करके जनता से धन बटोरने में ही लगा रहा। **यजुर्वेद मन्त्र १२/४२** के अनुसार यदि हम सत्य-असत्य पर विचार करके वेद मन्त्रों के प्रमाण से सत्य को समझ जाएँ तब केवल सत्य का ग्रहण करें एवं असत्य का त्याग करें। इस प्रकार सत्य को ग्रहण करने पर यदि तुम्हारी कोई निन्दा करता है अथवा स्तुति करता है तब भी कभी सत्य को न छोड़ें और असत्य को स्वीकार कभी न करें। जब चारों वेदों में ईश्वर ने यज्ञ को सत्य एवं विश्व का सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है तब हम अज्ञानवश होकर किसी के भी कहने से यज्ञ का त्याग न करें।

अज्ञानियों ने हमसे यज्ञ का त्याग कराकर यज्ञ द्वारा मिलने वाले असंख्य सुख हमसे छीन लिए हैं और हमें मनघढ़न्त, झूठे देवी-देवताओं के आगे कामनाओं की पूर्ति कराने के लिए, धन एवं समय का नाश करने के लिए, दर-दर की ठोकरें खाने के लिए मजबूर कर दिया है। उदारणार्थ **यजुर्वेद मंत्र १२/४४** में कहा कि यज्ञ से शरीर सुदृढ़ एवं निरोग बनता है और जीव की कामनाएँ धर्मयुक्त होती हैं और उनके संकल्प सत्य होते हैं। भारतवर्ष में यज्ञ की परंपरा टूट जाने के कारण हमारे शरीर निरोग नहीं रहे और हमारी कामनाएँ भी प्रायः धर्मयुक्त न होकर हिंसायुक्त, मलीन एवं स्वार्थ से पूर्ण होती हैं। अब यदि कोई उन यज्ञ को मना करने वाले पुरुषों से पूछे कि तुम्हारे बहकाए में आकर, यज्ञ छोड़कर जनता को कितनी अधिक हानि हुई है, उसे कौन पूरा करेगा? और उनके पास यज्ञ न करने का वैदिक प्रमाण क्या है?

श्रीकृष्ण उवाच-

'देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ ।।"

(गीता : ३/११)

(अनेन) इस यज्ञ के द्वारा **(देवान्)** देवों की **(भावयत)** उन्नति करो, **(ते)** वे **(देवाः)** विद्वान् **(वः)** तुम्हारी **(भावयन्तु)** उन्नति करें और **(परस्परम्)** आपस में **(भावयन्तः)** उन्नति करते हुए **(परम्)** परम **(श्रेयः)** कल्याण को **(अवाप्स्यथ)** प्राप्त करोगे।

अर्थ : इस यज्ञ के द्वारा देवों की उन्नति करो, वे विद्वान् तुम्हारी उन्नति करें और आपस में उन्नति करते हुए परम कल्याण को प्राप्त करोगे।

भावार्थ : इस श्लोक में भी समस्त प्राणियों को ईश्वर उपदेश देता है कि तुम सब यज्ञ के द्वारा देवों की उन्नति करो। यास्क मुनि ने देव शब्द का अर्थ **'विद्वांस एव देवाः सन्ति' (शतपथ ३/७/६)** अर्थात् वेदों के ज्ञाता विद्वान् पुरुष को देव या देवता कहा है। आगे यास्क मुनि कहते हैं **'द्वयं वा इदं न तृतीयम् अस्ति'** अर्थात् दो लक्षणों के पाए जाने से मनुष्य दो प्रकार का कहा गया है जो सत्य कर्म, सत्य भाषण और वेदानुकूल सत्य ही स्वीकार करते हैं

वे नर-नारी देव और देवी हैं और जो झूठ बोलते, झूठ ही कर्म करते और झूठ ही को स्वीकार करते हैं वे मनुष्य कहलाते हैं। अतः देव एवं मनुष्य में सत्य-असत्य का अन्तर है। सत्यव्रत आचरण वाले देव ही यश-कीर्ति एवं आनन्द को प्राप्त करते हैं और इसके विपरीत झूठ पर चलने वाले मनुष्य सदा दुःखी रहते हैं। ऐसे ही वेद एवं योग-विद्या में सिद्धहस्त व्यास एवं गुरु वसिष्ठ जैसे वर्तमान के विद्वानों से ही **यजुर्वेद मंत्र १६/३६** में परम्परागत प्रार्थना की गई है कि हे देवों! आप लोग विद्यादान आदि द्वारा हमारे शरीर एवं अन्तःकरण दोनों को पवित्र कीजिए।

विद्यादि दान द्वारा देव ही मनुष्यों को देव बनाते हैं, मनुष्य मनुष्यों को देव नहीं बना सकते। इस प्रकार वेद एवं यास्क मुनि जैसे ऋषि प्रणीत सद्ग्रन्थों के अनेक मन्त्रों से एवं श्लोकों से सिद्ध होता है कि सत्यधारी वेद वक्ता विद्वान् अर्थात् देव ही मनुष्य को पवित्र करके विद्या-दान द्वारा उसकी भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उन्नति कराते हुए उसे दुःखों से हटा कर समस्त सुख प्रदान करते हैं, साधारण मनुष्य नहीं। इसी प्रकार **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ १/४/५/३** में भी यास्क मुनि कहते हैं कि ऐसे विद्या के दान करने वाले ऋषियों और देवों की तन-मन-धन प्राणादि से सेवा करके मनुष्य ज्ञान प्राप्त करके स्वयं विद्वान्-देव होकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष, प्राप्त करता है। इसलिए सभी वेद आदि सद्ग्रन्थ ऋषि-मुनियों, विद्वानों की सेवा का आदेश देते हैं। क्योंकि इनकी सेवा से मनुष्य उन्नत होता है और मनुष्य की सेवा प्राप्त करके ऋषि-मुनि मनुष्य जाति को देव पद प्राप्त करा के उनको उन्नति के पथ पर अग्रसर करते हैं। इसी वैदिक शिक्षा का उपदेश श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में दे रहे हैं। यह सनातन रीति चली आई है। जो प्रायः इस कलियुग के वर्तमान काल में छिन्न-भिन्न सी होती दिखाई दे रही है। अब वेदों के तपस्वी विद्वान् पूजित न होकर प्रायः यज्ञ और वेदों के विरोधी सन्त भगवान के रूप में पूजे जा रहे हैं। जिसके फलस्वरूप दुःख, परेशानी, रोग, नारी अपमान एवं भ्रष्टाचार आदि अनेक बुराइयाँ सम्पूर्ण विश्व को ग्रस्त करने में लगी हुई हैं। **ऋग्वेद मंत्र ८/१००/११** स्पष्ट कहता है **"देवाः देवीं वाचं अजनयन्त"** अर्थात् दिव्य वाणी वेद को सबसे पहले विद्वान् लोग ही उच्चारण करते हैं, उनके

उच्चारण को सुन-सुन कर **"पशवः ताम् वदन्ति"** साधारण जन भी उसे बोलने लगते हैं और इस प्रकार परम्परागत विद्वानों की सेवा से साधारण मनुष्य भी देव बन जाते हैं। **सामवेद मंत्र ६५१** में भी ईश्वर इसी गीता के श्लोक के उपदेश को अनादिकाल से ही कह रहा है कि मनुष्य **"देवान् अभि इयक्षते"** अर्थात् देवों को लक्ष्य करके यज्ञ चाहते हुए परमात्मा के लिए वेदमंत्रों का गायन करें। इसी परम्परा में गुरु वसिष्ठ के उपदेश से दशरथ के पिता राजा अज, उनके पुत्र दशरथ और दशरथ के पुत्र श्री राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न एवं उस समय की प्रजा विद्वान् बनी और तुलसी कहते हैं कि-

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा। सब नर करहिं परस्पर प्रीति। चलहिं स्वधर्म निरत श्रुति नीति।' [(उत्तरकाण्ड दो० २० चौ०।)] अर्थात् राम राज्य में सब नर नारी, वेदों में बताई हुई नीति पर चलते हुए वे देव पद को प्राप्त थे तथा अपने-अपने धर्म-कर्त्तव्य का पालन करते हुए, आपस में प्रेम करते थे। फलस्वरूप उनको दैहिक, दैविक और भौतिक दुःख नहीं सताते थे। और इसके विपरीत आज हम देखते हैं कि वेद विरुद्ध मनुष्य ही अपने को विद्वान्-देव सिद्ध करके गुरु बनकर वर्षों से भक्ति का प्रचार कर रहे हैं और रामायण की इस चौपाई के विपरीत दैहिक दैविक और भौतिक दुःख बढ़ रहे हैं। आपस में प्रेम और भाईचारा का नामोनिशान समाप्त प्रायः होता जा रहा है और नर-नारी धर्म के नाम पर एक दूसरे के खून के प्यासे हुए जा रहे हैं, जिसके विषय में कलियुग का वर्णन करते हुए तुलसी ने भी कहा-

'कलिमले ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सद्ग्रंथ। दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहुपंथ' [उत्तरकाण्ड दो ९७ (क)] अर्थात् कलियुग में वेद-विरोधी दंभियों ने अपनी स्वयं की कल्पना से बहुत से नए-नए पंथ प्रकट कर दिए हैं। और **'बरन धर्म नहिं आश्रम चारी। श्रुति बिरोध रत सब नर नारी। द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।' (दो० ९७चौ०१)** अर्थात् सब गृहस्थाश्रम के नर-नारी वेद के विरोध में लगे रहते हैं और गुरु लोगों ने वेदों को बेच दिया अर्थात् वे वेद आदि मंत्र का ज्ञान नहीं रखते, अपनी मन मानी बात करते हैं। और

'निराचार जो श्रुति पथ त्यागी। कलिजुग सोई ग्यानी सो बिरागी।। (दो० ६७ चौ०४) अर्थात् कलियुग में वे गुरु पूजे जाते हैं जो आचारहीन हैं और वेद मार्ग को छोड़े हुए हैं। वेद, यज्ञ और योग विद्या को कठिन कह-कर जनता को भरमाते हैं और तो और **उत्तरकाण्ड दो० ६६ (क)** में तुलसी कहते हैं-वेद का तनिक भी ज्ञान न रखने वाले अर्थात् ब्रह्म ज्ञानी-ब्रह्मर्षि इत्यादि नाम्नों को बार-बार सुनाकर यह दिखाना चाहते हैं कि उनसे बड़ा ब्रह्म ज्ञानी कोई है ही नहीं। और **दोहा ६०(ख)** में सीधा ही तुलसी उपदेश कर रहे हैं कि वेदानुसार चलना और वेदों में कहे वैराग्य के लक्षण और ज्ञान से युक्त ही सच्चा ईश्वर-भक्ति का मार्ग है परन्तु कलियुग के प्राणी मोहवश वेदमार्ग पर नहीं चलते और अनेकों नए-नए वेद-विरोधी पंथों को बनाकर उनका अनुसरण करते हैं। तो देव और मनुष्य में ऊपर कहा अन्तर तुलसी की चौपाइयों में भी साफ झलकता है। श्रीकृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक ग्यारह में श्लोक १० का भाव दर्शाते हुए समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! ईश्वर ने मनुष्य को जन्म देकर साथ ही वेद-विद्या एवं यज्ञ करने का आदेश दिया और यज्ञ का भाव समझाया कि इस यज्ञ द्वारा देवों की उन्नति करो और फलस्वरूप देव भी तुम्हारी उन्नति करें। यज्ञ शब्द के कई अर्थ हैं परन्तु सर्वश्रेष्ठ अर्थ **देवपूजासंगतिकरणदानेषु** यज धातु से निष्पन्न माना गया है जिसका अर्थ है कि संसार में पाँच ही चेतन और जीवित तत्त्वों की हम उन्नति करें अर्थात् उनकी सेवा करें। क्योंकि देव का अर्थ देने वाला है। और वे पाँच देव हैं-**मातृ देवो भव** (माता जन्म देने वाली देवी है।), **पितृ देवो भाव** (पिता पालन-पोषण करने वाला देव है।) **अतिथि** (कम से कम एक वेद का ज्ञान रखने वाला अतिथि ज्ञान देने वाला देव है), **आचार्य** (चारों वेदों की सम्पूर्ण विद्या को आचरण में लाने वाला आचार्य **गुरु** (विद्या द्वारा मोक्ष देने वाला देव है।) और पाँचवा देव **ईश्वर**-देवों का देव, ईश्वर तो अन्न, जल, पृथिवी आदि सभी पदार्थ देने वाला देव है। इसी में ही संगतिकरण एवं दान द्वारा यज्ञ का आदेश है। और जब देवों की सेवा होगी तो निश्चित ही वे वेद विद्या दान करके जीव का कष्ट निवारण करके उन्हें अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष प्रदान करेंगे। इसे ही श्रीकृष्ण महाराज ने श्लोक में **"परमृश्रेयः अवाप्स्यथ"** अर्थात् इस विधि सब जन परम कल्याण को प्राप्त होएँगे। परन्तु भारत वर्ष का दुर्भाग्य है कि

महाभारत युद्ध के पश्चात मुनि, अत्रि ऋषि, कपिल मुनि एवं व्यास मुनि आदि तपस्वियों से उत्पन्न होने वाले वेद के ज्ञाता देव अब नहीं हो रहे जिसका फल तो तुलसी ने ऊपर कह ही दिया है कि आज प्रायः गुरु-सन्त वेद विहीन है, वेद को बेचकर खा गए हैं और मनघढ़न्त बातों से नए-नए पंथ बना कर प्रजा को वेद विरुद्ध किये जा रहें हैं जिससे समस्त सृष्टि पर वर्षों से अविद्या के काले बादल मण्डरा रहे हैं। इस श्लोक में कृष्ण महाराज का यह उपदेश कि हे मनुष्यों! तुम वेदों द्वारा घोषित यज्ञ (देवपूजा, संगतिकरण, दान) के द्वारा देवों की उन्नति (सेवा) करो। आज यज्ञ समाप्त हो गया है और यज्ञ एवं देव आदि वैदिक शब्दों का गलत अर्थ किया जा रहा है। हमें कृष्ण की गीता, तुलसी की रामायण में वैदिक साहित्य का ही अध्ययन करके वैदिक संस्कृति को पुनः जीवित करना होगा अन्यथा न तो वेदाध्ययन करने वाले देव और न ही मनुष्य बचेंगे अपितु यजुर्वेद मंत्र ४०/३ **"असुर्य्या नाम ते लोकाऽअन्धेन तमसावृताः। ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।।"** के अनुसार वेद-विरोधी असुर (राक्षस) बढ़ते जाएँगे ओर मानवता समाप्त हो जाएगी। अतः श्रीकृष्ण का इस श्लोक में जनता को यह ज्ञान देना है कि यज्ञ द्वारा देवों की उन्नति करें और देव पुनः वेदविद्या के दान से मानवता का कल्याण करते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच-

'इष्टान्भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ।।"

(गीता : ३/१२)

(यज्ञभाविताः) यज्ञ द्वारा समृद्ध हुए **(देवाः)** देव **(वः)** तुम्हारे लिए **(हि)** निश्चय ही **(इष्टान्)** इच्छित **(भोगान्)** भोगों को **(दास्यन्ते)** प्रदान करेंगे। **(तैः)** उन देवों के द्वारा **(दत्तान्)** दिए हुए भोगों को **(यः)** जो पुरुष **(एभ्यः)** इन देवों के लिए **(अप्रदाय)** न देकर **(भुङ्क्ते)** भोगता है **(सः)** वह **(स्तेनः)** चोर **(एव)** ही है।

अर्थ : यज्ञ द्वारा समृद्ध हुए देव तुम्हारे लिए निश्चय ही इच्छित भोगों को प्रदान करेंगे। उन देवों के द्वारा दिए हुए भोगों को जो पुरुष इन देवों के लिए न देकर भोगता है वह चोर ही है।

भावार्थ : श्लोक ९ में श्रीकृष्ण महाराज स्पष्ट कह रहे हैं कि यज्ञ के लिए कर्म करने से अतिरिक्त संसार के बाकी कर्म मनुष्य को बन्धन में बाँधते है। अर्थात् कर्म बन्धन में बाँधकर जन्म मृत्यु के चक्र में फँसा देते हैं। वेदों में यज्ञ शब्द के अनेक अर्थों में सर्वश्रेष्ठ अर्थ देवपूजा, संगतिकरण, दान है, देवपूजा में माता, पिता, अतिथि (एक वेद का ज्ञाता), आचार्य (जिसके आचरण में वेद-योग विद्या है) तथा ईश्वर की पूजा इन पाँच जीवित देवों की सेवा, अग्निहोत्र इत्यादि करना कहा गया। इन शब्दों का विस्तृत अर्थ पहले के कई श्लोकों में वैदिक रीति से कई बार किया गया है। अर्थात् संगतिकरण का अर्थ वैदिक विद्वान् की सेवा से पूर्ण वैदिक शिक्षा प्राप्त करना तथा सुपात्र को दान। यह तीन अंग यज्ञ के कहे गए हैं जिनका विस्तार सम्पूर्ण यजुर्वेद में एवं शेष ऋग्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में स्वयं ईश्वर ने किया है। क्योंकि इन शुभ कर्मों के करने से **'यज्ञो वै विष्णुः'**, अर्थात् यज्ञ से ईश्वर प्राप्ति, **'यज्ञो वै प्राणः'** यज्ञ से प्राण पुष्ट और दीर्घायु तथा योगाभ्यास इत्यादि, **''यज्ञपतिं भगाय''**-यज्ञ करने वाले को सुख इत्यादि तथा अन्य समस्त अर्थ एवं भाव स्वतः ही सम्पूर्ण हो जाते हैं। एक देव पूजा, संगतिकरण, दान रूपी यज्ञ न करने से समस्त कर्म पाप युक्त हो जाते हैं। याज्ञवल्क्य मुनि ने **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ १४/४/२-३/२९** में यज्ञ के लिए अति उत्तम कहा है कि जीवात्मा ने चाहा कि मेरी स्त्री हो, संतान हो, मेरे पास धन हो और मैं यज्ञ करुँ। बस इसके अतिरिक्त मनुष्य कुछ भी इच्छा न करें अर्थात् हमारे पास जो हमारा परिवार और जड़ रूप में मकान, धन इत्यादि हैं, यह देवपूजा, संगतिकरण, दान रूपी यज्ञ की सहायक सामग्री है; और जो प्राणी इस प्रकार यज्ञ नहीं करता उसके विषय में **यजुर्वेद मंत्र २/२३** में कहा कि **'विमु चति'** जो उस यज्ञ को छोड़ देता है, उसको **''सः''** वह परमेश्वर भी त्याग देता है। आगे मंत्र में कहा कि यज्ञ करने वाला मनुष्य **''तस्मै पोषाय''** सब प्राणियों का पोषण करने के लिए हवन सामग्री-पदार्थ यज्ञ में डालता है और जो यज्ञ नहीं करता तो **''रक्षसाम् भाग असि''** अर्थात् वह भोजन, वस्त्र आदि का भाग दुष्ट जनों के द्वारा उपभोग करने योग्य होता है। इसलिए श्री कृष्ण इस श्लोक में कहते हैं कि यज्ञ न करने वाले मनुष्य देवों द्वारा दिए भोगों को भोगते हैं तो वह चोर हैं। क्योंकि ऐसे नर-नारी सब सुखों से हीन होकर दुष्ट जनों

से पीड़ित हुए सदा दुःखी रहते हैं क्योंकि इस मंत्र का भाव है कि जो यज्ञ को छोड़ देता है तो उसे ईश्वर भी सदा दुःख देने के लिए छोड़ देता है। चाहे वह दुःख वेद एवं यज्ञ विरोधी संतों के द्वारा प्राणी को मिले अथवा चोर, डाकू दुष्ट प्राणियों द्वारा मिले। जबकि **सामवेद मंत्र २६०** में ईश्वर से प्रार्थना है कि हे प्रभु हमारे यज्ञ में हमारी रक्षा कीजिए और **"नः परावृणक्"** अर्थात् हमको आप कभी न त्यागें। ऋग्वेद भी कहता है **"केवलाघो भवति केवलादी"** अर्थात् जो अकेला खाता है वह पाप है। उदाहरणार्थ रावण, कंस, दुर्योधन एवं अनेक यज्ञहीन एवं यज्ञ में धन तथा पदार्थ न लगाने वाले दुष्टजन ही हुए थे जिन्हें ईश्वर ने छोड़ दिया। उन्होंने स्वयं अपनी आँखों के सामने अपनी दुनिया लुटती देखी और इससे भी अधिक उन्होंने सैनिक तथा पुत्रों के शरीरों को खून से लथपथ मरते देखा जो कि ऊपर **यजुर्वेद मंत्र २/२३** के अनुसार दिया सर्वनाश, अत्यन्त भयंकर हृदय विदारक एवं असहनीय दुःख था। उन्होंने भी आज की एक तरफा केवल भौतिकवाद की उन्नति द्वारा सुख प्राप्त करने का असम्भव प्रयास किया था। **सामवेद मंत्र १०६६** प्रमाण देता है कि हम माता-पिता आदि को भोजन, वस्त्र आदि से सन्तुष्ट करें। ईश्वर को संतुष्ट करने के लिए देवयज्ञ, अर्थात् अग्निहोत्र आदि पूजा करें और इस प्रकार यज्ञ के लिए अग्निहोत्र करने में हम समर्थ हों। मंत्र कहता है कि **"आहुतम् हविः देवाः अदन्ति"** अर्थात् इस प्रकार यज्ञ में होम किए पदार्थों को देवता लोग खाते हैं अग्नि देवों को यज्ञ में बुलाती है। अर्थात् जहाँ प्राचीनकाल में यज्ञ हुए वहाँ आमन्त्रित एवं सभी ऋषि-मुनि यज्ञ भूमि में पहुँच जाते थे। मन्त्र में दो प्रकार के देवों का संकेत है जिसका बृहदारण्यकोपनिषद् में ऋषि याज्ञवल्क्य एवं बाल-ब्रह्मचारिणी वेदों की ज्ञाता तथा जनक आचार्या गार्गी के संवाद से भी प्रमाणिक है। गार्गी ने यज्ञवल्क्य से पूछा कि विश्व में कितने देवता हैं। याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया पाँच चेतन जीवित हैं जिनकी सेवा प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है। वे पाँच हैं-माता, पिता, अतिथि, आचार्य और पाँचवा इन चारों देवों का देव, महादेव, स्वयं सृष्टि के रचयिता ईश्वर है। ईश्वर को ही सामवेद मंत्र २७६ में महादेव कहा है और इस महादेव के समान और कोई महादेव नहीं है अर्थात् इस सृष्टि रचयिता, पालनकर्त्ता, हर्ता और सबके कर्मों का भोग देने वाला इत्यादि अनन्त गुणों के धारक परमेश्वर के समान अन्य कोई दूसरा

परमेश्वर नहीं है। **यजुर्वेद मंत्र २७/३६** ने तो यहाँ तक कह दिया **"न जातः न जनिष्यति"** अर्थात् परमेश्वर के समान न तो कोई दूसरा पैदा हुआ है और न होगा। **'एको ब्रह्म द्वितीय न अस्ति'** इस श्रुति का भी यही तात्पर्य है कि सर्वशक्तिमान ईश्वर एक ही है और इसके समान दूसरा और कोई ईश्वर नहीं है। गार्गी ने पुनः ऋषि याज्ञवल्क्य से प्रश्न किया कि इन पाँचो के अतिरिक्त दूसरा कोई देव नहीं है। ऋषि ने कहा-इसके अतिरिक्त **३३** अन्य जड़ देवता हैं। जो पूजनीय नहीं हैं इनका ज्ञान **अथर्ववेद मंत्र १०/७/१३** में है। और वे देव हैं **८** वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश-चन्द्रमा और नक्षत्र, **११** रूद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धन जय दस प्राण और ग्यारवाँ जीवात्मा, **१२** आदित्य अर्थात् १२ महीने, एक इन्द्र अर्थात् बिजली, प्रजापति अर्थात् यज्ञ-तैंतीस (३३) देव। अग्निहोत्र में डाले गए पदार्थ इन जड़ देवताओं को शुद्ध करते हैं। **सामवेद मन्त्र १०६२** के अनुसार अग्निहोत्र में डाले गए यह पदार्थ सूर्य की किरणों में व्याप्ता और वर्षा कराता है। आयु को बढ़ाता और समस्त संसार को सुख देता है। अतः इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज का भी वैदिक उपदेश है कि अब हम माता-पिता, अतिथि, आचार्य (वैदिक गुरु) एवं ईश्वर की यज्ञ द्वारा अर्चना करते हैं और इस प्रकार जो तैंतीस जड़ देवताओं को भी हव्य पदार्थ पहुँचता है तो इस प्रकार यज्ञ द्वारा संतुष्ट सब देव हमारी इच्छाओं को पूर्ण करते हैं और मनुष्य दीर्घ आयु पाकर सुखी रहता है। और इसके विपरीत यज्ञ न करने वाले मनुष्यों को वेद, ऋषि एवं स्वयं श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में चोर कहते हैं और इस प्रकार ऐसे जीव परमेश्वर की कृपा से दूर होकर सदा कष्ट भोगते हैं। अतः हम अपनी सनातन एवं पुरातन वैदिक संस्कृति के अनुसार, विश्व कल्याण तक के लिए यज्ञ के आयोजन करें। तुलसी ने श्रीराम के विषय में कहा-**"कोटिवाज मेघ प्रभु कीन्हे"** अर्थात् विश्व कल्याण के लिए श्रीराम ने करोड़ों यज्ञ किए। इसी प्रकार दशरथ, जनक, श्रीकृष्ण, युधिष्ठिर एवं असंख्य राज-ऋषि एवं उनकी प्रजाओं ने असंख्य यज्ञ करके इस भारतभूमि को सुख-संपदा, भाईचारे, दीर्घायु, निरोगता एवं न्याय आदि गुणों एवं सुखों से भरपूर कर दिया था जो वर्तमान में हमारे द्वारा करना शेष है। "यज्ञ" शब्द का अर्थ यहाँ देवपूजा है जिसमें माता-पिता,

अतिथि एवं आचार्य गण कहे गए हैं। इन्हीं को देव कहते हैं। पाँचवा देव स्वयं ईश्वर है। इनकी सेवा से जीव आशीर्वाद प्राप्त करके इच्छानुसार सांसारिक भोग पदार्थों, जैसे वस्त्र, धन, अन्न, मकान सम्पत्ति आदि, को प्राप्त करता है। और यह देव यज्ञ से समृद्ध होते हैं अर्थात् वेद सुनना, अग्निहोत्र आदि शुभ कर्म करना और अग्निहोत्र आदि के आयोजन में माता-पिता, अतिथि, आचार्य की यथायोग्य सेवा तथा वेदमन्त्रों से आहुति द्वारा ईश्वर की पूजा से समृद्ध अर्थात् ऐसे यज्ञकर्मों द्वारा प्रसन्न होते हैं। इनकी कृपा से जब जीव इच्छित भोग पदार्थों को पाता है तो उसका कर्त्तव्य है कि उन पदार्थों से पुनः इन देवों, वृद्धों की सेवा करें, उस धन, अन्न, वस्त्र, मकान, दुकान आदि का प्रयोग इन देवों की सेवा, समृद्धि, सत्कार के लिए भी हो और उसी धन, अन्न इत्यादि से अग्निहोत्र/यज्ञ आदि के पुनः आयोजन करके ईश्वर की पूजा हो और इन्हीं देवों का पुनः आशीर्वाद प्राप्त हो और पुनः प्राणी कठिन परिश्रम में लगा हुआ, कर्त्तव्य-कर्म करता हुआ, गृहस्थाश्रम में धन उपार्जन करता हुआ इन देवों की सदा सेवा करता रहे और जो प्राणी संसार के भोग पदार्थों को बाँटकर नहीं खाता, इन देवों-वृद्धों की सेवा में नहीं लगाता, उनके लिए श्रीकृष्ण स्पष्ट कह रहे हैं कि वह प्राणी इन देवों के लिए न देकर स्वयं उन पदार्थों का भोग करता है तब तो वह निश्चित ही चोर है और चोर सदा दुःख भोगता रहता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भु जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।"

(गीता : ३/१३)

(यज्ञशिष्टाशिनः) यज्ञ से शेष बचे अन्न को खाने वाले **(सन्तः)** सत्पुरुष **(सर्वकिल्बिषैः)** सब पापों से **(मुच्यन्ते)** छूट जाते हैं। **(ये)** और जो **(पापाः)** पापी लोग **(आत्मकारणात्)** स्वयं अपने लिए ही **(पचन्ति)** अन्न पकाते हैं-खाते हैं **(ते)** वे पापी **(तु)** तो **(अघम्)** मानो पाप को ही **(भु जते)** खाते हैं।

अर्थ : यज्ञ से शेष बचे अन्न को खाने वाले सत्पुरुष सब पापों से छूट जाते हैं। और जो पापी लोग स्वयं अपने लिए ही अन्न पकाते हैं-खाते हैं वे पापी

तो मानो पाप को ही खाते हैं।

भावार्थ : भगवान श्री कृष्ण ने पिछले तीनों श्लोकों में अर्जुन को समझाया कि ईश्वर ने यज्ञ और मानव जीवन साथ-२ उत्पन्न किए हैं परन्तु आज प्रायः मानव एवं वेद-योग विद्या एवं यज्ञ के विरोधी गुरु का जनता इस श्लोक में कही दूसरी ही बात को ज्यादा ध्यान में लिए हुए हैं अर्थात् धन कमाना एवं केवल अपने लिए ही खाना-पीना रह गया है और ज्ञान न होने के कारण इस पाप युक्त चोरी के लिए उन्हें किसी बात का पछतावा भी नहीं है। क्योंकि धन लूटना, खाना-पीना, हँसी-मज़ाक इत्यादि में प्रत्यक्ष एवं तुरन्त इन्द्रियों का सुख है जो आत्म घातक है। **यजुर्वेद अध्याय १८** में अन्न, घर, दुकान, सोना-चाँदी, कपड़े यहाँ तक की ईंट, मिट्टी इत्यादि प्रत्येक पदार्थ केवल यज्ञ से ही पवित्र कहे गए हैं और **यजुर्वेद मन्त्र २/२३** तो स्पष्ट कह ही रहा है कि जो यज्ञ को छोड़ देता है, उसे ईश्वर सदा के लिए दुःख देने के लिए छोड़ देता है। इस गहन विषय में **ऋग्वेद मन्त्र १०/११७/१** कहता है कि **"देवाः क्षुधम् इत्"** अर्थात् विद्या के जानने वाले विद्वान् केवल अन्न न मिलने वाले भूखे की ही **(वधं न उत ददुः)** मृत्यु नहीं मानते क्योंकि **"मृत्यवः उपगच्छन्ति"** अर्थात् भरपेट खाए हुए अमीरों को भी वैसी ही मृत्यु प्राप्त होती है। अतः वेद मन्त्र आगे कहता है कि **"उत पृणतः रयिः न उपदस्यति"** दूसरों को अर्थात् सुपात्रों को दान द्वारा तृप्त किया धन कभी बेकार नहीं जाता वह पुण्य देता है, मोक्ष तक दे जाता है। परन्तु **"अपृणन् मर्डितारम् न विन्दते"** जो दान नहीं करता, परोपकार में धन नहीं लगाता वह जीते जी भी कभी सुख प्राप्त नहीं करता। इस वेद मन्त्र एवं अन्य मन्त्रों के ही सब भाव इस प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि यज्ञ में माता-पिता, वेदज्ञ गुरुजनों आदि की तन-मन, अन्न-धन, वस्त्र आदि द्वारा सेवा, ईश्वर की देवयज्ञ अर्थात् अग्निहोत्र, वेदाध्ययन आदि से सेवा एवं समाज तथा देश इत्यादि सेवा को ही ईश्वर ने **"देवपूजासंगतिकरणदानेषु"** रूपी यज्ञ कहा है जिसे **"यज्ञो वै श्रेष्ठतमम् कर्मः"** अर्थात् यज्ञ को संसार का सर्वश्रेष्ठ शुभ कर्म कहा है। तो श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में कह रहे हैं कि जो प्राणी इस प्रकार तन, मन धन इत्यादि की सेवा और अग्निहोत्र द्वारा ईश्वर एवं विद्वानों

की सेवा और सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि ३३ जड़ देवताओं को तृप्त करता है और तब बचे हुए धन अन्न से अपने और परिवार के शरीर का पालन-पोषण करता है तो वह प्राणी इस पुण्यवान श्रेष्ठ कर्म द्वारा सभी पापों से छूट जाता है और मोक्ष प्राप्त कर लेता है। और जो प्राणी ऐसा यज्ञ नहीं करते तो उसके लिए श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं **"ते तु अघम् भु जते"** अर्थात् वे तो केवल पाप ही खाते हैं, भोजन इत्यादि नहीं। इस विषय में **अथर्ववेद मन्त्र ८/२/१** स्पष्ट कहता है कि हे प्राणी! तू **"इमाम् अमृतस्य श्नुष्टिम्"** अर्थात् यज्ञ से बचे शेष अमृतरूपी भोजन को ही सेवन करने वाला बन जिससे तू निरोग, लम्बी आयु को प्राप्त होगा। और **"मा प्रमेष्ठाः"** और इस प्रकार तू हिंसा अर्थात् दुःखों को प्राप्त नहीं होगा। क्योंकि **यजुर्वेद मन्त्र २/२३** कह ही रहा है कि यज्ञ को छोड़ने वाले प्राणियों को ईश्वर त्याग देता है और ऐसे प्राणी कई प्रकार के घोर दुःख हिंसा आदि को प्राप्त होते हैं। **ऋग्वेद मन्त्र १०/११७/६** यज्ञ न करने वालों को स्पष्ट शब्दों में पापी कहता हुआ, कहता है-**"अप्रचेताः मोघम् अन्नम् विन्दते सत्यम् ब्रवीमि तस्य सः वधः इत्"** अर्थात् ईश्वर कहता है कि मैं सत्य कह रहा हूँ कि यज्ञ न करने वाले मूर्ख को यदि अन्न, धन आदि मिल जाता है तो समझो कि उसको उसकी साक्षात् मौत मिल गई है क्योंकि वह बुद्धिहीन **"अर्यमणम् न पुष्यति"** न तो आर्य अर्थात् वेदज्ञ, विद्वानों और न माता-पिता आदि में वह धन खर्च करेगा। अतः ऐसा बुद्धिहीन **"केवलादी केवलाघः"** अकेला खाने वाला केवल पाप ही खाता है। अतः हम यज्ञ द्वारा सब पापों का नाश करके सुख शान्ति से कर्त्तव्य कर्म करें, यही उपदेश इस श्लोक में है।

महाभारत के अनुशासन पर्व में अधिकारी को अन्न, धन, दान सर्वोत्तम कहा है। याचना करने वाले अधिकारी सुपात्र, वेदों के ज्ञाता तपस्वी को जो अन्न दान देता है वह परलोक में अपने लिए एक उत्तम कोष (खजाना) बना लेता है। इस सत्य को अथर्ववेद काण्ड ६ में स्पष्ट कहा है कि जो वेद के ज्ञाता, ऋषि-मुनि की वस्त्र, धन, अन्न इत्यादि दान करके सेवा करता है वह स्वर्ग में अपना स्थान पक्का कर लेता है। दान के प्रति महाभारत के अनुशासन पर्व में एक सत्य वर्णन है कि-

एक बार व्यास जी गुप्तरूप से विचरते हुए वाराणसी में पहुँचे। वहाँ वे मुनियों की मण्डली में बैठे हुए मैत्रेयमुनि के यहाँ उपस्थित हुए। पास आकर बैठे हुए मुनिवर व्यासजी को पहचानकर मैत्रेयजी ने उनका आदर सत्कार किया और उन्हें उत्तम भोजन कराया। उस उत्तम, सुगन्धित और सबकी रुचि के अनुसार भोजन का सेवन करके महामना व्यासजी अति संतुष्ट हुए और वहाँ से प्रस्थान करते समय मुस्कराए। उन्हें मुस्कराते देख मैत्रेयजी ने व्यासजी से पूछा-"धर्मात्मन्! आप अभी-अभी जो मुस्कराये हैं, उसका कारण क्या है? आपको हँसी कैसे आई?" व्यास जी बोले मुझे यहाँ 'अतिच्छन्द' (अतिथि को अत्यन्त गौरव प्रदान करते हुए उसकी इच्छा के अनुसार सत्कार करना 'अतिच्छन्द' कहलाता है) और अतिवाद (वाणी द्वारा अतिथि के गौरव का प्रकाशन करना 'अतिवाद' कहलाता है।) प्राप्त हुए हैं, अतः मेरा यह विस्मय एवं हर्षोल्लास प्रकट हुआ है। (दान और आतिथ्य का महत्त्व वेदों द्वारा प्रतिपादित हुआ है) वेदों का वचन कभी मिथ्या नहीं हो सकता। भला, वेद मिथ्या क्यों कहेगा? वेद मनुष्यों के लिए तीन बातों को उत्तम व्रत बताते हैं-किसी के प्रति द्रोह-वैरभाव न रखे, दान दे और दूसरों से सदा सत्य वचन बोले। शास्त्र विधि के अनुसार दिया हुआ थोड़ा सा भी दान महान फल देने वाला होता है। तुमने ईर्ष्या रहित हृदय से भूखे प्यासे अतिथि को अन्न-जल का दान किया है। इस दान के द्वारा पवित्र हुई तुम्हारी तपस्या से मैं बहुत सन्तुष्ट हुआ हूँ। तुम्हारा बल पुण्य का बल है और तुम्हारा दर्शन भी पुण्य का ही दर्शन है। तुम्हारे शरीर से जो सदा पुण्य की सुगन्ध फैलती रहती है, इसे मैं तुम्हारे दानरूप पुण्यकर्म के अनुष्ठान का ही फल मानता हूँ। तात! दान करना तीर्थ स्नान तथा वैदिक व्रत की पूर्ति से भी बढ़कर है। ब्रह्मन्! जितने पवित्र कर्म हैं, उन सबमें दान ही सबसे बढ़कर पवित्र और कल्याणकारी है। यदि दान ही समस्त पवित्र वस्तुओं में श्रेष्ठ न होता तो वेद-शास्त्रों में उसकी इतनी प्रशंसा न गाई जाती। दाताओं ने जो मार्ग बना दिया है, मनीषी लोक उसी से चलते हैं। दानदाता, प्राणदाता समझे जाते हैं। उन्हीं में धर्म प्रतिष्ठित है। जैसे वेदों का स्वाध्याय, इन्द्रियों का संयम और सर्वस्व त्याग उत्तम है, वैसे ही इस संसार में दान भी उत्तम माना गया है। तात् महाबुद्धे! तुम्हें इस दान के कारण उत्तम सुख की प्राप्ति होगी। बुद्धिमान

मनुष्य दान करके उत्तरोत्तर सुख प्राप्त करता है। क्योंकि ये कथाएँ महाभारत से है जिसमें वेदों का ही वर्णन है। अतः वेदानुसार हमें सुपात्र को ही दान देना चाहिए। **ऋग्वेद मंत्र ३/१०/६** में कहा है कि ऐसे वेदों के ज्ञाता, विद्वानों का आदर करने को कहा है। पुनः आवश्यकता वालों, निर्धनों, भूखों आदि की दान आदि द्वारा सहायता पुण्यवान कर्म है। लेकिन जिनका भीख माँगना पेशा है अथवा जो वेद-विरुद्ध असत्य भाषण करने वाले संत आदि हैं उन्हें दान देना वेदों के अनुसार नहीं है। अतः पूर्णतः वेद-विरुद्ध है। अतः दान वेदानुसार वेद शास्त्रों के अनुसार ही करना चाहिए। शास्त्र कहते हैं-**"जयेत् कर्दयं दानेन"** अर्थात् दान द्वारा कंजूसी रूपी पाप समाप्त करो। **"जयेत् सत्येन् चानृतम्"** अर्थात् झूठ मार्ग को छोड़ो सत्य भाषण करो तथा सत्य पथ पर चलकर विजयी बनो।

श्रीकृष्ण उवाच-

'अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ।।"

(गीता : ३/१४)

(अन्नात्) अन्न से **(भूतानि)** सब प्राणी **(भवन्ति)** होते हैं अर्थात् अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, **(अन्नसम्भवः)** अन्न की उत्पत्ति **(पर्जन्यात्)** मेघ से होती है, **(पर्जन्यः)** मेघ अर्थात् वर्षा **(यज्ञात्)** यज्ञ से **(भवति)** होती है। **(यज्ञः)** यज्ञ **(कर्मसमुद्भवः)** कर्म से उत्पन्न होता है।

अर्थ : अन्न से सब प्राणी होते हैं अर्थात् अन्न से सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति मेघ से होती है, मेघ अर्थात् वर्षा यज्ञ से होती है। यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है।

भावार्थ : अन्न से ही समस्त प्राणी उत्पन्न होते हैं। क्योंकि अन्न से ही वीर्य एवं रज बनता है। परन्तु जमीन उपजाऊ न हो और उसे समय से पानी प्राप्त न हो, तो अकाल पड़ जाता है। और प्राणी अन्न के एक-एक दाने के लिए मोहताज़ हो जाता है। अतः इस श्लोक में जल की उत्पति अर्थात् वर्षा बिना यज्ञ के नहीं हो सकती और यज्ञ भी बिना कर्म किए सम्भव नहीं। तब अन्न

अथवा विद्या की प्राप्ति बिना पुरुषार्थ, बिना शुभकर्मों के किए नहीं हो सकती। सम्पूर्ण यजुर्वेद में तो केवल पुरुषार्थ द्वारा यज्ञ आयोजन करने का ही विशेष उपदेश दिया गया है। यजुर्वेद के पहले मन्त्र में ही कहा है-**"सवितः देवः वायवः स्थ वः श्रेष्ठतमाय कर्मणे प्रार्पयतु"** अर्थात् हम सब अत्यन्त श्रेष्ठ यज्ञ कर्म का आयोजन करें। **मन्त्र १/६** में ईश्वर प्रश्नोत्तर द्वारा ज्ञान देता है कि हे मनुष्य! **"कौन तुम्हें यज्ञ करने को कहता है?"** और इसका उत्तर इसी मन्त्र में कहा, **"वाम् कर्मणे"** अर्थात् ईश्वर ही कर्म करने और कराने वालों को पिछले पहले-दूसरे मन्त्रों में कहे यज्ञ करने की आज्ञा देता है। पुनः प्रश्न है कि हे मनुष्य! कौन तुझे कर्म का अनुष्ठान और पुरुषार्थ करने की आज्ञा देता है? उत्तर में कहा-**"सः त्वा युनक्ति"** अर्थात् वह परमेश्वर ही विद्यादि गुण और यज्ञ करने के लिए मनुष्यों को आज्ञा देता है। इस गीता के श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज सबको यज्ञ करने की आज्ञा दे रहे हैं। अन्यथा न समय पर वर्षा होगी और न उत्तम अन्न उत्पन्न होगा और वर्षा की कमी से वनस्पतियाँ, जंगल, हरियाली एवं पानी कम होने के कारण पशु-पक्षी कम होते जाएँगे और दूध-मक्खन, घी, दही, इत्यादि पौष्टिक भोजन समाप्त प्रायः होने लगेगा जिससे देश में बुद्धिमान, तपस्वी एवं योद्धा उत्पन्न होने बन्द हो जाएँगे, जो कि आज प्रायः ऐसा हो ही रहा है। तब ऐसे गूढ़ सत्य को स्वार्थवश प्रायः वेदविरोधी, अज्ञानी सन्त जनता को यज्ञ से विमुख करने अर्थात् यज्ञ न करने के लिए समझाते रहते हैं। कभी यह कहकर कि यज्ञ केवल कर्मकाण्ड है और कभी यह कह कर कि इसमें डाला हुआ लड्डू-घी और आहूतियाँ बेकार जाती हैं और कभी यह कहकर कि यज्ञ करने से दीवारें काली होती हैं। अथवा यज्ञ करने के लिए बहुत बड़े शास्त्री-पंडित की आवश्यकता है, तुम कहाँ से ढूढोंगे? इत्यादि-इत्यादि। ऐसी डरी हुई मिथ्या बातों को सुनकर ईश्वर की आज्ञा, यज्ञ को करना बन्द करके भ्रमित जनता ने पाप कमाना शुरू कर दिया है। आज यज्ञ न करने से और वेद-विरोधी सन्तों की बातों में आ जाने से, देश में पानी, शुद्ध वायु, शुद्ध अन्न, शुद्ध बुद्धि, इन सबकी कमी आ चुकी है, जिससे हमें चेतने की आवश्यकता है। यजुर्वेद में कहा **"यज्ञे यज्ञपतिः धाः"** अर्थात् यज्ञमान यज्ञ को धारण करे। **यजुर्वेद मंत्र १/२** में स्पष्ट कहा कि यज्ञ पवित्रता फैलाने वाला और संसार को सुख धारण कराने वाला

है। **"ते यज्ञपतिः मा ह्वाः मा ह्वार्षीत्"** अर्थात् हे प्राणी। तू और तेरा विद्वान् कभी भी यज्ञ का त्याग न करे। अतः वेद का ज्ञान न सुनने के कारण हम यज्ञ करने की ईश्वर की आज्ञा को पूर्णतः त्याग देते हैं और आदमी रूपी सन्तों की यज्ञ न करने की झूठी बातें स्वीकार करके अपना, अपने परिवार, देश, वन एवं सम्पूर्ण पृथिवी के सुखों का नाश कर देते हैं। **यजुर्वेद मन्त्र ६/१०** में कहा कि यज्ञ में जो आहुतियाँ डाली जाती हैं वह सूर्य तक पहुँचती हैं, तब सूर्य की आकर्षण शक्ति से पृथ्वी के जल का आकर्षण होने से सब प्राणियों को जीवन मिलता है और यज्ञ न करने से रोग फैलते हैं और अल्पायु में मृत्यु आने लगती है। **सामवेद मन्त्र १०४०** में कहा कि यज्ञ का उठा हुआ धुआँ जब सूर्य की किरणों से मिलता है तब वर्षा होती है। और यही बात श्रीकृष्ण ने इस श्लोक में भी कही है कि यज्ञ से वर्षा होती है। **सामवेद मन्त्र १०६६ और १०७८** में स्पष्ट कहा है कि यज्ञ में डाले गए पदार्थ चेतन एवं जड़ दोनों शक्तियों को प्राप्त होते हैं। **सामवेद मन्त्र १०३६** में कहा कि यज्ञ तीनों लोकों में धन इत्यादि की वृद्धि करता हुआ, सुखों की वर्षा करता है। **सामवेद मन्त्र १०९९** में कहा कि जैसे गाय का बछड़ा, गाय के साथ बिल्कुल प्रेम में लीन हो जाता है वैसे ही यज्ञ में जले हुए पदार्थ समस्त विश्व के पदार्थों में मिलकर, शुद्धि करके, बल और बलयुक्त भोजन प्रदान करते हैं। **यजुर्वेद** कहता है कि यज्ञ में किया हुआ खर्चा मानो बनिए का व्यापार है अर्थात् व्यापारी व्यापार में धन लगाता है जिससे उसका धन बढ़ता है अतः यज्ञ करने से धन बढ़ता है। तब ऐसे प्रमाणों से यह सिद्ध है कि यज्ञ में डाला हुआ धुआँ, पदार्थ समस्त प्राणियों और विश्व के कल्याण के लिए होता है। तब उसे जो ऐसा कहे कि यह पदार्थ बेकार जाते हैं, इससे तो अच्छा घी, दूध, लड्डू को यज्ञ में डालने के बजाय मुँह में डालकर खाकर सेहत बनाओ, तो यह पूर्णतः ईश्वर एवं ईश्वर की वेद-विद्या का अनादर, अज्ञान एवं पूर्णतः मिथ्यावाद है जिससे हमें चेतने की आवश्यकता है। श्रीकृष्ण ने यज्ञ से ही वर्षा एवं अन्न आदि की उत्पत्ति कही है जो पुरुषार्थ के बिना सम्भव नहीं। अतः आलसी ही यज्ञ का खण्डन करते हैं और इसके लिए यजुर्वेद ने स्पष्ट कहा है कि जो पुरुष कर्म से हीन और आलसी है और जिसमें उत्साह नहीं है वह यज्ञ नहीं कर सकता। अतः हमें पुरुषार्थी बनना

होगा न कि आलसी और मिथ्यावादी। यजुः पद यज् धातु से बना है और सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्म करने की ही प्रेरणा दे रहा है। गीता के इस श्लोक में कृष्ण महाराज भी कह रहे हैं कि कर्म के बिना यज्ञ भी नहीं होगा फलस्वरूप न वर्षा होगी, न अन्न होगा। तो ऐसे प्रमाणिक गीता-ग्रन्थ को भी सुनाते-सुनाते कई मनुष्य जो संत होने का दावा करते हैं वह कर्म एवं उपासना का त्याग बताकर केवल ज्ञान में ही मुक्ति प्राप्त करने की बातें करते हैं जो कि पुनः अप्रमाणिक हैं। तब तो जंगल के पशु-पक्षी और प्राणी भी भूखे मरेंगे ही, तो ऐसे वर्षा बरसाने वाले यज्ञ के स्पष्ट अर्थों को अनर्थ करके कोई कहता है कि इस यज्ञ की जरूरत ही नहीं है, जप यज्ञ या योग यज्ञ कर लो, इत्यादि-इत्यादि। ऐसे मनुष्य अपनी बुद्धि से ही वेद-विरुद्ध कितने ही यज्ञ उत्पन्न कर लेते हैं जो कि अप्रमाणिक होने से त्याज्य हैं, जिससे प्रत्येक प्राणी को सावधान होना पड़ेगा क्योंकि यज्ञ न करवाकर प्रायः सन्तों ने यज्ञ द्वारा सुख शांति, अन्न इत्यादि असंख्य सुखों को प्राणियों से छीन लिया है। **सामवेद मन्त्र ११०५** को भी सुनाते-सुनाते कई मनुष्य जो संत होने का दावा करते है वह कर्म में तो एक यज्ञ में लगभग **६० हजार** सुखों की वर्षा एवं रक्षा की बात कही गई है। इसीलिए **सामवेद मन्त्र १०८६** में ईश्वर ने आज्ञा दी कि प्राणी वेद के विद्वानों से यज्ञ व ईश्वर का महत्त्व जानें और अविद्वानों की बात न सुनें। यज्ञ होगा तो वर्षा और अन्न होगा और प्राणी सुखों में वास करते हुए जीवित रहेंगे अन्यथा तो सूरदास ने भी कह ही दिया था-

"भूखे भजन न होए गोपाला, यह ले अपनी कण्ठी माला।"

आज धर्म की आड़ में झूठ फैलाकर पैसा बटोरने वाले सन्तों से सावधान होकर हमें अपनी वैदिक संस्कृति की रक्षा करके पुनः श्रीराम की तरह विश्व कल्याण हेतु यज्ञ के आयोजन करने चाहिए जिससे सम्पूर्ण प्राणियों को अन्न और जल प्राप्त होएँ। यह भी बात हम ध्यान में रखें कि चारों वेद प्रमाण देते हैं-**"देवाः यज्ञेन यज्ञम्-अयजन्त"** अर्थात् विद्वान् जन यज्ञ द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं। **(यजु ३१/१६)** अर्थात् यज्ञ ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ पूजा है और यज्ञ आयु, धन एवं सुखों को बढ़ाता हुआ **"स्वः यज्ञेन कल्पन्ताम्"** अर्थात् ब्रह्म के सुख को भी देने वाला है अर्थात् यज्ञ द्वारा ही ईश्वर की

प्राप्ति पूर्णतः प्रमाणिक है। अतः **यजुर्वेद** के इस आदेश को हम मानें **"यज्ञम् कुरू, यज्ञम् कुरू, यज्ञम् कुरू"** अर्थात् यज्ञ करो, यज्ञ करो, यज्ञ करो।

श्रीकृष्ण उवाच-

'कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।"

(गीता : ३/१५)

(कर्म) कर्म को **(ब्रह्म+उत्+भवम्)** वेद से उत्पन्न हुआ **(विद्धि)** जान **(ब्रह्म)** वेद **(अक्षर+सम्+उत्+भवम्)** अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है, **(तस्मात्)** इसलिए वह **(सर्वगतम्)** सर्वव्यापक **(ब्रह्म)** परमात्मा **(नित्यम्)** सदा ही **(यज्ञे)** यज्ञ में **(प्रतिष्ठितम्)** प्रतिष्ठित है।

अर्थ : कर्म को वेद से उत्पन्न हुआ जान वेद, अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुआ है इसलिए वह सर्वव्यापक परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है।

भावार्थ : पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने उपदेश किया है कि प्राणी अन्न से, अन्न वर्षा से, वर्षा यज्ञ से और यज्ञ कर्म से उत्पन्न होता है। उपदेश का क्रम जारी रखते हुए श्रीकृष्ण इस श्लोक में कह रहे हैं कि कर्म चारों वेदों से उत्पन्न हुए हैं और वेदों का ज्ञान ईश्वर से उत्पन्न हुआ है। और साथ ही एक विलक्षण बात कह दी कि ईश्वर जिससे वेद उत्पन्न होते हैं वह सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। ईश्वर तो सर्वव्यापक है, परन्तु सदा से यह नियम है कि जहाँ-जहाँ वेद वाणी द्वारा यज्ञ होता है वहाँ स्वयं ईश्वर प्रकट होता है। इसलिए यास्क मुनि कहते हैं-**'यज्ञो वै ब्रह्म'** अर्थात् यज्ञ ही ईश्वर है। **अथर्ववेद मन्त्र १२/५/३-४** में कहा कि ईश्वर वेदवाणी का परम स्वामी है और वेद वाणी **'यज्ञे प्रतिष्ठित'** यज्ञ में **सन्मान** की गई है। और वेदवाणी का यह संसार स्थिति स्थान है। इस प्रकार यदि संसार में यज्ञ नहीं होंगे तो ईश्वर और वेदवाणी दोनों ही लुप्त हो जाएँगे। **सामवेद मंत्र ७६१** कहता है कि प्राणी वेदमंत्रों से अग्नि में आहुति देकर सदा ईश्वर की पूजा करें क्योंकि **सामवेद मंत्र ८७३** में यज्ञ करने की आज्ञा ईश्वर द्वारा दी गई है। **यजुर्वेद मंत्र १/६** भी कहता है कि जब कोई आपसे प्रश्न करे कि कौन तुम्हें यज्ञ की आज्ञा देता है तो उसे कहें कि ईश्वर हमें यज्ञ करने की आज्ञा देता है। अतः हम

सब प्राणियों को ईश्वर आज्ञा के सम्मुख ही नतमस्तक होकर सदा यज्ञ करना चाहिए और यज्ञ का वास्तविक अर्थ माता-पिता, अतिथि, गुरु व परमेश्वर की सेवा, वेदज्ञ आचार्य की सेवा से विद्या लाभ एवं सुपात्र को दान, यह तीनों शुभ कर्म जीवन में धारण करने चाहिए। प्रत्येक शुभ कर्म का उदय वेदों से ही है। **मनुस्मृति श्लोक २/६** इस विषय में स्पष्ट कहता है **"वेदः अखिलः धर्ममूलम्"** जब वेदमन्त्र और ईश्वर का सम्मान यज्ञ से कहा गया है तब यदि यज्ञ नहीं होंगे तो वेद मंत्रों के ज्ञान के अभाव में शुभ कर्मों के स्वरूप का ज्ञान भी नहीं होगा। और प्राणी अविद्याग्रस्त होकर अशुभ कर्मों को ही शुभ मानकर नरकगामी हो जाएगा। अतः वेदों में परमात्मा ने जिस-जिस कर्म को करने की आज्ञा दी है वही मनुष्य का धर्म है और वेद-विरुद्ध कर्म करना ही अधर्म कहा गया है। कई मनुष्य केवल ज्ञान में मुक्ति मानते हैं और कर्मों का त्याग बताते हैं जो कि वेद-विरुद्ध है। **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** स्पष्ट कहता है कि जीवात्मा कर्म करता है और ईश्वर उसका फल देता है। **मनुस्मृति श्लोक २/४** में भी कहा कि हमारे हाथ-पैर इत्यादि कामना से ही चलते हैं, यदि कामना ही न हो तो आँख का खोलना और बंद करना भी नहीं हो सकता। अर्थात् बिना कर्म किए कोई प्राणी पलभर भी नहीं रह सकता। परन्तु कर्म करने के लिए ज्ञान आवश्यक है और विद् धातु से वेद शब्द बनता है जिसका अर्थ है ज्ञान। अतः हम वेदों में कहे ज्ञान युक्त कर्म ही करें। वेद-विरुद्ध कर्म पाप हैं। चारों वेदों में विस्तार से तीन विद्या कही गई हैं। ऋग्वेद में ज्ञान, यजुर्वेद में कर्म, सामवेद में उपासना का उपदेश है, अथर्ववेद में इन तीनों विद्याओं की सिद्धि तथा औषधी-विज्ञान है। ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में यह विद्या दया करके मनुष्य के कल्याण के लिए ऋषियों के हृदय में प्रकट की थी। परम्परागत तरीके से श्रीकृष्ण महाराज ने भी वेद-विद्या अपने आचार्य संदीपन से प्राप्त की और वही वेद-विद्या का ज्ञान यहाँ गीता के श्लोकों में अर्जुन को दिया। इस बात को श्रीकृष्ण महाराज ने **श्लोक १३/४** में इस प्रकार भी कहा है कि हे अर्जुन! यह ज्ञान वेद मंत्रों द्वारा और ऋषि के प्रवचनों द्वारा पहले से ही कहा गया है। अतः हम श्री कृष्ण द्वारा दिए उपदेश को समझें कि सृष्टि की रचना यज्ञ के साथ है और यज्ञ के बिना ईश्वर और वेदवाणी भी संसार में सम्मान पाकर स्थिर नहीं रह सकती। और

जब वेद-वाणी ही नहीं रहेगी तो शुभ कर्म का ज्ञान कहाँ से होगा और प्राणियों को पेट भर अन्न कहाँ से प्राप्त होगा। तो असंख्य गुणों से ओत-प्रोत एक यज्ञ कर्म ही प्राणी मात्र का सच्चा सहारा है, जिसे करके हम दीर्घायु सुख सम्पदा, अन्न तथा सत्य शुभ कर्मों के स्वरूप को जानकर मोक्ष तक की प्राप्ति सतयुग से आज तक करते आए हैं। और यज्ञ के अभाव में आज वेद-विद्या धूमिल सी होती जा रही है। जिस कारण पृथिवी पर नास्तिकवाद, अंधविश्वास, पाखण्ड, थोथे कर्मकाण्ड अन्याय, नारी अपमान आदि अनेक पापयुक्त कर्मों का बोलबाला है। हमें शीघ्र अपनी सनातन एवं पुरातन वेद-विद्या में पदार्पण करके राम राज्य आदि की स्थापना करनी होगी। इस पवित्र भारत भूमि में जहाँ श्री राम एवं श्री कृष्ण और मुनि आदि महापुरुषों ने यज्ञ किए और प्रजा से कराए जिससे ईश्वरीय वैदिक ज्ञान जनता को प्राप्त हुआ और जिस के अनुसार शुभ कर्म करके जनता भी सुख-शांति पूर्वक रही थी, उसी पवित्र भारत भूमि में आज यज्ञ की बहुत कमी हो गई है जिसे पूरा करके ही हम पुनः भारतवर्ष के भविष्य को उज्जवल कर सकेंगें। क्योंकि जैसा कृष्ण महाराज इस श्लोक में कह रहे हैं कि वेद ईश्वरीय वाणी है और वेद-विद्या से ही शुभ कर्मों का ज्ञान होता है और वेद-विद्या का ज्ञान बिना यज्ञ के नहीं होता है। अतः हम सदा यज्ञ में अग्रसर होएँ। इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट कहा है कि कर्म वेदों से उत्पन्न हुए हैं और पिछले श्लोक ३/१४ में कहा था कि यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है। यज्ञ करना स्वयं एक कर्म है। अतः देवपूजा, संगतिकरण एवं दान, यह सभी वेदों में कहे शुभ कर्म हैं जो प्रत्येक प्राणी को करने चाहिए। जीवात्मा को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि वेदों को सुनकर सत्य कर्म करने के लिए ही दी गई हैं। यहाँ एक रहस्य यह भी है कि जब जीव देवपूजा में आचार्य की सेवा और संगतिकरण में वेदों के विद्वान् आचार्य की सेवा करके बदले में जो वेद विद्या को सुनेगा तब ही उसे ज्ञान होगा कि वेद ने मनुष्य जाति को केवल ईश्वर भक्ति की आज्ञा नहीं दी है अपितु अनेक कर्मों को, जो कि शुभ कर्म वेदों ने कहे हैं, उनको करते-करते प्रातः एवं सांयकाल यज्ञ, नाम स्मरण एवं योगाभ्यास आदि द्वारा ईश्वर भक्ति करनी है। उन अनेक कर्मों में कृषि, पशुपालन, वन की रक्षा, पितृ ऋण, ऋषि ऋण, शुद्ध राजनीति, व्यवसाय, देश

रक्षा, समाज सेवा, परोपकार, विज्ञान में उन्नति, उत्तम शिक्षा, माता-पिता एवं वेदों के ज्ञाता विद्वानों की सेवा आदि अनेक कर्त्तव्य-कर्म हैं। इन सब शुभ कर्मों का ज्ञान यज्ञ में बैठकर वेदों के ज्ञाता, आचार्य के वैदिक प्रवचनों से प्राप्त किया जाता है। जैसा कि श्रीराम, श्रीकृष्ण, माता सीता आदि ने सुना था और जीवन में अनेक प्रकार के कठोर परिश्रम द्वारा शुभ कर्म करते हुए अमर हो गए हैं। अतः यज्ञ का अर्थ केवल अग्नि में घी आदि की आहुति डालना नहीं है अपितु पूर्ण आहूति डालने के पश्चात जो नित्य वेदों के विद्वान् आचार्य का वेदों द्वारा उपदेश होता है और जो उस उपदेश में पदार्थ का ज्ञान-विज्ञान, अनेक शुभ कर्मों का ज्ञान एवं ईश्वर भक्ति अर्थात् इन तीनों विद्याओं का जो ज्ञान दिया जाता है उसके अनुसार तीनों विद्याओं के प्रति जीवन भर कठोर परिश्रम करना कहा है। वेदों ने सर्वदा आलस्य का त्याग करके पुरुषार्थ एवं कर्मों के प्रति उत्साह की बात कही है। केवल भक्ति इत्यादि की बात करना आलस्य है और आलस्य को बढ़ाकर देश को कमज़ोर करना है। अतः विद्यार्थी एवं गृहस्थी, वानप्रस्थी एवं सन्यासी यज्ञ में बैठकर, विद्वानों से वेदों को सुन सुनकर अपने-अपने कर्त्तव्य-कर्मों के प्रति जागरुक होकर कर्म करें जिससे ईश्वर सदा हम पर प्रसन्न रहेगा और प्राणी अपने मनुष्य जन्म को सफल करता हुआ अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष इन चारों पदार्थों को प्राप्त कर लेगा। हम अविद्धानों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर कभी भी वेद, यज्ञ का निरादर न करें। ऐसा करने से अनर्थ हो रहा है और अधिक अनर्थ हो जाएगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

'एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।"

(गीता : ३/१६)

(पार्थ) हे अर्जुन **(यः)** जो पुरुष **(एवम्)** इस प्रकार **(इह)** यहाँ इस लोक में **(प्रवर्तितम्)** संचालित **(चक्रम्)** चक्र के अनुसार **(न)** नहीं **(अनुवर्तयति)** बर्तता अर्थात् ईश्वर के वैदिक यज्ञ आदि नियमों के अनुसार नहीं चलता **(सः)** वह **(इन्द्रियारामः)** इन्द्रिय सुख का विलासी **(अघायुः)** पाप आयु वाला पुरुष **(मोघम्)**

व्यर्थ **(जीवति)** जीता है।

अर्थ : हे अर्जुन! जो पुरुष इस प्रकार यहाँ इस लोक में संचालित चक्र के अनुसार नहीं बर्तता अर्थात् ईश्वर के वैदिक यज्ञ कर्म आदि नियमों के अनुसार नहीं चलता वह इन्द्रिय सुख का विलासी पाप आयु वाला पुरुष व्यर्थ जीता है।

भावार्थ : श्लोक ३/८ में कहा कि हम नियत कर्म ही करें। नियत का अर्थ है ईश्वर ने वेदों में जो-जो कर्म कहे हैं वही करने हैं, वेद-विरुद्ध नहीं। क्योंकि वैसे भी सब का नियन्ता केवल एक पूर्ण परमेश्वर ही है। इसलिए श्लोक ६ में स्पष्ट कहा कि केवल यज्ञ के लिए कर्म करें। **"यज्ञो वै विष्णुः"** अर्थात् यज्ञ ही ईश्वर है। अतः जब हम ईश्वर के कहे केवल वैदिक शुभ कर्म ही करते हैं तो वह स्वयं ही ईश्वर के लिए कर्म बन जाते हैं जिसमें हमें सुख मिलता है। इसी क्रम में **श्लोक १० से १३** तक में ज्ञान दिया कि ईश्वर ने सृष्टि की रचना यज्ञ सहित की है। यज्ञ का भाव है-देवपूजा, संगतिकरण एवं दान अर्थात् माता, पिता, अतिथि, आचार्य, वृद्ध इन सब की सेवा जिससे आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद दोनों में उन्नति हो। ऐसा वेदानुसार हम शुभ कर्म करें। जब विद्वानों, माता-पिता आदि की सेवा होती है तब विद्वान् भी विद्यादान एवं बुजुर्ग भी आशीर्वाद द्वारा सबकी उन्नति करेंगे। अतः अन्न, वस्त्र, धन, मकान आदि सब सुख सम्पदाओं का सुख प्रथम विद्वानों और माता-पिता आदि को देकर तत्पश्चात ही हम ग्रहण करें और यही वेद, गीता में यज्ञ की परिभाषा है। इसे ही **अथर्ववेद मंत्र ८/२/१** और गीता **श्लोक १३ में "यज्ञ शिष्टाशिनः"** अर्थात् यज्ञ से शेष बचे हुए अन्न को खाने वाला श्रेष्ठ पुरुष कहा है, जो पापयुक्त होता है अन्यथा तो प्राणी पाप को ही खाता है। पुनः यज्ञ द्वारा वर्षा अन्न आदि की प्राप्ति और पुरुषार्थी द्वारा ही यज्ञ सम्पूर्ण होना कहा है, आलसी यज्ञ नहीं करता। श्लोक **३/१५** में कर्म को वेदों से उत्पन्न हुआ कहा है और वेद स्वयं सर्वशक्तिमान परमेश्वर से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु आज आश्चर्य ही है कि वेदों की विद्या लुप्त प्रायः होती जा रही है और प्रायः वेद विरुद्ध कर्म देश में बढ़ते जा रहे हैं। इसी क्रम को आगे करते हुए प्रस्तुत श्लोक १६ में श्रीकृष्ण महाराज उपदेश दे रहे हैं कि जो मनुष्य इस प्रकार

ईश्वर द्वारा बनाए **"चक्रम्"** अर्थात् वैदिक नियम के अनुसार कर्म नहीं करता तो वह मनुष्य केवल इन्द्रियों का झूठा सुख भोगने वाला पापी है और व्यर्थ ही मनुष्य शरीर धारण करके पृथिवी पर जी रहा है। प्रकृति रचित संसार एक **संसार चक्र** है। रज, तम, सत्त्व गुण रूपी प्रकृति से सूरज, चाँद, तारे पेड़, शरीर, जल, अग्नि आदि समस्त संसार बना है। प्रलय में यह दिखने वाला संसार प्रकृति के रूप में अदृश्य हो जाता है। अतः प्रकृति से संसार बनता है फिर बिगड़कर प्रकृति में चला जाता है। इसे सृष्टि चक्र कहते हैं। दूसरा चक्र है **ब्रह्मचक्र** जिसे **यजुर्वेद मंत्र ३१/३** में कहा **'पादः अस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्य अमृतं दिवी'** अर्थात् ईश्वर के अंशमात्र शक्ति से यह सारा संसार बना है जो **सृष्टि चक्र** है और इसके अतिरिक्त दिवी लोक हैं जो अमृतावस्था है अर्थात् बनता-बिगड़ता नहीं है। जब प्राणी वेदानुकूल शुभ कर्म करता है तब **ब्रह्मचक्र** अर्थात् ब्रह्म को पाकर मोक्षपद प्राप्त करता है। इसके विपरीत इस श्लोक में श्रीकृष्ण कहते हैं कि जो इस ईश्वर के बनाए हुए **सृष्टिचक्र** अर्थात् सृष्टि के नियमानुसार चलकर **ब्रह्मचक्र** अर्थात् मोक्षपद प्राप्त नहीं करता वह प्राणी पापी है और व्यर्थ ही जी रहा है। **अथर्ववेद मंत्र ६/६/१२** में सृष्टि चक्र को **कालचक्र** कहा जो **उत्क्षेपण, अवक्षेपण, कु चन, प्रसारण** और **गमन** यह पाँच पाँव वाला कहा है और कहा कि यह बारह मास रूपी अरे वाला कालचक्र **'जराय नहि'** कभी जीर्ण नहीं होता अर्थात् चलता ही रहता है। अतः हमें व्यर्थ समय न गवाँकर वैदिक शुभ कर्म ही करने चाहिए क्योंकि इस काल चक्र में जीवन-मृत्यु बार-बार आती जाती रहती है। अतः हम वैदिक शुभ कर्मों द्वारा मोक्ष पद प्राप्त करें। पुनः श्लोक में जो "चक्रम्" पद का अर्थ है वह यह भी है कि पिछले श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराज ने कुछ उपदेश दिए है जिनसे चक्र सा बन रहा है। जैसे **श्लोक ३/६** में कहा कि हे अर्जुन! मनुष्य कर्मों द्वारा बंधता है अतः मनुष्य आसक्ति से रहित होकर परमेश्वर के निमित्त ही कर्म करे। इसके पश्चात अगले श्लोक में कहा "ईश्वर ने प्रजा को यज्ञ सहित उत्पन्न किया और यज्ञ द्वारा उन्नत्ति एवं इच्छित कामनाओं को पूर्ण करने के लिए कहा। अतः हम वेदानुकूल कर्म एवं यज्ञ करें। अगले श्लोक में यज्ञ से देवताओं की उन्नत्ति और देवता लोग मनुष्य जाति की उन्नत्ति करें।

अगले श्लोक में कहा यदि प्राणी यज्ञ करेगा तो विद्वान् जो वेदों के ज्ञाता हैं तथा माता-पिता, अन्य वृद्ध आदि यज्ञ में अपनी सेवा से तृप्त होकर बिना माँगें प्राणी को सुखों का आशीर्वाद देंगे। अगले श्लोक में यज्ञ से बचे हुए अन्न को खाने वाले को श्रेष्ठ पुरुष कहा जो कि पापों से छूट जाता है। और जो केवल अपने लिए खाता है, केवल अपने लिए धन जमा करता है उसे पापी कहा। अगला **श्लोक ३/१४** अत्यंत मार्मिक एवं विद्यायुक्त है जिसमें कहा यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होता है अतः कोई भी प्राणी कर्मों का त्याग कभी न करे और यज्ञ कर्म भी करे। यज्ञ करने का महत्त्वपूर्ण कारण श्रीकृष्ण महाराज ने यह कहा कि यज्ञ करने से ही समय पर वर्षा होगी, वर्षा से अन्न की उत्पत्ति होगी और अन्न होगा तब ही प्राणी उत्पन्न होंगे एवं जीवित भी रहेंगे अन्यथा संसार नष्ट हो जाएगा। अतः जो प्राणी पुरुषार्थ रूप कर्म एवं यज्ञ छोड़ देते हैं, वेदों के अध्ययन से शुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त नहीं करते हैं तब फलस्वरूप वह पदार्थ विद्या, कर्म के स्वरूप एवं उपासना के स्वरूप को न जानते हुए मनघढ़न्त अप्रमाणिक कर्म, उपासना आदि करते हैं। ऐसा करने से यज्ञ छूट जाता है, वैदिक शुभ कर्म छूट जाते हैं, फलस्वरूप वर्षा समय पर नहीं होती तथा न्यून होती है और इस प्रकार दुधारु पशुओं की कमी से दूध, घी, और खेती उजड़ने से अन्न की कमी प्रत्यक्ष हो जाती है और भुखमरी से कितने ही मर जाते हैं। अगले श्लोक में कर्म को वेदों से उत्पन्न कहा। अतः हम सदा वेदानुसार ही शुभ कर्म करें। इन्हीं सब उपदेशों को श्रीकृष्ण ने चक्र के रूप में कहा है। ऐसा न करने वाला चोर है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।"

(गीता : ३/१७)

(तु) परन्तु **(यः)** जो **(मानवः)** मनुष्य **(आत्मरतिः एव)** आत्मा में ही प्रीति करने वाला है **(च)** और **(आत्मतृप्तः)** आत्मा में ही तृप्त **(च)** और **(आत्मनि)** आत्मा में **(एव)** ही **(संतुष्टः)** संतुष्ट **(स्यात्)** रहता हो **(तस्य)** उसके लिए **(कार्यम्)** कोई कर्त्तव्य-कर्म करना **(न)** नहीं **(विद्यते)** रहता।

अर्थ : परन्तु जो मनुष्य आत्मा में ही प्रीति करने वाला है और आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही संतुष्ट रहता हो उसके लिए कोई कर्त्तव्य-कर्म करना नहीं रहता।

भावार्थ : आत्मा में प्रीति, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट वह पुरुष होता है जिसने साधन-विशेष द्वारा अपने शरीर के अन्दर रहने वाली जीवात्मा (विज्ञानमय कोष जो उसका अपना स्वरूप है) को जान लिया है तथा साथ ही जीवात्मा में निवास करने वाला परमात्मा (आनन्दमय कोष) को भी जान लिया है। ऐसा पुरुष पूर्ण समाधि प्राप्त योगी होता है। योग शास्त्र सूत्र १/३ में इसका प्रमाण दिया-**'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'** अर्थात् ऋषि पात जल योग शास्त्र सूत्र का भाव समझाते हुए कहते हैं कि योगाभ्यास द्वारा जब चित्त की वृत्तियाँ पाँचों ज्ञानेन्द्रियों (आँख, कान, जिह्वा, नासिका, त्वचा) के ग्रहण करने वाले विषयों रूप, श्रवण, रस, गंध और स्पर्श को ग्रहण करने से रुक जाती हैं तब इस अवस्था को ही योग कहते हैं अर्थात् चित्त की वृत्तियों को बाहरी विषयों से रोकना ही योग है और **यजुर्वेद मंत्र ७/४** में **'उपयामगृहीतः असि'** कहकर ईश्वर ने हमें समझाया कि योग का जिज्ञासु यम, नियम, आदि आठों अंगों के अभ्यास से चित्त वृत्तियों का निरोध करके अविद्या आदि दोषों को नष्ट करके अपने स्वरूप को पहचाने। अगले ही **मंत्र ७/५** का भाव है कि योग-विद्या से रहित मनुष्य को ब्रह्माण्ड के सब पदार्थों का ज्ञान और आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। योग-विद्या द्वारा मनुष्य स्वयं आनन्द प्राप्त करके दूसरों को भी **'मादयस्व'** आनन्द दे। इस प्रकार जब चेतन जीवात्मा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा एवं ध्यान इन योग के सात अंगों का विधिपूर्वक कठोर अभ्यास कर लेता है तब उसे आठवाँ अंग अंतिम सिद्धि **'समाधि'** अवस्था प्राप्त होती है और जीवात्मा की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। यह **असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था** होती है जिसमें प्रकृति के तीनों गुणों (रज, तम, सत्त्व) का जीवात्मा पर कोई प्रभाव नहीं होता और जीवात्मा केवल अपने रूप में स्थित होता है। जीवात्मा चेतन स्वरूप है। उसका रूप बदलता नहीं है, जन्म-मरण से रहित है, शुद्ध है, निर्विकार है, संग अथवा किसी भी बन्धन से रहित है। परन्तु अविवेक के कारण प्रकृति के गुणों में

फँस कर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल जाता है। अतः सदा मुक्त होते हुए भी जब तक योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त करके अपने स्वरूप को नहीं जानता, तब तक जीवात्मा जन्म-मरण तथा कर्मरूपी बन्धन में फँसी दुःखी रहता है। अतः प्रस्तुत श्लोक में योगेश्वर श्री कृष्ण ने शुद्ध आनन्द स्वरूप मुक्त जीवात्मा का वर्णन किया है कि हे अर्जुन! जो मनुष्य आत्मा में प्रीति वाला, आत्मा में ही तृप्त तथा आत्मा में ही संतुष्ट है उसके लिए कोई कर्त्तव्य करना शेष नहीं रह जाता। वह तो कर्म बन्धनों से मुक्त होकर अपने-अपने स्वरूप में स्थित है। योग-सिद्ध मुक्तात्मा के विषय में **यजुर्वेद ७/७** में कहा कि योगी स्वयं पवित्र और पवित्रता की रक्षा करने वाला स्वयं आनन्दित और दूसरों को आनन्द देने वाला ईश्वर के समान श्रेष्ठ गुणों वाला होता है। योगी की आत्मा योग-विद्या से प्रकाशित है। ऐसे योगी को सब मनुष्यों द्वारा अपनाने की आज्ञा ईश्वर ने दी है। **यजुर्वेद मंत्र ७/८** में कहा-जो इन योगी जनों की सेवा करते हैं, वह सब कुछ प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं। अतः इस श्लोक में केवल पढ़-सुन-रट के दूसरों को यह समझाना कि जो आत्मा में प्रीति वाला है उसके लिए कोई कर्त्तव्य नहीं है तो यह मिथ्यावाद को बढ़ावा है क्योंकि आत्मिक स्वरूप को जाने बिना कोई आत्मा में प्रीति वाला, आत्मा में तृप्त अथवा आत्मा में सन्तुष्ट नहीं हो सकता और आत्मिक स्वरूप को जानने के लिए सम्पूर्ण योग-विद्या की जानकारी एवं योगाभ्यास तथा वेदाध्ययन द्वारा ईश्वर की उपासना परमावश्यक कही गई है। जिसके बिना कोई भी योगी नहीं रह सकता। क्योंकि **यजुर्वेद ७/६** में स्पष्ट कहा कि जब तक मनुष्य योगाभ्यास आदि द्वारा श्रेष्ठ आचरण वाला नहीं होता तब तक ईश्वर भी उसे स्वीकार नहीं करता क्योंकि **यजुर्वेद मंत्र ४०/८** ने कहा **'शुद्धम् अपापविद्धम्'** अर्थात् ईश्वर शुद्ध एवं पापरहित है और जब तक साधक तन, कर्म, अन्तःकरण आदि द्वारा शुद्ध और पाप रहित नहीं होगा तब तक ईश्वर उसके अन्तःकरण में प्रकट नहीं होता। अब जब तक ईश्वर किसी को नहीं अपनाएगा, तब तक उस प्राणी का आत्मिक बल पूर्ण नहीं होगा। और न उसे अपने स्वरूप का ज्ञान होगा जिसके बिना किसी को भी अत्यंत उत्तम सुख, आत्मिक संतुष्टि आदि गुण प्राप्त नहीं होते अतः हम वैदिक-विद्या का अनुसरण करके गृहस्थ आश्रम में रहते हुए ही वेद-विद्या के ज्ञाता विद्वान् योगी की सेवा करके प्रस्तुत

श्लोक में कहे आत्मिक सुख को प्राप्त करें और यह सुख दूसरों को भी दें। भगवान राम को वाल्मीकि जी ने और महाभारत में श्री कृष्ण को व्यास मुनि ने योगाभ्यासी एवं पूर्ण-योगी का दर्जा दिया है। श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं अन्य राजर्षि अनन्त यज्ञ, वेदों का श्रवण एवं योगाभ्यास करके सम्पूर्ण सृष्टि को सुख बाँट गए थे। और इसी इतिहास को हमें पुनः दोहराना है जिससे सम्पूर्ण पृथिवी पर भाईचारा, सुख-शांति, धन-सम्पदा, दीर्घायु एवं बल, बुद्धि, विद्या का प्रकाश होवे। प्रश्न यह है कि संसार में कितने मनुष्य हैं जो इस श्लोक ३/१७ के अनुसार आत्मा में प्रीति करने वाले, आत्मा में ही तृप्त और आत्मा में ही सन्तुष्ट रहते हैं। श्रीकृष्ण महाराज ने उनके लिए ही कोई कर्त्तव्य-कर्म करना नहीं कहा है। गहन वेदाध्ययन से और गीता के पिछले श्लोकों एवं विशेषकर छटे अध्याय के अध्ययन से भी यह ज्ञात होगा कि जो-जो कर्म वेदों ने कहे वही शुभ कर्म गीता में कहे गए हैं और उन्हीं वैदिक शुभ कर्म, पदार्थ ज्ञान-विज्ञान, उपासना अर्थात् यज्ञ कर्म एवं अष्टाँग योग के अभ्यास द्वारा **योगशास्त्र सूत्र १/१५** एवं **१६** के अनुसार पूर्ण वैराग्यवान साधक जब असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है तब **अथर्ववेद मन्त्र ४/३०/३** के अनुसार स्वयं ईश्वर उसको ऋषि पद देता है, ब्रह्मलीन करता है। ऐसा ईश्वर प्रदत्त ऋषि ही इस श्लोक में कहे हुए गुणों को धारण करता है। अतः यदि कोई आज का वेद विरोधी सन्त यह कहे कि "श्रोताओं तुम आत्मा में प्रीति करने वाले बन जाओ और आत्मा में ही तृप्त और सन्तुष्ट हो जाओ। और इतना कहने से आप तृप्त हो गए हो तो हमारे सत्संग में आकर तुम्हारा उद्धार हो गया और तुम केवल सत्संग सुनकर ही ब्रह्मलीन हो गए हो और तुम्हें कोई कर्त्तव्य-कर्म करना शेष भी नहीं रहता" तो ऐसा सब कुछ कहना मिथ्यावाद है। वस्तुतः आम प्राणी को तो श्रीकृष्ण महाराज ने पिछले **श्लोक ३/१६** तक में स्पष्ट कर दिया है कि जो कर्म, यज्ञ, वर्षा, अन्न आदि के चक्र अर्थात इस प्रकार कठिन परिश्रम नहीं करते वह चोर हैं अतः हम श्रीकृष्ण के बताए मार्ग पर चलकर वेद सुनें, यज्ञ करें और यज्ञ से शुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके केवल शुभ-शुभ कर्म ही करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

'नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।"

(गीता : ३/१८)

(इह) इस संसार में **(तस्य)** आत्मा में संतुष्ट हुए उस पुरुष का **(कृतेन)** कर्म करने से **(एव)** भी **(अर्थः)** कोई प्रयोजन **(न)** नहीं है तथा **(अकृतेन)** कर्म न किए जाने से भी **(कश्चन)** किसी प्रकार का कोई प्रयोजन **(न)** नहीं है। **(च)** तथा **(अस्य)** ऐसे पुरुष का **(सर्वभूतेषु)** संपूर्ण भौतिक पदार्थों में **(कश्चित्)** कुछ भी **(अर्थव्यपाश्रयः)** स्वार्थ का सम्बन्ध **(न)** नहीं होता है।

अर्थ : इस संसार में आत्मा में संतुष्ट हुए उस पुरुष का कर्म करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा कर्म न किए जाने से भी किसी प्रकार का कोई प्रयोजन नहीं है तथा ऐसे पुरुष का सम्पूर्ण भौतिक पदार्थों में कुछ भी स्वार्थ का सम्बन्ध नहीं होता है।

भावार्थ : सृष्टि की रचना एवं प्रलय दोनों ईश्वर के हाथ में है। ईश्वर ही सब जगत का स्वामी है। बहुत से परमाणुओं, नाड़ी तंतुओं द्वारा ईश्वर रचना के अधीन यह पंचभौतिक मनुष्य का शरीर रचा गया है। **यजुर्वेद मंत्र ३६/२४** ने **"जीवेम शरदः शतम्"** और अंत में **'भूयश्च शरदः शतात्'** कहकर इस शरीर की आयु कर्मानुसार सौ वर्ष और अधिक से अधिक **यजुर्वेद मंत्र ३/६२** के अनुसार चार सौ वर्ष प्रदान की है और इसी अवधि में मनुष्य को वेदों में आदेश है कि वह इस शरीर से वैदिक शुभ कर्म करके मोक्ष प्राप्त करें। नर-नारी सब संसार में कर्मों का फल भोगने आते हैं। जीवात्मा कर्म भोगने एवं नए कर्म करने के लिए ही शरीर धारण करता है। इस शरीर में आँख, नाक आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, हाथ-पैर इत्यादि पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं एक मन, यह सब ईश्वर ने जीवात्मा को कर्म भोगने तथा नये कर्म करने के लिए दिए हैं। उसमें भी ईश्वर का यह नियम है कि जीवात्मा इन इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है और कर्म का फल परमात्मा देता है। फल जीवात्मा के हाथ में नहीं है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/२** स्पष्ट करता है कि साधारण मनुष्य जो वैदिक ज्ञान, विद्या आदि से रहित है उसकी स्थिति तो यह है कि वह पूर्व कर्मों के लिए पाप कर्मों का फल दुःख, चिंता इत्यादि अनेक प्रकार के कष्टों के रूप में

भोगता है और पश्चाताप करता है अथवा निंदा करता है। लेकिन फिर भी रजो, तमो एवं सतो गुण के बन्धन में बंधा दूषित वासना के कारण पुनः पाप कर्म करता है और फिर अगले जन्मों में उसको कष्ट के रूप में भोगता है। वेद की इस बात को पात जली ऋषि **योगशास्त्र सूत्र २/१६** में इस प्रकार कहते हैं कि मनुष्य पिछले पापों को भोगता है और वर्तमान समय में पाप कर्म एकत्र करके अगले जन्मों में भोगने का प्रबंध करता रहता है। और यह कर्मों का सिलसिला वैदिक ज्ञान साधना आध्यात्मिक विद्या इत्यादि प्राप्त किए बिना समाप्त नहीं होता। **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/४** में कहा कि **"यं रथम् विप्रेभ्यः परि प्रावर्तयः"** अर्थात् जीवात्मा विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके **"तं साम अनु"** इस शरीर को मोक्ष प्राप्ति के लिए आध्यात्मिक मार्ग में चलाता है। इसलिए **अथर्ववेद मंत्र ४/३४/१** में कहा कि जीवात्मा को शरीर द्वारा वैदिक शुभ कर्म करने से **'ब्रह्मौदनम्'** अर्थात् आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त करना मानव जीवन का लक्ष्य कहा गया है। भाव यह है कि सूरज, चाँद, पृथिवी यह तीनों लोक और अन्न, वायु, पेड़-पौधे इत्यादि सारी सामग्री तो केवल शरीर को बनाए रखने के लिए ही है जिससे शरीर, अन्न, पृथिवी आदि इन सब का उपयोग करके बना रहे और जीवात्मा इस शरीर में टिका रहे। शरीर को जल, वायु, पृथिवी, अन्न, मकान, धन आदि नहीं मिलेगा तो शरीर शीघ्र ही नष्ट हो जाएगा और जीवात्मा को शरीर से निकलना पड़ेगा। फलस्वरूप शरीर को चिता पर जला दिया जाएगा। अतः यह सम्पूर्ण जगत के पदार्थ तो शरीर की जरूरते हैं, हमारी अर्थात् जीवात्मा की जरूरतें नहीं हैं। हम तो चेतन जीवात्मा हैं और जड़ शरीर में रहतीं है तथा शरीर से बिल्कुल अलग हैं। शरीर नष्ट होता है हम अर्थात् जीवात्मा कभी नष्ट नहीं होती। फिर वही ऊपर कही बात सत्य है कि जीवात्मा तो इस शरीर के द्वारा कर्म भोगने आया है और नए वैदिक शुभ कर्म करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। वैदिक शुभ कर्म इसलिए क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ऊपर श्लोक **३/१५** में कह रहे हैं **"कर्म ब्रह्म उत् भवम्"** अर्थात् सब कर्मों की उत्पत्ति वेदों से हुई है। और **'ब्रह्म अक्षर सम् उत् भवम्'** अर्थात् चारों वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। परन्तु आज भारत वर्ष का यही दुर्भाग्य है कि कर्म और वेदों की उत्पत्ति का रहस्य समझना समाप्त प्रायः हो गया है और जिस प्रकार सूर्य उदय के बिना अंधकार

छा जाता है। उसी प्रकार वेदों के ज्ञान के बिना आज सम्पूर्ण विश्व में अज्ञान का अंधकार छा गया है। फलस्वरूप थोथे कर्मकाण्ड, मनघढ़न्त भगवान, आडम्बर अंधविश्वास और भ्रष्टाचार आदि अनेक नए-नए पंथों का उदय होता जा रहा है जिसे तुलसीदास जी ने अपनी भाषा में इस प्रकार कहा है-**द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन। (उत्तरकाण्ड दो ९७ चौ.१)** अर्थात् कलियुग में ब्राह्मण वेदों के बेचने वाले और राजा लोग प्रजा को खा डालने वाले होते हैं। ये वेद की कोई आज्ञा नहीं मानते। **कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रंथ। दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।।" [(उत्तरकाण्ड दोहा ९७(क)]** अर्थात् कलियुग के पापों ने सब धर्मों को खा लिया, सच्चे ग्रन्थ लुप्त हो गए। दंभियों ने (छली कपटी) अपनी बुद्धि से कल्पना कर-करके बहुत से पंथ बना दिए हैं।

अतः वैदिक शुभ कर्म के बिना सच्चा आध्यात्मिकवाद, भाईचारा और मोक्ष सुख प्राप्त करना असंभव है। अतः अथर्ववेद ने कहा कि जगत् के पदार्थ तो केवल शरीर की जरूरतें हैं, जीवात्मा को यह सब नहीं चाहिए परन्तु जीवात्मा के शरीर को चाहिए। क्योंकि शरीर के बिना शुभ कर्म नहीं होगा। परन्तु अज्ञानवश जीवात्मा अपने को शरीर मान बैठता है और संसारी पदार्थ धन आदि तथा विकार काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि में फँसकर नरकगामी हो जाता है और वर्तमान शरीर में रहता हुआ भी दुःख उठाता है। यही उसका कर्मों का भोग है। परन्तु जब उसे विद्वान् द्वारा ज्ञान दिया जाता है तो जीवात्मा मोह से जागता है और उसे ऊपर कहा अथर्ववेद का वाक्य समझ में आ जाता है कि शरीर में रहकर जीवात्मा को शुभ वैदिक कर्म-कर्त्तव्य करते हुए **ब्रह्मौदनम्**-ब्रह्म का भोजन चाहिए। ब्रह्म का अर्थ शब्द ब्रह्म (वेद मंत्र) अर्थात् वैदिक ज्ञान-विज्ञान, यज्ञ, ध्यान, योगाभ्यास आदि संपूर्ण आध्यात्मिक ज्ञान तथा **'औदनम्'** का अर्थ है भोजन अर्थात् जीवात्मा को आध्यात्मिक भोजन वैदिक सत्संग के रूप में चाहिए। और यही जीवात्मा का मनुष्य शरीर में आने का प्रयोजन है। श्री कृष्ण महाराज द्वारा सुने इसी वैदिक ज्ञान को सुनकर अर्जुन को अपने कर्त्तव्य का बोध हुआ था। इसी वैदिक ज्ञान को श्रीकृष्ण महाराज ने सम्पूर्ण गीता और **'सहयज्ञाः प्रजाः'** कहकर श्लोक **३/१०** से श्लोक

१७ तक वर्णन किया है और प्रस्तुत **श्लोक १८** में मोक्ष प्राप्त पुरुष के विषय में स्पष्ट कर दिया कि ऐसे मोक्ष प्राप्त पुरुष का कर्म करने और न करने में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता है। क्योंकि वह पुरुष यज्ञ आदि कर्मों द्वारा अपने स्वरूप को जानकर **"आत्मरतिः एव च आत्मतृप्तः" (श्लोक ३/१७)** अर्थात् आत्मा में ही प्रीति वाला व आत्मा में ही तृप्त रहता है। भाव यह है कि वह पुरुष मोक्ष पद प्राप्त कर चुका है। इसलिए ऐसे पुरुष के लिए **"कार्यम् न विद्यते"** कह दिया अर्थात् उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रहा। इसका कारण स्पष्ट है कि ऊपर कहे वेदमन्त्रों, शास्त्रों, उपनिषद् आदि सब सद्ग्रंथों ने यह समझाया है कि जीवात्मा को यह मानव शरीर केवल मोक्ष प्राप्ति के लिए मिला है, संसार की मोह माया में घुसने के लिए नहीं मिला है। मोक्ष प्राप्ति के लिए ही जीवात्मा इस शरीर से कर्म करे। अतः जब जीवात्मा ने शुभ कर्म करके मोक्ष प्राप्त कर ही लिया है तो फिर उसके लिए कौन सा कर्म-कर्त्तव्य करना शेष रह जाता है अर्थात् उसके लिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं रह जाता। सांख्य के मुनि कपिल ने ऐसे मुक्त पुरुष के लिए कहा है कि जैसे कुम्हार अपने चाक पर डण्डा लगाकर पूरी ताकत से घुमाकर छोड़ देता है तो जितनी शक्ति कुम्हार ने चाक को घुमाने में लगाई उतनी देर तक चाक तो अपने आप घूमता ही रहेगा। **(सूत्र ३/८२)** इसी प्रकार जितने श्वास मुक्त पुरुष को ईश्वर ने दिए हैं, उतने श्वासों अर्थात् उतनी आयु तक मुक्त पुरुष को जीवित रहना ही होता है। परन्तु उसका मोक्ष प्राप्ति का प्रयोजन सिद्ध हो चुका होता है, अतः इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि ऐसे पुरुष का कर्म करने अथवा न करने से कोई प्रयोजन नहीं। वह पुरुष पाप-पुण्य से परे है और संसार के पदार्थों में भी उसका स्वार्थ शेष नहीं रह जाता। परन्तु ऐसा मुक्त पुरुष कपिल मुनि कृत **सांख्य शास्त्र सूत्र ३/७८ (जीवन्मुक्तश्च)** के अनुसार इन्द्रिय संयम वाला तथा ब्रह्म की अनुभूति वाला पुरुष होता है और इसका प्रत्येक कार्य विद्या दान आदि लोक कल्याण के लिए होता है। ऐसा पुरुष जीवित रहता हुआ ही तो मुक्त है। अतः वह जीवन मुक्त है और क्योंकि अभी उसने देह नहीं छोड़ी है, इसलिए जीवित है। पुनः विवेक ज्ञान, ईश्वरीय ज्ञान होने के कारण मुक्त है वेदों में ऐसा ही पुरुष आत्म ज्ञान का उपदेश करने के लिए उपयुक्त कहा है, अन्य नहीं। क्योंकि

ऐसे जीवित अनुभव प्राप्त योगियों के अभाव में दिया ज्ञान **सांख्य शास्त्र सूत्र ३/८१ (इतरथाऽन्धपरम्परा)** के अनुसार अन्धों की परम्परा को ही बढ़ावा देने वाला होगा। योगशास्त्र **सूत्र ४/६** के अनुसार 'ध्यान' में लीन योगी का जो चित्त है वह कर्म के संस्कारों से रहित होता है। अन्य का नहीं। पुनः योग शास्त्र **सूत्र ४/७** के अनुसार योगी के कर्म तब पुण्य और पाप से रहित होते हैं। **यजुर्वेद मन्त्र १७/७५** भी कहता है कि असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगी के कर्म, योग अग्नि में सब जलकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु जो वेदानुसार एवं योगशास्त्र के अनुसार असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं हैं उनको इसी **योगशास्त्र सूत्र ४/७** के अनुसार यह कहा है कि ऐसे पुरुष पाप और पुण्य तथा पाप कर्म एवं पुण्य कर्म से मिले जुले कर्म वाले होते हैं और इस प्रकार साधारण जन अशुभ कर्मों के द्वारा अशुद्धियुक्त होते हैं। अतः जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग साधना आदि शुभ कर्म नहीं करते उनके विषय में पाप, पुण्य एवं पाप-पुण्य मिश्रित, यह तीन प्रकार के कर्म कहे गए हैं। मोक्ष प्राप्त योगी के विषय में पुनः **योग शास्त्र सूत्र ४/३२** में कहा कि प्रकृत्ति के तीनों गुण इस योगी पर अपना प्रभाव डालना समाप्त कर देते हैं। ऐसा सब कुछ कहने और प्रमाण देने का यही भाव है कि ऐसे ब्रह्मलीन/मोक्ष प्राप्त योगी के लिए कर्म करने से भी कोई प्रयोजन नहीं है तथा कर्म न करने से भी किसी प्रकार का कोई प्रयोजन नहीं है। क्योंकि वह स्वयं में अर्थात् आत्मा में, आत्मिक स्वरूप में स्थित सदा सन्तुष्ट है। यह वचन वैदिक एवं शास्त्रीय हैं जिन्हें श्रीकृष्ण महाराज ने **ऊपर श्लोक ३/१८** में प्रेमपूर्वक अर्जुन को समझाया है। परन्तु आज दुर्भाग्य यह है कि वेद एवं योग विद्या से हीन प्रायः सन्त मनघढ़न्त, वेद विरुद्ध, नए-नए मार्गों का प्रचार करते हुए गीता के वैदिक शब्दों का अनर्थ करके मिथ्या वचन कहके जनता से झूठी कथा आदि कहकर धन बटोर रहे हैं। वह स्वयं को ऋषि, पहुँचे हुए सन्त, योगी आदि कहकर जनता को यज्ञ, योगाभ्यास आदि सनातन, वैदिक पद्धति से भटकाकर एक जादू की सी पुड़िया वाला सरल मार्ग बताते फिरते हैं जो कि समाज एवं देश के लिए घातक है। हमें पुनः सनातन वेदों की ओर लौटना होगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।"

(गीता : ३/१६)

(तस्मात्) अतः तू **(असक्तः)** आसक्ति रहित होकर **(सततम्)** निरन्तर **(कार्यम्)** वेदोक्त कर्त्तव्य **(कर्म)** कर्म **(समाचर)** अच्छी तरह से करता रह **(हि)** क्योंकि **(असक्तः)** आसक्ति त्याग कर **(पूरुषः)** पुरुष **(कर्म)** कर्त्तव्य-कर्म **(आचरन्)** करता हुआ **(परम्)** पर-ब्रह्म को **(आप्नोति)** प्राप्त करता है।

अर्थ : अतः तू आसक्ति रहित होकर निरन्तर वेदोक्त कर्त्तव्य-कर्म अच्छी तरह से करता रह क्योंकि आसक्ति त्याग कर पुरुष कर्त्तव्य-कर्म करता हुआ पर-ब्रह्म को प्राप्त करता है।

भावार्थ : इसी तीसरे अध्याय के श्लोक **७, ८** और इससे आगे के श्लोक जिनका भाव पीछे कह दिया गया है, उनके अध्ययन से निष्कर्ष निकलता है कि हे अर्जुन! जो इन्द्रियों को संयम से रख कर कर्म योग अर्थात् वेदोक्त शुभ-कर्त्तव्य-कर्म करता है, वह श्रेष्ठ पुरुष है। श्लोक **८** में तो सीधा ही कह दिया कि यदि तू कर्म नहीं करेगा तो तेरा शरीर निर्वाह भी नहीं हो पाएगा अर्थात् तू भूखा ही मर जाएगा और सब शुभ कर्मों का उदय वेदों से हुआ है। अतः सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ को कहकर यज्ञ से शेष बचे पदार्थों का ही उपयोग करने वाले पुरुष को श्रेष्ठ कहा है अन्य तो केवल पाप ही खाते हैं। फिर अति विशेष बात श्लोक **३/१४** में कही **'यज्ञः कर्म सम् उत् भवः'** अर्थात् यज्ञ पुरुषार्थ कर्म करने से ही पूर्ण होता है। और यज्ञ में ही सब शुभ कर्मों, विद्या आदि का ज्ञान होता है। यज्ञ ही माता, पिता, आचार्य, वृद्ध एवं ईश्वर इत्यादि की सेवा, पूजा का वैदिक ज्ञान प्रदान करता है क्योंकि यज्ञ में चारों वेदों का ज्ञाता जीवित ब्रह्मा स्थित होता है। और इससे भी अधिक **श्लोक ३/१५** में श्री कृष्ण महाराज ने ही कह दिया **'ब्रह्म नित्यम् यज्ञे प्रतिष्ठितम्'** अर्थात् परमात्मा सदा ही यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यज्ञ कर्म करने से संसार के सम्पूर्ण कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान प्राप्त होता है जैसे **श्लोक ३/१५** में श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं वैसे ही **मनुस्मृति २/६** में कहा कि सब कर्त्तव्य कर्मों का उदय चारों वेदों से हुआ है यज्ञ में वैदिक प्रवचन सुनकर सब शुभ

कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके प्राणी उसे आचरण में लाकर जीवन मुक्त होते हैं। यह अनादि काल से चली आ रही परम्परा है। **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में यही सत्य दर्शाया है कि वायु, अग्नि, अङ्गिरा, आदित्य, इन चारों ऋषियों ने चारों वेदों से तीन विद्याएँ यज्ञ सिद्धि के लिए प्राप्त की। वे तीन विद्याएँ हैं-ऋग्वेद से ज्ञान काण्ड, यजुर्वेद से कर्म काण्ड, सामवेद से उपासना काण्ड एवं चौथा वेद अथर्ववेद इन तीनों विद्याओं की सिद्धि कहने वाला वेद है। इन सब विद्याओं का वैदिक ज्ञान देकर **श्लोक ३/१८** में श्री कृष्ण महाराज ने मुक्त पुरुष का वर्णन करते हुए कहा कि उसके लिए कर्म करने अथवा न करने का कोई प्रयोजन शेष नहीं रह जाता। लेकिन जो ब्रह्मलीन मुक्त पुरुष नहीं है उसे तो कर्म करते-करते ही मुक्त होने का उपदेश है। अतः यहाँ प्रस्तुत श्लोक में कहा कि हे अर्जुन! तू मोह-माया, आसक्ति आदि से रहित हो नित्य वैदिक कर्त्तव्य-कर्म करता रह। तभी ईश्वर को प्राप्त करेगा जो कि मानव देह का वास्तविक लक्ष्य है। इस विषय में एक कथा है-एक राजा जंगल में शिकार करने गया। अचानक राजा ने एक लोमड़ी को अपने बच्चों के साथ एक गहरे गड्ढे में खेलते हुए देखा। राजा ने विचार किया कि लोमड़ी और उसके बच्चों को इस गहरे गड्डे में भोजन कहाँ से मिलता होगा? क्योंकि गहरे गड्ढे से बाहर लोमड़ी तो आ नहीं सकती। इतने में राजा ने एक शेर की गर्जना सुनी। राजा ने पेड़ की आड़ में छिप कर देखा कि जंगल का राजा शेर एक हिरन की मृत देह को हवा में उछाल-उछाल कर गेंद की तरह खेल रहा है। अचानक मृत देह उस गहरे गड्ढे में गिर गई और लोमड़ी और उसके बच्चों ने उस देह का भोजन किया। राजा ने सोचा कि ईश्वर तो बिना काम के ही लोमड़ी और उसके बच्चों को भोजन दे रहा है। तो मैं राजकार्य सम्भालता हुआ थक गया हूँ, बूढ़ा हो गया हूँ। क्यों न मैं भी सब कुछ छोड़कर इसी जंगल में रहकर भगवान का नाम लूँ। लोमड़ी की तरह भगवान मुझे भी बैठे-बैठाए स्वयं भोजन देगा। ऐसा विचार कर राजा ने वहीं झोंपड़ी बनाई और ईश्वर का नाम लेने लगा। और ईश्वर द्वारा भेजे भोजन का इन्तज़ार करने लगा। दोपहर बीती, शाम हो गई परन्तु कोई भोजन नहीं आया। दूसरे दिन प्रातःकाल राजा ने ईश्वर का नाम लिया और फिर कुछ समय भोजन का इन्तजार किया लेकिन भोजन नहीं आया। भूख से व्याकुल राजा ने

ईश्वर को ताना देते हुए कहना शुरू किया कि क्या मैं लोमड़ी से भी गया-गुजरा हूँ जो मैं दो दिन से सारा अपना राज-पाठ छोड़कर तेरे सहारे यहाँ बैठा हूँ और तूने मुझे यहाँ भोजन नहीं भेजा। इतने में राजा को एक फकीर अपनी तरफ आता दिखाई दिया। और उसने राजा को कहा कि ईश्वर ने तुम्हारे लिए एक संदेश भेजा है-ओ पागल राजा तूने किस प्रकार की भक्ति शुरू की है। तुम्हारा मनुष्य जन्म शेरों की तरह परिश्रम करके भोजन इत्यादि प्राप्त करने वाला है। लेकिन तू लोमड़ी की तरह बैठकर भोजन चाहता है। फकीर के ऐसे वचन सुनकर राजा की आँखे खुली और तुरन्त वह अपनी राजधानी पहुँचा जहाँ उसने पहले की भाँति परिश्रम करके राज्य का संचालन प्रारम्भ किया और साथ ही दोनों समय ईश्वर का नाम स्मरण एवं योगाभ्यास जारी रखा।

यजुर्वेद मंत्र ४०/२ में सीधा ही उपदेश है कि हे मनुष्य तू कर्त्तव्य कर्म करता-करता ही दीर्घायु को प्राप्त कर तथा इससे अलग मुक्त होने का कोई उपाय नहीं है। अतः हम आलसी न बनें। परिवार, समाज एवं देश के लिए अपने-अपने क्षेत्र में अपने कर्त्तव्य निभाएँ एवं सम्पूर्ण विद्या को जानने के लिए यज्ञ में वेदमन्त्रों को सुनें।

श्रीकृष्ण उवाच-

'कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्तुमर्हसि।।"

(गीता : ३/२०)

(जनकादयः) जनकादि जैसे पुरुष भी **(कर्मणा)** कर्म द्वारा **(एव)** ही **(सम्-सिद्धिम्)** परम सिद्धि मोक्ष को **(आस्थिताः)** प्राप्त हुए हैं **(हि)** अतः **(लोकसंग्रहम्)** लोक संग्रह को **(संपश्यन्)** भली-भांति देखकर **(अपि)** भी **(कर्तुम्)** कर्म को करना **(एव)** ही तुझे **(अर्हसि)** उचित है।

अर्थ : जनकादि जैसे पुरुष भी कर्म द्वारा ही परम सिद्धि मोक्ष को प्राप्त हुए हैं। अतः लोक संग्रह को भली-भान्ति देखकर भी कर्म को करना ही तुझे उचित है।

भावार्थ : राजर्षि राजा जनक परम वैराग्यवान, ज्ञानवान तथा गृहस्थ के शुभ कार्य करते हुए भी **विदेही** कहलाए एवं उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया था। अपने आत्मिक स्वरूप तथा परमेश्वर के रूप में मग्न हुए भी राज-पाट तथा प्रजा के सुख-साधन के लिए सदा दिन-रात परिश्रम करते थे। **योगशास्त्र सूत्र १/१५** तथा **१६** में वैराग्य एवं पर-वैराग्य का वर्णन है। जो कुछ हमने देखा उसका मन पर प्रभाव न होए, ऐसी अवस्था का नाम वैराग्य है। जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा प्रकट होता है। अन्यथा **सांख्य शास्त्र १/२३** के अनुसार बिना अभ्यास के केवल कहने मात्र के लिए ही है, जो केवल याद बनकर रह जाता है और इससे अज्ञान का नाश नहीं होता। दृढ़ वैराग्य प्राप्त होने पर संयम, नियम द्वारा कठोर साधना से ही ब्रह्मलीनता होती है, जिसमें प्रकृति के तीनों गुणों का प्रभाव योगी पर नहीं पड़ता। आज कई मिथ्यावादी गुरु भी जनक आदि का उदाहरण देकर अपने को विदेही-ज्ञानी कहलाते हैं। और नारियों से सेवा, ऐश्वर्य इत्यादि का भोग करते हैं। उनका प्रायः यह कहना होता है कि जनक के दरबार में भी स्त्रियाँ सेवा करती थीं तथा जनक सोने, चाँदी के बरतनों में खाता था, उसके पास ऐश्वर्य इत्यादि था और उसने कोई आसन, प्राणायाम या वेद नहीं पढ़े थे। परन्तु वेद तथा शास्त्रीय ज्ञान न होने के कारण आम जनता भी बहकावे में आ जाती है। जनक के विषय में ही लें। राजा जनक, वामदेव एवं अष्टावक्र इत्यादि कई योग सिद्ध विभूतियाँ गर्भ योगेश्वर कहलाएँ हैं। **गर्भ योगेश्वर** का अर्थ है कि पिछले कई जन्मों से जो साधक वेदाध्ययन यज्ञ एवं योग-साधना आदि करता आ रहा है और उसके सब कर्म-बन्धन प्रायः समाप्त हो गए थे। परन्तु कोई एक कर्म भोगना शेष रह गया था। जिस कारण वह समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार करके मोक्ष नहीं प्राप्त कर सका और वह कर्म भोगने के लिए उसको माता के गर्भ में आना पड़ा। गर्भ की अग्नि को सहकर उसका कर्म कट गया और वह साधक गर्भ में ही ब्रह्मलीन हो गया। ऐसी स्थिति में **सामवेद मंत्र १५०२** के अनुसार उसे जन्म लेने के बाद, न तो यज्ञ और न ही वेदाध्ययन अथवा योगसाधना की आवश्यकता होती है अर्थात् उसे ऐसा सब कुछ करने की जरूरत नहीं क्योंकि वह पिछले जन्मों से वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि पूर्ण श्रद्धा से करता चला आ रहा है। **सामवेद मन्त्र १५०१** स्पष्ट कहता है **"अहम्**

प्रत्नेन जन्मना कण्ववत् गिरः शुम्भामि" अर्थात् जीवात्मा कहता है कि मैं निष्पाप पहले जन्मों के साधना के संस्कार बल से विद्वानों के समान बिना पढ़े ही वेद-वाणियों को धारण करता हूँ। **"येन इन्द्रः इत् शुष्मम् दधे"** इसलिए निश्चय ही ईश्वर मुझमें बल, विद्या धारण करें, अर्थात् ईश्वर इस जन्म में बिना वेदाध्ययन और योगाभ्यास के मुझमें प्रकट होएँ। अतः श्लोक में जनक आदि विद्वानों का उदाहरण देते हुए श्री कृष्ण अर्जुन को समझा रहे हैं कि ऐसे विदेही पुरुषों ने ब्रह्मावस्था प्राप्त करके भी राजपाट अथवा गृहस्थ आदि के शुभ कर्मों को सदा निभाया है। अतः हे अर्जुन! तू भी क्षत्रिय होने के कारण आसक्ति रहित होकर धर्मयुद्ध आदि शुभ कर्म में लग जा। क्योंकि जनक आदि महापुरुष तो ब्रह्मलीन होने पर भी कर्म करना नहीं छोड़ पाए । परन्तु हे अर्जुन! तू तो ब्रह्मलीन भी नहीं है, तुझे तो ब्रह्मप्राप्ति के लिए और भी अधिक ज्ञानयुक्त शुभ कर्म करने में प्रेरित होना चाहिए। कहते हैं कि दो अफीमची अफीम खाकर बेरी के पेड़ के नीचे लेटे थे। अचानक एक बेर एक अफीमची की छाती पर आ गिरा। रातभर बेर उसकी छाती पर पड़ा रहा। अफीमची सोचता रहा कि यह दूसरा अफीमची बेर उठाकर मेरे मुँह में डाल दे परन्तु सब बेकार। प्रातःकाल एक व्यक्ति उधर से जा रहा था और उसका ध्यान दोनों लेटे हुए अफीमचियों पर गया जो बिल्कुल भी हिलजुल नहीं रहे थे। उस व्यक्ति ने पहले सोचा यह दोनों मर गए हैं। परन्तु पास जाकर देखा कि उनकी आँखे खुली हैं और मज़े से लेटे हुए हैं। उस व्यक्ति को देखकर बेर वाले अफीमची ने कहा कि हे भाई! यह बेर मेरी छाती से उठाकर मेरे मुँह में डाल दो। और उस व्यक्ति ने वह बेर उसके मुँह में डालकर पूछा कि यह बेर कब गिरा था? अफीमची ने बोला रात को गिरा था। उस व्यक्ति ने आश्चर्य से कहा कि पूरी रात यह बेर तेरी छाती पर पड़ा रहा और तूने उसे उठाया नहीं। तुम तो बड़े आलसी हो। इस पर लेटे हुए दूसरे अफीमची ने उस व्यक्ति से कहा कि अरे भाई। इसकी सुस्ती का क्या ठिकाना? मत पूछो। रात भर कुत्ता मेरा मुँह चाटता रहा और इससे यह भी न हुआ कि कुत्ते को परे हटा दे। कथा का भाव है कि प्रकृति के रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण जीव पर प्रभाव डालते हैं और उसे प्रायः आलसी, विषय-विकारी व

अहंकारी बनाते हैं। जीव इस कारण प्रायः अविद्याग्रस्त होकर कर्महीन तथा आलसी हो जाता। ऐसे में विद्वानों की शुभ वैदिक प्रेरणा ही उसे पुरुषार्थ द्वारा शुभ कर्म करने में सहायक होती है। चारों वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इन तीन विद्याओं का प्रकाश है। ज्ञान भी पुरुषार्थी द्वारा कर्म करके ही प्राप्त होता है, पश्चात शुभ कर्म एवं उपासना कर्म करके जीव इस भवसागर से पार उतरता है। ऐसे गुरु एवं जनता जो केवल कर्म त्याग का मिथ्या उपदेश करते हैं और केवल ज्ञान में ही मुक्ति बताते हैं, यह सब कुछ सनातन वेद-विद्या के विरुद्ध है। कई कहते हैं कि रात का अंधेरा है, कमरे में से अंधेरा दूर करना है तो पूरी फौज और जनता बाल्टी भर-भरकर कमरे का अंधेरा बाहर फेंके तो भी ऐसे परिश्रम से भरे कर्म करने से भी कमरे का अँधेरा दूर नहीं होगा। और यदि ज्ञान का प्रयोग करके वहाँ मोमबत्ती जला दी जाए तो बिना कर्म किए ही कमरे का अँधेरा दूर हो जाता है। ऐसे लोग इस तर्क द्वारा ज्ञान को ही श्रेष्ठ बताते हैं। परन्तु यह तो सचमुच कपिल मुनि रचित **सांख्य शास्त्र सूत्र ३/८१ "इतरथाऽन्धपरम्परा"** अर्थात् अन्धों की परम्परा वाली बात ही सिद्ध हुई। क्योंकि ध्यान से इस कथा को देखे तो अँधेरा मोमबत्ती के जलाने से ही समाप्त हुआ है, जिसमें मोमबत्ती जलाने से रोशनी होती है। इस बात का तो ज्ञान है। परन्तु माचिस द्वारा मोमबत्ती को जलाना, यह एक कर्म है। इस जलाने रूपी कर्म को यदि न किया जाएगा तो केवल ज्ञान द्वारा, अँधेरा कभी दूर नहीं होगा। अतः प्रस्तुत श्लोक में भगवान श्री कृष्ण ने और चारों वेदों में स्वयं ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी को ज्ञान युक्त शुभ कर्म करने की आज्ञा दी है। अतः हम सदा निष्काम कर्म करते रहें।

यह विचार प्रत्येक प्राणी को करना चाहिए कि जो आज प्रायः केवल ईश्वर भक्ति की बात करते हैं और गृहस्थ, समाज एवं संसार के अन्य शुभ कर्म जैसे पढ़ना-लिखना, व्यवसाय करना, धन कमाना, विवाह द्वारा सन्तान प्राप्त करना, विज्ञान की उन्नत्ति करना इत्यादि को मिथ्या कहते हैं और यह कहते हैं कि कोई कर्म करने की आवश्यकता नहीं है ऐसा कहने वाले सन्त भी समाज के उन्हीं अनपढ़, पढ़े-लिखे, गरीब अथवा धनवानों से उनके कर्मों की मेहनत की कमाई को ही प्राप्त करते है और स्वयं बैठकर खाते हैं। तथा

जिन श्रीराम, श्रीकृष्ण महाराज जेसी अनेक विभूतियों की बात करते हैं, उन विभूतियों का समस्त जीवन विद्या अर्जित करने तथा कठोर परिश्रम करने में बीता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।।"

(गीता : ३/२१)

क्योंकि हे अर्जुन! **(श्रेष्ठः)** श्रेष्ठ पुरुष **(यत् यत्)** जो-जो **(आचरति)** कर्म आचरण में लाता है **(इतरः)** अन्य **(जनः)** जन **(तत् तत्)** वैसा वैसा **(एव)** ही कर्म करते हैं। **(सः)** वह पुरुष **(यत्)** जो कुछ **(प्रमाणम्)** प्रमाण-आदर्श **(कुरुते)** करता है **(लोकः)** मनुष्य समाज **(तत्)** उसके **(अनुवर्तते)** अनुसार ही बर्तते हैं-कर्म करते हैं।

अर्थ : क्योंकि हे अर्जुन! श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म आचरण में लाता है अन्य जन वैसा-वैसा ही कर्म करते हैं। वह पुरुष जो कुछ प्रमाण-आदर्श करता है, मनुष्य समाज उसके अनुसार ही बर्तते हैं-कर्म करते हैं।

भावार्थ : महाभारत के वनपर्व में यक्ष का प्रश्न है **"कः सः पन्था"** अर्थात् किस शुभ मार्ग को हम आचरण में लाएँ? उत्तर में युधिष्ठिर बोले-जिस मार्ग से श्रेष्ठ जन जाते रहे हैं, वही मार्ग अपनाने योग्य है। वैसे तो **योगशास्त्र सूत्र १/२४** के अनुसार सब मनुष्यों में श्रेष्ठ केवल ईश्वर ही है और ईश्वर ने चारों वेदों का ज्ञान देकर वेदों के अनुसार चलने का मार्ग बताया है। क्योंकि वेदों की सारी विद्या अनन्त गुणों वाले एक ही ईश्वर के आचरण में है। इसलिए सब से बड़ा आचार्य ईश्वर को ही कहा गया है और इस सनातन विद्या को ही हम आचरण में लाएँ। देखने में आता ही है कि वेदों की विद्या को ही मनु, अष्टक, क्षिप्त, विक्षिप्त, हरिश्चन्द्र, दशरथ, श्रीराम, सीता, मदालसा, जनक एवं युधिष्ठिर जैसे असंख्य राजर्षियों ने एवं व्यास मुनि जैसे महर्षियों ने वेद-विद्या को अपने जीवन में उतारा था और "यथा राजा तथा प्रजा" इस उक्ति के अनुसार उस समय की प्रजा ने उन महापुरुषों का अनुसरण किया

था। परन्तु आज देश का दुर्भाग्य है कि हम उन विभूतियों की मूर्ति बनाकर पूजा तो अवश्य करते हैं परन्तु उनके ज्ञान, कर्म एवं उपासना आदि वैदिक शुभ कर्मों को प्रायः आचरण में नहीं लाते। आज यदि देश के नेता स्वार्थी, धन इकट्ठा करने वाले, भ्रष्टाचारी इत्यादि अनेक अवगुणों से ग्रस्त हैं तो जनता भी प्रायः रिश्वतखोरी आदि नेताओं के अवगुणों को आचरण में ला रही है। समाज में उच्च वर्ग के लोग जैसा-२ व्यवहार करते हैं, जनता भी वैसा ही कर्म करने लग जाती है। इन सब बातों से यह सिद्ध है कि आज के नेता एवं गुरु लोग जब तक दशरथ, राम, सीता, मदालसा, व्यास एवं वसिष्ठ जैसी ऊपर कही विभूतियों के उस समय के किए शुभ कर्मों को आचरण में नहीं लाएँगे तब तक जनता भी सत्य को समझ नहीं पाएगी। घर की ही बातें लो, जब माँ-बाप बच्चों के सामने झूठ बोलते हैं, गन्दी हँसी मज़ाक करते हैं अथवा देर से सोकर उठते हैं, नास्तिक भाव से ग्रस्त होते हैं तो वही-वही संस्कार उनके बच्चों पर पड़ते चले जाते हैं। जिसका हर्जाना पूरे देश को भरना पड़ता है। भगवान राम ने शबरी, गिद्ध एवं केवट जैसे आम प्राणियों को भी गले लगाया था। श्रीकृष्ण महाराज ने गरीब सुदामा से मित्रता निभाई और साधारण पुरुष सा बनकर गऊओं को चराया, यज्ञ में झूठन उठाई इत्यादि कई शुभ कर्म किए जिसका अनुकरण उस समय के समाज के प्राणियों ने किया था। अतः घर के सुधार के लिए, घर के बड़ों का शुभ-आचरण और देश के सुधार के लिए नेताओं और गुरुओं का वैदिक आचरण ही घर-घर एवं सम्पूर्ण देश अथवा संसार में भाईचारा एवं सुख-शांति स्थापित कर सकता है। अन्यथा नेताओं के बड़े-बड़े भाषण और गुरुओं का पढ़-सुन-रट कर, अविद्याग्रस्त मिथ्यावाद आज की जनता में आडम्बर, अंधविश्वास एवं भ्रष्टाचार आदि अनेक बुराइयों को ही बढ़ावा देता जा रहा है। एक व्यक्ति का अतिवृद्ध पिता बीमारी हालत में बड़े लम्बे समय से मौत से जूझ रहा था। वृद्ध का बेटा और बहू उसकी सेवा से मुँह चुराते रहते थे। बेटा-बहू मन में सोचते रहते थे कि कब यह बुड्ढा मरेगा। पिता की बीमारी से परेशान होकर एक दिन बेटे ने नदी के किनारे एक बाँस का बेड़ा बनाया और पिता को नदी स्नान कराने के बहाने वहाँ ले आया। उस व्यक्ति के साथ उसका पाँच-छह साल का बेटा भी नदी किनारे आया था और सब

कुछ देख रहा था। उस व्यक्ति ने अपने वृद्ध पिता को उस बाँस के बने बेड़े से बाँधकर उस पर लिटाया और पानी में बहा दिया। उस व्यक्ति के उस ५-६ वर्ष के बेटे ने पूछा कि पिताजी आपने दादाजी को ऐसे क्यों बहाया है। उस व्यक्ति ने अपने बेटे से कहा कि तेरे दादा को हमने स्वर्ग भेज दिया है, वहाँ वह आनन्द से रहेंगे। छोटा बेटा अपनी तोतली जुबान में पिता से बोला कि हे पिताजी! जब मैं बड़ा होऊँगा और आप वृद्ध हो जाओगे तो मैं भी इसी तरह आपको स्वर्ग भेजूँगा। वह व्यक्ति सुनकर घोर आश्चर्य चकित होकर पूर्णतः काँप उठा और पानी में छलाँग लगाकर अपने पिता को वापिस ले आया। अतः यह बात सत्य है कि समाज में जो-जो उच्च स्थिति प्राप्त व्यक्ति होते हैं, यह लोग ही अपने शुभ व अशुभ कर्मों द्वारा समाज में अच्छाई या बुराई फैलाने वाले होते हैं। अतः नेता, गुरुलोग और ऊँचे-२ पदों पर आसीन व्यक्तियों को अपने जीवन में वैदिक शुभ कर्मों का ही समावेश करके राष्ट्र को मजबूत बनाना होगा। अतः यहाँ उस समय के सम्पूर्ण क्षत्रीय वर्ग को लक्ष्य करके श्रीकृष्ण महाराज भी अर्जुन को समझा रहे हैं कि यदि तू आज का धनुष-धुरंदर और युद्ध-विद्या में प्रवीण योद्धा ही धर्मयुद्ध से मुँह फेर लेगा तो वर्तमान की और आने वाली पीढ़ियाँ भी तेरा ही अनुकरण करेंगी जो एक धर्म के नाम पर कलंक होगा। प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा आचरण में लाए गये शुभ कर्मों की ओर ध्यान देने की बात कही है। अतः प्रथम हम सब श्रेष्ठ पुरुष, श्रेष्ठ नारी बनें। वेद विद्या को जीवन में धारण करके हम सब भारतवासी स्वयम् अपने तथा समाज वा राष्ट्र के भविष्य को उज्जवल बनाएँ।

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने अत्यन्त गहन गम्भीर बात कही है कि श्रेष्ठ पुरुष जो-जो कर्म आचरण में लाता है अन्य जन वैसा-वैसा कर्म करते हैं। पिछले कई श्लोकों में श्रेष्ठ पुरुष/योगी वह कहा गया है जो वेद मार्ग पर चलकर काम-क्रोध आदि विकारों को समाप्त कर लेता है और जिसकी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि योगाभ्यास द्वारा संयम में रहती है इत्यादि। अतः ऐसे पुरुष की शुद्ध बुद्धि से श्रेष्ठ कर्म ही होते हैं, पाप कर्म नहीं होते। महाभारत के वन पर्व में इसी वैदिक भाव से युक्त प्रश्न युधिष्ठिर

से किया गया है। यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया **"कः पन्थाः"** अर्थात् चलने योग्य जीवन का मार्ग कौन सा है? उत्तर में युधिष्ठिर ने कहा था कि तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, मनुष्यों की श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं अर्थात् विचार भी भिन्न हैं। ऐसा कोई ऋषि भी नहीं है जिसका मत (मार्ग दर्शन) प्रमाण माना जाए, धर्म का तत्त्व भी अत्यन्त गूढ़ है। अतः ऐसी स्थिति में यह कहना ही श्रेष्ठ है कि **"महाजनो येन गतः स पन्थाः"** अर्थात् जिस रास्ते से महापुरुष जाते हैं वह ही मार्ग श्रेष्ठ है। गीता व्यास मुनि कृत महाभारत का भीष्म-पर्व ही है। अतः श्री कृष्ण इसी विषय को इस श्लोक में कह रहे है कि श्रेष्ठ पुरुष (महापुरुष) जो-जो कर्म आचरण में लाता है अन्य जन वैसा-वैसा ही कर्म करते हैं। जनता को श्रेष्ठ गुणों से युक्त करने का वास्तव में यही श्रेष्ठ मार्ग है।

महाभारत के ऊपर के श्लोक में और भी अधिक गहराई एवं गम्भीरता है। युधिष्ठिर का उत्तर महाभारत काल अर्थात् करीब सवाँ पाँच हजार वर्ष पहले दिया हुआ है जिसमें युधिष्ठिर कह रहे हैं कि उस समय एक भी ऋषि-मुनि ऐसा नहीं जिसका मत प्रमाण माना जाए और मनुष्यों की वृत्तियाँ भिन्न हैं तथा तर्क की स्थिति नहीं हैं। अर्थात् उस समय भी वेद विरुद्ध अधर्म युक्त कर्म अर्थात् पाप कर्म प्रारम्भ हो चुके थे। धर्म बलपूर्वक थोपा जा रहा था, कोई तर्क नहीं कर सकता था। कोई बलपूर्वक थोपे हुए धर्म के विरुद्ध में कुछ कह नहीं सकता था इत्यादि। ऐसी परिस्थितियों में युधिष्ठिर ने आज से लगभग सवाँ पाँच हजार वर्ष पहले कहा था कि उस समय से पहले के भी जो श्रेष्ठ पुरुष/महापुरुष हुए थे अथवा उस समय वर्त्तमान थे और वह महापुरुष जो वेदानुसार (क्योंकि उस समय भी वेद ही प्रमाण थे) यज्ञ, नाम सिमरन, योगाभ्यास सहित अनेक वैदिक शुभ कर्म करते थे और जिनकी इन्द्रियाँ संयम में थी तो इस प्रकार उन्होंने अपने जीवन में जो-जो श्रेष्ठ कर्म आचरण में धारण किए थे वैसे-वैसे शुभ कर्म हमें करने चाहिए आज भी यही नियम प्रचलित होना अति आवश्यक है। दूसरी गम्भीर बात यह है कि श्रेष्ठ पुरुष किसे कहते हैं। इसका उत्तर प्राचीन काल से यही है कि पुरातन के राज-ऋषि, ऋषिगण विद्वान् और विदुषी नारियाँ और उन्हीं के मार्ग पर चलने

वाले वर्त्तमान के विद्वान् व विदुषी नारियाँ ही श्रेष्ठ पुरुष व नारियाँ कही जाएँगी। यह अनादिकाल से चला आ रहा सत्य है कि पुरातन काल के सभी श्रेष्ठ पुरुष एवं नारियों ने वैदिक मार्ग अपनाया था। प्रथम तो सर्वश्रेष्ठ सबसे उत्तम निराकार परमेश्वर ही है।

व्यास मुनि ने वेदान्त **शास्त्र सूत्र १/२** में कहा **"जनमाद्यस्य यतः"** अथार्त् वह ईश्वर जिसके अंदर से चारो वेदों का ज्ञान निकला है। अतः सर्वश्रेष्ठ पुरुष ईश्वर से ही सर्वश्रेष्ठ विद्या चारों वेदों के रूप में उत्पन्न हुई जिसके विषय में तो श्री कृष्ण महाराज ने भी **गीता श्लोक ३/१५** में कहा कि हे अर्जुन! वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं तब ईश्वरीय विद्या को आज भी आचरण में लाने के प्रति कोई भ्रम नहीं होना चाहिए। इसी विद्या को आचरण में लाकर प्राचीन काल के मनुष्य और नारी विद्वान् और विदुषी अर्थात् श्रेष्ठ पद को प्राप्त किए हुए थे और आज भी यही नियम प्रचलित है कि हम वर्तमान में भी वेद विद्या को आचरण में लाकर श्रेष्ठ बनें। अब महाभारत के ऊपर के श्लोक तथा गीता के प्रस्तुत श्लोक के अनुसार प्रथम श्रेष्ठों को खोजा जाए और उनके द्वारा जो-जो वैदिक कर्म आचरण में लाए जाते हैं उन्हें ही हम आचरण में लाएं। अतः यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि हमारे काल के विद्वानों-विदुषियों द्वारा जो-जो वेदों में कहे शुभ कर्म किए गए थे उन शुभ कर्मों की धरोधर का नाम ही संस्कृति है और इस अनादिकाल से चली आ रही संस्कृति को हम तन, मन, धन, प्राण भी अर्पित करके जीवित रखें मनघढ़न्त मार्ग, थोथे कर्म काण्ड और अंधविश्वास से सदा दूर रहें। फलस्वरूप ही हमारा भारत पुनः **"विश्व गुरु"** एवं **"सोने की चिड़िया"** के पद पर विराजमान हो पाएगा। अब दूसरा पक्ष यह हुआ कि जो प्राणी वेद विद्या नहीं जानता नहीं सुनता तब उसे न तो पूर्ण रूप से सनातन संस्कृति का ज्ञान होगा और न ही श्रेष्ठों और अज्ञानियों में अन्तर समझ पाएगा अविद्या ग्रस्त होकर ऐसा प्राणी तो अज्ञानियों, मूर्खों एवं अविद्वानों को ही महापुरुष अथवा श्रेष्ठ पुरुष व श्रेष्ठ नारी समझ लेगा, और इस प्रकार ऐसे वेद विरुद्ध कर्म करने वालों के मार्ग पर चलकर वह प्राणी भटक जाएगा तथा दुःख के सागर में डूब जाएगा। जो व्यक्ति वेदों को कठिन कह रहे हैं वे

समाज को वैदिक सत्य से भटका कर मनघढ़न्त असत्य मार्ग की ओर ले जा रहे हैं और धन बटोर रहे हैं। वेद-शास्त्र एवं गीता जैसे महान ग्रन्थ हमें श्रेष्ठ पुरुष से अवगत करा रहें हैं। अतः हम श्रेष्ठों का ही अनुसरण करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

'न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि।।"

(गीता : ३/२२)

(पार्थ) हे अर्जुन **(मे)** मुझे **(त्रिषु)** तीनों **(लोकेषु)** लोकों में **(किंचन)** कुछ भी **(कर्तव्यम्)** कर्म करने योग्य **(न)** नहीं **(अस्ति)** है **(च)** और मुझे **(अवाप्तव्यम्)** प्राप्त होने योग्य पदार्थ **(अनवाप्तम्)** अप्राप्त **(न)** नहीं है लेकिन फिर भी मैं **(कर्मणि)** कर्म में **(एव)** ही **(वर्ते)** बरतता हूँ।

अर्थ : हे अर्जुन! मुझे तीनों लोकों में कुछ भी कर्म करने योग्य नहीं है, और मुझे प्राप्त होने योग्य पदार्थ अप्राप्त नहीं है, लेकिन फिर भी मैं कर्म में ही बरतता हूँ।

भावार्थ : चारों वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना सहित अष्टांग योग-विद्या का भी उपदेश है। जैसे **सामवेद मंत्र ४२** में कहा ज्ञानी-जन परमेश्वर का ध्यान लगाते हैं। **सामवेद मन्त्र १६७२** में कहा विद्वान् योगी जन ईश्वर के स्वरूप का अनुभव करते हैं। **ऋग्वेद मंत्र ६/४६/४** का भाव है कि जो मनुष्य योगाभ्यास अर्थात् आसन, प्राणायामादि द्वारा प्राण को वश में करते हैं। वे ईश्वर को प्राप्त करके सब सुखों को प्राप्त कर लेते हैं। अगले ही मंत्र का भाव है कि सब मनुष्य योगाभ्यास द्वारा परमात्मा को जानकर मोक्ष के आनन्द को प्राप्त करें। **योग शास्त्र सूत्र २/५२** में ऋषि पता जलि अपना अनुभव प्रकट करते हुए कहते हैं कि अष्टांग योग में कहे प्राणायाम के अभ्यास से योगी के विवेक ज्ञान के ऊपर पड़े परदे अर्थात् कर्म नाश हो जाते हैं और जीवात्मा अपने स्वरूप एवं परमेश्वर के स्वरूप का अनुभव कर लेता है। इस योग-विद्या का यहाँ यह क्षणिक सा ज्ञान भी बता रहा है कि योगी के सब कर्म नष्ट हो जाते हैं और उसे शेष जीवन में कोई कर्त्तव्य कर्म करना शेष

नहीं रह जाता। श्रीकृष्ण महाराज के यहाँ हम दो स्वरूप समझने का यत्न करें। अपने मित्र सुदामा के साथ श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन गुरु के आश्रम में रहकर चारों वेदों का अध्ययन, एवं अष्टांग योग-विद्या को ग्रहण किया था। छांदोग्योपनिषद् के अनुसार देवकी पुत्र श्रीकृष्ण ने घोर अंगिरस ऋषि से भी शिक्षा प्राप्त की थी। अतः वेद एवं योग-विद्या के महान ज्ञाता श्रीकृष्ण समाधिस्थ पुरुष होकर ब्रह्मलीन योगेश्वर कहलाए। अर्थात् देह तो श्रीकृष्ण महाराज की थी परन्तु उस देह के अन्दर संसार रचयिता स्वयं परमेश्वर प्रकट थे। एक तो यह श्रीकृष्ण का योगेश्वर-रूप है। दूसरा कई श्रद्धालु उन्हें ईश्वर का अवतार कहते हैं। लेकिन क्योंकि चारों वेदों के अनुसार अवतारवाद संभव नहीं है, अतः हम श्रीकृष्ण महाराज के शरीर में प्रकट ईश्वर को ही श्रीकृष्ण का स्वरूप मानकर यह कह सकते हैं कि ईश्वर ने श्रीकृष्ण, श्रीराम एवं ऋषि-मुनियों के शरीर में प्रकट होकर संसार को ज्ञान दिया और ईश्वर केवल उन्हीं शरीरों में प्रकट होता है जो वेदाध्ययन एवं अष्टांग योग-विद्या के अभ्यास द्वारा संयमी एवं पूर्ण अन्तःकरण से शुद्ध तथा चित्त वृत्ति का निरोध कर लेते हैं। जिसे योग-शास्त्र में योगी की असम्प्रज्ञात समाधि कहा है। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने ब्रह्मावस्था में इस श्लोक में यह समझाया कि पूर्ण असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगी अथवा संसार रचयिता ईश्वर, इन दोनों के लिए कोई कर्त्तव्य-कर्म करना शेष नहीं है। परन्तु ईश्वर की शक्ति से सम्पूर्ण विश्व की रचना, पालना एवं संहार तथा पुनः रचना का विधान निश्चित समय पर होना अटल है। अतः **श्वेताश्वतरोपनिषद्** में कहा-**"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"** अर्थात् ईश्वर के ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक हैं। अर्थात् निश्चित समय पर अपने आप होते रहते हैं। उसे करने के लिए ईश्वर को कुछ सोचना, समझना, या किसी का सहारा लेना इत्यादि की कुछ भी जरूरत नहीं है। क्योंकि वह स्वयं सर्वशक्तिमान है। परन्तु फिर भी उसके कर्म संसार में देखे जा रहे हैं। जन्म, मरण, कर्मों का फल इत्यादि सब ईश्वर के अधीन है। कर्म करने में नर-नारी स्वतंत्र हैं, परन्तु कर्म कर के फल भोगने में परतंत्र अर्थात् ईश्वर के अधीन हैं। दूसरा पक्ष है कि समाधिस्थ योगी के लिए भी कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है। अतः उचित ही श्रीकृष्ण महाराज के लिए भी कोई कर्त्तव्य कर्म करना शेष नहीं है परन्तु पुनः श्री कृष्ण यहाँ कह रहे हैं

कि मेरे लिए कोई कर्त्तव्य-कर्म शेष नहीं है फिर भी मैं कर्म कर रहा हूँ। परन्तु ईश्वर अथवा योगी के कर्म करने की विशेषता यही है कि यह दोनों ही शक्तियाँ संसार के कल्याण के लिए कर्म करती हैं। और उन्हें किए हुए कर्म का फल नहीं भोगना होता। ऋषि पता जलि ने योग-शास्त्र सूत्र **१/२४** में कहा कि जो क्लेश, कर्म तथा कर्मफल के सम्बन्ध से सदा रहित है, वह जीवात्माओं में विशेष जो है वह ईश्वर है। अतः अब ईश्वर एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कर्म करते हैं तो साधारण नर-नारी को तो अत्याधिक पुरुषार्थ करने की आज्ञा वेद देता है। अतः प्राणी को समस्त प्रकार के आलस्य का त्याग करके सदा शुभ कर्मों में लगे रहना चाहिए। श्रीकृष्ण महाराज यहाँ यही ज्ञान अर्जुन को दे रहे हैं कि क्षत्रिय होकर भी तू क्यों युद्ध से मुँह मोड़ बैठा है। इससे तो तू दोनों लोकों में निन्दनीय पुरुष कहलाएगा। अतः विद्यार्थी, गृहस्थी, वानप्रस्थी, संन्यासी एवं गृहस्थ में रहने वाले नेतागण, कृषक, व्यापारी आदि सभी वर्ग आलस्य छोड़कर सदा धर्मयुक्त कर्म में लगे हुए गृहस्थ समाज एवं देश को खुशहाल बनाएँ। सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्म के रहस्य को समझाता हुआ कर्म करने की प्रेरणा से भरा पड़ा है। कर्म के आधार पर ही मनुष्य अच्छा, बुरा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इत्यादि कहलाता है। इसी आधार पर धर्मयुद्ध न करने वाले अर्जुन को भी दूसरे अध्याय **श्लोक २/३** में श्रीकृष्ण ने क्षत्रिय न कहते हुए नपुंसक कह दिया। अतः हम **यजुर्वेद** के अन्तिम अध्याय के **मंत्र ४०/२** के भाव को जीवन में उतारें जिसमें कहा कि प्राणी शुभ कर्म करता-करता ही सौ वर्ष से अधिक निरोग आयु को प्राप्त करे। क्योंकि शुभ कर्म करते हुए प्राणी ही कर्मफल में लिप्त न होकर मोक्ष प्राप्त करते हैं, आलसी नहीं। आलसी नर-नारी स्वयं एवं समाज पर भार होता है। अतः जो व्यक्ति कर्म करने की प्रेरणा न देकर केवल ज्ञान में मुक्ति बताते हैं वह सम्पूर्ण यजुर्वेद में कहे शुभ कर्म एवं गीता में कहे इन श्लोकों में शुभ कर्म करने की आज्ञा को स्वीकार करके जीवन सफल करें। केवल ज्ञान द्वारा मुक्ति वेद सम्मत एवं भगवद्गीता सम्मत नहीं है। जीवात्मा को यह मानव शरीर शुभ कर्म करके मोक्ष पद प्राप्त करने के लिए मिला है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जाता है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज जैसी महान विभूतियाँ जन्म से लेकर अन्त तक कठिन से कठिन परिश्रम करते रहे जिससे समाज सुधार हुआ और

राष्ट्र में अन्याय तथा अत्याचार समाप्त हुआ। तब श्री कृष्ण, श्री राम अथवा ईश्वर की पूजा करने वाले कोई भी सन्त अथवा समाज का प्राणी जनता से बटोर कर बैठ कर न खाएँ। नित्य कठिन से कठिन परिश्रम करें तथा श्रीकृष्ण, श्रीराम के अपनाए वैदिक धर्म को ही आचरण में लाएँ।

श्रीकृष्ण उवाच-

'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।"

(गीता : ३/२३)

(हि) क्योंकि **(यदि)** यदि **(अहम्)** मैं **(अतन्द्रितः)** प्रमाद रहित होकर **(जातु)** कदाचित् **(कर्मणि)** कर्म में **(न)** न **(वर्तेयम्)** बर्तूं तो **(पार्थ)** हे अर्जुन **(सर्वशः)** सब प्रकार से **(मनुष्याः)** मनुष्य **(मम)** मेरे **(वर्त्म)** बर्ताव के **(अनुवर्तन्ते)** अनुसार बर्तते हैं अर्थात् मैं कर्म नहीं करूँगा तो मनुष्य भी कर्म नहीं करेगें।

अर्थ : क्योंकि यदि मैं प्रमाद रहित होकर कदाचित् कर्म में न बर्तूं तो हे अर्जुन सब प्रकार से मनुष्य मेरे बर्ताव के अनुसार बर्तते हैं। अर्थात् मैं कर्म नहीं करूँगा तो मनुष्य भी कर्म नहीं करेगें।

भावार्थ : रात्रि दिन से और दिन रात्रि से मिलता है। अर्थात् काल चक्र चलता ही रहता है, रूकता नहीं है। इसी प्रकार **ऋग्वेद मंत्र १/१२३/८** में मनुष्य को दिन-रात परिश्रम करने को कहा है। ईश्वर की लीला है कि मशीन के पुर्ज़े चल-चल कर घिस जाते हैं परन्तु मनुष्य के शरीर के जोड़, हड्डियाँ, माँस-पेशियाँ, स्नायु मण्डल इत्यादि मेहनत व्यायाम इत्यादि करके पुष्ट होता है। यह दिन रात ईश्वर ने बेकार नहीं बनाए हैं। अतः जो मनुष्य आलस्य त्यागकर शुभ कर्मों में अथक परिश्रम करते रहते हैं वहीं भीष्म, श्रीराम, श्रीकृष्ण, सीता, मदालसा, तपस्वी व्यास मुनि, विश्वामित्र आदि असंख्य पुरुषार्थी विभूतियों की भांति तेज, विद्या, आत्मिक सुख प्राप्त करते हैं। वह ही मजबूत राष्ट्र का निर्माण करते हैं। कितने ही बड़े-बड़े पूंजी पति (टी.वी. पर भी) साधु सन्त आज आलस्य, निद्रा बीमारियों के शिकार हुए कर्म न करने की बात कहते हैं, जो पूर्णतः वेद-विरुद्ध है। उनका मानना है कि केवल ज्ञान से

मुक्ति है, कर्म से नहीं है। और जनता से पैसा लूटने के लिए कितने बड़े पाण्डालों में महीनों पहले उनके अपने कहे सत्संग का आयोजन रूपी कर्म चलता रहता है। **ऋग्वेद मन्त्र १/१२३/७** में भगवान ज्ञान देते हैं कि जैसे संसार में अन्धेरा और उजाला यह दो पदार्थ हैं। दिन सूर्य की रोशनी से प्रकाशवान है और सूर्य के छिप जाने पर रात्रि में अन्धकार छा जाता है। इसी कारण पृथिवी आदि लोकों के आधे भाग में सदैव दिन और आधे भाग में सदैव रात्रि होती है। जो स्थान अन्धकार को छोड़ता है वह प्रकाश को ग्रहण कर लेता है। वास्तव में प्रकाश अन्धकार को नष्ट कर देता है और प्रकाश स्वयं उस स्थान में छा जाता है। फिर प्रकाश उस स्थान को छोड़ देता है तथा प्रकाश छोड़ते ही उस स्थान पर रात्रि हो जाती है। इसी प्रकार ऋग्वेद कहता है कि जब संसार के सब शुभ कर्मों को करते हुए स्त्री-पुरुष वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म भी पुरुषार्थ सहित करते हैं और आलसी नहीं होते। तब दिन के उजाले के समान उनकी बुद्धि में विद्या-ज्ञान का प्रकाश हो जाता है। और जहाँ पुरुषार्थ-हीनता के कारण पहले अंधकार रूपी अज्ञान छाया था। वह अज्ञान अपना स्थान बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश आने के कारण छोड़ देता है। और बुद्धि में यह ज्ञान केवल पुरुषार्थी को ही प्राप्त होता है, आलसी को नहीं। ईश्वर के नियमों में अथवा प्रकृति के नियमों में भी आलस्य आ जाए तो आलस्य एवं कर्महीनता के कारण कभी तो सूर्य निकले कभी न निकले, कभी हवा चले कभी न चले, कभी पृथिवी सूर्य आदि नक्षत्र घूमने लगे कभी घूमना बंद कर दे इत्यादि। तो प्रकृति हमें यही शिक्षा देती है कि बिना रुके हवा चल रही है, नदी बह रही है, सृष्टि क्रम कभी थमता नहीं है-रुकता नहीं है। अतः प्राणी पलभर के लिए भी कर्म करना, मेहनत करना अथवा पुरुषार्थ करना कभी न छोड़े। चारों वेद में तीन विद्याएँ हैं-ज्ञान, कर्म एवं उपासना जिसके विषय में **मनुस्मृति श्लोक १/२३** कहता है-**"अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थमृग्यजुः सामलक्षणम्।।"** अर्थात् पूर्व के ऋषियों ने पुरुषार्थ सहित चारों वेदों के अध्ययन से तीनों विद्याओं को ग्रहण किया। और **अथर्ववेद मंत्र १९/४१/१** पहले ही कह रहा है कि ऋषियों ने तप किया और सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण किया। गीता के पहले छः अध्याय-कर्म, दूसरे छः अध्याय-उपासना और अंतिम

छः अध्याय-ज्ञान-काण्ड पर आधारित हैं। स्पष्ट है कि ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों को ही ग्रहण करना पड़ता है। और वर्तमान में इस कर्म रूपी विद्या को नकारने की वजह से प्रायः संत-साधुओं ने और नेताओं ने देश में अत्याचार, भ्रष्टाचार, अंधविश्वास, थोथे कर्मकाण्ड आदि असंख्य बुराइयों को जन्म देकर, कभी विश्वगुरु कहलाने वाले भारतवर्ष को तहस-नहस कर दिया है। प्रस्तुत श्लोक में इसी वैदिक ज्ञान को उजागर करते हुए श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं **"यदि अहम् अतन्द्रितः"** अर्थात् यदि मैं प्रमाद-आलस्य रहित होकर **'कर्मणि न वर्तेयम्'** कर्म न करूँ तब तो मुझे देखकर समस्त संसार के नर-नारी भी कर्म करना बंद कर देंगे। प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने **'अतन्द्रितः'** शब्द प्रयोग किया है जिसका अर्थ है प्रमाद रहित अथवा सावधान रहता हुआ। जीवात्मा ही आलस्य, अथवा कलेश देने वाली योग-शास्त्र सूत्र १/६ **"प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः"** में कही इन वृत्तियों से अपनी इंद्रियों को वश में रखता है। और जैसा **सामवेद मंत्र ७२१** में कहा कि **'देवः सुन्वन्तम् इच्छन्ति'** अर्थात् विद्वान योगी जन ईश्वर की इच्छा करते हैं-**'न स्वपनाय स्पृहयन्ति'** निद्रा-आलस की इच्छा नहीं करते अपितु **'अतन्द्राः प्रमादम् यन्ति'** अर्थात् आलस्य त्यागकर पुरुषार्थी होकर ब्रह्म के आनन्द को प्राप्त होते हैं। यह तो शरीर धारण करने वाले जीवात्मा के गुण हैं। परन्तु इसके विपरीत **यजुर्वेद मंत्र ४०/८** के अनुसार ईश्वर शरीर-रहित शुद्ध चेतन, आलस्य, निद्रा से परे सर्वव्यापक और सबके मन की जानने वाला है। यह ईश्वर के अनन्त गुणों में कुछ गुण कहे गए हैं। अतः ईश्वर को तो सावधान होने की आवश्यकता ही नहीं है। अतः यहाँ स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को कर्म के विषय में समझा रहे हैं। तो यह भारत वर्ष का दुर्भाग्य और विडम्बना है कि स्वयं सृष्टि रचयिता परमेश्वर भी प्रमाद रहित होकर सृष्टि का संचालन-कर्म कर रहे हैं और योगेश्वर श्रीकृष्ण भी कर्म कर रहे हैं, वेद में भी ईश्वर कर्मों की प्रेरणा दे रहा है और श्री राम, श्रीकृष्ण, ऋषि-मुनि भी कर्म की प्रेरणा देकर चले गए। तब आलस्य, स्वार्थ, मद इत्यादि में लीन प्रायः महात्मा और पूंजीपति कर्म न करने की बात कहते हैं और प्रायः पूंजीपति मज़दूरों का, नेता जनता का और आज के संत अपने चेलों की कमाई को हड़प कर उनका खून चूस कर बैठकर खाना चाहते हैं। बेसाखी के सहारे न

चलकर, दूसरों के कंधों पर बन्दूक न चलाकर हमें स्वयं अपने पैरों पर खड़ा होकर दिन रात शुभ कर्म करके अपना, परिवार, समाज एवं देश का भविष्य उज्जवल करना होगा। अतः विद्या को प्राप्त करें और पुरुषार्थ में हम सदा लगे रहें। विद्यार्थी, गृहस्थी को सुबह चार बजे उठकर भगवान का ध्यान, व्यायाम, पढ़ाई-लिखाई एवं गृहस्थ के शुभ कार्य करने होंगे। ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों का ध्यान रखना होगा। मिथ्यावाद को त्यागना होगा। दिनभर मेहनत की कमाई करनी होगी। माता-पिता, अतिथि, वृद्ध एवं वेदज्ञ आचार्य की सेवा करनी होगी। यज्ञ एवं ध्यान में बैठकर प्रत्येक गृहस्थी एवं विद्यार्थी को बुद्धि शुद्ध करनी होगी, जिससे अविद्या, भ्रष्टाचार एवं मिथ्यावाद का नाश होगा। इन सब गुणों को प्राप्त करने के लिए ही पढ़-सुन-रट कर बोलने वाले, हँसी-मज़ाक करने वाले संतो को त्यागना होगा और वेदाध्ययन एवं योगाभ्यासी विद्वानों को अपनाना होगा आदि-आदि। यह सब कुछ शुभ कार्य पिछले तीन युगों में वेदानुसार होता रहा था। जैसे कि रामायण में श्रीराम के बारे में कहा-**"श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्धर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर।।"** अर्थात् वेदों के पथ पर चलने के कारण ही श्रीराम इन्द्र के समान सुख सम्पदा को भोगने वाले बन गए थे। हम केवल श्रीकृष्ण वा श्री राम की मूर्ति की ही पूजा न करें वास्तव में उनके गुणों को जीवन में धारण करें।

प्रस्तुत श्लोक में पुनः वर्ण संकर पद आया है। जिसका अर्थ है "पैशाच विवाह" **मनुस्मृति श्लोक ३/३४** में कहा जो शयन करती, पागल हुई अथवा नशा पीकर उन्मत्त हुई कन्या को एकान्त पाकर, दूषित कर देता है वह अति दुष्ट "पैशाच विवाह" है। और ऐसा दुष्ट कर्म तभी होता है जब देश में राजा धर्महीन हो और वैदिक राजनीति एवं वैदिक शुभ कर्मों का ज्ञाता न हो तथा जो राजा जनता से कर प्राप्त करके चोर, डाकू, दुष्टों, अत्याचारियों आदि से जनता की रक्षा न कर सकता हो। अतः राजा का श्री कृष्ण महाराज के समान विद्वान् एवं कठोर परिश्रमी होना आवश्यक है। इसी संदर्भ में श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि यदि वह (श्री कृष्ण) भी जनता एवं देश कल्याण के लिए कठिन परिश्रम न करें तो वर्ण संकर का दोष भी श्री कृष्ण पर लगेगा और श्री कृष्ण प्रजा के हत्यारे कहें जाँएगें। अतः हमें

श्री कृष्ण महाराज के ऐसे विचित्र गहन गम्भीर एवं समाज वा देश की रक्षा करने वाले, कठोर परिश्रम करने वाले उपदेशों को जीवन में उतारना होगा। हम कर्म करने से कभी विमुख न हो। अन्यथा पापी हो जाँएगें। यह कहना पाप है कि कर्म से मुक्ति नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।"

(गीता : ३/२४)

(चेत्) यदि **(अहम्)** मैं **(कर्म)** कर्म **(न)** नहीं **(कुर्याम्)** करुँ तो **(इमे)** यह सब **(लोकाः)** लोक **(उत्सीदेयुः)** भ्रष्ट हो जाएँ **(च)** और मैं **(संकरस्य)** वर्णसंकर का **(कर्ता)** करने वाला **(स्याम्)** होऊँ तथा **(इमाः)** इस सारी **(प्रजाः)** प्रजा को **(उपहन्याम्)** हनन करुँ अर्थात् मारने वाला बनूँ।

अर्थ : यदि मैं कर्म नहीं करुँ तो यह सब लोक भ्रष्ट हो जाएँ और मैं वर्णसंकर का करने वाला होऊँ तथा इस सारी प्रजा को हनन करुँ अर्थात् माने वाला बनूँ।

भावार्थ : कर्म के विषय में महाभारत वन पर्व में युधिष्ठिर महाराज कहते है' **"धर्म निष्क्रियतः आलस्यम्"** अर्थात् धर्म का पालन न करना ही आलस्य है। **"धर्मज्ञः पण्डितः"** धर्म के मर्म के जानने वाले को ही पण्डित-विद्वान् कहते हैं। **"धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां"** धर्म का तत्त्व हृदय गुहा में छिपा (अत्यंत गूढ़ रहस्य) है। अतः महाभारत के वन पर्व में कहा कि "महापुरुष जिस मार्ग से जाते रहे हैं, वही श्रेष्ठ मार्ग है।" जहाँ धर्म की व्याख्या समझाई वहाँ **मनुस्मृति श्लोक ४/१४** में कहा कि प्राणी वेदों में कहे हुए कर्म तत्परता से करे। यही धर्म है। अर्थात् धर्म का अर्थ वेदोक्त कर्म करना कहा है। तभी **मनुस्मृति श्लोक २/६** में कहा- **"वेदः अखिलो धर्ममूलम्"** अर्थात् सब कर्मों का उदय वेदों से हुआ है। **मीमांसा शास्त्र सूत्र १/२** में ऋषि कहते हैं-वेद प्रतिपादित अर्थ को धर्म कहते हैं। भाव है कि वेद स्वतः प्रमाण हैं। अतः वेदों में कहे हुए कर्म करना प्राणी का धर्म है। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/७** एवं अन्य वेदों

के अनुसार भी ईश्वर तो सृष्टि के आरम्भ में चारों वेदों का ज्ञान अंगिरा, आदित्य आदि चार ऋषियों के हृदय में प्रकट करता है परन्तु उसके पश्चात ऋषि-मुनि ही वेदों में कही तीन विद्या- ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इनका ज्ञान सब प्राणियों को देते आए हैं। उस ज्ञान, कर्म एवं उपासना को ऋषियों, राजऋषियों ने पहले अपने जीवन में स्वयं धारण किया था, उसके पश्चात ही जनता को समझाया था। इसी आधार पर ऊपर युधिष्ठिर महाराज ने कहा कि जिस मार्ग पर महापुरुष लोग जाते हैं, वही श्रेष्ठ मार्ग है, जिसे सब प्राणियों को अपनाना चाहिए। महापुरुष से तात्पर्य है वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग की साधना सहित जिसने चारों वेदों में कहे शुभ कर्मों को जीवन में धारण कर लिया है और जो कदापि भी वेद विरोधी नहीं हैं। क्योंकि स्वयं मनुस्मृति कहती है-**"नास्तिको वेद निन्दकः"** अर्थात् चाहे कितना भी पूजा-पाठ करने वाला साधु-सन्त हो यदि वह छल कपट अथवा हँसी मज़ाक में भी वेद विरोधी है और वेदाध्ययन अथवा वेद में कहे यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि शुभ कर्मों से जनता का ध्यान हटाता है, वह शतप्रतिशत नास्तिक है। इसलिए वन पर्व श्लोक ५१ में कहा **"मृतम् अश्रोत्रिये दानं मृतो यज्ञस्त्व दक्षिणाः"** अर्थात् वेद ज्ञान से रहित गुरु को दिया दान मृत के समान है। और वेद मन्त्रों से किए यज्ञ में दक्षिणा न दी जाए तो वह यज्ञ नष्ट हो जाता है। **"वेदेषु धर्म शास्त्रेषु मिथ्या यो वै द्विजातिषु। देवेषु पितृधर्मेषु सः अक्षयम् व्रजेत्"** अतः जो नर-नारी वेद, वेद के ज्ञाता विद्वान् आदि में मिथ्या बुद्धि रखता है अर्थात् इन को मिथ्या कहता है, वह अक्षय नर्क में जाता है। इन सब वेद शास्त्र के प्रमाण से प्रस्तुत गीता के ऊपरीलिखित श्लोक से ही सिद्ध होता है कि मनुष्य का शरीर धारण करके प्राणी वेदोक्त शुभ कर्म करने आया है जिसके लिए उसे वेदज्ञ विद्वान् आचार्य से वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास की शिक्षा ग्रहण करनी होती है। इसी के लिए ज्ञानयुक्त कर्म नितांत आवश्यक हैं। अर्जुन क्षत्रिय था फिर भी योगेश्वर कृष्ण ने उसे संन्यास का उपदेश दिया है। अतः मोक्ष के लिए ब्राह्मण ही नहीं अपितु प्रत्येक प्राणी को संन्यास का अधिकार है। और केवल ज्ञान ही नहीं अपितु पुरुषार्थयुक्त कर्म एवं उपासना की भी अत्याधिक आवश्यकता है।

कर्म नहीं करेंगे तो विद्या आचरण में कैसे आएगी? क्या रोटी-रोटी कहकर ही पेट भर जाता है अर्थात् नहीं भरता। रोटी के लिए धन कमाना, आटा, दाल इत्यादि खरीदना, अग्नि पर भोजन बनाना और फिर ईश्वर का नाम लेकर के रोटी को मुँह में डालकर चबाना और निगलना, इन सब कर्मों को करने के पश्चात ही पेट भरता है। और भूख शांत होती है। परन्तु जैसा महाभारत के वन पर्व में युधिष्ठिर ने ऊपर कहा कि धर्म (कर्म) का रहस्य अत्यंत गूढ़ है, उसे हम यहाँ वेद शास्त्रों के प्रमाण से थोड़ा समझें। गीता के इस प्रसंग में एक तो ईश्वर के कर्म, दूसरा महापुरुषों के कर्म कहे हैं जिसे करते देखकर आम जनता भी शुभ कर्म करती है। ईश्वर का मुख्य कर्म संसार रचना, पालना एवं संहार तथा पुनः रचना आदि करना है। परन्तु इस विषय में भी ऋग्वेद मन्डल १० कहता है कि **"न सत् आसीत् न असत आसीत"** इत्यादि अर्थात् जब प्रलय के बाद, पृथिवी, आकाश, सूर्य आदि कोई परमाणु तक नहीं होता, तब उस समय केवल ईश्वर होता है। जीवात्माएँ शरीर रहित होती हैं और शरीर धारण करने का इंतजार करती हैं। प्रकृति अपने अविनाशी मूल स्वरूप में होती है। तभी तो मन्त्र कहता है। **"न सत् आसीत् न असत् आसीत्"**। सत्य का यहाँ अर्थ हैं कि सृष्टि रचना के लिए उद्यत परमेश्वर की वह शक्ति जो प्रकृति से सृष्टि रचना करने को तैयार होती है वह शक्ति उस समय रचना के लिए तैयार नहीं थी। क्योंकि वह प्रलयकाल था और असत्य का अर्थ है प्रकृति से बने तीनों लोक, उसका भी कोई कण तक नहीं प्रलय अवस्था में था। आगे मन्त्र कहता है कि ईश्वर की शक्ति मात्र ने प्रकृति में निश्चित समय पर प्रभाव डाला और जगत रचना प्रारम्भ हो गई। तभी **यजुर्वेद मंत्र ३१/३** में कहा-**'अस्य विश्वा भूतानि पादः'** अर्थात् इस जगदीश्वर के यह सब पृथिवी आदि तीनों लोक (भूत) ईश्वर के एक अंश के बराबर हैं। व्यास मुनि कृत वेदान्त **शास्त्र के सूत्र १/२** में कहा-**'जन्मादि अस्य यतः'** अर्थात् सृष्टि रचना, स्थिति एवं प्रलय इस जगत की जिस से होती है वह ब्रह्म है अर्थात् संसार को उत्पन्न करने वाला, स्थिर रखने वाला एवं नाश करने वाला केवल एक परमात्मा ही है। परन्तु जैसा **ऋग्वेद मण्डल १०** ने समझाया कि जगत की रचना में ईश्वर शामिल नहीं है। अपितु उसकी एक अंशमात्र शक्ति जब प्रलय के पश्चात प्रकृति से संयोग करती है तब जड़-प्रकृति के परमाणु

संसार रचना प्रारंभ कर देते है। और **यजुर्वेद मंत्र २३/५४** भी इस विषय में कहता है कि जो अति सूक्ष्म विद्युत है वह प्रथम परिणाम है और महत् (बुद्धि) नामक पदार्थ सृष्टि रचना में प्रकृति से बना दूसरा परिणाम है। जड़ प्रकृति से ही पंच भूत इत्यादि एवं समस्त संसार की रचना शरीर आदि बनते हैं और प्रलय इन सब स्थूल पदार्थों का विनाशक है। इससे यह परिणाम निकला कि ईश्वर सृष्टि रचना में केवल निमित्त मात्र है। बिल्कुल ऐसे जैसे मरी हुई मकड़ी जाला नहीं बुन सकती। जीवित मकड़ी अपने अंदर ही जड़ शरीर से जाला बुनती है और भीतर ही लय कर लेती है। मकड़ी की आत्मा चेतन है और जड़ शरीर से उत्पन्न जाला जड़ है। अतः मकड़ी के उदाहरण से यह सिद्ध है कि मकड़ी की चेतन जीवात्मा से जाला नहीं बुना गया अपितु मकड़ी की चेतन जीवात्मा ने जड़ शरीर को लेकर जाला बुना। इससे मकड़ी की जीवात्मा जाला बुनने के लिए निमित्त मात्र है अर्थात् निमित्त उपादान कारण है, उपादान कारण नहीं है। इसी तरह ईश्वर चेतन है तथा प्रकृति-जड़ है। चेतन ईश्वर की शक्ति मात्र जड़-प्रकृति में कार्य करती है और संसार की रचना हो जाती है। इस प्रकार ईश्वर से संसार नहीं निकला है। ईश्वर तो संसार रचना का मकड़ी के जाले की तरह निमित्त उपादान कारण है। वह भी उसकी एक अंश मात्र शक्ति से संसार रचना हुई है, ईश्वर से नहीं। अतः ईश्वर के कर्म अलौकिक हैं, सर्वशक्तिमान है। वह स्वयं कर्म नहीं करता, केवल निमित्त मात्र है। तभी पता जल योग दर्शन के ऋषि पता जलि ने ईश्वर को **सूत्र १/२४** में कर्म, क्लेश और कर्मफल इत्यादि से पृथक् कहा है। यह तो हुआ ईश्वर के कर्म के बारे में कि उसकी एक अंश मात्र शक्ति से ही पृथिवी की रचना, पालना और संहार, जन्म, मृत्यु आदि, ऋतुएँ, सूर्य का चमकना, पृथिवी आदि का घूमना, दिन-रात आदि का होना इत्यादि असंख्य कार्य स्वतः निश्चित समय पर होते जाते हैं। तभी श्वेताश्वतरोपनिषद् के ऋषि ने सत्य कहा-**"स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"** अर्थात् ईश्वर का ज्ञान, बल और कर्म स्वाभाविक हैं अर्थात् ईश्वर को कुछ करने की जरूरत नहीं पड़ती। जैसे भूख, निद्रा इत्यादि स्वाभाविक हैं। वस्तुतः कर्म तो हम प्राणियों, साधकों, ऋषि-मुनियों, योगियों को करने होते हैं जिसका विधान सम्पूर्ण चारों वेदों में है। प्रस्तुत श्लोक में यही सत्य श्रीकृष्ण महाराज दर्शा रहे हैं कि हे अर्जुन!

यदि मैं कर्म न करूँ तो सब लोग भ्रष्ट हो जाएँगे। क्योंकि मेहनत न करने वाले चोर, डाकू शुभ कर्म नहीं करते वह चोरी, डाका, भ्रष्टाचार इत्यादि करके ही भोजन करते हैं। अतः श्रीकृष्ण ने कहा, इस प्रकार तो वर्ण-संकर दोष उन पर लग जाएगा। क्योंकि आलसी चोरी डकैती डालेंगे, साधु संत के वेश में असत्यभाषण करके धन लूटेगें, नेता प्रजा को खा जाएँगे और इस प्रकार जो बिना शुभ कर्म किए वह सब धन प्राप्त करेंगे और बैठकर खाएँगे तो वेद शास्त्रों की विद्या से धर्महीन उनके हृदय में पाप जागेगा और वह मिथ्यावादी साधु छिपकर माँस-मदिरा और विषय-विकार कमाएँगे, बलात्कार होगा और जिससे उत्पन्न होने वाली संतानें भी दूषित होएँगी। यही वर्णसंकर दोष हो जाएगा। अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं इस प्रकार मैं कर्महीन होकर स्वयं प्रजा का नाश करने वाला बन जाऊँगा। इस विषय में तुलसी ने स्पष्ट कहा है-

"बरन धर्म नहीं आश्रमचारि।
श्रुति बिरोध रत सब नर-नारी"

अर्थात् कलियुग में नर-नारी प्रायः वेद-विरोधी हैं।

"द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन।"
"कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।"

अर्थात् अब कोई वेदों को नहीं मानता। गुरु ऐसे हैं जो वेद नहीं जानते और राजा प्रजा को बेचकर खा गए।

"कलिमल ग्रसे धर्म सब लुप्त भए सदग्रन्थ।
दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहुपंथ।"

अर्थात् कलियुग के पापों ने सब सत्य धर्मों को खा लिया। सच्चे ग्रन्थ लुप्त हो गए और छली-कपटियों ने अपनी बुद्धि से कल्पना कर-करके बहुत से नए पंथ बना दिए हैं। सारांश यह है कि यदि ईश्वर और योगेश्वर तथा विद्वान् ही कर्म न करेंगे तो वह श्रीकृष्ण के शब्दों में स्वयं प्रजा को नाश करने वाले बन जाएँगे। और यदि आज के साधु-सन्त अथवा प्रजा भी कर्म नहीं करेगी तब तो देश का सर्वनाश निश्चित है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।।''

(गीता : ३/२५)

(भारत) हे भरतवंशी अर्जुन! **(यथा)** जिस प्रकार **(कर्मणि)** कर्म में **(सक्ताः)** आसक्त हुए **(अविद्वांसः)** अज्ञानी लोग **(कुर्वन्ति)** कर्म करते हैं **(तथा)** उसी प्रकार **(असक्तः)** अनासक्त होकर **(विद्वान्)** विद्वान् भी **(लोक-सम्-ग्रहम्)** लोक-संग्रह की **(चिकीर्षुः)** इच्छा से **(कुर्यात्)** कर्म करे।

अर्थ : हे भरतवंशी अर्जुन! जिस प्रकार कर्म में आसक्त हुए अज्ञानी लोग कर्म करते हैं उसी प्रकार अनासक्त होकर विद्वान् भी लोक-संग्रह की इच्छा से कर्म करे। लोक संग्रह का अर्थ है कि लोगों को वेद विद्या का ज्ञान देकर अविद्या का नाश करके एक सूत्र में बाँधकर रखना एवं परस्कर भाईचारा बढ़ाना।

भावार्थ : तीसरे अध्याय के अधिकतर श्लोकों में योगेश्वर श्रीकृष्ण वैदिक शुभ कर्म करने का उपदेश दे रहे हैं। **यजुर्वेद के अध्याय ७ मंत्र ४८** में उपदेश है कि जीवात्मा शरीर धारण करके अच्छे या बुरे कर्म करता है और परमेश्वर उन कर्मों का फल देता है। **सामवेद मंत्र १८०** में कहा कि राजा शत्रुओं का दमन करने हेतु शुभ कर्म करे। **सामवेद मंत्र १७६** में कहा कि सब प्राणी वेदों में कहे हुए कर्मों को करें। क्योंकि वेद में शुभ कर्मों का आह्वान है और यास्क मुनि ने कहा कि **"यज्ञौ वै श्रेष्ठतमूम कर्मः"** अर्थात् यज्ञ ही सर्वश्रेष्ठ कर्म है। क्योंकि चारों वेदों के ज्ञाता जीवित आचार्य के बिना यज्ञ नहीं होता। और वो वेदों के ज्ञान का आचार्य वेदमन्त्रों से अग्निहोत्र कराने के पश्चात वेद-मन्त्रों की व्याख्या समझाता हुआ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि का उपदेश करता है। अतः केवल अग्नि में आहुति डालने का नाम यज्ञ नहीं है। उसमें वेदों का प्रवचन एवं वेदों में कही योग-विद्या का ज्ञान अवश्य दिया जाता है और जीव विद्या को सुनकर मनुष्य से देवता बन जाता है। स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने पिछले **श्लोक ३/१०** में कहा है कि ईश्वर ने सृष्टि रचना के समय प्रजा को यज्ञ-विद्या के साथ उत्पन्न किया है। **सामवेद मंत्र २५६** में ईश्वर से प्रार्थना है **"नः क्रतुम् आभर"** कि हे प्रभु! हमें शुभ कर्म करने

की प्रेरणा दो। इसी विषय में **अथर्ववेद २०/१०८/२** ने कहा है-**"त्वं हि नः पिता वसो त्वं माता शतक्रतो बभूविथ। अधा ते सुम्नीमहे।"** अर्थात् नारी पुरुषार्थी होकर गृहस्थ के सैंकड़ों शुभ कर्म करे, आलसी न बने, फलस्वरूप सब सुखी रहें। पुरुष के लिए कहा-**"सहस्त्रकर्त्ता ही पुरुषः"** कि पुरुष हजारों प्रकार के शुभ कर्मों को करने के लिए मेहनत करे। **सामवेद मंत्र २१४** में कहा **"शतक्रतुम् मंहिष्ठम्"** अर्थात् ईश्वर भी अनन्त कर्म करने वाला है। तब जनता यज्ञ कर्म नैतिक कर्त्तव्य कर्म क्यों न करे? सृष्टि क्रम को बनाए रखना और उत्पत्ति इत्यादि यह सब कर्म ईश्वर की एक अंश मात्र शक्ति से स्वतः ही हो रहे हैं। भाव यह है कि नर-नारी आलस्य का त्याग करके नित्य कठोर परिश्रम करें। इस परिश्रम में गृहस्थ के शुभ कर्म, विज्ञान की उन्नति और साथ ही साथ आध्यात्मिकवाद की उन्नति निरन्तर होती रहे। इस श्लोक में यह बड़ी अद्भुत बात कही है कि विद्वान् और अज्ञानी दोनों ही कर्म करते हैं। और श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि जिस प्रकार अज्ञानी मोहवश तत्परता से धन इत्यादि कमाने में मकान, दुकान चलाने और परिवार को पालने में ईश्वर को भूलकर सदा दिन रात कर्म करने में चिपका रहता है। उसी प्रकार भक्ति सहित विद्वान् भी अनासक्त होकर लोक संग्रह के लिए शुभ कर्मों में लग जाए। वैदिक संस्कृति के लोप होने पर आज प्रायः प्राणी विद्वान् और अविद्वान् का अर्थ भी नहीं समझ पाता। **'विद्'** धातु से ही विद्वान् शब्द बनता है जिसका अर्थ वेदों को जानने वाला भी है। शतपथ **ब्राह्मण ग्रंथ ३/७/६/१०** में कहा **"विद्वांस एव देवाः"** सत्य बोलना, सत्य स्वीकार करना और सत्य ही कर्म करने वाले सत्यधारी विद्वान् को देव कहते हैं और झूठ बोलना, झूठ मानना और झूठ ही कर्म करने वाले को साधारण मनुष्य कहते हैं। और वह सत्यधारी विद्वान्-देव सदा आनन्द में रहते हैं और उनसे विपरीत चलने वाले मनुष्य सदा दुःखी और पीड़ित रहा करते हैं। अतः सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए सब को सत्य पर ही चलना उचित है। जो ज्ञानी नहीं है वह अज्ञानी है। जो नेता अथवा संत साधु होकर भी मिथ्याभाषण इत्यादि का ही सहारा लेकर धन कमाता है। वह वेद विरुद्ध कर्म करके पापी कहलाता है। **सामवेद मंत्र १३०** में प्रजा युद्ध के समय ईश्वर और राजा को रक्षा के लिए पुकारती है और राजा का धर्म शत्रुओं पर विजय प्राप्त कर प्रजा की रक्षा करना कहा

है। श्री कृष्ण इन्हीं सब वेद-वाणियों के आधार पर भरतवंशी अर्जुन को धर्मयुद्ध कर्म करने का आदेश दे रहे हैं। इन सब बातों को ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत श्लोक का भाव है कि जो अज्ञानी है वह तो काम-क्रोध झूठ, पाप में लीन रहकर प्रत्येक प्रकार के कर्म में आसक्त रहकर स्वार्थ-पूर्ति के लिए कर्म करता है। जैसे तुलसी ने कहा-**कामिहि नारि पिआरि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम। तिमि रघुनाथ निरंतर प्रिय लागहु मोहि राम। (उत्तरकाण्ड दो. १३० ख)** अर्थात् जिस प्रकार विषय-विकारी, कामी पुरुष को नारी प्रिय लगती है, उसी में लीन रहता है और धन के लोभी का लक्ष्य हर प्रकार से धन इकट्ठा करना और उस धन को यज्ञ अथवा दान आदि में न लगाना है इत्यादि। इसी प्रकार विद्वान् लोग शुभ कर्मों में लीन हो जाएँ। **सामवेद मंत्र ३७५** में कहा कि जैसे धनवान मनुष्य धन-धान्य की स्तुति करते हैं और जैसे पति-पत्नी आलिंगन का सुख लेते हैं उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर की स्तुति करे और शुभ कर्म करें। एक जगह **सामवेद मंत्र ११६७** में कहा कि जैसे दूध देने वाली गाय अपने बछड़े को प्रेम में लीन होकर पुकारती है उसी प्रकार के प्रेम में विद्वान्-ईश्वर की स्तुति में वेद मन्त्रों का उच्चारण करे और सब प्राणी ऐसे ही प्रेम में लीन होकर, गृहस्थ आदि के भी शुभ कर्म करें। श्री कृष्ण महाराज इस श्लोक में यही उपदेश कर रहे हैं कि जिस प्रकार अज्ञानी जन स्वार्थ वश पूर्ण रूप से कर्म में लीन होकर कर्म करते हैं वैसी ही लीनता धारण करते हुए विद्वान्, परन्तु कर्म में मोह न रखते हुए तथा आसक्ति रहित होकर, सदा लोक संग्रह के लिये शुभ कर्म करें तथा दिन रात पुरुषार्थ करें। क्योंकि विद्वानों के ऐसे वेदोक्त शुभ कर्म करने से पिछले तीन युगों की भांति वर्तमान काल में भी जनता भाई चारे, दयाधर्म एवं पुरुषार्थ करते हुए माला के मनकों की तरह एक सूत्र में बंध जाएगी। विद्वान् जन ही जनता को वेदादि विद्या का ज्ञान देकर सब के हृदय में से राग द्वेष आदि विकार निकाल कर भाई-चारे का उपदेश करते हैं, विद्वान् सब को आपस में जोड़ते हैं और अविद्वान् तोड़ते हैं। **यजुर्वेद मंत्र ४०/७** में कहा कि जब विद्वान् जन वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के बाद ईश्वर अनुभूति करते हैं, तब वह सब प्राणियों को अपनी आत्मा के समान ही देखते हैं। अर्थात् जैसा सुख वह अपने लिए सोचते हैं वैसा ही अन्य प्राणियों के साथ व्यवहार करते हैं। अज्ञानीजन

ऐसा नहीं करते। अज्ञानी मुँह से कुछ बोलता है और मन में उसके कुछ और भाव होता है। विद्वान् के मन, वचन और कर्म सदा एक सत्य भाव युक्त ही होते हैं। अतः ईश्वर की वेदों में भी यही आज्ञा है कि प्रत्येक नर-नारी पुरुषार्थ द्वारा रात-दिन शुभ कर्म करते हुए वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा ईश्वर की प्राप्ति करें तथा विद्वान् और विदुषी बनकर गृहस्थ, समाज एवं देश के लिये भी सदा शुभ कर्मों का आचरण करके सब प्राणियों को विद्या के उपदेश से संगठित करें। अतः प्रस्तुत श्लोक में विद्वान्, अविद्वान् एवं लोक संग्रह इन तीन शब्दों के ज्ञान को हम समझें और परिश्रम द्वारा राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की कामना करें। हम कदापि भी आलसी न बने। अविद्वान् कर्म में आसक्त होकर ईश्वर को भूला रहता है, विद्वान् कर्म में आसक्त रहकर भी ईश्वर में लीन रहता है। प्रकृति के तीनों गुणों के प्रभाव से अलग रहकर अपने स्वरूप में स्थित रहता है।

ऋग्वेद मंत्र १०/१९१/२ में कहा-**"सं-गच्छध्वम्"** अर्थात् हे मनुष्यों आप समाज के रूप में एक साथ मिलकर चलो। **"सं वदध्वम्"** तुम आपस में संवाद तो करो परन्तु विवाद न हो, लड़ाई न हो, **"वः मनांसि"** तुम्हारे मन **"सं जानताम्"** एक हो जाएँ अर्थात् स्थायी रूप से भाईचारा एवं प्रेम बना रहे।

यज्ञ में बैठकर विद्वान् आचार्य आदि से वेदों के शब्दों का अर्थ इत्यादि का ज्ञान प्राप्त किया जाता है, **अथर्ववेद १२/५(१)/३** में कहा **"यज्ञे निधनम्"** अर्थात् वेद यज्ञ की निधि है। अतः यज्ञ का अर्थ केवल आहुति डालना नहीं है। अन्य प्रवचन में यह सब ज्ञान नहीं दिया जाता।

ऊपर कहे वेद मन्त्रों में कर्म करने की प्रेरणा है। भाव यह है कि जीवात्मा को पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन एवं बुद्धि वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास रूपी आध्यात्मिक कर्म एवं नैतिक कर्त्तव्य-कर्म, ब्रह्मचर्य, गृहस्थाश्रम के शुभ कर्म, समाज एवं देश को सुदृढ़ बनाने के लिए शुभ कर्म करने को कहा है। आज का मिथ्या ज्ञान एवं मिथ्यावाद सुनकर कर्म न करके केवल ज्ञान अथवा कर्म एवं ज्ञान दोनों त्यागकर केवल भक्ति में मुक्ति प्राप्त होगी, ऐसा कदापि नहीं कहा है।

विद्वान् जोड़ते हैं, अविद्वान् तो जनता को तोड़ते हैं, यही कारण है कि आज के प्रायः मिथ्यावादी सन्तों के प्रचार से हिन्दु-मुस्लिम, सिख, ईसाई इत्यादि की जनता आपस में वैर-विरोध बढ़ाए जा रही है। और एक सन्त के चेले दूसरे सन्तों के चेले से विपरीत बातें करते हैं। और अपने गुरु को छोड़कर किसी अन्य विद्वान् की बात कभी सुनना पसंद नहीं करते। जबकि श्रीराम के गुरु तो केवल मुनि वसिष्ठ ही थे परन्तु कई-२ ऋषियों की सेवा में सदा प्रस्तुत रहते थे जो कि आज नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।"

(गीता : ३/२६)

(विद्वान्) ज्ञानी पुरुष **(युक्तः)** योग युक्त होकर **(सम्+आचरन्)** अच्छी प्रकार कर्म करता हुआ **(सर्वकर्माणि)** सब कर्मों को करे। **(अज्ञानाम्)** अज्ञानियों की **(कर्मसङ्गिनाम्)** जो कर्मों से आसक्त हैं उनकी **(बुद्धिभेदम्)** बुद्धि में भेद अर्थात् भ्रम **(न)** न **(जनयेत्)** उत्पन्न करें **(जोषयेत्)** उनसे कर्म कराए।

अर्थ : ज्ञानी पुरुष योग युक्त होकर अच्छी प्रकार कर्म करता हुआ सब कर्मों को करे। अज्ञानियों की, जो कर्मों में आसक्त हैं, उनकी बुद्धि में भेद अर्थात् भ्रम न उत्पन्न करें। उनसे कर्म कराएँ।

भावार्थ : इससे पहले अध्याय दूसरे के ३६ श्लोक एवं तीसरे अध्याय के श्लोकों में सांख्य-योग एवं कर्म योग का विस्तृत ज्ञान देकर श्री कृष्ण महाराज का यहाँ कहना है कि जो वेदादि आध्यात्मिक विद्या को न जानने वाले अज्ञानी हैं उन्हें ज्ञानी जन कर्म में तो लगे ही रहने दें। उन अज्ञानियों की बुद्धि में ऐसा कुछ भ्रम न डाल दें कि तुम्हारा किया कर्म तो बेकार ही जाएगा, यह तो संसार नष्ट हो जाता है, शरीर भी नाशवान है इत्यादि। अतः कर्म में क्या रखा है इत्यादि-इत्यादि। इस प्रकार का मिथ्याज्ञान तो नर-नारी को आलसी बनाकर परिवार एवं देश को बर्बाद कर देगा। अपितु इससे पिछले श्लोक ३/२५ में श्रीकृष्ण महाराज यहाँ तक कह रहे हैं कि यद्यपि अज्ञानी लोग पूर्णरूप से जीव, ब्रह्म एवं प्रकृति के रहस्य को नहीं जानते इसलिए वह मानव

जीवन के ध्येय को भी नहीं पहचानते। परन्तु फिर भी बड़ी-बड़ी मिलें, देश रक्षा के लिए सैनिक बलिदान, भोजन के लिए कृषक से अनाज उत्पन्न एवं दुकानदार, दुकानें एवं व्यापारी इत्यादि तथा नेता, पुलिस, प्रशासन इत्यादि जैसे-तैसे देश संभालने का कार्य करते ही हैं। यह अवश्य है कि वेद का ज्ञान न होने के कारण आज पत्रकार, दुकानदार और ऊपर कहे सब व्यवसायी अपने-अपने कार्य को ही यज्ञ अथवा ईश्वर की पूजा मान बैठते हैं। परन्तु इससे देश एवं समाज तो चल ही रहा है। अतः आज भी जो संत साधु स्वयं वेद के ज्ञान से अनभिज्ञ हैं और गीता के इन श्लोकों के ज्ञान से पूर्णतः अनभिज्ञ हैं, और देश को, समाज को कर्म न करने का मिथ्या उपदेश देते हैं, वह देश में आलस्य फैलाकर खोखला कर रहे हैं। यहीं से आगे चलकर चोर, डकैत, उग्रवाद, पूंजीवाद असमानता इत्यादि दोष उपजे हैं और उपजते रहेंगे। महाभारत एवं वाल्मीकि रामायण का अध्ययन बताता है कि बड़े-बड़े राजर्षि और रानियों ने भी दिन-रात घोर परिश्रम करके तथा साथ-साथ वैदिक एवं योगाभ्यास से भरपूर आध्यात्मिक ज्ञान को भी आचरण में लाकर जनता को कर्म योग में लगाए रखा और जनता में अन्याय तथा आलस्य आदि दोष नहीं आने दिए थे। मुख्य लक्ष्य तो मानव जीवन का ईश्वर प्राप्ति ही है। लेकिन ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जब तक प्राणी साथ-साथ जीवन में धारण नहीं करता तब तक यह लक्ष्य प्राप्त नहीं होता। अतः श्री कृष्ण पीछे श्लोक में कह ही रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि मैं कर्म न करूँ तो तीनों लोक भ्रष्ट हो जाएँ। जबकि योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसी विभूतियों को बिना कर्म किए भी सब कुछ प्राप्त था। लेकिन उन्होंने उपदेश दिया कि विद्वान् लोग स्वयं कर्म करे तभी जनता उन्हें देखकर उन जैसा कर्म करेगी। अतः यहाँ प्रश्न कर्म का विशेष न होकर दिव्य कर्म का भी है। अर्थात् खा-पीकर सो जाने के लिए तो यह मकान, दुकान, मिलें, व्यापार, खेती, दफ़्तर, अखबार इत्यादि अनेकों कर्म चल रहे हैं परन्तु जब इन कर्मों के साथ हम विद्वानों से वेदादि, शास्त्र-विद्या को सुनकर वैदिक शुभ कर्म भी करने लगेगें जिसमें यज्ञ, योगाभ्यास, माता-पिता गुरुजनों तथा वृद्धों की सेवा इत्यादि अनेकों शुभ कर्म होंगे, तब हमारे चित्त की वृत्ति ऐसे आध्यात्मिक अभ्यास से एकाग्र होकर जो कर्म करेगी वह परिवार, देश इत्यादि के लिए होता हुआ भी

दया-धर्म से भरा हुआ दिव्य कर्म होगा। जैसे श्रीकृष्ण ने गऊएँ चराईं, माता-पिता गुरुजनों की सेवा की, असुरों का नाश किया, सुदामा के साथ दिव्य वेदाध्ययन, योगाभ्यास किया, धर्मयुद्ध लड़े इत्यादि। यही सब कुछ दिव्य कर्म श्री राम ने भी किए। अतः आज हम गीता, रामायण पढ़कर साधु संत बनकर यदि कर्म न करने का उपदेश देते हैं और केवल ज्ञान में मुक्ति हो जाएगी, ऐसा कहते हैं तो यह सब वेद-विरुद्ध, अधर्म युक्त भाषण कहा जाएगा। और यथार्थ में तो सभी कर्म करते भी रहते हैं, कोई भी अपनी दुकान, मकान अथवा नौकरी इत्यादि नहीं छोड़ता। प्रायः अज्ञानी प्राणी कर्म में आसक्त ही रहता है इसलिए श्लोक ३/२५ में श्रीकृष्ण समझा रहे हैं कि अज्ञानी जिस प्रकार कर्म में आसक्त हुए कर्म करते हैं वह फल की इच्छा रखते हैं और स्वार्थ में लीन रहते हैं और कर्म करते हुए मन, कर्म और वचन से पूरी तरह लीन होकर स्वार्थ वश कर्म करते हैं। तो इसी श्लोक ३/२६ में आगे श्री कृष्ण महाराज कहते हैं कि विद्वान् भी अविद्वान् की तरह ही लीन होकर कर्म करे परन्तु विद्वान् के कर्म में अंतर इतना होगा कि उसका किया कर्म अनासक्त, निःस्वार्थ और फल-इच्छा से रहित उपकार करने वाला और शुभ एवं दिव्य कर्म होगा और विद्वान् के इसी कर्म को देखकर अन्य प्राणी भी दिव्य कर्म करने की प्रेरणा प्राप्त करेंगे। अज्ञानियों की बुद्धि में कर्म न करने के मिथ्या उपदेश से उनमें भ्रम पैदा होगा और जब वह कर्म करना छोड़ देंगे तो वेदोक्त शुभ कर्मों का ज्ञान तो उन्हें पहले ही नहीं है। इससे उनके सांख्य-योग अर्थात् संन्यास मार्ग एवं कर्मयोग अर्थात् शुभ कर्म का मार्ग, दोनों ही मार्ग भ्रष्ट हो जाएँगे और ऐसे जीव नरकगामी हो जाएँगें। कई आज के संत ऐसा उपदेश करते हैं कि आधे जागे हुए अज्ञानी को यह उपदेश नहीं करना चाहिए कि सब कुछ ब्रह्म है। प्रश्न है कि आधे जागे को क्यों कहा? फिर सम्पूर्ण गीता में यह भी कहीं नहीं कहा कि ऐ पूरे जागे हुए लोगों तुम ब्रह्म हो, और सूरज, चाँद, सितारे यह सब ईश्वर हैं और जीव ही ब्रह्म है। और तुम्हें कोई कर्म नहीं करना है। परन्तु आज भी ऐसे उपदेश करने वाले संतों के परिवार के लोग और स्वयं वह संत भी धन की इच्छा से प्रवचन आदि कर्म करते ही हैं। अतः श्रीरामानुजम जी का यह उपदेश अति उत्तम और सत्य है-**"आत्मावलोकनसाध नमिति बुद्धया युक्तः कर्मैवाचनण्न"** अर्थात्

'आत्मा को जानने का साधन कर्मयोग है। इस प्रकार हम कर्मों में ही सब लोगों की प्रीति उत्पन्न करें।'' वह कर्म आध्यात्मिक एवं भौतिक उन्नति दोनों के लिए साथ-साथ किए जाएँ और वेदानुकूल हों।

पिछले युगों में वेदानुकूल शुभ कर्म करते हुए राजा, महाराजा, प्रजा और ऋषि मुनि सभी अंत में एक दिन राजमहल, सुख सम्पदा इत्यादि छोड़कर पचास वर्ष की आयु में वनों की तरफ चले जाते थे और वानप्रस्थी कहलाते थे। वनों में जाने की अटूट एवं गहन प्रेरणा **ऋग्वेद मंत्र १/५५/४** में इस प्रकार दी गई है। **''यत् वने जनेषु चारु इन्द्रियं** हर्यतः प्रभवति धेनाम् इन्वति'' अर्थात् जो साधक एकान्त वन में जानकर मनुष्यों में इस सुन्दर मन को बोध कराने में समर्थ होता है और वेद-विद्या को प्राप्त करता है। **''स इत् नमस्युभिः वचस्यते''** नम्रता के साथ प्रशंसा को प्राप्त होता है। अर्थात् चाहे छोटी-सी आयु में कोई संन्यास भी ले क्योंकि संन्यास के लिए वेदों में आयु का कोई बन्धन नहीं है और चाहे पचास वर्ष के बाद वानप्रस्थ व्रत धारण करे परन्तु हर हालत में सबको पुरुषार्थ युक्त होकर वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म तो करने ही पड़ेंगे और वानप्रस्थ से पहले गृहस्थाश्रम एवं देश के लिए और उसके पश्चात भी जनता के लिए विद्या-दान आदि शुभ कर्म संन्यासी को भी करना कर्त्तव्य कहा है। अतः किसी भी क्षण कर्मों का त्याग कहीं भी वेद, शास्त्र अथवा गीता, रामायण आदि सद्ग्रंथों ने नहीं कहा है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।।''

(गीता : ३/२७)

(सर्वशः) सब **(कर्माणि)** कर्म **(प्रकृतेः)** प्रकृति के **(गुणैः)** गुणों के द्वारा **(क्रियमाणानि)** किए जाते हैं **(अहंकारविमूढात्मा)** अहंकार से मोह को प्राप्त हुआ अविवेकी जीवात्मा **(अहम्)** मैं **(कर्ता)** कर्म करने वाला हूँ **(इति)** ऐसा **(मन्यते)** मानता है।

अर्थ : सब कर्म प्रकृति के गुणों के द्वारा किए जाते हैं, अहंकार से मोह को प्राप्त हुआ अविवेकी जीवात्मा मैं कर्म करने वाला हूँ ऐसा मानता है।

भावार्थ : ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १३५ में समझाया है कि अजन्मा, अविनाशी एवं शुद्ध आदि अनेक गुणों से परिपूर्ण इस जीवात्मा को ईश्वर कर्म भोगने के लिए ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ एवं यह मानव शरीर प्रदान करता है। अतः यह ईश्वर रचित संसार मनुष्य के शुभ कर्म करने और पिछले कर्म भोगने का स्थान है। और यह ईश्वरीय नियम है कि जीवात्मा शरीर पाकर अच्छा या बुरा कर्म करने में स्वतंत्र है, परन्तु कर्मफल मनुष्य के हाथ में नहीं है। किए हुए कर्मों का फल ईश्वर ही देता है। अतः यह मानव शरीर पिछले कर्मों को भोगने एवं नए वैदिक शुभ कर्म करके पिछले कर्मों का भी नाश करके मोक्ष प्राप्त करने के लिए है। अतः प्रथम तो यही है कि मनुष्य कभी आलसी न बनें। क्योंकि यह शरीर द्वारा ही पुरुषार्थ द्वारा गृहस्थ के शुभ कर्म करते हुए वेद विद्या एवं योगाभ्यास आदि को धारण करके सब अविद्या आदि क्लेशों का हम नाश करें। **योग-शास्त्र सूत्र १/१२** में कहा कि अविद्या-आदि क्लेशों में फँसे रहने के कारण ही मनुष्य का जन्म होता है और वो कर्म इस जन्म और आगे आने वाले कई जन्मों में भोगे जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में यह समझाया है कि पंचभौतिक मानव देह प्रकृति के तीन गुण रज, तम, सत्त्व द्वारा बनी है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/२-३** में कहा कि साधारण जन इस देह द्वारा पूर्व-जन्म के कर्मों को भोगते हैं और निंदा-द्वेष आदि पाप वासना में फँसकर पुनः पाप करते हैं और दुःखी रहते हैं। परन्तु पुरुषार्थी जीव शुभ कर्मों द्वारा पिछले कर्मों का नाश करके मोक्ष पद प्राप्त करते हैं। इस शरीर में अजर-अमर, शुद्ध, चेतन जीवात्मा निवास करता है। परन्तु प्रकृति के इन तीनों गुणों से लगाव करके माया में फँस जाता है और अपने शुद्ध-चेतन स्वरूप को भूल जाता है। इस अवस्था में जीवात्मा अविवेकी है और पुनः-पुनः कर्मों के अनुसार शरीर में आता जाता है। अर्थात् जन्म-मरण आदि क्लेशों के बन्धन में फँसकर दुःख उठाता है। शरीरस्थ जीवात्मा ही इस अविवेक अवस्था में अहंकारी होकर यह कहता है कि **'अहमूकर्ता इति'** कि मैं ही सब कर्मों को करने वाला हूँ। जबकि सब कर्म प्रकृति के तीनों गुणों के द्वारा ही होते हैं। रजोगुण में विषय-विकार आदि गुण, तमोगुण में आलस आदि में लिप्त होना तथा सतोगुण में अहंकार रूपी गुण भरा पड़ा है। ईश्वर भक्ति का वास्तविक भाव पता जलि ऋषि ने योग **शास्त्र सूत्र २/१** में कहा

कि जब जीवात्मा साधना द्वारा ऐसी अवस्था में पहुँचता है कि सब कर्मों का फल ईश्वर को समर्पित कर देता है, तब वह कर्मों में लिप्त न होकर कर्म-फल से छूटकर मोक्ष प्राप्त करता है। इसीलिए **योगशास्त्र १/४८** में कहा कि साधक जब शुभ कर्मों एवं साधना द्वारा ब्रह्मावस्था को प्राप्त करता है तो प्रकृति के यह तीनों गुण उस पर प्रभाव डालना बंद कर देते हैं। अतः हम (जीवात्माएँ) गृहस्थ के शुभ कर्म करते-करते ही साधन विशेष द्वारा प्रकृति के इन गुणों से अलग होकर अपने वास्तविक अविनाशी एवं शुद्ध स्वरूप में स्थित होएँ, तब शरीर में रहने वाला प्रत्येक जीवात्मा (नर-नारी) इस अहंकार से छूट जाएगा कि मैं कर्म करता हूँ। यहाँ ध्यान रखें कि जैसे मोटर-साइकिल, कार आदि स्वयं नहीं चलते, उन्हें कोई चलाता है। इसी प्रकार प्रकृति के तीनों गुणों द्वारा रचित मन, बुद्धि आदि अन्तःकरण सहित यह शरीर मोटरसाइकिल की तरह जड़ होने के कारण स्वयं कार्य नहीं करता। इसमें निवास करने वाला जीवात्मा ही शरीर से कार्य करवाता है। इसमें भेद यही है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करने वाला साधक तो ऊपर कहे अनुसार तीनों गुणों से अलग हो जाता है और उसकी इन्द्रियाँ स्वाभाविक अपने शुभ कर्मों को करती हैं। परन्तु ऐसे जीवात्मा का अहंकार एवं विकार आदि से कोई लेन-देन नहीं रह जाता अर्थात् वह जीवात्मा कर्मफल का भोग नहीं भोगता। जड़ शरीर द्वारा यह कर्म इस प्रकार होते हैं जैसे जड़ सूर्य को तो प्रकाश चेतन ब्रह्म द्वारा दिया गया है। परन्तु चन्द्रमा जड़ सूर्य से प्रकाश लेकर अपनी चांदनी सब विश्व को देता है। यह अवश्य है कि ईश्वर सब में व्यापक है, तभी सब प्राणियों एवं सूर्य आदि ग्रहों में ईश्वर के व्यापक होने के कारण आपस में आकर्षण है। यदि ईश्वर सर्वव्यापक न हो तो फिर किसी भी नक्षत्र में आकर्षण असंभव है। आकर्षण का गुण ईश्वर में है, जड़ पदार्थों में नहीं। अतः प्राणी साधना द्वारा ऐसी अवस्था को प्राप्त करे कि शुभ कर्म तो वह करे लेकिन रज, तम और सत्त्व गुण से अलग अहंकार आदि का त्याग करता हुआ कर्मफल में लिप्त न हो। इसलिए **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/४** एवं सम्पूर्ण वेदों में ईश्वर ने आदेश दिया है **"विप्रेभ्यः परि प्रावर्तयः"** अर्थात् वेद एवं योग विद्या जानने वाले विद्वानों से सम्पूर्ण वेद-विद्या आदि की शिक्षा पाकर कर्मफल में न लिप्त होता हुआ मोक्ष सुख प्राप्त करे। रावण, दुर्योधन, कंस

आदि जो प्रकृति के तीनों गुणों में बुरी तरह लिप्त थे। उनका यह अहंकार कि मैं राजा हूँ, सब का कर्त्ता-धर्त्ता हूँ, उन्हें ले डूबा। दुर्योधन महाभारत युद्ध में अपनी जान बचाकर एकान्त में कहीं छिप गया था। पाँचों पांडव एवं श्रीकृष्ण महाराज दुर्योधन को ढूँढते-ढूँढते ऐसे स्थान पर पहुँचे जो स्थान गुप्त था और दुर्योधन का पता लगाना कठिन था। इस पर श्रीकृष्ण महाराज ने युधिष्ठिर को कहा कि दुर्योधन अहंकारी एवं अभिमानी है। आप जब जोर-जोर से दुर्योधन को युद्ध के लिए ललकारोगे और दुर्योधन के दिल को ठेस लगाने वाली बातों को जोर-जोर से बोलोगे तो दुर्योधन से रहा नहीं जाएगा और वह छुपे स्थान से निकलकर युद्ध से बाहर आ जाएगा। ऐसा ही हुआ और अन्त में दुर्योधन अहंकार वंश मारा गया।

केनोपनिषद् में कथा आती है कि अग्नि, वायु, इन्द्र देवता आदि असुरों से युद्ध में जीत गए और वह एक स्थान पर इकट्ठे होकर नाचने, गाने और खुशियाँ मनाने लगे। अचानक उस स्थान से कुछ दूर ज्योति-स्वरूप यक्ष प्रकट हुआ। देवताओं के राजा इन्द्र ने वायु देवता से कहा कि मालूम करो कि यह कौन है? वायु देवता यक्ष के पास जाकर जीत के अभिमान में बोला किं आप कौन हैं? यक्ष ने वायु देव से कहा आप कौन हैं? अहंकार में मग्न वायु देव बोला तू मुझे नहीं जानता मैं वायु हूँ, पेड़-पौधे, पर्वत यहाँ तक कि पूरी पृथिवी को अपनी शक्ति से इधर से उधर फेंक सकता हूँ, तोड़ सकता हूँ इत्यादि। इस पर शान्त स्वभाव यक्ष ने एक तिनका वायु देव के सामने रखा और कहा इस तिनके को उड़ा कर दिखाओ। पूरी शक्ति लगाने के बाद भी वायु देव तिनके को हिला न सका और अपना सा मुँह लेकर वापिस चला गया। पुनः इन्द्र देव ने अग्नि देव को भेजा। अग्निदेव ने भी यक्ष के सामने काफी डींगे मारी परन्तु उस तिनके को वह न जला सका और न स्पर्श कर सका। और हार कर वापिस चला गया। अन्त में स्वयं देवताओं का राजा इन्द्र यक्ष के पास पहुँचा। परन्तु यक्ष वहाँ से गायब हो चुका था और उमा देवी प्रकट हो गई थी। उमा ने इन्द्र देव को समझाया कि तुमने असुरों पर विजय ईश्वर की कृपा से पाई है और ईश्वर को ही भूल गए, जिस कारण तुम नष्ट भी हो सकते हो। इस पर इन्द्र देव ने सब देवताओं

को अभिमान-अहंकार छोड़कर ईश्वर की शरण एवं ईश्वर की आज्ञा में रहने का आह्वान किया।

अतः प्रकृति के तीनों गुणों से लिप्त होकर अहंकारवश जब-२ मानव और देवता भी अभिमानी होकर कार्य करते हैं तो उनका भी पतन होता है। और उनके द्वारा किए हुए कर्म उनको भोगने पड़ते हैं। इस प्रकार जन्म-मृत्यु का चक्कर कभी समाप्त नहीं होता। वस्तुतः शुभ-अशुभ कर्मों का फल पुण्य एवं पाप है जो हमें सुख एवं दुःख रूप में भोगने होते हैं परन्तु साधक जब प्रकृति के तीनों गुणों से अलग हो जाता है और फलतः स्वभाववश केवल शुभ कर्म ही करता है और उन कर्मों का फल भी ईश्वर को अर्पित करके रखता है तभी प्राणी सुख-दुःख अविद्या आदि क्लेश, कर्मों से छूटकर मोक्ष का सुख प्राप्त करता है। चेतन जीवात्मा प्रकृति रचित प च भौतिक शरीर से अलग है। जीवात्मा प्रकृति रचित शरीर के बिना कोई कर्म नहीं कर सकता। इसी कारण विशेष से श्रीकृष्ण महाराज यहाँ कह रहे हैं कि **"कर्माणि प्रकृतेः गुणैः क्रियमाणानि"** अर्थात् कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए जाते हैं। चेतन जीवात्मा शरीर में रहकर भी शरीर से अलग तत्त्व है। अतः जीवात्मा वेद विद्या प्राप्ति द्वारा प्रकृति जीव एक ब्रह्म के रहस्य को समझकर शरीर एवं इन्द्रियों से शुभ कर्म कराए। ये तो है विद्वान् की स्थिति कि जीवात्मा विद्वान् आचार्य से ज्ञान प्राप्त करके इन्द्रियों एवं शरीर पर संयम रखकर अपने अधीन रखकर उन इन्द्रियों से वेदोक्त शुभ कर्म करवाता है। कर्मफल भोगने से रहित होता है। अज्ञानी की स्थिति यह है कि जीवात्मा मन, बुद्धि, चित्त एवं पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का गुलाम बना रहता है। प्रकृति के तीनों गुणों के विकारों के अधीन रहता है और जो-जो मन, बुद्धि कहता है उसे ही मानता है तथा नरकगामी होता है। अतः हम सत्य-विद्या प्राप्त करके उन पर विजय पाकर उनसे शुभ कर्म कराते हुए मोक्ष प्राप्त करें।

प्रकृति जड़ है। प्रकृति के तीन गुण हैं-रज, तम और सत्त्व, जिनका वर्णन पीछे किया गया है। मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ एवं यह शरीर प्रकृत्ति के गुणों द्वारा ही रचे गए हैं। (देखें **ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १२६)** यह सब इन्द्रियाँ, शरीर आदि जड़ हैं। इस शरीर

में चेतन जीवात्मा, जो शुद्ध, विकारों से रहित और चेतन तत्त्व है, रहता है। वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि साधना से रहित आम प्राणी (जीवात्मा) अपने शुद्ध स्वरूप को नहीं जानता अपितु प्रकृति के गुणों से लगाव करने के कारण अविवेकी होकर, योगाशास्त्र सूत्र १/४ के अनुसार जीवात्मा स्वयं को चित्त की वृत्ति के अनुरूप सुखी, दुःखी रोगी और पाप कर्म करने वाला समझ बैठता है। वस्तुतः अविवेकी होकर वह जीवात्मा स्वयं को जड़ चित्त वृत्ति के रूप जैसा समझ लेता है। वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास से हीन पुरुष समाधि को प्राप्त नहीं होता और स्वयं के अविनाशी स्वरूप को भूले हुए होता है। इस प्रकार माया में फँसा जीव अहंकारग्रस्त मोह को प्राप्त होकर यह समझता है कि वह (जीवात्मा) ही पाप-पुण्य कर्म करने वाला है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि जीवात्मा अविवेकी होकर भ्रष्ट बुद्धि द्वारा वास्तव में इन्द्रियों का गुलाम हो जाता है और जीव ज्ञानेन्द्रियों से पापयुक्त सांसारिक ज्ञान मन, बुद्धि द्वारा प्राप्त करता है और भ्रष्ट बुद्धि की आज्ञा मानकर स्वयं ही कर्मेन्द्रियों से पाप कर्म कराता है। इस कर्म करने की स्थिति को ही श्रीकृष्ण ने यहाँ प्रकृति के गुणों के द्वारा उत्पन्न विकारों में फँसे हुए जीवात्मा द्वारा अहंकारपूर्वक कर्म करने वाला कहा है। अर्थात् प्रकृति के रज, तम एवं सत्त्व, जो तीन विकार है जिनमें आलस्य और विषय-विकार आदि भरे हैं, इनसे रची हुई इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि आदि अन्तःकरण हैं जिनमें विषय-विकार भरे हुए हैं। जीवात्मा इन्हीं विकारों में लिप्त होकर भ्रष्ट बुद्धि के आधीन होकर पाप आदि कर्म करता है। अन्यथा स्वयं तो जीवात्मा शुद्ध और चेतन है परन्तु प्रकृति के गुणों से बनी इन्द्रियाँ और मन-बुद्धि के आधीन हुआ पाप आदि कर्म करता है इस पाप आदि कर्म करने की स्थिति को श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि सब कर्म तो प्रकृति के गुणों के द्वारा किए जाते हैं परन्तु अहंकार से मोहयुक्त अविवेकी जीवात्मा यह मान लेता है कि वह (जीवात्मा) ही कर्म करता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।"

(गीता : ३/२८)

(तु) परन्तु **(महाबाहो)** हे महाबाहो **(गुणकर्मविभागयोः)** प्रकृति के गुण एवं कर्म विभाग को **(तत्त्ववित्)** तत्त्व से जानने वाला विद्वान् **(गुणाः)** सब गुण **(गुणेषु)** गुणों में **(वर्तन्ते)** वर्त्तते हैं **(इति)** ऐसा **(मत्वा)** मानकर **(न)** नहीं **(सज्जते)** आसक्त होता।

अर्थ : परन्तु हे महाबाहो प्रकृति के गुण एवं कर्म विभाग को तत्त्व से जानने वाला विद्वान सब गुण गुणों में वर्त्तते हैं ऐसा मानकर नहीं आसक्त होता।

भावार्थ : ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १२६ में कहा है कि इस सृष्टि की रचना से पहले प्रलयावस्था में जब कुछ भी नहीं था तब केवल परमेश्वर ही था। उस समय आभू से अर्थात् प्रकृति के तीन गुणों से ईश्वर ने संसार रचा। **मंत्र १०/१२६/४** में कहा कि उस समय मनुष्य के अन्दर कामना का भाव प्रथम बीज के रूप में प्रकट होता है। मन के अन्दर वर्तमान यह कामना अर्थात् इच्छा भाव एक प्रकार का जीवात्मा का लगाव सा का गुण है। तपस्वी लोग तो तप द्वारा इच्छा आदि का नाश करके वैराग्यवान होकर ब्रह्म के आनन्द में डूब जाते हैं। परन्तु इच्छा-पूर्ति में लगे आम नर-नारी अविद्याग्रस्त होकर जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँस जाते हैं। सृष्टि रचना में जो सबसे पहला तत्त्व बनकर तैयार होता है वह महत् अर्थात् बुद्धि तत्त्व है **(सांख्य शास्त्र सूत्र १/२६)** दूसरा तत्त्व अहंकार है, इसके पश्चात यह मन, चित्त, पाँच तनमात्राएँ, अग्नि आदि पंच महाभूत शरीर, शरीर की इन्द्रियाँ, सूरज, चाँद, सितारे इत्यादि सम्पूर्ण सृष्टि की रचना पूर्ण होती है। उसी शरीर में शुद्ध, चेतन, अविनाशी जीवात्मा निवास करता है। मानव के अन्तःकरण में मन, बुद्धि चित्त अहंकार होते हैं। जीवात्मा में ही आनन्दमय कोश के रूप में परमात्मा विराजमान है। वेद ने कहा कि जीवात्मा **"परिष्वंगधर्मी"** अर्थात् लगाव के गुण वाला है। अतः अधिकतर जीवात्मा प्रकृति रचित मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार एवं ज्ञानेन्द्रियाँ तथा कर्मेन्द्रियाँ तथा शरीर से लगाव (मोह) कर बैठता है। रजोगुण का स्वभाव विषयविकारी कर्म उत्पन्न करना, तमोगुण का स्वभाव आलस, निद्रा इत्यादि कर्म उत्पन्न करना एवं सतो गुण का स्वभाव अहंकार, अभिमान आदि कर्म उत्पन्न करना है। वैराग्यवान, विवेकशील साधक तो ज्ञानवान होने के कारण अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखता है और केवल वेदोक्त शुभ कर्म ही करता

है। जैसे काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार आदि का गृहस्थाश्रम में क्रमशः धर्मयुक्त उत्तम संतान प्राप्ति, संतान को शिक्षा देने के लिए उनकी गलती पर उचित क्रोध अथवा दुष्टों पर क्रोध, वैदिक गुणों अथवा ब्रह्म के आनन्द का मद जिसे वेदों में सोमपान भी कहते हैं, परिश्रम एवं धन एवं विद्या अर्जित करने का लोभ और मनुष्य चोले एवं सत्यमार्ग पर चलने का अहंकार (समझ) इत्यादि शुभ कर्म करना आता है। यहाँ अहंकार का अर्थ अभिमान अर्थात् रावण जैसा अहंकार नहीं है। अहंकार का अर्थ ज्ञान की समझ, जड़ चेतन का ज्ञान पशु-पक्षी, नर-नारी इत्यादि पदार्थों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान है। तभी तो जीवात्मा जब पुरुष के शरीर में आता है तो इसी अहंकार के द्वारा वह जानता है कि वह पुरुष है और जब स्त्री के शरीर में आता है तब वह जानता है कि वह स्त्री है। और तप द्वारा इसी अहंकार गुण के द्वारा वह जान जाता है कि न मैं स्त्री हूँ, न मैं पुरुष हूँ, न मैं शरीर हूँ अपितु मैं तो अजर, चेतन, अविनाशी जीवात्मा हूँ। ऊपर कहे ऋग्वेद मंत्र के अनुसार जब वह जीवात्मा मानव शरीर धारण कर के विद्वानों की कृपा से अपनी इच्छाओं का दमन करता है तब वह प्रकृति से लगाव छोड़कर परमात्मा से लगाव करता है। ऐसी ही शुद्ध, चेतन अवस्था में जीवात्मा को ज्ञान होता है कि **"गुणाः गुणेषु वर्तन्ते"** गुण गुणों में बर्तते हैं। अर्थात् प्रकृति के रज आदि तीनों गुणों से बुद्धि, अहंकार, मन, आकाश, वायु आदि पाँच तनमात्राएँ, पाँच महाभूत, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, यह २३ तत्त्व एवं आँख, नाक इत्यादि पाँच ज्ञानेन्द्रियों के शब्द, रस, रूप, गंध आदि पाँच विषय प्रकृति से ही उत्पन्न हुए हैं और जीवात्मा इनसे लगाव करने के कारण बंधन में फँसा है। ज्ञानवान जीवात्मा जब अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है **(योगश्चित्तवृत्ति निरोधः, तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्)** अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, योग साधना के पश्चात जब जीवात्मा अपने चेतन, आनन्दमय स्वरूप में स्थित हो जाता है और ईश्वर का अनुभव कर लेता है तब **सांख्य शास्त्र ६/४३** के अनुसार प्रकृति के इन तीनों गुणों से उत्पन्न ऊपर कहे विषय-विकार एवं तीनों गुण भी उस व्यक्ति पर अपना प्रभाव नहीं डालते। इस सूत्र में कपिल मुनि कहते हैं-**"विमुक्तबोधान्न सृष्टिः प्रधानस्य लोकवत्"** अर्थात् विमुक्त को बोध हो जाने पर उसके लिए यह सृष्टि नहीं होती। बोध का यहाँ अर्थ है कि समाधि में

हुई ईश्वर अनुभूति। भाव यह है कि यह सृष्टि रचना ईश्वर ने एक तो जीव के कर्मों का भोग भोगने के लिए रची है। जिसमें प्राणी-मनुष्य अथवा पशु-पक्षी की योनि में कर्मों का भोग भोगते हैं। जन्म-मृत्यु में फँसे रहते हैं। दूसरा साधक के लिए भी ईश्वर ने यह सृष्टि रची है। साधक सृष्टि के पदार्थों का सदोपयोग करके शुभ कर्म यज्ञ एवं योग की क्रियाएँ इत्यादि करके इन्हीं सृष्टि के पदार्थों की सहायता से जब समाधि प्राप्त करके मोक्ष प्राप्त करता है। तब उस समाधि प्राप्त योगी के लिए यह सृष्टि नहीं है अर्थात् उसे इस सृष्टि में कोई कर्म भोगना शेष नहीं रहता और इस सृष्टि के पदार्थों को भोगते हुए भी उस योगी के नए कर्मों का कोई निर्माण नहीं होता। अतः पूर्ण योगी सृष्टि के पदार्थों का भोग करता हुआ भी भविष्य में कोई कर्मों का फल नहीं भोगता। सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल ऊपर के सूत्र में यही समझा रहे हैं कि उस मुक्त योगी के लिए प्रकृति अपना कार्य करना छोड़ देती है। शेष जीवों के लिए कार्य चलता रहता है। वेदानुसार यह सब प्रकृति रचित भोग पदार्थ ज्ञानी के लिए तो मोक्ष प्रदान करते हैं और अज्ञानी के लिए जन्म-मृत्यु दुःख एवं घोर नरक प्रस्तुत करते हैं। श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ यही भाव है कि मूर्खों के लिए तो प्रकृति के गुण उसे जन्म-मृत्यु आदि दुःख देने के लिए वर्तते हैं। अर्थात् इस दशा में साधारण मूर्खजन के लिए रजो गुण, तमो गुण एवं सतो गुण रूपी अन्तःकरण एवं ज्ञानेन्द्रियाँ जिस-जिस काम आदि भोग की इच्छा करती हैं प्रकृति रचित वही भोग पाने के लिए जीवात्मा कार्य करता है और कर्मानुसार सुख-दुःख प्राप्त करता है। विपरीत में वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास इत्यादि द्वारा जो जीवात्मा जन्म-जन्म के कर्मों के मैल को भस्म कर चुका होता है उस निर्मल जीवात्मा के स्वाभाविक वेदोक्त शुभ कर्म उसमें उत्पन्न होते हैं और ऐसा जीवात्मा यह जानता है कि मैं कर्म का द्रष्टामात्र हूँ प्रकृति के गुण गुणों में बरत रहे हैं, मैं कर्म का कर्त्ता नहीं हूँ। इसी बात को **कठोपनिषद् तृतीया वल्ली** में कहा कि जो ज्ञानवान नहीं है उसका मन आत्मा से अलग रहता है और इन्द्रियाँ भी वश में नहीं रहती। लेकिन जो ज्ञानवान है उसका मन, बुद्धि जीवात्मा से जुड़ी रहती है अर्थात् जीवात्मा के वश में होती हैं। अतः ज्ञानवान अपने रूप में स्थित जीवात्मा सम्पूर्ण इन्द्रियों को वश में रखकर वेदोक्त शुभ कर्म करता हुआ **यजुर्वेद मंत्र ४०/२** के अनुसार भी कर्मों में

लिप्त न होकर मोक्ष पद प्राप्त करता है। ऐसी अवस्था में ही वह विद्वान् जानता है कि प्रकृति के गुण गुणों में वर्तते हैं और जीवात्मा निर्लेप है। अर्थात् प्रकृति के रज, तम एवं सत्व गुण के प्रभाव से जीवात्मा कर्म में प्रवृत होता है, परन्तु मुक्त जीवात्मा कर्म में आसक्त नहीं होता।

श्रीकृष्ण उवाच-

'प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।''

(गीता : ३/२९)

(प्रकृतेः) प्रकृति के **(गुणसंमूढाः)** गुणों से मोहित मूढ़ प्राणी **(गुणकर्मसु)** गुण एवं कर्मों में **(सज्जन्ते)** आसक्त होते हैं **(कृत्स्न-वित्)** पूर्ण ज्ञानी पुरुष **(तान्)** उन **(अकृत्स्नविदः)** अज्ञानी **(मन्दान्)** मन्द मति वालों को **(न)** नहीं **(विचालयेत्)** विचलित करें।

अर्थ : प्रकृति के गुणों से मोहित मूढ़ प्राणी गुण एवं कर्मों में आसक्त होते हैं। पूर्ण ज्ञानी पुरुष उन अज्ञानी मन्द मति वालों को नहीं विचलित करें।

भावार्थ : चेतन जीवात्माएँ अनेक हैं। प्रत्येक शरीर में कर्मानुसार अलग-अलग जीवात्माएँ निवास करती हैं। और कर्मफल का भोग भोगती हैं। सांख्य शास्त्र **सूत्र १/१२२** में कपिल मुनि इस विषय में कहते हैं- **''वामदेवादिः मुक्तः अद्वैतम् न''** अर्थात् पूर्व में वामदेवादि अनेक ऋषि जीवन मुक्त हुए हैं अर्थात् मोक्ष का सुख प्राप्त करते हुए जन्म-मृत्यु के चक्कर से मुक्त हो गए हैं। अतः कपिलमुनि कहते हैं कि वह जीवात्मा एक होती तो वामदेव की जीवात्मा मुक्त हो चुकी है। अतः आज किसी जीवात्मा को भी कर्मबन्धन में फँसे हुए सुख-दुःख नहीं भोगना चाहिए था। परन्तु स्पष्ट है कि प्राणी अपने-अपने कर्मों का भोग अभी भी भोग रहा है। इसी विषय में श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में कहते हैं कि प्रकृति के तीनों गुणों (रज, तम तथा सत्त्व) से मोहित होकर नर-नारी उन गुणों से उत्पन्न कर्मों में आसक्त होकर सुख-दुःख आदि कर्मफल भोग रहे हैं। जैसे कि रजोगुण विषय-विकारी है तो संसार में जब प्राणी आँख, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्रकृति के रज गुण से उत्पन्न विषय-विकार ग्रहण

करता है तब कर्मेन्द्रियों द्वारा वैसी ही कर्म करने का प्रयत्न करता है। जैसे कि हाथी को पकड़ने के लिए शिकारी जंगल में बड़ा सा गढ्ढा खोदकर सूखी-छोटी टहनियों से उस गढ्ढे को ढ़क देते हैं और उसके ऊपर कागज की झूठी हथिनी खड़ी कर देते हैं। दूर से आता कामान्ध हाथी उस उस हथिनी को सचमुच की हथिनी समझकर उस को पकड़ने के लिए आगे बढ़ता है और गढ्ढे में गिर जाता है। वहाँ से शिकारी उसे निकालकर बन्दी बना लेते हैं। भंवरा खुशबु पर मोहित होता है और कमल के फूल पर बैठा ही रहता खुशबू का आनन्द लेने में लीन हो जाता है। और सूर्य छिपते ही कमल के फूल की पंखुड़ियाँ बन्द हो जाती हैं, और भंवरा कैद हो जाता है। मछली को जीह्वा पर संयम नहीं है और अधिक खाने से मर जाती है। हिरण को कान का रस है और शिकारी वीणा, बांसुरी इत्यादि बजाकर उसे मुग्ध करके पकड़ लेते हैं। पतंगे को चमकीली ज्योति का रस है, वह जलते दीये पर झपटता है और प्राण त्याग देता है। इन पाँचों अवस्थाओं में हाथी, हिरण इत्यादि सब के शरीर में प्रकृति के तीनों गुण विद्यमान हैं और हथिनी, कमल का फूल, वीणा, बांसुरी और दीये की ज्योति इत्यादि भी प्रकृति के तीनों गुणों से रचित पदार्थ हैं। प्रकृति के गुणों में क्रिया होती है और चेतन जीवात्मा जो अपने शुद्ध स्वरूप को भूला हुआ है, वह इन काम आदि विकारी क्रियाओं से मोहित होकर उनमें फँस जाता है।

यहाँ गहन विचार का विषय यह है कि हाथी आदि जानवरों की तरह हम जीवात्माओं को अर्थात् हम मनुष्यों को भी प्रकृति के इन तीन गुणों से बना पँचभौतिक शरीर मिला है और इस शरीर की आँख, कान, जिह्वा, नाक एवं त्वचा इन्द्रियों में पूर्णतः रज, तम और सत्त्व गुण विद्यमान हैं और संसार के पदार्थों में भी यह तत्त्व विद्यमान हैं। जबकि इस शरीर में निवास करने वाला चेतन जीवात्मा सर्वदा रज, तम आदि गुणों से पृथक शुद्ध एवं निर्विकार है। परन्तु प्रकृति के गुणों में आसक्त होने के कारण अपने स्वरूप को भूला हुआ है। फलस्वरूप कर्मबन्धन में फँसा सुख-दुःख, जन्म-मृत्यु आदि क्लेशों में फँसा हुआ है। अतः साधारण मनुष्य जब अपनी इन आँख आदि ज्ञानेन्द्रियों से अन्य नर-नारी अथवा पदार्थों को हाथी आदि की तरह छूता, देखता,

सुनता, सूंघता और चखता है, तब उन संसारी पदार्थों में मोहित होता है और काम, क्रोध आदि असंख्य विकारों में फँसकर अधर्म-पापयुक्त कर्म करता है। कोई विरला वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा प्रकृति के उन गुणों पर संयम रखकर और अपने को शरीर से अलग चेतन जीवात्मा के स्वरूप में स्थित होता है। वही वस्तुतः ईश्वर का साक्षात्कार करता हुआ मोक्ष पद प्राप्त करता है। ऐसे अपने स्वरूप में स्थित ऋषि-मुनियों को एवं विवेकशील पुरुषों को ही इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज समझा रहे हैं कि वह पुरुष हाथी आदि की तरह प्रकृति के गुणों से मोहित हुए वह पुरुष जो शास्त्र अनुसार शुभ कर्म स्वर्गादि प्राप्त करने हेतु में भी आसक्त होते हैं, ज्ञानीजन उन अज्ञानियों को कर्मों से विचलित न करें। भाव यह नहीं है कि उन अज्ञानियों को शुभ कर्मों की शिक्षा न दी जाए। अपितु भाव यह है कि शुभ कर्मों की शिक्षा देते-देते उन अज्ञानियों को उनके गृहस्थ आदि में धन प्राप्ति अथवा परिवार के पालन पोषण आदि में जो मेहनत से करने योग्य कर्म हैं उन कर्मों को करने से न रोका जाए। क्योंकि गीताकाल में ही वेद-विरुद्ध कई पंथों का उदय होने लग गया था जिसका संकेत श्री कृष्ण महाराज ने श्लोक २/४१, ४२ एवं ४३ आदि में किया है। जैसा कि आज भी वैदिक शब्दों का गलत अर्थ देखने में आता है जिससे विश्व की सनातन, अविनाशी, वैदिक संस्कृति को वेद विरोधी तत्त्वों ने बदनाम करके इसका हनन करने का प्रयत्न किया है। उदाहरणार्थ **यजुर्वेद मंत्र ४/११** के अनुसार आध्यात्मिक तीर्थ स्थल वह है जहाँ वेद के जानने वाले एवं अष्टांग योग की विद्या का आचरण करने वाले ऋषि-मुनि रहते हैं। और जहाँ पहुँचकर प्राणी यज्ञ आदि की दीक्षा द्वारा भव सागर से तर जाता है। यह सनातन सत्य है। परन्तु आज यजुर्वेद में कहे तीर्थ स्थल को छोड़कर जीव अनेक प्रकार के तीर्थ करता है परन्तु यज्ञ भूमि पर नहीं जा पाता। दूसरा यज्ञ का अर्थ वेदों ने देवपूजा, माता-पिता, अतिथि एवं वेदज्ञ गुरु की सेवा तथा अग्निहोत्र-दूसरा संगतिकरण जिसमें वेद के जानने वाले ऋषि की सेवा से विद्या लाभ तीसरा **यजुर्वेद मंत्र १८/५७** के अनुसार सुपात्र को ही दान देना। इन तीन क्रियाओं को यज्ञ कहा है। दूसरा यज्ञ अष्टांग योग की साधना कहा है। परन्तु आज वेद-विरुद्ध न जाने कितने मनघढ़न्त यज्ञ का प्रचार एवं प्रसार हो रहा है। एवं वैदिक यज्ञ का विरोध

किया जा रहा है, जिस यज्ञ को श्रीराम, श्रीकृष्ण, माता-सीता जैसी असंख्य महान विभूतियों ने आचरण में लाकर परमपद प्राप्त किया था। आज ऐसा दुष्प्रचार है कि यदि कोई ऑफिस जाता है, व्यवसाय करता है, नेतागिरी करता है, पढ़ता है इत्यादि-इत्यादि तो वह उस कर्म को ही यज्ञ कहे जा रहा है। यह सब कर्म तो वास्तव में श्रीराम, कृष्ण इत्यादि राजर्षियों ने वैदिक यज्ञ करते-करते ही सीखे थे एवं किए थे। वैदिक यज्ञ की कमी से आज असत्य को ही सत्य कहा जा रहा है। और भी देखें, देव अथवा देवता या देवी शब्द का अर्थ वेद ने वेदों की विद्या जानने वाले पूर्व के एवं जीवित विद्वान् अथवा विदुषी के लिए कहा है। परन्तु आज वेद के विरोध में इन विद्वानों का कोई औचित्य नहीं रह गया है। वेदानुसार **सत्यम् ब्रह्म जगत मिथ्या** का अर्थ है कि जो शक्ति सृष्टि की रचना से पहले भी थी, अब वर्तमान में भी है और सृष्टि के नष्ट होने पर भी रहेगी, वही सत्य है और वह सत्य परमेश्वर है। इसके अतिरिक्त जीवात्मा व मूल प्रकृति भी वेदों ने सत्य तत्त्व कहे हैं। मिथ्या का अर्थ है कि उस सत्य ईश्वर को पाने के लिए प्रकृत्ति के तीनों गुणों से प्रेरित कामादि कर्म मिथ्या हैं और प्रकृति रचित यह संसार भी एक समय में नष्ट हो जाएगा, अतः मिथ्या है। परन्तु आज प्रायः इस श्रुति का यह अर्थ किया जाता है कि एक ईश्वर ही ईश्वर है। इसके अतिरिक्त न जीवात्माएँ हैं न प्रकृति रचित सूरज, चाँद, सितारे इत्यादि पदार्थ हैं। अर्थात् यह पदार्थ मिथ्या हैं, यह जीवात्मा ही ईश्वर है, ऐसा कहा जाता है। जो कि पूर्णतः वेद-विरुद्ध है। मिथ्या शब्द का ऐसा भी अर्थ किया जाता है कि जो वस्तु दिख तो रही है परन्तु वह वास्तव में है नहीं। इस विषय में **सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल सूत्र १/७६** में कहते हैं-**"न असदुत्पादः नृशृङ्गवत्"** अर्थात् जैसे मनुष्य के सिर पर सींग नहीं होते उसी प्रकार असत्य का उत्पादन नहीं होता अर्थात् असत्य वस्तु का कभी भी निर्माण नहीं होता,। उसका अस्तित्व ही नहीं होता। मनुष्य के सिर पर सींग न हुआ था, न हुआ है और न कभी होगा। इसी प्रकार असत्य वस्तु का निर्माण न हुआ था, न हुआ है और न कभी होगा। परन्तु जैसे **ऋग्वेद मंत्र १०/१९०/३** यह कहता है-**"सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्"** अर्थात् इस सृष्टि में कारण रूप प्रकृति से बने यह सूर्य, चन्द्रमा, इत्यादि बने असंख्य पदार्थ बिल्कुल ऐसे हैं जैसे पिछली सृष्टि में बने

थे। अतः इनको असत्य नहीं कहा जा सकता। जो भी संत जन आदि वर्तमानकाल में हैं वे एवं इससे पूर्व व्यास आदि ऋषि मुनि हुए हैं, यह सब मूलतः जीवात्मा ही हैं और जीवात्मा असहायः होता है। अर्थात् जीवात्मा बिना आँख, नाक एवं इस शरीर के कुछ नहीं कर सकता। अतः प्रत्येक ऋषि-मुनि (जीवात्मा) ने इस आँख, नाक, शरीर एवं बुद्धि तत्त्व का सहारा लेकर ही चिंतन, मनन, यज्ञ, वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि द्वारा उस परम तत्त्व को पाया है। अकेला जीवात्मा मृत्यु के बाद जब शरीर से बाहर होता है तब वह शरीर रहित होकर पूर्णतः बेहोशी की सी अवस्था में होता है। एवं कोई शुभ अथवा अशुभ कार्य नहीं कर सकता। तो कृष्ण महाराज इस श्लोक में यह विशेष ज्ञान दे रहे हैं कि प्रकृति के गुणों से प्रेरित विकारयुक्त कर्मों में फँसा यह जीवात्मा ब्रह्म, जीव एवं प्रकृति के गहन रहस्य को नहीं जानता। अतः जो व्यास आदि मुनियों के समान वेद के जानने वाले, यज्ञ करने वाले योगाभ्यासी वर्तमान के विद्वान् हैं वह ऐसे अज्ञानी पुरुषों को गूढ़ ज्ञान देकर विचलित न करें। अपितु धीरे-धीरे गृहस्थ आदि आश्रम के शुभ कर्मों को कराते हुए सत्य विद्या की तरफ उन्हें आकर्षित करें। सारांश यही है कि प्रकृति के गुणों में मोहित हुआ प्राणी विकारयुक्त कर्म करता है और बिना वेदज्ञ विद्वान् के यह प्राणी सत्य को नहीं समझ पाता। जीवात्मा का बंधन में आने का कारण प्रकृति के गुणों में फँस जाना ही कहा है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।"

(गीता : ३/३०)

(अध्यात्म) अध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुए **(चेतसा)** चित्त द्वारा **(सर्वाणि)** सम्पूर्ण **(कर्माणि)** कर्मों को **(मयि)** मुझ में **(संन्यस्य)** समर्पण करके **(निराशीः)** आशारहित **(निर्ममः)** ममता रहित **(भूत्वा)** होकर **(विगतज्वरः)** शोक रहित होकर **(युध्यस्व)** युद्ध कर।

अर्थ : अध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को मुझ में समर्पण करके आशारहित, ममता रहित होकर व शोक रहित होकर युद्ध कर।

भावार्थ : योगशास्त्र सूत्र २/५ में अविद्या का स्वरूप यह कहा है कि अविद्या में फँसा प्राणी, पदार्थ के असत्य स्वरूप को सत्य मानने लगता है। जैसा कि सूत्र में कहा कि अनित्य को नित्य, अपवित्र को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा जानना ही अविद्या है। उदाहरणार्थ रज, तम एवं सत्त्व गुण युक्त प्रकृति से बनी सृष्टि एवं यह पँच भौतिक शरीर नाशवान हैं परन्तु विद्या का बोध न होने के कारण प्रायः प्राणी जब तक जीवित रहता है तब तक गम्भीरता से कभी भी इस सत्य को नहीं जान पाता कि यह शरीर एवं सृष्टि नाशवान हैं। विद्या का सनातन अर्थ चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना विद्या है जिसे **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में कहा कि ऋषियों ने इन चारों वेदों से इन तीनों विद्याओं का दोहन किया। शरीर में रहने वाली यह चेतन जीवात्मा, तीनों गुणों से रहित है, निर्लेप है तथा अविनाशी है। परन्तु यह जीवात्मा प्रकृति के गुणों से लगाव करने के कारण अपने इस अविनाशी स्वरूप को भूले हुए है। इस दशा में जीवात्मा को अविवेकी अर्थात् नासमझ कहा गया है। क्योंकि प्रकृति में फँसा यह जीवात्मा स्वयं को शुभ-अशुभ कर्म का कर्त्ता मान बैठता है। इस बात को कृष्ण महाराज ने पिछले **श्लोक ३/२६** में भली प्रकार समझाया है। और **श्लोक ३/२८** में यह समझाया कि प्रकृति के गुण, गुणों में बर्तते हैं। अर्थात् अविद्याग्रस्त मोह में फँसा प्राणी मन, बुद्धि एवं आँख, नाक आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के वशीभूत होकर जब कर्म करता है तो उन कर्मों का संस्कार चित्त पर पाप के रूप में स्थापित हो जाता है। एवं **योग शास्त्र सूत्र २/१२** में कहा कि यह पाप कर्म इस जन्म अथवा भविष्य में होने वाले जन्मों में भोगे जाते हैं। अतः गृहस्थाश्रम में ही प्राणी वेदाध्ययन यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों को करके स्वयं को (जीवात्मा को) प्रकृति के इन तीन गुणों से अलग करने का प्रयत्न करे। इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज **"अध्यात्मचेतसा"** अर्थात् अध्यात्मिक विद्या वाला चित्त कहकर समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! तू अध्यात्मिक साधना द्वारा मन, बुद्धि से क्षत्रिय धर्म एवं ईश्वर भक्ति दोनों को साथ-साथ कर। इस प्रकार सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर में अर्पित करता हुआ, कर्मफल की इच्छा से रहित हुआ तथा धन-परिवार की ममता का भी त्याग करके यह धर्म युद्ध कर। इससे तुझे युद्ध करते हुए एवं युद्ध के अन्त में भी, शोक नहीं होगा। **सामवेद मंत्र ४२६** में न्यायकारी राजा

को ऐसे धर्मयुद्ध द्वारा जनता में धर्म स्थापना करने का स्पष्ट उपदेश किया है और कहा है कि ऐसे राज्य में जनता दुःख-दरिद्रतादि से मुक्त होती है। सामवेद के इसी मंत्र में ही नहीं अपितु चारों वेदों में धर्म स्थापना के लिए न्यायकारी राजा को दुराचारियों को समाप्त करने के लिए युद्ध की प्रेरणा दी है। इसी प्रकार चारों वेदों में ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रमों में सभी शुभ कर्मों का स्वरूप एवं शुभ कर्म करने की प्रेरणा दी है। तभी **मनुस्मृति श्लोक २/२६** ने कहा **"वेदः अखिलः धर्ममूलम्"** अर्थात् सभी कर्त्तव्य-कर्म वेदों से उत्पन्न हुए हैं। अतः वेदाध्ययन के अभाव में वास्तविक शुभ कर्मों का स्वरूप जाना नहीं जा सकता। श्री कृष्ण महाराज संपूर्ण वेदों के ज्ञाता एवं वेदों में कही योग-विद्या में लीन योगेश्वर हुए हैं। तभी अर्जुन ने **गीता श्लोक २/७** में कह दिया है कि हे कृष्ण! महाराज मैं आपका शिष्य हूँ इसलिए मैं आपकी शरण में हूँ। आप मुझे शिक्षा दीजिए क्योंकि धर्म के विषय में मैं मोहित चित्त वाला हो गया हूँ। स्पष्ट है कि आज भी हमें वेद एवं योग विद्या जानने वाले आचार्यों की आवश्यकता है। क्योंकि वह ही हमें सच्चे मार्ग पर चलने का उपदेश देने में समर्थ हैं। हम इस सनातन विद्या को ही कायम करके समस्त देश एवं विश्व का कल्याण कर सकते हैं। पुरातन एवं सनातन परम्परा युक्त गीता के इस श्लोक से यह ज्ञान भी मिलता है कि अध्यात्मवाद से प्रेरित मन, बुद्धि ही न्यायकारी युद्ध कर सकती है। पिछले तीनों युगों के समस्त राजा वेद-विद्या के उपासक, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाले एवं मंत्रद्रष्टा ऋषियों की प्रेरणा से प्रजा का पुत्रवत् पालन करने वाले होते थे। अतः उस समय अन्याय, अधर्म, भ्रष्टाचार एवं विषय-विकार आदि पाप कर्मों की कोई गुंजाईश नहीं थी। धर्मराज युधिष्ठिर ने स्पष्ट कर दिया था कि हम कौरवों से युद्ध नहीं करेंगे और प्रायः इसी आधार पर अर्जुन ने भी गीता के पिछले दोनों अध्यायों में स्पष्ट कह दिया था कि मैं भिक्षा माँगकर पेट भर लूँगा परन्तु कौरव जो मेरे अपने हैं उनसे राज्य लेने के लिए युद्ध नहीं करूँगा। परन्तु श्री कृष्ण महाराज इस श्लोक में अर्जुन को अध्यात्मवाद से प्रेरित चित्त वाला होकर युद्ध करने की प्रेरणा दे रहे हैं अर्थात् चाहे धर्मयुद्ध हो चाहे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास के प्रति कोई कर्त्तव्य निभाना हो, इन सबके लिए प्रथम अध्यात्मिक ज्ञान चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना यह तीन विद्या

हैं। संक्षेप में अभी तक श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को शरीर एवं जड़ जगत नाशवान है तथा जीवात्मा चेतन अविनाशी तत्त्व है, इसका ज्ञान दिया है। दूसरा यज्ञ, वेदाध्ययन एवं ध्यान इत्यादि जो सामवेद में कहे उपासना के अंग हैं उनका उपदेश किया है। एवं यजुर्वेद में कर्म काण्ड के प्रति आस्था स्थापित करते हुए धर्मयुद्ध करने की प्रेरणा दी है। और स्पष्ट ही गीता **श्लोक ३/१५** में कह दिया है कि हे अर्जुन! यह सब ज्ञान, उपासना एवं कर्म चारों वेदों से उत्पन्न हुए हैं। और चारों वेदों को तू ईश्वर से उत्पन्न हुआ जान। तो जहाँ युद्ध करने के लिए भी इस श्लोक में **'अध्यात्मचेतसा'** अर्थात् अध्यात्मिकवाद का सहारा लेने के बात कही है वहाँ अन्य सभी वर्णों में कहे शुभ कर्मों को भी हम वेदानुसार ही निश्चित करें। जैसा कि पिछले युगों में होता चला आया था। इसके लिए जहाँ हम गीता आदि ग्रन्थों का पाठ रखते हैं, सुनते हैं वहाँ विद्वानों को आमंत्रित करके यज्ञ में वेद-विद्या का पाठ एवं मंत्रों की व्याख्या सुनने का भी आयोजन करें जिससे हमें अपने सभी शुभ कर्त्तव्य-कर्मों के स्वरूप का बोध होगा और तब कहीं भी अन्याय एवं भ्रष्टाचार की गुंजाईश नहीं रहेगी। श्री गुरुवाणी तक में गुरुनानक देव साहब ने स्पष्ट कहा है **"ओंकार वेद निरमाये"** अर्थात् वेद ईश्वर से उत्पन्न ज्ञान है। **"दीवा तले अन्धेरा जाई, वेद पाठ मति पापा लाई।"** अर्थात् जैसे जलते दीये की रोशनी अन्धेरे का नाश करती है उसी प्रकार वेद-विद्या को सुनने से पापों का नाश होता है। सारांश यह है कि श्रीकृष्ण महाराज के मुख से वैदिक-विद्या सुनकर ही अर्जुन के संशय दूर हुए थे और धर्म-युद्ध न लड़ने जैसे पाप से मुक्त हुआ था। आज हमें पुनः गीता-रामायण में कहे आदेश-उपदेश सुनकर पुनः वेद-विद्या सुनकर प्रत्येक शुभ कर्मों का बोध प्राप्त करना होगा।

प्रस्तुत श्लोक में **'अध्यात्मचेतसा'** अर्थात् अध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त हुए चित्त द्वारा सम्पूर्ण कर्मों को ईश्वर में अर्पित करने का उपदेश दिया गया है। **'मीय'** शब्द ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है। श्रीकृष्ण महाराज वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग विद्या आदि के अभ्यास द्वारा ईश्वर में लीन अर्थात् ईश्वर के समान ही एक महानतम विभूति हुए हैं। ब्रह्मलीन अवस्था वाले योगी के अन्दर से स्वयं ईश्वरीय वाणी निकलती है। जैसा कि **सामवेद मन्त्र ६४४**

में कहा कि **(सोमः)** ईश्वर **(देवानाम्)** विद्वानों में **(ब्रह्मा)** चारों वेदों का वक्ता है। वही ईश्वर (कवीनाम्) मेधावी कवियों का **(पदवीः)** प्रत्येक पद को ठीक प्रकार से जुड़वाने वाला है और **(विप्राणाम्)** वेदों के विद्वानों के मध्य में **(ऋषिः)** मन्त्रदृष्टा ऋषि है। **सामवेद मन्त्र ५२७** में कहा **सोमः मतीनाम् जनिता** अर्थात् परमेश्वर बुद्धियों का उत्पादक है। वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त योगियों को **योगशास्त्र सूत्र १/४८** के अनुसार सत्य प्राप्त हुई बुद्धि प्रदान करता है, इत्यादि। ऊपर के सामवेद मन्त्रों का भाव है कि ईश्वर शुद्ध बुद्धि प्रदान करता है और योगियों द्वारा जो अध्यात्म आदि उपदेश दने के लिए वाणी का प्रयोग होता है उस वाणी के पद/शब्द को योगियों के अन्दर प्रकट ईश्वर ठीक-ठीक प्रकार से जोड़-जोड़कर योगियों के मुख से उच्चारण स्वयं कराता है। **सामवेद मन्त्र २** का भी कथन है-**(अग्ने)** हे परमेश्वर! आप **(देवेभिः)** वेद के ज्ञाता, विद्वानों के द्वारा **(मानुषे जने)** मनुष्यों में **(हितः)** धारण किए जाते हो एवं हितकारी हो। भाव यह है कि श्रीकृष्ण जैसी विभूतियों में प्रकट होकर ही स्वयं ईश्वर मनुष्यों का कल्याण करता है। अतः यहाँ श्रीकृष्ण के मुख से जो उपदेश दिया जा रहा है वह ईश्वर का उपदेश है और योगेश्वर श्रीकृष्ण ब्रह्मलीन भाव में स्वयं को ईश्वर के समान घोषित करते हुए अर्जुन को कह रहे हैं **"मयि सर्वाणि कर्माणि"** मुझमें कर्मों को अर्पण करके युद्ध कर। **मयि** अर्थात् मुझ में शब्द का अर्थ श्रीकृष्ण नहीं अपितु श्री कृष्ण महाराज में प्रकट निराकार परमेश्वर है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।"

(गीता : ३/३१)

(ये) जो **(अपि)** भी **(मानवाः)** मनुष्य लोग **(अनसूयन्तः)** निन्दा-दोष से रहित **(श्रद्धावन्तः)** श्रद्धावान होकर **(मे)** मेरे **(इदम्)** इस **(मतम्)** मत को **(नित्यम्)** नित्य **(अनुतिष्ठन्ति)** आचरण में लाते हैं **(ते)** वे सब लोग **(कर्मभिः)** सब कर्मों से **(मुच्यन्ते)** छूट जाते हैं।

अर्थ : जो भी मनुष्य लोग निन्दा-दोष से रहित श्रद्धावान होकर मेरे इस मत

को नित्य आचरण में लाते हैं, वे सब लोग सब कर्मों से छूट जाते हैं।

भावार्थ : ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/३६ में कहा है कि प्रकृति से उत्पन्न महत् तत्त्व (बुद्धि) अहंकार एवं पृथिवी, आकाश, अग्नि, वायु तथा जल इन पाँचों तत्त्व के सूक्ष्मभूत इनसे सब संसार बना है। यह सब नाशवान जड़ पदार्थ हैं। अगले **मन्त्र ३७** में कहा-**"यदा प्रथमजाः"** यह पदार्थ प्रकृति से उत्पन्न होकर जीवात्मा के शरीर का निर्माण करते हैं और इस प्रकार चेतन जीवात्मा पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि अन्तःकरण एवं शरीर को प्राप्त करता है। इस प्रकार शुद्ध चेतन अविनाशी जीवात्मा को यह नाशवान जड़ शरीर प्राप्त होता है। इस प्रकार जब तक जीवात्मा को ऐसा शरीर प्राप्त नहीं होता तब तक यह जीवात्मा न सुन सकता, न देख सकता है, न चल सकता और न ही कोई कर्म करने में समर्थ हो सकता है। अतः शरीर के बिना अल्प शक्ति वाला यह जीवात्मा असहाय ही होता है। अर्थात् बिना शरीर अथवा इन्द्रियों के कुछ भी नहीं कर सकता। परन्तु इसके विपरीत में सर्वशक्तिमान परमेश्वर को किसी भी सहायता की जरूरत नहीं होती। ईश्वर बिना इन्द्रियों के देख-सुन इत्यादि सब कर्म करने में समर्थ है। परन्तु जीवात्मा इन्द्रियों को प्राप्त करके ही कर्म करने में समर्थ होता है। अतः जीवात्मा जो शरीर से सर्वदा भिन्न है और शरीर में रहता है, उसे कर्म करने के लिए दो साधन ईश्वर ने दिए हैं। एक मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार रूपी अन्तःकरण दूसरा ऊपर कही ज्ञानेन्द्रियाँ और शरीर रूपी बाह्यकरण। **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/३२** में कहा कि जो जीव शरीर द्वारा केवल संसारी कर्म ही करते रहते हैं, वह अपने चेतन, अविनाशी स्वरूप को एवं अपने अन्दर ही निवास करने वाले चेतन ब्रह्म को नहीं जानते। परन्तु जब जीव इस शरीर द्वारा वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन विद्याओं को पूर्णतः समझकर ज्ञानवान होता है तब ही यह जीवात्मा अपने एवं परमेश्वर के स्वरूप को जानकर मोक्ष सुख को प्राप्त करता है अन्यथा जन्म-मृत्यु के चक्र में पड़ा सदा दुःख भोगता रहता है। जीव का स्वभाव है कि वह किसी न किसी से लगाव रखता है। जीवात्मा के लिए संसार में लगाव अर्थात् जुड़ने के लिए दो ही तत्त्व हैं। एक परमात्मा, दूसरा प्रकृति से बना यह शरीर एवं समस्त संसार के पदार्थ। **श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय**

५ श्लोक ७ में ऋषि कहते हैं कि रज, तम एवं सत्त्व इन तीन गुणों वाली प्रकृति से बने इस शरीर से जीवात्मा जब अपना संबंध जोड़ लेता है, तब जीव शरीर से अच्छे-बुरे कर्म करता है और तदानुसार उसका फल सुख-दुःख के रूप में भोगता है। इसी बात को वेद-विद्या के ज्ञाता योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता श्लोक ३/२७, २८, २९ में इस प्रकार समझाया है कि हे अर्जुन! समस्त कर्म प्रकृति के गुणों द्वारा किए हुए हैं। परन्तु प्रकृति से उत्पन्न अहंकार तत्त्व है और इस अहंकार से मोहित होकर जीवात्मा यह समझता है कि वह (जीवात्मा) कर्म करता है। इस दशा में जीवात्मा प्रकृति के गुणों से लगाव किए हुए होता है। फलस्वरूप अविवेकी सा हो जाता है। अविवेक का अर्थ है चेतन और अचेतन (जड़) के वास्तविक स्वरूप को न समझना। परन्तु प्रकृति के गुण एवं उन गुणों से उत्पन्न कर्म के गूढ़ रहस्य को जानने वाला ज्ञानी पुरुष प्रकृति से उत्पन्न विकार युक्त कर्मों में आसक्त नहीं होता। अतः इससे पिछले श्लोक ३/३० में श्री कृष्ण महाराज ने अर्जुन को अध्यात्मवाद के विषय में समझाया कि हे अर्जुन! कर्म, उपासना एवं ज्ञान से युक्त अध्यात्मवाद विद्या से परिपूर्ण चित्त द्वारा सब कर्मों को ईश्वर में समर्पित करके धर्मयुद्ध कर। इस प्रकार श्री कृष्ण महाराज ने गीता के प्रारम्भ से इस श्लोक तक भी अर्जुन को ऋग्वेद में वर्णित ज्ञानकाण्ड अर्थात् जड़ चेतन विषय का ज्ञान दिया जिसमें जड़-प्रकृति से रचित जड़-जगत एवं नाशवान शरीर का रहस्य समझाया। सामवेद में कहे यज्ञ एवं ध्यान तथा भक्ति के विषय में समझाया तथा यजुर्वेद में कहे कर्म अर्थात् धर्म-युद्ध के विषय में समझाया। उन सब विषयों का सारांश समझाते हुए श्रीकृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जो भी मनुष्य मेरे बताए हुए इस मार्ग पर चलते हैं वह निंदा आदि दोष से रहित शुद्ध-बुद्धि द्वारा श्रद्धावान होकर कर्मबन्धन से छूट जाते हैं। वस्तुतः श्री कृष्ण महाराज का यह वैदिक उपदेश पूर्णतः सनातन सत्य है कि यदि हम वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन विद्याओं को जानकर जीवन में उतार लेते हैं तो निश्चित ही कर्म बन्धन से मुक्त होकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेते हैं। ऊपर ऋग्वेद मंत्र में स्पष्ट कहा है कि ज्ञान एवं उपासना रहित केवल कर्म अथवा कर्म एवं उपासना रहित केवल ज्ञान अथवा कर्म एवं ज्ञान रहित केवल उपासना हमें कर्त्तव्य से विमुख करके अहंकार, अभिमान, एवं

लोभ आदि में डूबो देती है। मनुष्य को वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जीवन में धारण करना आवश्यक है। फलस्वरूप ही इस श्लोक में कहे शब्द **'अनसूयन्तः** एवं **श्रद्धावन्तः'** जीवन में धारण हो पाएँगे। **'अनसूयन्तः'** का अर्थ है किसी में दोष न देखना, किसी की निंदा न करना। यह शुद्ध बुद्धि का कर्म है। मनुस्मृति में कहा-**'बुद्धिः ज्ञानेन शुद्धयति'** अर्थात् वैदिक ज्ञान सुनकर बुद्धि शुद्ध होती है तभी वह निंदा आदि रहित शुभ कर्म करेगी। **श्रद्धा** का अर्थ है-**श्रत्+धा** अर्थात् सनातन वेद-विद्या एवं उसमें वर्णित ईश्वर, प्रकृति एवं जीवात्मा इन तीन सत्य तत्त्वों पर धारणा। श्रद्धा का अर्थ सत्य पर धारणा आना है। किसी भी नाशवान वस्तु आदि पर धारणा (बुद्धि का स्थिर होना-विश्वास करना इत्यादि) का नाम श्रद्धा नहीं है। और वैसे भी गीता ग्रन्थ वैदिक काल की रचना है। अतः उसके प्रत्येक शब्द वैदिक अर्थ एवं भाव से ओत-प्रोत हैं। अतः हम इस सत्य को समझें कि यदि मनुष्य वेदाध्ययन द्वारा यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करता है जिसमें ज्ञान, कर्म एवं उपासना, तीनों विद्याओं की गूढ़ जानकारी है तो ऐसी विद्या को प्राप्त करके जीव जीवन-मुक्त हो जाता है। अतः हमें श्रीकृष्ण, श्रीराम, ऋषि व्यास, कपिल मुनि इत्यादि वेदों को जानने वाली विभूतियों के बताए मार्ग पर ही चलना है तभी इस श्लोक में श्रीकृष्ण द्वारा कहे अनुसार जीव कर्म बन्धनों से मुक्त हो सकेगा। विपरीत में वेदों को कठिन कहने वाले, सनातन यज्ञ की निन्दा करने वाले, योग-विद्या को नकारने वाले, प्रायः वेद-विरोधी संतों के मिथ्या भाषण से बचना होगा, तभी देश पुनः **विश्व-गुरु** की पदवी को प्राप्त कर पाएगा। अन्यथा ऐसे गुरु प्रायः स्वयम् की ही पदवी घोषित किये जाते हैं। तब समाज और देश को कौन सम्भालेगा?

श्रीकृष्ण उवाच-

'ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।"

(गीता : ३/३२)

(तु) और **(ये)** जो **(अभ्यसूयन्तः)** सब तरफ दोष देखने वाले **(अचेतसः)** मूर्ख लोग **(एतत्)** इस **(मे)** मेरे **(मतम्)** मत-विचार के अनुसार **(न अनुतिष्ठन्ति)**

अनुसार नहीं चलते **(तान्)** उन **(सर्वज्ञानविमूढान्)** सब प्रकार के ज्ञान में मूर्ख अज्ञानियों को **(नष्टान्)** नष्ट हुआ **(विद्धि)** जान।

अर्थ : और जो सब तरफ दोष देखने वाले मूर्ख लोग इस मेरे मत-विचार के अनुसार नहीं चलते उन सब प्रकार के ज्ञान में मूर्ख अज्ञानियों को नष्ट हुआ जान।

भावार्थ : इस सत्य को आज हजारों बार समझने की आवश्यकता है कि श्री कृष्ण महाराज ने सुदामा सखा के साथ संदीपन एवं अंगीरस ऋषि से चारों वेद एवं वेद में वर्णित अष्टाँग योग की सम्पूर्ण-विद्या को प्राप्त किया था तभी वह योगेश्वर कहलाए थे और इन्हीं अलौकिक गुणों के कारण नैष्ठिक बाल-ब्रह्मचारी भीष्म पितामह जैसी विभूतियाँ भी उनके सामने नमन होती थीं। तभी तो महाभारत के सभापर्व में राजसूय यज्ञ के समय युधिष्ठिर ने जब पितामह भीष्म से सबसे उत्तम एवं सर्वप्रथम पूजा योग्य पुरुष के विषय में पूछा तो भीष्म पितामह ने सहर्ष श्री कृष्ण महाराज को ही अग्र पूजा के योग्य पुरुष घोषित किया था। और कहा था कि हे युधिष्ठिर! श्री कृष्ण महाराज सब राजाओं के बीच में अपने तेज, बल और पराक्रम से इस प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं जैसे द्युलोक में सब ग्रह-नक्षत्रों (चाँद-तारों इत्यादि) में सम्पूर्ण भूमण्डल को प्रकाशित करने वाला सूर्य स्थित है। वेद एवं योग-विद्या जब आचरण में आती है, तभी मनुष्य में ब्रह्मचर्य के आधार पर तेज़, बल एवं पराक्रम सिद्ध होता है एवं मनुष्य शुभ कर्म एवं शुभ गुणों की खान बनता है। तथा तभी वह भीष्म जैसे विद्वानों द्वारा सूर्य के समान तेजस्वी पद प्राप्त करके यश-कीर्ति धारण करता है। **सामवेद मंत्र ६२४** में इसी तेज का वर्णन करते हुए कहा कि प्राणी सोने (स्वर्ण), ज्योति, लक्ष्मी आदि का जो तेज है एवं सत्य-विद्या एवं ब्रह्म का जो तेज है वह सब धारण करें। वेद एवं योग-विद्या के प्रतीक श्री कृष्ण महाराज प्रत्येक प्रकार के तेज से देदीप्यमान थे। इस विद्या से ही सत्य-असत्य, जड़-चेतन आदि का ज्ञान प्राप्त होता है। अहंकार का नाश होता है। श्री कृष्ण की इस अग्र पूजा की घोषणा से पहले महाभारत ग्रन्थ के इसी सभा पर्व में युधिष्ठिर ने भोजन आदि का प्रबन्ध दुःशासन को, ब्राह्मणों के सत्कार का भार अश्वत्थामा को, राजाओं की सेवा

के लिए संजय को, सोना तथा रत्न परखने और दक्षिणा देने के कार्य कृपाचार्य को, धर्मों के ज्ञाता विदुर जी को यज्ञ में धन खर्च करने का कार्य तथा दूर-दूर से आए राजा इत्यादियों की भेंट स्वीकार करने का कार्य दुर्योधन को सौंपा था। परन्तु व्यास मुनि जी यहाँ कहते हैं कि बिना किसी के कहे, आए हुए वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों के चरणों को स्वयं की इच्छा से स्वयं श्री कृष्ण महाराज शुद्ध जल से धो रहे हैं। क्योंकि व्यास मुनि ने आगे कहा इस सेवा में **'पिप्रीषुः फलमुत्तमम्'** अर्थात् वेदों के ज्ञाता ब्राह्मणों के चरण धोने से सर्वोत्तम पुण्यफल प्राप्त होता है। अतः जो श्री कृष्ण महाराज वेदों के ज्ञाता ऋषि-मुनियों के चरण धो रहे थे, कहीं दुर्योधन के मेवा त्याग कर विदुर के यहाँ साग ग्रहण कर रहे थे, कहीं सारथी जैसे छोटे पद पर आसीन होकर रथ हाँक रहे थे, कहीं यज्ञ के झूठे पत्तल उठाने की सेवा कर रहे थे इत्यादि असंख्य मान-अपमान से परे रहने वाले गुणों की खान श्री कृष्ण महाराज जैसे योगेश्वर ही तो पूजनीय हो सकते हैं, अन्य कैसे हो सकते हैं? और यह सब गुण ऋषियों की सेवा द्वारा, वेद-विद्या एवं योग-विद्या से प्राप्त किए थे। अतः हम सदा याद रखें कि गीता-ज्ञान सम्पूर्ण सनातन वैदिक प्रवचन है जिसमें ज्ञान, उपासना एवं कर्म ये तीन विद्याएँ हैं। इन्हीं का उपदेश देते हुए श्री कृष्ण महाराज ने पिछले श्लोक में कहा कि जो भी व्यक्ति जड़ प्रकृतिं, चेतन जीवात्मा एवं परमात्मा के रहस्य को जान जाता है एवं यज्ञ व योग-विद्या में कहे ध्यान आदि के द्वारा मन, बुद्धि के ऊपर आए काम क्रोधादि विकारों को दूर कर लेता है, तब हे अर्जुन **'इदम् मतम् अनुतिष्ठन्ति'** मेरे इस मत के अनुसार वह मनुष्य **'कर्मभिः मुच्यन्ते'** सब पाप-पुण्य आदि कर्मों से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं (श्लोक ३/३१)। क्योंकि पुण्य कर्म भी शेष रहने से मनुष्य को पुनः जन्म लेना पड़ता है। अतः पुण्य कर्म भी न भोगे जाएँ इसीलिए श्लोक ३/३० में **'अध्यात्मचेतसा'** अर्थात् यज्ञ, ध्यान आदि कर्म की बात कही है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/२** का यही भाव है कि पाप कर्म तो हम न करें क्योंकि ईश्वर उसका फल दुःख के रूप में अवश्य देता है परन्तु वेदानुकूल पुण्य कर्मफल को भी यदि हम उदासीन प्रायः होकर भोगें अर्थात् सुख आदि अवस्था में काम, क्रोध, अहंकार आदि से हम ग्रस्त न हो, इसके लिए भी इस यजुर्वेद मंत्र तथा अन्य चारों वेदों के मन्त्रों में वैदिक यज्ञ योग एवं वेदों

में कहे केवल शुभ कर्म करने का ही उपदेश दिया है। भाव यह है कि जिस प्रकार लोहा लोहे को काटता है उसी प्रकार कर्म बन्धन में फँसा यह जो चेतन जीवात्मा **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/१** के अनुसार बार-बार कर्मानुसार जन्म बन्धन के चक्र में फँसा दुःख उठाता है। उसे इन कर्मबन्धनों से छूटने के लिए शुभ कर्म करने की ही आवश्यकता है। और उन शुभ कर्मों में यास्कमुनि ने यज्ञ को भी सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है क्योंकि यज्ञ में वेदमन्त्रों से ही प्रत्येक कर्म, ज्ञान उपासना आदि का ज्ञान देता है। यज्ञ में बैठकर ही साधक ब्रह्मा से वेद मन्त्रों में कहे शुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त करता है। **ऋग्वेद मंत्र १०/६१/८** एवं **सामवेद मंत्र ६८४** में यज्ञ की अग्नि एवं परमेश्वर को शुद्ध बुद्धि प्रदान करने वाला कहा है। और शुद्ध बुद्धि से ही शुभ कर्म होते हैं। अब यदि हम यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेद सुनकर अपने-अपने क्षेत्र में गृहस्थ आदि के शुभ कर्मों को नहीं करेंगे तो न तो हमारी बुद्धि, न इन्द्रियाँ और न ही मन शुद्ध होगा। अतः सत्संग आदि में बैठकर केवल यह बोलना अथवा सुनना कि शुद्ध मन से सत्संग में आओ, शुद्ध बुद्धि से ईश्वर प्राप्ति होती है। अपने मन को शुद्ध करो इत्यादि बातों का कोई प्रयोजन नहीं है। हम आचरणीय वेद-विद्या को भुलाकर केवल पढ़-सुन-रट कर बोले हुए व्याख्यान आदि सुनने के आदी न बनें। हमें वेदों में कही अग्नि विद्या (यज्ञ), योगाभ्यास एवं शुभ कर्मों को जीवन में धारण करना होगा। तभी प्राणी तेज को धारण करने के योग्य होगा और कर्मबन्धनों से छूटेगा। महाभारत में व्यासमुनि ने स्पष्ट कहा है कि श्री कृष्ण महाराज अर्धरात्रि में उठकर योगाभ्यास एवं गुप्त-मंत्र का जाप करते थे एवं सूर्य की किरण निकलते ही यज्ञशाला में जाकर वेदमन्त्रों से यज्ञ करते थे। दुर्भाग्य से आज वेद, योगाभ्यास एवं यज्ञ जैसे शुभ कर्मों का खण्डन किया जा रहा है जिससे हमें बचना होगा। कर्म का त्याग करने को वेद नहीं कहते हैं। यह बड़े आश्चर्य की बात है कि आज प्रायः कर्म एवं उपासना का त्याग करके केवल ज्ञान में ही मुक्ति की बात कही जाती है। रामायण सुनते हुए भी कि जहाँ तुलसी ने कहा **"सकल पदारथ हैं जग माहि, कर्म हीन नर पावत नाहिं"** अर्थात चार पदार्थ अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष यह सब इस मनुष्य देह में सुलभ है परन्तु उनके लिए जो पुरुषार्थी हैं, मेहनती हैं उन्हें ही प्राप्त होते हैं। आलसी को यह पदार्थ नहीं मिलते। अतः सामाजिक एवं देश की

उन्नति ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, गरीब, अमीर आदि सभी मनुष्यों के द्वारा पिछले तीन युगों की भांति यज्ञ, योग एवं गृहस्थादि के वेदों में कहे शुभ कर्म करने पर आधारित है और वे कर्म ज्ञान-युक्त एवं उपासना-युक्त होने चाहिएँ। ऐसा वेद एवं गीता ग्रंथ का मत है। और इस मत के विपरीत जाने वाले को चेतावनी देते हुए श्री कृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक में स्पष्ट कह रहे हैं कि मेरे इस मत में **'अभ्यसूयन्तः अचेतसः'** अर्थात् दोषदृष्टि रखने वाले मूर्ख लोग **'तान सर्वज्ञानविमूढान'** अर्थात् अब तक के दिए मेरे पिछले अध्यायों तक के सब ज्ञान के विपरीत चलने वालों को तू **'नष्टान् विद्धि'** नष्ट हुआ ही जान अर्थात् ये सब सदा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसकर केवल दुःख ही उठाने वाले होते हैं। अतः हम पिछले श्लोकों में कहे यज्ञ कर्म जड़ प्रकृति एवं चेतन अविनाशी जीवात्मा एवं परमात्मा तथा **श्लोक ३/१५** में कहे वेदों से उत्पन्न शुभ कर्मों को करने में कभी दोष दृष्टि न रखें। भगवान श्री राम-कृष्ण, ऋषि-मुनि सभी ने इस भूमि पर वैदिक परम्परा कायम करके ही पृथिवी को एक सूत्र में बाँध रखा था एवं सभी प्राणी सुखी थे। अतः सुख-शांति भाई चारा एवं देश के उज्जवल भविष्य के लिए आज हमें पुनः परम्परागत संनातन वैदिक ज्ञान-कर्म एवं उपासना की ही आवश्यकता आन पड़ी है। पुरुषार्थ द्वारा सुन्दर भविष्य का स्वयं निर्माण किया जाता है इसे किस्मत आदि झूठी बातों पर निर्भर करके बरबाद नहीं किया जा सकता।

श्रीकृष्ण उवाच-

'सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति ।।"

(गीता : ३/३३)

(भूतानि) सभी प्राणी **(प्रकृतिम्)** प्रकृति को **(यान्ति)** प्राप्त होते हैं **(ज्ञानवान्)** ज्ञानवान **(अपि)** भी **(स्वस्याः)** अपनी **(प्रकृतेः)** प्रकृति के **(सदृशम्)** अनुसार **(चेष्टते)** कर्म करने की चेष्टा करता है तब **(निग्रहः)** कर्म न करने का हठ **(किम्)** क्या **(करिष्यति)** करेगा।

अर्थ : सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति के अनुसार कर्म करने की चेष्टा करता है। तब कर्म न करने का हठ क्या

करेगा।

भावार्थ : अच्छा या बुरा स्वभाव मनुष्य स्वयं सत्संग अथवा कुसंग से निर्माण करता है। इससे पिछले कई श्लोकों में कर्म आदि का ज्ञान देते हुए पुनः श्री कृष्ण इस श्लोक में कहते हैं कि सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं। इसका पहला अर्थ तो यही है कि जीवात्मा प्रकृति के पंच भूतों से बने शरीर को ही प्राप्त होता है। अतः मनुष्य देह, उत्तम देह है जिसमें साधना द्वारा अर्थ धर्म, काम, मोक्ष, चारों पदार्थों की कामना करना संभव है परन्तु परंपरागत विद्या एवं साधनहीन मनुष्य तो प्रायः केवल प्रकृति के रजो, तमो एवं सतोगुण के आधीन ही रहकर जीवन व्यतीत करता है और प्रकृति के इन तीन गुणों में ही काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार, राग, द्वेष, निन्दा आदि अनेक विकार हैं जो साधना-हीन मनुष्य की मन; बुद्धि पर छाए रहते हैं। अतः इन्द्रियाँ बलपूर्वक, जीवात्मा की बुद्धि का हरण करके, उससे यह पापयुक्त कर्म कराती हैं। जो परंपरागत वैदिक साधनाहीन प्राणी है वह इस रज, तम, सत गुण रूपी प्रकृति के विकारों में फँसा प्रायः काम, क्रोध आदि विषयी-पापयुक्त प्रकृति (स्वभाव) वाला होता है। इसका फल यह होता है कि सतोगुण का प्रभाव अहंकार, रजोगुण का विषयी-विकारी होकर ऐश्वर्य चाहने वाला तथा तमोगुणी चित्त वाला होकर पुरुषार्थहीन, वैराग्यहीन अज्ञानी, अविद्याग्रस्त तथा अधर्मी बनकर दरिद्रता को प्राप्त होने वाला होता है। श्रीकृष्ण महाराज का इस श्लोक में **"भूतानि प्रकृतिम् यान्ति"** अर्थात् सभी प्राणी प्रकृति को प्राप्त होते हैं, इस प्रकार कहने का भाव यह है कि प्रकृति के गुणों में फँसे, साधनाहीन प्राणियों का स्वभाव काम, क्रोधादि अनेक विकारों से युक्त होता है और ऐसा अज्ञानी रजादि गुणों वाली प्रकृति से उत्पन्न बुरे संस्कारों के प्रभाव के कारण, वैसे ही बुरे कर्म करता है। इसके उदाहरण में रावण, कंस, दुर्योधन, औरंगजेब इत्यादि अनेक हुए हैं। रावण अपने बुरे संस्कारों के वश में होकर ही मारीच के समझाने के बावजूद सीता माता का अपहरण कर लाया था। दुर्योधन ने महाराज युधिष्ठिर का राज हड़प लिया था। कंस ने भी यही कुकर्म किया था इत्यादि-२। इस श्लोक के दूसरे भाव में कहा है कि हे अर्जुन! ज्ञानवान भी अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही कर्म करता है। यहाँ भाव यह है कि

गीता ग्रन्थ जैसे पहले कहा, वेदों पर आधारित है, वैदिक काल की रचना है। अतः वैदिक काल में ज्ञान शब्द का अर्थ ऋग्वेद से पदार्थ विद्या का ज्ञान, यजुर्वेद से यज्ञादि सम्पूर्ण शुभ कर्मों का ज्ञान एवं सामवेद द्वारा उपासना (पूजा) का ज्ञान, आचरण में लाकर सत्य-असत्य, जड़-चेतन, जीव-प्रकृति एवं ब्रह्म का तत्त्व-बोध (ज्ञान) होना कहा है। पढ़, सुन, रटकर, बोलना, हँसना, नाचना, गाना इत्यादि नहीं कहा है। तो वैदिक परंपरा द्वारा ऐसा ज्ञानवान, साधन विशेष द्वारा अपने स्वभाव का स्वयं निर्माता है। ऐसा ज्ञानवान जो स्वयं जीवात्मा है, वह प्रकृति रचित इस शरीर से स्वयं को अलग अनुभूत किए हुए होता है जिसे **योगशास्त्र सूत्र १/३** में पता जलि ऋषि कहते हैं-**"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** अर्थात् वेद एवं योगविद्या द्वारा योगी अपने चेतन स्वरूप में स्थित हो जाता है और ऐसे स्वरूप में स्थित हुए जीवात्मा का स्वभाव शुद्ध, चेतन, काम, क्रोधादि से परे निर्लेप, ब्रह्मलीन कहा गया है। तो ऐसे ज्ञानवान भी अपने स्वभाव से प्रेरित हुआ, केवल शुभ कर्म ही करता है एवं कर्म में लिप्त भी नहीं होता। श्री गुरुवाणी में एक साकी है कि गुरुनानक देव एवं उनके शिष्य मर्दाना कहीं जा रहे थे। नदी के किनारे पानी में फँसा उन्हें एक बिच्छू दिखाई दिया। गुरु महाराज ने उस बिच्छू को पानी से निकलवाया और मर्दाना को उस बिच्छू के मुँह के आगे पत्ता लगाने को कहा। मर्दाना ने पत्ता लगाया और कहा कि हे महाराज! बिच्छू पत्ते को डंक मारता है। गुरु महाराज ने पत्थर का टुकड़ा लगाने को कहा, बिच्छू ने फिर डंक मारा। गुरुजी ने लकड़ी का टुकड़ा लगाने को कहा, बिच्छू ने पुनः डंक मारा। अन्त में गुरुजी ने मर्दाना को अँगुली लगाने को कहा, तो मर्दाना ने कहा, गुरुजी बिच्छू ने मुझे भी डंक मारा। तब श्री गुरु महाराज ने मर्दाना को ज्ञान दिया कि बिच्छू का स्वभाव ही डंक मारना है। इसी प्रकार सज्जन पुरुषों का स्वभाव, किसी को दुःख न देकर, सुख देना है। तो यह सुख देने वाला स्वभाव, साधना द्वारा प्राप्त होता है। बिच्छू, जो कि कीट-पतंग योनि में है, अतः भोग-योनि होने के कारण स्वभाव बदल नहीं सकता। परन्तु मनुष्य पिछले कर्मों का भोग भोगता है एवं नए कर्म करने का भी अधिकारी है। अतः मनुष्य साधन विशेष द्वारा, अपनी बुद्धि पर पड़े, प्रकृति के विकार, पापयुक्त कर्मों, संस्कारों को, वर्तमान जन्म में किए शुभ कर्मों द्वारा समाप्त करके, और शुभ संस्कार उत्पन्न कर

सकता है। इस विषय में पतंजलि ऋषि **योगशास्त्र सूत्र १/२ "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** के भाव में समझाते हैं कि जब विकारयुक्त मनुष्य का चित्त, साधना द्वारा मलरहित होकर समाधि प्राप्त करता है तब वह अपने एवं परमात्मा के चेतन स्वरूप को जानकर, कर्मबन्धन एवं दुःखों से मुक्त हो जाता है। ऐसे शुभ संस्कारों वाले जीवात्मा को इस श्लोक में ज्ञानवान **"स्वस्याः प्रकृतेः"** अर्थात् ज्ञानवान अपने शुभ संस्कार जनित प्रभाव से शुभ कर्म करता है, ऐसा कहा है। विशेष बात यहाँ यह है कि श्रीकृष्ण को यह बात अच्छी तरह मालूम है कि अर्जुन बचपन से युद्ध विद्या में प्रवीण है; युद्ध के खानदानी संस्कार हैं अतः प्रेरणा मात्र से अपने प्रकृति (स्वभाव) के वश होकर, युद्ध तो इसने करना ही है। तब तीसरी बात श्रीकृष्ण ने यहाँ कह दी **"निग्रहः किम् करिष्यति"** इस अवस्था में हठ का क्या करेगा? अर्थात् साधना रहित बुरे स्वभाव वाला अच्छा कर्म करने का हठ करे और साधनायुक्त महान पुरुष हठपूर्वक बुरा कर्म करने का प्रयत्न करे, तो यह दोनों बातें असंभव है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१३५/३** में कहा कि हम शुद्ध, चेतन जीवात्मा हैं परन्तु मानसिक कर्म संस्कार में अज्ञानवश जीवात्मा शरीर के बन्धन में आता है और प्रकृति के गुणों में फँसा अपने आप को शरीर समझ बैठता है। हमें वैदिक साधना द्वारा अपना स्वरूप जानना चाहिए, जो मानव शरीर पाने का लक्ष्य है। हम शरीर नहीं है। हम प्रकृति में क्यों फँसे? साधनारहित प्राणी तो फँस कर रहता है। मनुष्य चोले में आकर अपने धर्म (कर्त्तव्य-कर्म) को नहीं जाना तो यह पाप् है। हमें वेदों की, ईश्वर की, ऋषि की शरण में जाना चाहिए। यदि मनुष्य इस शरण में नहीं जाएगा तो वह मनुष्य प्रकृति का गुलाम ही रहेगा। अर्थात् इन्द्रियों का गुलाम रहेगा और केवल भौतिकवाद की दौड़ में ही अग्रसर रहेगा। हमें प्रकृति के विरुद्ध जाना है क्योंकि हमारा स्वभाव शुद्ध, चेतन जीवात्मा है। और प्रकृति का स्वभाव तीनों गुणों का विकार है। हमें अपने स्वभाव में, धर्म में, आनन्द में रहने के लिए श्रीकृष्ण महाराज के अनुसार वैदिक मत-धर्म पर चलना पड़ेगा तभी स्वयं, समाज एवं देश का हम भविष्य उज्जवल बना पाएँगें।

श्रीकृष्ण उवाच-

'इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ।।"

(गीता : ३/३४)

(इन्द्रियस्य) इन्द्रिय के **(इन्द्रियस्य)** इन्द्रिय के अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के **(अर्थे)** अर्थ में अर्थात् विषय में **(रागद्वेषौ)** राग और द्वेष **(व्यवस्थितौ)** स्थित **(तयोः)** उन दोनों के **(वशम्)** वश में **(न)** नहीं **(आगच्छेत्)** होवे **(हि)** क्योंकि **(अस्य)** इसके **(तौ)** दोनों **(परिपन्थिनौ)** शुभ मार्ग में विघ्न कारक शत्रु हैं।

अर्थ : इन्द्रिय के अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के अर्थ में अर्थात् विषय में जो राग और द्वेष स्थित हैं उन दोनों के वश में नहीं होवे क्योंकि इसके वे दोनों ही शुभ मार्ग में विघ्न कारक शत्रु हैं।

भावार्थ : प्रस्तुत श्लोक में, इन्द्रियों में स्थित राग-द्वेष को त्यागने की बात कही है। अज्ञान के कारण मनुष्य राग-द्वेष में फँस जाता है। राग का अर्थ है कि जिस इन्द्रिय से एक बार विषय सुख प्राप्त हुआ, मन उसी सुख को बार-बार भोगने का प्रयत्न करता है। जैसे एक धनवान और अधिक धन एकत्र करने की इच्छा करता है क्योंकि उसे धन प्राप्ति का सुख मिल चुका है। एक शराब पीने वाला बार-बार शराब पीने का सुख प्राप्त करना चाहता है। द्वेष का अर्थ है कि जिस प्राणी अथवा वस्तु से एक बार दुःख प्राप्त हुआ तो उस वस्तु अथवा प्राणी को जब कभी देखता है तो दुःख को प्राप्त होता है। यहाँ यह कहना पड़ेगा कि पढ़-सुन-रट के कोई व्याख्यान दे कि अपनी इन्द्रियों को वश में कर लो और किसी से राग-द्वेष मत करो तो यह सब ढकोसला ही होगा। गुणों को पाने के लिए वेदों में यज्ञ, योगाभ्यास, देवपूजा, संगतिकरण, दान आदि अनेक शुभ कर्म करने के लिए कहे हैं जिनका फल पुण्य एवं इन्द्रिय संयम इत्यादि होता है। **सामवेद मन्त्र ७७०** में कहा कि यज्ञ करने से मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होकर सदा वश में रहती है। **ऋग्वेद मन्त्र ६/३२/३** का भाव है कि जिस तरह हंस अपनी जाति के ही हंसों से मिलकर आनन्द प्राप्त करता है, उसी प्रकार मनुष्य शरीर में रहने वाला यह जीवात्मा, अपनी इन्द्रियों द्वारा यज्ञ आदि शुभ कर्म करके, आनन्द स्वरूप परमात्मा को प्राप्त करें। सब वेद-शास्त्रादि धर्म-ग्रन्थ जीवात्मा के स्वरूप को शुद्ध, चेतन, आनन्द

स्वरूप, अविनाशी आदि कहते हैं। ईश्वर के अनन्त गुणों में कुछ गुण शुद्ध, चेतन, अविनाशी एवं आनन्दस्वरूप आदि हैं। अतः मनुष्य अपने गुण वाले परमेश्वर को प्राप्त करने की इच्छा करके ही सुखी होगा। प्रकृति के रज, तम एवं सतोगुण जीवात्मा से नहीं मिलते। परमेश्वर द्वारा जीवात्मा को दिया यह शरीर प्रकृति के गुणों से बना है। अतः स्वभाविक ही मन, बुद्धि एवं इन्द्रियों में राग-द्वेष, काम-क्रोध, अहंकार आदि अवगुण हैं। परन्तु यह प्रकृति के अवगुण जीवात्मा अथवा परमात्मा में नहीं हैं। यहाँ श्री कृष्ण महाराज यह बात समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! आँख, नाक, कान, जिह्वा एवं त्वचा यह प्रकृति से रची इन्द्रियाँ हैं और इन इन्द्रियों के देखना, सूँघना, सुनना, चखना एवं स्पर्श यह पाँच भोगने योग्य विषय हैं। प्रत्येक इन्द्रिय में राग और द्वेष क्लेश के रूप में स्थित हैं। जैसे आँख ने एक सुन्दर वस्तु सोना, चाँदी, फूल अथवा रूप आदि देखा तो उसी को बार-बार देखने की इच्छा होती है। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के विषय हैं जिनमें ऊपर कहा राग और द्वेष स्थित है। यह प्रकृति-जन्य इन्द्रियों के विषयों का स्वरूप, जीवात्मा के स्वरूप से भिन्न हैं। अतः श्री कृष्ण महाराज कहते हैं कि **"तयोः वशम् न आगच्छेत्"** अर्थात् इन्द्रियों के विषय, राग-द्वेष जो हैं, उनमें मनुष्य न फँसे क्योंकि यह विषय मनुष्य के शत्रु हैं। अतः परम सुख प्राप्ति में बाधक हैं। इनमें फँसकर मनुष्य यज्ञ, पूजा, वेदाध्ययन, योगाभ्यास एवं गृहस्थ के शुभ कर्म नहीं कर पाता और इस प्रकार नरकगामी हो जाता है। वास्तव में अर्जुन भी अपने पितामह आदि स्वसम्बन्धियों को युद्ध में खड़ा देखकर राग-द्वेष के वश में है। अर्जुन नहीं चाहता कि इनकी सूरतें-देह, युद्ध में समाप्त हो जाएँ, यह मृत्यु को प्राप्त हो जाएँ और पुनः इनके दर्शन अथवा इनसे बातें करने का सुख प्राप्त न हो सके। अतः रिश्ते नातों से तो उसका राग है और युद्ध से अर्जुन का द्वेष है। क्योंकि युद्ध शब्द सुनकर अर्जुन को दुःख उत्पन्न हो रहा है क्योंकि युद्ध अर्जुन से उसके सम्बन्धियों को छीनना चाहता है। श्रीकृष्ण का यहाँ उपदेश है कि राग-द्वेष में फँसा प्राणी कर्त्तव्य-कर्म का त्याग करके पाप एवं पाप का फल दुःख को प्राप्त करता है। अतः श्री कृष्ण कह रहे हैं कि यह राग-द्वेष **"तौ परिपन्थिनौ"** दोनों ही सत्य मार्ग में बाधक हैं। विपरीत में कौरव लोभवश अर्जुन, युधिष्ठिर आदि सबसे द्वेष कर रहे हैं एवं युद्ध से प्रीति कर रहे हैं

जो अधर्म है। क्योंकि मूल में महाभारत का युद्ध धर्म-युद्ध है जिसका वर्णन पीछे के लेखों में विस्तार से है। श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्म-युद्ध की शिक्षा दे रहे हैं। **अथर्ववेद मंत्र २/१६/१** में प्रार्थना है कि हे प्रभु! जो हमसे द्वेष करे अथवा हम किसी से द्वेष करें तो वह हमारी द्वेष भावना नष्ट हो जाए और यदि कोई व्यक्ति समाज का विरोध करके पाप करता है तो हे प्रभु! उसे आप दण्ड दें। और **अथर्ववेद मन्त्र २/१६/५** के अनुसार वह दण्ड क्षत्रिय के द्वारा असुर वृत्ति वालों को दिया जाता है। अपितु **अथर्ववेद काण्ड-२ सूक्त २० से २४** में राष्ट्र के राजा को द्वेष एवं बुराई को समाप्त करने के लिए दण्ड देने का अधिकार दिया है। वेदों में इसी ज्ञान के आधार पर श्रीकृष्ण अर्जुन से अधर्मयुक्त कौरवों के राग-द्वेष को धर्मयुद्ध द्वारा नष्ट करने का आह्वान कर रहें हैं क्योंकि **अथर्ववेद ३/६/२** में भी कहा है कि ईर्ष्या एवं कुविचार मनुष्य की उन्नति में बाधक हैं और वह दूसरों के विनाश में सहायक हैं। श्रीकृष्ण महाराज का ज्ञान अनेक वेदमन्त्रों पर आधारित, **अथर्ववेद मंत्र ३/३०/३** पर भी केन्द्रित हुआ लगता है जिसमें कहा कि हम अपने भाई-बहन, वृद्धों, सम्बन्धियों आदि से द्वेष न करें। शुभ कर्म करने वाले होकर कल्याण वाली मधुर वाणी एवं भद्रता से व्यवहार करें। परन्तु दुर्योधन और उसके साथी तो भाई-बहन, सगे सम्बन्धी, ऋषि-मुनि आदि से द्वेष कर बैठे थे जिसके कारण युद्ध की प्रेरणा आवश्यक हो गई थी। क्योंकि **अथर्ववेद मन्त्र ३/३०/४** के अनुसार भी देव-वृत्ति के पुरुष परस्पर विरोधाभाव वाले नहीं होते और आपस में द्वेष नहीं करते। ज्ञानवान पुरुष के दोष समाप्त हो जाते हैं परन्तु दुर्योधन आदि का राग-द्वेष अर्थात् पाण्डवों से ईर्ष्या-द्वेष एवं युद्ध से प्रेम (राग) यह अधर्मयुक्त था और इसको समाप्त करने के लिए ऊपर कहे सूक्तों में राजा द्वारा धर्म युद्ध लड़कर दण्ड देना अनिवार्य हो गया था। परन्तु सगे-सम्बन्धियों से राग एवं धर्म युद्ध के प्रति द्वेष-भावना अर्थात् क्षत्रिय द्वारा धर्मयुद्ध न लड़ने की इच्छा, यह भी पाप कर्म था। अतः अर्जुन को श्री कृष्ण कह रहे हैं कि राग-द्वेष कल्याणकारी नहीं होते। तू धर्मयुद्ध कर।

श्रीकृष्ण उवाच-

'श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।"

(गीता : ३/३५)

(स्वनुष्ठितात्) अच्छी प्रकार अनुष्ठित किए **(परधर्मात्)** दूसरे के धर्म से **(विगुणः)** गुण रहित **(स्वधर्मः)** अपना धर्म **(श्रेयान्)** श्रेष्ठ है, **(स्वधर्मे)** अपने धर्म में **(निधनम्)** मरना **(श्रेयः)** श्रेयकर है **(परधर्मः)** दूसरों का धर्म **(भयावहः)** भय देने वाला है।

अर्थ : अच्छी प्रकार अनुष्ठित किए दूसरे के धर्म से गुण रहित अपना धर्म श्रेष्ठ है, अपने धर्म में मरना श्रेयकर है, दूसरों का धर्म भय देने वाला है।

भावार्थ : अर्जुन का श्रत्रिय धर्म-युद्ध करना है जिसे श्रीकृष्ण इस श्लोक में **'स्वधर्मः श्रेयान्'** कह रहे हैं और क्षत्रिय का युद्ध में लड़ते-लड़ते मर जाना भी उत्तम एवं श्रेय युक्त कर्म कहा है जिसे **सामवेद मन्त्र १४०६** में मोक्ष प्राप्ति का साधन कहा है। परन्तु क्षत्रिय होकर युद्ध न करना तो ब्राह्मण एवं वैश्य आदि जैसा अहिंसक कर्म है। वेदों में तथा **(यजुर्वेद मन्त्र ३१/११)** के अनुसार, जन्मानुसार जाति प्रथा नहीं है अपितु कर्मानुसार ही जाति-धर्म का निर्माण किया गया है। महाभारत में एक अलंकारिक कथा है कि जब भीम को अजगर ने लपेट लिया था तब युधिष्ठिर ने कहा कि हे अजगर! आप कौन हैं? क्योंकि मेरे भाई भीम में इतना बल है कि कोई अजगर उसे पकड़ नहीं सकता। उत्तर में अजगर ने कहा कि मैं यक्ष हूँ। मेरे प्रश्नों का उत्तर दोगे तो तुम्हारे भाई को छोड़ूँगा। यक्ष ने प्रश्न किया कि यदि ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुआ ब्राह्मण पुत्र यदि माँस-मदिरा आदि का सेवन करता है, जुआ खेलता है, अधर्मयुक्त विषय-विकार करता है तो क्या वह ब्राह्मण कहलाएगा? और यदि शूद्र के घर में उत्पन्न हुआ बालक वेदाध्ययन, योगाभ्यास, इन्द्रिय-संयम एवं केवल शुभ कर्म करता है तो क्या वह शूद्र कहलाएगा? तब युधिष्ठिर ने कहा कि ब्राह्मण पुत्र शूद्र वर्ण का हो जाएगा और शूद्र पुत्र ब्राह्मण वर्ण का हो जाएगा। ब्राह्मण वर्ग वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास एवं सब वर्णों को विद्या दान करने के कारण उत्तम से उत्तम गुणों की खान में आता है। वेदज्ञ ब्राह्मण आचार्य द्रोण ने ही कौरव-पाण्डव को शस्त्र-विद्या प्रदान की

थी। **मनुस्मृति श्लोक १०/६५** में कहा कि जो शूद्र-कुल में जन्म लेकर ब्राह्मण के समान गुणवाला हो तो वह ब्राह्मण-कुल में गिना जाए। यदि वह शूद्र क्षत्रिय के समान गुणवाला हो तो क्षत्रिय कुल में तथा वैश्य के समान गुणवाला हो तो वैश्य कुल में गिना जाए। मनु रचित मनुस्मृति के अनुसार ब्राह्मण आदि वर्ण-व्यवस्था का आधार मनुष्य का कर्म है, जन्म नहीं है। परन्तु मनुस्मृति में कई श्लोक झूठे डाल दिए गए हैं जिससे आज देश को भ्रांति हो रही है। अतः अर्जुन जन्म एवं कर्म, दोनों से ही क्षत्रिय वर्ण में था। **यजुर्वेद मंत्र ११/१४, १०/३३** आदि अनेक मंत्रों में क्षत्रिय राजा को शांति-स्थापना के लिए, दुष्टों को दण्ड देने के लिए अपनी सेना सहित युक्ति और बल द्वारा शत्रुओं के नाश करने की आज्ञा दी है। यह क्षत्रिय का स्वधर्म है। क्षत्रिय की प्रकृति है अर्थात् क्षत्रिय का स्वभाव है कि वह धर्म-युद्ध करे। ब्राह्मण, वैश्य आदि का स्वधर्म, इस धर्म (कर्त्तव्य-कर्म) से भिन्न है। वैशेषिक शास्त्र **के ऋषि कणाद ने सूत्र १/२** में भी यही कहा है कि वह कर्म जिसके करने से हमें जीवित रहते इस लोक का सुख और मृत्यु के पश्चात परलोक का सुख मिले, उन किए हुए शुभ कर्मों को धर्म कहते हैं। अतः धर्म का यहाँ भी अर्थ कर्त्तव्य-कर्म है। परन्तु स्वसंबंधियों आदि को देखकर अर्जुन अपने स्वधर्म अर्थात् क्षत्रिय धर्म अर्थात् न्याय स्थापना के लिए धर्म युद्ध करने वाला कर्म त्याग-कर, भिक्षा आदि माँग कर, जीवित रहने तथा अनेक कर्मों की बात पिछले श्लोकों में कर रहा है जो कि क्षत्रिय धर्म के विरुद्ध हैं। अतः श्रीकृष्ण यहाँ से उपदेश दे रहे हैं कि **"स्वधर्मे निधनम् श्रेयः"** स्वधर्म अर्थात् अपने क्षत्रिय धर्म में युद्ध करते-करते मर जाना भी वेदों ने श्रेष्ठ कर्म अर्थात् पुण्य कहा है। और अविद्या, मोह, ममता, भ्रम आदि में फँसकर अपने क्षत्रिय धर्म को छोड़-कर उच्चकोटि के ब्राह्मण धर्म (संन्यास, भिक्षा माँग कर खाना, अहिंसा आदि) की बात करना भय देने वाला है। अर्थात् इस प्रकार तू नरकगामी हो जाएगा, तेरी यश-कीर्ति सब समाप्त हो जाएगी, योद्धा लोग तेरी निन्दा करेंगें और कृष्ण महाराज ने यहाँ तक कह दिया कि तू नंपुसकों जैसी बातें करता है और हे अर्जुन! तू पण्डित है नहीं पर पण्डितों (वेदज्ञ ब्राह्मण) जैसी बातें करता है परन्तु पण्डित जीवन-मृत्यु पर शोक नहीं करते और तू तो अभी कोई मरा भी नहीं और शोक कर रहा है। अतः तेरा धर्म क्षत्रिय है, ब्राह्मण नहीं। चाहे

तेरा इस समय क्षत्रिय धर्म, ब्राह्मणादि धर्म के गुणों से रहित ही है परन्तु हे अर्जुन! यह तेरा गुणरहित क्षत्रिय धर्म भी तेरा अपना धर्म, कर्त्तव्य-कर्म इस समय अन्य सभी धर्मों से उत्तम धर्म है। यह बात हमें निश्चित कर लेनी चाहिए कि भगवद्गीता काल में एक आर्य-धर्म था। वेदानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य एवं शूद्र वर्ग जन्मानुसार नहीं अपितु कर्मानुसार निश्चित होता था। उस समय आज के मज़हब नहीं थे। अतः स्वधर्म का अर्थ वहाँ हिन्दु, मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, पारसी, जैन अथवा आज की तरह अलग-अलग गुरुओं द्वारा अलग-अलग मन्त्र और अलग-अलग कथाएँ आदि प्रचलित नहीं थी। श्रीकृष्ण वेद एवं योग विद्या के मालिक थे एवं पाण्डवों सहित अर्जुन ने भी जीवन में वेदों की शिक्षा, यज्ञ एवं युद्ध परम्परा का ही ज्ञान प्राप्त किया था। अतः स्वधर्म का भाव यहाँ क्षत्रिय प्रवृति से है जिसे अर्जुन युद्ध के समय छोड़ना चाहता था। दूसरी बात यह है कि चाहे पहले चारों वर्ग अपने-अपने कार्य में प्रवीण थे-खेती, नेतागिरी, वेदाध्ययन, नौकरी आदि अनेक व्यवसाय करते थे परन्तु मूल रूप से सभी आध्यात्मिकवाद में भी प्रवीण थे। तभी प्रश्न तो यहाँ युद्ध का है परन्तु सम्पूर्ण गीता में संन्यास, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि अनेक वर्गों का कर्त्तव्य-कर्म, यज्ञ, जीव, ब्रह्म, प्रकृति, वेदाध्ययन इत्यादि का ज्ञान दिया गया है। जिसे सुनकर ही अर्जुन ने युद्ध किया है। अतः किसी भी धर्म की सत्य स्थापना के लिए ऊपर कहा सम्पूर्ण अध्यात्मवाद का ज्ञान आवश्यक है तभी संशय समाप्त होते हैं एवं मनुष्य का परम/अन्तिम लक्ष्य ब्रह्म प्राप्ति है, वह पूर्ण होता है। अतः हम गीता ग्रन्थ से यह विशेष ज्ञान लें कि आज हम देश में भिन्न-भिन्न धर्म के प्राणी अपने-अपने क्षेत्र में जो भी कर्म कर रहे हैं वह सब जीविका उपार्जन एवं धर्म स्थापना के लिए अनिवार्य हैं परन्तु उन सब कर्मों को करते हुए मूल रूप से हम आध्यात्मिकवाद की सम्पूर्ण विद्या को प्राप्त करें तभी मानव जाति का कल्याण होगा। परन्तु युद्ध के समय क्षत्रिय का युद्ध से भागना, भय देने वाला एवं नरकगामी कर्म है, और क्षत्रिय धर्म ब्राह्मण धर्म-कर्म से निम्न कोटि में तभी आता है जब क्षत्रिय अपना धर्म युद्ध रूपी कर्म न निभाए। यदि क्षत्रिय अपना धर्मयुद्ध कर्म निभाता है तो उसका यह कर्म ब्राह्मण धर्म के उत्तम कर्म से भी यहाँ श्रेयकर कर्म कह दिया है क्योंकि ब्राह्मण, वैश्य आदि मनुष्य जब तक क्षत्रिय धर्म द्वारा रक्षित नहीं होंगे

तो वह अपने पुण्यवान कर्म कैसे कर सकते हैं? अर्थात् ब्राह्मण आदि वर्ग को यज्ञादि पुण्यवान कर्म कराने के लिए क्षत्रिय राजा को दुष्टों को दण्ड देना एवं विद्वानों को सम्मान देना कहा है जो कि इस श्लोक में अति उत्तम कर्म कहा है। इस प्रकार जब तक क्षत्रिय जनता की रक्षा नहीं करेंगे तब तक देश में कोई भी कर्म करने में समर्थ नहीं हो सकेगा। अतः देश में शांति स्थापना के लिए दुष्टों-अपराधियों को दण्ड देना आवश्यक है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुषः ।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ।।"

(गीता : ३/३६)

(वार्ष्णेय) हे कृष्ण **(अथ)** और **(अयम्)** यह **(पूरुषः)** पुरुष **(बलात्)** बलपूर्वक **(नियोजितः)** लगाए हुए **(इव)** के समान **(अनिच्छन्)** इच्छा न करता हुआ **(अपि)** भी **(केन)** किस के द्वारा **(प्रयुक्तः)** प्रेरित होकर **(पापम्)** पाप को **(चरति)** करता है।

अर्थ : हे कृष्ण और यह पुरुष बलपूर्वक लगाए हुए के समान इच्छा न करता हुआ भी किस के द्वारा प्रेरित होकर पाप को करता है।

भावार्थ : अर्जुन का यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर है। जीवात्मा का स्वरूप तो शुद्ध चेतन एवं अविनाशी है। **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १४४** में इन्द्रियों पर संयम एवं ब्रह्मचर्य धारण करने पर बल दिया है और कहा है **'एष हि न मर्त्यो भवति',** इस ब्रह्मचर्य धारण करने से ही मानव मृत्यु रूपी क्लेश से छूट जाता है। वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा ही संयम संभव होता है परन्तु आज प्रायः कई महात्मा कह देते हैं, संयम से मन शुद्ध करके सत्संग में आओ तो तर जाआगे परन्तु ऐसी कोरी बातों में कुछ नहीं रखा। हमें यज्ञ एवं योग बल द्वारा ही ब्रह्मचर्य धारण करना होगा क्योंकि यह सनातन परम्परा है जिसका वर्णन चारों वेदों में तथा ऊपर कहे ऋग्वेद के दसवें मण्डल में है। इसी मण्डल में कहा कि ब्रह्मचर्य मनुष्य को कामादि शत्रुओं से बचाता है, रोग नाशक है एवं ईश्वर प्राप्ति कराता है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१२४/२** में स्पष्ट ही कहा है कि यह जीव सदा मृत्यु से भयभीत रहता है और कोई गुप्त स्थान

में छिपकर, मृत्यु से बचना चाहता है। परन्तु प्रकृति रचित भोग पदार्थों में फँसकर यह जीव जन्म-मृत्यु के बन्धन में फँस जाता है और जब तक इसे परमात्मा की प्राप्ति नहीं होती तब तक यह जीव अपने शुद्ध, चेतन और अविनाशी स्वरूप को नहीं जान पाता और इस प्रकार जन्म-मृत्यु के बन्धन से छूटकर अमरता को प्राप्त नहीं कर पाता। इस शरीर में इन्द्रियाँ एवं मन हैं। अतः विषय और मन की वासनाएँ उत्पन्न होती हैं। फिर शांन्ति कहाँ स्थापित होगी? जैसे एक शक्तिशाली घोड़ा विषय-भोग में लीन होकर विषय भोगता है, उसी प्रकार जब यह शक्तिशाली जीवात्मा विषय भोग में अन्धी हो जाती है तब चित्त में स्थिर वासनाएँ, इस जीवात्मा को पूर्णतः अपने बन्धन में फँसा लेती हैं परन्तु प्रस्तुत श्लोक में यह अति विचित्र एवं गहन प्रश्न है कि आखिरकार कौन इस जीव को जबरदस्ती पाप-कर्म करने को बाध्य करता है। यदि कहो कि परमात्मा ही हमसे सब कर्म कराता है, परमात्मा ही कर्त्ता-धर्ता है, परमात्मा की आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिल सकता तो यह सब बातें, वेद-विरुद्ध होने के कारण असत्य हैं। यदि परमात्मा जीव को पाप-कर्म करने के लिए बाध्य करता है तब जीवात्मा का क्या कसूर? तब तो परमात्मा द्वारा जीव को पाप का फल दुःख मिलना ही नहीं चाहिए क्योंकि पाप तो परमात्मा ने करवाया, जीवात्मा ने तो परमात्मा की केवल आज्ञा मानी है। वस्तुतः चारों वेदों में एवं **यजुर्वेद मन्त्र ७/४८** में स्पष्ट कहा है कि जीव इन्द्रियों द्वारा कर्म करता है और कर्म करने के लिए जीव स्वतन्त्र है, चाहे पाप कर्म करे, चाहे पुण्य-कर्म करे परन्तु कर्म का फल ईश्वर देता है। यदि कोई कहे कि पाप-पुण्य तो शरीर करता है, खूब पाप करो, जीवात्मा को पाप लगते ही नहीं हैं, तब तो कोई किसी की भी हत्या तलवार से कर दे या बन्दूक से कर दे, तो इस प्रकार अपराध तो तलवार ने किया और बन्दूक ने किया, मनुष्य ने तो कुछ नहीं किया। परन्तु वास्तव में यह तलवार और बन्दूक की बात असत्य है क्योंकि जीवात्मा ने अपने हाथ, तलवार एवं बन्दूक की सहायता लेकर पाप किया है और यह शरीर द्वारा किया हुआ पाप, जीवात्मा को ही भोगना पड़ता है, तभी जीवात्मा जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसती है। इस विषय में यह कहावत भी प्रचलित है–**'Man proposes, God dis-**

poses' अतः कर्म करने के लिए जीव स्वतन्त्र है परन्तु फल के लिए परतन्त्र है। और ईश्वर कण-कण में सबको कर्म करते हुए देख रहा है। अतः हम वेदों में कहे केवल पुण्यवान कर्म ही करें। **ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १२६** में उपदेश है कि हम वेद के जानने वाले विद्वानों से विद्या प्राप्त करके, पाप कर्म से बचें, सदाचारी बनें एवं द्वेष करने वालों से भी बचें। इसी सूक्त के आठवें मन्त्र का भाव है कि वेद के ज्ञाता, विद्वान्, विद्या द्वारा जीव को पाप मुक्त करके, मोक्ष देते हैं, यदि साधक पूर्णतः वैराग्यवान हो। और वह वैराग्य विद्वान् की सेवा, कृपा द्वारा ईश्वर की स्तुति एवं यज्ञादि शुभ-कर्मों द्वारा प्राप्त होता है। क्योंकि **ऋग्वेद मन्त्र १०/१४२/६** में भी कहा कि ईश्वर वेदमन्त्रों से स्तुति करने वालों को अपना आश्रय देता है एवं स्तुति द्वारा साधक के अन्दर पाप नष्ट करने वाला तेज उत्पन्न होता है। यह प्रमाणिक मन्त्र कैसे मिथ्या हो सकते हैं? अगले श्लोकों में इस प्रश्न का उत्तर है कि कौन जबरदस्ती जीव को पाप करने के लिए बाध्य करता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः ।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ।।"

(गीता : ३/३७)

(एषः) यह **(कामः)** काम **(रजोगुणसमुद्भवः)** रजो गुण से उत्पन्न हुआ है **(एषः)** यह **(क्रोधः)** क्रोध भी है **(महाशनः)** महान भोजन है जिसका अर्थात् इस काम की भूख कभी समाप्त नहीं होती **(महापाप्मा)** बड़ा पापी है **(इह)** यहाँ इस लोक में **(एनम्)** इस काम को तू **(वैरिणम्)** वैरी **(विद्धि)** जान।

अर्थ : यह काम रजो गुण से उत्पन्न हुआ है यह ही क्रोध है। महान भोजन है इस काम की भूख कभी समाप्त नहीं होती, बड़ा पापी है यहाँ इस लोक में इस काम को तू वैरी जान। भाव है कि कामना से ही काम वासना उत्पन्न होती है। फलस्वरूप काम एवं काम वासना पूर्ण न होने पर क्रोधवश प्राणी अनेक पाप कर्म करता है। पुनः काम वासना पूर्ण होने पर अधिक से अधिक काम वासनाएँ उत्पन्न होती हैं और काम ही प्राणी का नाश कर देता है। अतः काम इस संसार में प्राणी का वैरी है।

भावार्थ : पिछले श्लोक में अर्जुन ने श्रीकृष्ण महाराज से पूछा है कि यह जीवात्मा किससे प्रेरणा पाकर न चाहता हुआ भी पाप कर्म करता है। इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज का उत्तर है कि प्रकृति के रज, तम एवं सत्त्व यह तीन गुण हैं जिनसे संसार की रचना होती है। इस रज गुण से काम (कामना) उत्पन्न होता है जो जीवात्मा को काम वासना के लिए मोहित करता है। कपिल मुनि ने **सांख्य शास्त्र सूत्र १/२६** में समझाया है कि प्रकृति से महत् (बुद्धि) तत्त्व बनता है। और महत्त से अहंकार, अहंकार से पाँच तन मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्म भूत बनते हैं। इन सूक्ष्म भूतों से, पृथिवी आदि पाँच स्थूल भूत और इन पाँच महाभूतों से पृथिवी आदि तीनों लोक एवं शरीर आदि की रचना होती है। इस बुद्धि से उत्पन्न अहंकार से ही मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ बनती है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१२६/४** में कहा-**"अग्रे कामः मनसः अधि"** अर्थात् जैसा ऊपर कहा कि महत्त् तत्त्व से जो मन की रचना हुई, उस मन के अन्दर सृष्टि के आरम्भ में कामना उत्पन्न हुई जो कि इस मन्त्र में कहा कि वह जीवात्मा का **'प्रथमं रेतः आसीत्'** पहला बीज शक्ति के रूप में प्रकट हुआ है। जब मनुष्य में कामना के रूप में काम अर्थात् भोग विलास की इच्छा जाग्रत होती है तब उस काम को शान्त करना सर्वदा असम्भव सा होता है। और कहा-**'बन्धुम'** अर्थात् यह जीवात्मा को विषयों में बाँधने वाला होता है। जीव एवं प्रकृति रचित शरीर के विषय में ज्ञान देते हुए, इसी बात को गीता **श्लोक १३/६** में **'इच्छा'** कहा है। अर्थात् जीवात्मा में कामना (इच्छा) स्वाभाविक है। परन्तु वेदों में और कठोपनिषद् में **'श्रेयः च प्रेयः'** अर्थात् अच्छी और बुरी दो प्रकार की कामना कही हैं और कहा है कि जीव को केवल शुभ कर्म करने की ही कामना करनी चाहिए। अतः ऊपर कहे ऋग्वेद के मन्त्र में आगे कहा कि **'मनीषा'** (वेदों का मनन करने वाली बुद्धि) **"प्रतीष्य हृदि निः अविन्दन्"** अर्थात् वेदों के मनन द्वारा शुद्ध हुई बुद्धि से निश्चय करके जीव वैराग्य को प्राप्त होते हैं। मन्त्र का भाव स्पष्ट है कि जीवात्मा प्रकृति रचित बुद्धि, मन एवं इन्द्रियों की सहायता के बिना न चल सकता है, न देख सकता है, न सुन सकता है और न ही वेद आदि ग्रन्थों का अध्ययन ही कर सकता है। अतः प्राणी वेदाध्ययन यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि द्वारा ज्ञान प्राप्त करके बुद्धि-मन को शुद्ध करे और काम पर विजय प्राप्त

करे। मन्त्र का दूसरा भाव भी **'मनीषा'** शब्द से स्पष्ट है कि बुद्धि द्वारा पृथिवी रचना के समय से केवल वेद-विद्या का ही मनन हुआ है और तभी बुद्धि शुद्ध होती है। यही कारण है कि सम्पूर्ण गीता में श्री कृष्ण महाराज ने केवल वेद-विद्या का ही उपदेश किया है और वैसे भी उस समय केवल वेद-विद्या ही आचरण में थी और वर्तमान के धार्मिक ग्रन्थ उस समय तक लिखे नहीं गए थे। अतः आज हम भारतवासियों को पुनः सनातन वेद-विद्या की शरण अति आवश्यक है, जिसके मनन से ही हमें शुद्ध बुद्धि प्राप्त होगी और भ्रष्टाचार इत्यादि बुराइयों का पूर्णतः नाश हो सकेगा। पुनः इस श्लोक का विचार करने पर ज्ञात होता है कि रजोगुण जो क्रियाशील है, उससे उत्पन्न जो कामना एवं काम वासना है, उसमें जीव भौतिक ऐश्वर्य चाहने वाला होता है और यदि ऐश्वर्य की कामना पूर्ण न हो तो क्रोध उत्पन्न होता है। और पिछले **श्लोक २/६२-६३** में कहा कि तब मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है और मनुष्य नष्ट हो जाता है। **मनुस्मृति श्लोक २/६४** में इस कामना के बारे में कहा कि यदि कामना पूर्ण होती भी है तो जैसे अग्नि में ईंधन और घी डालने से अग्नि और अधिक तेजी से बढ़ती जाती है वैसे ही काम कभी भी शान्त नहीं होता। अगले ही श्लोक में मनुस्मृति ने कहा कि जिस दुष्ट पुरुष की इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं वह वेदाध्ययन, त्याग, यज्ञ, नियम और तप जैसे शुभ कार्य कभी नहीं कर सकता। ऐसे पुरुषों को ही इस श्लोक में **'विप्रदुष्टभावस्य'** अर्थात् उसको विप्र दुष्ट कहा है। सम्भवतः ऐसे ही विप्रदुष्ट अनेक सन्त आज वेदाध्ययन, यज्ञ एवं तप आदि शुभ कर्मों को स्वयं भी नहीं करते एवं जनता को भी कठिन कह-कह कर इस विद्या से विमुख कर रहे हैं। फलस्वरूप ही आज प्राणी की कामनाएँ चरम सीमा पर हैं और काम वासना वृत्ति के आधीन प्राणी आज अबोध कन्याओं, नारियों इत्यादि की इज्जत से खिलवाड़ कर रहा है। और उन कामनाओं को पूर्ण करने के लिए क्रोध एवं मोह में पड़कर प्राणी भ्रष्टाचार एवं पापयुक्त कर्मों का सहारा ले रहा है। यह आने वाली पीढ़ी एवं देश को नष्ट प्रायः करने का संकेत है। अतः ऊपर कहे ऋग्वेद के मन्त्र का उपदेश ग्रहण करने योग्य है कि हम बुद्धि को वेदों के मनन एवं यज्ञादि शुभ कर्मों द्वारा शुद्ध करके बुरी कामनाओं पर विजय प्राप्त करें। इस श्लोक में आगे श्री कृष्ण महाराज का अभिप्रायः है कि यह

कामना **'महापाप्मा'** अर्थात् महा पापी है और हे अर्जुन! तू इसे जीव का 'वैरिणम् विद्धि' सबसे बड़ा वैरी समझ ले। अर्थात् यदि वेद-विरुद्ध पाप-कर्म करने की बुरी कामना समाप्त हो जाए तो परमानन्द की प्राप्ति निश्चित समझो। तभी ऊपर ऋग्वेद मन्त्र ने ऐसी पाप युक्त कामना के नाश को वैराग्य कहा है। अतः घर बार छोड़ना, गृहस्थ के लिए शुभ कर्म करना छोड़ना, जटाएँ बढ़ा कर या रट-रटाकर प्रवचन आदि करना और जनता को ठगना, यह सब धर्म के नाम पर ठगी है। वेद एवं गीता स्पष्ट करती है कि वेदाध्ययन, यज्ञ एवं तप द्वारा बुद्धि को शुद्ध करने पर वासनाएँ-पाप कर्म स्वतः ही नष्ट हो जाते हैं और यही **योगशास्त्र सूत्र १/१६** में कहा पर-वैराग्य है। वेद एवं गीता परिवार का त्याग एवं परिवार, समाज एवं देश के प्रति कर्त्तव्य कर्मों के त्याग की बात नहीं करते हैं। केवल पाप युक्त कामना-इच्छाओं की वेदाध्ययन एवं साधना के द्वारा त्याग की बात करते हैं। अतः आजकल के कई सन्तों का यह कहना वेद-विरुद्ध है कि माँ-बाप का जीवन क्षणिक है और इन सबंधों का कोई भरोसा नहीं है और ऐसे सन्त कहते हैं कि संसार सम्बन्धी कामना से जीवन नष्ट हो जाएगा। जबकि ऐसे सन्त खुद गृहस्थ से जन्म लेकर आए हैं और गृहस्थियों से ही पैसा ऐंठ कर संसारी सुखों में लीन रहते हैं। **तैत्तिरियोपनिषद् १/११/२** भी कहता है-**'यानि अनवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि नो इतराणि'** अर्थात् केवल वेदानुकूल शुभ कर्मों को करने की इच्छा करो और वेद-विरुद्ध पाप-कर्मों को करने वाली इच्छा का त्याग करो। इस संबंध में **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** भी प्रमाण देता है कि जीवात्मा गृहस्थादिक वर्णों के वेदानुकूल शुभ कर्म करता हुआ ही कर्मों से निर्लेप होकर मोक्ष सुख प्राप्त करता है। अतः प्रस्तुत श्लोक का भाव भी यही है कि हम बुरी कामनाओं का नाश करें क्योंकि बुरी कामना ही मनुष्य की वैरी है और काम वासना तथा पाप कर्मों में लिप्त कर देती हैं। यहाँ हम प्रायः आज के उन वेद-विरुद्ध, केवल, पढ़, सुन, रटकर भाषण देने वाले महात्माओं पर ध्यान न दें जो घर-बार और धन इत्यादि को मिथ्या कहते हैं, सम्पूर्ण कामनाओं के नाश की बात करते हैं अपितु हम ऊपर कहे वेद मन्त्र में वेद-विद्या, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि गृहस्थ में ही करते हुए, शुद्ध-बुद्धि उत्पन्न करें और यह शुद्ध-बुद्धि ही हमें इस भवसागर से पार लगाएगी।

श्रीकृष्ण उवाच-

'धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ।।"

(गीता : ३/३८)

(यथा) जिस प्रकार **(वह्निः)** अग्नि **(धूमेन)** धुएँ के द्वारा **(च)** और **(आदर्शः)** दर्पण **(मलेन)** मल के द्वारा **(आव्रियते)** ढक जाता है, और भी **(यथा)** जैसे **(उल्बेन)** जेर से **(गर्भः)** गर्भ **(आवृतः)** चारों ओर से ढका रहता है **(तथा)** उसी प्रकार **(तेन)** उस बुरी कामना से **(इदम्)** यह ज्ञान **(आवृतम्)** छिपा रहता है।

अर्थ : जिस प्रकार अग्नि धुएँ के द्वारा और दर्पण मल के द्वारा ढक जाता है, और भी जैसे जेर से गर्भ चारों ओर से ढका रहता है उसी प्रकार उस बुरी कामना से यह ज्ञान छिपा रहता है।

भावार्थ : अग्नि के ऊपर यदि धुआँ छा जाता है तब अग्नि धुएँ से छिप जाती है। अथवा जलती अग्नि यदि बुझ जाए तब समिधाओं का धुआँ दिखाई देगा, अग्नि नहीं दिखाई देगी क्योंकि धुएँ ने अग्नि के स्वरूप को छिपा दिया है। और जलती हुई अग्नि की लपटों का स्थान धुएँ ने ले लिया है। इस स्थिति में अग्नि नष्ट नहीं हुई है, अग्नि सुलगती हुई समिधाओं में वर्तमान है अपितु धुएँ के द्वारा अग्नि ढकं दी गई है अर्थात् अग्नि के स्थान पर धुआँ छा गया है। यदि पुनः समिधा में सुलगी अग्नि को जलाएँगे-प्रत्यक्ष करेंगे तो धुआँ समाप्त हो जाएगा और अग्नि का दर्शन होने लगेगा। इसी प्रकार अगर दर्पण के ऊपर धूल-मिट्टी आदि मल छा जाता है और इस प्रकार दर्पण मल से ढक दिया जाता है तब दर्पण में अपना रूप आदि कुछ भी वस्तु दिखाई नहीं देगी। परन्तु दर्पण का गुण समाप्त नहीं हुआ है, सिर्फ मल के द्वारा ढक दिया गया है। दर्पण के ऊपर का मल साफ करेंगे तो पुनः स्वच्छ दर्पण में अपनी छवि दिखाई देने लग जाएगी। इसी प्रकार जेर अर्थात् एक विशेष झिल्ली से गर्भ ढका हुआ होता है और दिखाई नहीं देता। श्री कृष्ण महाराज द्वारा इन सब उदाहरणों को कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सूर्य के आगे भी वर्षाकाल में काले-काले बादल आ जाते हैं तो सूर्य का प्रकाश, उन बादलों

द्वारा ढका जाता है परन्तु सूर्य का प्रताप, सूर्य की शक्ति अथवा सूर्य की किरणें तनिक भी समाप्त नहीं हुई हैं। इसी प्रकार जीवात्मा भी शुद्ध, चेतन, पूर्ण विद्वान् एवं आनन्द स्वरूप आदि गुणों से भरपूर है। इस जीवात्मा (नर-नारी) के ऊपर भी रजो, तमो एवं सतोगुण से उत्पन्न विकार छाए हुए हैं क्योंकि जीवात्मा से अलग यह पँच भौतिक, जड़ शरीर प्रकृति के इन्हीं तीनों गुणों से बना है और जीवात्मा पर भी यही तीनों गुणों का विकार छाया हुआ है एवं इन्हीं गुणों में उलझ कर जीवात्मा अपने शुद्ध, चेतन स्वरूप को भूल गया है। इन विकारों में विशेषकर सर्वप्रथम उत्पन्न कामना है जिसे **ऋग्वेद मन्त्र १०/१२६/४** में **'प्रथमं रेतः'** रेत नाम से कही गई है जिसका अर्थ 'काम भाव' अर्थात् कामना है। इस **'रेतः'** अर्थात् कामना को ऋग्वेद ने 'सतः बन्धुम्' जीवात्मा को शरीर के निमित्त बाँधने वाला कहा है। अर्थात् जीवात्मा शरीर में आता ही तब है जब पूर्व जन्म के कर्मों से उत्पन्न कामनाएँ अर्थात् काम वासनाऐं जीवात्मा के चित्त में समाई रहती हैं। वेदमन्त्र कहता है कि यदि यह कामनाएँ, वैराग्यवान होकर, साधना द्वारा प्राणी द्वारा समाप्त कर दी जाएँ तो जीवात्मा का जन्म-मरण (शरीर धारण एवं त्याग) समाप्त हो जाता है। इन कामनाओं में विशेष बुरी कामनाएँ, विषय-विकार आते हैं जिसके पूर्ण न होने से क्रोध उत्पन्न होता है और जीव इन्द्रियों द्वारा पाप-कर्म में लिप्त होकर, दुःख के सागर में गोते लगाता रहता है। अतः मनुष्य पाप कर्म न करे, ऐसा तो प्रायः सन्त पढ़-सुन-रटकर बोलते रहते हैं परन्तु ऊपर वेदों में कही कामना, जो कि काम, क्रोधादि विषयों की जननी है, उसका नाश किस विधि-साधना द्वारा किया जाए, यह प्रश्न विशेष है। श्री कृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक में यह समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! पापयुक्त अशुभ कामना से मनुष्य के भीतर का ज्ञान छिप जाता है। छिपा हुआ ज्ञान ही तो पाप कर्म करने से रोकता है। विशेषकर जब प्राणी के अन्दर वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि उपासना की कमी होती है तो उसका मन-बुद्धि सदा विषय-विकार रूपी पाप कर्मों में लिप्त होते हैं जिनके वश में होकर प्राणी काम-वासना में लिप्त होकर जीवन व्यर्थ करके सदा दुःखों से घिरा रहता है। काम वासना जाग्रत रहने से प्राणी के भीतर का ज्ञान छिपा हुआ होता है और फलस्वरूप वह छिपा हुआ ज्ञान प्राणी को पाप कर्म करने से रोकता नहीं है। अतः हम वेदाध्ययन, यज्ञ,

नाम-सिमरण एवं अष्टांग योग साधना का नित्य अभ्यास करके पाप वृत्ति का नाश करके शुद्ध बुद्धि द्वारा, शुद्ध मन द्वारा, सदा शुभ कर्म ही करें। **अथर्ववेद वेद मन्त्र १०/४/१८,१६** में ईश्वर की साधना द्वारा काम-क्रोध रूपी असुर वृत्तियों को नष्ट करने और ज्ञान का सम्पादन करने का उपदेश है। मन्त्रों में उपदेश है कि हम वेदज्ञ विद्वान् जो हमारे आचार्य हैं उनके संग विद्या उपदेश आदि से काम, क्रोध आदि शत्रुओं का संहार करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

'आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ।।"

(गीता : ३/३६)

(च) और **(कौन्तेय)** हे अर्जुन **(एतेन)** इस **(अनलेन)** अग्नि **[सदृश]** **(दुष्पूरेण)** न पूर्ण होने वाले **(कामरूपेण)** कामरूप **(ज्ञानिनः)** ज्ञानियों के **(नित्यवैरिणा)** नित्य बैरी से **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(आवृतम्)** ढका हुआ है।

अर्थ : और हे अर्जुन! इस अग्नि (सदृश), न पूर्ण होने वाले कामरूप ज्ञानियों के नित्य बैरी से ज्ञान ढका हुआ है। अर्थात् काम से ज्ञान ढका हुआ है।

भावार्थ : जिस प्रकार जलती अग्नि में घी की आहुति डाल दें तो अग्नि और अधिक तेज हो जाती है, इसी प्रकार यदि एक धर्म-विरुद्ध कामना पूर्ण हो जाए तो कितनी ही अन्य कामनाएँ और जाग जाती हैं। विपरीत में यदि कामना पूर्ण न हो तो क्रोध जागता है और जीव की बुद्धि को नष्ट करके बड़े-बड़े पाप करा कर जीव को पथ भ्रष्ट कर देता है। अतः एक रज, तम एवं सतो गुणों से भरपूर कामना पूर्ण होने का तात्पर्य वासनाओं को उत्पन्न करना है। उदाहरणार्थ अनेक विषय-भोग की कामना पूर्ण होने का तात्पर्य, राग को उत्पन्न करना है अर्थात् बार-बार विषय भोग का सुख प्राप्त करने की इच्छा बढ़ती जाएगी और उस-इच्छा में, अधिक विषय से जीव स्वयं शारीरिक और मानसिक रूप से क्षीण होता जाएगा और विषय भोग की इच्छा यदि पूर्ण नहीं होगी तब क्रोधवश असामाजिक बुराईयों का शिकार हो जाएगा।

अतः वेद एवं शास्त्र के अनुसार धर्मयुक्त कामना ही जीव को सुख शांति देती है। वेदान्त-शास्त्र का पहला सूत्र **'अथ अतः ब्रह्मजिज्ञासा'** है। अब इसलिए ब्रह्म प्राप्ति की इच्छा करनी चाहिए अर्थात् कई जन्म-जन्मान्तरों से यह जीवात्मा कई योनियों में शरीर धारण करके दुःख उठाता रहा है, अतः अब इस मनुष्य योनि में तो जीव को विद्वान् का संग करके ब्रह्म प्राप्ति की जिज्ञासा करनी चाहिए। और उसके लिए वेदानुकूल गृहस्थ, समाज एवं देश के प्रति कर्त्तव्य पूर्ण करने की कामना सहित आध्यात्मिकवाद की उन्नति अनिवार्य है। अन्यथा, घी की आहुति से जिस तरह जलती अग्नि की ज्वालाएँ और अधिक हो जाती हैं, उसी प्रकार धर्म-विरुद्ध कामनाओं की पूर्ति भी कामनाओं को और अधिक कर देती है और अग्नि की तरह शान्त नहीं होती। यह कामना जिससे क्रोध उत्पन्न हो रहा है, इस मनुष्य चोले में, धर्म मार्ग पर चलने में बाधक और नित्य सबसे बड़े शत्रु हैं। चमक-दमक, विषय-विकारी कामनाओं का हृदय में प्रवेश और इन्हीं भौतिक पदार्थों की पूर्ति में लगा रहने के कारण, प्राणी के हृदय में ही बसने वाला परमेश्वर, शांति और अनन्त ज्ञान ढक जाता है। और यह कहावत सत्य सी प्रतीत होने लगती है कि मानो कोई कहता हो-"एक मछली जिसके चारों ओर जल ही जल है, वह कह रही हो कि वह प्यासी मर रही है"। इसीलिए योग शास्त्र का **सूत्र १/२** गहन गम्भीर है कि **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** अर्थात् यम, नियम आदि जिसमें वेदाध्ययन, यज्ञ, सत्य, अहिंसा इत्यादि शुभ कामनाएँ भरी पड़ी हैं, इस ओर लगकर जीव चित्त की वृत्तियों अर्थात् मन में उठने वाली बुरी कामनाओं को रोकने का प्रयत्न करें। अन्यथा जिस प्रकार भौतिक अग्नि लकड़ियों से तृप्त नहीं होती उसी प्रकार काम रूप अग्नि कामना पूर्ति करने से तृप्त नहीं होती। भौतिक अग्नि में जितनी भी अधिक से अधिक लकड़ियाँ डाली जाती रहेंगी उतनी ही अधिक से अधिक अग्नि प्रदीप्त होती रहेगी। लकड़ियाँ डालते रहने पर अग्नि कभी शांत नहीं होगी। इसी प्रकार काम पूर्ति होते रहने पर काम रूप अग्नि भी कभी शान्त नहीं होती। क्योंकि कामाग्नि विद्वानों की बैरी है-शत्रु है और शत्रु सदा हानि ही पहुँचाता है। अतः विद्वान् जन वेदाध्ययन, यज्ञ, योग साधना आदि उपासना, कठोर अभ्यास द्वारा इस काम रूपी शत्रु पर विजय प्राप्त कर लेते हैं। **अथर्ववेद मन्त्र ७/६३/१** में ईश्वर ने यही भाव दर्शाया है कि हम

ईश्वर कृपा से **"वृत्राणी अप्रति घ्नन्तः"** ज्ञान पर पर्दा डालने वाले काम-क्रोध आदि शत्रुओं पर विजय प्राप्त करें। अध्यात्म मार्ग में विशेषकर काम रूपी शत्रु हमें अत्यन्त बुरी अवस्था में फैंकने वाला होता है। यह शत्रु ज्ञान को ढक लेता है तब हमें नष्ट करता है। अतः ज्ञान सम्पन्न होने के लिये हम वैदिक ज्ञान सुनें, यज्ञ करें एवं योगाभ्यास नित्य करें। अतः विद्वानों का संग, धर्माचरण ही एक मार्ग है जिसके द्वारा हमें विद्या प्राप्त होती है और हमारे भीतर का ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान के द्वारा ही काम पर विजय प्राप्त होती है।

श्रीकृष्ण उवाच-

'इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ।।"

(गीता : ३/४०)

(अस्य) इस काम के **(अधिष्ठानम्)** रहने के स्थान **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियाँ **(मनः)** मन तथा **(बुद्धिः)** बुद्धि **(उच्यते)** कहे जाते हैं। **(एतैः)** इनके द्वारा **(एषः)** यह काम **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(आवृत्य)** ढक कर **(देहिनम्)** देहि अर्थात् देह में रहने वाली जीवात्मा को **(विमोहयति)** मोह लेता है।

अर्थ : इस काम के रहने के स्थान इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि कहे जाते हैं। इनके द्वारा यह काम ज्ञान को ढक कर 'देहि' अर्थात् देह में रहने वाली जीवात्मा को मोह लेता है।

भावार्थ : ज्ञान का अर्थ है सत्य-असत्य, जड़-चेतन, विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म आदि का विवेक अर्थात् समझ पैदा होना। इसे ऐसा भी कह सकते हैं कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि अवस्था में सत्य ईश्वर की अनुभूति होना और यह अनुभूति वेदानुकूल गृहस्थ के सब शुभ कर्म करते-करते भी प्राप्त की जा सकती है। प्रायः प्रकृति के गुणों में फँस कर जीवात्मा अविवेकी हो जाता है। तब जीव केवल शारीरिक सुविधाओं को प्राप्त करना ही धर्म मान बैठता है। जैसा कि श्लोक में कहा कि काम एवं पाप युक्त कामनाओं द्वारा ज्ञान ढका हुआ है। परन्तु आज के भौतिकवाद में जीव कामनाओं की पूर्ति के लिए दिन-रात कार्य करता रहता है। परन्तु जीवन

समाप्त होने पर भी प्राणी की प्रत्येक कामना पूर्ण नहीं होती। भर्तृहरि महाराज ने भी **'वैराग्य-शतक'** के श्लोक १२ में कहा है-**"तृष्णा न जीर्णावयमेव जीर्णाः"** अर्थात् हमारी तृष्णा (कामना) कभी जीर्ण नहीं हो पाती। इन कामनाओं की पूर्ति करता-करता जीव का शरीर ही जीर्ण होकर नष्ट हो जाता है और अगले जन्म में भी दुःखी रहता है। यह सब पापयुक्त कामना के विषय में ही कहा जा रहा है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१२६/२** में उपदेश है कि हे विद्वान् **(यूयम् मर्त्यम् अंहसः निः पाथ)** अर्थात् आप मनुष्य की पाप कर्म से रक्षा करो। **ऋग्वेद मंत्र १०/१२६/४** का इस अध्याय में कई बार उल्लेख करके यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि सृष्टि के आरम्भ में ही मन के अन्दर **(अग्रे कामः)** कामना अर्थात् इच्छा भाव प्रकट होता है। वेदों के ज्ञाता विद्वान् तो कामना को समाप्त करके तथा वैराग्यवान् होकर ऊपर कहा ज्ञान प्राप्त करके परमानन्द में समा जाते हैं। परन्तु वेद-विद्या एवं तप से हीन प्राणी कामना के गुलाम होकर जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसकर सदा दुःख के सागर में डूबे रहते हैं। अतः यह बड़ा गम्भीर प्रश्न है कि कौन इस पापयुक्त कामना को दृढ़ संकल्प, विद्वानों के संग एवं वैदिक साधना द्वारा समाप्त कर पाएगा। इस कामना का रहने का स्थान पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि कहा गया है। ज्ञानेन्द्रियों द्वारा देख, सुन, चख, सूंघ एवं स्पर्श करके अच्छी एवं बुरी यह दो कामनाएँ जाग्रत होती हैं, जिसे कठोपनिषद् में श्रेय एवं प्रेय के नाम से कहा गया है। इन कामनाओं का ज्ञान तुरन्त मन को पहुँचता है और मन द्वारा बुद्धि को। सामवेद में पहले भी कई मंत्रों का उल्लेख किया गया है कि वैदिक यज्ञ जिसमें ईश्वर की प्रार्थना, स्तुति और उपासना की जाती है। उसके करने में बुद्धि शुद्ध होती है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१४८/४** में भी कहा कि परमात्मा की वेद वचनों द्वारा स्तुति करो। अतः साधना द्वारा शुद्ध की हुई बुद्धि को जब मन इन्द्रियों से लिया हुआ ज्ञान (कामना) पहुँचाता है, तब तो शुद्ध बद्धि जीवात्मा को शुद्ध संकल्प भेजकर शुद्ध आज्ञा प्राप्त करती है और कर्मेन्द्रियों को शुभ कर्म करने की आज्ञा देती है। इसके विपरीत में यदि जीव साधना से रहित है तो उसके मन में सदा अशुभ कामनाएँ उठती हैं और विकारयुक्त बुद्धि उन कामनाओं की पूर्ति के लिए हाथ-पैर आदि कर्मेन्द्रियों को पापयुक्त कर्म तक करने की आज्ञा देती है, जिससे मनुष्य का

जीवन भ्रष्ट हो जाता है। अतः क्योंकि इन इन्द्रियों में ही और विशेषकर मन, बुद्धि में ही अच्छी बुरी कामनाओं का संग्रह होता है। अतः गीता के इस उपदेश को हम ग्रहण करें कि वेदज्ञ विद्वानों का संग प्राप्त करके वैदिक साधना द्वारा हम बुद्धि को सदा शुद्ध रखें और मन में शुभ संकल्प ही प्रवेश होने दें। अन्यथा ज्ञान ढक जायेगा। **अथर्ववेद मन्त्र ७/६३/१** में कहा है कि काम एवं क्रोध ज्ञान पर परदा डाले हुए हैं। आगे के मन्त्रों में कहा है कि जिस प्रकार गतिशील दो गीद्द आकाश में ऊपर उठते ही जाते हैं उसी प्रकार यह काम एवं क्रोध रूपी हमारे शत्रु बढ़ते ही जाते हैं। अगले **मन्त्र ७/६५/३** में कहा कि यह काम-क्रोध स्त्री और पुरुष दोनों के हृदय पर आघात करके घोर पीड़ा पहुँचाते हैं। अतः मन्त्र में कहा कि जीव इन काम क्रोध को अपने वश में रखे। तब ही जीव का कल्याण है। अतः प्राणी वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग साधना द्वारा चित्त की वृत्ति निरुद्ध करके काम-क्रोध पर विजय प्राप्त करे।

श्रीकृष्ण उवाच-

'तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ।।"

(गीता : ३/४१)

(तस्मात्) अतः **(भरतर्षभ)** हे भरत कुल श्रेष्ठ अर्जुन **(त्वम्)** तू **(आदौ)** पहले **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियों को **(नियम्य)** वश में करके **(ज्ञानविज्ञाननाशनम्)** ज्ञान और विज्ञान के नाशक **(एनम्)** इस कामना **(पाप्मानम्)** पापी को **(हि)** निश्चित रूप से **(प्रजहि)** मार दे।

अर्थ : अतः हे भरत कुल श्रेष्ठ अर्जुन! तू पहले इन्द्रियों को वश में करके ज्ञान और विज्ञान के नाशक इस काम पापी को निश्चित रूप से मार दे।

भावार्थ : अतः जीव, ब्रह्म और प्रकृति के रहस्य को जानने के लिए पाँचों ज्ञानेन्द्रियों तथा मन और बुद्धि, सर्वप्रथम इन को वश में करना आवश्यक है। तभी अधर्मयुक्त कामना का नाश होना भी सम्भव होगा। इस श्लोक में

ज्ञान-विज्ञान दो शब्द आए हैं। जड-चेतन पदार्थों का ज्ञान ही ज्ञान है। तथा विज्ञान का अर्थ है-विशेष-ज्ञान जिसमें जीवात्मा एवं परमात्मा के स्वरूप का ज्ञान होता है। अतः भौतिक पदार्थों का ज्ञान तथा आध्यात्मिक ज्ञान यह दोनों ही एक साथ उन्नति करें तभी मानव का कल्याण संभव है। आज प्रायः कामना पूर्ति के चक्र में फँसा प्राणी स्वयं का अच्छा भला सोचने में भी समर्थ नहीं हो पाता। अर्थात् या तो हम भौतिक पदार्थों की चकाचौंधक में अध्यात्मवाद को भूल चुके होते हैं अथवा केवल प्रायः वेद विरुद्ध भक्ति की ही बातें करके साधु संत इत्यादि बनकर भौतिक-विद्या से परे चले जाते हैं और पारिवारिक, सामाजिक, देश एवं विश्व स्तर के कर्त्तव्य जिसमें समानता एवं मानवता की सेवा आदि आती हैं उसे भूल जाते हैं। वस्तुतः जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** में कहा भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों उन्नति एक साथ होना अनिवार्य है। यह **यजुर्वेद मंत्र ४०/१४** के अनुसार सनातन वैदिक विचार इस कामना पूर्ति की ज्वाला में भस्म प्रायः हो जाता है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/८** में कहा है कि परमात्मा ने वेद के द्वारा प्राणी को सब पदार्थों का उपदेश किया है, जिसे जानकर ही हम सुख प्राप्त कर सकते हैं। अतः ईश्वर उपासना द्वारा ज्ञान और विज्ञान को नाश करने वाली इस पापी कामना का नाश करके धर्मयुक्त निःस्वार्थ कर्म करना सीखें और आचरण में लाएँ। वेदाध्ययन इसलिए आवश्यक है कि ईश्वर ने ज्ञान और विज्ञान का विस्तार स्वयं वेदों में समझाया है। **'श्रुतम् तपः'** अर्थात् वेदों का सुनना, मनन करना, स्वयं एक तप है तथा वैदिक यज्ञ से ज्ञान प्राप्त होता है। **मनुस्मृति श्लोक ६/१०९** में कहा-**'ज्ञानेन बुद्धिः शुद्धयति'** अर्थात् ज्ञान से बुद्धि शुद्ध होती है। और शुद्ध बुद्धि ही केवल अच्छे बुरे की पहचान निश्चित करती है, अशुद्ध बुद्धि नहीं कर सकती। अतः कामना का नाश करने के लिए इन्द्रियों को वश में करना तभी सम्भव है, जब हम वेदाध्ययन, यज्ञ तथा योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करें। **सामवेद मंत्र ८८४** में कहा कि हे ईश्वर **(यः ते)** जो उपासक तेरे लिए **(नवीयसीम् मन्द्राम् गिरम्)** स्तुति योग्य आनन्द देने वाली वेद वाणी का **(अजीजनत्)** उच्चारण करता है, उसको आप **(ऋतस्य धियम्)** वेदस्थ शुद्ध बुद्धि प्रदान करते हो। अतः हम यज्ञ में वेद मन्त्रों से ईश्वर की स्तुति, उपासना एवं प्रार्थना करके

शुद्ध बुद्धि को प्राप्त करें। ऊपर कहे **यजुर्वेद मंत्र ४०/१४** में यह भी समझाया गया है कि जो वेद विद्या को आचरण में नहीं लाते हैं और केवल वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि पढ़कर, रटकर, विद्या का अभिमान अर्जित करते हैं, वह प्राणी भी अत्यन्त गहन दुःखों के सागर में डूब जाता है। अतः यज्ञ में स्तुति उपासना एवं योगाभ्यास आदि द्वारा हम शुद्ध बुद्धि प्राप्त करें। यह शुद्ध बुद्धि ही अशुभ कामनाओं को जानती है और उसको स्वीकार नहीं करती। फलस्वरूप ही इन्द्रियाँ संयम में होती हैं। और ज्ञान तथा विज्ञान का हृदय में प्रकाश होता है। यह कर्म गृहस्थाश्रम में श्री राम, माता सीता की तरह ही किए जाते हैं। ज्ञान बिना दिए आता नहीं है। अतः इस ज्ञान के लिए, इस साधना के लिए वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि के लिए महान वेदज्ञ विद्वान् के उपदेश की आवश्यकता है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३१/२,३** में कहा है कि वैदिक अध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा उत्पन्न ज्ञान हमारा सेनापति है, जो हमारे काम, क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट कर डालता है। अतः यह स्पष्ट है कि केवल पढ़ सुन, रट कर बोलने अथवा सुनने से कुछ नहीं होगा, हमें वेदों की विद्या ग्रहण करनी होगी।

श्रीकृष्ण उवाच-

'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ।।"

(गीता : ३/४२)

शरीर से **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियाँ **(पराणि)** परे अर्थात् बलवान हैं **(आहुः)** ऐसा कहते हैं; **(इन्द्रियेभ्यः)** इन्द्रियों से **(परम्)** परे **(मनः)** मन है **(तु)** तथा **(मनसः)** मन से **(परा)** परे **(बुद्धिः)** बुद्धि है **(तु)** एवं **(यः)** जो **(बुद्धेः)** बुद्धि से **(परतः)** भी अधिक परे, **(सः)** वह आत्मा है।

अर्थ : शरीर से इन्द्रियाँ परे अर्थात् बलवान हैं, ऐसा कहते हैं; इन्द्रियों से परे मन है तथा मन से परे बुद्धि है एवं जो बुद्धि से भी अधिक परे, वह आत्मा है।

भावार्थ : कठोपनषिद् तृतीय वल्ली श्लोक ३ में भी आत्मा को इस शरीर

रूपी रथ का स्वामी बताया है। अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मोन्द्रियाँ, जो बाहरी इन्द्रियाँ हैं और मन चित्त तथा अहंकार, जो आन्तरिक इन्द्रियाँ हैं, उन सबमें, बुद्धि जो आन्तरिक इन्द्रिय है, वह सबसे श्रेष्ठ है। यह जड़ तत्त्व, जड़ प्रकृति से बना है। इन सबके बीच रहने वाली चेतन जीवात्मा, बुद्धि से भी महान है-श्रेष्ठ है और शरीर तथा इन्द्रियों की स्वामी है। जब जीवात्मा वैदिक साधना द्वारा इन्द्रियों को वश में करती है तभी अशुभ कामनाएँ-काम-क्रोधादि विकारों का नाश होता है। **ऋग्वेद मन्त्र ६/६६/७** में कहा **"वृषभः"** इन्द्रियों को बल देने वाला जीवात्मा **"जानत् गोषु"** चेतन रूप से इन्द्रियों में अवस्थित होता है। मनुष्य का शरीर पाकर, इसमें रहने वाले जीवात्मा का यह उद्देश्य है कि जीवात्मा वैदिक साधना द्वारा **"मेधाम् अयासिषम्"** अर्थात् ऐसी बुद्धि को प्राप्त करे जो शुभ कर्म कराकर अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि कर दे। ईश्वर द्वारा शरीर रचना कुछ इस प्रकार की है कि सभी आँख, नाक इत्यादि ज्ञानेन्द्रियों का मुख बाहर की तरफ है। अतः प्रायः जीव इन इन्द्रियों के द्वारा, बाहरी संसारी पदार्थों से राग करता हुआ, विकारों से जुड़ा रहता है। सब वेद-शास्त्रों का निर्णय है कि प्राणी के लिए समस्त सुख-शांति, इस शरीर के अन्दर आनन्दमय कोष में विराजमान, सर्वशक्तिमान ईश्वर में ही निहित है। परन्तु जैसा **योगशास्त्र सूत्र १/२-३** कहता है कि जब तक हम वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा, चित्त की वृत्तियों को निरुद्ध करके, अंतर्मुखी नहीं करते, तब तक परम शांति एवं परमानन्द की प्राप्ति असंभव है। **ऋग्वेद मन्त्र ४/२४/४** का भाव भी यह है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के बिना बुद्धि शुद्ध नहीं होती। **सामवेद मन्त्र ६४५** कहता है कि यज्ञ करने वाले मनुष्य की बुद्धि शुद्ध होती है। इसीलिए **सामवेद मन्त्र ८६३** में वेद एवं यज्ञ के विरोधियों को तिरस्कृत करने का भी विधान है। क्योंकि यदि यज्ञ नहीं होगा तो बुद्धि शुद्ध नहीं होगी। अतः जिस प्रकार प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि बुद्धि सब मन आदि इन्द्रियों से श्रेष्ठ है और **कठोपनिषद् श्लोक १/३/६** में कहा कि जिसकी बुद्धि, योगाभ्यास आदि साधना द्वारा शुद्ध-विशेष ज्ञान वाली है, वही जीव परम धाम-परमात्मा को प्राप्त करता है। उपनिषद् ने अगले श्लोक में ही कहा कि बुद्धि से भी महान, शरीर में रहने वाली, यह स्वयं जीवात्मा है और जीवात्मा से भी परे, अति सूक्ष्म और महान

तत्त्व, वह परमात्मा है। यही कुछ श्रीकृष्ण महाराज, इस श्लोक में समझा रहे हैं कि इस शरीर से अधिक शक्तिशाली इन्द्रियाँ, इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे जीवात्मा और जीवात्मा से परे महान, सर्वशक्तिमान परमात्मा है। अतः मनुष्य शरीर पाकर हम (जीवात्मा) ज्ञानेन्द्रियों एवं मन-बुद्धि को साधना द्वारा संयम में रखकर, शुभ कर्म करते हुए जब परमात्मा को प्राप्त करते हैं तभी जीव की सभी काम-क्रोधादि वासनाएँ-कामनाएँ शान्त होती हैं। केवल पढ़-सुन रटकर, भाषण आदि करने से तो अहंकार, अभिमान आदि असंख्य विकार ही उत्पन्न होते हैं। वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा प्राप्त शुद्ध बुद्धि के प्रभाव से, **ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त ११६** में कहा कि जो जीव वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि सनातन विद्या को आचरण में लाकर समाधि में, ईश्वर अनुभूति के आनन्द में मग्न हो जाता है तो उसे संसारी वस्तुओं को एकत्र करने की इच्छा शेष नहीं रहती। वह पूर्णतः वैराग्यवान होता है। ऐसे योगी की बुद्धि, उसका ऐसा भला चाहती है, जैसे **"प्रियं पुत्रम् इव"** माता अपने पुत्र का भला चाहती है। ऐसा योगी अपनी बुद्धि को सब प्रकार से शुद्ध, कुशल एवं इस प्रकार सुख प्राप्ति के लिए सिद्ध कर लेता है, जैसे कोई बढ़ई एक रथ का निर्माण करता है और उसमें रथ के मालिक को बैठने आदि के स्थान की सारी सुख-सुविधाएँ प्रदान करता है। बुद्धि भी इस योगी को सारी सुख-सुविधाएँ प्रदान करने वाली होती है जबकि साधन-रहित, साधारण मनुष्य की बुद्धि, इन्द्रियों के संग द्वारा, साधारण मनुष्य को विषय-विकारों में धकेल कर, दुःखों के सागर में डुबोए रखती है। क्योंकि पीछे श्लोक ३/३७ में यह उपदेश दिया जा रहा है कि अशुभ कामना एवं काम-क्रोधादि मनुष्य के महान शत्रु हैं, ज्ञान को ढक देने वाले हैं, ज्ञानियों के वैरी हैं और इन बुराइयों का निवास-स्थान, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि है। अतः जीवात्मा का मुख्य उद्देश्य कामादि शत्रुओं का नाश करना है जो कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा ही संभव है।

श्रीकृष्ण उवाच-

**'एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।"**

(गीता : ३/४३)

(एवम्) इस प्रकार **(महाबाहो)** हे महाबाहो **(बुद्धेः)** बुद्धि से **(परम्)** परे अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ स्वयं आत्मा को **(बुद्ध्वा)** जान कर तू **(आत्मना)** स्वयं आत्मा के द्वारा **(आत्मानम्)** मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों को **(संस्तभ्य)** स्थिर-वश में करके **(दुरासदम्)** दुर्जय **(कामरूपम्)** काम रूपी **(शत्रुम्)** शत्रु को **(जहि)** मार दे।

अर्थ : इस प्रकार हे महाबाहो बुद्धि से परे अर्थात् अत्यन्त श्रेष्ठ स्वयं आत्मा को जानकर तू स्वयं आत्मा के द्वारा मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों को स्थिर-वश में करके दुर्जय काम रूपी शत्रु को मार दे।

भावार्थ : यह लगभग सभी पिछले कहे श्लोकों का सारांश कह दिया है कि हे अर्जुन! जो काम रूपी शत्रु, ज्ञानी जनों का वैरी है, जिस काम से काम-क्रोध आदि अनेक इच्छाएँ-विकार उत्पन्न होती हैं एवं सुख, शान्ति, परमेश्वर प्राप्ति तथा कर्त्तव्य पालना में बाधक है, उस काम रूपी शत्रु को तू मार डाल। परन्तु कैसे? तू स्वयं शरीर नहीं, जीवात्मा है, शरीर एवं इन्द्रियों का स्वामी है। इस रहस्य को योगाभ्यास आदि द्वारा जान, फलस्वरूप ही आत्मा द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों पर नियंत्रण करके ही यह काम रूपी शत्रु नष्ट हो पाएगा। **ऋग्वेद मंत्र १०/४४/५** का भाव है कि परमात्मा की उपासना करने वाले ही इन्द्रियों को वश में करके परमानन्द को प्राप्त करते हैं। अगले मंत्र में कहा कि जो **'ये यज्ञियाम् नावम् आरुहम् न शेकुः'** अर्थात् जो अध्यात्म यज्ञ रूपी नौका पर नहीं बैठते अर्थात् ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना, यज्ञ आदि नहीं करते **'ते-ईर्मा-एव न्यविशन्त'** वे इसी लोक में नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि उनकी इन्द्रियाँ वश में नहीं होती और सांसारिक मोह-माया में फँसे जन्म मृत्यु के चक्कर में बँधे सदा दुःख के सागर में गोते लगाते रहते हैं। अगले **मंत्र ७** मे कहा-**'एव-एव अपरे दूढयः अपाक् सन्तु'** अर्थात् इस तरह अन्य कुबुद्धि एवं पाप कर्म में लिप्त प्राणी नीच गति को प्राप्त होते हैं। क्योंकि **'अश्वाः-दुर्युजः-आयुयुज्रे'** ऐसे नीच गति प्राप्त प्राणी की इन्द्रियाँ वश में नहीं

होती। परन्तु जो वेदाध्ययन एवं योगाभ्यासी प्राणी हैं, वह **'उपरे ये प्राक्-इत्था सन्ति'** वैराग्यवान्, सत्याचरण वाले एवं परमात्मा को प्राप्त करने का लक्ष्य रखने वाले हैं। वे **'यत्र दावने पुरूणि वयुनानि भोजना'** वहाँ जाते हैं जहाँ आनन्ददायक मोक्ष का सुख है। अतः प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज का यह उपदेश है कि शरीर में रहने वाली जीवात्मा जब तक वैदिक साधना द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में नहीं करती और अपने स्वरूप को नहीं जानती, तब तक यह जीवात्मा कामनाओं तथा कामना से उत्पन्न अनेक काम, क्रोध आदि विकारों को नष्ट नहीं कर पाएगी। **महाभारत के शांति-पर्व (५३/२०)** में भीष्म पितामह युधिष्ठिर से कह रहे हैं-**"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति"**। अर्थात् ब्रह्म के दो रूप समझने चाहिए-शब्द-ब्रह्म (वेद) और पर-ब्रह्म (सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा)। जो मनुष्य शब्द-ब्रह्म में पारंगत है, वह पर-ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

गीता ग्रन्थ व्यास मुनि की महाभारत में कही भीष्म पर्व के श्लोकों की रचना है। व्यास मुनि वेदों के प्रकाण्ड पंडित थे। अतः गीता श्लोक को समझने के लिए प्रथम वेदाध्ययन परमावश्यक है। महाभारत-काल के बाद हमारा देश वेदाध्ययन समाप्त प्रायः कर बैठा है। जिस कारण वेद-विरोधी पाखण्ड एवं अंधविश्वास ने जन्म लिया। इस कारण हमारी पाखण्ड रूपी भक्ति से आज भी विदेशी हमारी खिल्लियाँ उड़ाते हैं तथा हम स्वयं दुःख पाते हैं। **ऋग्वेद मंत्र १/७/६** में कहा कि जो सृष्टि रचयिता ईश्वर को छोड़कर, वेद-विरुद्ध झूठी भक्ति करता है वह कभी सुख प्राप्त नहीं करता क्योंकि केवल ईश्वर ही सुखदाता एवं सब पदार्थों का देने वाला है। वेद कहता है कि ऐसे ईश्वर के समान दूसरा कोई ईश्वर **(न जातः न जनिष्यति)** न पैदा हुआ है और न भविष्य में पैदा होगा। अतः ऋग्वेद ने पुनः अगले मंत्र में कहा **'वः केवलः'** अर्थात् हे मनुष्यों तुम्हारे पूजा करने योग्य केवल एक ही ईश्वर है जिसकी पूजा से कामनाएँ शान्त होती हैं।

अतः प्रथम तो हमें भीष्म पितामह के ऊपर कहे उपदेशानुसार शब्द-ब्रह्म अर्थात् वेदमंत्रों का ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके आचरण में लाना चाहिए। पश्चात योगाभ्यास आदि द्वारा वह ब्रह्म हृदय में प्रकट होता है जिसका

अनुभव योगी जन करते हैं। इसी भावना से वेद एवं सम्पूर्ण योग-विद्या के ज्ञाता योगेश्वर श्री कृष्ण अर्जुन को शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद-विद्या का प्रवचन करके ऊपर कहे ऋग्वेदादि मंत्रों के भाव समझाते हुए कह रहे हैं कि प्राणी वैदिक साधना द्वारा अपनी इन्द्रियों को वश में करके कामना से उत्पन्न काम रूपी शत्रु का नाश करे। जब यह शब्द-ब्रह्म का उपदेश अर्जुन ने समझा तथा अपनाया तभी उसके हृदय में उत्पन्न स्व-सम्बन्धियों के प्रति मोह आदि कामनाएँ कुछ समय के लिए शांत हो गई थीं। और उसने धर्मयुद्ध लड़ा था। अतः मनघढ़न्त पूजा तथा वेद विरुद्ध पढ़-सुन रटकर तथा भाषण करके कुछ समय के लिए तो काम-क्रोध आदि कामनाएँ छलावा करने के लिये शान्त हो सकती हैं। परन्तु इन कामनाओं का पूर्ण नाश तो वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि साधना द्वारा ही सम्भव होता है। जिसे **गीता श्लोक २/५९** में कहा कि जबरदस्ती इन्द्रियों पर रोक लगाने से कुछ समय के लिए विषय-विकारी कामनाएँ निवृत्त (रुक) तो हो जाती हैं परन्तु उन विषयों के प्रति राग (लगाव) समाप्त नहीं होता, अतः कभी भी उस विषय को भोगने की इच्छा प्रबल हो जाती है और विषय भोगा जाता है। और हे अर्जुन! विषयों के प्रति राग तो पूर्णतः उस पुरुष का समाप्त होता है जो साधना द्वारा परमात्मा का अनुभव कर लेते हैं। यही भीष्म पितामह का ऊपर कहा शब्द-ब्रह्म एवं पर-ब्रह्म का उपदेश है। अर्जुन ने इस उपदेश को पाकर युद्ध किया, परन्तु युद्ध में ही शत्रुओं एवं जरासंध को मारने आदि की प्रतिज्ञा सहित युद्ध जीतने के पश्चात ३६ वर्ष राज करते हुए कितनी ही कामनाएँ हृदय में जागृत हुईं, जबकि उनका सानिध्य व्यास मुनि एवं योगश्वर श्री कृष्ण जैसे महापुरुषों के साथ था और बाद में शब्द-ब्रह्म (वेद का ज्ञान) प्राप्त किए हुए सभी भाइयों ने राज्य त्याग कर पीत-वस्त्र धारण करके परब्रह्म की प्राप्ति के लिए वनों में तपस्या करने चले गए थे।

आज जिनके पास वेदाध्ययन एवं योग-साधना नहीं है और जो केवल पढ़, सुन रट कर भाषण करते हैं उनके उपदेश से देश एवं समाज को क्या लाभ हो सकता है अर्थात् कुछ लाभ नहीं हो सकता। हमें वैदिक संस्कृति का पुनः अवलोकन करना होगा, जिससे समाज एवं देश पुनः **'विश्वगुरु'** एवं **'सोने**

की चिड़िया' की पदवी प्राप्त करने में सक्षम हो जाए। वैदिक संस्कृति की शरण में जाकर ही हम अशुभ कामनाओं और कामनाओं से उत्पन्न काम क्रोध आदि शत्रुओं को नष्ट करने में सक्षम ही पायेंगे।

तृतीयः अध्यायः इति

में ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में, वेद-विद्या प्रकट की थी। वेद-विद्या में ही तिनके से लेकर ब्रह्म तक का ज्ञान दिया गया है। इन्हीं वेदों में योग-विद्या का भी ज्ञान विस्तार से कहा है।

अतः चारों वेदों एवं शास्त्रों से सिद्ध है कि ईश्वर ने यह वेद-विद्या एवं वेदों में कही योग-विद्या सर्वप्रथम सूर्य आदि चार ऋषियों के लिए प्रकट की थी। अतः योगेश्वर श्री कृष्ण जिनमें स्वयं ब्रह्म प्रकट थे, वह भी प्रस्तुत श्लोक में प्रमाण दे रहे हैं कि हे अर्जुन! वेद एवं वेदों में कही योग-विद्या सनातन एवं पुरातन है। ईश्वर प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में इस विद्या को सूर्य आदि चारों ऋषियों के हृदय में प्रकट करता है। अतः सूर्य नाम का एक ऋषि था, आकाश में चमकने वाले सूर्य को यह विद्या नहीं दी जा सकती। यह आकाश में स्थित सूर्य प्रकृति की रचना है, जड़ एवं नाशवान है। ऋषियों/महापुरुषों की यह परम्परा रही है कि सत्य स्थापित करने के लिए सनातन एवं पुरातन वेद-विद्या को वे स्वतः प्रमाण में प्रस्तुत करते हैं। विपरीत में अज्ञानी वेद-विरुद्ध एवं अप्रमाणिक बात कहता है। **सामवेद मंत्र १७६** में कहा कि वेद सदा नवीन हैं। कभी जीर्ण नहीं होते। अतः ज्ञान प्राप्ति के लिए स्वयं कोई नया मार्ग बनाने की आवश्यकता नहीं है। यह जो हमारी इन्द्रियाँ, जो नित्य नया-नया देखकर प्रसन्न होती हैं यह वेद विद्या का अध्ययन न करने के ही कारण हैं। नित्य नए फैशन, नित्य नई चमक-दमक और अब नित्य नए-नए भक्ति मार्गों की उत्पत्ति, हमें वेद विरुद्ध मार्ग की तरफ ले जा रही हैं। लगभग सवा पाँच हजार वर्ष पहले गीता में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जो ज्ञान दिया है वह सनातन, पुरातन एवं अनादिकाल से चला आ रहा, वैदिक ज्ञान ही है। पिछले अध्याय में ज्ञान, कर्म एवं संन्यास, योग का सभी ज्ञान, वेदों पर आधारित है। इस चौथे अध्याय में उसी ज्ञान का पुनः विस्तार ही कहा है। वैदिक सनातन परम्परा को बनाए रखने पर भी बल दिया है। अतः सृष्टि के प्रारम्भ में सूर्य आदि चार ऋषियों को ईश्वर द्वारा प्राप्त वेद विद्या को अपनाकर ज्ञान, कर्म एवं उपासना के वास्तविक स्वरूप को जानें। इसी वेद-विद्या को सुनकर अर्जुन के सब संशय समाप्त हुए एवं उसने धर्मयुद्ध लड़ा था। और हम यह भी ध्यान रखें कि अर्जुन की तरह बिना वेद-विद्या सुने हमारा कोई भी संशय समाप्त नहीं होगा अपितु हम अविद्याग्रस्त होकर असत्य को ही सत्य समझकर मनुष्य की प्राप्त दुर्लभ देह को व्यर्थ कर देंगे।

ऊपर **ऋग्वेद मन्त्र १०/१८१/१** में स्वयं ईश्वर ने यह रहस्य प्रकट किया है कि

सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं ईश्वर से अग्नि, वायु, आदित्य (सूर्य) एवं अंगिरा, इन चार ऋषियों को वेदों को ज्ञान प्राप्त होता है। पुनः ईश्वर ने वेदों में संसार के सब पदार्थों का ज्ञान दिया है। वेदों में ही योग विद्या भी विस्तार से वर्णन की गई है। कृष्ण महाराज पूर्ण योगेश्वर हैं। ब्रह्मलीन हैं। ब्रह्मलीन योगी, ब्रह्म के आनन्द में डूबा हुआ स्वयं को ईश्वर को ईश्वर के समान कह सकता है। श्रीकृष्ण भी ईश्वर के समान ही थे। अतः श्रीकृष्ण महाराज ईश्वर के स्थान में अपने को **"अहम् प्रोक्तवान्"** अर्थात् मैंने कहा था, ऐसा कह रहे हैं। भाव यह है कि वेद विद्या को तो इस सृष्टि के आरम्भ में निराकार, सर्वशक्तिमान परमेश्वर ने ही कहा था और प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ही वेदों का ज्ञान चार ऋषियों को देते हैं, जैसा कि ऊपर **ऋग्वेद मन्त्र १०/१८१/१** में कहा है। परन्तु आनन्दमग्न योगेश्वर श्रीकृष्ण ईश्वर के समान ही हैं और यदि वह आनन्दमयी भाषा में ऐसा कहते हैं कि वेदों का ज्ञान/योग विद्या का ज्ञान उन्होंने (श्रीकृष्ण महाराज ने) दिया तो यह कहना अनुचित न होगा।

श्री कृष्ण उवाच-

"एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप।।"

(गीता ४/२)

(एवम्) इस प्रकार **(परम्पराप्राप्तम्)** परम्परा से प्राप्त हुए **(इमम्)** ऊपर कहे इस योग को **(राजर्षयः)** वेद-विद्या जानने वाले राजर्षियों ने **(विदुः)** जाना था परन्तु **(परंतप)** हे अर्जुन **(सः)** वह **(योगः)** योग-विद्या **(महता)** बहुत **(कालेन)** काल से **(इह)** यहाँ इस लोक में **(नष्टः)** नष्ट प्रायः हो गई थी।

अर्थः- इस प्रकार परम्परा से प्राप्त हुए ऊपर कहे इस योग को वेद-विद्या जानने वाले राजर्षियों ने जाना था परन्तु हे अर्जुन वह योग-विद्या बहुत काल से यहाँ इस लोक में नष्ट प्रायः हो गई थी।

भावार्थः- यजुर्वेद मन्त्र ३२/१४ में परम्परा को बनाए रखने को कहा गया है कि हे ईश्वर जो हमारे पूर्व के ऋषि-मुनि जिस ब्रह्म की उपासना, सृष्टि के आरम्भ से करते आए हैं, मैं उसी परम्परा को कायम करता हुआ, वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा ईश्वर की

पूजा करूँ। बिल्कुल ऐसा ही उपदेश **सामवेद मन्त्र ७४४** में दिया गया है हे ईश्वर! **"ते हुवे"** मैं आपकी परम्परागत विधि से पूजा करता हूँ जैसा कि इससे पूर्व **"यम् पूर्वम् पिता हुवे"** मेरे गुरु ने आपकी पूजा की थी। पिता शब्द का यहाँ अर्थ जन्म का पिता एवं वेदों का ज्ञान देने वाला आचार्य है। **"प्रत्नस्य ओकसः तुविप्रतिम्"** अर्थात् अनादिस्वरूप परमेश्वर जो संसार के सब पदार्थों को रचने वाला है। अर्थात् हे मनुष्य! तेरा गुरु जो सृष्टि के आरम्भ में जिस सनातन ब्रह्म की पहले के ऋषि-मुनि उपासना करते आए हैं और आज भी उसी परम्परा में विद्वान् लोग उसी एक अविनाशी, अजन्मे सनातन ब्रह्म की यज्ञ, तप एवं योगाभ्यास आदि द्वारा पूजा करते आए हैं, उसी एक ब्रह्म की हम सबको परम्परागत उपासना करनी चाहिए। **ऋग्वेद मन्त्र १/३०/१०** का भाव है कि वेद-विद्या के जानने वाले विद्वानों से उपदेश प्राप्त करके ही निराकार, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान, जन्म-मृत्यु से रहित स्वयंभू परमेश्वर की उपासना करनी चाहिए क्योंकि विद्वानों के वैदिक उपदेश के बिना किसी को भी ईश्वर के विषय में पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। यही सब कुछ ईश्वर ने इन मन्त्रों में समझाया है। श्रीकृष्ण महाराज ने भी संदीपन गुरु के आश्रम में रहकर वेद एवं अष्टांग योग-विद्या की शिक्षा ग्रहण की थी। फलस्वरूप ही वह योगेश्वर कहलाए हैं एवं अर्जुन को उन्होंने गीता का नहीं अपितु वेद-विद्या द्वारा जीव, ब्रह्म, प्रकृति एवं नश्वर शरीर तथा संसार का ज्ञान देकर सत्य धर्म का बोध कराया था। फलस्वरूप ही अर्जुन ने युद्ध करने के लिए पुनः शस्त्र धारण कर लिए थे। आज भी किसी प्रकार के संदेह को निवारण करने के लिए वेद-विद्या की ही आवश्यकता है क्योंकि यह अनादि व सनातन रीति है। प्रस्तुत श्लोक में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज इसी सनातन, वैदिक परम्परा का उल्लेख करते हुए कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जो वेद एवं योग विद्या का ज्ञान, सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने विवस्वान सूर्य आदि चार ऋषियों को दिया और विवस्वान ने अपने पुत्र मनु तथा मनु ने राजा इक्ष्वाकु को यह सनातन ज्ञान दिया और इस प्रकार परम्परा से ग्रहण करने वाले पूर्व के राजर्षियों ने इस ज्ञान को जाना था। यहाँ पर आगे श्री कृष्ण महाराज कहते हैं **"सः योगः महता कालेन इह नष्टः"** अर्थात् श्री कृष्ण के समय में यह ज्ञान पिछले बहुत समय से पृथिवी पर नष्ट प्रायः हो चुका था। अर्थात् वेद एवं वेदों में कहे यज्ञ एवं अष्टांग योग-विद्या के स्थान पर, कई प्रकार के मनघढ़न्त वेद विरुद्ध पूजा पाठ व कर्म चल पड़े थे। प्रायः जनता अंधविश्वास में फँसती जा रही थी और सनातन योग-विद्या आदि भक्ति को त्याग कर मनघढ़न्त यज्ञ आदि द्वारा अच्छी बुरी

कामनाओं की पूर्ति तथा कल्पित स्वर्ग आदि की प्राप्ति की चेष्ठा करने लग गई थी। इसी के फलस्वरूप ही दुर्योधन ने भी जुआ, मदिरा एवं नारी अपमान जैसे घृणित पाप करने प्रारम्भ कर दिए थे। वृद्धों का निरादर एवं छल-कपट द्वारा राज्य हथियाना व अपने ही खून पाण्डु के पुत्रों, पाँचों पाण्डवों को मरवाने का षडयन्त्र आदि भी रचने लग गया था। प्रजा में अशांति व्याप्त हो रही थी। सनातन वैदिक धर्म जिसमें माता-पिता, गुरुजन एवं वृद्धों की सेवा, ईश्वर की यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि द्वारा पूजा, गृहस्थ, समाज एवं देश के शुभ कर्त्तव्य कर्म आदि शुभ संस्कारों का लोप सा होता जा रहा था। भ्रष्टाचार एवं अत्याचार बढ़ने प्रारम्भ हो गए थे। ईश्वर, ऋषि मुनियों एवं यज्ञादि का निरादर प्रारम्भ हो चुका था और इन सब बुराइयों का कारण केवल सनातन, वेद एवं योग विद्या का लोप होना ही विशेष था जिसे प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज स्वयं कह रहे हैं। जैसा कि **सामवेद मंत्र ८८४** इस संदर्भ में स्पष्ट करता हुआ कहता है कि वैदिक यज्ञ द्वारा बुद्धि एवं समस्त इन्द्रियाँ शुद्ध होकर केवल शुभ कर्मों में ही लगती हैं एवं योगाभ्यास द्वारा चित्त वृत्ति बाहरी संसार में नहीं फैल पाती अपितु अंतर्मुखी होती है और **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** कहता है कि इसके फलस्वरूप ही प्राणी अपनी आत्मा के समान ही दूसरे के दुःख इत्यादि को समझता है और ईश्वर को सब जगह प्रत्यक्ष जानता हुआ किसी के प्रति भी हिंसा आदि बुरे कर्म नहीं करता। अतः श्रीकृष्ण महाराज इस सनातन, पुरातन एवं परम्परागत विद्या के बारे में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह विद्या उस महाभारत काल के समय में लुप्त प्रायः सी होती दिखाई दे रही थी, जिसे पुनः संसार में प्रकट करना अनिवार्य हो गया था। क्योंकि इस वेद एवं योगविद्या के अभाव में कभी भी गृहस्थ, समाज, देश अथवा विश्व में शांति स्थापित नहीं की जा सकती। यह ईश्वरीय नियम है और यह नियम प्रत्येक युग में प्रत्येक समय लागू रहता है। इस वेद एवं योग-विद्या के अभाव के कारण ही उस पुरातन समय में अर्जुन की बुद्धि भ्रमित हो गई थी और वह क्षत्रिय धर्म अर्थात् धर्म स्थापना के लिए युद्ध अनिवार्य है, वेदों में कहे इस कर्त्तव्य को भूल गया था। इस कर्त्तव्य का आभास कराने के लिए योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज को वैदिक-विद्या का प्रवचन एवं वेदों में कही योग-विद्या जिसमें प्रकृति रचित संसार एवं शरीर नश्वर है, और रजो गुण आदि से उत्पन्न बुरी कामना द्वारा ही ज्ञान ढक जाता है, क्रोध विद्वानों का वैरी है जिससे इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, बुरे कर्मों से छूटने का सर्वोत्तम उपाय वेदों में कहे शुभ कर्म करना है और शुभ कर्मों का त्याग पाप है, हम शुभ कर्म बिना फल की इच्छा के करें

इत्यादि अनेक वैदिक उपदेश दिए थे। और इन उपदेशों में यज्ञ की महिमा योगाभ्यास द्वारा अन्तःकरण की शुद्धि इत्यादि अनेक वैदिक उपदेशों का प्रवचन करना पड़ा था। तभी श्री कृष्ण के शब्द-ब्रह्म के उपदेश द्वारा अर्जुन का अन्तःकरण शुद्ध हुआ और अर्जुन ने ध ार्म युद्ध किया था। अब हमें सोचना यही है कि क्या हम श्री कृष्ण एवं उनसे पूर्व एवं पश्चात के ऋषि-मुनि द्वारा बनाई वैदिक परम्परा का उल्लंघन करके कभी शांति प्राप्त कर सकते हैं? अर्थात् कभी नहीं कर सकते। क्योंकि पूर्व में तो अगस्त्य ऋषि, गुरु वशिष्ठ, श्री कृष्ण एवं श्री कृष्ण के समकालीन दुर्वासा आदि कुछ ही ऋषियों ने वैदिक-विद्या द्वारा संसार में शांति स्थापित करके देश एवं जनता को एक ही सूत्र में बांधा हुआ था। और इसके विपरीत आज गुरुओं की देश में बाढ़ सी आ गई है और मीडिया द्वारा एवं पांडालों में सजकर, बैठकर तथा घर-घर जाकर उपदेश करने पर भी अशांति, भ्रष्टाचार, चोरी, डकैती, अत्याचार, नारी अपमान, भ्रष्ट राजनीति, गरीबी, देशद्रोह, जातिवाद, अलगाव-वाद अन्याय एवं उग्रवाद जैसी असंख्य जटिल समस्याओं से समाज देश एवं सम्पूर्ण पृथिवी असहनीय दुःख को सह रही है और जनता **यजुर्वेद मन्त्र २३/२२** के अनुसार ऐसी निर्जीव सी एवं दुर्बल सी हो गई है, जैसे कि एक बाज़ के सामने एक निर्बल चिड़िया आ गई हो। यह सब प्रस्तुत श्लोक में योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज के द्वारा बताई परम्परागत, वैदिक-विद्या के अभाव के कारण ही हुआ है। हमें पुनः वेदों की ओर लौटना होगा, तभी हमारा देश, समाज एवं विश्व पुनः शांति एवं भाईचारे जैसे गुणों को प्राप्त कर सकेगा। गुरुओं की बाढ़, बाढ़ का ही कार्य कर रही है। वेद, यज्ञ एवं योग विद्या विरोधी गुरुओं की बाढ़ पानी, हवा आदि बाढ़ के समान घर, मकान-दुकान एवं मनुष्यों को उजाड़ने के अतिरिक्त और कुछ नहीं दे सकती। क्योंकि यह सब कुछ बर्बादी देना ही बाढ़ का स्वभाव है और अग्नि की तरह किसी का स्वभाव कभी बदलता नहीं है। अतः हमें गुरुओं की बाढ़ को भी रोकने का उपाय करना होगा।

श्री कृष्ण उवाच-

"स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।"

(गीता ४/३)

(सः) वह **(एव)** ही **(अयम्)** यह **(पुरातनः)** पुरातन **(योगः)** योग **(अद्य)** आज

(मया) मैंने **(ते)** तेरे लिए **(प्रोक्तः)** कहा है **(इति)** इस कारण से **(हि)** क्योंकि **(मे)** तू मेरा **(भक्तः)** भक्त **(च)** और **(सखा)** सखा **(असि)** है **(एतत्)** यह योग **(उत्तमम्)** सर्वोत्तम एवं **(रहस्यम्)** रहस्य से परिपूर्ण है।

अर्थः- वह ही यह पुरातन योग आज मैंने तेरे लिए कहा है, इस कारण से, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है। यह योग सर्वोत्तम एवं रहस्य से परिपूर्ण है।

भावार्थः- पिछले श्लोक ४/२ में वेद मन्त्रों का हवाला देकर परम्परा के विषय में कहा था। वेद अनादि हैं अतः ईश्वर भक्ति, कर्म एवं पदार्थ विद्या का ज्ञान भी अनादि है।

अतः हमारे कुल दो-तीन हजार वर्ष के अन्दर वेद-विरुद्ध बनाई परंपरा से श्रीकृष्ण महाराज का अथवा विद्वानों का कोई सम्बन्ध नहीं है। श्रीकृष्ण महाराज तो वेदों में कही अनादि, सनातन एवं किसी के द्वारा न बनाई परम्परा का वर्णन कर रहे हैं, क्योंकि जो भी परंपरा अथवा वस्तु मनुष्य द्वारा बनाई जाती है, उसका नाश अवश्य होता है। **ऋग्वेद मण्डल १० एवं यजुर्वेद अध्याय ३१** के अध्ययन एवं सामवेद तथा अथर्ववेद के अनेक मन्त्रों के अध्ययन से स्पष्ट है कि वेदमन्त्र, वेदमन्त्रों में कहे ज्ञान, कर्म एवं उपासना काण्ड अथवा यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि विद्याएँ इसलिए अनादि हैं कि यह सब कुछ ज्ञान ईश्वर के अन्दर स्वभाव से ही अर्थात् अपने आप से ही है, वेद मन्त्रों अथवा वैदिक परंपराओं को बनाया नहीं गया है। **श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लोक ६/८** के अनुसार भी-

"न तस्य कार्यं कारणं च विद्यते न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।।"

अर्थात् ईश्वर के समान अथवा उससे अधिक कोई भी नहीं है और ईश्वर का ज्ञान, कर्म एवं बल स्वाभाविक है अर्थात् बनता बिगड़ता नहीं है। वेद एवं वेद में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासनादि विद्या भी ईश्वर की तरह बनती बिगड़ती नहीं है। यह सब कुछ अनादि है। अतः वैदिक परंपरा का ही महत्त्व सर्वोपरि है। क्योंकि यह परंपराएँ ईश्वर की तरह अनादि, अनन्त एवं अविनाशी हैं। परंपरा के विषय में ही श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि गुरु एवं शिष्य प्रणाली द्वारा प्राप्त यह योगविद्या आज मैंने तुम्हारे लिए कही है। यह योगविद्या परंपरागत एवं पुरातन है अर्थात् अन्य जो इस वैदिक परंपरा में नहीं आते, वह तो मनुष्यों द्वारा अभी बनाई गई हैं, परन्तु यह योगविद्या तो वैदिक , सनातन एवं

पुरातन है। आज भी हम देखते हैं कि सहज योग, राज योग, लय योग, भक्ति योग, हठ योग, गीता योग आदि अनेक नवीन योग संसार में नए-नए नाम लेकर प्रकट हो रहे हैं परन्तु चारों वेदों में तो केवल अष्टांग योग का ही वर्णन है। अतः **योगशास्त्र सूत्र २/२६** एवं **यजुर्वेद मन्त्र ७/४** आदि और भी अनेक मन्त्रों में केवल अष्टांग योगविद्या का ही वर्णन है जिसे श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ पहले **श्लोक ४/१** में **"अव्ययम्"** अर्थात् अविनाशी एवं ४/२ श्लोक में **"परंपरा प्राप्तम्"** अर्थात् अनादिकाल से चली आ रही गुरु-शिष्य की परंपरा द्वारा प्राप्त होने योग्य तथा प्रस्तुत श्लोक में **"पुरातनः"** पुरातन एवं सनातन विद्या कह कर पुकारा है। यही वैदिक विद्या है जिसे चारों वेदों ने वर्णन करते हुए कहा है कि यह वेद एवं वेदों में कही योग विद्या, ईश्वर के स्वभाव में है अतः अनादि, सनातन, पुरातन एवं अविनाशी कही गई है। इस विद्या में कहीं भी कोई तृण मात्र भी बदलाव, घटना एवं बढ़ना सम्भव नहीं है। इसे कोई भी मनुष्य अपनी बुद्धि से बदल नहीं सकता और यदि इसमें बदलाव लाता है तो यह विद्या सत्य नहीं रह जाती। क्योंकि सत्य की परिभाषा गीता ने भी कही **"नाभावो विद्यते सतः"** अर्थात् सत्य वह है जिसका कभी किसी परिस्थिति में, देश, काल आदि के प्रभाव द्वारा तनिक भी बदलाव नहीं लाया जा सकता एवं असत्य वह है जो घटता-बढ़ता एवं नष्ट होता रहता है। आगे श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि हे अर्जुन! क्योंकि तू मेरा सखा है एवं भक्त है इसलिए ही मैंने यह पुरातन एवं सनातन विद्या तेरे लिए कही है। पिछले **श्लोक ४/२** में कहा वाक्य भी गहन-गम्भीर और उच्च कोटि से विचार करने योग्य है क्योंकि उन्होंने स्पष्ट कह दिया है कि यह वेद एवं योगविद्या बहुत काल से इस पृथ्वी में से नष्ट प्रायः हो गई थी। अन्त में श्रीकृष्ण ने कहा तू मेरा भक्त एवं सखा है इसीलिए मैंने यह योगविद्या तुझे सुनाई है और यह योगविद्या पृथिवी की सर्वोत्तम एवं रहस्यमयी विद्या है। लोग श्रीकृष्ण को सखा कह देते हैं, सखा बन भी जाते हैं एवं सखा-सखी शब्द का उच्चारण आजकल अत्याधिक मात्रा में प्रयोग होता सुनाई देता है। परन्तु इस विषय में **सामवेद मन्त्र १८२६** एवं **१८२७** में उपदेश किया गया है कि जो विषय-विकार आदि की नींद एवं अविद्या से जागकर अर्थात् इन बुराईयों को छोड़कर पुरुषार्थ करते हैं, आलस्य का त्याग करते हैं एवं इस प्रकार वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास में रत रहते हैं तथा गृहस्थाश्रम के सब कर्त्तव्य निर्वाह करते हैं तो ऐसे ही नर-नारी के हृदय में ईश्वरीय वाणी वेद का प्रकाश होता है और ऐसे ही प्राणी का ईश्वर स्वयं सखा बन जाता है। वेदों में यह कठोर उपदेश है कि

जीव में उत्साह एवं पुरुषार्थ हो। पुरुषार्थ से ही वेद विद्या प्राप्त है। अतः जो अपने मन के मुताबिक भक्ति करते हैं गाते हैं एवं वेद-विरुद्ध कर्म करते हैं, उनके अन्दर ज्ञान का प्रकाश कैसे सम्भव हो सकता है और कोई योगेश्वर अथवा ईश्वर उनका सखा कैसे बन सकता है? स्वयं श्रीकृष्ण महाराज गीता में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! चारों वेदों में मैं सामवेद हूँ और सामवेद के यह मन्त्र स्वयं सखा शब्द की परिभाषा कह रहे हैं। **मन्त्र १८२६** एवं **१८२७** में ऊपर कहे पुरुषार्थी नर-नारियों को स्वयं ईश्वर कह रहा है **"अहम् तव सख्ये अस्मि"** कि मैं स्वयं तुम्हारा सखा बन जाता हूँ। अतः वेद विरोधियों का ईश्वर, योगेश्वर अथवा कोई विद्वान् कभी सखा नहीं हो सकता।

दूसरा श्रीकृष्ण महाराज ने योगविद्या को सर्वोत्तम, रहस्यमयी विद्या कहा है। इस विद्या के ऊपर कहे आठ अंग हैं और प्रत्येक अंग में आसन, प्राणायाम एवं ध्यान एवं समाधि आदि के अनेक रहस्य भरे पड़े हैं। इस विद्या को विद्वानाचार्य से जानकर तथा उसपर चलकर ही अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष की सिद्धि होती है एवं समाधि प्राप्त करके योगी ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इस विद्या को जीवित विद्वान् आचार्य से सीखने की ही शाश्वत परंपरा है जिसे हमें कायम रखना होगा।

यदि हम पिछले **श्लोक २/४२, ४३, ५२** एवं **५३** पर ध्यान दें तो श्रीकृष्ण ने इन श्लोकों में कहा कि श्रीकृष्ण के समय से ही वेद विरुद्ध पाखण्ड एवं कई प्रकार के मनघढ़न्त पूजा-पाठ प्रारम्भ हो चुके थे। जबकि इससे पूर्व के ऋषियों एवं जनता ने वेदों द्वारा शुभ कर्म ज्ञान, उपासना का महत्त्व जाना तथा इसके द्वारा अर्थ, धर्म, काम एवं मोक्ष की सिद्धि प्राप्त की थी। परन्तु **श्लोक २/४२, ४३** में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि अब तो वेदों के अध्ययन करने वाले केवल स्वर्ग प्राप्ति को ही अपना लक्ष्य मानने लगे हैं जोकि मिथ्यावाद है। तथा **श्लोक २/५२, ५३** में कहा कि जब तेरी बुद्धि ऐसे मोह रूपी दलदल से तर जाएगी तभी तू वैदिक वचन सुनकर वैराग्य को प्राप्त होगा और जब इस प्रकार अनेक सिद्धान्तों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि, वैदिक विद्या और योग द्वारा ईश्वर में स्थिर हो जाएगी। तभी तू **"योगम् अवाप्स्यसि"** सत्य योग विद्या को ग्रहण का पाएगा। सारांश यह हुआ कि उस समय यह वेद एवं योगविद्या लुप्त प्रायः हो चुकी थी और बहुत से नए-नए मनघढ़न्त सिद्धान्त बनते जा रहे थे। तब ऐसे समय में श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को वेद एवं योगविद्या की शिक्षा दी है। तब महाभारत युद्ध के बीते करीब ५३०० वर्ष के बाद, तुलसी के अनुसार-

"श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरती बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।।"
[(उत्तरकाण्ड १०० (ख)]

अर्थात् वेद में कहे ज्ञान तथा वैराग्य के अनुसार जो परमेश्वर की भक्ति का मार्ग है, उस सच्चे मार्ग को मनुष्य ने मोहवश छोड़ दिया और वेद के विरुद्ध अनेकों नए नए पंथों की कल्पना करते हैं। एवं

"बरन धर्म नहिं आश्रम चारी, श्रुति बिरोध रत सब नर-नारी।
द्विज श्रुति बेचक भूप प्रजासन। कोउ नहिं मान निगम अनुसासन।।"
[चौ ९७ (ख)]

अर्थात् कलियुग में वर्ण, धर्म नहीं रहता और न चारों (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास) आश्रम रहते हैं। सब नर-नारी वेद के विरोध में लगे रहते हैं। कलियुग में ब्राह्मण स्वार्थवश, वेदों के बेचने वाले होते हैं। राजा प्रजा को खा डालने वाले होते हैं। वेद की आज्ञा, अग्निहोत्र, यज्ञ, योग इत्यादि कोई नहीं मानता।

तब इस वेद एवं योगविद्या को पुनः जीवित करने के लिए हमें वेद एवं योगविद्या के विद्वानों की अत्यंत आवश्यकता आन पड़ी है। हमें पुनः वेदों की ओर लौटना होगा।

अर्जुन उवाच -

"अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।"

(गीता ४/४)

(भवतः) हे कृष्ण आपका **(जन्म)** जन्म **(अपरम्)** बाद में हुआ है **(विवस्वतः)** सूर्य का **(जन्म)** जन्म **(परम्)** बहुत पुराना है अतः **(एतत्)** इस बात को **(इति)** यह मैं **(कथम्)** कैसे **(विजानीयाम्)** जानूँ कि **(त्वम्)** आपने ही **(आदौ)** आदि में **(प्रोक्तवान्)** इस योग को कहा है।

अर्थः- हे कृष्ण आपका जन्म बाद में हुआ है सूर्य का जन्म बहुत पुराना है अतः इस बात को, यह मैं कैसे जानूँ कि आपने ही आदि में इस योग को कहा है।

भावार्थः- प्रस्तुत श्लोक में विवस्वान का शाब्दिक अर्थ सूर्य है, जिसका तात्पर्य आकाश में चमकने वाला सूर्य नहीं है। अपितु जिसको योग विद्या का उपदेश दिया गया था वह सूर्य एक मनुष्य था जिसके नाम से आगे सूर्यवंशी नामक वंश चला था। आकाश में चमकने वाला सूर्य प्रकृति से बना है जिसका विस्तृत वर्णन **ऋग्वेद मंडल दस** में तथा सभी वेदों में मिलता है। **तैत्तिरियोपनिषद्** के **पांचवे अनुवाक** में कहा है कि महाचमस नामक ऋषि का पुत्र माहाचमस्य ब्रह्म को भली भांति जानता था। माहाचमस्य कहते हैं कि अन्य सूर्यादि देवता ईश्वर की रचना हैं। **"आदित्येन वाव"** सूर्य से ही **"सर्वे लोकाः महीयन्ते"** सब लोक बढ़ते हैं तथा सूर्य, वर्षा तथा अन्न को पकाने, अग्नि देने आदि का स्त्रोत है जिस पर सब प्राणियों के प्राण टिके हुए हैं तथा अन्न लेकर ही सब प्राणियों का शरीर बढ़ता है। अतः यह आकाश में चमकने वाला सूर्य जड़ है, इसे ज्ञान नहीं दिया जा सकता। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/५** में कहा, **"ततः विराट् अजायत"** अर्थात् उस परमेश्वर से ब्रह्मांड रूप जगत उत्पन्न होता है। ब्रह्मांड शब्द का भाव सूर्य, चन्द्रमा, वायु, आकाश, जल आदि सहित संपूर्ण जड़ जगत है। आगे मंत्र में कहा **"विराजः अधि पूरुषः"** इस विराट जड़ जगत का सर्वोपरि रचयिता परमात्मा है। अर्थात् ईश्वर इस जड़ जगत से कहीं अधिक उच्च है, असीम है। यह जगत रचना तो **यजुर्वेद मंत्र ३१/३** के अनुसार उसके एक अंश के बराबर ही है। अतः इस श्लोक के अध्ययन से कई वेद विरोधी संत यह कह देते हैं कि सृष्टि के आदि में योग विद्या का ज्ञान, इस आकाश में चमकने वाले सूर्य को दिया था, जो कि अप्रमाणिक एवं पूर्णतः असत्य है। यजुर्वेद के इस मंत्र में **"विराट् अजायत"** का अर्थ है कि सूर्य, चन्द्रमा इत्यादि जड़ जगत उत्पन्न हुए। अतः यहाँ विराट शब्द का अर्थ उत्पत्ति के विषय में प्रयोग हो रहा है तथा ईश्वर कभी उत्पन्न होता नहीं है। अतः विराट शब्द का अर्थ यहाँ ईश्वर भी नहीं है। इससे पहले के श्लोकों में भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि स्वयं ईश्वर ने चारों वेदों का ज्ञान जिसमें योग विद्या भी है वह सूर्य नामक ऋषि सहित अग्नि, वायु एवं अंगिरा इन चार ऋषियों को दिया था। और स्वयं मनु भगवान **मनुस्मृति श्लोक १/२३** में कह ही रहे हैं कि यह ज्ञान ब्रह्मा नाम के ऋषि ने सूर्य आदि चारों ऋषियों से प्राप्त किया और ब्रह्मा ने मनु को तथा मनु ने इक्ष्वाकु आदि राज-ऋषियों को दिया था। अतः हमें अपनी संस्कृति को बचाने के लिए वेदाध्ययन एवं वैदिक प्रमाण सहित सत्य भाषण की आवश्यकता है। अन्यथा वेद विरोधियों ने तो अप्रमाणिक बातें करके बची-खुची संस्कृति का भी नाश कर देना है। प्रस्तुत श्लोक में

अर्जुन का प्रश्न वास्तव में बुद्धिमत्ता का प्रश्न है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण के पिछले **श्लोक ४/१** पर विचार किया कि श्रीकृष्ण तो **श्लोक ४/१** में कह रहे हैं कि उन्होंने इस अविनाशी योग विद्या को विवस्वान अर्थात् सूर्य नामक ऋषि को सृष्टि के आरंभ में दिया था। और अब (अर्जुन के समय में) वैदिक गणना के अनुसार सृष्टि बने एक अरब ९६ करोड़ से अधिक वर्ष हो चुके हैं और श्रीकृष्ण का जन्म अब एक अरब ९६ करोड़ वर्ष के बाद हुआ है। इस बात पर विचार करके ही अर्जुन में श्रीकृष्ण महाराज से पूछा कि, **"मैं यह कैसे मान लूँ कि आपने सूर्य नामक ऋषि को एक अरब ९६ करोड़ साल से भी अधिक वर्ष पहले इस योग विद्या का ज्ञान दिया था?"** ऐसा आध्यात्मिकवाद पर आधारित प्रश्न उठाकर अर्जुन ने पुनर्जन्म के विषय एवं जीवात्मा के अविनाशी स्वरूप के गहन रहस्य को प्रस्तुत कर दिया है। जिसका उत्तर श्रीकृष्ण महाराज अगले श्लोक में दे रहे हैं।

गीता एक, वेदों पर आधारित प्रवचन है। गीता के प्रत्येक श्लोक में वेदों का ही मर्म कहा गया है। अब तक जितने भी श्लोकों की व्याख्या की गई है, उन सब में वेदमंत्रों के प्रमाण प्रस्तुत किए जा चुके हैं। अर्थात् यह स्वयं सिद्ध है कि जो बात गीता में कही गई है, वह तो अनादि काल से वेदों में पहले से ही कही जा रही है। व्यासमुनि जी ने कठोर वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास तथा उसी प्रकार श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि के आश्रम में वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म अवस्था प्राप्त करके ही महाभारत के भीष्म पर्व की रचना की थी। तथा गीता ग्रंथ के १८ अध्याय, महाभारत के भीष्म पर्व से चुने हुए श्लोक हैं जो पूर्णतः वेदों पर आधारित हैं। आज देश का दुर्भाग्य है कि प्रायः गीता की व्याख्या करने वाले तथा उस व्याख्या को पढ़ पढ़ कर सुनाने वाले वह स्वयंभू महात्मा हैं जो पूर्णतः वेदों के ज्ञान से अनभिज्ञ तो हैं ही, उनमें से अधिकतर तो वेद-विरोधी भी हैं। अतः गीता के मनघढ़न्त अर्थ एवं मनघढ़न्त पूजा की भी देश में बाढ़ सी आ गई है जोकि समाज के लिए भयंकर खतरा है। हमें गीता जैसे ग्रन्थों के वास्तविक अर्थ को जानने के लिए, पुनः वेदों की ओर लौटना होगा। तभी अनर्थ से बचा जा सकेगा। ऊपर **ऋग्वेद मन्त्र १०/१८१/१** में स्वयं ईश्वर ने यह रहस्य प्रकट किया है कि सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं ईश्वर से अग्नि, वायु, आदित्य (सूर्य) एवं अगिंरा, इन चार ऋषियों को वेदों का ज्ञान प्राप्त होता है। पुनः ईश्वर ने वेदों में संसार के सब पदार्थों का ज्ञान दिया है। वेदों में ही योग विद्या भी विस्तार से वर्णन की गई है। कृष्ण महाराज पूर्ण योगेश्वर

हैं। योग बल द्वारा वह अपने पिछले जन्म जानते हैं। और विवस्वान (सूर्य) को ईश्वर वेद का ज्ञान, अन्य तीन ऋषियों सहित देता है। इस रहस्य को भी श्रीकृष्ण महाराज जानते हैं। अतः गीता के प्रत्येक रहस्य को जानने के लिए वेदों का ज्ञान सुनना आवश्यक है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप।।"

(गीता श्लोक ४/५)

(अर्जुन) हे अर्जुन, **(मे)** मेरे **(च)** और **(तव)** तेरे **(बहूनि)** बहुत **(जन्मानि)** जन्म **(व्यतीतानि)** व्यतीत हो चुके हैं **(परंतप)** हे परतंप अर्जुन **(तानि)** उन **(सर्वाणि)** सब जन्मों को **(अहम्)** मैं **(वेद)** जानता हूँ **(त्वम्)** तू **(न)** नहीं **(वेत्थ)** जानता है।

अर्थः- हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत जन्म व्यतीत हो चुके हैं। हे परंतप अर्जुन! उन सब जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता।

भावार्थः- जैसा कि कई बार लेखों में लिखा है कि श्रीकृष्ण महाराज ने ऋषि संदीपन एवं अंगीरस ऋषि से चारों वेद एवं योग की शिक्षा ली थी। संदीपन ऋषि के आश्रम में तो उनके साथ सुदामा भी शिक्षा ग्रहण करते थे जिसकी कथा जगत प्रसिद्ध है। आज हमारा दुर्भाग्य है कि हम महापुरुषों की बनाई हुई परंपराओं पर नहीं चलते अर्थात् श्रीराम, श्रीकृष्ण की तरह, हम भी ऋषियों से वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास एवं यज्ञ की शिक्षा ग्रहण नहीं करते अपितु वेद विरोधी सन्तों की झूठी बातों में आकर, लोक एवं परलोक दोनों को नष्ट कर लेते हैं। क्योंकि सुख तो सदा सत्य में ही है और वेद-विरुद्ध झूठ सदा से दुःख का कारण ही रहा है। इस शिक्षा को प्राप्त करके ही श्रीकृष्ण महाराज ने योगेश्वर पद को प्राप्त किया था। **ऋग्वेद मन्त्र १/१६६/१ एवं १/२३/२४** का भाव है कि योगी पिछले तीन जन्म देखकर ही शिष्य को उपदेश करे। **योग शास्त्र सूत्र २/३९** में भी कहा कि योगेश्वर योग बल द्वारा अपने पूर्व जन्म को जान जाता है। कृष्ण महाराज ने स्वयं **गीता श्लोक ७/१९** में कहा है कि जो कई जन्मों से ध्यान में बैठा योगी ईश्वर को सर्वत्र अनुभव कर लेता है, वह दुर्लभ योगी है। **यजुर्वेद मन्त्र ३/५५ एवं ४/१५** में कहा कि वेद के ज्ञाता, ये योगीजन, मृत्यु के पश्चात हमें पुनः मनुष्य का शरीर धारण कराएँ।

ऋग्वेद मन्त्र १०/१३५/३ का भी यही भाव है कि जीवात्मा तो अमर है जो अज्ञानवश नए-नए शरीर धारण करता है। इन सब प्रमाणों से पुनर्जन्म तो सिद्ध है ही परन्तु ऊपर ऋग्वेद के प्रमाण से यह भी सिद्ध है कि योगी जन अपने और दूसरों के पिछले जन्मों को जानते हैं। **योगशास्त्र सूत्र २/३९** में भी यही प्रमाण है कि जो साधक आज भी योगाभ्यास करता हुआ, अपरिग्रह पद को प्राप्त कर लेता है तो उसको अपने पिछले जन्मों की जानकारी हो जाती है। परन्तु भारतवर्ष का यही दुर्भाग्य है कि अब धर्म को अधिक से अधिक पैसा कमाने का धंधा बनाकर रख दिया है। इसमें योगविद्या भी अछूती नहीं रही। कहीं-कहीं तो केवल आसन बताकर ही पैसे कमाए जाते हैं और कहीं-कहीं आसन के साथ प्राणायाम जोड़ देते हैं। जो कि **अथर्ववेद मन्त्र ७/२/१** के अनुसार सम्पूर्ण वेदों का ज्ञाता एवं योग समाधि को प्राप्त योगी ही विद्या दान करने का अधिकारी है। परन्तु वेद न सुनने के कारण प्रायः बुद्धि में अज्ञान समा जाता है। फलस्वरूप वेद विरुद्ध झूठे सन्तों की बन आई है। केवल आसन प्राणायाम करके ही रोगों को दूर भगाने का आश्वासन अथवा वेद एवं योग विद्या की निन्दा करके कुछ अपना ही नया मार्ग बताकर जनता से पैसे लूटना इस प्रकार दोनों विधियों से जनता के लुटने का कारण बुद्धि में वेद के ज्ञान का प्रकाश न होना है। अतः ऊपर के मन्त्रों से यह सिद्ध हुआ कि योगेश्वर श्रीकृष्ण भी वेद एवं योग विद्या के आधार पर अपने और अर्जुन के पिछले कई जन्मों को जानते थे। यहां स्वयम्-श्रीकृष्ण अपने कई जन्मों के होने की बात कह रहे हैं परन्तु आज वेद विद्या विहीन सन्त इस श्लोक को भी बढ़ा चढ़ाकर न जाने कितना वेद विरुद्ध असत्य भाषण कर देते हैं। गीता वेदज्ञ ऋषि व्यासमुनि की रचना है जिसमें वेदज्ञ एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को ज्ञान दे रहे हैं। अतः गीता के वास्तविक अर्थ आज का कोई वेद एवं योग विद्या का ज्ञाता, विद्वान् ही समझा सकता है, अन्य नहीं। पुनः श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तू अपने अथवा मेरे पिछले जन्मों को नहीं जानता। क्योंकि अर्जुन उस समय योगेश्वर नहीं है। ऊपर के ऋग्वेद मन्त्र कह रहे हैं कि जन्मों का भेद केवल वेद एवं योग का ज्ञाता योगी ही जानता है। परन्तु वेद विद्या अब आम जनता में नहीं है अतः कोई भी झूठा साधु कह देता है कि वो साधु अपने एवं सबके कर्म अथवा जन्म जानता है। इस पाखण्ड का नाश हम केवल परंपरागत विधि से श्रीराम, श्रीकृष्ण, दशरथ, जनक, सीता माता आदि की तरह वेदाध्ययन करके ही दूर कर सकते हैं एवं सुखी रह सकते हैं।

वेद-शास्त्र, गीता आदि सभी सत्य ग्रन्थों का प्रमाण है कि शरीर में रहने वाली जीवात्मा **'स्वयंभू'** है। **यजुर्वेद मन्त्र २/२६** में जीवात्मा को **"स्वयंभूः असि"** कहा है अर्थात् विद्वान् जीवात्मा के कोई माता-पिता नहीं होते। माता-पिता का सम्बन्ध शरीर से होता है। स्वयंभू का अर्थ है जो उत्पत्ति एवं विनाश से रहित है तथा अनादि है। यह भी वेदों का कटु सत्य है कि जीवात्मा ही सुख-दुःख भोगने के लिए शरीर धारण करता है परन्तु निराकार, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापक ईश्वर कभी शरीर धारण नहीं करता और न ही वह कभी कर्मों का भोग भोगता है। (देखें **यजुर्वेद मन्त्र ४०/८** एवं **योग शास्त्र सूत्र १/२४**)। अतः श्रीकृष्ण महाराज यहाँ स्पष्ट समझा रहे हैं कि उनके कई जन्म इस जन्म को लेने से पहले हो चुके हैं और उन सब जन्मों को श्रीकृष्ण महाराज योग बल द्वारा जानते हैं। अतः गीता ग्रन्थ को यदि ईश्वरीय वाणी, वेद मन्त्रों के आधार पर पढ़ा-सुना और समझा जाएगा तब यही सत्य प्रकट होगा कि ईश्वर अवतार नहीं लेता। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने भी योग बल द्वारा ही अपने पिछले जन्म जाने हैं। अवतारवाद से इसका सम्बन्ध नहीं है। **योग शास्त्र सूत्र ३/१८** का भी इस विषय में अति उत्तम प्रमाण है। सूत्र में कहा कि जब योगी संस्कारों का साक्षात् कर लेता है तब उसे अपने पिछले जन्मों का ज्ञान हो जाता है। इस सूत्र के भाष्य में व्यास मुनिजी कहते हैं कि संस्कार दो प्रकार के हैं-पहला स्मृति और अविद्या आदि क्लेशों के कारण वासना रूपी संस्कार। दूसरा-विपाक अर्थात् सुख-दुःख आदि कर्म फल भोग के कारण धर्म और अधर्म रूपी संस्कार। ये दोंनों संस्कार पूर्व जन्मों के किए कर्मों द्वारा बने होते हैं। समाधि प्राप्त योगी द्वारा इन संस्कारों के संयम करने से वह योगी इन संस्कारों का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है। इस प्रकार संस्कारों का साक्षात्कार करने से योगी द्वारा अपने पूर्व जन्म का ज्ञान हो जाता है। दूसरे पुरुष के चित्त धर्मों में भी इसी प्रकार संस्कारों का साक्षात् करने से उसे दूसरे पुरुष के भी पिछले जन्म का ज्ञान हो जाता है।

व्यास मुनिजी इस विषय में एक कथा का वर्णन करते हैं कि भगवान जैगीषव्य ऋषि द्वारा संस्कार साक्षात् करने से दस सृष्टियों में हुए जन्म के परिणाम क्रम को जाना और उन्हें विवेक ज्ञान उत्पन्न हुआ। अर्थात् ऋषि ने पिछली दस सृष्टियों में हुए अपने जन्म-मरण क्रम से जान लिए। शरीरधारी ऋषि आवटय ने महर्षि जैगीषव्य से कहा-दस महान सृष्टियों में भोग अवश्य होने से विवेकजन आपकी बुद्धि होने से, आपने नरक तिर्यक योनि (पशु-पक्षी आदि) एवं गर्भों में उत्पन्न दुःखों को अनुभव करते हुए तथा देव एवं

मनुष्यादि योनियों में बार-बार जन्म लेते हुए सुख-दुःख में क्या अधिक प्राप्त किया?

उत्तर में ऋषि जैगीषव्य ने कहा-

दस महा-सृष्टियों में कर्मभोग अवश्य विद्यमान होने से ज्ञान से प्रकाशमय बुद्धि द्वारा मैंने नरक, तिर्यकादि (पशु, पक्षी आदि की योनियाँ) योनियों में जन्म-मरण आदि दुःख को देखा तथा देव एवं मनुष्य योनियों में बार-बार जन्म लेकर जो कुछ भी अनुभव किया वह सब का सब दुःख ही दुःख जानता हूँ।

भगवान आवटय ऋषि पुनः बोले-यदि इस जीवन में चित्त इन्द्रिय आदि को वश में करने से जो संतोष रूपी सबसे उत्तम सुख प्राप्त होता है, क्या उसे भी अपने दुःख-पक्ष में रख दिया है। अर्थात् योगाभ्यास आदि द्वारा इन्द्रियाँ वश में करके परम संतोष सुख प्राप्त होता है, वह सुख भी दुःख मान लिया है। इस पर भगवान जैगीषव्य ने कहा-

विषय सुख की अपेक्षा ही यह संतोष सुख सबसे उत्तम कहा गया है। परन्तु कैवल्य (मोक्ष) सुख की अपेक्षा से संतोष सुख भी दुःख ही है। ऋषि कपिल ने भी **सांख्य सूत्र १/५** में कहा:

"उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः"

अर्थात् वेद कहते हैं कि मोक्ष का सुख ही सर्वश्रेष्ठ सुख है। जब हम वेद एवं वेद से उत्पन्न उपनिषद् व छः शास्त्रों की वाणी का अध्ययन परम्परागत तरीके से करते हैं तब देखते हैं कि छः शास्त्र न तो अनीश्वरवाद की बात करते हैं और न ही कोई शास्त्र अथवा प्राचीन ग्रंथ एक दूसरे के विरुद्ध है। क्योंकि उपनिषद् शास्त्र, गीता, वाल्मीकि रामायण आदि सभी ग्रंथों के रचयिता चारों वेदों एवं अष्टांग योग-विद्या के ज्ञाता ऋषि-मुनि हुए हैं, जो स्वप्न में भी झूठ नहीं बोलते थे और जिनका एक ही विषय था वेद एवं योग विद्या। सभी को ईश्वर अनुभूति समाधि अवस्था में हुई थी। कोई भी ऋषि मुनि केवल पढ़-सुन रट कर और व्याख्यान करके जनता से पैसे नहीं बटोरता था। परन्तु वर्तमान काल में ऊपर कहे वेद एवं शास्त्रों के प्रमाणों को भी बड़ी चतुराई से कई संत अनदेखा करके जनता को भी भ्रांति में डालकर रखते हैं। हम वेद एव शास्त्रों के कथन को प्रमाण मानकर ही सत्य स्थापित कर सकते हैं और **यजुर्वेद मंत्र ४०/१३** के अनुसार भी प्रवचन वेदों की निंदा अथवा वेदों के प्रति भ्रांति फैलाने वाले व्यक्तियों से कभी न सुनें।

फलस्वरूप ही देश में सुख-शांति का वास सम्भव होगा। कहने का भाव यह भी है कि जीवात्मा अनादि है और श्रीकृष्ण महाराज इसी आधार पर स्वयं कह रहे हैं कि हे अर्जुन! तेरे और मेरे कई जन्म हुए हैं। हे अर्जुन! तू उन जन्मों को नहीं जानता, मैं जानता हूँ। पुनः ईश्वर जन्म लेता नहीं। अतः श्रीकृष्ण महाराज स्वयं अपने जन्मों के विषय में कह रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच –

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया"।।

(गीता श्लोक ४/६)

(अव्ययात्मा) हे अर्जुन! मैं जीवात्मा अजर अमर **(अजः)** अजन्मा **(सन्)** होता हुआ **(अपि)** भी **(भूतानाम्)** सब भूतों अर्थात् सब प्राणियों का **(ईश्वरः)** ईश्वर **(सन्)** होने पर **(अपि)** भी **(स्वाम्)** स्वयं की **(प्रकृतिम्)** प्रकृति का **(अधिष्ठाय)** आश्रय लेकर **(आत्ममायया)** अपनी माया से **(संभवामि)** संभव होता हूं अर्थात् उत्पन्न होता हूं।

अर्थः- हे अर्जुन! मैं जीवात्मा अजर-अमर अजन्मा होता हुआ भी सब भूतों अर्थात् सब प्राणियों का ईश्वर होने पर भी स्वयं की प्रकृति का आश्रय लेकर अपनी माया से संभव होता हूं अर्थात् उत्पन्न होता हूं।

भावार्थः- प्रस्तुत श्लोक में **'अव्ययात्मा'** शब्द आया है। अव्यय का अर्थ है-जिसे खर्च नहीं किया जा सकता। अर्थात् जिसमें विकार नहीं आता। भाव यह है कि जीवात्मा अविनाशी है। **अथर्ववेद मंत्र ६/१०/१६** में जीवात्मा को अमर्त्यः अमर अर्थात् कभी न मरने वाला, स्वभाव वाला कहा है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१३५/३** में भी जीवात्मा को अमर कहा है जो अज्ञानवश मरण स्वभाव वाले प च-भौतिक शरीर को धारण करता है। अतः वेद मन्त्र प्रमाण दे रहे हैं कि भगवद् गीता में जो जीवात्मा को अव्यय, अजर, अमर कहा है वह वेद मन्त्रों के ज्ञान के आधार पर ही श्रीकृष्ण महाराज ने कहा है। योगी जन ही इस जन्म-मरण के चक्र से छूट पाते हैं। वैदिक साहित्य एवं शास्त्रों में इस जीवात्मा को दो शब्दों द्वारा कहा गया है। एक-जीवात्मा, दूसरा-आत्मा। कहीं-कहीं आत्मा शब्द को परमात्मा के लिए भी उपयुक्त किया गया है, परन्तु व्याकरण एवं ज्ञान की दृष्टि से एक

ही शब्द के कई अर्थ होते हैं जिसे परिस्थिति एवं संदर्भ के अनुसार समझा जाता है, इससे अर्थ का अनर्थ नहीं हो पाता। जैसे संस्कृत में सैन्धव शब्द का अर्थ नमक भी है और घोड़ा भी है। अब सैन्धव किस संदर्भ में प्रयोग होता है, यह देखकर ही इसका अर्थ चुनना होता है। जैसे घर का मालिक भोजन कर रहा है और एकदम नौकर को कहता है सैन्धव लाओ। अब यहाँ परिस्थिति भोजन करने की है अतः सैन्धव का अर्थ नमक होगा। दूसरी परिस्थिति में प्रातः काल एवं सांयकाल का समय है जो घूमने का समय है और मालिक घर के बाहर घोड़े पर सवारी करने जैसे वस्त्र पहने खड़ा है और नौकर को कहता है सैन्धव लाओ तब यहाँ नौकर स्वतः ही परिस्थिति जानकर सैन्धव का अर्थ घोड़ा कर लेता है और अस्तबल से घोड़ा ला देता है। अब यदि नौकर बुद्धिमान नहीं है और भोजन के समय घोड़ा ला देता है और घोड़े के समय नमक ला देता है तो यह अर्थ का अनर्थ हुआ। भाव यह है कि श्री कृष्ण महाराज योगेश्वर हैं, परमेश्वर नहीं किन्तु उनके अन्दर योग बल से ईश्वर प्रकट है। अवतार के विषय में चारों वेदों के ज्ञान का अर्क यह है कि ईश्वर शरीर धारण नहीं करता। जैसे **यजुर्वेद ३२/३** में कहा-**'न तस्य प्रतिमा अस्ति'** प्रतिमा का अर्थ मापना-तोलना इत्यादि है। अर्थात् ईश्वर का शरीर नहीं होता अतः ईश्वर मापने में और तोलने में नहीं आता वह तो सर्वव्यापक एवं असीम गुणों वाला है। गीता के अनुसार वैदिक परिस्थिति के अनुसार यहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण अर्जुन को युद्ध करने के ज्ञान की प्रेरणा दे रहे हैं। क्योंकि ईश्वर को तो प्रेरणा देने की आवश्यकता ही नहीं है। दूसरा ईश्वर सर्वशक्तिमान है उसे किसी सहारे की आवश्यकता नहीं है। सब जानते हैं कि परमेश्वर को जब किसी को मृत्यु दण्ड देना होता है तो अथर्ववेद मंत्र **८/८/११** ने बाढ़, हवा का प्रकोप, पृथिवी का हिलना, ओले, बिजली का गिरना, हृदय गति का रुक जाना इत्यादि अनेक प्रकार के यमदूतों का वर्णन किया है और यदि सम्पूर्ण सृष्टि का ही नाश करना हो तो ईश्वर फिर भी किसी की सहायता नहीं लेता और प्रलय में सब संसार को स्वयं ही नष्ट कर देता है। यह सब वेद के विचारणीय विषय हैं जो वेद सुने बिना ग्रहण नहीं हो सकते। अतः यदि ईश्वर को ही दुर्योधन पापी को नष्ट करना था, तो फिर न तो अर्जुन को प्रेरणा देने की आवश्यकता थी और न ही महाभारत युद्ध की आवश्यकता थी। ईश्वर सबमें समाया हुआ है, अन्दर ही बैठा हृदय गति रोक सकता है इत्यादि। जब इस वैदिक दृष्टि से इस श्लोक का अर्थ करेंगे तब यही अर्थ निकलेगा कि हे अर्जुन! जीवात्मा अजर-अमर, अविनाशी है और **ईश-ऐश्वर्ये** धातु से ईश्वर शब्द का

अर्थ होगा कि जो ज्ञान और ऐश्वर्य युक्त है और यहाँ यह योगी के लिए उपयुक्त हुआ है। **सामवेद मंत्र ७७७** में योगी को तीनों लोकों का ऐश्वर्य प्राप्त है तो इसी के आधार पर **(भूतानाम्)** अर्थात् मनुष्यों में उत्तम ऐश्वर्य प्राप्त भाव आ जाता है। अर्थात् हे अर्जुन! सब भूतों में मैं योग बल से ऐश्वर्य को प्राप्त हूँ अर्थात् मोक्ष पद एवं मोक्ष सुख को प्राप्त हूँ। अपने स्वभाव का आश्रय लेकर अपने ज्ञान से उत्पन्न होता हूँ। इसी मोक्षावस्था में लीन योगेश्वर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को वैदिक प्रवचन द्वारा धर्म-युद्ध करने की प्रेरणा देकर युद्ध कराया था। परमेश्वर ने तो सृष्टि रचना के आरम्भ में एक बार चारों वेदों का ज्ञान देकर मनुष्य जाति पर दया उँडेल दी है, इसके पश्चात ईश्वर प्रलयावस्था तक स्वयं ज्ञान नहीं देता। **सामवेद मंत्र २** के अनुसार भी अर्थात् अन्य मन्त्रों में भी परमात्मा **'देवेभिः मानुषे जने'** विद्वानों के द्वारा मनुष्य जाति का कल्याण करता है। उस समय परमात्मा योगेश्वर श्री कृष्ण के अन्दर प्रकट था और मानव जाति का कल्याण हुआ।

इस चौथे अध्याय के पिछले पाँच श्लोकों के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि पाँचों उक्त श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराज अपने ही विषय में कह रहे हैं। हे अर्जुन! मैंने सृष्टि के आरम्भ में यह ज्ञान विवस्वान्, मनु आदि ऋषियों को दिया था। हे अर्जुन! तू मेरा सखा है और भक्त भी है इसलिए यह योग विद्या का ज्ञान तुझे दे रहा हूँ। अर्जुन ने इस पर पिछले **श्लोक ४/४** में प्रश्न किया कि हे कृष्ण! आपका जन्म तो अभी हुआ है और विवस्वान् का जन्म तो बहुत पुराना है तब आपने विवस्वान् को पुरातन काल में यह योगविद्या का ज्ञान कैसे दिया? इस पर श्रीकृष्ण ने उत्तर दिया कि हे अर्जुन! तेरे और मेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं परन्तु तू उन जन्मों को नहीं जानता, मैं (कृष्ण) जानता हूँ। श्लोकों के इस प्रकार क्रमवद एक ही विषय (श्रीकृष्ण के जन्म के विषय) पर वार्ता करते हुए प्रस्तुत **श्लोक ४/६** में जो शब्द **"अव्ययात्मा, अजः"** और **"भूतानाम् ईश्वरः"** आदि प्रयोग हुए हैं यह परमेश्वर के लिए प्रयोग नहीं हुए हैं अपितु श्रीकृष्ण महाराज के जन्म के प्रति प्रयोग हुए हैं। कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि मेरा वास्तविक स्वरूप **"अव्यय + आत्मा"** है अर्थात् विकार रहित आत्मा है। अव्यय का अर्थ होता है कि जिसमें कभी कोई परिवर्तन न हो, जो कभी नाश को प्राप्त न हो, इत्यादि। आत्मा सदा जन्म-मरण से रहित है। जब आत्मा शरीर में निवास करती है तब शरीर का जन्म होता है, शरीर बनता-बिगड़ता है, आत्मा नहीं। ऐसे गुणों वाली आत्मा को ही जीवात्मा भी कहते हैं। इसी को प्रस्तुत श्लोक में अज कहा है अर्थात् आत्मा अजन्मा है। हम सब

मनुष्य, पशु-पक्षी इत्यादि जितने भी संसार के प्राणी हैं, सभी शरीर में निवास करने वाली आत्मा हैं। जब साधक साधना द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करता है, तब वह मोक्ष प्राप्त करता है। तब वह योग सिद्ध आत्मा कहलाती है। **सामवेद मन्त्र ७७७** के अनुसार यह योग सिद्ध जीवात्मा पँचभूत रचित सब प्राणियों तथा तीनों लोकों का ईश्वर अर्थात् स्वामी बनता है। अर्थात् ऐश्वर्य युक्त होता है। यहाँ ईश्वर शब्द का अर्थ स्वामी है। श्रीकृष्ण महाराज पूर्ण योगेश्वर, ब्रह्मलीन, ब्रह्म के समान हुए हैं। ऐसे महान पुरुष **अथर्ववेद मन्त्र ६/१०/११** के अनुसार अपनी इच्छानुसार कभी भी मनुष्य के शरीर में आकर दुष्टों का संहार और जनता का उद्धार करके पुनः मोक्ष को प्राप्त हो जाता है। इसी आधार पर श्रीकृष्ण महाराज यहाँ स्वयं को **"भूतानाम् ईश्वरः"** अर्थात् सब भूत प्राणियों का स्वामी हूँ, ऐसा कह रहे हैं। पुनः इस पद का भाव है कि अन्य प्राणी योग सिद्ध पुरुष नहीं हैं। फलस्वरूप मोक्ष के सुख, ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं हैं परन्तु श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं, मैं **"भूतानाम् ईश्वरः"** मुक्ति पद में प्राप्त होने वाले ऐश्वर्य को प्राप्त हूँ अतः सम्पूर्ण भूत प्राणियों का स्वामी हूँ और सबसे श्रेष्ठ हूँ। ऐसा होने पर भी संसार के कल्याणार्थ **"स्वाम् प्रकृतिम्"** अपनी प्रकृति अर्थात् स्वभाव को **"अधिष्ठाय"** आधीन करके **"आत्मा-मायया"** स्वयं की माया अर्थात् स्वयं की इच्छा से **"संभवामि"** सम्भव होता हूँ अर्थात् उत्पन्न होता हूँ। इस प्रकार श्रीकृष्ण महाराज जो पूर्ण योगेश्वर, तीनों लोकों के स्वामी, मोक्ष प्राप्त विभूति, युग पुरुष, द्वापर में स्वयं की इच्छा से देवकी माता के गर्भ में आकर उत्पन्न हुए और संसार का कल्याण करके वापिस मोक्ष के सुख में लौट गए।

श्रीकृष्ण उवाच-

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।

(गीता श्लोक ४/७)

(भरत) हे भरत वंशी अर्जुन **(यदा यदा)** जब जब **(धर्मस्य)** धर्म की **(ग्लानिः)** हानि होती है, **(अधर्मस्य)** अधर्म की **(अभि-उत्थानम्)** चहुँ ओर वृद्धि **(भवति)** होती है **(तदा)** तब **(हि)** ही **(अहम्)** मैं **(आत्मानम्)** आत्मा को **(सृजामि)** रचता हूँ।

अर्थः- हे भरत वंशी अर्जुन जब-जब धर्म की हानि होती है, अधर्म की चहुँ ओर वृद्धि

होती है तब ही मैं आत्मा को रचता हूँ।

भावार्थः- पिछले **श्लोक ४/६** में प्रकृति का अर्थ स्वभाव, आत्मा शब्द का अर्थ स्वयं (मायया) माया शब्द का अर्थ ज्ञान (बुद्धि में ज्ञान) किया है। यह माया शब्द परमात्मा द्वारा चारों वेदों में प्रयोग किया गया है। कुछ वेद मन्त्र प्रस्तुत हैं-**ऋग्वेद मन्त्र १/३२/४** में माया शब्द का अर्थ सूर्य के सामने आने वाली काली-काली घटाएँ कहा है। **मंत्र १/३६/२** में माया शब्द का अर्थ कपट व अधर्मयुक्त कर्म कहा है। **मंत्र ५/६३/७** में माया शब्द का अर्थ आडम्बर कहा है। **सामवेद मंत्र १०६** में माया शब्द का अर्थ छल, कपट कहा है। **ऋग्वेद मंत्र ५/६३/३,४,६, अथर्ववेद मंत्र १२/१/८, मंत्र १३/२/३, सामवेद मंत्र १०४ एवं यजुर्वेद मंत्र ११/६६,** इन सभी मंत्रों में माया शब्द का अर्थ बुद्धि कहा है। इसके अतिरिक्त माया शब्द का अर्थ युक्ति, धोखा, जालसाजी, जादूगरी, अवास्तविक, आभास एवं छाया इत्यादि भी हैं। **ऋग्वेद मण्डल १० एवं सांख्य सूत्र १/२६, सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान्, महतोऽहंकारोऽहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः।।** के अनुसार सूर्य, मन बुद्धि अथवा काली घटाएँ, कपट, छल, आडम्बर यह सब प्रकृत्ति के रज, तम, सत्त्व इन तीनों गुणों से उत्पन्न हैं तथा जड़ हैं। यह आडम्बर इत्यादि जीवात्मा पर अपना प्रभाव डालता है। अविवेकी जीवात्मा कर्म बन्धन में फँसा प्रकृति के इस विकार में फँस जाता है, दुःखी रहता है और अपना चेतन अविनाशी स्वरूप भूल जाता है। यह माया अथवा योग माया परमात्मा पर अपना तनिक सा भी प्रभाव नहीं डाल सकती। क्योंकि वैदिक वाङ्मय (**यजुर्वेद मंत्र ४०/८** इत्यादि) में ईश्वर शुद्ध एवं पाप इत्यादि से पूर्णतः पृथक् है। **ऋग्वेद मंत्र १०/१२६/७** के अनुसार ईश्वर वैसे भी प्रकृति एवं जीवात्माओं का स्वामी है। अतः कोई योग माया इत्यादि परमेश्वर पर कैसे हावी हो सकती है, जिससे ईश्वर अवतार लेने को बाध्य हो या परमात्मा जीव बनकर सुख दुःख भोगने लगे। अतः परमात्मा कभी भी जीव नहीं बनता। जीवात्मा २४ प्रकार के सामर्थ्य से युक्त है जो इस प्रकार हैं-बल, पराक्रम, आकर्षण, प्रेरणा, गति, भीषण, विवेचन, क्रिया, उत्साह, स्मरण, निश्चय, इच्छा, प्रेम, द्वेष, संयोग, विभाग, संयोजक, विभाजक, श्रवण, स्पर्शन, दर्शन, स्वादन और गन्धग्रहण तथा ज्ञान। **गीता श्लोक १३/६** में भी इसका संकेत है। साधारण मनुष्य की मृत्यु होने पर जीवात्मा पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच सूक्ष्म भूत, मन एवं बुद्धि इन १७ तत्त्वों सहित शरीर से बाहर निकलता है और कर्मानुसार पुनः

शरीर धारण करता है जिसका वर्णन **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ काण्ड १४** में दर्शनीय है। परन्तु मुक्त जीवात्मा अपने स्वाभाविक २४ गुणों के साथ होता है और मुक्ति में जीवात्मा का संकल्प मात्र शरीर होता है। अर्थात् अपनी इच्छा शक्ति से शरीर धारण करके मोक्ष का सुख भोगता है। **यजुर्वेद अध्याय ३१, अथर्ववेद काण्ड १६ सूक्त ६ सामवेद मंत्र ६१७ से ६२१, ऋग्वेद मंत्र १०/९०/१-१३** से यह सिद्ध है कि रज, तम एवं सत्त्व यह तीनों गुणों वाली प्रकृति जड़ है, ईश्वर एवं जीवात्मा चेतन तत्त्व हैं। परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति अनादि एवं अविनाशी तत्त्व हैं। **श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लोक ६/८** के अनुसार भी ईश्वर के ज्ञान, क्रिया और बल स्वाभाविक हैं अर्थात् अपने-आप होते हैं अतः निश्चित समय पर अपने आप ईश्वर की शक्ति प्रकृति में कार्य करती है। एवं प्रकृति से यह जड़ जगत उत्पन्न हो जाता है। इसी में कर्मानुसार जीवात्माएँ शरीर धारण करती हैं अतः ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। इन सब प्रमाणों का सारांश यह है कि प्रस्तुत श्लोक भी श्रीकृष्ण महाराज के अवतार को सिद्ध नहीं करता है। श्लोक में 'धर्म की हानि' का अर्थ वेदों में कहे शुभ-सत्य कर्म की हानि है। **वैशेषिक-शास्त्र सूत्र १/१/२** में कणाद ऋषि ने कहा-'**यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः**' अर्थात् जिन शुभ कर्मों के करने से इस लोक एवं मृत्यु पश्चात् परलोक (दूसरे जन्म) में भी सुख प्राप्त हो उसे धर्म कहते हैं। **मनुस्मृति श्लोक २/६** में कहा-(**अखिलः वेदः**) संपूर्ण वेद (**धर्ममूलम्**) धर्म के मूल हैं। जैमिनी ऋषि ने पूर्व **मिमांसा शास्त्र श्लोक १/१/२** में कहा कि ईश्वर द्वारा वेदों में मनुष्यों के लिए जिन कर्मों को करने की आज्ञा दी है वही धर्म है अन्यथा अधर्म है। तथा **गीता श्लोक ३/१५** में कहा-"**कर्म ब्रह्मोद् भवम् विद्धि, ब्रह्म अक्षरसमुद् भवम्**" अर्थात् कर्म वेद से उत्पन्न जान तथा वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हुए हैं। अतः धर्म शब्द का अर्थ वेदोक्त शुभ कर्म करने के हैं। जिसके लिए हमें वेदों का अध्ययन करना अति आवश्यक है। अन्यथा अविद्या ग्रस्त होकर प्राणी अन्धविश्वास, थोथे कर्म काण्ड, इत्यादि में फँस कर जीवन व्यर्थ कर लेता है। अतः प्रस्तुत श्लोक का अर्थ हुआ कि जब-जब संसार में "**धर्मस्य ग्लानिः भवति**" अर्थात् वेदोक्त शुभ कर्मों की हानि होती है और वेद-विरुद्ध अधर्मयुक्त कर्मों में वृद्धि होती जाती है तब-तब ही मैं अपनी आत्मा को रचता हूँ अर्थात् मैं शरीर धारण करता हूँ। पिछले श्लोक के विस्तृत वर्णन और उस वर्णन में ही **अथर्ववेद मन्त्र ९/१०/११** के प्रमाण से यह सिद्ध हो जाता है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज मुक्त जीवात्मा थे जो अपनी मर्ज़ी से कभी भी जन्म लेकर जीवों का

कल्याण करके पुनः मोक्ष सुख में लौट जाते हैं। इसी आधार पर श्रीकृष्ण महाराज यहाँ कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जब-जब धर्म की हानि होती है और अधर्म बढ़ता है तब मैं अपनी इच्छा से शरीर धारण करता हूँ।

ऋग्वेद मन्त्र ७/३५/१३ में ईश्वर को **"अज एकपात्"** कहा है अर्थात् ईश्वर कभी जन्म नहीं लेता। अज का अर्थ है **"अ + ज"** अ = नहीं और ज = जन्म अर्थात् जिसका कभी जन्म नहीं होता। एकपात् का अर्थ है जिसकी शक्ति के एक अंश मात्र से सारा संसार प्रकृति से मेल करके उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध है कि परमेश्वर अवतार नहीं लेता। श्रीकृष्ण महाराज सिद्ध पुरुष थे, अवतार नहीं थे। उन्होंने अपनी इच्छा से त्रेता युग में शरीर धारण किया था।

श्रीकृष्ण उवाच –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(गीता श्लोक ४/८)

(साधुनाम्) साधुओं की **(परित्राणाय)** रक्षा के लिए **(च)** तथा **(दुष्कृताम्)** पाप युक्त कर्म करने वाले पापियों के **(विनाशाय)** नाश करने के लिए तथा **(धर्मसंस्थापनार्थाय)** धर्म को स्थापित करने के लिए **(युगे युगे)** युग युग में **(संभवामि)** सम्भव होता हूं, उत्पन्न होता हूँ।

अर्थः- साधुओं की रक्षा के लिये तथा पाप युक्त कर्म करने वाले पापियों का नाश करने के लिए तथा धर्म को स्थापित करने के लिए युग युग में सम्भव होता हूँ अर्थात् उत्पन्न होता हूँ।

भावार्थः- मनुस्मृति श्लोक २/१३ में कहा कि केवल वेद द्वारा ही धर्म का निश्चय होता है, बिना वेद ज्ञान के धर्म-अधर्म का निश्चय करना संभव नहीं। **सांख्य शास्त्र १/६६** में वेद के ज्ञाता ऋषि के ही वचन प्रमाणिक कहे हैं, अन्य के नहीं। इन्हीं सभी आधार पर उपनिषद्, छः शास्त्र, महाभारत (गीता) आदि ग्रन्थों की रचना वेद-विद्या में पारंगत ऋषियों द्वारा होने से यह सब ग्रन्थ प्रमाणिक हैं परन्तु आज हमारे देश का दुर्भाग्य है कि

प्रायः इन ग्रन्थों की व्याख्या वह स्वयंभू सन्त करते हैं जो वेद-विद्या से कोसों दूर हैं और प्रायः वेद एवं वेदों में कही योग-विद्या की निन्दा भी करते हैं। इस प्रकार यह विडम्बना ही है कि हम आज के प्रायः अप्रमाणिक वचनों को सुनकर उन्हें प्रमाणिक सत्संग मान बैठते हैं। प्रस्तुत श्लोक में **'साधूनाम्'** का अर्थ सत्य पर आचरण करने वाले, वेदाध्ययन द्वारा सत्य का निर्णय करने वाले, इन्द्रिय संयम रखने वाले, धन आदि के लोभ में न फँसने वाले, कठोर पुरुषार्थ करने वाले इत्यादि अनेक गुणों से सम्पन्न सत्पुरुषों को साधु-सन्त कहा है। इस प्रकार धर्म पर चलने वाले धर्मात्मा की रक्षा और कुकर्म करने वाले अधर्मियों का नाश करके 'वैदिक धर्म की स्थापना करने के लिए ईश्वरीय शक्ति रूप योगी स्वतः ही प्रकट होता है। प्रस्तुत श्लोक का यही भाव है। गीता एक वैदिक प्रवचन है, अतः वेदों के नियमों की तनिक भी अवहेलना करके गीता के वास्तविक अर्थ प्रकट नहीं हो सकते। चारों वेदों में यह नियम है, **'सत्यमेव जयते'** अर्थात् सत्य की ही जीत होती है। **ऋग्वेद मन्त्र १/९०/९** में कहा **"उरुक्रमः मित्रः नः शम् शं नः भवतु अर्यमा"** अर्थात् सर्वशक्तिमान ईश्वर हमारे लिए सुखकारी हो और **'अर्यमा'** अर्थात् न्याय करने वाला हो। ईश्वर हमें न्याय देने वाला एवं सुख देने वाला हो। अतः न्यायकारी परमेश्वर किसी को निमित्त बनाकर ही सत्य का पलड़ा भारी करता है। एवं किसी को निमित्त बनाकर ही पापियों का नाश करता है और धर्मात्माओं को न्याय दिलाकर सुख देता है। महाभारत युद्ध में श्रीकृष्ण एवं पाण्डव धर्मयुद्ध को जीतने में निमित्त मात्र हैं, ऐसा गीता श्लोक में कह भी दिया गया है। परन्तु वास्तविक ईश्वरीय शक्ति श्रीकृष्ण में प्रकट थी। यह **यजुर्वेद मंत्र ७/४८** में भी कहा नियम है कि जीव कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है अतः चाहे पाप करे, चाहे पुण्य करे। परन्तु कर्मों का फल परमात्मा देता है। परमात्मा सबमें है, सबके कर्मों को देख रहा है अतः उससे डरकर, हमें केवल शुभ कर्म करने चाहिए। रावण के पाप बढ़ चुके थे एवं समयानुसार दशरथ पुत्र श्रीराम में ईश्वरीय शक्ति प्रकट हुई और लंका का अर्थात् असुर वृत्तियों का नाश हुआ। इसी प्रकार दुर्योधन की असुर वृत्तियाँ तथा वेद-विरुद्ध पाप कर्म अत्याधिक बढ़ चुके थे। दुर्योधन, शकुनि, दुःशासन एवं कणिक शास्त्री, इन चारों की मिलीभगत ने पाण्डवों एवं ऋषि-मुनि, धर्मात्माओं पर अत्याधिक कहर ढाना शुरू कर रखा था जिसका वर्णन महाभारत में सभी जानते हैं, अतः इन आसुरी वृत्तियों का नाश करने के लिए श्रीकृष्ण की जीवात्मा में शरीर रूप में ईश्वर प्रकट हुआ था और न्यायकारी ईश्वर की शक्ति ने महाभारत युद्ध में

"साधूनाम् परित्राणाय" अर्थात् पाण्डव जैसे सज्जन पुरुषों, उस समय के ऋषियों एवं प्राणियों का उद्धार करने के लिए तथा **"दुष्कृताम् विनाशाय"** दुष्टों का नाश करने के लिए और इस प्रकार **'धर्मसंस्थापनार्थाय'** वैदिक धर्म की स्थापना के लिए महाभारत जैसे धर्म युद्ध के माध्यम से सत्य को स्थापित किया। ऐसे शुभ कर्मों के लिए ईश्वर को अवतार लेने की आवश्यकता नहीं होती। **श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८** के अनुसार पृथिवी पर यह धर्म, न्याय एवं शुभ कर्म नियमानुसार निश्चित समय पर (युगे-युगे) स्वयं होते रहते हैं। भूकम्प, बाढ़, तूफान इत्यादि में छोटे-छोटे बच्चों का बचना, असम्भव का संभव होना, गरीब इन्सान को अचानक न्याय मिल जाना, राजा का रंक एवं रंक का राजा हो जाना, देव एवं असुर संग्राम में देवताओं का विजयी हो जाना, यह सब न्यायकारी कर्म ईश्वर की शक्ति द्वारा हर युग में स्वयं होते रहते हैं। यह किसी के कहने से नहीं होते, स्वयं होते हैं क्योंकि जैसा **यजुर्वेद मन्त्र ७/४८** में उपर कहा कि ईश्वर समय पर कर्मफल स्वयं देता है। हमारे प्राचीन काल के ऋषियों ने उपनिषद्, छः शास्त्र एवं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में, वेद-विद्या को सरल ढंग से समझाने का ही प्रयास किया है। सम्पूर्ण विद्या तो वेद में ही है, वेदों के अध्ययन से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके ऋषियों ने वेदों से लेकर थोड़ा-थोड़ा ज्ञान ही उपनिषद् आदि में कहा है। गीता के प्रस्तुत **श्लोक ४/८** को ही केन ऋषि, केनोपनिषद् में देवासुर संग्राम द्वारा चरितार्थ कर रहे हैं। केनोपनिषद् के दूसरे खण्ड के अन्त में कहा कि इस जन्म में ही यदि किसी ने उस निराकार, अजन्मा, अविनाशी ब्रह्म को जान लिया तो कल्याण है अन्यथा सर्वनाश है। इस उपनिषद् में कथा आती है कि देवताओं एवं असुरों (देव वृत्ति एवं असुर वृत्ति) में युद्ध हुआ। निश्चित ही परमात्मा की शक्ति ने देवों को विजयी बनाया। परन्तु देवों ने विजय को अपनी ही महिमा समझा अर्थात् विजय के अभिमान वश परमात्मा एवं परमात्मा की शक्ति को भूल गए। देवताओं की इस बात को परमेश्वर ने जान लिया। देवताओं की भलाई के लिए उनके सामने यक्ष के रूप में प्रकट हो गया। देवता उस यक्ष को नहीं जान सके। देवताओं ने अग्नि देव को कहा कि मैं अग्नि हूँ। यक्ष ने कहा तुझमें क्या शक्ति है? अग्नि ने कहा कि मैं पृथिवी के सब पदार्थों को जलाकर राख कर सकती हूँ। यक्ष ने अग्नि के सम्मुख एक तिनका रख दिया और कहा इसे जलाओ। अग्नि ने अपना सम्पूर्ण बल लगा दिया पर तिनके को न जला सकी और देवताओं के पास वापिस लौट गई। पुनः देवताओं ने वायु को भेजा परन्तु वायु भी तिनके को हिला तक नहीं सका और वापिस लौट गया।

अन्त में इन्द्र यक्ष को जानने के लिए यक्ष के पास पहुँचा परन्तु ब्रह्म के रूप में वह यक्ष छिप गया और इन्द्र को वहाँ आकाश में ऊमा नामक स्त्री दिखाई दी और ऊमा ने इन्द्र को बताया कि यक्ष के रूप में तुम्हारे सामने ब्रह्म ही था और तुम्हारी विजय का कारण ब्रह्म है। इस कथा का भाव समझने के लिए वेदाध्ययन की आवश्यकता है जिसका वर्णन लेख बड़ा होने के भय से नहीं किया जा सकता। सारांश यह है कि धर्म स्थापना के लिए प्रत्येक युग एवं समय में जब भी कोई व्यक्ति वैदिक मार्ग पर चलकर कठोर परिश्रम-तप करता है तो उसके अन्दर छिपा हुआ परमेश्वर प्रकट हो जाता है। और इस प्रकार सत्य की विजय परमेश्वर की कृपा से प्राप्त हो जाती है। यह एक वैदिक नियम है। अतः अवतार की कहीं भी आवश्यकता नहीं होती, केवल ईश्वर के बनाए हुए वेदों में कहे वैदिक नियम निश्चित समय पर अपना कार्य, स्वाभाविक रूप से **(स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रिया, श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/८)** करते रहते हैं। अतः श्रीकृष्ण में ईश्वरीय शक्ति प्रकट थी और इस प्रकार पाण्डवों ने महाभारत का धर्म युद्ध जीता।

श्रीकृष्ण महाराज ने साधुओं की रक्षा, पापियों का नाश और धर्म को स्थापित करने के लिए अपनी इच्छा से शरीर धारण किया था। ऐसे सिद्ध, मुक्त कोई भी पुरुष कभी भी अपनी इच्छा से शरीर धारण कर सकते हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज का भी यही भाव रहा है कि हे अर्जुन! मैं युग-युग में शरीर धारण करके पापियों का नाश करने आऊँगा। साधु शब्द का ऊपर अर्थ कर दिया गया है। दुष्कृताम् अर्थात् पापयुक्त कर्म करने वाले वह होते हैं जो वेद विरुद्ध कर्म करते हैं। धर्म की स्थापना में धर्म शब्द का अर्थ पिछले श्लोकों में वेद शास्त्र के प्रमाण द्वारा कह दिया गया है। पुनः धर्म शब्द का अर्थ वैदिक धर्म है अर्थात् जो-जो कर्म वेदों में शुभ कहे हैं उन्हें करना धर्म है और वेदों के विरुद्ध कर्म करना पाप है। श्रीकृष्ण महाराज वैदिक धर्म के विरुद्ध कर्म करने वाले पापियों का नाश करके और इस प्रकार वैदिक धर्म की स्थापना करके पुनः अपनी मुक्ति के सुख में लौट गए थे। महाभारत ग्रन्थ के मूसल पर्व में व्यास मुनिजी ने जो श्रीकृष्ण महाराज के द्वारा शरीर त्यागने की सत्य कथा कही है वह कथा भी श्रीकृष्ण द्वारा अपनी इच्छा से शरीर त्यागने के सत्य को दर्शाती है। व्यास मुनिजी ने कथा के अन्त में कहा है कि जब श्रीकृष्ण महाराज ने देखा कि उनके सामने ही सभा में बैठे उनके तीनों पुत्रों का वध कर दिया गया है और उनके भ्राता बलरामजी सभा छोड़ कर जंगलों की तरफ अकेले चले गए हैं और बलरामजी ने भी शरीर त्याग दिया है तब श्रीकृष्ण महाराज सब कुछ त्यागकर

जंगल में एक वृक्ष के नीचे बैठकर शरीर त्याग ही रहे थे कि किसी निषाद का तीर उनके पैर के अंगूठे पे आकर लगा। निषाद के क्षमा माँगने पर श्रीकृष्ण ने निषाद को कहा था कि हे निषाद! मैं तो स्वयं ही शरीर त्याग रहा था अतः चिन्ता न कर। और इस प्रकार आसन पर बैठकर श्रीकृष्ण महाराज ने शरीर अपनी इच्छा से त्याग दिया था।

श्रीकृष्ण उवाच –

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।

(गीता श्लोक ४/६)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(मे)** मेरा **(जन्म)** जन्म **(च)** और **(कर्म)** कर्म **(दिव्यम्)** दिव्य है **(एवम्)** इस प्रकार **(यः)** जो पुरुष **(तत्त्वतः)** तत्त्व से **(वेत्ति)** जानता है **(सः)** वह **(देहम्)** शरीर को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(पुनः)** फिर दुबारा **(जन्म)** जन्म को **(न)** नहीं **(एति)** प्राप्त होता है **(माम्)** मुझे **(एति)** प्राप्त होता है।

अर्थः– हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य है, इस प्रकार जो पुरुष तत्त्व से जानता है, वह शरीर को त्यागकर फिर दुबारा जन्म को नहीं प्राप्त होता है, मुझे प्राप्त होता है।

भावार्थः– ऋग्वेद मन्त्र ८/१००/११ में कहा–**"देवाः देवीं वाचं अजनयंत"** अर्थात् विद्वान् पुरुष ही दिव्य वाणी अर्थात् वेदवाणी को सर्वप्रथम उच्चारण द्वारा प्रकट करते हैं। उसके पश्चात ही साधारण पुरुष इस दिव्य वाणी को बोलते हैं। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है–**"विद्वांस एव देवाः"** अर्थात् जो विद्वान् हैं उन्हीं को देव कहते हैं, जो चारों वेदों के ज्ञाता हैं, उन्हें ब्रह्मा कहते हैं। ऊपर ऋग्वेद के मन्त्र में वेदवाणी को दिव्य वाणी कहा है। जो मन, बुद्धि, अहंकार इत्यादि से उत्पन्न वाणी नहीं है, वही दिव्य वाणी है। वेदवाणी ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण ही दिव्य है, अलौकिक है अर्थात् इस लोक में किसी मनुष्य के द्वारा रचित नहीं है। यह दिव्य वाणी जिस भी तपस्वी के अन्दर योगाभ्यास आदि साधना द्वारा प्रकट होती है, वही दिव्य पुरुष है। ऐसे दिव्य पुरुष में रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण वाली चंचल वृत्ति और इन तीनों गुणों का प्रभाव नहीं रहता। ऐसे योगी के विषय में योगशास्त्र सूत्र

"ततः पुनः शान्तोदितो तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः।।" (३/१२)

एवं योगशास्त्र सूत्र-

"एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामाव्याख्याताः।।" (३/१३)

में भी ऋषि पता जलि ने अच्छी तरह कहा है। **यजुर्वेद मन्त्र ३/५४** में जब तक योगी को दिव्य गुण प्राप्त न हों, तब तक योगाभ्यास आदि साधना को प्रत्येक जन्म में करने के लिए बार-बार मनुष्य जन्म प्राप्त करने की प्रार्थना की गई है। **यजुर्वेद मन्त्र ३/५५** में कहा **"दैव्यः जनः पुनः मनः ददातु"** अर्थात् दिव्य गुणों को प्राप्त ऐसे दैव्य पुरुष हमें पुनः मनुष्य जन्म प्रदान करें जिससे हम अपनी भक्ति को अगले जन्म में भी बनाए रखें। **यजुर्वेद मन्त्र १७/१४** में कहा कि जो पूर्ण विद्वान् अर्थात् योगीराज हैं, वह ही वास्तव में ईश्वर को जानते हैं। ऐसे दिव्य पुरुष न सूर्यलोक में, न ही पृथिवीलोक में निमित रूप से निवास करते हैं अपितु ब्रह्मलीन होकर लोक-लोकान्तरों में सर्वत्र भ्रमण करते रहते हैं। ऐसे ही पुरुषों के जन्म एवं कर्म दिव्य कहे गए हैं। श्रीकृष्ण महाराज स्वयं योगेश्वर एवं जीवन्मुक्त पुरुष थे। उनमें ब्रह्म प्रकट हुआ था। अतः ऐसे आनन्द की अवस्था में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि हे अर्जुन! मेरा जन्म और कर्म दिव्य हैं-अलौकिक हैं परन्तु साथ ही कह दिया कि जो इस रहस्य को तत्त्व से जानता है, उसका दुबारा जन्म नहीं होता और वह मुझे ही प्राप्त होता है। प्रस्तुत श्लोक में **"तत्त्व"** शब्द रहस्यमयी है। वाल्मीकि रामायण प्रथम सर्ग में भी श्रीराम को **"वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञः"** अर्थात् वेद और वेदाङ्गों के मर्म को जानने वाले, कहा हैं। यही सब गुण व्यास मुनिजी ने श्रीकृष्ण महाराज के विषय में महाभारत ग्रन्थ में कहे हैं। **"तत्त्वज्ञ"** अर्थात् तत्त्व से जानने वाले का भाव है कि केवल पढ़, लिख, रट कर नहीं अपितु योगाभ्यास द्वारा समाधि अवस्था में ईश्वर एवं वेदविद्या का अनुभव करने वाले। अतः श्रीकृष्ण महाराज का भाव यही है कि जो मनुष्य अनादिकाल से चली आ रही वैदिक विद्या और उसमें कहे शुभ कर्मों का आचरण तथा योगाभ्यास, समाधि द्वारा दिव्य गुण पा जाता है-धारण कर लेता है, उसका दूसरा जन्म नहीं होता और वह श्रीकृष्ण की तरह जीवन्मुक्त हो जाता है। दूसरा भाव यह है कि चारों वेद कह ही रहे हैं कि जीवन्मुक्त पुरुष के उपदेश से ही कोई जिज्ञासु जीवन्मुक्त होता है। अतः योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसे महापुरुषों, ऋषि-मुनियों को जो सनातन पद्धति (वेद विद्या) द्वारा जान जाता है अर्थात् उनके दिव्य जन्म को पहचान जाता है, और उनकी सेवा

एवं आज्ञा में रहता है तो ऐसे दिव्य पुरुष की सेवा का फल भी जीवन मुक्ति ही कहा है। अतः श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि जो मेरे इस दिव्य जन्म एवं कर्म को जान जाता है, वह मुझे ही प्राप्त हो जाता है। परन्तु यहाँ **ऋग्वेद मन्त्र १/४५/१** का एक रहस्य अवश्य है कि ऐसे जीवित विद्वान् की ही सेवा भक्ति की जाती है। जिसने शरीर त्याग दिया, वह हमें विद्या दान नहीं कर पाएगा।

श्रीकृष्ण उवाच –

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।

(गीता श्लोक ४/१०)

(वीतरागभयक्रोधाः) राग, भय तथा क्रोध से रहित **(मन्मयाः)** मेरे से युक्त **(माम्)** मेरे **(उपाश्रिताः)** उपाश्रित हुए **(बहवः)** बहुत से **(ज्ञानतपसा)** ज्ञान रूपी तप द्वारा **(पूताः)** पवित्र हुए **(मत्-भावं)** मेरे भाव को **(आगताः)** प्राप्त हुए हैं।

अर्थः- राग, भय तथा क्रोध से रहित, मेरे से युक्त मेरे उपाश्रित हुए, बहुत से ज्ञान रूपी तप द्वारा पवित्र हुए, मेरे भाव को प्राप्त हुए हैं।

भावार्थः- **'वीत'** शब्द का अर्थ है दूर होना। अतः स्पष्ट है कि जिसके राग, भय और क्रोध जैसी पाप वृत्तियाँ ज्ञान, तप से दूर हो गए हों तो वही मनुष्य योगेश्वर श्रीकृष्ण के समान योगेश्वर एवं जीवन-मुक्त पुरुष हो जाता है। श्लोक में **"मन्मयाः"** का यही भाव है कि ऐसा पाप मुक्त पुरुष, श्रीकृष्ण के समान हो जाता है। **"मन्मया"** शब्द में **"मत्"** एवं **"मय"** यह दो शब्द हैं। **'मत्'** का अर्थ **"मुझ"** एवं **'मय'** का अर्थ **"से युक्त"**, **"पूर्ण"** अथवा **"से बना हुआ"** है।

उदाहरणार्थः- किसी ने सभा में ऐसा विरक्त एवं वैराग्यपूर्ण भजन गाया कि सभा का वातावरण अश्रुमय हो गया अर्थात् रोने की भावना से युक्त हो गया इत्यादि। इस प्रकार योगेश्वर श्रीकृष्ण जो जीवन्मुक्त पुरुष थे, पाप उन्हें छू भी नहीं सकता था तो उनका यही उपदेश है कि जो भी मनुष्य वैदिक साधना द्वारा पाप से मुक्त हो जाता है, वह श्रीकृष्ण जैसा ही हो जाता है। **"मत् भावम्"** का भी यही अर्थ है कि ऐसा पुरुष ज्ञान रूपी तत्त्व

से पवित्र होकर श्रीकृष्ण के भाव जैसा ही हो जाता है अर्थात् श्रीकृष्ण जीवन-मुक्त पुरुष हैं तो वह पुरुष भी जीवन्मुक्त हो जाता है। **योग शास्त्र सूत्र १/३७** में ऋषि पता जलि कह रहे हैं कि जब चित्त राग से मुक्त हो जाएगा, तब चंचल मन भी स्थिर हो जाता है। और जिस योगी का चित्त राग से मुक्त है ऐसे योगी की सेवा एवं ध्यान द्वारा साधक का मन भी स्थिर हो जाता है। **योग शास्त्र** में ही **सूत्र २/३** में ऋषि ने अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, यह पाँच क्लेश कहे हैं जिनके रहते प्राणी बार-बार जन्म-मृत्यु एवं पशु पक्षी की योनि में भटकता हुआ दुःख भोगता रहता है। इसी शास्त्र **के सूत्र २/७** में कहा कि सुख के अनुसरण करने की इच्छा ही राग है अर्थात् एक बार किसी इन्द्रिय का सुख जीवात्मा को प्राप्त हुआ कि उस सुख को जब बार-बार भोगने की इच्छा जाग्रत होती है तो ऐसी इच्छा को ही उस सुख के प्रति राग कहा है और यह इच्छा असंख्य विषयों, लोभ-लालच आदि के प्रति हो सकती है। अर्जुन भी महाभारत युद्ध के समय अपने सगे-सम्बन्धियों के प्रति इस राग वृत्ति में भी फँसा रहकर युद्ध नहीं करना चाहता। अर्थात् यह बुराईयाँ हमें धर्म पर नहीं चलने देतीं। पिछले योगशास्त्र सूत्र में **"अभिनिवेश"** शब्द आया है जिसका अर्थ मृत्यु का भय है। मानव जन्म से लेकर, मृत्यु पर्यन्त लाभ-हानि, मान-अपमान, निन्दा-स्तुति एवं मृत्यु आदि अनेक विपत्तियों से सदा भयभीत रहता है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** में ज्ञान है कि जब प्राणी भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों मार्गों पर चलकर साथ-साथ उन्नति करता है तब **"अविद्याम् मृत्युम् तीर्त्वा"** अर्थात् जगत रचना, इसके पदार्थ तथा शरीर के विषय में यह जाना जाता है कि यह सब नाशवान है और इस प्रकार इन वस्तुओं से राग नहीं करता एवं इस प्रकार मृत्यु के भय से भी दूर हो जाता है क्योंकि वह जानता है, वह स्वयं जीवात्मा है, अविनाशी है एवं अमरण धर्मा है। दूसरी तरफ **"विद्याम् अमृतम् अश्नुते"** अर्थात् आध्यात्मिक उन्नति द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त कर लेता है। इसमें **अथर्ववेद मन्त्र १६/१५/५** एवं **६** में कहा है कि हे ईश्वर! हम तीनों लोकों में जहाँ भी जाएँ, सबसे अभय हों तथा मित्र अमित्र, ज्ञात अथवा अज्ञात, दिवस अथवा रात्रि में सब स्थान पर हम अभय हों। **अथर्ववेद काण्ड २ सूक्त १६** में ईश्वर से प्रार्थना है कि हम किसी से द्वेष न करें, विद्याध्ययन, योगाभ्यास एवं यज्ञ जैसी महान उपासना द्वारा हमारे अन्दर ज्ञान की ज्योति प्रकट होती है जिसके कारण राग-द्वेष की भावनाएँ नष्ट होती हैं। अतः हमारा जीवन ज्ञानमय हो।

भोजन दो प्रकार के हैं- एक तो शरीर के लिए अन्न आदि और दूसरा **अथर्ववेद**

मन्त्र ४/३४/१ में जीवात्मा का भोजन **"ब्रह्मौदनम्"** कहा है। ब्रह्म का अर्थ शब्द ब्रह्म और परब्रह्म है। शब्द ब्रह्म वेदों के मन्त्रों तथा पर-ब्रह्म समाधि में ईश्वर की अनुभूति कही गई है। तो इसके लिए मन्त्र कहता है कि हम ज्ञान ग्रहण रूपी तप में सदा लगे रहें और ईश्वर इस वेदाध्ययन आदि ज्ञान रूपी तप द्वारा हमें काम, क्रोध, राग-द्वेष आदि पापों से इस प्रकार पार कर दे जैसे नौका द्वारा किसी नदी से पार किया जाता है। **अथर्ववेद मन्त्र ६/२/१८** में कहा कि एक जितेन्द्रिय पुरुष के समान हम काम, क्रोध एवं लोभ आदि पाप युक्त भावनाओं को अपने से दूर कर दें। **अथर्ववेद मन्त्र ८/१/१६** में उपदेश है कि हे प्राणी! तू काम, क्रोध आदि पाप में न फँस। मन्त्र में **"सम हनु"** कहकर सचेत किया है कि प्राणी क्रोध की अग्नि में जलता हुआ आग बबूला न हो जाए। भाव यह है कि विकार जीव को इस लोक और परलोक दोनों में ही दुःख देते हैं और अगले मन्त्रों में कहा कि इन पापों के कारण कहीं तेरी असमय मृत्यु द्वारा बाल बिखेरे हुए स्त्रियाँ तुझे न रोयें। **अथर्ववेद मन्त्र ७/७४/३** में ईश्वर कहता है कि ऐ मनुष्य! मैं वेदवाणी द्वारा तेरे मन से ईर्ष्या व क्रोध दूर करता हूँ। अतः जैसा ऊपर कहा कि वेदाध्ययन, योगाभ्यास एवं यज्ञ के द्वारा ही हम सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके पाप वृत्तियों को दूर करने में समर्थ होते हैं। यह ईश्वरीय नियम है और इसे ही ज्ञान यज्ञ अथवा ज्ञान तप कहते हैं। प्रस्तुत श्लोक में राग, भय और क्रोध वाली वृत्तियों को त्यागकर ही प्राणी श्रीकृष्ण के भाव को प्राप्त हुआ, मोक्ष सुख प्राप्त कर सकता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः"।।

(गीता श्लोक ४/११)

(पार्थ) हे कुन्ती पुत्र अर्जुन **(ये)** जो मनुष्य **(माम्)** मेरे को **(यथा)** जैसा **(प्रपद्यन्ते)** भजते हैं **(अहम्)** मैं **(तान्)** उनको **(तथा)** वैसा **(एव)** ही **(भजामि)** भजता हूँ। **(मनुष्याः)** सब मनुष्य **(सर्वशः)** पूर्णतः **(मम)** मेरे **(वर्त्म)** मार्ग को **(अनुवर्तन्ते)** अनुगमन करते हैं।

अर्थः- हे कुन्ती पुत्र अर्जुन! जो मनुष्य मेरे को जैसा भजते हैं मैं उनको वैसा ही भजता हूँ। सब मनुष्य पूर्णतः मेरे मार्ग का अनुगमन करते हैं।

भावार्थः- श्लोक में प्रपद्यन्ते शब्द पद्य से पहले **'प्र'** अव्यय लगाकर बना है। पद्य शब्द का अर्थ कविता का पद, प्रशंसा अथवा स्तुति है। प्रस्तुत श्लोक में इसका अर्थ **स्तुति** अर्थात् **भजना** उचित लगता है। अतः प्रपद्यन्ते शब्द का अर्थ है अच्छी प्रकार से जो मुझे जैसा भजते हैं। तो मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ। अर्थात् जो ब्रह्म प्राप्ति के लिये भजते हैं, उन्हें ब्रह्म और जो संसारी भोग चाहते हैं उन्हें संसारी भोग प्राप्त होते हैं। ऐसा कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर किए हुए कर्मों का फल देता है। शुभ या अशुभ, दो प्रकार के कर्म ही हैं। शुभाशुभ कर्मों का निर्णय वेद द्वारा ही कहा गया है। **मनुस्मृति श्लोक २/१३** में कहा **"धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः"** धर्म शब्द का अर्थ कर्त्तव्य, कर्म एवं श्रुति का अर्थ चारों वेद कहे गए हैं। भाव यह है कि जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करना चाहते हैं, वह विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कर्म-अकर्म इत्यादि का निर्णय वेद द्वारा करें। क्योंकि अन्य शास्त्रों के अनुसार यहाँ मनुस्मृति भी कह रही है कि वेद-विद्या जाने बिना धर्म-अधर्मादि विषयों का निश्चय ठीक-ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि **मनुस्मृति श्लोक १/१०६** में पुनः कहा कि वेद विद्या के अभाव में ब्रह्म प्राप्ति के लिये जीव ईश्वर को नहीं भजता फलस्वरूप सुख प्राप्त नहीं हो सकता और जो वेद-विद्या पर आचरण करता है वो ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख (मोक्ष सुख) प्राप्त करता है। आज जो मनुष्य ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ त्यागकर वेद विरोधि सन्तों की झूठी बातों में आकर वेद-विरोधी ग्रन्थ एवं सत्संग का सहारा लिया है, उसने सम्पूर्ण भूमि को दुःखों के सागर में झोंक दिया है। अधिकतर सन्तों की बातों में वेद शास्त्र स्मृति आदि का कोई प्रमाण नहीं होता। हमें गहनावस्था में विचार करना ही होगा कि क्या हम अपनी अनादि सनातन वैदिक पद्धति का त्याग कर दें जिसके बल पर ही भारत भूमि **"विश्व गुरु"** एवं **"सोने की चिड़िया"** के पद से सुशोभित थी। पुनः वैदिक पद्धति द्वारा प्रस्तुत श्लोक पर विचार करने पर श्रीकृष्ण के कथन कि सब मनुष्य मेरे मार्ग का ही अनुगमन-आश्रय करते हैं। इसका भाव है कि श्रीकृष्ण महाराज वेदों के मार्ग पर चलते थे और उनके समय तक विश्व में अनादि काल से चला आया वैदिक मार्ग ही प्रचलित था। अतः आज भी हम श्री कृष्ण महाराज के वैदिक मार्ग का अनुसरन करें। वैदिक ज्ञान के अनुसार इस मार्ग में कभी भी बदलाव नहीं लाया जा सकता (देखें अनेक मन्त्रों जैसे **यजुर्वेद** का **मन्त्र ३२/१४**)। वैदिक पद्धति में कमी, बदलाव अथवा इसकी निन्दा सम्पूर्ण पृथिवी को कहर की आग में ढकेल देती है (पढ़ें **अथर्ववेद काण्ड १२ सूक्त ५** इत्यादि)। **अथर्ववेद मन्त्र**

५/१७/७ में तो ईश्वर ने स्पष्ट ही कह दिया है कि वेद-विरुद्ध होने पर पृथिवी पर बलात्कार, योद्धाओं का लड़-लड़कर मरना, हिंसा, चोरी डकैतियां बढ़ना, गर्भपात इत्यादि पाप बढ़ जाते हैं जोकि आज देखने में आ रहा है। आज के वेद-विरोधी सन्तों ने स्वार्थवश वेद-विरोधी भावना फैलाकर इन पापों की अत्याधिक बढ़ौतरी कर दी है। अतः श्रीकृष्ण का भाव है कि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज, सुदामा सखा सहित संदीपन गुरु के आश्रम में वेद एवं योग विद्या में पारंगत होकर संसार के सर्वश्रेष्ठ एवं सर्वोत्तम योगेश्वर पद को प्राप्त किए हुए थे। उनके अन्दर ब्रह्म प्रकट था। उसी ब्रह्मास्वथा में उन्होंने गीता ग्रन्थ में कई स्थान पर ब्रह्म के तुल्य होकर **"मम"** आदि शब्दों का प्रयोग किया है। जैसा ऊपर कहा कि शुभ, वेदोक्त कर्म भी दो प्रकार के हैं। एक तो प्राणी ईश्वर भक्ति द्वारा केवल संसारी कामनाओं की पूर्ति की इच्छा करता है-सकाम कर्म, दूसरा निष्काम कर्म योग। जब वैराग्यवान होकर मनुष्य केवल ईश्वर प्राप्ति की इच्छा करता है जिसका वर्णन श्रीकृष्ण महाराज ने श्लोक **२/४०** से **२/५३** तक एवं तीसरे अध्याय में समझाया है। अतः यहाँ श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि जो मुझको सकाम अथवा निष्काम भाव से, जैसे भी भजते हैं, मैं उनको उसी प्रकार का फल देता हूँ। **सामवेद मन्त्र २** कह ही रहा है कि ईश्वर ऋषि-मुनि, योगियों के द्वारा ही मनुष्य जाति का कल्याण करता है। श्रीकृष्ण महाराज में ब्रह्म प्रकट है। उसी ब्रह्म में लीन होकर श्रीकृष्ण यह भाव प्रदर्शित कर रहे हैं। वस्तुतः कर्मफल तो ईश्वर द्वारा ही दिया जाता है। परन्तु योगियों के द्वारा ही ईश्वर कल्याण करता है। जब प्राणी ईश्वर एवं ऋषि-मुनि, योगियों के इस रहस्य को जान जाता है तब श्रीकृष्ण महाराज का अगला वाक्य लागू हो जाता है यहाँ श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि इस प्रकार विचार करके जब मनुष्य, उनके ही कर्म के अनुसार वर्तते हैं और श्रीकृष्ण महाराज का मार्ग वैदिक मार्ग रहा है, अतः आज भी हम गीता में कहे वैदिक मार्ग का ही अनुसरण करके, धर्म-अधर्म को जानकर और केवल धर्म-कर्त्तव्य मार्ग पर ही चलकर, परिवार, समाज, देश एवं संसार को सतयुग, त्रेता, द्वापर की तरह सुख सम्पदा से परिपूर्ण कर दें। वेद-विरुद्ध कर्म, अशुभ कर्म कहा गया है जोकि पापयुक्त वृत्ति वाला होता है, जिसे चारों वेदों ने निषेध कहा है। क्योंकि ऐसे कर्मों का फल सदा दुःखदायी-नरकगामी है। अन्त में श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! जो वेदों के इस रहस्य को जान जाता है कि मैंने (श्रीकृष्ण ने) वेद मार्ग को अपनाया था तो प्राणी भी वेद मार्ग पर चलता हुआ वेदानुसार शुभ कर्म करे, प्राणी

वेदों से ज्ञान, कर्म और उपासना के रहस्य को जाने जैसा कि मैंने (श्रीकृष्ण ने) जाना, तो इस प्रकार ज्ञान, कर्म आदि को जानते हुए हे अर्जुन, बुद्धिमान मनुष्य सब प्रकार से मेरे कहे वैदिक मार्ग का ही अनुगमन करते हैं। परन्तु आज दुःख यह है कि प्रायः जीव श्रीकृष्ण महाराज का सनातन बताया वेदों का मार्ग प्रायः त्याग देता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा"।।

(गीता श्लोक ४/१२)

(इह) यहाँ **(मानुषे)** मनुष्य **(लोके)** लोक में **(कर्मणाम्)** कर्मों की **(सिद्धिम्)** सिद्धि को **(काङ्क्षन्तः)** चाहते हुए **(देवताः)** देवताओं का **(यजन्ते)** यज्ञ करते हैं क्योंकि **(कर्मजा)** कर्मों के द्वारा **(सिद्धिः)** कर्म सिद्धि **(क्षिप्रम्)** शीघ्र **(हि)** **(भवति)** होती है।

अर्थः- यहाँ मनुष्य लोक में कर्मों की सिद्धि को चाहते हुए, देवताओं का यज्ञ करते हैं क्योंकि कर्मों के द्वारा कर्म सिद्धि शीघ्र ही होती है।

भावार्थः- प्रस्तुत श्लोक में **"देवताः यजन्ते"** का भाव है कि कई प्राणी इस लोक में देवताओं की पूजा करते हैं। यजुर्वेद अध्याय एक में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ शुभ कर्म, ज्ञानवर्धक, परम ऐश्वर्य का देने वाला, दरिद्रता का नाशक, पवित्रता फैलाने वाला आदि अनेक गुणों की खान कहा है। **सामवेद मन्त्र ५६१** में कहा कि जब प्राणी वेदानुकूल यज्ञ आदि अनेक शुभ कर्म करता है, तो उसकी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। वेद ने यज्ञ के द्वारा ईश्वर प्राप्ति का भी प्रमाण दिया है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज यही बात कह रहे हैं कि **"देवताः यजन्ते"** अर्थात् विद्वान् जन कर्मों की सिद्धि अर्थात् शुभ कामनाओं की पूर्ति के लिए यज्ञ करते हैं, अर्थात् वेदों में कहे शुभ कर्म एवं हवन आदि यज्ञ की क्रियाओं को जीवन में धारण करते हैं। देव शब्द में माता-पिता, अतिथि, गुरु, परमेश्वर, यह पाँचों जीवित देव कहे गए हैं। इनकी सेवा से भी कामनाएँ पूर्ण होती हैं। देव शब्द का अर्थ **"वेदों का ज्ञाता, विद्वान्"** कहा है। देवता शब्द का भाव ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इनको भी कहा है। पिछले श्लोक २/४१ से ५३ तक के श्लोकों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि महाभारत काल में प्राणी वेद विरुद्ध कर्मों में लग चुका था और उसकी बुद्धि

"बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः" अर्थात् बहुत भेदों वाली बुद्धियाँ, अनन्त होती हैं, ऐसा कहा है तथा **"श्रुति विप्रतिपन्ना"** अर्थात् वेद विरुद्ध बहुत प्रकार के मार्गों को सुनकर विचलित हुई बुद्धि, ऐसा भी कहा है। भाव यह है कि विद्वान् लोग तो वेदानुकूल यज्ञ करते हैं परन्तु उस समय भी मनुष्य की विचलित बुद्धि, वेदमार्ग में कही एक परमेश्वर की पूजा छोड़कर, देवताओं की पूजा में लग गई थी अथवा वेदानुकूल यज्ञ कर्म को भी अधिकतर मनुष्य संसारी पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा से करने लगे थे, जिसके विषय में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि कर्मों से उत्पन्न सिद्धि अथवा कामनाएँ शीघ्र प्राप्त होती हैं। श्रीकृष्ण यह भी कह रहे हैं कि हे अर्जुन! इस लोक में कई देवताओं का यज्ञ करते हैं। दूसरा कहीं-कहीं मनुष्य अपनी इन्द्रियों को ही प्रसन्न करने के लिए पूजा करते हैं। तथा कई इन्द्रियों का तप करते हैं अर्थात् इन्द्रियों को वश में करने के लिए यज्ञ, तप करते हैं अथवा इन्द्रिय का सुख प्राप्त करने के लिये यज्ञ करते हैं। क्योंकि मनुष्य योनि में कर्म करने से शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त होती है। पिछले श्लोकों में सकाम और निष्काम कर्म का ज्ञान पहले ही दिया जा चुका है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** में कहा कि जीव शुभ कर्म करता-करता ही सौ वर्ष से अधिक सुख-सम्पन्न आयु को प्राप्त करे। श्लोक में कर्मों की सिद्धि की इच्छा को दर्शाया है अर्थात् मनुष्य पूजा करे, उसके पीछे कोई धन, पुत्र, यश इत्यादि की प्राप्ति की इच्छा हो। अतः यहाँ भाव यही है कि संसार के पदार्थों को पाने की इच्छा रखकर तथा परलोक (दूसरे जन्म) में जाकर भी सुख मिले, ऐसी इच्छा रखकर जो मनुष्य देवताओं की पूजा करते हैं, तो यह सकाम कर्म वाली भक्ति कही जाती है। ऐसी भक्ति द्वारा परम शांति अथवा ईश्वर प्राप्ति नहीं होती क्योंकि यह देवताओं की भक्ति है, ईश्वर की नहीं। ईश्वर प्राप्ति के लिए वैदिक मार्ग में वैराग्य की आवश्यकता पर जोर दिया गया है, जिसका वर्णन **योगशास्त्र सूत्र १/१५, १/१६** में ऋषि पता जलि ने किया है। **सामवेद मन्त्र ७२१** कह ही रहा है कि जो वेदों के ज्ञाता, विद्वान् होते हैं, वह सदा ईश्वर प्राप्ति की इच्छा से ही ईश्वर की भक्ति करते हैं। ऐसे विद्वान् सांसारिक इच्छा अथवा प्रमाद आदि दोष से परे होते हैं।

सारांश यह है कि श्रीकृष्ण महाराज के समय में ही कामना पूर्ति के लिए देवताओं की पूजा प्रारम्भ हो चुकी थी, उसमें वेदानुकूल यज्ञ द्वारा पूजा का भी भाव है। माता-पिता, अतिथि, गुरु, परमेश्वर इन पाँच देवताओं का आदर, मान-सम्मान, वेद ने इनकी सेवा द्वारा इस लोक का सुख निश्चित ही प्राप्त होना कहा है। अतः इन देवताओं की पूजा जो

एक यज्ञ कर्म है, उससे कर्म सिद्धि-कामनाओं की पूर्ति शीघ्र कही गई है। किन्तु कर्म, ज्ञान एवं उपासना, इनके द्वारा ब्रह्म को प्राप्त करना एवं मोक्ष सुख को पा लेना, यह कठिन, दुर्लभ एवं कई जन्मों में प्राप्त होने वाला मोक्ष सुख कहा है तथा यह सुख इन्द्रियों से परे का सुख है। इस सुख के लिए इन्द्रियों का सुख त्यागना होता है। अतः प्राणी प्रायः उस समय मन को (इन्द्रियों को) तृप्त करने वाले देवताओं की पूजा में फँस गया है। किन्तु ऐसे प्राणी जो माता-पिता, गुरु आदि देवों की भक्ति को भी त्यागकर, अज्ञानवश मनघढ़न्त देवताओं की पूजा में लग गए थे, वह अपनी इन्द्रियों को तो तृप्त कर रहे थे परन्तु लाभ कुछ भी नहीं था। इसको समझने के लिए एक उदाहरण लें कि मानो कोई किसी के बैल अथवा घोड़ा अथवा आदमी को ही नुकसान पहुँचाने की कामना करके किसी पुजारी अथवा तांत्रिक के पास जाता है तो तांत्रिक अथवा पुजारी के कहे अनुसार वह देवता की पूजा करता है तथा तांत्रिक जिस प्रकार भी अपनी किसी तरकीब से उस मनुष्य के बताए गाय, घोड़ा आदि को नुकसान पहुँचाता है तो वह मनुष्य, जिसने तांत्रिक आदि के कहने से देवता की पूजा की, वह शीघ्र प्रसन्न हो जाएगा। क्योंकि उसने जो यज्ञ कर्म किया था, उसकी उसे तुरन्त सिद्धि हो गई अर्थात् उसकी नुकसान पहुँचाने की कामना पूरी हो गई। इसी प्रकार नवग्रह पूजन, टेवा इत्यादि पूजा-पाठ देवताओं के प्रति कहे गए हैं जो कि मनुष्य समाज के लिए हानिकारक हैं तथा जैसा **अथर्ववेद काण्ड १३ सूक्त ४** में केवल एक देव अर्थात् ईश्वर की पूजा द्वारा मोक्ष सुख पाने का आदेश दिया है, वह मार्ग तो अन्य ही है।

मनुष्य जन्म का वास्तविक प्रयोजन ईश्वर प्राप्त करना है। परन्तु जैसा **गीता श्लोक ७/१९** में कहा कि यह प्राप्ति कई जन्म में ही प्राप्त होती है। **ऋग्वेद मंत्र १/१६६/१, योग शास्त्र सूत्र २/३९** में भी कहा कि योगी अपने पिछले कई जन्म जानता है जिनमें वह तपस्या करता चला आ रहा है। अतः ईश्वर प्राप्ति तो वही प्राणी करता है जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि द्वारा संयमी एवं वैराग्यवान होकर अष्टाँग योग साधना द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि पद को प्राप्त करने में सफल होता है। परन्तु साधारण प्राणी वैराग्यवान नहीं हो पाता और सांसारिक पदार्थों में अधिक रुचि लेता है। जैसे कि धन-सम्पत्ति, मकान, दुकान, संतान प्राप्ति, यश-कीर्ति आदि को चाहता है। इसी आधार पर यहाँ श्री कृष्ण महाराज जी कह रहे हैं कि प्राणी कर्मों द्वारा सिद्धि शीघ्र प्राप्त करने के लिए देवताओं का यज्ञ करते हैं। और तीसरे अध्याय में स्वयं श्री कृष्ण महाराज जी

कह रहे हैं कि यज्ञ द्वारा प्राणी वृद्धि को प्राप्त होवें और इच्छित कामनाओं को पूर्ण करें। यज्ञ से देवता प्रसन्न होंगे और वह तुम्हारी उन्नति करेंगे, देवता तुम्हारे प्रिय भोगों को देंगे, यज्ञ से अन्न उत्पन्न होता है, समय पर वर्षा होती है, यज्ञ से आयु बढ़ती है, निरोगता प्राप्त होती है, जीवन सुखी होता है। अर्थात् यज्ञ द्वारा अनन्त शारीरिक सुखों की इस लोक और परलोक में प्राप्ति होती है। यहाँ यज्ञ शब्द का अर्थ **"जुड़ना"** है, **"सेवा"** करना है। किन की? वेदों में माता-पिता, अतिथि एवं वैदिक आचार्य (गुरु) यह देवता कहें हैं और ३३ जड़ देवता अन्य हैं जिनका वर्णन भी पीछे श्लोकों में किया गया है। भाव यह है कि जब प्राणी माता-पिता, अतिथि और वैदिक गुरु की सेवा करता है और गुरु के बताए वैदिक मार्ग पर चलकर यज्ञ आदि कर्म करता है और वेदानुसार शुभ कर्म करता है तो उसे इसी लोक में शीघ्र कर्मों की सिद्धि अर्थात् पुण्य कर्मों का फल पुण्य और पुण्य का फल प्रथम शारीरिक एवं मानसिक सुख प्राप्त होता है। यह सुख प्राणी माता-पिता, अतिथि और विशेषकर वैदिक गुरु की सेवा से प्राप्त करता है। वेदों में यही माता-पिता, अतिथि एवं वैदिक गुरु देवता कहे गए हैं जिनका वर्णन पिछले श्लोकों में भी किया गया है। इसे ही प्रस्तुत श्लोक में देवताओं का यज्ञ अथवा देवताओं की पूजा कही गयी है। इससे शीघ्र ही धन-सम्पदा की प्राप्ति की प्राप्ति एवं कामनाओं की प्राप्ति होती है। भाव यह है कि ईश्वर प्राप्ति तो प्रायः कई जन्मों में (एक जन्म में भी संभव होती है) परन्तु ऊपर कहे गए शुभ कर्मों से वर्षा, अन्न, धन, सम्पदा, परिवार आदि अनेक सुख शीघ्र ही प्राप्त होते हैं और हमारे जो इन्द्रिय-रूपी देवता हैं वह भी सुदृढ़ होते हैं। इन्द्रिय-रूपी देवता-पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, मन एवं बुद्धि है। यह निरोग एवं दृढ़ रहते हैं। वसु आदि ३३ जड़ देवता भी ऐसे यज्ञ द्वारा शीघ्र मनुष्य को सुख देते हैं। जैसा कि **यजुर्वेद मंत्र ३६/१७** में कहा-**"ओ३म् द्यौः शान्तिरन्तरिक्षम् शान्तिः पृथिवी शान्तिरापः शान्तिरोषधयः शान्तिः।"** आदि मंत्र में कहा द्युलोक, पृथिवी लोक, अन्तरिक्ष लोक, जल आदि जड़ देवता हमारे लिए शान्तिकारक हों अर्थात् हम यज्ञ आदि द्वारा शुभ कर्म करें जिससे यह सभी लोक पवित्र हों। वायु आदि देवों में शुद्धिकरण हो जिसके फलस्वरूप यह सभी जड़ देवता मनुष्य जाति को शुद्ध वातावरण, अन्न, जल एवं शान्ति प्रदान करें। यही सब कुछ श्री कृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक में समझा रहे हैं कि प्रायः प्राणी कर्मों के फल को चाहते हैं एवं फलस्वरूप देवताओं की पूजा करते हैं। क्योंकि कर्म फल शीघ्र ही प्राप्त होता है। परन्तु यदि यही शुभ कर्म निष्काम रूप से प्राणी करता है

तब वह वैराग्य को प्राप्त करता है और इन्द्रियों के सुख को त्यागने लगता है। पुनः वैदिक गुरु से ईश्वर प्राप्ति के लिए इन्द्रिय संयम करता हुआ अष्टाँग योग विद्या की साधना में रत हो जाता है और उसकी ऐसी भक्ति **सामवेद मंत्र १५०१, ऋग्वेद मंत्र १/३१/४** एवं **गीता श्लोक ६/४२** के अनुसार अगले जन्म में भी जुड़ती रहती है इत्यादि। अतः वैदिक मार्ग पर प्राणी वैदिक शुभ कर्म करता हुआ, वैदिक गुरु से विद्या प्राप्त करता हुआ इस लोक और परलोक दोनों लोकों के सुख को प्राप्त करता है। परन्तु जो कामनायुक्त होकर सांसारिक भोगों की प्राप्ति के लिए देवताओं की पूजा करते हैं तब वह ऊपर कहे अनुसार केवल सांसारिक भोगों की प्राप्ति ही करता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्तारमपि मां विद्धयकर्तारमव्ययम्"।।

(गीता श्लोक ४/१३)

(गुणकर्मविभागशः) गुण और कर्मों के विभाग से **(चातुर्वर्ण्यम्)** चारों वर्णों की व्यवस्था **(मया)** मेरे द्वारा **(सृष्टम्)** बनाई गई है **(तस्य)** उनके अर्थात् उन चारों वर्णों के **(कर्तारम्)** कर्ता को **(अपि)** भी **(माम्)** मुझ **(अव्ययम्)** अविनाशी को जान परन्तु पुनः **(अकर्तारम्)** तू मुझे अकर्ता ही **(विद्धि)** जान।

अर्थः– गुण और कर्मों के विभाग से चारों वर्णों की व्यवस्था मेरे द्वारा बनाई गई है, उनके अर्थात् उन चारों वर्णों के कर्ता को भी मुझ अविनाशी को जान परन्तु पुनः तू मुझे अकर्ता ही जान।

भावार्थः– गीता ज्ञान को समझने से पहले हमें चारों वेदों का ज्ञान होना अनिवार्य है। इसके पीछे कारण यही है कि व्यास मुनि एवं योगेश्वर श्री कृष्ण दोनों ही वेद-विद्या के परम ज्ञाता हुए हैं। और गीता-ज्ञान इन दोंनों ही महापुरुषों की देन है। अतः जो वेद के जानने वाले विद्वान् द्वारा गीता नहीं सुनता उसे गीता का सच्चा ज्ञान सुलभ होना संभव नहीं हो सकता। प्रस्तुत श्लोक में भी श्री कृष्ण महाराज ने **यजुर्वेद अध्याय ३१ मंत्र ११** के भाव प्रकट किए हैं। **यजुर्वेद मंत्र ३१/३** में कहा **"अस्य विश्वा भूतानि पादः"** अर्थात् इस जगदीश्वर के पृथिवी आदि तीनों लोक एक अंश के तुल्य हैं। अर्थात् इस सम्पूर्ण

जगत की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय ईश्वर के मात्र चौथे अंश में ही स्थित है। अथवा ईश्वर की चेतन शक्ति के चौथे अंश के बराबर भी नहीं है। ऐसा महान है वह परमेश्वर। इसी परमेश्वर की हम पूजा करें, अन्य की नहीं। इसी अध्याय में आगे **मंत्र ११** में प्रश्न उत्तर के माध्यम से ईश्वर ने ज्ञान दिया कि ईश्वर की इस सृष्टि में वेद और ईश्वर का ज्ञाता पुरुष मुख के समान उत्तम है। ऐसे पुरुष को ही ब्राह्मण कहते हैं क्योंकि इस पुरुष ने वेदाध्ययन, इन्द्रिय संयम, शुभ-कर्म, योगाभ्यास एवं समाधि में ईश्वर की अनुभूति की है, अतः कर्मानुसार एवं गुणानुसार **ब्राह्मण** है। दूसरा जिस पुरुष की भुजाओं में बल है एवं जो धर्म और देश की रक्षा करने में समर्थ हैं, ऐसे वीर पुरुष भुजाओं के समान शक्ति सम्पन्न कर्मानुसार एवं गुणानुसार **क्षत्रिय** बनाए गए हैं। तीसरा, जिस पुरुष की जंघाओं में बल है, व्यापार के लिए दूर देश तक भ्रमण करने में थकता नहीं है और समाज को सब पदार्थों का धर्मानुसार उचित वितरण करता है, ऐसे पुरुष को जंघाओं के समान कठिन परिश्रम करने वाला एवं गुण धारण करने वाला **वैश्य** कहा है। और चौथा जो कर्मानुसार विद्या प्राप्त नहीं कर पाया तो ऐसे **सेवक** को **शूद्र** कहा है। अतः यहाँ जातिवाद नहीं है, यह वर्ण ईश्वर ने कर्मानुसार निश्चित किए हैं। महाभारत में कथा है कि वनों में विचरण करते हुए भीम को एक अजगर ने लपेट लिया था। युधिष्ठिर ने अजगर को कहा कि मेरा भाई भीम बहुत बलशाली है इसे आप लपेट नहीं सकते थे। अतः सच-सच बताएँ आप कौन हैं? तब अजगर के रूप में यक्ष ने कहा कि मैं यक्ष हूँ। मेरे प्रश्नों का उत्तर दे तब मैं भीम को छोडूँगा। यक्ष ने पूछा हे युधिष्ठिर! यदि ब्राह्मण का पुत्र वेदाध्ययन नहीं करता, माँस-मदिरा सेवन करता है और पापयुक्त कर्म करता है। और शूद्र का पुत्र वेदाध्ययन करता है, इन्द्रिय संयम रखता है एवं केवल यज्ञादि पुण्यवान कर्म ही करता है तो क्या ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण और शूद्र का पुत्र शूद्र ही माना जाएगा। युधिष्ठिर महाराज ने उत्तर दिया कि हे यक्ष वैदिक परम्परा के अनुसार ही ब्राह्मण का पुत्र शूद्र और शूद्र का पुत्र ब्राह्मण स्वीकार किया जाएगा।

अतः श्रीकृष्ण महाराज भी यहाँ वैदिक परंपरा के अनुसार ही कह रहे हैं कि गुण और कर्मों के भेद से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र ये चारों वर्ण मेरे द्वारा बनाए गए हैं। **"मया"** शब्द का अर्थ **'मेरे द्वारा'** है। वैदिक नियमों के अनुसार अवतार होना असंभव है और ऊपर कहे यजुर्वेद के मंत्र में कर्मों पर आधारित यह चारों वर्ण ईश्वर ने बनाए हैं। अतः यहाँ **'मया'** शब्द का भाव यह है कि जैसे **सामवेद मंत्र ८८१** एवं अन्य

वेदों में भी कहा कि ईश्वर यज्ञ में प्रकट होता है दूसरा चारों वेद एवं यजुर्वेद मंत्र में कहा कि ईश्वर वेद के ज्ञाता एवं अष्टांग योग साधना करने वाले योगी के हृदय में समाधि अवस्था में प्रकट होता है। तो योगेश्वर श्रीकृष्ण के शरीर में निवास करने वाली जीवात्मा के अन्दर पूर्ण-परमेश्वर प्रकट था। आज संसार में वेद-विद्या की हानि के फलस्वरूप ईश्वर का वास्तविक रूप समझना प्रायः असम्भव सा हो गया है। क्योंकि आज अनेक मत-मतान्तरों में अनेक प्रकार के ईश्वर के रूपों की अथवा देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित हो गई है। वेद ईश्वरीय-वाणी है और ईश्वर ने अपना स्वरूप, कर्म, स्वभाव तथा ज्ञान केवल वेदों में ही प्रकट किए हैं। ऋषियों ने वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और उसके पश्चात वेदों से ही ज्ञान लेकर उसका कुछ अंश शास्त्र, उपनिषद् आदि में कह दिया है। अतः पूर्ण विद्या तो वेदों में ही है। ईश्वर ने वेदों में ही यह पूर्णतः स्पष्ट किया है कि ईश्वर कभी अवतार नहीं लेता। अब भी ईश्वर की वाणी का कभी भी और किसी भी हालत में खण्डन नहीं किया जा सकता। यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद एवं ऋग्वेद अर्थात् चारों वेदों में पुरुष सूक्त है। पुरुष का अर्थ पूर्ण परमेश्वर है। इन्हीं सूक्तों में कहा कि इस जगत और इस जगत के बाहर सब जगह ईश्वर परिपूर्ण है। जब-जब सृष्टि रची, ईश्वर ने ही प्रकृति द्वारा इसे रचा, पालन-पोषण किया और स्वयम् ही संहार किया। ईश्वर से ही वेद उत्पन्न हुए। **यजुर्वेद मंत्र ३२/३** में कहा कि ऐसे ईश्वर को मापा-तोला नहीं जा सकता अर्थात् वह निराकार है। **यजुर्वेद मंत्र ४०/८** में कहा कि उसका शरीर नहीं होता। अतः इस सनातन सत्य को आज हमने भुला दिया है कि ईश्वर निराकार है और उसे अवतार लेने की कोई आवश्यकता नहीं। अतः प्रस्तुत श्लोक में भी योगेश्वर श्रीकृष्ण के मुख से निराकार ब्रह्म की प्रशंसा ही कही जा रही है। जब श्रीकृष्ण इस श्लोक में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! मैं कर्म का कर्ता होकर भी अकर्ता ही हूँ। जैसे ईश्वर के अंश मात्र शक्ति द्वारा प्रकृति के तीन गुणों से सृष्टि रची गई परन्तु ईश्वर सृष्टि का कर्ता नहीं कहा जाता केवल निमित्त उपादान कारण कहा जाता है। प्रस्तुत श्लोक में हम गहन अवस्था से देखें कि यदि ईश्वर चारों वर्णों को बनाने वाला **'कर्ता'** है तो जिस प्रकार ईश्वर को इसी श्लोक में **'अव्ययम्'** अर्थात् **'अविनाशी'** कहा है। तब तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्ण भी **'अव्यय'** अर्थात् अविनाशी हो जाएँगे। अर्थात् तब कर्मानुसार नहीं अपितु जन्मानुसार यह वर्ण अविनाशी स्थिति में बन जाएंगे। फिर **यजुर्वेद मंत्र ३१/११** का कोई औचित्य नहीं रह जाएगा और न ही श्री कृष्ण जी के प्रस्तुत श्लोक का औचित्य

रह जायेगा। अर्थात् ईश्वर झूठा पड़ जाएगा, जो ऐसा कभी हो ही नहीं सकता। अतः चारों वर्णों के लिए श्लोक में गुण, कर्म एवं विभाग का भाव भी कह दिया गया है। अतः श्रीकृष्ण के शरीर में निवास करने वाली जीवात्मा के अन्दर ब्रह्म प्रकट हुआ था, जिसके विषय में चारों वेद कह ही रहे हैं कि ईश्वर या तो यज्ञ में अथवा योगियों के हृदय में प्रकट होता है (देखें **सामवेद मंत्र ८८१, यजुर्वेद ३१/१०, गीता श्लोक ३/१५**)। सोमरस में लीन कोई भी योगी और यहाँ श्रीकृष्ण महाराज मानो स्वयं को ईश्वर-स्वरूप में लीन हुए ईश्वर की भांति ही कह रहे हैं कि हे अर्जुन! यह ब्राह्मण आदि वर्ण मेरे द्वारा रचे गए हैं, मैं ही संसार का कर्त्ता हूँ और मैं परमेश्वर (कर्म करता हुआ भी कर्म का अकर्ता ही हूँ) कर्त्ता होकर भी अकर्ता हूँ। इसका भाव यह है कि ईश्वर की चतुर्थ अंश की शक्ति मात्र (**यजुर्वेद मंत्र ३१/३**) जड़ प्रकृति में कार्य करती है। और प्रकृति से संसार उत्पन्न हो जाता है। अतः ईश्वर संसार का उपादान कारण नहीं है, उपादान कारण तो जड़ प्रकृति के रज, तम, सत्त्व यह तीन गुण ही हैं। ईश्वर तो निमित्त-मात्र है। क्योंकि चेतन ब्रह्म की शक्ति के बिना जड़ प्रकृति अपने आप सृष्टि की रचना नहीं कर सकती। ऊपर के यजुर्वेद मंत्र से यह सिद्ध है कि ईश्वर की अंश मात्र चेतन शक्ति ने जड़ प्रकृति में कार्य किया जिसके फलस्वरूप जगत रचना हो गई अर्थात् ईश्वर की अंश मात्र चेतन शक्ति एवं प्रकृति से संसार बना है, ईश्वर संसार का उपादान कारण नहीं है। इसी रहस्य को श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि मैं कर्ता होकर भी अकर्ता हूँ। श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस भाव को **श्लोक ६/८** में इस प्रकार कहा है कि ईश्वर का ज्ञान, बल और क्रिया स्वाभाविक है। अतः हमारी संस्कृति में जबाला वैश्या पुत्र को भी ब्राह्मण स्वीकार करने आदि के अनेक और भी उदाहरण हैं जो जन्म से जातिवाद को नहीं स्वीकार करते अपितु कर्मानुसार एवं गुणानुसार ही जातिवाद को मानते हैं। देश में जातिवाद, भ्रष्टाचार, अधविश्वास, नारी अपमान एवं भ्रष्ट राजनीति आदि अनेक अवगुणों की उपज केवल वेदाध्ययन में आई कमी के कारण ही हुई है। इस कमी को हमें आज पुनः वेदाध्ययन द्वारा दूर करना होगा। केवल वेदाध्ययन द्वारा ही हम श्रीकृष्ण महाराज के ऐसे ज्ञानवान श्लोकों को जीवन में धारण कर पाएँगे अन्यथा वेद-विरोधी संत इन्हीं गीता, रामायण आदि पवित्र ग्रंथों की झूठी व्याख्या कर-कर के मानवता को पहले ही हानि पहुँचा चुके हैं और वेदाध्ययन के अभाव में ऐसी हानि दिन प्रतिदिन बढ़ती ही रहेगी। वेदों के ज्ञान से रहित समाज में अविद्या/अज्ञान वश पहले ही जातिवाद के बढ़ने से देश दीमक द्वारा खाई

लकड़ी की भांति खोखला हो चुका है। सभी देशवासियों को यह विचार करना होगा कि ऐसे खोखले देश पर जब कोई भी बाहरी शक्ति अथवा देश में छुपे जयचँद आदि देशद्रोही तनिक सा भी घृणा आदि फैलाने का प्रहार करेंगें तो यह जातिवाद से प्रभावित खोखला भारतवर्ष भविष्य में ऐसा प्रहार सह न पाएगा और देश का अस्तित्व दीमक खाई खोखली लकड़ी पर किए तनिक से प्रहार की भांति टूट कर चूर-चूर होकर समाप्त प्रायः हो जाएगा। जन्म के अनुसार इन चारों वर्णों का विदेशों में कोई औचित्य नहीं है। अतः जब विदेशी हम पर राज्य करेंगे तो वह जातिवाद के अभियान को ठोकरों पर पड़ी धूल के समान हवा में उड़ा देंगे। अतः श्रीकृष्ण के इस श्लोक के आंतरिक रहस्य को जानकर हम सभी भारतवासी जन्मानुसार जातिवाद के ख्याली भूत को ज्ञान द्वारा पूर्णतः भस्म करके सभी से भाईचारे को अपनाएँ और भाईचारे को बढ़ाते हुए देश को नष्ट-भ्रष्ट होने से बचाकर उन्नति की ओर अग्रसर हों।

श्रीकृष्ण उवाच –

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।

(गीता श्लोक ४/१४)

(मे) मेरी **(कर्मफले)** कर्मफल में **(स्पृहा)** इच्छा **(न)** नहीं है **(माम्)** मुझ को **(कर्माणि)** कर्म **(लिम्पन्ति)** लिपायमान **(न)** नहीं करते **(इति)** इस प्रकार **(यः)** जो **(माम्)** मुझ को **(अभिजानाति)** जानता है **(सः)** वह प्राणी **(कर्मभिः)** कर्मों द्वारा **(न)** नहीं **(बध्यते)** बँधता।

अर्थः- मेरी कर्मफल में इच्छा नहीं है मुझ को कर्म लिपायमान नहीं करते इस प्रकार जो मुझ को जानता है वह प्राणी कर्मों द्वारा नहीं बँधता।

भावार्थः- योगशास्त्र सूत्र १/२४ में ऋषि पता जलि ने स्पष्ट किया है कि **"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वरः"** **(क्लेशकर्मविपाकाशयैः)** क्लेश, कर्म, विपाक और आशय से **(अपरामृष्टः)** सम्बन्ध रहित **(पुरुषविशेषः)** पुरुष विशेष अर्थात् जीवों में विशेष जो है वह **(ईश्वरः)** ईश्वर है।

शास्त्रों में पुरुष शब्द अधिकतर जीवात्मा के लिए प्रयोग किया गया है। यहाँ भी **'पुरुष'** शब्द जीवात्मा के लिए आया है। **'पुरुष'** में **'विशेष'** शब्द जोड़कर **'पुरुषविशेष'** शब्द ईश्वर के लिए प्रयोग किया गया है। अतः चेतन जीवात्माएँ तो हम प्राणी नर-नारी तथा पशु-पक्षी इत्यादि हैं। परन्तु हम जीवात्माओं में जो विशेष चेतन तत्त्व (पुरुषविशेष) जो है वह जीवात्माओं से भिन्न सर्वशक्तिमान ईश्वर है। अतः जीव अलग और ईश्वर अलग है। दोनों भिन्न-भिन्न तत्त्व हैं। सूत्र में ईश्वर के लक्षण भी कहे हैं जो जीवात्मा से भिन्न हैं। वह लक्षण हैं अविद्या आदि क्लेश, पाप-पुण्य रूपी कर्म, कर्मों के फल और कर्मों की वासनाएं (संस्कार), इन सबसे रहित और किसी भी प्रकार के बन्धन से रहित जो चेतन पुरुष है और जीवात्माओं से भिन्न है, वह ईश्वर है। ईश्वर के वस्तुतः अनन्त गुण वेदों में कहे हैं। यहाँ कुछ ही गुणों का वर्णन है। वेद में कहा **'न जातः न जनिष्यति'** अर्थात् उस ईश्वर के समान न कोई पैदा हुआ है और न पैदा होगा। **यजुर्वेद ४०/८** में कहा ईश्वर अनन्त शक्तिशाली **(शुक्रम्, अकायम्, अव्रणम्)** अर्थात् सर्वशक्तिमान, शरीर रहित और ऐसा जिसके टुकड़े नहीं हो सकते इत्यादि-इत्यादि गुण सम्पन्न ईश्वर है। सूत्र में ईश्वर को अविद्या आदि क्लेशों से भी रहित कहा है। अविद्या आदि क्लेश पाँच हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश, ये पाँच क्लेश हैं। ईश्वर इन क्लेशों से रहित है। पुण्य एवं पाप फल रूपी शुभ एवं अशुभ कर्म होते हैं। शुभ कर्मों का फल पुण्य एवं पुण्य का पुनः फल सुख होता है। वेद-शास्त्र विरुद्ध अशुभ कर्मों का फल पाप और पाप का पुनः फल दुःख होता है। सूत्र में विपाक शब्द का अर्थ शुभ वा अशुभ कर्मों का फल है। ईश्वर विपाक अर्थात् कर्मफल भोगने से भी रहित है। सूत्र में चौथा शब्द है-आशय। पाप-पुण्य कर्मों के संस्कारों के संग्रह को 'आशय' कहते हैं। किए हुए पाप-पुण्य कर्मों का संस्कार जीवात्मा (पुरुष) के चित्त में रहता है। और समय आने पर जीवात्मा उनके फल को भोगता है। इसलिए कहते हैं कि कर्मों के बन्धन में फँसा जीवात्मा कर्मफल भोगने के लिए जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसा रहता है। परन्तु जो इन संस्कारों के भोगों से रहित है वह पुरुष विशेष ईश्वर है। परन्तु जहाँ कर्म तो किया जाए, लेकिन कर्मफल की इच्छा नहीं होती, वह ईश्वर नहीं, योगेश्वर पुरुष (जीव-विद्वान्) होता है। अतः यहाँ योगेश्वर श्री कृष्ण कह रहे हैं कि मैं निष्काम कर्म करता हूँ, कर्मफल में मेरी इच्छा नहीं होती, इसलिए मुझे कर्मों का फल भी नहीं भोगना होता। सम्पूर्ण यजुर्वेद में नर-नारी, राजा, प्रजा आदि सबके कर्त्तव्य-कर्मों का वर्णन किया गया है। **मनुस्मृति श्लोक**

२/६ तथा **गीता श्लोक ३/१५** में कर्मों का उदय वेदों से ही कहा गया है। अतः प्राणी केवल वेदोक्त शुभ कर्म करे। वेद-विरुद्ध कर्म पाप कहे गए हैं। **यजुर्वेद ४०/२** में सम्पूर्ण वेद का सारांश दिया है कि मनुष्य आलस्य त्यागकर सदा शुभ कर्म करे। शुभ कर्म करते-करते ही पाप कर्म करने की वृत्ति नष्ट होने लगती है। मंत्र में कहा कि धर्मयुक्त कर्म करने से ही जीव अधर्मयुक्त कर्मों में लिप्त नहीं होता। अतः किसी भी अवस्था में वेदोक्त शुभ कर्मों का त्याग कभी भी नहीं करना चाहिए। अतः मनुष्य सदा धर्म की कामना करे और अधर्म का त्याग करे। शुभ कर्म करने से ही अशुभ कर्मों का नाश होता है। और ऐसा भी नहीं कि मनुष्य बिना कामना के एक पल भी रह सके। अतः श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ यह उपदेश हम सदा जीवन में धारण करें और वैदिक शुभ कर्म करते रहें। इसके लिए वेदाध्ययन अति आवश्यक है। **मनुस्मृति श्लोक २/१३** में कहा **'धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः'** धर्म शब्द का अर्थ कर्त्तव्य, कर्म एवं श्रुति का अर्थ चारों वेद कहे गए हैं। भाव यह है कि जो धर्म के ज्ञान की इच्छा करना चाहते हैं वह विद्या-अविद्या, धर्म-अधर्म, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, कर्म-अकर्म इत्यादि का निर्णय करे। क्योंकि अन्य शास्त्रों के अनुसार यहाँ मनुस्मृति भी कह रही है कि वेद-विद्या जाने बिना धर्म-अधर्मादि विषयों का निश्चय ठीक-ठीक नहीं हो सकता। क्योंकि **मनुस्मृति श्लोक १/१०६** में पुनः कहा कि वेद-विद्या के अभाव में सुख प्राप्त नहीं हो सकता और जो वेद-विद्या पर आचरण करता है वो ही मनुष्य सम्पूर्ण सुख (मोक्ष-सुख) प्राप्त करता है। आज जो मनुष्य ने ऋषि-प्रणीत ग्रन्थ त्यागकर सन्तों की वेद विरुद्ध झूठी बातों (झूठे सत्संग अर्थात् कुसंग) में आकर वेद-विरोधी ग्रन्थ एवं सत्संग का सहारा लिया है, उसने सम्पूर्ण भूमि को दुःखों के सागर में झोंक दिया है। अधिकतर सन्तों की बातों में वेद, शास्त्र, स्मृति आदि का कोई प्रमाण नहीं होता। और यह बात हमें कदापि नहीं भूलनी चाहिए कि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक ३/१५** में कर्म वेदों से और चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न कहे हैं। योगेश्वर श्रीकृष्ण जन्म से शरीर त्यागने तक निष्काम कर्म करते ही रहे। निढाल एवं दिशा विहीन अर्जुन जो युद्ध कर्म नहीं करना चाहता था उसे भी श्री कृष्ण महाराज ने वेदानुकूल धर्म-युद्ध लड़ने की प्रेरणा दी। वहीं श्री राम जी के विषय में रामायण में कहा-**'श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्धर'** अर्थात् श्री राम ने वेदों में कहे सब शुभ कर्म किए थे। इस प्रकार कर्मों का त्याग करके प्राणी आलस्य, प्रमाद आदि असंख्य पाप कर्म फिर भी करता ही है क्योंकि प्रायः प्राणी वेद मन्त्रों का ज्ञान नहीं सुनता। अतः हम

सदा वेदोक्त धर्मयुक्त कर्म ही करें। इस प्रकार हमारे सब कर्म वैदिक ज्ञान युक्त होकर हमें कर्मों में बाँधने वाले नहीं होंगे। इसके लिये हम वेद विद्या विद्वानों से सुने।

यदि वैदिक रीति से इस श्लोक के अर्थ को हम जानने का प्रयास करें तो श्रीकृष्ण महाराज के अन्दर स्थित ईश्वर स्वयं ऊपर कहे यजुर्वेद मन्त्र ४०/२ के भाव ही इस प्रस्तुत श्लोक में कह रहा है। यजुर्वेद मन्त्र का अर्थ है कि **"कुर्वन्नेवेह कर्माणि..... न कर्म लिप्यते नरे"**

अर्थात् प्रत्येक प्राणी इस संसार में धर्मानुसार वेदों में कहे निष्काम कर्म करता हुआ ही सौ वर्ष तक सुखपूर्वक जीने की इच्छा करे। धर्मयुक्त कर्म करता हुआ प्राणी कभी भी पाप युक्त कर्म में लिप्त नहीं होता। इस प्रकार वेदोक्त शुभ कर्म किए बिना अन्य कोई ऐसा मार्ग नहीं है कि जीव कर्म में लिप्त न हो। भाव यह है कि प्रत्येक प्राणी आलस्य का त्याग करके वेदों का ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर के न्याय को समझे। ईश्वर वेदों में सत्याचरण, कठोर परिश्रम, शुभ कर्म आदि गुणों को धारण करने की बात कहता है, धर्म की आड़ में जनता से धन बटोरकर पापयुक्त कर्म करने की बात नहीं कहता है। अतः जीव तो कर्म करता है और कर्मों का फल भोगता है परन्तु जैसा पिछले श्लोक ४/१३ में वेदमन्त्रों का प्रमाण देकर समझाया कि निराकार ईश्वर की अंश मात्र शक्ति से संसार की रचना, पालना, संहार एवं पुनः रचना इत्यादि सृष्टि क्रम स्वाभाविक रूप से अनादि काल से चला आ रहा है और सदा चलता रहेगा। अतः हम वेदों का यह अकाट्य नियम सदा याद रखें कि ईश्वर न कर्म में लिप्त होता है और न कर्मफल भोगता है। इन्हीं सभी प्रमाणों से यह सिद्ध हो रहा है कि प्रस्तुत श्लोक में भी श्रीकृष्ण स्वयं नहीं अपितु श्रीकृष्ण महाराज ईश्वर में लीन हुए स्वयं को ईश्वर के समान अनुभव करते हुए अर्जुन को यह कह रहे हैं कि हे अर्जुन! मेरी कर्मफल में कोई आसक्ति नहीं है और कर्म करते हुए भी मुझमें कर्म लिपायमान नहीं होते। पुनः गहन विचार करें तो श्रीकृष्ण महाराज की स्वयं की तो शुभ वेदोक्त कर्म करने की इच्छा रही है परन्तु कर्मफल की उन्हें भी इच्छा नहीं थी क्योंकि वह पूर्ण योगेश्वर एवं ब्रह्मलीन थे। फलस्वरूप ही वह न्यायकर्त्ता थे। उदाहरणार्थ यह महाभारत के धर्मयुद्ध रूपी शुभ कर्म करने की उनकी स्वयं की वेदोक्त शुभ इच्छा थी।

श्रीकृष्ण उवाच –

**"एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्"।।**

(गीता श्लोक ४/१५)

(पूर्वैः) पूर्वकाल में **(मुमुक्षुभिः)** मोक्ष की कामना करने वालों द्वारा **(अपि)** भी **(एवम्)** इस प्रकार **(ज्ञात्वा)** जानकर **(कर्म)** कर्म **(कृतम्)** किया गया है। **(तस्मात्)** अतः **(त्वं)** तू **(पूर्वैः)** पूर्वजों द्वारा **(पूर्वतरम्)** प्राचीन काल से **(कृतम्)** किए हुए **(कर्म)** कर्म को **(एव)** ही **(कुरु)** कर।

अर्थः- पूर्वकाल में मोक्ष की कामना करने वालों द्वारा भी इस प्रकार जानकर कर्म किया गया है। अतः तू पूर्वजों द्वारा प्राचीन काल से किए हुए कर्म को ही कर।

भावार्थः- महाभारत के वन पर्व में **२४ अध्याय** के **श्लोक ७६** में यक्ष ने युधिष्ठिर से प्रश्न किया है **"कः पन्थाः"** अर्थात् मनुष्य को अपनाने के लिए कौन सा श्रेष्ठ मार्ग है। महाराज युधिष्ठिर का उत्तर बड़ा ही मार्मिक है कि तर्क की स्थिति नहीं है, मनुष्यों की श्रुत्तियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। कोई एक भी ऋषि ऐसा नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाए और धर्म का तत्त्व अत्यंत ही गूढ़ है। अतः जिस मार्ग से महापुरुष जाते रहे हैं, वही श्रेष्ठ मार्ग है। चारों वेदों ने परंपरा की बात कही है अर्थात् इस पृथिवी पर भी सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर ने वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना की ऋषियों को विद्या देकर, जो परंपरा अनादि काल से चली आ रही है, उसी परंपरा को जानकर हम वेदोक्त निष्काम कर्म करें। वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि ग्रन्थों में इस परंपरा का उल्लेख है कि हमारे पूर्वजों ने वेदविद्या को जानकर जो शुभ कर्म किए, हमें वही शुभ एवं निष्काम कर्म करने हैं। भगवद्गीता, महाभारत ग्रन्थ के भीष्म पर्व का ही एक भाग है। अर्थात् लगभग पाँच हजार तीन सौ वर्ष पूर्व आज के कोई भी मत-मतान्तर उस समय उदय नहीं हुए थे। उस समय केवल चारों वेदों का ज्ञान ही सम्पूर्ण पृथिवी के प्राणियों द्वारा ग्रहण किया जाता था। अतः "महाजनः" शब्द का अर्थ उस समय के अनुसार, वेद के ज्ञाता, ऋषि-मुनि ही हैं, अन्य आज के वेद विरोधी सन्त, गुरु नहीं हो सकता क्योंकि उस समय यह इनका मार्ग उत्पन्न ही नहीं हुआ था। महाभारत के इस कहे श्लोक के अनुसार ही प्रस्तुत गीता श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज भी यही कह रहे हैं कि महाभारत काल से पूर्व भी हमारे पूर्वज वेदानुकूल निष्काम कर्म ही करते आए हैं और अब भी हमें हमारे उन पूर्वजों की भांति ही वेदोक्त

शुभ एवं निष्काम कर्म ही करने हैं। हे अर्जुन! तू भी यही निष्काम कर्म कर। **ऋग्वेद मन्त्र १०/८३/१** में कहा है कि **"मन्यो वज्र सायक"** अर्थात् **'स्वात्मतेज'** अर्थात् दूसरों पर अपना प्रभाव डालकर अपनी बात मनाने पर बाध्य करने वाला तेज, वज्र रूप है जिसके द्वारा काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दोषों का नाश होता है आगे कहा कि जो ऐसा वेदों के ज्ञान का तेज धारण करता है वह परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाकर विजय प्राप्त करता है। अतः मन्त्र के अन्त में कहा कि हम तेज और ओज से सम्पन्न होकर न दुखी हों और न ही मोह में पड़ें। इसी सूक्त के मन्त्र ५ में कहा कि जो मनुष्य ऐसे स्वाभिमान से रहित होता है, वह सत्य मार्ग, सत्य कर्म एवं सत्य आचरण से गिर जाता है। अतः शुभ कर्म करने के लिए स्वाभिमान की आवश्यकता होती है। अर्जुन अपने स्व-सम्बन्धियों से राग करके अपना स्वाभिमान खो बैठा था जिसे श्रीकृष्ण वैदिक प्रेरणा द्वारा जगा रहे हैं।

वेदों से ज्ञान प्राप्त करके ही श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को स्वाभिमान की शिक्षा दे रहे हैं। प्रस्तुत गीता श्लोक में **"एवं ज्ञात्वा"** शब्द का अर्थ है कि पिछले श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने निष्काम कर्म करने का ज्ञान दिया है। वहाँ उन्होंने कहा था कि हे अर्जुन! मेरी कर्मफल को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती, मैं निष्काम कर्म करता हूँ। फलस्वरूप ही मैं कर्म में लिप्त नहीं होता। अतः "एवं ज्ञात्वा" शब्द का भाव है कि हे अर्जुन! तू फल की इच्छा त्यागकर ही कर्म कर जिससे तू कर्म बन्धन में नहीं बँधेगा। वैदिक परंपरागत निष्काम शुभ कर्म करके ही हमारे पूर्वजों ने भी मोक्ष पद प्राप्त किया था और उसी परंपरा को अपना कर ही हम सुख-शांति अथवा मोक्ष पद पा सकते हैं। आज जिस प्रकार से वैदिक परंपरा का उल्लंघन हो रहा है, वह एक चिन्ताजनक विषय है। हम गीता अथवा कोई ग्रन्थ पढ़-सुन रटकर स्वयं को सन्त-महापुरुष घोषित कर देते हैं। जिसको जितना हँस-बोलकर, नाच-गाकर, कथा-कहानियाँ कहकर अपनी बात समझाना आ गया, समझो वही सन्त-महापुरुष हो गया और विद्या को जानकर, उसे आचरण में लाने वाला कर्त्तव्य-कर्म प्रायः धरा का धरा ही रह जाता है और इस प्रकार से **सांख्य सूत्र ३/८१** में कपिल मुनि का कहा यह अंध परंपरा चल पड़ने का वाक्य चरित्रार्थ होने लगता है जो समाज एवं देश के लिए खतरा है क्योंकि अनादि एवं शाश्वत् परंपरा तो वैदिक है, और कोई तो अनादि परंपरा है ही नहीं और इस वैदिक परंपरा का संस्थापक **यजुर्वेद मन्त्र ३१/७** एवं पता जलि ऋषि के **योगशास्त्र सूत्र १/२६** के

अनुसार स्वयं परब्रह्म परमेश्वर है। अतः हमें वैदिक परंपराओं का मूल्य जानकर उन्हीं परंपराओं से पुनः जुड़ने की आवश्यकता है। वैदिक परम्परा के अनुकूल ही ऋषि प्रणीत ग्रन्थ हैं। जिसमें छः शास्त्र, उपनिषद, महाभारत (गीता), वाल्मीकि रामायण आदि अनेक माननीय सद्ग्रन्थ आते हैं।

श्रीकृष्ण महाराज गीता में अपनी तरफ से कोई भी बात नहीं कह रहे हैं। वह वही बात कह रहे हैं जो वेदों में पहले कही जा चुकी है (देखें गीता श्लोक १३/४)। हम वेदों को वेदविरोधी सन्तों के दुष्प्रचार के कारण प्रायः भूल गए हैं और यही कारण है कि जब हम गीता और रामायण आदि ग्रन्थ वेद विरोधी सन्तों से सुनते हैं तब वेद का ज्ञान न होने के कारण हम उनकी इस बात को मान लेते हैं कि यह गीता का ज्ञान है। जबकि है यह वेदों का ज्ञान। प्रभु कृपा से लगभग सभी गीता के श्लोकों में मैंने वेद मन्त्रों का ही प्रमाण एवं ज्ञान दिया है और यह सिद्ध किया है कि श्रीकृष्ण अर्जुन को वैदिक प्रवचन द्वारा ही धर्मयुद्ध की प्रेरणा दे रहे हैं क्योंकि ऐसे धर्मयुद्ध को करने की प्रेरणा चारों वेदों में है। उदाहरणार्थ **यजुर्वेद मन्त्र ११/१५** में कहा कि राजा सदा अपनी सेना को सुशिक्षित और हृष्ट पुष्ट रखे। जब शत्रुओं से युद्ध करना चाहे तब अपने राज्य को उपद्रवों से रहित करके, युक्ति और बल से शत्रुओं का हिंसन करे। **यजुर्वेद मन्त्र ११/८२** कहता है कि राजा को चाहिए कि पापियों के सब पदार्थों का नाश तथा धर्मात्मा के सब पदार्थों की वृद्धि सदा सब प्रकार से करे। **अथर्ववेद** में कहा कि प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है तो प्रजा आनन्दयुक्त होती है। यही वेदानुकूल धर्म युद्ध रूपी कर्म श्रीकृष्ण ने पापी दुर्योधन को दण्ड देकर पाँडवों से कराया था।

श्रीकृष्ण उवाच –

"किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्"।।

(गीता श्लोक ४/१६)

(कर्म) कर्म **(किम्)** क्या है **(अकर्म)** अकर्म **(किम्)** क्या है **(इति)** इस विषय में **(अत्र)** यहाँ **(कवयः)** विद्वान् **(अपि)** भी **(मोहिताः)** मोहित हो जाते हैं। **(तत्)** वह **(कर्म)** कर्म **(ते)** तेरे लिए मैं **(प्रवक्ष्यामि)** अच्छी तरह से कहूँगा। **(यत्)** जिसे **(ज्ञात्वा)** जानकर

तू **(अशुभात्)** अशुभ कर्मों से **(मोक्ष्यसे)** छूट जाएगा।

अर्थः- कर्म क्या है, अकर्म क्या है, इस विषय में यहाँ विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। वह कर्म तेरे लिए मैं अच्छी तरह से कहूँगा। जिसे जानकर तू अशुभ कर्मों से छूट जाएगा।

भावार्थः- वेद ईश्वरीय वाणी है। जो बात **मनुस्मृति श्लोक २/६** में मनु भगवान ने कही है कि **"वेदः अखिलः धर्ममूलम्"** अर्थात् सब कर्मों का उदय चारों वेदों से हुआ है, वही बात श्री कृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक ३/१५** में वैसी की वैसी ही कह दी है-**"कर्म ब्रह्म-उत्-भवम्"** अर्थात् हे अर्जुन! तू कर्मों को वेद से उत्पन्न हुआ जान एवं वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। यहाँ तक कि ईश्वर ने कर्मों का विशेष ज्ञान अलग से केवल यजुर्वेद में ही दिया है। वेद सब विद्याओं के मूल हैं। अर्जुन धर्मयुद्ध जो कि **यजुर्वेद** के **मन्त्रों ११/१४, ११/१५, १०/३३** एवं **अथर्ववेद** इत्यादि में क्षत्रिय के लिए धर्म कहा है जिसमें राजा अपनी सेना के द्वारा दुष्टों से श्रेष्ठों की रक्षा और उनका अर्थात् दुष्टों का हिंसन आदि करता है, उस धर्मयुक्त कर्म को करने की प्रेरणा दे रहे हैं। यदि श्रीकृष्ण महाराज ने चारों वेदों का अध्ययन संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा सखा के साथ न किया होता तब श्रीकृष्ण महाराज कैसे वेदानुकूल युद्ध कर्म की प्रेरणा दे पाते। प्रेरणा स्रोत तो हमारे वेद ही हैं। **सामवेद मन्त्र २५९** में प्रार्थना है-**"ओ३म् इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा"** अर्थात् जैसे पिता अपने पुत्र को अच्छे कर्म करने की शिक्षा देता है, उसी प्रकार आप हमें शुभ कर्म करने की प्रेरणा दीजिए। अतः चारों वर्णों एवं चारों आश्रमों के लिए कर्त्तव्य कर्मों का ज्ञान तो वेदों में ही है और श्रीकृष्ण महाराज वेदों से ज्ञान प्राप्त करके ही तो अर्जुन को दे रहे हैं और स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ऊपर **गीता श्लोक ३/१५** में कह ही रहे हैं कि कर्मों का ज्ञान वेदों से उत्पन्न हुआ है। वेदों के अध्ययन में आई कमी से ही हम भारतीयों की दुर्दशा हुई है। हम कर्म, ज्ञान एवं उपासना के वास्तविक स्वरूप को नहीं जान पा रहे हैं। माता, बहन, बेटियों की इज्जत से कोई असामाजिक तत्त्व छेड़खानी करता है, कोई भूखा हो, दुर्घटना में कोई घायल पड़ा तड़प रहा हो इत्यादि आज समाज के ठेकेदार उधर से नजरें हटाकर निकल जाते हैं। यह प्रायः वही होते हैं जो रोज गीता, रामायण इत्यादि का पाठ सुनते हैं, गाते, बजाते, नाचते हैं। यह है आज वेदाध्ययन में आई कमी का फल कि हमें कर्म एवं अकर्म का बोध नहीं रहा। महाभारत युद्ध भी तो ऐसी ही घटना है। वेद एवं योगविद्या में प्रवीण योगेश्वर श्रीकृष्ण ने जब देखा था कि

माता, बहन, बेटियों की इज्जत पर दुर्योधन जैसे राक्षस चीर हरण करने लगे थे। माँस, मदिरा, भ्रष्टाचार, भ्रष्ट राजनीति इत्यादि का बोल बाला था। तब उन्होंने अपनी आँखें नहीं मूंद ली थी। वैदिक धर्म का उद्घोष करके अर्जुन से युद्ध कराके **यजुर्वेद मन्त्र ११/७७** के अनुसार आततायों को दण्ड देने का आह्वान किया था जो पूर्ण हुआ था। वेद सब कर्मों का मूल है। तिनके से लेकर ब्रह्म तक का स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण से सम्बन्धित ज्ञान पूर्ण रूप से वेदों में ही है। अतः गीता के भी श्लोकों के विषयों में सम्पूर्ण ज्ञान केवल वेदाध्ययन करने वाला विद्वान् ही जान सकता है क्योंकि गीता वैदिक प्रवचन है। हम भारतवासियों को पूर्ण ज्ञान के लिए पुनः वेदों की शरण में जाना पड़ेगा, इसका कोई भी विकल्प नहीं है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज अगले श्लोकों में वेदों के अनुसार कर्मों का स्वरूप अर्जुन को समझा रहे हैं। कोई यहाँ प्रश्न करे कि वेदानुसार क्यों समझा रहे हैं? तो उसका उत्तर यह है कि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज **गीता श्लोक ३/१५** में सभी कर्मों को वेदों से उत्पन्न हुआ कह रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच –

"कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः"।।

(गीता श्लोक ४/१७)

(कर्मणः) कर्म का स्वरूप **(अपि)** भी **(बोद्धव्यं)** जानना चाहिए **(च)** और **(अकर्मणः)** अकर्म का स्वरूप भी **(बोद्धव्यं)** जानना चाहिए **(च)** और **(विकर्मणः)** वेद/शास्त्र से निषिद्ध कर्म का तत्त्व भी **(बोद्धव्यं)** जानना चाहिए। **(हि)** क्योंकि **(कर्मणः)** कर्मों की **(गतिः)** गति **(गहना)** बहुत गहन है।

अर्थः- कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और अकर्म का स्वरूप भी जानना चाहिए और वेद/शास्त्र से निषिद्ध कर्म का तत्त्व भी जानना चाहिए क्योंकि कर्मों की गति बहुत गहन है।

भावार्थः- वेदों में चार वर्ण (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कर्मानुसार) एवं चार आश्रम

(ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास) के लिए प्रेरणायुक्त कर्म करने को कहे हैं। उन कर्मों का करना ही कर्म है। वेद विरुद्ध कर्म करना विकर्म है। अर्थात् ईश्वर द्वारा वेद विरुद्ध कर्म करने की आज्ञा अथवा प्रेरणा नहीं है। क्योंकि विकर्म में भी कर्म तो किया ही जाएगा परन्तु वह कर्म पापयुक्त होने के कारण विकर्म कहा जाता है। कुछ कर्म ऐसे हैं जो स्वाभाविक रूप से होते ही रहते हैं। जैसे-हँसना, सोना, खाना-पीना, मल-मूत्र इत्यादि का त्याग एवं विषय-विकार आदि में प्रवृत्त होना इत्यादि। जब मनुष्य पुरुषार्थ का त्याग करके केवल स्वाभाविक कर्म ही करता है, वैदिक प्रेरणा युक्त शुभ कर्म नहीं करता तब वह आलसी बना रहता है तो ऐसे कर्म को अकर्म कहते हैं। आलस्य, प्रमाद आदि में फँसकर प्राणी का कर्म भी विकर्म (निषिद्ध कर्म) बन जाता है। जैसे महाभारत में छोटी सी कथा है कि एक मुनि तप कर रहे थे। कहीं से एक गाय भागी-भागी आई और उनकी झोंपड़ी में घुस गई। थोड़ी देर बाद एक कसाई आया और उसने मुनि से पूछा कि आपने यहाँ से जाती हुई कोई गाय देखी। तब मुनि ने सत्य कह दिया कि गाय उसकी झोंपड़ी के अन्दर गई है। कसाई ने तुरन्त गाय झोंपड़ी से निकाली और मारने के लिए ले गया। कथा में आगे कहा है कि उस मुनि को ऐसा सत्य कहने पर पाप कर्म का फल मिला। यहाँ सत्य कहना तो वेदानुकूल शुभ कर्म था परन्तु सत्य कहने पर गौ-वध हुआ, जो कि विकर्म (निषिद्ध कर्म) है। इसी प्रकार हम दुराचारियों के जुल्म एवं पापयुक्त कर्मों को चुपचाप बैठे देखते रहते हैं। तो यह चुपचाप देखना अकर्म है, यह भी विकर्म (निषिद्ध कर्म) बन गया। वेदों में प्रातःकाल उठने की प्रेरणा दी गई है। **ऋग्वेद मन्त्र १/९२/१०** में कहा कि उषा काल भाग्य जगाने के लिए घर-घर आती है। परन्तु जो प्राणी आलसी बनकर सोया रहता है उसके भाग्य को ऐसे खा जाती है जैसे कि जंगल में मादा भेड़िया किसी जानवर को खा जाती है अथवा जैसे बाज़ पक्षी उड़ते हुए पक्षियों का भक्षण करता है। अतः रात्रि में शयन करना तो शुभ कर्म है परन्तु आलस्यवश उषाकाल में सोना अकर्म है। और यही अकर्म विकर्म (निषिद्ध कर्म) बन गया। महाभारत युद्ध में द्रोणाचार्य द्वारा रचित चक्रव्यूह केवल अर्जुन ही तोड़ सकता था। जब अर्जुन को दुर्योधन ने रणनीति अनुसार कहीं दूर युद्ध में लगाकर रखा था और अर्जुन का शीघ्र आना सम्भव नहीं था तब वीर अभिमन्यु ने चक्रव्यूह तोड़कर उसके अन्दर जाकर युद्ध करने की इच्छा प्रकट की क्योंकि उसने गर्भावस्था में चक्रव्यूह के अन्दर जाने की कला सुन रखी थी परन्तु चक्रव्यूह को भेदकर अन्दर जाकर, वापिस आना नहीं जानता था। इस स्थिति में उसकी

मौत निश्चित थी। परन्तु वीर अभिमन्यु आलसी होकर हाथ पर हाथ धरकर चुप नहीं बैठा। युधिष्ठिर महाराज ने भी यह सोचकर कि अर्जुन जल्दी ही वापिस आ जाएगा तो अभिमन्यु को युद्ध करने की आज्ञा दे दी। अभिमन्यु ने अपने पुरुषार्थ और युद्ध कौशल से चक्रव्यूह को तोड़ा। और पांडवों की विशाल सेना को नाश होने से बचा लिया। परन्तु स्वयं वीरगति को प्राप्त हुआ। इस स्थिति में पूर्ण चक्रव्यूह की कला न जानने के कारण, वह अकर्म हो सकता था अर्थात् चुप बैठ सकता था, परन्तु उसका यह अकर्म ही कर्म बन गया और पांडव अन्त में विजय को प्राप्त हुए। अतः कर्म विकर्म बन जाता है, अकर्म भी विकर्म बन जाता है, इत्यादि। फलस्वरूप ही प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण ने कर्मों की गति को गहन कहा है जिसका समझना परमावश्यक है।

वेद-शास्त्र में कर्त्तव्य कर्म करने का आह्वान है। अकेला एक यजुर्वेद ही सब कर्मों की गहन शिक्षा देता है। **गीता श्लोक ३/१५** तथा **मनुस्मृति श्लोक २/६** इस सत्य को ही कह रहे हैं कि सब कर्त्तव्य-कर्मों का उदय वेद से ही है। अतः मुख्यतः तो वेदानुसार शुभ कर्म करना ही कर्म है तथा वेदों के विपरीत कर्म करना पाप कर्म है अर्थात् निषिद्ध कर्म है। भगवान राम के विषय में तुलसी ने कहा ही है-**"श्रुति पथ पालक धर्म धुरन्दर"** अर्थात् श्रीराम वेदों में कहे मार्ग पर चलते थे अर्थात् वेदानुकूल कर्म ही करते थे। यदि हम श्रीराम की तरह वेदों का अध्ययन करते हैं तो कर्म-अकर्म तथा विकर्म के गूढ़ रहस्य को जानना कठिन नहीं है। अन्यथा श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में ही कह दिया है-**"कर्मणो गति गहना"** अर्थात् कर्मों की गति जानना एक गहन विषय है। अतः आज धर्म, कर्म, ज्ञान, विज्ञान, ईश्वर, आत्मा आदि किसी रहस्य को हम कितना अथवा बिल्कुल नहीं जानते, यह समस्या नहीं है। केवल विकट समस्या यह है कि हमने पिछले करीब ५,३०० वर्षों से वेदाध्ययन छोड़ दिया है और वेदाध्ययन में सब समस्याओं के हल हैं। गीता के सभी श्लोकों का रहस्य हम केवल वेदाध्ययन द्वारा ही जानने में समर्थ हो सकते हैं। **मनुस्मृति श्लोक २/६** ने कर्मों का रहस्य समझाया और कहा-सम्पूर्ण वेद, मनुस्मृति तथा वेदमन्त्र दृष्टा ऋषियों द्वारा लिखे ग्रन्थों में कहे शुभ कर्म एवं सत्पुरुषों द्वारा आचरण में लाए गए वेदानुकूल कर्म करना ही शुभ है तथा विपरीत में निषिद्ध है। एवं जिस कर्म को करने में आत्मा में लज्जा, शंका एवं भय उत्पन्न न हो अपितु कर्म करने में आत्मा को प्रसन्नता हो, ऐसा कर्म करना शुभ है क्योंकि ऐसे कर्म धर्म के मूल हैं। पूर्व मीमांसा एवं वैशेषिक शास्त्र के सूत्र १/१/२ का भाव भी यही है कि वेदों में ईश्वर ने जिस-जिस

शुभ कर्म को करने की आज्ञा दी है, वही कर्म करना धर्म है। और जिस कर्म को करने की आज्ञा नहीं दी है, वह कर्म करना अधर्म है। अतः **ऋग्वेद मन्त्र ७/१८/१०** का भाव है-हे मनुष्यो! जैसे चरवाहों से रहित गौएँ अपने बछड़ों को और वायु अन्तरिक्षस्थ किरणों को और मित्र मित्र को प्राप्त होता है वैसे ही अपने किए हुए शुभ-अशुभ कर्मों को जीव ईश्वर व्यवस्था से प्राप्त होते हैं।

यही बात **यजुर्वेद मन्त्र ७/४८** में कह दी है कि जीवात्मा कर्म करता है और ईश्वर कर्मों का फल देता है। अतः यदि संक्षेप में कर्मों के बोध के विषय में कहा जाए तो इतना कहना ही उचित होगा कि हम वेदाध्ययन द्वारा कर्मों के बोध प्राप्त करें और वेदों में कहे शुभ कर्म ही करें। क्योंकि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** यह ज्ञान देता है कि यदि मनुष्य आलस्य त्यागकर पुरुषार्थ द्वारा ईश्वर द्वारा वेदों में कहे शुभ कर्मों को ही करते हैं, तब अशुभ कर्म स्वतः ही छूट जाते हैं और मनुष्य अवैदिक कर्म अर्थात् अधर्मयुक्त कर्म में अर्थात् निषिद्ध कर्मों में कभी लिप्त नहीं होता।

अतः श्रीकृष्ण महाराज का यहाँ कहना है कि जीव कर्म का स्वरूप, अकर्म का स्वरूप एवं विकर्म अर्थात् निषिद्ध कर्म का स्वरूप प्रमाणिक वेद-विद्या से समझे-जाने जिसके फलस्वरूप वह पापयुक्त कर्मों को नहीं करेगा तथा सदा वैदिक शुभ कर्म ही करके सुखी रहेगा।

श्रीकृष्ण उवाच –

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।

(गीता श्लोक ४/१८)

(यः) जो पुरुष **(कर्मणि)** कर्मों में **(अकर्म)** अकर्म **(पश्येत्)** देखे **(च)** और **(यः)** जो **(अकर्मणि)** अकर्मों में **(कर्म)** कर्म देखे **(सः)** वह पुरुष **(मनुष्येषु)** मनुष्यों में **(बुद्धिमान्)** बुद्धिमान है। **(सः)** वह **(युक्तः)** योगी **(कृत्स्न-कर्म-कृत्)** सब शुभ कर्मों को करने वाला है।

अर्थः- जो पुरुष कर्मों में अकर्म देखे और जो अकर्मों में कर्म देखे वह पुरुष मनुष्यों में बुद्धिमान है, वह योगी सब शुभ कर्मों को करने वाला है।

भावार्थः- जो प्राणी कर्म तो करता है परन्तु यह अनुभव करता है कि मैं कर्म नहीं कर रहा, ऐसा अनुभव होना घोर साधना का पुण्यवान फल होता है क्योंकि केवल पढ़ा, सुना ज्ञान तो **सांख्य शास्त्र सूत्र १/२३** में केवल बुद्धिगत ज्ञान ही कहा है जो केवल कहने और सुनने मात्र के लिए ही होता है। ऐसा ज्ञान आचरण में नहीं होता न लाभकारी होता है। **मनुस्मृति श्लोक ४/१४** में कहा है-वेद में कहे हुए कर्म तत्परता से करें। **मनुस्मृति श्लोक २/६** में कहा कि सब कर्मों का उदय वेद से ही है। यही सत्य **गीता श्लोक ३/१५** में भी श्री कृष्ण महाराज ने कहा है कि कर्म वेद से उत्पन्न हैं। अतः यह मनुष्य का धर्म है कि वह वेदों में कहे शुभ कर्म ही करे। जहाँ **मनुस्मृति श्लोक १/१०६** में वेदों में कहे शुभ कर्मों का आचरण सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है वहीं **श्लोक २/११** में कहा कि जो वेद और वेदानुकूल सत्य ग्रन्थों का अपनी मनघढ़न्त कथा-कहानियों से अपमान करता है, उसका समाज बहिष्कार कर दे क्योंकि वह वेद निन्दक नास्तिक कहलाता है। **मनुस्मृति श्लोक १/११०** में धर्माचरण (वेदानुकूल कर्त्तव्य कर्म करना) सब तपस्याओं का श्रेष्ठ मूल आधार कहा है। अतः यदि हम वेदों के अध्ययन के बिना कर्त्तव्य कर्म के सत्य स्वरूप को नहीं जानते और मनमानी पूजा अथवा सांसारिक कर्म करते हैं तो यह धर्माचरण नहीं कहा जाएगा और धर्माचरण के अभाव में हमारी तपस्या आदि क्रियाएँ भी निष्फल ही रहेंगीं। यही कारण विशेष है कि आज अत्याधिक पूजा-पाठ, राजनैतिक गतिविधियाँ, समाज-कल्याण, पढ़ना-लिखना इत्यादि होने पर भी फल शून्य प्रायः ही है अर्थात् जीव केवल भौतिकवाद की चढ़ाईयाँ चढ़ रहा है, शान्तिपथ से शून्य है। क्योंकि वेद विद्या के अभाव में प्राणी प्रायः जितने भी कर्म करता है वह सब कर्म अहंकार, अभिमान सहित ही करता है। अतः उग्रवाद, नारी अपमान, भ्रष्टाचार, अत्याचार इत्यादि चरम सीमा पर पहुँच कर जनता के मूल अधिकार तक को हनन कर चुके हैं। तब भाईचारे अथवा शान्ति की बात करना तो अपने मुँह मियाँ मिठ्ठु वाली बात ही है। आज देश में अधिकतर वेद विरोधी सन्तों का ही बोल बाला है अतः वेद एवं मनुस्मृति जैसे पवित्र ग्रन्थों के प्रमाण से हमें यह समझ लेना चाहिए कि वेदानुकूल कर्म किए बिना घर, समाज एवं देश में केवल सरकार के बनाए हुए कानून पर सुख-शांति स्थापित कभी भी नहीं की जा सकती। देश के कानून पर चलने के लिए वैदिक धार्मिक भावना एवं तदानुसार धर्म का हृदय में डर आवश्यक है जो कि दशरथ, हरिश्चन्द्र, श्रीराम एवं युधिष्ठिर जैसे राजाओं के राज्यों में स्थापित था और फलस्वरूप वहां न्याय एवं शांति थी। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण उसी

वैदिक धर्म का आह्वान कर रहे हैं कि कर्म किए बिना तो प्राणी एक पल भी रह नहीं सकता परन्तु वह कर्म जिसको करते-करते अकर्म महसूस हो और अकर्म में कर्म देखे तो वही पुरुष विश्व में बुद्धिमान कहा गया है। वह पुरुष ही कर्म के रहस्य का सर्वश्रेष्ठ ज्ञाता है। जैसा ऊपर कहा कि वेदाध्ययन द्वारा शुभ कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके जो शुभ कर्म किए जाते हैं, उसके आधार पर ही मनुष्य गृहस्थादि आश्रम में रहते हुए ईश्वर स्तुति, साधना, तप इत्यादि कर सकते हैं और ऐसा धर्माचरण तथा शुभ कर्म ही वैशेषिक शास्त्र एवं पूर्व मीमांसा शास्त्र **श्लोक १/१/२** में मोक्ष सुख प्राप्ति रूपी सर्वश्रेष्ठ धर्म कहा है। परन्तु इन सब धर्मों के स्वरूप को समझना तथा आचरण में लाना वेदाध्ययन एवं तपस्या का फल ही है अर्थात् वेदाध्ययन एवं तपस्या रूपी धन यदि हमारे पास नहीं है तो हम अधर्म को ही धर्म मानकर पाप करते रहते हैं। जिस गीता ग्रन्थ का हम अध्ययन करते हैं, वह व्यास मुनि एवं श्रीकृष्ण द्वारा उनके वेदाध्ययन एवं तप के पश्चात हृदय में प्रकट हुआ धर्म अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना का स्वरूप है। उन्होंने आज के वेद विरोध ी सन्तों की तरह केवल पढ़ सुन रटकर, व्याख्यान करके पैसे नहीं कमाए थे, उनके हृदय में तो योगशास्त्र **सूत्र २/१** के आचरण द्वारा स्वतः उपजा ज्ञान था, अनुभव था। सूत्र २/१ में पता जलि ऋषि कह रहे हैं:-

"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"

भावार्थः- वेद, शास्त्र आदि सद्ग्रन्थों ने तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर भक्ति को ब्रह्म प्राप्ति का आधार बताया है। इनके बिना मनुष्य का अन्तःकरण शुद्ध नहीं होता और अन्तःकरण शुद्ध हुए बिना योगसिद्धि एवं वेदानुकूल शुभ कर्म करने की प्रेरणा कभी नहीं होती। जैसा योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक ४/५** में कहा कि हे अर्जुन! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं। उन सब जन्मों को मैं जानता हूँ, तू नहीं जानता। इस प्रकार अनन्त जन्मों में किए कर्म, अविद्यादि क्लेश तथा उनके संस्कार चित्त में बने हुए हैं जिसके कारण अन्तःकरण अशुद्ध है जो बिना तप, स्वाध्याय आदि के शुद्ध नहीं होता। महाभारत में **आश्वमेधिक पर्व १/२०** में कहा-

"यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः।।"

अर्थः- हे नरेश्वर, पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्या से ही पवित्र होते हैं।

व्यास मुनि इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि जो तप से रहित हैं उनका योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकाल से कर्म, क्लेश और वासनाएँ विषय जाल को उपस्थित करने वाली अशुद्धि हैं जो बिना तप के नष्ट नहीं होती। साधना, आसन इत्यादि में सर्दी, गर्मी शारीरिक एवं मानसिक कष्टों का सहना तप है।

स्वाध्यायः- परमेश्वर का नाम ओंकार आदि का जप विधिपूर्वक करना तथा वेदादि जिन सद्ग्रन्थों में मोक्ष का उपदेश है उनको पढ़ना स्वाध्याय है।

ईश्वर-प्रणिधानः- ईश्वर पर पूरा भरोसा तथा उसकी विशेष भक्ति जिसमें सब कर्मों को तथा कर्मफल को ईश्वर के प्रति अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है।

व्यास मुनि व्याख्या करते हुए कहते हैं कि चित्त की वासनाएँ, कर्मफल इत्यादि तप के बिना नष्ट नहीं होते। इस कारण तप किया जाता है जिससे दुःख एवं क्लेशों का नाश हो। आगे कहते हैं कि वह तप चित्त को प्रसन्न करने वाला होता है, ऐसा योगी लोग मानते हैं।

इस तप के स्वरूप हैं:-**"ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मै तदुपास्वैतत्तपः।"**

अर्थात् जिसका जो और जैसा स्वरूप है उसको वैसा ही मानना तथा सत्य बोलना, यह तप है। इसी प्रकार सत्य सुनना, शान्त स्वभाव धारण करने के लिए प्रयत्नशील रहना, आँख, नाक इत्यादि पांचों ज्ञानेन्द्रियों को अधर्म, आलस्य आदि बुराई से हटाकर सत्य एवं धर्म में लगाना तप कहलाता है। इसी प्रकार मन को सदा धर्म में स्थिर करना तप है। विद्वान् और पूर्ण विद्वान् जो योगी हैं अर्थात् वेद एवं योग विद्या द्वारा ब्रह्म को जानने वाले हैं, उनको श्रद्धापूर्वक दान देना, सेवा करना, यह ऊपर उपनिषद् में कहा दान रूपी तप है। यज्ञ द्वारा ईश्वर की उपासना करना, अग्नि में घृत आदि की आहुतियाँ डालना यह ऊपर कहा यज्ञ रूपी तप है। अतः प्रस्तुत श्लोक में कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म, उसी पुरुष को अनुभव होता है जो ऊपर कहे तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूपी साधना में सिद्धहस्त हो जाते हैं। भाव है कि जब ऐसा महापुरुष गृहस्थादि किसी भी आश्रम में रहकर, कोई कर्म करता है, प्रथम तो वह वेदानुकूल होगा। अतः धर्म पर आधारित होगा, तपस्या की अनुभूति लिए होगा, अतः परम पवित्र होगा एवं सदा स्वार्थ

रहित एवं परोपकारी कर्म होगा। निश्चित ही संसार के कल्याण के लिए होगा। तब कर्म में अकर्म की भावना का स्वरूप **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** के अनुसार यह होगा कि वह पुरुष कर्म तो करेगा लेकिन उसे कर्म लिप्त नहीं होंगे। अर्थात् वह कर्म तो करेगा लेकिन उसका किया हुआ कर्म मानो अकर्म सा ही है अर्थात् वह पुरुष समझ ही नहीं पाएगा कि उसने कोई शुभ कर्म, परोपकारी कर्म किसी के लिए किया है। वह कर्मफल में लिप्त नहीं होगा। ऐसे पुरुष को शुभ कर्म करते हुए भी महसूस नहीं होता कि वह कर्म कर रहा है। क्योंकि धर्माचरण एवं तपस्या के प्रभाव से उसका कर्म निःस्वार्थ एवं अहंकार रहित होता है। वह अपने उपकार को कभी भी किसी पर जताएगा ही नहीं। उसका कर्म सर्वदा अहंकार रहित होगा। यही अवस्था कर्म में अकर्म की है। अकर्म में कर्म भी ऐसा ही महापुरुष अनुभव करता है। अर्थात् आलसी बनकर वह चुप तो कभी बैठता ही नहीं, शरीर की अंतिम साँस तक वह श्रीराम, श्रीकृष्ण, सीता, मदालसा, युधिष्ठिर, अर्जुन, अभिमन्यु की भांति सहज स्वाभाव से ही पुरुषार्थ, अटूट श्रम आदि में रत ही रहता है। अर्थात् अकर्म अर्थात् आलस्य युक्त होकर कर्म न करने की भावना तो उसमें प्रकट हो ही नहीं सकती और शेष रहा विकर्म तो विकर्म अर्थात् वेद, स्मृति के विरुद्ध कर्म करना, यह तो वह सपने में भी नहीं सोच सकता क्योंकि वह सम्पूर्ण वेद, सम्पूर्ण स्मृतियों का ज्ञाता, तपस्वी पुरुष अथवा नारी है। अतः हम भारतवासी पुरातन काल की तरह अब पुनः वेदों की तरफ लौट जाएँ और वेद विरोधी सन्तों को भी विद्या दान द्वारा सद्मति प्रदान करने का प्रयत्न करें और उन्हें हम कहें कि हे सन्तों आपने आज तक बहुत पैसा कमा लिया है, अब यह कमाया हुआ पैसा, वेदाध्ययन एवं जनता के कल्याण के लिए खर्च करके पुण्य कमाएँ।

आज गीता ग्रंथ को भी वेदों के अनुकूल न समझने के कारण प्रायः देखा जाता है कि आज के संत जन अपने सामने बैठे भीड़ में से ही अपने शिष्यों को बारी-बारी से उठाते हैं और सबके सामने अपनी झूठी-सच्ची प्रशंसा सुनते हैं जो कि कर्म में अकर्म दिखाई नहीं देता। अतः वेद एवं योग दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक को समझने पर ज्ञात होता है कि श्लोक में जप, तप, यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास जैसी कठोर साधना करके समाधि प्राप्त योगी के गुणों का वर्णन यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने किया है। केवल श्लोकों को गीता प्रवचन में पढ़, सुन, रटके केवल लोगों को गीता आदि प्रवचन द्वारा पढ़, सुन, रट अथवा बोलकर श्लोक में कहे योगी के गुण कभी भी किसी में प्रकट नहीं हो सकते। अतः सावधान होकर हम गीता के रहस्य को वेदों पर आधारित ज्ञान के द्वारा ही विद्वानों

से समझें और मिथ्यावाद से बचें। यह कटु सत्य तो सम्पूर्ण संसार जानता ही है कि गीता का उपदेश भी तो वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना स्वयं करने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज ही तो कह रहे हैं। वेदाध्ययन आदि से रहित कोई अन्य पुरुष अर्जुन को उपदेश कैसे कर सकता था? अतः आज भी वेदाध्ययन एवं योग-विद्या को आचरण में न लाने वाला कोई भी पुरुष गीता का सत्युपदेश करने में समर्थ नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच–

"यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।"

(गीता श्लोक ४/१९)

(यस्य) जिसके **(सर्वे)** सब **(समारम्भाः)** आरम्भ किए हुए कर्म **(कामसंकल्पवर्जिताः)** कामना एवं संकल्प से रहित हैं **(तम्)** उस पुरुष को **(ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं)** जिसने ज्ञान की अग्नि से कर्मों को भस्म किया है **(बुधाः)** ज्ञानी जन **(पण्डितं)** पण्डित **(आहुः)** कहते हैं।

अर्थः– जिसके सब आरम्भ किए हुए कर्म कामना एवं संकल्प से रहित हैं, उस पुरुष को, जिसने ज्ञान की अग्नि से कर्मों को भस्म किया है, ज्ञानीजन उसे पण्डित कहते हैं।

भावार्थः– गीता श्लोक १२/१६ में भी श्रीकृष्ण महाराज ने कहा है–**"सर्वारम्भ परित्यागी मद्भक्तः मे प्रियः"** अर्थात् सब कर्मों के फल की इच्छा न रखने वाला ईश्वर को प्रिय है। प्रस्तुत श्लोक में कामना एवं संकल्प, यह दो वैदिक शब्द प्रयोग किए गए हैं। कामना का शाब्दिक अर्थ शुभ कर्म एवं वेदानुकूल शुभ कर्म करने की इच्छा तथा जो विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति के लिए तप, पुरुषार्थ द्वारा तपादि शुभ कर्म करने की इच्छा होती है, उसे संकल्प कहते हैं। साथ ही इस श्लोक में कहा **"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं"** अर्थात् जिसके ज्ञान रूपी अग्नि से सब कर्म भस्म हो गए हैं अर्थात् कर्मों का फल उसे भोगना शेष नहीं रह गया है तो ऐसे पुरुष को ज्ञानीजन **"पण्डित"** कहते हैं। जैसा कि वैदिक ज्ञान है कि कर्म किए बिना कोई भी प्राणी एक पल भी नहीं रह सकता और कामना के बिना कर्म होता नहीं है। कर्म करने वाला जीव है, ईश्वर ने जीवात्मा को कर्म करने के लिए शरीर और इन्द्रियाँ प्रदान की हैं। अतः प्राणी सदा वैदिक धर्मयुक्त शुभ कर्म करने

की ही इच्छा करे, अधर्म की इच्छा न करे। यह ध्यान रहे कि कर्म तो जीव करता है परन्तु शुभ अथवा अशुभ कर्मों का फल ईश्वर द्वारा दिया जाता है। **यजुर्वेद मन्त्र ३४/१-६** में ईश्वर मनुष्यों को केवल शुभ कर्म करने की ही प्रेरणा देता है। अतः शुभ कामना एवं संकल्प, दोनों ही का हम आचरण करें। क्योंकि कामना के बिना तो मनुष्य आँख भी नहीं झपक सकता। अतः यज्ञ, ईश्वर-प्राप्ति, गृहस्थ के शुभ कर्म, मेहनत की कमाई, दान, प्रातःकाल शीघ्र उठकर ध्यान में बैठना इत्यादि, इन शुभ कर्मों की कामना-संकल्प, अति आवश्यक है। प्रस्तुत श्लोक में ज्ञानाग्नि के द्वारा कर्मों को भस्म करने की बात कही है अर्थात् ऐसे शुभ संकल्प एवं कामना सहित वेदानुकूल कर्त्तव्य-कर्मों को करने से मनुष्य के हृदय में जीव, ब्रह्म, प्रकृति-जड़-चेतन आदि का ज्ञान प्रकट होता है जिसके प्रभाव से मनुष्य के पिछले जन्मों के लिए स चित एवं प्रारब्ध कर्म नष्ट हो जाते हैं और ऐसे समाधिस्थ पुरुष के बन्धन हेतु नए कर्म बनते नहीं हैं। ज्ञानवान पुरुष की यह ऐसी अवस्था होती है कि मनुष्य के सकाम कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कर्म करने के प्रति कामना एवं संकल्प भी समाप्त प्रायः हो जाते हैं, जिसके विषय में यहाँ श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने कहा कि ऐसे योगी के कर्म, कामना एवं संकल्प से रहित होते हैं क्योंकि घोर तपस्या के फलस्वरूप उस विद्वान् ने अपना ब्रह्म प्राप्ति का लक्ष्य पूरा कर लिया होता है और प्रकृति उसके लिए अपना काम समाप्त कर देती है अर्थात् ऐसा पुरुष रजोगुण, तमोगुण और सतोगुण के प्रभाव से अलग हो जाता है। प्रकृति के दो ही कार्य हैं-भोगियों के लिए भोग पदार्थों को प्रस्तुत करना और साधकों के लिए ईश्वर प्राप्ति के मार्ग पर चलने के लिए अपना सहयोग देना। **योगशास्त्र सूत्र २/१** में तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान, इन तीनों क्रियायोग के विषय में कहा है। श्रुति में तप का स्वरूप- **"ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो।"** अर्थात् जिसका जो और जैसा स्वरूप है उसको वैसा ही मानना तथा सत्य बोलना यह तप है। इसी प्रकार सत्य सुनना, शान्त स्वभाव धारण करने के लिए प्रयत्नशील रहना, आँख, नाक इत्यादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अधर्म, आलस्य आदि बुराई से हटाकर सत्य एवं धर्म में लगाना तप कहलाता है। इसी प्रकार मन को सदा वैदिक धर्म में स्थिर करना तप है। विद्वान् और पूर्ण विद्वान् जो योगी हैं अर्थात् वेद एवं योग विद्या द्वारा ब्रह्म को जानने वाले हैं, उनको श्रद्धापूर्वक दान देना, सेवा करना, यह ऊपर उपनिषद् में कहा दान रूपी तप है। यज्ञ द्वारा परमेश्वर की उपासना करना, अग्नि में घृत आदि की आहुतियाँ डालना, यह ऊपर कहा

यज्ञ रूपी तप है।

उपनिषद् में स्वाध्याय के विषय में कहा:- **"स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्ष शास्त्राध्ययनं"**

अर्थात् ओ३म् इत्यादि परमेश्वर के पवित्र नाम का जपना तथा जिन शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश है उन शास्त्रों का विद्वानों, सन्तों से सुनना तथा पढ़ना स्वाध्याय कहलाता है। **"ऋते च स्वाध्याय प्रवचने च तद्धि तपः"** अर्थात् वेदों का पढ़ना तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके प्रवचन करना परम तप कहा गया है। अतः प्रत्येक नर-नारी का यहाँ धर्म है कि गृहाश्रम में परमेश्वर का पवित्र नाम जपे तथा वेद एवं ऐसे ही अन्य सद्ग्रन्थ जिनमें मोक्ष का उपदेश है, उनको आचार्य से पढ़े। पश्चात स्वयं पढ़े। अब तीसरा शब्द है "ईश्वर प्रणिधानानि" जिसका बहुत ही सुन्दर अर्थ व्यास मुनि जी ने समझाया:- "ईश्वर भक्ति का अर्थ है कि सब क्रियाओं को परम गुरु परमेश्वर में अर्पण करना अथवा सब कर्म फलों का त्याग करना।" ऊपर कहा तप तथा योगाभ्यास साधक को ज्ञानी बनाता है। जब ऐसा साधक ज्ञान युक्त कर्म करता है तब उस कर्म का फल बन्धन में नहीं डालता। अतः योग शास्त्र में ऊपर कहे सूत्र का सरल भाव यही है कि यदि जीव गृहाश्रम में रहता हुआ तप अर्थात् धर्मानुष्ठान करता है, स्वाध्याय अर्थात् नाम जप तथा शास्त्रों को पढ़ता रहता है। तीसरा यदि वह ईश्वर में ही सब कर्म अर्पण कर देता है तो गृहाश्रम में रहता ही वह महर्षि के समान है तथा पूर्ण मोक्ष पद पा लेता है। इन क्रियाओं के द्वारा उनकी वृत्ति एकाग्र होकर परमेश्वर में लग जाती है।

भाव यह है कि जब साधक तप, स्वाध्याय और ईश्वर भक्ति में रत होता है तथा वेदाध्ययन द्वारा वेदानुकूल गृहस्थ के सब शुभ कर्म साथ-साथ करता रहता है, तब एक समय ऐसी अवस्था आती है कि उसकी चित्त की वृत्ति निरुद्ध हो जाती है और वह समाधि में ईश्वर की अनुभूति करता है। इस अवस्था में उस साधक के सब अहंकार, अभिमान समाप्त हो जाते हैं और प्रकृति के रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण उस पर अपना प्रभाव डालना बन्द कर देते हैं। अहंकार एवं अभिमान आदि सभी अवगुणों से रहित होने के कारण ऐसे पुरुष के कार्य स्वभावतः कामना एवं संकल्प से रहित हो जाते हैं क्योंकि ऐसे पुरुष में स्वार्थ आदि दोष भी नहीं रहते। अतः उसके सभी कर्म निःस्वार्थ एवं फल की इच्छा से रहित होते हैं। ऐसे पुरुष के विषय में **कपिल मुनि ने सांख्य सूत्र ३/८२**

में कहा **"चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः"** अर्थात् कुम्हार के चाक के घूमने के समान वह योगी शरीर को धारण किए रहता है। जैसे कि कुम्हार अपने चाक को डण्डे की सहायता से पूरी शक्ति लगाकर घुमाता है और छोड़ देता है और इस प्रकार वह चाक अपने आप कुछ समय तक घूमता रहता है, इसी प्रकार उस योगी ने जितनी स्वाँसें लेनी होती हैं, वह उतने समय तक शरीर धारण किए रहता है अन्यथा उसका संसार से कोई भी लगाव शेष नहीं रहता। प्रस्तुत श्लोक में इसी अवस्था का वर्णन श्रीकृष्ण महाराज कर रहे हैं। ऐसे प्राणी भी धन्य हैं जो वेद विद्या को सुनकर दृढ़ संकल्प द्वारा अपनी कामनाओं पर विजय प्राप्त करते हैं अन्यथा अर्जुन को श्रीकृष्ण महाराज युद्ध करने (युद्ध का संकल्प लेने) की ही प्रेरणा दे रहे हैं। मनुष्य जन्म अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष की सिद्धि के लिए ही प्राप्त हुआ है, अतः हम वेद शास्त्रों की प्रेरणा पाकर कामनाओं एवं संकल्प को ऊपर कहे अनुसार ज्ञान युक्त करें और अधर्म पर विजय प्राप्त करें और प्रत्येक शुभ कार्य निःस्वार्थ करें। ऐसे ही पुरुष को इस श्लोक में **"पण्डित"** कहा है। पण्डित अथवा पण्डिता ऐसे पुरुष एवं नारियाँ हैं जो तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर भक्ति पर चलते हुए वैदिक शुभ कर्म करते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच –

"त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः।।"

(गीता श्लोक ४/२०)

(नित्य तृप्तः) सदा ब्रह्म अनुभूति के आनन्द में तृप्त **(निराश्रयः)** संसार के सभी आश्रय से रहित **(सः)** वह पुरुष **(कर्मफलासङ्गम्)** कर्मफल की आसक्ति को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(कर्मणि)** कर्म में **(अभिप्रवृत्तः)** भली-भांति लगा हुआ **(अपि)** भी **(किंचित्)** कुछ **(एव)** भी **(न)** नहीं **(करोति)** करता है।

अर्थः- सदा ब्रह्म अनुभूति के आनन्द में तृप्त संसार के सभी आश्रय से रहित वह पुरुष कर्मफल की आसक्ति को त्यागकर कर्म में भली-भांति लगा हुआ भी कुछ भी नहीं करता है।

भावार्थः- वेदों में यज्ञ को सर्वश्रेष्ठ कर्म कहा है। यज्ञ में बार-बार यही दोहराया जाता

है कि हे ईश्वर जो मैंने शुभ कर्म किए, आहुतियाँ डाली इत्यादि यह सब आपकी दया, कृपा एवं प्रेरणा द्वारा ही किया गया है, अतः **"इदं प्रजापतये-इदं न मम"** अर्थात् हे प्रजा के पालने वाले प्रभु यह सब कुछ आपका ही है, मेरा इसमें कुछ नहीं है। नित्य यज्ञ-कर्म करने से हृदय में निष्काम कर्म की भावना दृढ़ हो जाती है। तथा सब कर्मों का प्रारम्भ एवं फल ईश्वर को अर्पण हो जाता है। ऐसी निष्काम कर्म भावना को पाने के लिए तप, यज्ञ एवं योग-विद्या का ज्ञान एवं अभ्यास ही सहायक है। वेद अथवा गीता आदि कोई भी सद्ग्रन्थ को केवल पढ़ने से अहंकार एवं विकार उत्पन्न होने का डर रहता ही है। इन ग्रन्थों में कहा हुआ ज्ञान यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि साधना के द्वारा ही आचरण में आता है। वस्तुतः इन सदग्रन्थों में तप, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि साधना करने के लिए ही तो कहा है, केवल पाठ पढ़ने के लिये, पढ़कर सुनाने के लिए तो कहीं भी नहीं कहा है। पिछले श्लोक में **योग शास्त्र सूत्र २/१** में स्वाध्याय का अर्थ विधि-पूर्वक ईश्वर के नाम का जप तथा वेदादि सद्ग्रन्थों, जिन में मोक्ष का उपदेश है, उसका अध्ययन करना कहा है। यह हमारे देश का दुर्भाग्य है कि आज प्रायः वेद-विरोधी सन्तों के असत्य भाषण के प्रभाव से हम वेदों के अध्ययन को त्याग बैठे हैं। जिन वेदों के अध्ययन का उपदेश ऋषि-मुनियों और ईश्वर ने कहा है उस अध्ययन, श्रवण का त्याग कितना बड़ा पाप है। इसी सूत्र में ईश्वर-प्रणिधान का अर्थ ईश्वर पर पूरा भरोसा तथा उसकी विशेष भक्ति जिसमें सब कर्मों को तथा कर्मफल को ईश्वर के प्रति अर्पण करना ईश्वर प्रणिधान है। **योग शास्त्र सूत्र २/१२** में सभी अशुभ कर्म, अकर्म अथवा विकर्म के समूह का कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पाँच क्लेश हैं। जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना द्वारा ही अविद्यादि क्लेशों का नाश होता है। फलस्वरूप ही समाधि प्राप्त योगी संसार के आश्रय से रहित हुआ, कर्मफल की आसक्ति को त्याग कर शुभ कर्म करता हुआ भी कुछ नहीं करता। अर्थात् ऐसे योगी के सब कर्म प्रथम तो वेदानुकूल शुभ होते हैं, दूसरा कि उसके कर्म ज्ञान युक्त होने के कारण स्वतः ही निःस्वार्थ/निष्काम कर्म होते हैं और इस प्रकार वह योगी कर्म फल का भोक्ता भी नहीं होता।

व्यास मुनि जी **योग शास्त्र सूत्र १/२४** की व्याख्या में कहते हैं कि वेद द्वारा ही पदार्थों का ज्ञान, कर्म एवं उपासना का ज्ञान होता है और पुनः ईश्वर का ज्ञान होता है क्योंकि वेद-वाणी का ज्ञान साक्षात ईश्वर से निकला है। अतः वेद वाणी का ज्ञान न होने

के कारण ही मनुष्य अविद्यादि क्लेशों में फँसा पाप कर्म में लिप्त होता है। अतः जब मनुष्य तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, यज्ञ, योगाभ्यास आदि साधना करता है तब वह समाधि में ईश्वर को अनुभव करता है। इस प्रकार कैवल्य पद प्राप्त करके जीवन मुक्त हो जाता है। वह सदा ईश्वर अनुभूति के आनन्द में मग्न हुआ कर्म करता हुआ भी कर्म-फल के प्रभाव से मुक्त रहता है। प्रस्तुत श्लोक में **"नित्यतृप्तः"** अर्थात् ऐसा पुरुष ईश्वर आनन्द से सदा तृप्त रहता हुआ किसी पर आश्रित नहीं रहता अपितु एकमात्र ईश्वर पर (ईश्वर प्रणिधान) भरोसा रखता है। इतना सब कुछ कहने का अभिप्राय यह है कि ऊपर कहे अनुसार यदि वेदों की वाणी का हमें ज्ञान नहीं है और हम तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि सनातन विद्या के अभ्यास से रहित हैं, तब केवल प्रस्तुत श्लोक में कहे **"नित्यतृप्तः"** आदि शब्दों को रटना और व्याख्यान करना इत्यादि **केनोपनिषद् श्लोक ४/८** के अनुसार ब्रह्म-विद्या का अपमान है। इस प्रकार तपस्या रहित होकर पूरी की पूरी गीता को सुना-सुना कर पैसे एकत्र करना भी ईश्वर एवं श्री कृष्ण महाराज का अपमान है। क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज ने तो ऊपर कहे वेदाध्ययन तप-यज्ञ आदि द्वारा ही सम्पूर्ण अनुभव एवं तृप्ति प्राप्त की थी जबकि आज हम प्रायः केवल गीता सुनाकर ही पैसे इक्ट्ठे करते हैं तथा वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि का खण्डन करते रहते हैं। अतः ऊपर कही साधना द्वारा ईश्वर अनुभूति के पश्चात ईश्वर के आनन्द में तृप्त पुरुष ही स्वतः श्लोक में कहे शब्द **"निराश्रयः"** अर्थात् सब प्रकार के आश्रय से रहित हो जाता है, **'कर्मफलासङ्गम् त्यक्त्वा'** कर्म और उसके फलों में आसक्ति को छोड़कर सदा आनन्द में रहता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण कहते हैं कि ऐसा पुरुष स्वाभाविक कर्मों को करता हुआ भी वास्तव में कोई कर्म नहीं करता। अर्थात् **यजुर्वेद मंत्र ४०/२** के अनुसार ऐसे पुरुष को किए हुए कर्मों का फल नहीं भोगना होता। अतः यह कहना वेद-विरुद्ध है कि गीता आदि प्रवचन सुनकर बिना साधना किये कर्म और कर्मफल में आसक्ति को त्यागकर कोई परमेश्वर के आनन्द में रहकर तृप्त रहता है। अपितु सच यह है कि वेदों में ऊपर कही साधना द्वारा जो पुरुष समाधि (कैवल्यपद) पद प्राप्त करके ईश्वर के स्वरूप में मग्न हो जाता है उसके सारे संशय एवं कर्मबंधन नष्ट हो जाते हैं। अतः वह साधक-योगी ही ईश्वर के आनन्द में तृप्त है। अतः साधन-विशेष द्वारा ब्रह्म प्राप्ति के पश्चात ही मनुष्य कर्मफल से आसक्ति त्याग देता है। कोई कहे कि पहले आसक्ति त्यागो फिर ईश्वर-अनुभूति

होगी, ऐसा होना असंभव है। क्योंकि चित्त-वृत्ति निरुद्ध करके ही ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है। गीता ग्रन्थ का मूल उपदेश वेद-विद्या पर आधारित है। अतः वेदानुसार ही गीता में भी वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्ति एवं योगाभ्यास द्वारा ईश्वर अनुभूति और अनुभूति द्वारा तृप्त अर्थात् ब्रह्म के आनन्द में डूबने का उपदेश है। ब्रह्म प्राप्ति पर ही सब शुभ गुण हृदय में प्रकट हो जाते हैं अथवा यों कहें कि वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि द्वारा जब हृदय शुद्ध होता है, तब गुण प्रकट होते हैं, अशुभ कर्मों का नाश होता है फलस्वरूप ही हृदय में ईश्वर प्रकट होता है एवं मनुष्य आनन्द से तृप्त होता है।

अतः वेद एवं योग दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक को समझने पर ज्ञात होता है कि श्लोक में जप, तप, यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास जैसी कठोर साधना करके समाधि प्राप्त योगी के गुणों का वर्णन यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने किया है। केवल श्लोकों को गीता प्रवचन में पढ़, सुन, रट के केवल लोगों को गीता आदि प्रवचन द्वारा पढ़, सुन, रट अथवा बोलकर श्लोक में कहे योगी के गुण कभी भी किसी में प्रकट नहीं हो सकते। अतः सावधान होकर हम गीता के रहस्य को वेदों पर आधारित ज्ञान के द्वारा ही विद्वानों से समझें और मिथ्यावाद से बचें। यह कटु सत्य तो सम्पूर्ण संसार जानता ही है कि गीता का उपदेश भी तो वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना स्वयं करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ही तो कह रहे हैं। वेदाध्ययन आदि से रहित कोई अन्य पुरुष अर्जुन को उपदेश कैसे कर सकता था? अतः आज भी वेदाध्ययन एवं योग-विद्या को आचरण में न लाने वाला कोई भी पुरुष गीता का सत्युपदेश करने में समर्थ नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।"

(गीता श्लोक ४/२१)

(यतचित्तात्मा) जिसने वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को जीत लिया है **(त्यक्तसर्वपरिग्रहः)** सम्पूर्ण सांसारिक भोगों को त्याग दिया है, वह **(निराशीः)** सब आशाओं से रहित व केवल ईश्वर पर आश्रित पुरुष **(केवलम्)** केवल **(शारीरम्)** शरीर द्वारा **(कर्म)** कर्म को **(कुर्वन्)** करता हुआ **(किल्बिषम्)** पाप को **(न)** नहीं

(आप्नोति) प्राप्त होता है।

अर्थः- जिसने वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को जीत लिया है, सम्पूर्ण सांसारिक भोगों को त्याग दिया है, वह सब आशाओं से रहित व केवल ईश्वर पर आश्रित पुरुष, केवल शरीर द्वारा कर्म को करता हुआ, पाप को नहीं प्राप्त होता है।

भावार्थः- आज गीता के श्लोकों की परिभाषा प्रायः वह सन्त करते हैं जिन्हें वेदविद्या का ज्ञान नहीं होता एवं वेद, यज्ञ एवं योग विद्या की प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से निन्दा करते हैं। देश में अधिकतर व्यभिचार, धर्म की आड़ में वेद विरोधी जप, तप, यज्ञ आदि साधना से रहित व्यक्तियों में ही नजर आता है। इसके विषय में ही बड़े-बड़े कांड अखबारों में छपते रहते हैं। योग शास्त्र में कहा है कि हम बिना हिंसा एवं धर्म की दुहाई दिए, पाप नहीं कर सकते अर्थात् पापी को धर्म की दुहाई एवं हिंसा करना आवश्यक है। कई रामायण की चौपाई सुनाते, कहते हैं-**"समर्थ को दोष न गुसाईं"** इस चौपाई का वैदिक दृष्टि से अर्थ है कि जो ब्रह्मावस्था को प्राप्त हैं, वह पाप करने के लायक नहीं रहते। ऐसे पुरुषों की सब चित्त वृत्तियां पूर्णतः निरुद्ध होती हैं एवं **योग शास्त्र सूत्र १/३** ने कहा- **"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"** जीवात्मा का स्वरूप तो शुद्ध है और जिस पुरुष ने वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म, ज्ञान एवं उपासना द्वारा अपने स्वरूप का ज्ञान कर लिया है, तब वह वेदविरुद्ध पाप कर्म कैसे करेगा? कोई कहे कि राजा दशरथ, उनका परिवार, श्रीकृष्ण, उनका परिवार, राजा हरिश्चन्द्र, उनका परिवार अथवा उनकी प्रजा और ऋषि-मुनि पाप कर्म करना सोच भी सकते हैं, तो यह बात गले उतरने वाली नहीं है। क्योंकि आज से करीब सवा पाँच हजार वर्ष पहले महाभारत युद्ध हुआ और तब तक वेद विद्या का आचरण लगभग सब नर-नारियों में था। अतः उस समय पाप की संभावना नहीं थी, पाप वही लोग करते थे जो रावण, कंस, शूर्पनखा जैसे वेद विरोधी थे। अतः आज भी जो चारों तरफ भ्रष्टाचार इत्यादि पाप कर्म हैं, वे वेदविद्या का ज्ञान तथा तदानुकूल धर्माचरण न होने के कारण ही हैं।

गीता के प्रस्तुत श्लोक का भी यही भाव है-**ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त ६१** के मन्त्रों में कहा है कि जो गृहस्थादि कर्मों से समय निकाल कर वेदानुसार ईश्वर की स्तुति, प्रार्थना एवं उपासना करता है तब ईश्वर उस प्राणी को अपनाता है। इसी प्रकार **ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १४५** के पाँचों मन्त्रों में ज्ञान है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा प्राप्त

आत्म विद्या द्वारा ही काम वासना तथा पापयुक्त इच्छाएँ समाप्त होती हैं। और तभी ईश्वर की प्राप्ति संभव होती है। जिस प्रकार वृक्षों में उत्तम वृक्ष पीपल है और औषधियों में सोम औषधि, उसी प्रकार अध्यात्मविद्या को **ऋग्वेद मन्त्र १०/१४५/३** में सब विद्याओं में उत्तम विद्या कहा है और इसी मन्त्र में काम वासना को नीचों से नीच कहा है। अतः अगला ही मन्त्र कहता है कि जिस मनुष्य के अन्दर अध्यात्म विद्या बस जाती है, उसमें काम वासना का नामो-निशान नहीं रहता। अतः जिस प्रकार गऊ बछड़े को चाहती है, उसी प्रकार मनुष्य को वेदों में कही अध्यात्म विद्या से प्रेम करना चाहिए-उसे अपनाना चाहिए। अर्थात् वेदाध्ययन द्वारा विद्या एवं योग विद्यादि को जान कर, उसे जीवन में धारण करना चाहिए क्योंकि वेदों द्वारा यह सिद्ध है कि यदि किसी के पास वेदों में कही आध्यात्मिक विद्या नहीं है तो उसके काम, क्रोधादि विषय एवं पापयुक्त वासनाएँ कभी शान्त नहीं होंगी और फलस्वरूप प्रस्तुत श्लोक में कहा शब्द **"निराशीः"** उस पर लागू नहीं होगा अर्थात् उसके हृदय से सांसारिक तृष्णा अर्थात् पापयुक्त कामना दूर नहीं होगी। दूसरा **"यतचित्तात्मा"** उसकी इन्द्रियाँ उसके वश में नहीं होंगी, तीसरा **"त्यक्तसर्वपरिग्रहः"** सम्पूर्ण संसारी भोगों/पदार्थों के प्रति त्याग भाव उत्पन्न नहीं होगा और वह प्राणी संसारी विकारों में डूबा रहेगा। अतः श्रीकृष्ण महाराज का इस श्लोक में यह उपदेश है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों से जिसने अपनी इन्द्रियाँ, अन्तःकरण जीत लिया है और सांसारिक भोग सामग्री की इच्छा त्याग दी है तथा सांसारिक पदार्थों की तृष्णा अर्थात् भोग साधनों से जो इस प्रकार शून्य हो गया है तब ऐसा पुरुष केवल शरीर सम्बन्धी कर्मों को करता हुआ भी पाप में लिप्त नहीं होता। क्योंकि ऐसे तपस्वी योगी का शरीर/इन्द्रियाँ ही केवल शुभ कर्म करती हैं। परन्तु स्वयं वह योगी कर्म की कामना-संकल्प से शून्य होता है। उस योगी का वह शुभ कर्म भी ज्ञान युक्त होने के कारण स्वतः ही निःस्वार्थ तथा निष्काम कर्म होता है। अतः ऐसा योगी किये हुए कर्म के फल को नहीं भोगता। वास्तव में ऐसा पुरुष समाधिस्थ अर्थात् ब्रह्मलीन होता है। उसके विषय में सांख्य के मुनि कपिल **सूत्र ३/८२** में कहते हैं कि जितने साँस उसकी आयु के शेष हैं, वह उन साँसों के लिए ही शरीर में रहता है। परन्तु उसके शरीर द्वारा किया हुआ कोई भी कर्म उसको फल नहीं देता। वास्तव में ऐसे योगी की पाप वृत्ति नहीं होती। अतः हमें विचार करना है कि जो वेद एवं योग विद्या के विरोधी हैं, उनका तो एक-एक वचन ही पाप युक्त है क्योंकि ऊपर ऋग्वेद के मन्त्र स्पष्ट प्रमाण दे रहे हैं कि वेदों में कही आत्मविद्या के

अभाव में काम वासना इत्यादि जैसे दुर्गुण समाप्त नहीं होते।

अतः वेद एवं योग दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक को समझने पर ज्ञात होता है कि श्लोक में जप, तप, यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास जैसी कठोर साधना करके समाधि प्राप्त योगी के गुणों का वर्णन यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने किया है। केवल श्लोकों को गीता प्रवचन में पढ़, सुन, रट के केवल लोगों को गीता आदि प्रवचन द्वारा पढ़, सुन, रट अथवा बोलकर श्लोक में कहे योगी के गुण कभी भी किसी में प्रकट नहीं हो सकते। अतः सावधान होकर हम गीता के रहस्य को वेदों पर आधारित ज्ञान के द्वारा ही विद्वानों से समझें और मिथ्यावाद से बचें। यह कटु सत्य तो सम्पूर्ण संसार जानता ही है कि गीता का उपदेश भी तो वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना स्वयं करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ही तो कह रहे हैं। वेदाध्ययन आदि से रहित कोई अन्य पुरुष अर्जुन को उपदेश कैसे कर सकता था? अतः आज भी वेदाध्ययन एवं योग-विद्या को आचरण में न लाने वाला कोई भी पुरुष गीता का सत्युपदेश करने में समर्थ नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाचः-

यदृच्छालाभसंतुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।

(गीता श्लोक ४/२२)

(यदृच्छालाभसंतुष्टः) धर्मानुसार जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए उससे ही संतुष्ट होने वाला **(द्वन्द्वातीतः)** सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से परे **(विमत्सरः)** ईर्ष्या से रहित **(सिद्धौ)** कार्य की सफलता **(च)** अथवा **(असिद्धौ)** असफलता में **(समः)** समान भाव रखने वाला पुरुष **(कृत्वा)** कर्मों को करता हुआ **(अपि)** भी **(न)** कर्मबन्धन में नहीं **(निबध्यते)** बंधता है।

अर्थः- धर्मानुसार जो कुछ अपने आप प्राप्त हो जाए उससे ही संतुष्ट होने वाला सुख-दुःख, राग-द्वेष आदि द्वन्द्वों से परे ईर्ष्या से रहित कार्य की सफलता अथवा असफलता में समान भाव रखने वाला पुरुष कर्मों को करता हुआ भी कर्मबन्धन में नहीं बँधता है।

भावार्थः- इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज कर्म बँधनों से मुक्त पुरुष के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। **"ऋच्छका"** का अर्थ कामना अथवा इच्छा और **'यदृच्छा'** का अर्थ वेदानुकूल अर्थात् धर्मानुसार इच्छा। ऐसी इच्छा सदा स्वयं एवं मानव जाति के लिए कल्याणकारी होती है। क्योंकि वेद-धर्म सब की रक्षा करता है, जिसे महाभारत में व्यास मुनि कहते हैं **"धर्मम् रक्षति"** धर्म हमारी रक्षा करता है। अतः जो नर-नारी वेदानुकूल-धर्मानुकूल शुभ इच्छा-कामना रखते हैं और तदानुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाए उसमें सन्तुष्ट रहते हैं वह ही कर्म बँधन में नहीं फंसते। **सामवेद मंत्र ७२१** में ईश्वर ने प्रेरणा दी है-**"इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तम्"** अर्थात् प्राणी सदा ईश्वर प्राप्ति की इच्छा करे और तदानुसार वेदानुकूल भक्तिमार्ग पर चले। **ऋग्वेद मंत्र ७/३२/२६** में ईश्वर से प्रार्थना है-**"इन्द्र क्रतुं न आ भर......"** अर्थात् हे ईश्वर हमें सदा शुभ कर्म करने की प्रेरणा दो। ऐसी प्रेरणा ईश्वर ने वेदों में दी हुई है, जिस पर चलकर हम स्वयं का एवं मानव जाति का कल्याण कर सकते हैं। द्वन्द्व अवस्थाओं से योगी परे है। यह अवस्थाएँ सुख-दुःख, राग-द्वेष, काम-क्रोध, सर्दी-गर्मी आदि कही गई हैं। **अथर्ववेद कांड ४ सूक्त ३३** में द्वन्द्व जैसे शत्रुओं का नाश करने के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है, जिसमें कहा कि हे प्रभु **(यजामहे)** अर्थात् हम आपका पूजन करते हैं-आप हमारे काम, क्रोधादि शत्रुओं और पापों को नष्ट कर दीजिए। अतः जो पुरुष इस **"द्वन्द्व"** से परे है और **"विमत्सरः"** जो ईर्ष्या से रहित है। अर्थात् किसी की उन्नति अथवा लाभ आदि को देखकर उससे ईर्ष्या नहीं करता वह महान है। ईश्वर ने अपने अलौकिक वेद ज्ञान में अथर्ववेद कांड ६ सूक्त १८ में ईर्ष्या से परे रहने की चेतावनी दी है। मंत्रों में ईर्ष्या को अग्नि के समान कहा है **(अग्निम् हृदयम् शोकम्)** जो हृदय के आनंद को नष्ट कर देती है और प्राणी कभी भी प्रसन्नचित् नहीं रह पाता। अतः हम ईर्ष्या से बचें। इसी कांड के **मंत्र २** में समझाया कि ईर्ष्या भूमि के समान जड़ है। ईर्ष्या मरे हुए मनुष्य से भी अधिक मरे हुए मन वाली है। जैसे कोई पापी मर जाता है तब उसका मन भी मर जाता है और मन काम नहीं करता। इसी प्रकार **"ईर्ष्योः मनः मृतम्"** अर्थात् ईर्ष्या करने वाले पुरुष का मन मरे हुए पुरुष के मन के समान होता है। अर्थात् ईर्ष्यालु के मन में कभी कोई प्रेरणायुक्त शुभ कर्म करने की शक्ति नहीं होती। और ईर्ष्या मनुष्य को मरे हुए के समान कर देती है। अगला मंत्र कहता है छोटे मन वाला व्यक्ति ही ईर्ष्या करने लग जाता है। अतः मन विशाल होना चाहिए, इसमें सहनशक्ति होनी चाहिए और सबसे मिलजुलकर प्रेमपूर्वक रहने वाले गुण

होने चाहिए। अन्यथा ईर्ष्या मनुष्य के पतन का कारण बनती है। आगे श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि इन विकारों से रहित जो पुरुष पुरुषार्थी है और सदा मानव कल्याणार्थ शुभ कर्म करता रहता है, अपने गृहस्थाश्रम के कर्त्तव्य पालन करता है इत्यादि। परन्तु सफलता व असफलता दोनों में एक समान भाव रखता है। अर्थात् सफलता में अहंकार रूपी खुशी उसके हृदय में नहीं प्रकट होती और असफलता में दुखी नहीं होता। तो ऐसा पुरुष वेदानुकूल शुभ कर्म करता हुआ भी कर्म बँधन में नहीं बँधता। अर्थात् वह पुरुष कर्म तो करता है परन्तु वह कर्म फल भोगने में लिप्त नहीं होता, उसे कर्मों का फल भोगना नहीं होता। और जो कर्म फल नहीं भोगता वही प्राणी ब्रह्मलीन होता है, उसे ही मुक्त पुरुष कहते हैं। क्योंकि यदि शुभ कर्म फल भी भोगना पड़े तो दूसरा जन्म अनिवार्य हो जाता है। क्योंकि वह शुभ कर्मों का पुण्य भविष्य में आने वाले जन्मों में भोगा जाता है। परन्तु यहाँ आज समाज के सामने अत्यन्त विकट प्रश्न है कि भगवद्गीता के इस श्लोक में 'यदृच्छा, संतुष्ट, द्वन्द्वों से परे होना, ईर्ष्या रहित होना एवं सफलता तथा असफलता में समभाव रखना, यह कैसे संभव हो सकता है। यह सब तो ब्रह्मलीन योगी के गुण हैं। गीता पढ़कर अथवा गीता ग्रन्थ का घोटा लगाकर अथवा पढ़-पढ़ कर सुनाकर इस श्लोक में कही उच्च पदवी प्राप्त कदापि नहीं हो सकती है और यदि होनी होती तो अब तक हो ही जाती क्योंकि गीता सुनाने वाले और सुनने वालों की कमी नहीं है। परन्तु भ्रष्टाचार, काम-क्रोधादि द्वन्द्व, ईर्ष्या, द्वेष आदि अनेक विकार मानव के सीने में घुसकर उसके मन को जलाए जा रहे हैं और फिर भी हम गीता सुनाए जा रहे हैं और सुने जा रहे हैं गीता सुनकर कर्म को आचरण में यदि नहीं ला रहे। वास्तव में सत्य यह है जिसका ज्ञान ईश्वर ने चारों वेदों में भी दिया है कि जब तक हम वेदाध्ययन, यज्ञ, अष्टांग योग की साधना नहीं करते तब तक इस श्लोक में लिखे गुण कोई भी प्राप्त नहीं कर सकते। केवल पढ़, सुन, रटकर ईश्वर, गीता, रामायण, आदि सद्ग्रन्थों के नाम पर धन बटोरा जा सकता है। ऊपर अथर्ववेद में ईश्वर से ही प्रार्थना की गई है कि हे ईश्वर! हमारे पापों का नाश करो। गायत्री मंत्र में यही प्रार्थना है कि हे **"भूः, भुवः, स्वः, सवितुः भर्गः"** (यह सब ईश्वर की स्तुति-गुण हैं) अर्थात् अनन्त गुणों में इन कहे गए गुणों वाले ईश्वर **'धीमहि'** हम तेरे ध्यान में बैठते हैं, तेरी उपासना करते हैं, तेरा यज्ञ करते हैं। **"धियो यो नः प्रचोदयात्"** आप कृपा करके हमारी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश कर दें। जिस ज्ञान का वर्णन चारों वेदों में है। और अथर्ववेद में तो **मंत्र ४/३४/४** में यहाँ तक कहा गया

है कि वेद के ज्ञान को प्राप्त करने वाला व्यक्ति ज्ञान-प्रधान, शक्तिशाली और उत्तम शरीर वाला होता है, वह सत्य मार्ग से कभी भ्रष्ट नहीं होता। और इस ज्ञान पर चलता हुआ द्विलोक से भी ऊपर उठकर ब्रह्मलोक को प्राप्त कर लेता है। ऐसा व्यक्ति तप, स्वाध्याय आदि शुभ कर्मों को करने वाला पुरुषार्थी होता है।

गीता में जहाँ-जहाँ यज्ञ करने का, वेदाध्ययन, योगाभ्यास, माता-पिता, गुरुजनों आदि की सेवा इत्यादि का, ईश्वर के नाम-सिमरन का उपदेश दिया गया है उसको आचरण में लाने वाला ही गुणवान बनकर मोक्ष पद को प्राप्त करता है। यह विचार अत्यन्त खतरनाक है जो प्रायः आज कई कहते फिरते हैं कि तुमने गीता सुन ली, तुमने सत्संग सुन लिया, तुम्हें मुक्ति मिल गई। हम विद्या को आचरण में लाएँ और बेकार की बातों से बचें। हम विद्वानों का संग करें, अविद्वानों का त्याग करें, तभी शान्ति प्राप्त होगी।

अतः वेद एवं योग दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक को समझने पर ज्ञात होता है कि श्लोक में जप, तप, यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास जैसी कठोर साधना करके समाधि प्राप्त योगी के गुणों का वर्णन यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने किया है। केवल श्लोकों को गीता प्रवचन में पढ़, सुन, रट के केवल लोगों को गीता आदि प्रवचन द्वारा पढ़, सुन, रट अथवा बोलकर श्लोक में कहे योगी के गुण कभी भी किसी में प्रकट नहीं हो सकते। अतः सावधान होकर हम गीता के रहस्य को वेदों पर आधारित ज्ञान के द्वारा ही विद्वानों से समझें और मिथ्यावाद से बचें। यह कटु सत्य तो सम्पूर्ण संसार जानता ही है कि गीता का उपदेश भी तो वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना स्वयं करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ही तो कह रहे हैं। वेदाध्ययन आदि से रहित कोई अन्य पुरुष अर्जुन को उपदेश कैसे कर सकता था? अतः आज भी वेदाध्ययन एवं योग-विद्या को आचरण में न लाने वाला कोई भी पुरुष गीता को सत्युपदेश करने में समर्थ नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।"

(गीता श्लोक ४/२३)

(गतसङ्गस्य) आसक्ति रहित **(ज्ञानावस्थितचेतसः)** जिसका चित्त ज्ञान में अवस्थित

हो गया है **(यज्ञाय)** यज्ञ के लिए **(आचरतः)** आचरण करते हुए **(मुक्तस्य)** मुक्त पुरुष के **(समग्रम्)** सम्पूर्ण **(कर्म)** कर्म **(प्रविलीयते)** विलीन हो जाते हैं अर्थात् कर्म नष्ट हो जाते हैं।

अर्थः- आसक्ति रहित, जिसका चित्त ज्ञान में अवस्थित हो गया है, यज्ञ के लिए, आचरण करते हुए, मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म विलीन हो जाते हैं अर्थात् नष्ट हो जाते हैं।

भावार्थः- इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज मोक्ष प्राप्त पुरुष के गुणों का ही वर्णन कर रहे हैं। यह सब गुण भी यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि साधन के बिना प्राप्त नहीं होते। श्लोक में कहा पहला गुण आसक्ति रहित शुभ कर्म करना है। दूसरा गुण, जिस पुरुष का अन्तःकरण ज्ञान में स्थित है। तीसरा गुण जो पुरुष नित्य यज्ञ करते हैं, ऐसे ही पुरुष को इस श्लोक में मुक्त पुरुष कहा है और ऐसे पुरुष के सब कर्म ज्ञान की अग्नि में नष्ट हो जाते हैं और उसे किए हुए कर्म का फल नहीं भोगना पड़ता। जैसा पिछले कई लेखों में वेदवाक्य कहा है-**'होतः यज' (यजुर्वेद मन्त्र २८/२४)** अर्थात् ईश्वरीय आज्ञा है कि प्रत्येक प्राणी नित्य यज्ञ करे। यज्ञ का भाव देवपूजा, संगतिकरण, दान करना कहा गया है। और **यजुर्वेद** के **अट्ठारवें** अध्याय के **५६** एवं **५७** मन्त्र में दान, वेद के जानने वाले, योगाभ्यासी विद्वान् को ही करना कहा है। यजुर्वेद के पहले मन्त्र में ही मनुष्य की ग्यारह की ग्यारह इन्द्रियों और देह को संसार के सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ में लगाने की आज्ञा स्वयं ईश्वर ने दी है। यज्ञ में विशेष शब्द **"इदन्न मम"** बार-बार दोहराया जाता है अर्थात् हे ईश्वर! यह सामग्री, यह शरीर, धन सम्पदा, परिवार आदि यहाँ मेरा अपना कुछ भी नहीं है। पँच भौतिक शरीर में स्वयं ईश्वर विराजमान है। यज्ञ में स्वयं ईश्वर विराजमान होता है **(देखें सामवेद मन्त्र ८८१, ६०६ एवं गीता श्लोक ३/१५)**। **सामवेद मन्त्र ६०६** में कहा कि प्राणी ज्ञान यज्ञ व कर्मयज्ञ करके ईश्वर को यज्ञ में प्रतिष्ठित करते हैं और **सामवेद मन्त्र ८८१** स्पष्ट कह रहा है कि ईश्वर यज्ञ में प्रतिष्ठित होता है। स्वयं श्रीकृष्ण महाराज श्लोक **३/१५** में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! वेद ईश्वर से उत्पन्न हैं, कर्म वेदों से निकले हैं तथा जहाँ यज्ञ होता है, उस यज्ञ में ईश्वर स्वयं प्रतिष्ठित है। सारांश यह है कि वेद ईश्वर की पवित्र वाणी है और ईश्वर प्राणी को आसक्ति रहित करने के लिए चारों वेदों में नित्य यज्ञ करने की प्रेरणा दे रहा है क्योंकि यज्ञ सब सांसारिक सुख एवं मोक्ष सुख का दाता है। हमारे देश का दुर्भाग्य है कि आज प्रायः प्राणी वेद विरोधी सन्तों की बात मानकर श्रीराम एवं श्रीकृष्ण एवं ऋषि-मुनियों द्वारा किए पवित्र यज्ञ का

त्याग कर बैठा है। तब सिर्फ गीता को सुनकर कोई कहे कि "आसक्ति रहित कर्म करने वाला मुक्त पुरुष हो जाएगा, यह कैसे सम्भव हो सकता है" यह तो केवल जुबानी जमा खर्च हुआ जिसके बहकाए में जनता आ रही है और सनातन, पुरातन, शाश्वत एवं सर्वश्रेष्ठ पूजा की पद्धति यज्ञ को छोड़ बैठी है जिस कारण सब दुःखों को आमंत्रित कर रही है क्योंकि यज्ञ जैसा सुख और है ही नहीं। इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज **"यज्ञाय आचरतः"** अर्थात् यज्ञ करने वाले पुरुष को ही मुक्त पुरुष कह रहे हैं और यज्ञ करने वाले पुरुष के ही सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, अन्य के नहीं। यज्ञ करने वाला ही आसक्ति रहित हो जाता है। और **अथर्ववेद मन्त्र ४/३५/६** में कहा कि सम्पूर्ण जड़-चेतन, जीव-ब्रह्म आदि का ज्ञान यज्ञ करने वाले को ही प्राप्त होता है। और मृत्यु पर विजय प्राप्त करके मोक्ष सुख प्रदान करता है। यह वेदाध्ययन द्वारा ज्ञान प्राप्त न करने-वेदों का त्याग करने का फल है कि हम भारतवासी प्राचीन काल के राजाओं-महाराजाओं और उनकी प्रजाओं की तरह ज्ञानवान नहीं रहे। सत्य-असत्य की पहचान करने में हम दक्ष नहीं रहे। फलस्वरूप ही वेद विरोधी सन्तों ने हमारी अज्ञानता का लाभ उठाकर वेद विरोधी वचन बोल-बोलकर हमें सत्य से परे कर दिया और कुमार्ग पर लगा दिया। अन्यथा श्रीकृष्ण के कहे इन श्लोकों का विरोध करने का सामर्थ्य किसमें है। परन्तु यह झूठे सन्त इन्हीं सच्चे श्लोकों का अनर्थ करके जनता को पापयुक्त कर देते हैं।

पाखण्ड इतना बढ़ गया है कि प्रायः जीव गीता आदि ग्रन्थों का प्रचार सुनकर केवल इन पवित्र ग्रन्थों की तरफ भागने लगा है, परन्तु इन ग्रन्थों के लिखने वालों ने इन ग्रन्थों में वेदों से जुड़ने की प्रेरणा दी है। प्राणी उस प्रेरणा को अज्ञानवश छोड़ता जा रहा है। हम यह सुनते हैं कि श्रीकृष्ण महाराज ने कहा परन्तु इस सत्य पर कोई विचार नहीं करता कि श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि के आश्रम में वेदाध्ययन करने के पश्चात वेद ज्ञान के प्रताप से ही गीता में ज्ञान दिया है। हमें देश से पाखण्ड, भ्रष्टाचार आदि का नाश करके देश को सुदृढ़ बनाने के लिए प्राचीनकाल की तरह पुनः वेदों की ओर लौटना होगा। क्योंकि वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास किए बिना गीता में कहे कोई भी गुण आचरण में आने असंभव है। यही श्रीकृष्ण महाराज का भी गीता में उपदेश है। अगले श्लोक में पुनः श्रीकृष्ण महाराज ने हवन यज्ञ की महिमा कही है।

अतः वेद एवं योग दृष्टि से प्रस्तुत श्लोक को समझने पर ज्ञात होता है कि श्लोक

में जप, तप, यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास जैसी कठोर साधना करके समाधि प्राप्त योगी के गुणों का वर्णन यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने किया है। केवल श्लोकों को गीता प्रवचन में पढ़, सुन, रट के केवल लोगों को गीता आदि प्रवचन द्वारा पढ़, सुन, रट अथवा बोलकर श्लोक में कहे योगी के गुण कभी भी किसी में प्रकट नहीं हो सकते। अतः सावधान होकर हम गीता के रहस्य को वेदों पर आधारित ज्ञान के द्वारा ही विद्वानों से समझें और मिथ्यावाद से बचें। यह कटु सत्य तो सम्पूर्ण संसार जानता ही है कि गीता का उपदेश भी तो वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना स्वयं करने वाले योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ही तो कह रहे हैं। वेदाध्ययन आदि से रहित कोई अन्य पुरुष अर्जुन को उपदेश कैसे कर सकता था? अतः आज भी वेदाध्ययन एवं योग-विद्या को आचरण में न लाने वाला कोई भी पुरुष गीता को सत्युपदेश करने में समर्थ नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।"

(गीता श्लोक ४/२४)

(अर्पणम्) यज्ञ में प्रयोग होने वाला स्रुवा, जुह्वादि **(ब्रह्म)** ब्रह्म है। **(हविः)** हवन करने वाले पदार्थ **(ब्रह्म)** ब्रह्म है। **(ब्रह्मणा)** यज्ञ करने वाला पुरुष मानो साक्षात् ब्रह्म है और **(ब्रह्माग्नौ)** वह ब्रह्म रूपी अग्नि में **(हुतम्)** हवन कर रहा है **(ब्रह्मकर्मसमाधिना)** ब्रह्म रूपी कर्म मे समाधि को प्राप्त हुए **(तेन)** उस पुरुष के द्वारा **(गन्तव्यम्)** प्राप्त हरने योग्य तत्त्व **(ब्रह्म एव)** ब्रह्म ही है।

अर्थः- यज्ञ में प्रयोग होने वाला स्रुवा, जुह्वादि ब्रह्म है। हवन करने वाले पदार्थ ब्रह्म हैं। यज्ञ करने वाला पुरुष मानो साक्षात् ब्रह्म है और वह ब्रह्म ही ब्रह्म रूपी अग्नि में हवन कर रहा है। ब्रह्म रूपी कर्म में समाधि को प्राप्त हुए उस पुरुष के द्वारा प्राप्त होने योग्य तत्त्व ब्रह्म ही है। भाव है कि ऊपर कहे ब्रह्म यज्ञ में एकमात्र ब्रह्म ही ब्रह्म की धारणा होती है। यज्ञ करने वाले उपासक को यज्ञ में ब्रह्म के अतिरिक्त यज्ञ के अन्य पदार्थों की प्रतीति नहीं रहती। वह साधक ब्रह्म में संयम करता है।

भावार्थः- पिछले श्लोक ४/२३ में श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट कहा कि आसक्ति रहित

और वैदिक ज्ञान में स्थित चित्त वाला जो पुरुष नित्य यज्ञ करता है, वह जीवनमुक्त है और उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं अर्थात् पूर्व जन्म में किए कर्म और इस जन्म में किए हुए कर्मों का फल उसे नहीं भोगना पड़ता। पिछले श्लोक ३/६,१०,११,१२,१३,१४,१५ में श्रीकृष्ण महाराज ने यज्ञ की महिमा को गाते हुए यहाँ तक कह दिया है कि प्रत्येक प्राणी सब सुखों, अन्न की उत्पत्ति उचित समय पर वर्षा की प्राप्ति के लिए वेदानुसार यज्ञ करे जिससे ईश्वर प्रसन्न होते हैं और श्लोक ३/१५ में यहां तक कह दिया कि वेद अविनाशी परमात्मा से उत्पन्न हैं, यज्ञ करने की आज्ञा ईश्वर की है और **"ब्रह्म नियत्म् यज्ञे प्रतिष्ठितम्"** अर्थात् अविनाशी परमात्मा नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। यास्क मुनि ने भी अपने शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है **"यज्ञो वै ब्रह्म"** यज्ञ ही ब्रह्म है। **सामवेद मन्त्र ५५** में कहा-**(द्रविणोदाः देवः)** धन व बल आदि द्रव्य देने वाला ईश्वर वह तुम्हारी **(पूर्णाम् आसिचम्)** पूर्ण भरी हुई स्रुच् को **(विवष्टु)** चाहता है अर्थात् तुम चम्मच में पूरा घी भरो और अग्निहोत्र करते हुए प्रदीप्त अग्नि में चम्मच द्वारा घी को छोड़ो। आगे मंत्र में कहा कि इस प्रकार अग्निहोत्र करने से ईश्वर तुम्हारा ब्रह्म-प्राप्ति का लक्ष्य प्राप्त कराएगा। **सामवेद मंत्र ६३** में भी कहा कि ऐ प्राणियों **(हविषा आ-जुहोता)** घृत आदि से हवन करो **(यजतम्)** इस प्रकार यज्ञ करो।

परन्तु आज हमारे देश का यह दुर्भाग्य है कि वेद विरोधी सन्तों ने यज्ञ की निन्दा कर-करके पूरे भारतवर्ष से वेद मन्त्रों द्वारा यज्ञ प्रायः समाप्त करवाकर, समय पर वर्षा होना, अन्न की प्रचुर मात्रा में उत्पत्ति होना, रोगों का नाश होना और यज्ञ द्वारा ईश्वर की अनुभूति होना, सबकुछ छीन लिया है और जनता से पैसे लूट रहे हैं। उस पर घोर आश्चर्य यह है कि लोग रामायण और गीता की बातें करते हैं जिनमें निराकार ब्रह्म, वेद, योगविद्या एवं यज्ञादि सत्य कर्मों की बातें हैं परन्तु अधिकतर यह असत्यवादी, गीता के उन-उन श्लोकों का और रामायण की केवल उन-उन चौपाइयों का हँसी-मजाक द्वारा वर्णन करेंगे जिसमें यज्ञ, वेद और निराकार ब्रह्म की बात ही न हो और इस प्रकार भोली जनता को वेद एवं यज्ञ से वंचित कर रहे हैं। अर्थ दो प्रकार के होते हैं-पारमार्थिक एवं व्यावहारिक। व्यावहारिक शब्दों द्वारा पारमार्थिक ज्ञान देते हुए श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में वेदानुकूल यज्ञ की सर्वोत्तम प्रशंसा करते हुए कहा-**"ब्रह्म अर्पणम्"** अर्थात्, यज्ञ में प्रयोग होने वाला स्रुवा, जुहादि ब्रह्म है।" **"ब्रह्म हविः"** हवन करने वाले पदार्थ हवि ब्रह्म है। **"ब्रह्मणा ब्रह्माग्नौ हुतम्"** ब्रह्म द्वारा ही ब्रह्म रूपी अग्नि में हवन हो रहा है।

"ब्रह्मकर्मसमाधिना" ब्रह्म रूपी कर्म में समाधि को प्राप्त हुए **"तेन गन्तव्यम्"** उस पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है **"ब्रह्म एव"** वह ब्रह्म ही है।

भाव यह है कि यज्ञ में चम्मच, कटोरी एवं घी आदि जो पदार्थ प्रयोग होते हैं, वस्तुतः वह चेतन ब्रह्म तो नहीं हैं परन्तु यज्ञ कर्म में प्रयोग होने के कारण श्रीकृष्ण महाराज उन्हें अति पवित्र मानकर, ब्रह्म का स्वरूप ही कह रहे हैं और इन सबके पीछे श्रीकृष्ण महाराज ने **अथर्ववेद मंत्र ८/६/(१)/१** एवं अन्य वेदमंत्रों का आश्रय लिया है जो कि स्वतः प्रमाण कहे गए हैं, जिनका वर्णन आगे करेंगे।

दूसरा, इसी प्रकार हवन में प्रयोग लाई जाने वाली हवन सामग्री एवं समिधा आदि को भी श्रीकृष्ण यहाँ ब्रह्म ही कह रहे हैं। तीसरा, ब्रह्म द्वारा ही ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ किया जा रहा है। चौथा, जो भी यज्ञमान, श्रद्धालु ईश्वर की स्तुति आदि में लीन होकर **समाधिना**-समाधिस्थ यज्ञ कर रहा है, वह अन्त में ईश्वर को ही प्राप्त हो जाता है।

इस विषय में **यजुर्वेद मंत्र ३१/१६** में कहा **"यज्ञेन यज्ञमयजन्त"** कि जो वेदों के विद्वान् हैं वह यज्ञ के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं और इस प्रकार ईश्वर को प्राप्त करते हैं। **ऋग्वेद मंत्र १/२४/११** में कहा **"ब्रह्मणा वन्दमानः तत् त्वा यामि"** अर्थात् हे ईश्वर! मैं यज्ञ द्वारा आपकी वन्दना करता हुआ, आपको प्राप्त होता हूँ। **यजुर्वेद मंत्र १/२** में ईश्वर ने कहा कि यजमान और विद्वान् कभी यज्ञ का त्याग न करें। भाव यह है कि चारों वेदों के अनेक मंत्रों में यही कहा गया है कि यज्ञ कर्म करना ईश्वर की आज्ञा है एवं ईश्वर की पूजा है। जिसके द्वारा ईश्वर प्राप्ति निश्चित है। परन्तु जैसा ऋग्वेद ने कहा कि सूर्य एक है जिसके छिपने पर स्वतः ही अंधेरा हो जाता है, उसी प्रकार ईश्वर एक है और उसका दिया वैदिक ज्ञान भी एक ही है। वेदों के ज्ञान के छिपने से आज हमारे देश एवं सम्पूर्ण पृथिवी पर अज्ञान का बोलबाला है जिस कारण राजनीति में भ्रष्टाचार, दैनिक जीवन में अत्याचार, मार काट व अशान्ति, नारी अपमान और अन्याय जैसी अनेक भयंकर परिस्थितियाँ एवं विकट समस्याएँ बनी हुई हैं। जिस कारण **यजुर्वेद मन्त्र २३/२२** के अनुसार जनता एक बाज के सामने आई निर्बल चिड़िया की भांति पूर्णतः असहाय हो गई है। ऊपर लिखे हुए अथर्ववेद मंत्र में कहा **"यः प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्"** अर्थात् जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है, ब्रह्मलीन है, उस यज्ञ करने वाले पुरुष के शरीर के जोड़ मानो यज्ञ की सामग्रियाँ हैं। उस पुरुष की रीढ़ की हड्डियाँ मानों ऋग्वेद के मंत्र हैं। उसके

शरीर के रोम-रोम (छिद्र) मानो सामवेद के मंत्र हैं, उसका हृदय यजुर्वेद मंत्र कहा गया है और बैठने के आसन हवि हैं। और इस प्रकार का यज्ञ करने वाला पुरुष ही मानो प्रत्यक्ष ब्रह्म है। जिसका दर्शन और सेवा ही प्राणी का धर्म कहा गया है। अतः यह वेदमंत्र प्रमाण देता है कि विपरीत में वेद-विरोधी सन्तों अथवा व्यक्तियों का दर्शन तो हमें नरक में ही ले जाएगा। अर्थात् जैसे ऊपर श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि हवन सामग्री भी ब्रह्म ही है और यज्ञ करने वाला भी ब्रह्म रूप है, यही भाव इस अथर्ववेद मंत्र में कहा गया है। परन्तु हमें विचार करना है कि वेद पहले हैं, अनादि हैं और गीता लगभग साढ़े पांच हजार वर्ष पहले ही लिखी गई है। अतः भगवद् गीता में जितना भी ज्ञान है, वह वेदों से ही लिया गया है। पिछले श्लोक **४/२३** में स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने **"यज्ञाय आचरतः"** शब्दों द्वारा वेदानुकूल यज्ञादि कर्म करने वाले पुरुष को सदा मुक्त पुरुष कहा है। अतः हम श्रीकृष्ण महाराज के गीता में दिए उपदेशों द्वारा भी वेदाध्ययन द्वारा यज्ञ की महिमा को समझें और यज्ञ को आचरण में लाएँ।

अतः चारों वेदों के आदेशानुसार जिस प्रकार श्रीराम, श्रीकृष्ण, माता सीता, व्यास मुनि, गुरु वसिष्ठ आदि ऋषियों ने यज्ञ को जीवन में धारण किया था, उसी परंपरा में हम सदा यज्ञ करते रहें जो कि ईश्वर की आज्ञा है। और वेद विरोधी तथा असत्यवादी आज के किसी भी व्यक्ति की लुभावनी बातों में आकर, यज्ञ का त्याग करके पाप के भागी न बनें। जैसा कि ऊपर कहा यज्ञ करने वाला यज्ञमान और यज्ञ का वातावण वह सब तो ब्रह्ममय ही हो जाता है, इस कटु सत्य का तो प्रमाण ऊपर कहे वेदमंत्र एवं श्रीकृष्ण महाराज द्वारा कहे गीता के श्लोक हैं परन्तु यज्ञ-विहीन, वेद-विरुद्ध अप्रमाणिक प्रवचन ब्रह्ममय वातावरण उत्पन्न नहीं कर सकते। अतः यजुर्वेद ने उद्घोष किया-यज्ञम् कुरु अर्थात् यज्ञ करो, यज्ञ करो।

श्रीकृष्ण उवाच –

"दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।"

(गीता श्लोक ४/२५)

(अपरे) दूसरे कई **(योगिनः)** योगी **(दैवम्)** देव **(यज्ञम्)** यज्ञ की **(एव)** ही

(पर्युपासते) उपासना करते हैं तथा **(अपरे)** कई अन्य **(ब्रह्माग्नौ)** ब्रह्म अग्नि अर्थात् ब्रह्म रूपी अग्नि में **(यज्ञेन)** यज्ञ के द्वारा **(एव)** ही **(यज्ञम्)** यज्ञ का **(उपजुह्वति)** यजन करते हैं।

अर्थः- दूसरे कई योगी देव यज्ञ की ही उपासना करते हैं तथा अन्य योगी जन ब्रह्म रूपी अग्नि में यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का यजन करते हैं।

भावार्थः- जिस प्रकार **श्लोक ४/२३** में कहा कि जो यज्ञ कर्म को जीवन में धारण करते हैं- यज्ञ करते हैं, उस ही ब्रह्मलीन जीवन-मुक्त पुरुष के कर्म बन्धन नष्ट हो जाते हैं, अन्य के नहीं। उसी प्रकार श्लोक **४/२४** में यह भी कहा कि जिस पुरुष की यज्ञ कर्म द्वारा वृत्ति एक ही ब्रह्म में लीन हो गई है और वह यज्ञ कर्म करता हुआ भी सब पदार्थों में ब्रह्म का ही अनुभव करता है अर्थात् उस पुरुष का सब तरफ का वातावरण ब्रह्ममय हो जाता है, वही ब्रह्म को प्राप्त हुआ समझो। **सामवेद मंत्र ११९७** में ईश्वर ने समझाया है कि इस तरह ईश्वर प्रेम में, वेदमंत्रों में और यज्ञ कर्म में लीन होकर यज्ञ में आहुति डालो जिस प्रकार कि एक गऊ अपने नवजात बछड़े को प्रेम में तथा मातृत्व में लीन होकर उसे चाटती है और सभी ओर से गऊ की वृत्ति उस मातृत्व भाव में एकाग्र होती है, और उस समय गाय को अन्य कुछ ज्ञात नहीं रहता। दूसरा सामवेद ने उदाहरण दिया कि यज्ञकर्म इस प्रकार ब्रह्म भाव में लीन होकर करो कि जैसे प्रेम के आवेश में आकर पति-पत्नी आलिंगन में बद्ध होकर उस समय सारे संसार से अपनी वृत्ति हटा लेते हैं और सब कुछ भूल जाते हैं। अतः नियमित वेदाध्ययन एवं यज्ञ रूपी तप को करते, ईश्वर-स्तुति, उपासना एवं प्रार्थना करते-करते एक अवस्था ऐसी आ जाती है जब यज्ञनीय पुरुष सब तरफ से वृत्ति हटाकर एक मात्र ब्रह्म में लीन कर लेता है। जिसे योग शास्त्र की भाषा में **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** अर्थात् योग द्वारा चित्त की सभी वृत्तियों निरुद्ध हो जाती हैं। भगवद् गीता के अगले श्लोकों में भी कई प्रकार के यज्ञ का सा वर्णन है। **'यज्'** धातु से **'यज्ञ'** शब्द एवं **'यज्'** धातु से ही जुड़ना अर्थ भी बनता है। अतः योग-विद्या, अग्निहोत्र विद्या और वेदों में कहे हुए शुभ कर्मों आदि से जुड़ना यज्ञ ही है परन्तु जहाँ जिस प्रकार के यज्ञ का वर्णन वेद अथवा गीता में कहा गया है, उसका अनर्थ न करके वेदानुकूल जैसा व्यास मुनि ने गीता में लिखा है, वैसा ही अर्थ करना धर्म है अन्यथा समाज में असत्य बढ़ता ही जाएगा। प्रस्तुत श्लोक में देवयज्ञ एवं परमात्मा में यज्ञ के द्वारा यज्ञ का यजन का वर्णन किया है। याज्ञवल्क्य मुनि ने **शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ श्लोक**

३/७/३/१० तथा **श्लोक १/१/१** में 'देव' शब्द का अर्थ **"विद्वांस एव देवाः सन्ति"** अर्थात् मनुष्य और देवता में अन्तर झूठ और सत्य का ही है। जो वेदानुसार सत्य बोलते, सत्य स्वीकार करते और सत्य शुभ कर्म ही करते हैं, वे देवता हैं और जो आज के मनुष्य अथवा वेद विरोधी झूठी कथाएँ बोलते, झूठ मानते और झूठे कर्म करते हैं, वह साधारण मनुष्य एवं **यजुर्वेद मंत्र ४०/३** के अनुसार 'असुर' कहलाते हैं, यही याज्ञवल्क्य मुनि द्वारा कहे इन श्लोकों का अर्थ है। और यही भाव **यजुर्वेद मंत्र १६/३६** एवं **३१/६** के भी हैं। इसमें व्यास मुनि आदि सभी ऋषि वेदों के विद्वान् 'देव' हुए हैं। दूसरा देव का अर्थ है। **"यः ददाति सः देवः"** अर्थात् जो हमें कुछ देता है, वह देव है। माता पिता हमें जन्म देते हैं वे देव हैं। वेदों का विद्वान् अतिथि और आचार्य हमें विद्यादान करते हैं और ईश्वर ने तो हमें सभी कुछ दे रखा है। अतः इन पाँच देव, जो जीवित हैं और चेतन हैं, यह पूजनीय हैं। तीसरा सूर्यादि अन्य देव जड़ हैं, जिन्हें वेद में तैंतीस जड़ देवता के नाम से जाना जाता है। वेदानुसार यह जड़ देवता पूजनीय नहीं हैं। अतः अन्य किसी प्रकार के जड़ देवी-देवता आदि की पूजा का वर्णन चारों वेदों में नहीं है। अतः प्रस्तुत श्लोक में देवयज्ञ का अर्थ है कि कई वैदिक साधना से जुड़े साधक देवयज्ञ अर्थात् देवताओं की पूजा रूपी यज्ञ करते हैं अर्थात् श्रीराम आदि विभूतियों की तरह माता-पिता, अतिथियों, गुरु और परमेश्वर की पूजा-आदर, मान-सम्मान, सेवा करते हैं। इनका यह सेवा करना, यहाँ यज्ञ कहा गया है। दूसरा परमात्मा रूपी अग्नि में यज्ञ के विषय में **यजुर्वेद मंत्र ३१/१६** में कहा **"देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त"** अर्थात् वेदों के विद्वान् यज्ञ द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं। वह ईश्वर अनादि है और केवल एक ही ईश्वर इस जगत का स्वामी है। इसी परमेश्वर की उपासना से अनादिकाल से देवजन परम्परागत पूर्व देवों अर्थात् ऋषि मुनियों की तरह मुक्ति का सुख प्राप्त करते आए हैं। यास्कमुनि ने इस मंत्र में **'यज्ञम्'** शब्द का अर्थ **"यज्ञो वै विष्णुः"** अर्थात् यज्ञ ही विष्णु है। विष्णु शब्द का अर्थ **"विष्लृ व्याप्तौ विष्णुः"** अर्थात् जो शक्ति संसार के कण-कण में विराजमान सर्वव्यापक है, उसे विष्णु कहते हैं। अर्थात् वेदानुसार विष्णु, ईश्वर से अलग कोई और सत्ता नहीं है। विष्णु भी निराकार सर्वव्यापक एक ईश्वर का नाम है। जिसे **ऋग्वेद मंत्र १/१६४/४६** में ईश्वर ने समझाया **"एकम् सद् विप्राः बहुधा वदन्ति"** अर्थात् जगत का रचयिता निराकार ईश्वर तो एक ही है परन्तु उसके नाम विद्वान् लोग कई प्रकार से उच्चारण करते हैं। अर्थात् उस एक ईश्वर का नाम भी वेदों के विद्वानों के मुख से ही सुना जाना

चाहिए, वह विद्वान् ही उस निराकार ईश्वर का नाम कहते हैं। ऐसा ऊपर मन्त्र कह रहा है।

ऋग्वेद मन्त्र ८/१००/११ के अनुसार भी जब विद्वान् वेदमन्त्रों एवं वेद में कहे ईश्वर के अलौकिक नाम का उच्चारण करते हैं तब उस उच्चारण को सुनकर साधारण जन भी वेदमन्त्र एवं ईश्वर के नाम का उच्चारण करने लगते हैं। यही अनादिकाल से चली आ रही वैदिक परम्परा है जिसका हम कभी खण्डन न करें और मनघढ़न्त पूजा-पाठ आदि से बचें। श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में कहा कि कई योगीजन ब्रह्म रूप अग्नि में यज्ञ के द्वारा हवन कर देते हैं। भाव है कि वेदों में ईश्वर को अग्नि रूप, ज्योतिस्वरूप आदि कहा है। इस अग्नि रूप ब्रह्म में योगीजन यज्ञ के द्वारा यज्ञ को अर्थात् स्वयं को हवन कर देते हैं अर्थात् जप, तप, वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास द्वारा योगी **यजुर्वेद मन्त्र ३७/२** के अनुसार ईश्वर में जीवात्मा को समाहित कर देते हैं। इसे ही यज्ञ के द्वारा यज्ञ को ब्रह्म रूप अग्नि में हवन करना कहा है। श्लोक में ब्रह्म अग्नि स्वरूप है, यज्ञ स्वयं जीव है, यज्ञेन-यज्ञ के द्वारा अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, जप, तप, योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों द्वारा ईश्वर के प्रति समर्पित होना है। **"जुह्वती"**-हवन करना अर्थात् जीव का ब्रह्मलीन होना है। अतः ब्रह्मलीन होने के लिए वेद एवं श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में ऊपर कहा यज्ञ करने के लिए कहते हैं। अब यदि कोई कहे कि वेदाध्ययन, तप, यज्ञ, योगाभ्यास रूपी यज्ञ करना ब्रह्म प्राप्ति के लिए आवश्यक नहीं है तो इस प्रकार का कथन वेद विरुद्ध है और स्वीकार करने योग्य नहीं है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।"

(गीता श्लोक ४/२६)

(अन्ये) कई अन्य साधक **(श्रोत्रादीनि)** श्रोत्र, चक्षु आदि **(इन्द्रियाणि)** इन्द्रियों को **(संयमाग्निषु)** संयम रूपी अग्नि में **(जुह्वति)** हवन करते हैं। **(अन्ये)** अन्य साधक **(शब्दादीन्)** शब्द स्पर्श आदि **(विषयान्)** विषयों को **(इन्द्रियाग्निषु)** इन्द्रिय रूपी अग्नि में **(जुह्वति)** हवन करते हैं।

अर्थः- कई अन्य साधक श्रोत्र, चक्षु आदि इन्द्रियों को संयम रूपी अग्नि में हवन करते

हैं। अन्य साधक शब्द, स्पर्श आदि विषयों को इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन करते हैं।

भावार्थः- **"यज्"** धातु से यज्ञ शब्द का व्यापक अर्थ **"योग"** अर्थात् जुड़ना है। यह 'जुड़ना' शब्द सबमें लग जाता है। जैसे सत्संग से जुड़ना, अग्निहोत्र से जुड़ना, नाम सिमरन से जुड़ना, वेदाध्ययन से जुड़ना, प्राणायाम करने से जुड़ना, योगाभ्यास से जुड़ना इत्यादि-इत्यादि। अतः वेदों में वेद मन्त्रों के अनुसार और शास्त्र, गीता आदि में श्लोकों के अनुसार, योग शब्द का वैसा-वैसा ही अर्थ करना होता है। गीता के इस अध्याय के श्लोक **२४** से श्लोक **३३** तक भिन्न-भिन्न प्रकार से योग विद्या का वर्णन है। अतः श्लोक **३२** में श्रीकृष्ण महाराज ने यह स्पष्ट कर दिया कि जो इन सब कहे यज्ञ के भेद को जानता है, वही पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है। अर्थात् यज्ञ के रहस्य को जानकर पुनः आचरण द्वारा ही मोक्ष का सुख प्राप्त होता है, भ्रष्टाचार एवं विकारों का नाश होता है। श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में यहाँ कहे सब प्रकार के यज्ञ के रहस्य जानने आवश्यक कहे हैं। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि प्रायः आज के मिथ्यावादी व्यक्ति, जो वेद-विद्या के ज्ञान को नहीं जानते, वह अपनी सुविधानुसार इनमें से किसी एक का ही व्याख्यान कर डालते हैं। जैसे कि कई केवल ज्ञान योग की बात कह कर, उसी में मुक्ति कह देते हैं। कई सन्त कह देते हैं कि जप योग ही काफी है अर्थात् नाम का सिमरन करो और बाकि सब छोड़ दो, इत्यादि-इत्यादि। परन्तु यह वेद एवं गीता के विरुद्ध है। इसी अध्याय के श्लोक **४१** में तो श्रीकृष्ण महाराज, योग एवं ज्ञान, दोनों का समन्वय आवश्यक है, ऐसा कह रहे हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज की तरह गीता को वही सन्त हाथ लगाएँ, जो वेद-विद्या में भी प्रवीण हैं, अन्यथा अर्थ का अनर्थ निश्चित है।

श्रीकृष्ण महाराज जी प्रस्तुत श्लोक में ज्ञान दे रहे हैं कि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-आँख, कान, नासिका, जिह्वा, त्वचा हैं। कई साधक इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का संयम रूपी अग्नि में हवन करते हैं अर्थात् यज्ञ, योगाभ्यास आदि द्वारा ईश्वर की उपासना करते हुए, इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को बुराई से हटाकर, इन पर पूर्ण नियंत्रण कर लेते हैं। ऐसे साधक (जीवात्मा) का इन ज्ञानेन्द्रियों सहित मन भी पूर्णतः उसके नियंत्रण में रहता है। वस्तुतः ऐसे साधक की यह इन्द्रियाँ साधना के फल से बुराई की तरफ जाने के योग्य नहीं रहती, इसे ही संयम कहते हैं। अर्थात् किसी एक ध्येय में धारणा, ध्यान एवं समाधि इन तीनों की स्थिति हो वह संयम कहा जाता है।

योगशास्त्र सूत्र ३/४ में धारणा, ध्यान और समाधि, इन तीनों को किसी एक ध्येय में करने को संयम कहा है। धारणा का अर्थ ही चित्त को नाभि, हृदय कमल/आज्ञा चक्र, नासिका के अग्र भाग आदि में स्थिर करना है। इसमें चित्त की सारी वृत्ति एकाग्र हो जाती है। चित्त की वृत्तियाँ इन्हीं पाँच आँख, नाक आदि ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ही बाहर जाती हैं और इन्हीं ज्ञानेन्द्रियों द्वारा बाहरी संसार की अच्छी-बुरी वृत्तियाँ, चित्त पर आकर बनती हैं। शांति उसी साधक को है जिसका यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि द्वारा इन पाँचों ज्ञानेन्द्रियों पर संयम हो गया है। इसे ही श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ इन्द्रियों का संयम रूपी अग्नि में हवन कहा है। दूसरा यह कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, यह जो इन ज्ञानेन्द्रियों के पाँच विषय हैं, इनको जो साधक साधना द्वारा, इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन कर देते हैं अर्थात् इन्द्रियों में इन पाँचों अनैतिक विषयों को वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा प्राप्त ज्ञान से उत्पन्न ही नहीं होने देते, वह साधक भी योगी ही कहे गए हैं। जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र १/१** में ईश्वर से प्रार्थना की गई है **"सविता देवः"** हे तीनों लोकों को रचने वाले तथा सब सुखों एवं विद्याओं को देने वाले परमेश्वर **"वायवः स्थ"** जो हमारे **"वः"** प्राण, मन, बुद्धि, चित्त और इन्द्रियाँ हैं, उनको **"श्रेष्ठतमाय कर्मणे"** सबसे उत्तम, श्रेष्ठ कर्त्तव्य-कर्म, जो यज्ञ है, उस यज्ञ से **"प्रार्पयतु"** जोड़ दे अर्थात् हमारी इन्द्रियाँ मनुष्य का शरीर पाकर सदा संसार का सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ करें, अधर्म न करें। यज्ञ का विस्तृत स्वरूप पिछले लेखों में हम लिखते आए हैं। वैदिक यज्ञ द्वारा ही सारी विद्याओं, कर्त्तव्य कर्म, योगाभ्यास आदि का सम्पूर्ण ज्ञान होता है, साधक ऊपर योग शास्त्र में कहा संयम करता है अन्यथा नहीं। अतः यही क्रिया इन्द्रिय संयम की है जो इस प्रकार योगाभ्यास एवं यज्ञादि सर्वश्रेष्ठ कर्मों को करता है, उसको **यजुर्वेद मन्त्र ६/५** में कह दिया है कि यज्ञ का करने वाला, वेदविद्या को जानने वाला साधक ही **(विष्णोः)** सर्वव्यापक ईश्वर का **(परमम्)** सर्वोत्तम **(पदम्)** प्राप्ति योग्य जो पद है, उसका **(पश्यन्ति)** दर्शन करते हैं। अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास में रत साधक ही, संयम करता है, परम शांति एवं ईश्वर को प्राप्त होता है, अन्य नहीं, ऐसा वेद का प्रमाण है और हम ईश्वरीय वाणी वेद के विरुद्ध कभी न चलें और वेद विरोधी किसी भी व्यक्ति के झूठे बहकावे में न आएँ, तभी हम अपना, समाज का, देश का एवं विश्व का कल्याण करने में समर्थ बनेंगे। प्रश्न यह नहीं है कि संयम किसे कहते हैं, योगी किसे कहते हैं अथवा ज्ञानेन्द्रियों का संयम रूपी अग्नि में हवन किसे कहते हैं, इत्यादि। वास्तव में आज की समस्या यह है कि हम किस रास्ते पर चलकर

संयम करें अथवा योगी बनें। हम उस वेदों में कहे सनातन, शाश्वत, अविनाशी रास्ते का शाब्दिक ज्ञान तक भूल गए हैं और ऐसा कहीं इसलिए तो नहीं हुआ है कि आज के अधिकतर वेद विरोधी प्रवचन करने वालों ने समाज में झूठ फैला दिया है, समाज को सत्य, वैदिक मार्ग से भटका कर, एक असत्य मार्ग पर डाल दिया है। इस पर विचार करना आवश्यक है। उदाहरणार्थ, कई कहते हैं कि कथा सुनो, ब्रह्मलीन हो जाओ, सत्संग में आओ ब्रह्मलीन हो जाओ, इन्हीं गीता के श्लोकों को सुनाते-सुनाते कह देंगे कि जिसने अपनी इन्द्रियाँ वश में कर लीं, वो योगी हो गया परन्तु इन्द्रियाँ कौन से मार्ग पर चलकर वश में हों, सत्संग क्या है, कथा क्या है, कथा सुनकर ब्रह्मलीन होते भी हैं या नहीं, इस वैदिक सत्य को प्रायः कोई जानता नहीं, तो बताए क्या? अतः केवल गीता, रामायण, भागवत पुराण आदि की कथाएँ सुनकर अथवा आसन, प्राणायाम आदि करके कोई ब्रह्मलीन हो जाता है, इन्द्रियाँ संयम कर लेता है तो यह शुभ कार्य पूरे हिन्दुस्तान में अभी तक हो ही जाता। परन्तु देखने में यही आ रहा है कि यह सब करने वाले, वेद विरुद्ध पूजा-पाठ करने वालों के घर-घर में क्लेश, बीमारियाँ, परेशानियाँ बढ़ती ही जाती हैं। देश एवं विश्व में भ्रष्टाचार, अन्याय, रोग, अकारण युद्ध आदि अनेक समस्याएँ बढ़ती ही जाती हैं। हमें राम राज्य स्थापित करने के लिए गीता, रामायण में कहे, उन श्लोक एवं चौपाइयों का अध्ययन करके पुनः वेदों की ओर लौटना होगा। वेदों के विद्वानों की शरण में जाना होगा, जिन गीता श्लोकों एवं रामायण की चौपाइयों में वेद विद्या का वर्णन है और जिन्हें आज के वेद विरोधी सन्त यदि छिपा जाते हैं, तो उन श्लोकों और चौपाईयों को वेद के विद्वानों से ध्यान पूर्वक सुनकर तर्क-वितर्क द्वारा सत्य स्थापित करना होगा। हमें पुनः सतयुग, त्रेता एवं द्वापर युग की भांति वेद विद्या को पुनः घर घर पहुँचा कर जनता को विद्वान्-विदुषी बनाना ही होगा। वेदाध्ययन, जप, तप, यज्ञ एवं योगाभ्यास से रहित प्राणी ऊपर कहा धारणा, ध्यान एवं समाधि रूप संयम सिद्ध नहीं कर सकता। फलस्वरूप श्रोत्रादि इन्द्रियाँ जो हैं उनको संयम रूप अग्नि में हवन नहीं कर सकता। अर्थात् पूजा-पाठ करेगा परन्तु इन्द्रियों द्वारा व्यभिचार भी करता रहेगा। जो कि धर्म की आड़ में बहुत बड़ा पाप है। दूसरा कि वह संत अथवा व्यक्ति पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के पाँच शब्द, स्पर्श आदि जो विषय हैं इनको इन्द्रिय रूप अग्नि में हवन नहीं कर सकता अर्थात् इन्द्रियों के इन विषयों को नष्ट नहीं कर सकता। अतः हम वेदों की ओर पुनः लौटें। अन्यथा योग विद्या की गहराई लिए श्रीकृष्ण महाराज द्वारा प्रस्तुत श्लोक में 'संयम' शब्द

अथवा अन्य वैदिक शब्दों के अर्थ वेद न जानने वाले कैसे कर सकते हैं? और यदि किसी मिथ्यावादी ने पढ़-सुन रटकर अर्थ कर भी दिए तब वह बिना यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि का एकान्त में बैठकर अभ्यास किए बिना न तो "संयम" शब्द के भाव उनके अनुभव में होंगे और जैसा कि ऊपर कहा न ही उनका इन्द्रियों पर संयम होगा। और फलस्वरूप धर्म की आड़ में पाप ही पाप फैलते रहेंगे। अतः ईश्वरीय आज्ञा मानकर हम वेद विद्या को सुनें और गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही जप, तप, संयम आदि विद्या को आचरण में लाकर विद्वान् बनें।

श्रीकृष्ण उवाच–

"सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।"

(गीता श्लोक ४/२७)

(अपरे) दूसरे कई योगी **(सर्वाणि)** सम्पूर्ण **(इन्द्रियकर्माणि)** इन्द्रियों के कर्मों को **(च)** और **(प्राणकर्माणि)** प्राण के कर्मों को **(ज्ञानदीपिते)** ज्ञान से प्रकाशित **(आत्मसंयमयोगाग्नौ)** आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में **(जुह्वति)** हवन कर देते हैं। भाव है कि यहाँ जीवात्मा ने धारणा, ध्यान एवं समाधि (संयम) के पश्चात ईश्वर में लीनता प्राप्त की है।

अर्थः– दूसरे कई योगी सम्पूर्ण इन्द्रियों के कर्मों को और प्राण के कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में हवन कर देते हैं। अर्थात् वेदाध्ययन, जप, तप, योगाभ्यास से उत्पन्न ज्ञान की अग्नि (ब्रह्मलीनता) में योगी के सभी कर्म भस्म हो जाते हैं। भाव है कि यहाँ जीवात्मा ने धारणा, ध्यान एवं समाधि (संयम) के पश्चात ईश्वर में लीनता प्राप्त की है।

भावार्थः– आत्मसंयम अग्नि अर्थात् अष्टांग योग के अभ्यास द्वारा प्रकट आत्मज्ञान जो है, उसे ही आत्म संयम रूपी अग्नि कहा है। आत्म ज्ञान का अर्थ यहाँ समाधि अवस्था में जीवात्मा द्वारा ईश्वर अनुभूति कही गई है। जब योगाभ्यास द्वारा समाधि में चित्त की सभी वृत्तियाँ समाधि अवस्था में अन्दर ही रुक जाती हैं, तब योगी को अपने अन्दर (जीवात्मा को अपने अन्दर) ईश्वर की अनुभूति होती है और यह अनुभूति **"ज्ञानदीपिते"** ज्ञान से प्रकाशित होती है एवं वह ज्ञान वेदों में वर्णित ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड एवं उपासना

काण्ड कहा गया है और इस प्रकार योगी इस ज्ञानाग्नि में पाँच ज्ञानेन्द्रियों के देखना, सुनना आदि और पाँच कर्मेन्द्रियों के बोलना, चलना आदि सब कर्म तथा पाँचों प्राणों के श्वास लेना, छोड़ना आदि सब कर्म इसमें होम कर देता है। शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है कि ईश्वर ने स्वयं को सारे संसार और सब संसार को अपने में हवन किया। यहाँ हवन का अर्थ है कि ईश्वर सब में समा गया और सारा संसार ईश्वर में समा गया। इसी प्रकार **ऋग्वेद मन्त्र १०/८१/१** का भाव है कि ईश्वर प्रलयकाल में सम्पूर्ण विश्व को अपने अन्दर लीन कर लेता है। इसी प्रकार प्रस्तुत श्लोक का भाव है कि वह योगी जो अष्टांग योग की साधना एवं वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों द्वारा ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं, उनकी इन्द्रियों और प्राणों के सब कर्म और कर्मों का फल ईश्वर में लीन हो जाता है, ईश्वर को अर्पित हो जाता है। और इस प्रकार ऐसे ब्रह्म प्राप्त योगी को कर्म फल नहीं भोगने होते तथा यही अवस्था, जैसा कि श्लोक में कहा **"ज्ञानदीपिते"** ज्ञान से प्रकट होती है। एवं यह ज्ञान चारों वेदों में वर्णित है। **अथर्ववेद मन्त्र ११/८/२३** कहता है कि यह सब ज्ञान मनुष्य के शरीर के अन्दर ही स्थित है। **यजुर्वेद मन्त्र ३४/५** के अनुसार भी ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद एवं अथर्ववेद, यह चारों वेद भी मनुष्य के शरीर के अन्दर मन में प्रतिष्ठित हैं। परन्तु अविद्या के कारण छिपे हुए हैं। इन वेदों का ज्ञान ऊपर कहे संयम द्वारा ईश्वर सहित अन्दर प्रकट होता है। **अथर्ववेद काण्ड ११, सूक्त ८** में शरीर रचना का वर्णन करते हुए ईश्वर कहते हैं कि कर्मानुसार जीव का शरीर बनता है और श्रद्धा-अश्रद्धा, समृद्धि-असमृद्धि, आनन्द, संकल्प-विकल्प और चारों वेदों का सम्पूर्ण ज्ञान इस मानव शरीर में ही स्थित है। यह मानव शरीर एक देव मन्दिर है, इसी में ब्रह्म का निवास भी है। इस शरीर में रहता हुआ जीवात्मा ही वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि उपासना द्वारा ज्ञान की अग्नि प्रदीप्त करके जब ईश्वर अनुभूति कर लेता है तो वह योगी अपनी सभी ज्ञानेन्द्रियों एवं प्राणों के कर्मों को स्वतः ही ईश्वर में समर्पित कर देता है। इसी बात को यहाँ आत्म संयम रूपी योगाग्नि में सब कर्मों का हवन करना कहा है। इन श्लोकों के मनन से स्वतः ही यह भाव उठते हैं कि प्रसंग तो गीता में अर्जुन को धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित करना है परन्तु श्रीकृष्ण महाराज आत्म संयम, योगाग्नि, ब्रह्म के स्वरूप, निष्काम कर्म, वेदों के ज्ञान आदि के विषय में भी समझाने की कोशिश कर रहे हैं जिसके फलस्वरूप ही आगे चलकर अर्जुन धर्मयुद्ध करने के लिए तैयार हो जाएगा। अतः हम भी संसार के किसी शुभ कर्म को करने के लिए वेद सुनें तथा जीव, ब्रह्म एवं

प्रकृति आदि के विषय में ज्ञान प्राप्त करें। ऐसी वेदाध्ययन, यज्ञ रूपी साधना कभी व्यर्थ नहीं होती। वेदों में कहा है कि साधना का फल अगले जन्म में भी हमारी रक्षा करता है। साधना से ही श्रीकृष्ण महाराज ज्ञान उत्पन्न करने की बात कह रहे हैं और इसी साधना से सम्पूर्ण इन्द्रियों एवं प्राणों के कर्मों को योगीजन आत्मसंयम रूपी योगाग्नि में भस्म कर देते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच–

"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।"

(गीता श्लोक ४/२८)

(अपरे) अन्य कई योगी **(द्रव्ययज्ञाः)** "द्रव्य यज्ञ" करते हैं, अर्थात् वेद मन्त्रों द्वारा द्रव्य-हवन सामग्री, घृत इत्यादि को हवन कुण्ड में जलती अग्नि में डालते हैं तथा धन, अन्न वस्तु आदि पदार्थों का दान करके देवपूजा, संगतिकरण एवं दान रूपी सर्वश्रेष्ठ यज्ञ करते हैं। **(तथा)** और कई साधक **(तपो यज्ञाः)** तप यज्ञ करते हैं अन्य कई **(योग यज्ञाः)** वेद में कहे अष्टांग योग द्वारा ईश्वर की उपासना रूपी यज्ञ करते हैं। **(च)** और कई दूसरे **(संशित व्रताः)** तीक्ष्ण व्रतों को धारण करने वाले **(यतयः)** संन्यासी **(स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः)** वेदों का स्वाध्याय एवं ज्ञान यज्ञ करने वाले होते हैं।

अर्थः– अन्य कई योगी 'द्रव्य यज्ञ' करते हैं, अर्थात् वेद मन्त्रों द्वारा द्रव्य-हवन सामग्री, घृत इत्यादि को हवन कुण्ड में जलती अग्नि में डालते हैं तथा धन, अन्न वस्तु आदि पदार्थों का दान करके देवपूजा, संगतिकरण एवं दान रूपी सर्वश्रेष्ठ यज्ञ करते हैं और कई साधक तप-यज्ञ करते हैं अन्य कई वेद में कहे अष्टांग योग द्वारा ईश्वर की उपासना रूपी यज्ञ करते हैं और कई दूसरे तीक्ष्ण व्रतों को धारण करने वाले संन्यासी वेदों का स्वाध्याय एवं ज्ञान यज्ञ करने वाले होते हैं।

भावार्थः– पिछले श्लोक ४/२३ में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि आसक्ति से रहित होकर जो पुरुष यज्ञ करता है उस मुक्त पुरुष के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं, परन्तु साथ ही कह दिया कि उस पुरुष का चित्त ज्ञानमय होकर ब्रह्म में स्थित होना चाहिए। यदि गहन अध्ययन द्वारा देखें तो इस प्रस्तुत श्लोक के अन्त में श्री कृष्ण महाराज ने

"संशितव्रताः"-तीक्ष्ण यम आदि नियमों से युक्त **"यतयः"**-यत्नशील संन्यासी साधक **"स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः"**-वेदाध्ययन रूपी ज्ञान यज्ञ करने वाले ऐसे साधकों का भी वर्णन किया है, जिसका भाव है कि वेदों के स्वाध्याय द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है और यह ज्ञान जड़-चेतन, जीवात्मा-परमात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप की अनुभूति करना होता है और ऐसे तत्त्व बोध को जानने के लिए वेदाध्ययन द्वारा प्राणी को अपने-अपने कर्त्तव्यों कर्मों, जो परिवार समाज एवं देश के प्रति होते हैं, उनका बोध करके उन पर आचरण करना होता है। अतः ब्रह्म प्राप्ति में स्वार्थ का कोई स्थान नहीं है अर्थात् कोई संत-महापुरुष बनकर कहे कि हमारा ध्येय तो केवल ईश्वर प्राप्ति है बाकि संसार से हमारा कोई मतलब नहीं, ऐसा कहना ही पाप है। **अथर्ववेद मंत्र १९/४१/१** में स्पष्ट कहा है कि ऋषियों ने तप किया और राष्ट्र-निर्माण का संकल्प किया। स्वाध्याय से ज्ञान प्राप्ति का संकेत महाभारत के शांति-पर्व में भी प्राप्त होता है, जिसमें भीष्म पितामह युधिष्ठिर को कह रहे हैं कि जो साधक प्रथम वेदाध्ययन करके शब्द ब्रह्म में प्रवीण हो जाता है वही-परमात्मा की अनुभूति करने योग्य होता है। तो हम इस वेदाध्ययन की सनातन पद्धति को त्यागकर और विपरीत में मनघढ़न्त कथा-कहानियाँ अथवा प्रवचन कहकर अपने मुँह मियाँ मिट्ठू बनकर ईश्वर के क्रोध का शिकार न बने। श्री कृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि से वेदों का ज्ञान प्राप्त किया और सम्पूर्ण गीता में वही वेदों के ज्ञान रूपी अमृत की कुछ बूदें अर्जुन पर बरसा दी, जिन बूदों का पान करके अर्जुन को अपने कर्त्तव्य कर्म का बोध हुआ और तुरन्त धर्म युद्ध के लिए उठ खड़ा हुआ। ज्ञान प्राप्ति के लिए यही क्रम आज भी वैसा का वैसा लागू होता है कि हम वेदाध्ययन द्वारा अपने गृहस्थाश्रम आदि के कर्मों का बोध प्राप्त करके उन कर्मों को जीवन में अपनाएँ। इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए वेद विरोधी सन्तों के मिथ्या भाषण से बचने की बहुत अधिक आवश्यकता है।

श्री कृष्ण महाराज ने इस श्लोक में स्वाध्याय द्वारा ज्ञान-यज्ञ की बात कही है परन्तु इसका विस्तृत वर्णन तो वेदों में ही सुलभ है। उदाहरणार्थ **अथर्ववेद के चौथे काण्ड के ३९वें सूक्त** में कहा है कि ज्ञान द्वारा ही हम काम क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करते हैं और फलस्वरूप ही हम आनन्द को प्राप्त करते हैं। अर्थात् बिना स्वाध्याय के तो शब्दों के द्वारा भी ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसी मन्त्र में कहा कि स्वाध्याय से ही कर्म आदि का केवल शब्दों द्वारा ज्ञान होता है और उसके बाद उस पर आचरण होता है। अतः अथर्ववेद के इस मंत्र के स्वाध्याय से ही ज्ञात हुआ कि यह ज्ञान प्राणसाधना अर्थात्

प्राणायाम द्वारा बुद्धि से ग्रहण किया जाता है। अतः **योग शास्त्र सूत्र २/१** में भी तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि कहकर पता जलि ऋषि ने तप यज्ञ और स्वाध्याय-यज्ञ की महिमा गाई है और उस प्राचीन समय में स्वाध्याय का अर्थ वेदों के अध्ययन से अपने स्वरूप अर्थात् जीवात्मा और परमात्मा के स्वरूप को जानना कहा गया है। क्योंकि उस समय आज के प्रचलित ग्रंथ बने नहीं थे और गीता में श्री कृष्ण महाराज वेदों का ज्ञान दे रहे थे, परन्तु गीता छपाई नहीं हुई थी और न ही उसका उस प्राचीन समय में घर-घर अध्ययन था अर्थात् गीता मिथ्यावादी वेदविरोधी प्रचार से शून्य थी। **अथर्ववेद मंत्र ४/३२/५** में मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह कहा कि वह वेदों के ज्ञान को प्राप्त करने की जिज्ञासा नहीं करता। और फलस्वरूप शुभ कर्म एवं पुरुषार्थ से दूर होकर नरकगामी हो जाता है। **अथर्ववेद मंत्र ४/३५/४** में कहा कि ईश्वर ने जीवात्मा को भवसागर से पार लगाने के लिए ब्रह्मौदन अर्थात् वेदाध्ययन के द्वारा प्राप्त ज्ञान-रूपी भोजन प्रदान किया है। और अगले ही मंत्र ६ में कहा कि यह ज्ञान रूपी भोजन **"वेदाः निहिताः"** वेदों में सुलभ है। और कहा **"तेन औदनेन मृत्युम् अति तराणि"** कि हे ईश्वर इस **"ब्रह्मौदनम्"** (वेद द्वारा प्राप्त ज्ञान रूपी भोजन) को प्राप्त करके मैं जन्म मृत्यु रूपी क्लेश से पार हो जाऊँ। **यजुर्वेद मंत्र ३१/१८** में कहा –**"न अन्य पंथाः"** वेदों के स्वाध्याय द्वारा प्राप्त ज्ञान से ईश्वर को जाने बिना मृत्यु से तरने का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतः इस सनातन ईश्वरीय वाणी को छोड़कर वेद-विरोधी व्यक्तियों के बहकावे में आकर नरकगामी न बनें। यही श्री कृष्ण द्वारा संक्षेप में कहा प्रस्तुत श्लोक में स्वाध्याय ज्ञान-यज्ञ है, जो वेदों से प्रमाणिक है, जिसकी प्राप्ति में वेदों में वर्णित ज्ञान, कर्म उपासना यह तीनों विद्याएँ अनिवार्य हैं। ऊपर के सभी श्लोकों में यज्ञ का सामान्य अर्थ शुभ कर्मों से जुड़ना है। यज् धातु से यज्ञ=कर्म शब्द भी है। और वेदों में तथा गीता में भी विभिन्न प्रकार के यज्ञों कर्मों का वर्णन कर दिया है। प्रस्तुत श्लोक में द्रव्य-यज्ञ का भाव शुभ कर्मों में द्रव्य धन आदि का लगाना है। वेद में सर्वश्रेष्ठ कर्म यज्ञ कहा है जिसमें हवन, देवपूजा, संगति एवं दान इत्यादि शुभ कर्म आते हैं। अतः यहाँ श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि कई शुभ कर्मों से जुड़े हुए योगी अग्नि में घृत सामग्री इत्यादि डालकर यज्ञ करते हैं और धन, वस्त्र, अन्न, भूमि इत्यादि पदार्थों का सुपात्र यज्ञनीय पुरुषों को दान देते हैं। चारों वेदों में सुपात्र को दान देने की महिमा कही गई है, जिसके बिना मुक्ति असम्भव है। जैसा कि **अथर्ववेद मंत्र ५/७/१** में कहा **"अराते नियमानाम् दक्षिणाम् मा रक्षीः"** अर्थात् हे दान न देने

वाली वृत्ति हमारी दान में दी दक्षिणा को मत रख अर्थात् आत्मा तो कहे कि दान कर और दान देते-देते मन में यह आ जाए कि दान मत कर तो हे प्रभु हमारे साथ ऐसा न हो अर्थात् हम दानी बनें। **"अरातये नमः अस्तु"** अर्थात् दान न देने वाली वृत्ति को हमारा दूर से ही नमस्कार हो। इसे ही यहाँ श्री कृष्ण महाराज ने द्रव्य-यज्ञ कहा है। दूसरा तपोयज्ञ का भाव तैत्तिरियआरण्य प्रपाठक १०/८ में इस प्रकार कहा है-

ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः शान्तं तपो
दमस्तपः शमस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो
भूर्भुवः सुवर्ब्रह्मै तदुपास्वैतत्तपः।।"

अर्थात् (ऋतं) अनादि, अविनाशी सत्य को मानना, सत्य बोलना (श्रुतम्) वेदों में कही सब विद्याओं को सुनना (शांतम्) उत्तम स्वभाव उत्तम कर्म करके प्राप्त करना, (दम) इन्द्रियों का दमन (शम) मन में बुरे विचार न आने देना (दान) सुपात्र को दान (यज्ञ) यज्ञ करना और ईश्वर की उपासना, इन सबको तप कहा है। और इसके विपरीत नग्न रहना, केवल जटाएँ बढ़ाकर, भगवा अथवा सफेद वस्त्र आदि धारण कर प्रवचन कर देना, कीलों पर खड़ा रहना, पानी में खड़े रहना, भंग, चरस आदि पीना यह तप नहीं है। अतः **यजुर्वेद मंत्र १/१८** में कहा कि हम धर्म एवं वैदिक विद्या अनुष्ठान रूपी तप करते रहें। पुनः प्रस्तुत श्लोक में योग यज्ञ की बात कही है जिसका भाव अष्टांग योग साधना से है और जिसका वर्णन चारों वेदों में है जैसे कि **यजुर्वेद ७/४** में कहा **"उपयामगृहीतः असि"** अर्थात् हे योग के जिज्ञासु तू अष्टांग योग के आठों अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि को ग्रहण कर और **"अन्तः यच्छ"** अर्थात् अपने अन्दर प्राण आदि का निग्रह कर। वेदों से लिए ज्ञान द्वारा ही प्रत्येक ऋषि ने आगे शास्त्र, उपनिषद् आदि की रचना की है। श्री कृष्ण महाराज ने गीता के इन श्लोकों में और संपूर्ण गीता में वेदों का ही ज्ञान दिया है और पताञ्जलि ऋषि ने भी यजुर्वेद के इस मंत्र को स्पष्ट करते हुए **योगशास्त्र सूत्र २/२६** में कहा **"यमनियमासन प्राणायामप्रत्याहार धारणाध्यान समाधयोऽष्टावंगानि"**।। अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि यह योग के आठ अंग हैं। अतः वेदों में भी योग साधना पर जोर डाला है और गीता में भी योग साधना पर वैसा ही उपदेश किया है। आज गीता की व्याख्या में कहे अर्थ के अनर्थ को ग्रहण करने से बचें।

श्रीकृष्ण उवाच–

"अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।।"

(गीता श्लोक ४/२६)

(तथा) वैसे ही **(अपरे)** कई अन्य साधक **(अपाने)** अपान वायु में **(प्राणम्)** प्राण वायु को हवन करते हैं और **(प्राणे)** प्राण वायु में **(अपानम्)** अपान वायु को **(जुह्वति)** हवन करते हैं। तथा कई अन्य **(प्राणापानगती)** प्राण एवं अपान वायु की गति को **(रुद्ध्वा)** रोक कर **(प्राणायामपरायणाः)** प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहते हैं।

अर्थः– वैसे ही कई अन्य साधक अपान वायु में प्राण वायु को हवन करते हैं और प्राण वायु में अपान वायु को हवन करते हैं। तथा कई अन्य प्राण एवं अपान वायु की गति को रोककर प्राणायाम के अभ्यास में तत्पर रहते हैं।

भावार्थः– विश्व में आज योग विद्या का अच्छा खासा प्रचार हो रहा है। गहराई से विचार करें तो यह भारत की शाश्वत एवं पुरातन वैदिक संस्कृति का ही एक अंग है। भारतीय संस्कृति वेदों पर आधारित है और वेद विद्या का कोई विकल्प नहीं है। वेदों में ही अष्टांग योग की शिक्षा स्वयं भगवान ने दी है। **यजुर्वेद मन्त्र ७/५** में कहा **"मघवन् अन्तर्यामे मादयस्व"** अर्थात् हे योगी! तुम आन्तरिक यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इन योग के अंगों के अभ्यास से उत्पन्न आनन्द को प्राप्त करके दूसरों को भी आनन्दित करो। इस पूरे मन्त्र का भाव है कि जिस तरह से भौतिक चक्षु के द्वारा, भौतिक पदार्थ-सूर्य, चाँद, सोना, चाँदी, पशु-पक्षी आदि दिखते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यास से उत्पन्न दिव्य दृष्टि द्वारा ही अलौकिक पदार्थ एवं ईश्वर का दर्शन होता है। योग विद्या की साधना के बिना ईश्वर दर्शन असम्भव है। **यजुर्वेद मन्त्र ७/८** में कहा कि आचार्य द्वारा मनुष्य योग विद्या के यम, नियम आदि आठ अंगों के अभ्यास के लिए स्वीकार किया जाता है। पुनः यह मन्त्र कहता है- **"इन्द्रवायुभ्याम् जुष्टम् त्वा"** अर्थात् स्वांस को अन्दर खींचना और बाहर निकालना, ऐसी प्राणायाम की योगविद्या से युक्त हुआ, तुझे चाहता हूँ। अर्थात् ईश्वर इस मन्त्र में कहता है कि अष्टांग योग की साधना करने वाले योगीजन ईश्वर को अत्यंत प्रिय हैं और जो ऐसे योगी पुरुषों की वेदानुकूल

तन, मन, धन, प्राण से सेवा करते हैं, वह सेवक भी योग विद्या में सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार अष्टांग योग विद्या का ईश्वर ने चारों वेदों में प्रकाश किया है। वेदों में कही उस शाश्वत योग विद्या का श्रीकृष्ण महाराज यहाँ प्रस्तुत श्लोक में वर्णन कर रहे हैं। बाहर की प्राण वायु को नाक द्वारा अन्दर लेना योगाभ्यास में **"पूरक क्रिया"** कही गई है और अन्दर की अपान वायु को नासिका द्वारा बाहर निकालना, **"रेचक क्रिया"** कही गई है। इस प्रकार कई साधक प्राण वायु को अन्दर खींच कर अपान वायु में मिला देते हैं। इसी को इस श्लोक में अपान वायु में प्राण वायु को हवन करना कहा है। यह **"पूरक प्राणायाम"** है। और पुनः प्राण वायु में अपान वायु को मिला लेते हैं अर्थात् अन्दर की वायु को खींचकर बाहर निकाल देते हैं। कई योगीजन प्राण और अपान की गति को अन्दर रोक लेते हैं, जिसे **"कुम्भक प्राणायाम"** कहते हैं। प्राण वायु को अन्दर खींच कर रोक लेना और फिर मूल बंद द्वारा अन्दर की प्राण वायु को मस्तक में चढ़ाने का प्रयत्न करना और इस प्रकार अभ्यास करना, यह प्राणायाम की सर्वोत्तम स्थिति है। ऐसी दशा में योगी की पूरक, रेचक और कुम्भक क्रिया अपने आप ही होती रहती है। अतः ईश्वर ने तो वेदों में सभी प्राणियों को अष्टांग योग और विशेषकर प्राणायाम करने की आज्ञा दी है परन्तु स्वार्थवश वेद विरोधी सन्त योगाभ्यास एवं यज्ञ की सनातन पद्धति को नकार कर भारत वर्ष की जनता से सभी सुखों को छीन रहे हैं। सारे वेद कह रहे हैं कि वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास के बिना इन्द्रिय-संयम नहीं हो सकता और इन्द्रिय-संयम के बिना न सुख प्राप्त हो सकता है और न ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है।

छान्दोग्योपनिषद् में एक अलंकारिक कथा के माध्यम से भी ऋषि ने प्राणायाम किए बिना इन्द्रिय-संयम का होना नकार दिया है। कथा में ऋषि ने समझाया कि देवताओं ने असुरों पर विजय पाने के लिए चक्षु देवता को लड़ने भेजा। असुरों ने मिलकर चक्षु देवता पर हमला किया और उसे हरा दिया। पुनः श्रोत्र को लड़ने भेजा, श्रोत्र भी हार गया। फिर नासिका को भेजा, वह भी हार गया। इस प्रकार जिह्वा एवं त्वचा आदि सभी देवता, असुरों से हार गए। अन्त में इन्द्र ने प्राण देवता को असुरों से लड़ने भेजा। सब असुरों ने मिलकर एक साथ प्राण देवता पर भी आक्रमण किया परन्तु इस बार असुर प्राण से टकरा कर इस तरह चूर-चूर हो गए जिस तरह एक गीला मिट्टी का ढेला, पर्वत से टकराकर चूर-चूर हो जाता है। उपनिषद् का भाव यह है कि जब हम पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पांच

कर्मेन्द्रियाँ और मन, बुद्धि आदि द्वारा ईश्वर प्राप्ति और काम, क्रोधादि असुरों को जीतने की कोशिश करते हैं तो इस प्रकार हम विजय प्राप्त नहीं कर सकते। परन्तु जब प्राणायाम द्वारा ईश्वर की उपासना करते हैं तब हमारी चित्त की वृत्तियाँ बाहर जाने से रुक जाती हैं। और बाहर की वृत्तियाँ अन्दर नहीं आतीं जिसे योगशास्त्र की भाषा में **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** कहा है और तभी हमें ईश्वर अनुभूति हो जाती है। अतः हम वेद एवं शास्त्रों की आज्ञानुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम आदि अष्टांग योग के अंगों की साधना करके गृहस्थ में सुख-शांति एवं ईश्वर को प्राप्त करें और मिथ्यावादी वेद-विरोधी सन्तों की चिकनी-चुपड़ी बातों में आकर वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास, इस सनातन एवं पुरातन ईश्वर विद्या का त्याग करके दुःखों को आमन्त्रित न करें। यह सत्य समझना आज अत्यन्त आवश्यक है कि श्री कृष्ण महाराज कर्त्तव्य कर्म, धर्म युद्ध, विषय त्याग, शुद्धता, एवं अष्टांग योग विद्या आदि का उपदेश चारों वेदों में कही गई ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं के आधार पर ही कह रहे हैं। अतः हमें अन्य पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के लिये निश्चित ही विद्वानों से चारों वेद धीरे धीरे सुनते रहना चाहिये। यह ईश्वर की आज्ञा भी है।

श्रीकृष्ण उवाचः-

"अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।
सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः।।"

(गीता श्लोक ४/३०)

(अपरे) कई अन्य योगी **(नियताहाराः)** नियमित आहार करने वाले **(प्राणान्)** प्राणों को **(प्राणेषु)** प्राण में ही **(जुह्वति)** हवन करते हैं **(एते)** यह **(सर्वे)** सब योगी **(अपि)** ही **(यज्ञविदः)** यज्ञ के मर्म को जानने वाले हैं और इन्होंने **(यज्ञक्षपितकल्मषाः)** यज्ञ द्वारा पापों का नाश कर लिया है।

अर्थः- कई अन्य योगी, नियमित आहार करने वाले, प्राणों को प्राण में ही हवन करते हैं। यह सब के सब योगी ही यज्ञ के मर्म को जानने वाले हैं और इन्होंने यज्ञ द्वारा पापों का नाश कर लिया है।

भावार्थः- यह तो इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट कह दिया है कि यज्ञ के स्वरूप

को जानने वाले और यज्ञ को आचरण में लाने वाले योगी ही अपने पापों का नाश कर लेते हैं और जो यज्ञ नहीं करते और यज्ञ के स्वरूप को नहीं जानते, वह पापी रह जाते हैं। **अथर्ववेद मन्त्र १२/५/४०** में वेदों की कुतरन करने वाले मनुष्य को भी ईश्वर सजा देता है। भाव यह है कि आजकल प्रायः वेद-विरोधी सन्त गीता, रामायण अथवा वेद से ही छोटे-छोटे मन्त्र या श्लोक रटकर बोलने लगते हैं और वह केवल उन्हीं श्लोक आदि की कुतरन लेते हैं जो उनके अनुकूल होते हैं। जैसे किसी ने अपनी गुरु भक्ति कराकर अपनी पूजा करानी होती है तो वह गुरु भक्ति के उन श्लोकों, सूत्रों, मन्त्र का थोड़ा सा हिस्सा अथवा चौपाई को रटकर बोलेगा जिससे गुरु भक्ति सिद्ध होती है। और जब ईश्वर, नाम जाप पर बोलना होगा तो केवल नाम वाले श्लोक आदि को रटकर बोलेगा। सम्पूर्ण वेद, सम्पूर्ण गीता, सम्पूर्ण शास्त्र आदि से ऐसे सन्तों का कोई मतलब नहीं है। इसी प्रकार इन गीता के श्लोकों से भी प्रायः सन्त नाम जाप अथवा गुरु की महिमा वाले श्लोक निकाल लेते हैं बाकि को रहने देते हैं और कह देते हैं कि श्रीकृष्ण महाराज ने नाम जपने पर जोर दिया है। जबकि श्रीकृष्ण महाराज ने सम्पूर्ण वेदों का अध्ययन करके गीता का प्रवचन दिया था। जब ऐसे कई सन्तों को योग विद्या से पैसे कमाने होते हैं तब वह चारों वेदों और छह शास्त्रों को त्यागकर केवल आसन, प्राणायाम वाली बात रटकर बोलना शुरू कर देते हैं और कहते रहते हैं कि योग से बीमारियाँ भगाओ जबकि योग शब्द का अर्थ समाधि है अर्थात् सम्पूर्ण वेद विद्या ग्रहण करके श्रीकृष्ण, श्रीराम जैसी विभूतियों को भी समाधि अवस्था प्राप्त हुई थी जिसका वर्णन महाभारत और वाल्मीकि रामायण में स्पष्ट है। आज के प्रायः वेद विरोधी सन्त तो वेद और योग की सम्पूर्ण विद्या त्यागकर आसन, प्राणायाम की बात करते हैं और पैसे कमाते हैं। पता जलि योगदर्शन में ऐसा नहीं कहा गया है कि योग विद्या से बीमारियाँ दूर होती हैं। वहाँ योग विद्या द्वारा ईश्वर प्राप्ति कही है। अतः योग के कुछ अंगों का वर्णन करके पैसा कमाने का तरीका और इस पैसे से बड़ी-बड़ी बिल्डिगें खड़ी करना, कारें खरीदना, ऐश्वर्य में रहना, सुख लेना वेद-विरुद्ध है और महापाप है। हमें चारों वेदों में कही सम्पूर्ण विद्या ग्रहण करके ही इन्द्रिय संयम करके सरलता एवं निस्वार्थ सेवा द्वारा स्वयं को और देश को सुदृढ़ बनाना है।

श्लोक में "नियत-आहार" की भी बात कही है, जो चारों वेदों में कही गई है। क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में वही बात कही है जो पहले उन्होंने वेदों से ग्रहण की है। यही श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं ऋषि-मुनि आदि विभूतियों की विशेषता रही है कि उन्होंने

जो भी कुछ कहा है, वेदों से कहा है, अपनी तरफ से कोई मनघड़न्त कथा अथवा कोई एक शब्द भी प्रयोग में नहीं लाया है। प्रत्येक विचार पर वेदों का प्रमाण देने को ही स्वतः प्रमाण कहते हैं अन्यथा प्रायः अधिकतर सन्त आज वेद विरोधी अप्रमाणिक बात जनता पर लागू किए जा रहे हैं और भोली जनता अनजाने में इनके असत्य भाषण को ग्रहण किए जा रही है। नियत-आहार के विषय में **अथर्ववेद मन्त्र ५/२४/२** में कहा कि **"अग्निः वनस्पतीनाम् अधिपतिः"** अर्थात् अग्नि सब वनस्पतियों का स्वामी है। यदि भूमि में अग्नि न हो तो फल, अन्न, सब्जियाँ नहीं उग सकतीं और ईश्वर ने इस मन्त्र में यह भाव कहा कि हम पौष्टिक एवं सात्विक आहार का नियमपूर्वक सेवन करें। नियमित आहार में **अथर्ववेद मन्त्र ३/१२/७ एवं ८** में कहा कि घर में दूध, दही, शहद का नियमित सेवन हो, अन्न एवं वनस्पतियाँ नित्य प्रयोग में लाई जाएँ। अर्थात् चपाती, चावल, हरी सब्जियाँ, दाल, घी, दूध, दही, मट्ठा एवं शहद नियमित आहार में नित्य शामिल होने चाहिए। गरीबी-अमीरी के हिसाब से, अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार नियमित भोजन करें परन्तु चारों वेदों में ऐसे अनेक मन्त्र हैं जो यह प्रमाण देते हैं कि यदि जीव नित्य यज्ञ-हवन करे तो उसकी गरीबी का नाश हो जाता है। **सामवेद मन्त्र १२६६** कहता है कि विद्वानों द्वारा वेदवाणी सुनने वाले और यज्ञ करने वालों के घर में दूध, शुद्ध घी, शहद और जल की कभी कमी नहीं आती।

अथर्ववेद मन्त्र ५/२८/१ में कहा कि हम प्राणायाम आदि क्रियाओं द्वारा इन्द्रियों को शक्ति सम्पन्न करें। **अथर्ववेद मन्त्र ५/२४/६** में यहाँ तक कहा कि प्राणायाम जीवन की रक्षा करता है। **अथर्ववेद मन्त्र ६/२/२** में कहा कि हम सात्त्विक अन्न के सेवन से अपने शरीर की रक्षा करें, जिस शरीर से हमने कर्त्तव्य-कर्म और धर्म स्थापित करना होता है। **अथर्ववेद मन्त्र ६/३१/२** में कहा **"प्राणात् अपानतः अस्य अन्तः रोचना चरति"** अर्थात् प्राणायाम की साधना से अन्तःकरण में ईश्वर की जोत प्रकट होती है और पापों का नाश होता है। प्राण वायु को खींचना पूरक, रोकना कुम्भक और छोड़ना रेचक क्रिया कहलाती है। जब योगी कई प्रकार के प्राणायामों को सिद्ध कर लेता है तब पूरक और रेचक की आवश्यकता नहीं रह जाती और वह केवल कुम्भक युक्त प्राणायाम में सिद्धी प्राप्त करता है और इस प्रकार प्राणों का प्राणों में हवन करता है। प्राणायाम की यह क्रिया यहाँ अत्यंत संक्षेप रूप में लिखी है क्योंकि आसन, प्राणायाम आदि अष्टांग योग की शिक्षा गुरु के समीप रहकर ही सीखी जाती है। अतः यही सब भाव इस श्लोक में

श्रीकृष्ण महाराज ने कहे हैं कि जो नियमपूर्वक भोजन करता है और प्राणों का प्राणों में हवन करता है अर्थात् प्राणायाम की क्रियाओं को जानता हुआ, प्राणायाम की साधना करता है तो उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं और वह ईश्वर प्राप्ति कर लेता है। परन्तु आज दुःख की बात यही है कि जिस प्राणायाम आदि वैदिक साधना द्वारा हमारे प्राचीन के और वर्तमान के ऋषि-मुनि ईश्वर प्राप्ति करते थे, उस योग विद्या का प्रचार अब ना के बराबर ही रह गया है और अधिकतर इसका प्रचार बीमारी भगाने का लालच देकर धन बटोरने इत्यादि में किया जा रहा है। वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगविद्या, इनके अभाव में सुख-शांति असम्भव कही गई है। श्री कृष्ण महाराज का गीता ग्रन्थ में सम्पूर्ण ज्ञान वेद विद्या पर ही आधारित है। अतः हम पुनः वेद विद्या की ओर लौटें।

श्रीकृष्ण उवाचः-

"यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।
नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।"

(गीता श्लोक ४/३१)

(कुरुसत्तम) हे कुरु वंश में श्रेष्ठ, अर्जुन **(यज्ञशिष्टामृतभुजः)** यज्ञ का शेष जो अमृत है, उसे भोगने वाले योगीजन **(सनातनम्)** सत्य स्वरूप, अविनाशी **(ब्रह्म)** को **(यान्ति)** प्राप्त होते हैं परन्तु **(अयज्ञस्य)** यज्ञ न करने वाले पुरुष को **(अयम्)** यह **(लोकः)** लोक-मनुष्य लोक **(न)** सुख देने वाला नहीं **(अस्ति)** है। तब **(अन्यः)** अन्य लोक अर्थात् अगले जन्म में भी **(कुतः)** सुख कहाँ?

अर्थः- हे कुरु वंश में श्रेष्ठ, अर्जुन! यज्ञ का शेष जो अमृत है, उसे भोगने वाले योगीजन, सत्य स्वरूप, अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त होते हैं परन्तु यज्ञ न करने वाले पुरुष को यह लोक-मनुष्य लोक, सुख देने वाला नहीं है। तब अन्य लोक अर्थात् अगले जन्म में भी सुख कहाँ? अर्थात् जब वर्तमान जन्म में हम भौतिकवाद की चमक-दमक में ईश्वर प्रदत्त वेद विद्या को त्याग कर इन्द्रिय सुख में लीन रहे तब मर कर पाप वृत्तियाँ ही तो साथ जायेंगी जो हमें अगले जन्म में दुख ही दुख से भर देंगीं।

भावार्थः- अथर्ववेद मन्त्र ८/२/१ में कहा **"मा अमृतस्य श्नुष्टिम्"** अर्थात् यज्ञशेष रूपी जो अमृतमय भोजन है, हम उसका ही सेवन करने वाले बनें। यज्ञशेष भोजन हमें रज,

तप, सत्त्व आदि वृत्तियों से रहित करके दीर्घायु प्रदान करता है और **"मा प्रमेष्ठा"**-हमें सदा हिंसा से बचाता है। भाव है कि जब कोई साधक वेदानुकूल एवं गीता ग्रन्थ में कहे कई प्रकार के योग-यज्ञ करता है तब योग का अभ्यास करते करते अन्त में जो फल शेष रह जाता है वह ही यज्ञ शेष अमृत है। अमृत का अर्थ कभी न मरने वाला अमर परमात्मा है। अर्थात् योग-यज्ञ करने वाला साधक वर्षों अभ्यास के पश्चात योग-यज्ञ शेष अर्थात् अन्त में योग-यज्ञ शेष अमृत अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। दूसरा वेदों ने गृहस्थाश्रम में पाँच यज्ञ कहे हैं-देवयज्ञ, पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, बलिवैश्वदेव यज्ञ, ब्रह्मयज्ञ। पहले चार यज्ञों में माता-पिता, अतिथि, गुरु की तन, मन, धन, प्राण आदि से सेवा तथा पके हुए भोजन का नित्य कुछ अंश पशु-पक्षी को डालकर पश्चात भोजन करना कहा है। पाँचवे यज्ञ का भाव है कि मन्त्र दृष्टा ऋषि से वेदों को सुनना और वेद विद्या को प्राप्त करके जीवन में आचरण में लाना तथा नित्य हवन-यज्ञ करना कहा है। परन्तु यहाँ मुख्यतः ब्रह्मयज्ञ का ही विशेष वर्णन है कि जो वेदों को सुनने वाले साधक वेदानुसार नित्य हवन, यज्ञ करते हैं, माता-पिता एवं अतिथि की सेवा करते हैं और योग यज्ञ विद्या का अभ्यास करते हैं जिसमें आसन, प्राणायाम आदि आठ अंग हैं, ऐसी अष्टांग योग विद्या की नित्य साधना करते हैं। वह साधक ही इस ब्रह्म यज्ञ के फल को भोगते हैं और इस ब्रह्मयज्ञ का फल पापों का नाश करके सनातन पुरुष परमेश्वर की प्राप्ति है। अर्थात् वेदों में कही सत्य बात को श्रीकृष्ण यहाँ दोहराते हुए कह रहे हैं कि जो ऊपर कहे श्लोक २४ से ३० तक में वर्णित योग-यज्ञ का करने वाला पुरुष है वही परमात्मा को प्राप्त करता है, अन्य नहीं। श्लोक में बात यहीं समाप्त नहीं है वस्तुतः श्रीकृष्ण महाराज वेद एवं यज्ञ के विरोधियों के प्रति स्पष्ट उद्‌घोष करते हुए कह रहे हैं जो पुरुष ऐसे महान यज्ञ नहीं करता उसे तो इस मनुष्य लोक में भी जीवित रहकर कोई सुख नहीं मिलता। तब मरने के बाद दूसरे जन्म में तो सुख लेने का प्रश्न ही नहीं उठता। लोक और परलोक दोनों को सुखी करने के लिए ईश्वर ने प्राणियों के लिए चारों वेदों में यज्ञ करने को कहा है। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/१६** में यह भाव है कि जो वेदों को सुन-सुनकर विद्वान् हो जाते हैं, वही यज्ञ द्वारा परम पुरुष परमात्मा को प्राप्त करते हैं, अन्य नहीं और इस वैदिक सत्य को श्रीकृष्ण महाराज ने भगवद् गीता अध्याय ३ श्लोक ६ से १५ तक यह स्पष्ट किया है कि जो यज्ञ नहीं करते (गीता श्लोक ३/६) वह बन्धन में फंसते हैं, ईश्वर ने प्रजा को यज्ञ के साथ रचा है अर्थात् प्रजा रचकर यज्ञ करने का ज्ञान दिया (श्लोक ३/१०

इत्यादि)। तो यह बड़े दुःख की बात है कि आज प्रायः सन्त जनता को यज्ञ से विमुख करके वेद विद्या से भटका रहे हैं। यज्ञशेष अमृत के यहाँ दो अर्थ हैं-एक तो पाँचों यज्ञ करके शेष बचा हुआ भोजन करना और दूसरा योगाभ्यास में प्राणायाम, वेदाध्ययन, हवन इत्यादि यज्ञ करके, उसका शेष फल अमृत की प्राप्ति-ईश्वर की प्राप्ति करना। क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज ने श्लोक २३ से श्लोक ३० तक में कहा है कि हवन यज्ञ, इन्द्रियों को वश में करके इन्द्रिय रूपी अग्नि में हवन, कई योगाग्नि में हवन, कई अष्टांग योग रूपी यज्ञ करने वाले, कई वेदाध्ययन रूपी स्वाध्याय ज्ञान यज्ञ करने वाले, कई प्राण वायु में अपान वायु को हवन करने वाले और कई अपान वायु में प्राण वायु को हवन करने वाले, कई प्राणायाम करने वाले और कई प्राणों में ही प्राणों का यज्ञ करते हैं जिनका विस्तृत वर्णन पीछे प्रत्येक श्लोक में कर दिया गया है। अतः यहाँ यज्ञ में बचे हुए भोजन को करना, इसे यज्ञशेष अमृत नहीं कहा अपितु ऊपर कहे हुए योग-यज्ञ की साधना करने के अन्त में जो यज्ञों के परिणाम अर्थात् फल हैं उसको भोगना ही यज्ञशेष अमृत कहा है और ऐसे यज्ञों का फल ज्ञान प्राप्ति व सनातन परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति है। अतः हम गीता के वैदिक वचनों पर विशेष ध्यान दें और जो ऊपर आध्यात्मिक यज्ञ कहे गए हैं, उनको विद्वान् आचार्य से सीख कर, जीवन में उनका अभ्यास करके, ईश्वर प्राप्ति की ओर अग्रसर हों। किसी वेद विरोधी सन्तों के बहकावे में आकर, यज्ञ करना कभी न छोड़ें। क्योंकि ईश्वर ने प्रत्येक वेद में यज्ञ करने की आज्ञा दी है जिसके विरुद्ध कभी नहीं चला जा सकता-सोचा भी नहीं जा सकता। क्योंकि इसी श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने स्वयं स्पष्ट कर दिया है कि जो यज्ञ नहीं करता उसे इस जन्म में भी दुःख है और अगले जन्म में भी दुःख प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।"

(गीता श्लोक ४/३२)

(एवम्) इस प्रकार **(बहुविधाः)** बहुत प्रकार के **(यज्ञाः)** यज्ञ **(ब्रह्मणः)** वेद की **(मुखे)** वाणी में **(विततः)** विस्तार पूर्वक कहे गए हैं। **(तान्)** उन **(सर्वान्)** सबको **(कर्मजान्)** कर्मों द्वारा उत्पन्न **(विद्धि)** जान। **(एवम्)** इस प्रकार यज्ञ को कर्म से उत्पन्न **(ज्ञात्वा)** जानता

हुआ निष्काम यज्ञ कर्म करता हुआ तू **(विमोक्ष्यसे)** संसार में कर्म बन्धन से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

अर्थः- इस प्रकार बहुत प्रकार के यज्ञ वेद की वाणी में विस्तारपूर्वक कहे गए हैं। उन सबको कर्मों द्वारा उत्पन्न जान। इस प्रकार यज्ञ को कर्म से उत्पन्न जानता हुआ निष्काम यज्ञ कर्म करता हुआ तू संसार में कर्मबंधन से छूटकर मोक्ष प्राप्त कर लेगा।

भावार्थः- श्रीकृष्ण महाराज ने स्वयं ही कई जगह गीता में वेदों का वर्णन किया है। ''ब्रह्मणः'' शब्द यहाँ वेद के लिए प्रयोग किया गया है। ''मुखे'' का अर्थ मुख में है अर्थात् ''वेदवाणी में''। यजुर्वेद मन्त्र ३१/११ में भी यही शब्द आया है ''ब्राह्मणः मुखम् आसीत्'' अर्थात् ईश्वर की सृष्टि में वेद और ईश्वर का ज्ञाता मानो मुख के समान उत्तम है। इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज का भाव है कि हे अर्जुन! जितने भी पिछले श्लोकों में मैंने यज्ञ कहे हैं, यह सब भी वेदों में हैं और इसके अतिरिक्त भी अन्य कई यज्ञ वेदों में कहे गए हैं। **अथर्ववेद मन्त्र ६/६(४)/१ से ८ तक** में **''अग्निष्टोम यज्ञ'', ''अतिथि यज्ञ'' ''अतिरात्र यज्ञ'', ''सत्रसद्य यज्ञ''** आदि यज्ञों का वर्णन है। यजुर्वेद ने यज्ञ की परिभाषा में देवपूजा, संगतिकरण, दान को सर्वश्रेष्ठ यज्ञ कहा है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/११४/६** में हेमन्त के चालीस दिन में **''सोम-औषधी यज्ञ''** का वर्णन है। अन्य यज्ञों में प्राणायाम इत्यादि यज्ञों का वर्णन मिलता है। **सामवेद मन्त्र ८३०** में तो यहाँ तक कहा है कि यज्ञ में आहुतियाँ सौभाग्य का निर्माण करने वाली होती हैं और अथर्ववेद में कहा कि आहुतियाँ न डालना ही मनुष्य का दुर्भाग्य है।

सम्पूर्ण यजुर्वेद कर्मकाण्ड है और यज् धातु से ही यज्ञ शब्द निष्पन्न हुआ है। भाव यह है कि कोई भी यज्ञ, कर्म से ही उत्पन्न है और कर्म के लिए श्रीकृष्ण महाराज, गीता श्लोक ३/१५ में कह रहे हैं कि हे अर्जुन! वेद ईश्वर से उत्पन्न हुए हैं। और वेदों से ही सारे कर्म उत्पन्न हुए हैं अतः वेदानुसार ही कर्म करना शुभ है और वेद विरुद्ध कर्म करना अशुभ व पाप है। आज हम वेद न सुनने के कारण शुभ और अशुभ कर्मों की पहचान नहीं कर पाते और प्रायः वेद विरुद्ध अशुभ कर्मों को ही शुभ कर्म मानकर उनको करते रहते हैं। जिसका फल पाप एवं दुःख होता है। शुभ व अशुभ कर्मों की पहचान तो वेद सुनने के बाद ही होती है। अतः निश्चित ही प्राणी का धर्म श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि असंख्य विभूतियों की तरह वेद सुनना ही है जिससे हम शुभ-अशुभ, सत्य-असत्य,

जड़-चेतन, जीव-ब्रह्म आदि का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ हों और असत्य मार्ग को त्यागकर सत्य पर ही चल सकें। परन्तु दुर्भाग्य की बात है कि आज प्रायः सन्त कर्म करने में मुक्ति नहीं कहते अपितु ज्ञान में मुक्ति कहते हैं और सृष्टि के सर्वोत्तम कर्म यज्ञ को करने से साफ मना कर देते हैं। जिन सब शुभ कर्मों को श्रीकृष्ण महाराज, श्रीराम एवं सब ऋषि-मुनियों ने करने को कहा है, उन कर्मों का त्याग कितना दुःखदायी होगा, यह हम विचार भी नहीं कर सकते। यहाँ श्रीकृष्ण महाराज इसी सत्य को समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! जब वेदों द्वारा इन सब कर्मों को जान लेगा और करने लगेगा तो तू कर्म बन्धनों से मुक्त हो जाएगा। अतः गीता के उपदेश के अनुसार, हम सबको वेदाध्ययन द्वारा कर्मों का ज्ञान प्राप्त करके यज्ञ कर्म एवं अन्य गृहस्थाश्रम के शुभ कर्म नित्य करने चाहिए।

प्रायः आज प्राणी अपने भविष्य को जानने के लिए ज्योतिष इत्यादि का सहारा लेता है जबकि **सामवेद मन्त्र ८३० एवं ६७५** तथा **अथर्ववेद मन्त्र ३/१२/२** कह रहा है कि जो मनुष्य यज्ञ में वेदमन्त्र से आहुति डालता है, वह अपने सौभाग्य का निर्माण करने वाला होता है। कारण यह है कि यज्ञ करने वालों के पिछले जन्म के अनगिनत पापों का नाश प्रारम्भ हो जाता है और जो दुःख उसे पिछले कर्मफल के अनुसार भोगने होते हैं, वह दुःख यज्ञ करने से समाप्त होने लगते हैं। इसमें **सामवेद मन्त्र ४६५** भी प्रमाण में कह रहा है कि एक यज्ञ करने से और वेदमन्त्रों में भरे अमृत रूपी वचनों को सुनने से **"नव नवतीः आ अवाहन्"** अर्थात् ८१० पापों का नाश हो जाता है। क्योंकि मन्त्र में ही कहा **"अया वीती परिस्रव"** अर्थात् हे ईश्वर! वेदवाणी रूपी अमृत वर्षा द्वारा आप हम साधकों के हृदय में परमानन्द की वर्षा करो, **"यः ते मदेषु आ"** कि साधक तेरे उत्पन्न किए हुए आनन्द में पूर्णतः मग्न हो जाए और जब कोई अन्तःकरण में इस प्रकार की अमृत वर्षा से परमानन्द को महसूस करता है तो स्वतः ही उसकी इन्द्रियाँ वश में होती हैं और पापों का नाश होता है और ईश्वर प्राप्ति निश्चित हो जाती है। **सामवेद मन्त्र १०६०** भी कह रहा है कि एक यज्ञ से ३०,००० पुण्य और पुण्य का फल सुख प्राप्त होते हैं। आज जनता ने प्रायः वेद विरोधी सन्तों के असत्य भाषण सुनकर यज्ञ आदि महान सनातन एवं ईश्वरीय वेद विद्या का त्याग करके क्लेश, रोग एवं असंख्य दुःखों को आमन्त्रित कर लिया है। जैसा श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में कहा कि बहुत प्रकार के यज्ञ कर्मों से उत्पन्न होते हैं और उन यज्ञों का वर्णन वेदों में विस्तार से किया गया

है तो हम श्रीकृष्ण द्वारा प्रेरित होकर वेद विद्या का विद्वानों द्वारा सुनना शीघ्र प्रारम्भ करके जन्म सफल बनाएँ। निश्चित ही यज्ञ कर्मों से उत्पन्न हैं अर्थात् योग, हवन, देवयज्ञ आदि अनेक यज्ञों का विस्तार वेदवाणी से सुनकर उन यज्ञों को कर्मों द्वारा आचरण में लाते हैं तब ही यज्ञशेष अमृत अर्थात् यज्ञ का फल ईश्वर प्राप्ति होता है। फलस्वरूप ही जीव निष्काम कर्म स्वतः ही करने लगेगा और तब **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** के अनुसार वह निष्काम कर्म करता हुआ कर्मबन्धन से छूट जाएगा। अतः मनुष्य शरीर धारण करके जीव निष्काम कर्म करने तक पहुँचने के लिए विद्वान् गुरु द्वारा वेदों का सुनना (वेदाध्ययन), यज्ञ, योगाभ्यास आदि क्रियाओं को सीखना प्रारम्भ करे। तत्पश्चात उनकी कठोर साधना द्वारा जीव प्रत्येक प्रकार के यज्ञ को समझता हुआ कर्मों द्वारा करता हुआ मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

सामवेद मन्त्र ७६१ में कहा **"पुरुप्रियम् अग्निन् हवीमभिः सदा हवन्त"** अर्थात् हम बहुतों के प्यारे ईश्वर को यज्ञ में वेदमन्त्रों से हवन करते हुए सदा पुकारते हैं अर्थात् हम सदा यज्ञ-हवन करें और ईश्वर हवन में सबकी सुनता है जिसका प्रमाण श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक ३/१५** में स्पष्ट कहा **"ब्रह्म नित्यम् यज्ञ प्रतिष्ठितम्"** अर्थात् ईश्वर सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित है। ईश्वर ने वेदों में भी यही कहा है कि मैं (ईश्वर) सदा यज्ञ में प्रतिष्ठित हूँ अथवा योगियों के हृदय में प्रकट होता हूँ। अतः हम यज्ञ और योगाभ्यास, किसी वेद विरोधी सन्त के कहने से भी कभी न त्यागें क्योंकि इसमें ईश्वर की वाणी का अपमान है और ईश्वर प्राप्ति कभी नहीं होती और न कभी कोई सुख मिलता है। वेद विरोधी सन्तों के कहने से मनघढ़न्त भक्ति करके इन्सान आज दुःख के सागर में डूब गया है और ऐसे सन्त जनता से पैसे कमाए जा रहे हैं। इस वेद विद्या और यज्ञ के विपरीत जो प्रायः वेद विरोधी सन्तों की मनघढ़न्त कथाओं में फंस जाता है, वह नाच, गा, बजा इत्यादि के प्रभाव में इन्द्रियों का सुख और बढ़ा लेता है और पूर्णतः पापमय हो जाता है। अतः हम यज्ञ और वेदवाणी का स्वप्न में भी त्याग न करें। यह हम भारतीयों एवं विश्व की सनातन पद्धति है। **यजुर्वेद मन्त्र २/२३** ने स्पष्ट कहा है कि जो नर-नारी इस पद्धति का त्याग कर देता है, ईश्वर भी उसको सदा दुःख देने के लिए त्याग देता है। पीछे दैनिक जागरण, दैनिक अखबार, तारीख १० दिसम्बर २००४ में, खुशवन्त सिंह जी का लेख पढ़ा। खुशवन्त सिंह जी स्वयं को नास्तिक कहते हैं परन्तु पढ़े-लिखे, महान बुद्धिजीवी हैं और सम्भवतः भारतवर्ष में धर्म को व्यवसाय बना देने वाले वेद

विरोधी सन्तों के नित्य नए-नए प्रवचन सुन सुनकर परमात्मा पर से आस्था खो बैठे हैं अन्यथा उन जैसा सज्जन प्रेमी एवं कर्त्तव्यनिष्ठ पुरुष मिलना मुश्किल है जो कि स्पष्ट वक्ता है। वेदों में एक शब्द **नारद** आया है जो किसी का नाम नहीं है। वेद ने **'नारद'** शब्द का अर्थ **"स्पष्ट वक्ता"** कहा है। हमारे पुरातन ऋषि मुनि, श्रीराम, श्रीकृष्ण आदि सभी विभूतियाँ स्पष्ट वक्ता रही हैं। मैं तो खुशवन्त सिंह जी को भी नारद का ही दर्जा देना चाहता हूँ कि वो धर्म के मामले में स्पष्ट वक्ता हैं। वह अपने लेख में कहते हैं कि सभी अखबार आध्यात्मिक चिन्तन का लेख देते हैं। खुशवन्त सिंह जी कहते हैं कि सभी अखबार ऐसा इसलिए कहते हैं कि आध्यात्मिक मामलों में रुचि लेने वाले लोग बहुत ज्यादा हैं और यदि वह इस बारे में नहीं छापेंगे तो उनके अखबार बेचने की संख्या में कमी आ जाएगी और वह कहते हैं कि यही बात भविष्यवाणी के प्रकाशन में भी लागू होती है। आगे वह कहते हैं कि वह तो इन लेखों को नहीं पढ़ते। आगे उन्होंने कहा कि अनेक टी.वी. चैनल भी अध्यात्मवाद का प्रचार करते हैं। श्री खुशवन्तजी आगे अखबार में लिखते हैं कि घंटों तक आपको प्राइम टाईम के समय बापू, स्वामी, जगत गुरु आचार्य, अम्मा और ईसाई प्रचारक, सिख विद्वान् सब दिखाई देंगे। उनके पास नया कहने को कुछ नहीं होता। इस उपदेश द्वारा वह सन्त बड़े-बड़े आश्रम, विदेशों में भ्रमण, अमीर लोगों के घरों में ठहरना, कारें और आरामदायक जीवन व्यतीत करते हैं। वह लेख में प्रश्न करते हैं कि क्या धार्मिक ग्रन्थ पढ़ने या प्रवचन सुनने से लोगों पर असर पड़ा है? वह कहते हैं कि अगर ऐसा होता तो हमारे यहाँ ऐसे सबसे ज्यादा लोग होते जो सर्वाधिक ईमानदार और ईश्वर से डरने वाले हों। परन्तु खुशवन्तजी कहते हैं कि वास्तविकता यह है कि हमारा सबसे ज्यादा ध्यान पैसे कमाने में रहता है और हम भ्रष्ट देशों की सूची में आते हैं। मैं यहाँ इतना जरूर कहूँगा कि हो सकता है कि कोई सन्त विद्या आचरण वाला अच्छा भी हो परन्तु इसका निश्चय केवल वेदों का विद्वान् अथवा वेदवाणी अथवा सन्तों की वाणी ही कर सकती है। हाँ मैं आदरणीय श्री खुशवन्तजी को यह सन्देश जरूर देना चाहूँगा कि लगभग सवा पाँच हजार वर्ष पहले अर्थात् महाभारत युद्ध के काल तक भारतवर्ष सम्पूर्ण पृथिवी पर राज्य करता था और यहाँ एक ही चक्रवर्ती राजा होता था। उस समय सर्वाधिक विद्वान्, ईमानदार और मेहनतकश इन्सान जन्म लेते थे क्योंकि उस समय केवल वेद विद्या, यज्ञ एवं योगाभ्यास आचरण में था। कर्म ही प्रधान था और यहाँ तक वाल्मीकिजी ने लिखा कि वेद के प्रकाश से सतयुग से लेकर लगभग दशरथ राज्य

काल त्रेतायुग में (बालकाण्ड, चौथा सर्ग) **"कामी वा न कदर्यो"** अर्थात् कामी, क्रोधी, कंजूस कोई नहीं था। अतः नारी वर्ग की सब प्रकार से रक्षा थी जो आजकल अत्यंत पूजा-पाठ और प्रायः सन्तों के उस पर व्याख्यान और कथा कीर्तन होने के पश्चात नारी वर्ग का अपमान नित्य प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। उस समय वाल्मीकिजी लिखते हैं कि दशरथ राज्य में सब तरफ मेहनत ही मेहनत थी, पुरुषार्थ ही पुरुषार्थ था, **"न निरग्निः"** सब वेद सुनते और अग्निहोत्र करते थे, **"नाल्पसन्निचय"** कोई गरीब नहीं था, **"सर्व नराः तुष्टा"** सम्पूर्ण पृथिवी के प्राणी सदा सन्तुष्ट थे इत्यादि। अतः हम वेद विद्या को पुनः अपनाएँ और पुरुषार्थ द्वारा ईमानदार बनें और सन्तोष रूपी धन को प्राप्त करें। फलस्वरूप ही राजा दशरथ जैसे राज्य की स्थापना हो सकेगी।

श्रीकृष्ण उवाच–

"श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परंतप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।"

(गीता श्लोक ४/३३)

(परंतप) हे महाप्रतापी अर्जुन **(द्रव्यमयात्)** द्रव्यमय **(यज्ञात्)** यज्ञ से **(ज्ञानयज्ञः)** ज्ञानमय यज्ञ **(श्रेयान्)** श्रेष्ठ है। **(पार्थ)** हे पृथापुत्र अर्जुन **(सर्वम्)** सब **(कर्म)** कर्म **(अखिलम्)** पूर्ण रूप से **(ज्ञाने)** ज्ञान में **(परिसमाप्यते)** समाप्त हो जाते हैं।

अर्थः- हे महाप्रतापी अर्जुन द्रव्यमय यज्ञ से, ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है। हे पृथापुत्र अर्जुन सब कर्म पूर्ण रूप से ज्ञान में समाप्त हो जाते हैं। अर्थात् जब योग साधना आदि द्वारा ईश्वरीय ज्ञान हृदय में प्रगट होता है तब जीव के सब कर्म निष्काम कर्म बन जाते हैं, जीव कर्मों के फल नहीं भोगता, वह मुक्त हो जाता है।

भावार्थः- यहाँ अर्जुन को "परंतप" इसलिए कहा क्योंकि वह नित्य यज्ञ करने वाला, वेद सुनने वाला, इन्द्रिय संयम करने वाला, माता-पिता, गुरुजनों की सेवा करने वाला तपस्वी था। वह काफी हद तक क्षत्रिय धर्म को भी जानता था और धर्मयुद्ध में प्रवीण था। और यह सब एक तपस्वी के गुण होते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण ने अर्जुन को परंतप कहा है। परन्तु कौरव सेना में अपने सगे-सम्बधियों से युद्ध करने में अपने को असमर्थ समझने लगा था जिस कारण श्रीकृष्ण महाराज को उसे वैदिक ज्ञान देना पड़ा था। और जिस ज्ञान का

नाम किसी ने गीता ग्रन्थ रखा। पिछले श्लोकों में कई प्रकार के यज्ञ का ज्ञान देकर श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ कहा कि द्रव्य रूपी यज्ञ से ज्ञान यज्ञ श्रेष्ठ है। भाव यह है कि हम कर्म तो करें लेकिन उस कर्म के स्वरूप आदि को पहले वैदिक ज्ञान द्वारा जान लें। इस जानने का नाम ही "ज्ञान" है। अर्थात् ज्ञान प्राप्त करके फिर कर्म करें। वैदिक ज्ञान हमें समझाएगा कि कर्म का स्वरूप क्या है। अगर हम गीता के श्लोक का वैदिक रीति से मनन करके देखें तो पाएँगे कि अर्जुन को कुछ परिस्थितियों में युद्ध कर्म करना अच्छा नहीं लग रहा था। अब श्रीकृष्ण महाराज उससे प्रथम कर्म नहीं करा रहे अपितु युद्ध कर्म क्यों करना चाहिए, इसका ज्ञान दे रहे हैं और जब अर्जुन को ज्ञान प्राप्त हो जाएगा तब आगे चलकर अर्जुन ज्ञानयुक्त होकर युद्ध कर्म अवश्य करेगा। अतः गीता में वेदों की तरह कर्म योग प्रधान है। हाँ, विद्वान् होने के लिए ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों ही विद्याओं की आवश्यकता है जो कि वेदों में वर्णित हैं। परन्तु तीनों विद्या गीता में पूर्ण रूप से वर्णित नहीं हैं। अतः गीता के साथ वेदाध्ययन आवश्यक है। इस विषय में पुनः व्यास मुनि कृत् महाभारत के वनपर्व के श्लोक का वर्णन है कि यक्ष युधिष्ठिर से प्रश्न करते हैं- **"कः सः पन्थाः"** अर्थात् हमें करने के लिए कौन सा कर्म-मार्ग श्रेष्ठ है? इस पर युधिष्ठिर ने उत्तर दिया "तर्क की कहीं स्थिति नहीं है, मनुष्य की श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। ऐसा कोई एक मुनि भी नहीं है जिसका मत प्रमाण माना जाए और धर्म का तत्त्व अत्यंत गूढ़ है। अतः जिस मार्ग से महापुरुष जाते रहे हैं वही मार्ग है, जिसे हम अपनाएँ।" तर्क का भाव है कि शास्त्रार्थ द्वारा सत्य स्थापित करना, जैसा कि सत्य का दर्शन करने हेतु प्राचीनकाल में याज्ञवल्क्य एवं राजा जनक की आचार्या गार्गी आदि का शास्त्रार्थ प्रसिद्ध है। परन्तु आज कोई किसी से शास्त्रार्थ नहीं कर सकता और अपने मन के मुताबिक चाहे जितने मर्जी नए-नए रास्ते बनाते चलो। कोई चुनौती नहीं दे सकता। दूसरा कि मुनि तो सब बनते हैं लेकिन वेदों का मनन करके योगाभ्यास द्वारा मन्त्रदृष्टा ऋषि लुप्त होते गए। अतः पढ़-सुन, रटकर बोलने वालों की बात का कोई प्रमाण नहीं होता। यह व्यक्ति वेद विरुद्ध प्रायः मनघढ़न्त बातें करते हैं। युधिष्ठिर महाराज कह रहे हैं कि जो सवा पाँच हजार वर्ष पहले अर्थात् महाभारत काल से भी पहले के ऋषि-मुनि जिन आध्यात्मिक एवं भौतिक कर्मों को आचरण में लाते थे वही प्रामाणिक मार्ग है, उसी पर हमें चलना है। परन्तु आजकल प्रायः सन्त इसका यह अर्थ सुना रहे हैं कि महापुरुष जिस मार्ग पर जाते हैं, वही मार्ग उचित है और स्वयं को वह महापुरुष घोषित कर देते

हैं। ऐसे वेद विरोधी सन्तों की बातों में आकर प्रायः जनता सत्य से भटक गई है। अतः हमारी सनातन संस्कृति यह है कि जो हमारे पुरातन ऋषियों, राज ऋषियों और जनता आदि ने वेदानुकूल शुभ-शुभ कर्म किए, उन कर्मों की धरोहर हमारी संस्कृति है और वही शुभ कर्म जब हम करते हैं तो हम अपनी सनातन संस्कृति को जीवित रखते हैं और राष्ट्र सुदृढ़ करते हैं। इसमें शुभ कर्म ही प्रधान हैं। श्रीकृष्ण महाराज गीता के प्रारम्भ से ही कर्म करने का आह्वान कर रहे हैं परन्तु दुर्भाग्य वश आज के प्रायः कई वेद विरोधी गीता के वैदिक अर्थ से खिलवाड़ कर रहे हैं और कर्म की जगह केवल ज्ञान को प्रधान कह रहे हैं। श्रीकृष्ण महाराज का भाव यहाँ यह है कि जब हम ज्ञानमय कर्म करेंगे जिसमें देवपूजा, संगतिकरण, दान, वेदाध्ययन, अग्निहोत्र, परिवार, समाज, देश के प्रति कर्त्तव्य-कर्म आते हैं, जिसमें पढ़ाई-लिखाई, विज्ञान की उन्नति आदि सब शुभ कर्म सम्मिलित हैं। तो इन सब शुभ कर्मों को करते करते **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** स्पष्ट प्रमाण देता है कि हमारे में कर्म लिप्त नहीं होगा अर्थात् इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज के कहे अनुसार भी सब कर्म ज्ञान में समाप्त हो जाएँगे। अर्थात् हमें शुभ कर्मों को करने का भी फल प्राप्त नहीं होगा और हम वैदिक शुभ कर्म करते-करते ही कर्म में लिप्त न होकर मोक्ष प्राप्त कर लेंगे। तो यही मोक्ष की अवस्था ज्ञानमय शुभ कर्म करने से आती है, कर्म त्यागने में कदापि नहीं। **अथर्ववेद मन्त्र १९/४१/१** स्पष्ट कहता है कि ऋषियों ने तप किया और सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण किया। अतः प्रायः आज की तरह वैदिक आध्यात्मिक ज्ञान सन्तों द्वारा सुख-सम्पदा इकट्ठी करने के लिए नहीं कहा गया है। इसमें शुभ कर्म करते हुए समाज एवं देश के उज्जवल भविष्य का निर्माण किया जाता है। जैसा कि योगेश्वर श्रीकृष्ण, श्रीराम और इनके गुरुजन संदीपन ऋषि एवं मुनि वसिष्ठ आदि ने किया था और ऐसे ही असंख्य राज-ऋषियों और महर्षियों ने मिलकर किया था। यदि कर्म से ज्ञान ही श्रेष्ठ होता तो स्वयं श्रीकृष्ण महाराज **गीता श्लोक ५/५** में ऐसा न कहते कि जिस पद को ज्ञानी लोग कर्म करके प्राप्त होते हैं उसी पद को कर्म योगी भी प्राप्त करते हैं। वैदिक ज्ञान प्राप्त ज्ञानी ज्ञान युक्त कर्म करता है और कर्म योगी भी वही है जो वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है, पुनः वैदिक शुभ कर्म करता है। अतः हे अर्जुन! ज्ञान योग एवं कर्मयोग दोनों एक ही हैं, जो इस प्रकार से जानता है वह ही साधक का सत्य मार्ग है। अर्थात् ज्ञानयुक्त कर्म करने में ही मुक्ति है और यहाँ हम इतना भी ध्यान रखें कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** यह दर्शा रहा है कि आध्यात्मिकवाद और भौतिकवाद (पढ़ाई-लिखाई,

विज्ञान इत्यादि) दोनों की हम साथ-साथ उन्नति करें क्योंकि एक तट की नदी कभी नहीं होती। अतः ज्ञान एवं कर्म दोनों की साथ-साथ उन्नति करो। आज जो यह कहते हैं कि जगत मिथ्या है, हमें इससे क्या लेना-देना, वही देश में आलस्य और विकार फैला रहे हैं और परिवार आदि को मिथ्या कह कर नर-नारी को परिवार के कर्त्तव्य-कर्म से भटका कर पापयुक्त किए जा रहे हैं जिससे हमें बचना होगा। क्योंकि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज कर्म करने का आह्वान गीता में कर रहे हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज यह समझा रहे हैं कि कोई हवन, प्राणायाम, आसन इत्यादि को यज्ञ समझकर इस दृष्टि से हवन में घी, हवन सामग्री आदि द्रव्य यज्ञ में डालें कि केवल हमारी धन, पुत्रादि की कामनाएँ पूर्ण हो जाएँगी तो वह मिथ्यावाद होगा। यज्ञ से शुभ कामनाऐं एवं ईश्वर प्राप्ति दोनों ही संभव होती हैं। कोई भी यज्ञ करने से पहले उस यज्ञ का वेदों द्वारा सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना अति आवश्यक है। इसी बात को ही श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि हे अर्जुन! द्रव्यमय यज्ञ से ज्ञानमय यज्ञ श्रेष्ठ है क्योंकि ज्ञानयुक्त किया द्रव्यमय यज्ञ एवं नाम जप, योगाभ्यास इत्यादि (यह सब यज्ञ ही हैं) कर्म करने से मनुष्य के सब कर्म ही ज्ञान में लीन हो जाते हैं अर्थात् कर्मों का फल नहीं भोगना होता। क्योंकि चारों वेद कहते हैं कि कर्म किए बिना ब्रह्म का ज्ञान भी उत्पन्न होना असम्भव है। उदाहरणार्थ यदि कोई किसान अपने बच्चे को समझाता है कि खेत में भूमि किस तरह बराबर की जाती है, बैल से जोती जाती है, बीज बोए जाते हैं इत्यादि इत्यादि और तब गेहूँ की फसल उत्पन्न होती है। इस बात को किसान का पुत्र अच्छी तरह पढ़-सुन रट ले और इस बात का औरों को भी व्याख्यान देना शुरू कर दे तो इस प्रकार पढ़-सुन रटकर बहुत से खेतों में अन्न बीजने वाले ज्ञानी पैदा हो जाएँगे। परन्तु कर्मठ ज्ञानी एक भी नहीं होगा जो स्वयं जाकर खेतों में फावड़े चलाए, हल चलाए, बीज बोए, समय पर पानी दे और फसल पकने पर उसे काटकर घर लाए। इसी प्रकार हमारे देश में पढ़ सुन रटकर भाषण देने वाले और ऊँची-ऊँची गद्दियों पर बैठने वाले बहुत से सन्त पैदा हो गए हैं परन्तु व्यास मुनि, श्रीराम, श्रीकृष्ण, गुरु वसिष्ठ जैसे असंख्य विद्वानों की तरह वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास, पारिवारिक एवं देश के प्रति कर्म करने वाले विद्वानों की दूर-दूर तक सूरत दिखाई देनी मुश्किल हो गई है क्योंकि प्रायः प्रस्तुत श्लोक जैसे अन्य श्लोकों, चौपाई और शास्त्रों के सूत्र आदि के मनघढ़न्त अर्थ जनता में फैलाकर चारों तरफ वेद विरोधी सन्तों ने अज्ञान फैला दिया है। और इस तरह फैला दिया है कि कोई वेद सुनना, यज्ञ करना, योगाभ्यास आदि करना स्वीकार नहीं

करता। हमें स्वयं को तथा समाज एवं देश को सुदृढ़ बनाने के लिए पुनः वेदों का ज्ञान प्राप्त करके परिश्रम, पुरुषार्थ एवं उत्साह से भरपूर होकर ज्ञानयुक्त कर्म द्वारा देश निर्माण में जुटना होगा। यही वेदों ने हमारे जीवन का लक्ष्य बताया है। श्रीकृष्ण ने गीता ज्ञान सुना-सुनाकर अर्जुन को धर्मयुद्ध रूपी कर्म करने की प्रेरणा दी थी। गीता द्वारा प्रवचन करके न तो अर्जुन से धन लिया था, न अर्जुन को घर-परिवार मिथ्या कह कर त्यागने की प्रेरणा दी थी और न अर्जुन को धर्म की दुहाई देकर डराने का प्रयत्न किया था। श्रीकृष्ण ने तो केवल ज्ञानयुक्त कर्म करने की प्रेरणा दी थी और वह भी वेदानुकूल प्रेरणा दी थी। हम भी पुनः वेदों को सुनें।

श्रीकृष्ण उवाच –

"तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।"

(गीता श्लोक ४/३४)

(प्रणिपातेन) दण्डवत् प्रणाम वा **(सेवया)** सेवा द्वारा **(परिप्रश्नेन)** किए प्रश्नों द्वारा **(तत्)** उस ज्ञान को **(विद्धि)** जान, **(तत्त्वदर्शिनः)** तत्त्व को जानने वाले **(ज्ञानिनः)** ज्ञानी **(ज्ञानम्)** उस ज्ञान को **(ते)** तेरे लिए **(उपदेक्ष्यन्ति)** उपदेश करेंगे।

अर्थः- दण्डवत् प्रणाम वा सेवा द्वारा किए प्रश्नों द्वारा उस ज्ञान को जान, तत्त्व को जानने वाले ज्ञानी, उस ज्ञान को तेरे लिए उपदेश करेंगे।

भावार्थः- श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर सेवा द्वारा उनका उपदेश प्राप्त करने की बात कही है। "गृ शब्दे" इस धातु से गुरु शब्द बना है। जो सारी विद्याओं के भण्डार, चारों वेदों का उपदेश करता है और जिसका कभी नाश नहीं होता, उस परब्रह्म परमात्मा का नाम गुरु है। योगशास्त्र सूत्र १/२६ में पताजंलि ऋषि कहते है **"स एषः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्"** अर्थात् वह ईश्वर हमारे पूर्व के गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह समय एवं मृत्यु के बन्धन से रहित है। भाव यह है कि जब प्रलय में सब सृष्टि समाप्त हो जाती है और वेदों के ज्ञाता, ऋषि-मुनि भी देह का त्याग कर देते हैं, तब **ऋग्वेद मन्त्र १०/१२९/१** कहता है कि उस समय सूर्य, चाँद, जन्म-मृत्यु, नर-नारी, पेड़-पौधे कुछ भी नहीं होता। फिर परमेश्वर प्रकृति से अमैथुनी सृष्टि रचता

है। उस समय सब नर-नारी अज्ञानी-मूर्ख होते हैं क्योंकि उन्हें उपदेश देने वाला मनुष्य शरीर में कोई भी गुरु नहीं होता। तब ईश्वर जिसे कभी मृत्यु नहीं आती, वह अग्नि, वायु, आदित्य और अंगिरा, इन चार ऋषियों के हृदय में चारों वेदों का ज्ञान प्रकट करता है। इसी सत्य आधार पर पताजंलि ऋषि ईश्वर को पूर्व के गुरुओं का भी गुरु कह रहे हैं। अतः संसार का प्रथम गुरु तो ईश्वर है। उसके बाद वेदों के ज्ञाता, ऋषि-मुनि हमारे गुरु आज तक होते आए हैं। आज वर्तमान के गुरुओं ने गद्दी परंपरा चलाई है, जबकि ईश्वर ने तो पहले ही चार ऋषियों को, सृष्टि के आरम्भ में वेदों के ज्ञान की गद्दी पर बिठा दिया था और उनका प्रथम गुरु ईश्वर है। आगे के आने वाले ऋषि-मुनि, उसी वेदों के ज्ञान की गद्दी को लेकर चले हैं अतः अन्य गद्दी की तो आवश्यकता नहीं, और यदि कोई बनाता ही है तो वैदिक गद्दी बनाए और उस गद्दी पर आसीन वेदों के ज्ञाता, ऋषि-मुनि से राजा और प्रजा ज्ञान ले। **यजुर्वेद मन्त्र १६/७७** में यह स्पष्ट कहा है कि सृष्टि रचियता ईश्वर ही मनुष्यों के लिए वेदों में धर्म का उपदेश करता है जिसे जान कर मनुष्य केवल सत्य को ही अपनाते हैं और झूठ का त्याग कर देते हैं। हम स्वयं के बनाए हुए वेद विरोधी भाषणों से बचें, जिसका सुनना तक पाप है। इसी विषय में सांख्य शास्त्र के कपिल मुनि **सूत्र ४/१३** में कह रहे हैं कि वेदाध्ययन और गुरु की भक्ति द्वारा हम उपदेश ग्रहण करें और उतना ही ज्ञान ग्रहण करें जिससे हमारी अष्टांग योग की साधना पूर्ण होवे या हम समाधि अवस्था को प्राप्त कर सकें। अतः वेद-विरुद्ध व्यर्थ का ज्ञान और व्यर्थ की चिकनी चुपड़ी कथा कहानियों में और उनमें भी हँसी-मजाक और नाचने-गाने में न फँसे क्योंकि यह सब वेद विरुद्ध है। इस **सूत्र ४/१३** में ऋषि कह रहे हैं कि जिस प्रकार भंवरा फूलों से केवल जरूरत के मुताबिक रस ही रस ग्रहण करता है और बेकार का फोक छोड़ देता है, उसी प्रकार हम बेकार की बातों से बचें। और इसी बात को शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ के ऋषि ने सीधा ही कह दिया है **"सत्यमेव देवा अनृतं मनुष्याः"** अर्थात् जो मनुष्य सत्य का आचरण करते हैं, वह देव अर्थात् देवता कहलाते हैं और नारी देवी कहलाती है। और जो झूठ का आचरण करते हैं, वह मनुष्य अथवा असुर कहलाते हैं। अतः ईश्वर का जो उपदेश वेदों में है उसे हम वर्तमान के विद्वानों से सुनकर ग्रहण करें। श्रीकृष्ण महाराज यही उपदेश इस श्लोक में संसार को दे रहे हैं जो कि दुःख की बात है कि प्रायः अधिकतर गीता के उपदेश करने वाले भी नहीं समझ पा रहे। जबकि श्री कृष्ण महाराज ने सम्पूर्ण गीता में वैदिक उपदेश दिया है। दुःख की बात है कि टी.

वी. पर एक नारी के चोले में वर्तमान सन्त कह रही है कि वेदों के मन्त्रों को तो ऋषियों ने अपनी तपस्या से दर्शन किया है। अतः वेद तो ऋषियों का विषय है, हम सन्तों का और हम जनता का नहीं है। और अगर हम वेदों का अध्ययन करेंगे तो अज्ञान में और उलझते जाएँगे इसलिए कोई वेदों का अध्ययन न करे और इस विषय में वह रामायण की चौपाई भी सुना रही है कि-

"श्रुति पुरान बहु कहेउ उपाई।
छूट न अधिक अधिक अरूझाई।।"

कि वेदों के अध्ययन से अज्ञान की गाँठ और उलझ जाएगी।

भारतभूमि जो ऋषि-मुनियों की जन्मदात्री रही है, उस पर यह मिथ्यावादी प्रचार कितना भयानक है जो देश को आगे चलकर पूर्णतः विद्याहीन करके बर्बाद कर देगा। जहाँ ईश्वर ऋग्वेद में कहता है कि सूर्य के बिना प्रकाश कभी नहीं हो सकता, उसी प्रकार वेदों के ज्ञान के बिना अज्ञान का नाश नहीं हो सकता। और ज्ञान का प्रकाश नहीं हो सकता। अगर वेदों का उपदेश केवल ऋषियों के लिए ही होता तो ऊपर कहे अग्नि, वायु आदि केवल चार ऋषि ही विद्वान् होते और आगे कोई भी वेदाध्ययन करके ऋषि, जन्म नहीं लेता। अतः हम परंपरागत वेदों का नित्य श्रवण अध्ययन करके ईश्वर को प्रसन्न रखें और विपरीत में झूठे ग्रन्थों का अध्ययन करके, अपनी इन्द्रियों के विषयों को सुखी करके, ईश्वर को नाराज न करें। क्योंकि वेदों के अनेक मन्त्रों की तरह **सामवेद मन्त्र १२९८** स्पष्ट कह रहा है कि उसी नर-नारी को सब प्रकार का सुख और मोक्ष मिलेगा जो **"ऋषिभिः रसम् अध्येति"** अर्थात् जो ऋषियों द्वारा वेदों का अध्ययन करता है, अन्य का नहीं। दूसरी बात इस श्लोक में यह है कि हे अर्जुन! ऐसे वेद के ज्ञाता जो तत्त्व के जानने वाले हैं, उनकी तन, मन, धन, प्राण से सेवा करके, प्रश्नों द्वारा भी ज्ञान को ग्रहण करें अर्थात् यदि कुछ बात समझ नहीं आती तो तुरन्त उसको पूछ कर समाधान कर लें। यजुर्वेद आदि में भी कई जगह मन्त्रों में ईश्वर द्वारा प्रश्न उत्पन्न करके, उनका स्वयं ईश्वर ने उत्तर दिया है। जैसे यजुर्वेद में प्रश्न है **"कः एकाकी चरति"** कौन अकेला चलता है? उत्तर में कहा-**"सूर्यः एकाकी चरति"** अर्थात् आकाश में सूर्य प्रकाश लेकर अकेला चलता है। उसी प्रकार कोई वेदों का विद्वान्, ऋषि मुनि, आज की गाड़ी, काफिलों रहित अकेला ही विचरण करता है और समाज को ज्ञान देता है। अतः जिस प्रकार अर्जुन

ने भी वैदिक रीति से प्रश्न किए हैं, उसी प्रकार जिज्ञासुओं को विद्वान् गुरु से प्रश्न करने का अधिकार है। परन्तु दुःख की बात है कि प्रायः आज के बड़े बड़े गुरु अथवा उनके शिष्य, गूढ़ वैदिक प्रश्न करने वाले प्रश्नकर्ता को या तो हँस कर टाल देंगे और वातावरण में तालियां बजने लगेंगी अथवा प्रश्नकर्ता को अधिकतर गुरु के शिष्य यह कह कर चुप करा देते हैं कि गुरु के सामने बोला नहीं करते। यह धर्म का मामला है। इस पर आँख मूँदकर विश्वास कर लो इत्यादि। यानि की सनातन वेद परंपरा का स्पष्ट उल्लंघन और अपनी तानाशाही लागू और यही कारण है कि हमारे देश में पूजा पाठ तो बहुत है लेकिन शांति की कमी है। विपरीत में भ्रष्टाचार, नारी-अपमान, उग्रवाद और न जाने क्या क्या दुष्कर्म फैलते जा रहे हैं जो कि दशरथ राज्य आदि में नहीं थे क्योंकि उस समय आज की पूजा पाठ तो नहीं थी परन्तु वेदों का ज्ञान घर घर में था। वही वेदों का ज्ञान आज भी भारत वर्ष के प्रत्येक घर में होना चाहिए। इसी बात का संकेत श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में दिया है कि हे अर्जुन! तू सेवा द्वारा वेदों के ज्ञाता, ज्ञानी से उपदेश ग्रहण कर। क्योंकि इससे पहले के श्लोकों में यज्ञ की विधि का ही वर्णन था। अतः प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि हे अर्जुन! यह ज्ञानीजन तुझे वेदों में कहे सब यज्ञ के स्वरूप का उपदेश करेंगे जिसको जानकर तू मोह को प्राप्त नहीं होगा। श्लोक में **"तत्त्वदर्शिनः"** पद का अर्थ वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि कठोर साधना द्वारा अपने अन्दर सत्य का दर्शन करने वाले ऋषि, योगी/ज्ञानी है। यही तत्त्वदर्शिनः पद वाल्मीकि रामायण, **बाल-काण्ड अध्याय १ सर्ग १** में श्रीराम के प्रति प्रयोग किया गया है। श्लोक में वाल्मीकिजी ने कहा है कि श्रीराम धर्मज्ञ, ज्ञाननिष्ठ, पवित्र, जितेन्द्रिय, योग द्वारा समाधि लगाने वाले और वेद तथा वेदांगों को तत्त्व से जानने वाले थे। हमें भी श्रीराम की तरह वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि द्वारा उन जैसे गुण धारण करने हैं।

वैदिक ज्ञान के अभाव में सच्चे गुरु की परिभाषा आज प्रायः जनता को विदित नहीं है। आज प्रायः जो भगवे या सफेद चोला पहने है, केश वा मूँछे बढ़ाए हैं, लंगोटी पहने है, सुल्फा भाँग आदि नशा करता है, कई भव्य आश्रमों का स्वामी है जहाँ भोली जनता की भीड़ इक्ट्ठी की जाती है, वही अधिक से अधिक बड़ा गुरु कहलाता है। ईश्वर तो चमक-दमक, पहनावे, श्रृंगार इत्यादि को कभी भी महत्व नहीं देता। ईश्वर वेदों में कहे गुणों को धारण करने वाले को ही गुरु स्वीकार करता है। तथा अथर्ववेद मंत्र के अनुसार वह गुणों के आधार पर स्वयं ही ऋषि, मुनि, गुरु पद पर तपस्वी को सुशोभित करता

है। अतः वेदों में गुरु की अन्य ही परिभाषा है।

ऋग्वेद मण्डल १० के अनुसार अमैथुनि सृष्टि के आरम्भ में ईश्वर द्वारा चारों वेदों का ज्ञान चार ऋषियों अग्नि, वायु, आदित्य, अंगिरा के हृदय में प्रकट हुआ है। यह परम्परा सनातन है। इस प्रकार सृष्टि के आरम्भ में सर्व-शक्तिमान ईश्वर ही वैदिक ज्ञान का दाता प्रथम गुरु है। इन्हीं ऋग्वेद मन्त्रों के आधार पर पता जलि ऋषि ने योगशास्त्र सूत्र १/२६ में कहा-**"स एषः पूर्वेषामपि गुरु"** अर्थात् ईश्वर हमारे पूर्वजों (ऊपर कहे चार ऋषि) का भी गुरु है। ईश्वर केवल सृष्टि के आरम्भ में वेदों का ज्ञान ऋषियों को देता है। इसके पश्चात यह ज्ञान ऋषियों द्वारा आज तक जनता को दिया जाता है। ईश्वर द्वारा वेदों का ज्ञान देने की सनातन परम्परा स्वयं ईश्वर ने बनाई है। अतः वह विभूति जो वैदिक ज्ञान से युक्त है, जिसमें ज्ञानकाण्ड (विज्ञान एवं पदार्थ विद्या) कर्म काण्ड तथा उपासना काण्ड अर्थात् तिनके से लगाकर ब्रह्म तक का ज्ञान वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास द्वारा प्राप्त है, वेदों के अनुसार वह ही प्रमाणिक गुरु, संन्यासी, यति, सन्त है। ऐसे वेदज्ञ आचार्य ही पुनः वैदिक शुभ कर्म जैसे यज्ञ, अष्टाँग योग-विद्या, जप, तप, गृहस्थ, समाज एवं संसार के प्रति कर्त्तव्य-कर्म जो वेदों में वर्णित हैं, उनका ज्ञान शिष्यों को देकर उनसे आचरण कराते हैं। श्रीकृष्ण महाराज ने ऐसे वेदज्ञ गुरु के पास जाकर उनकी सेवा करके तत्त्व-ज्ञान प्राप्त करने की बात **श्लोक ४/३४** में कही है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।"

(गीता श्लोक ४/३५)

(पाण्डव) हे पाण्डव **(यत्)** जिसे **(ज्ञात्वा)** जानकर **(पुनः)** फिर तू **(एवम्)** इस प्रकार के **(मोहम्)** मोह को **(न)** नहीं **(यास्यसि)** प्राप्त होगा **(येन)** जिस ज्ञान को जानकर तू **(भूतानि)** सब प्राणियों को **(अशेषेण)** बिना कोई शेष रहे अर्थात् पूर्ण रूप से **(आत्मनि)** परमात्मा में **(अथो)** और उसके बाद **(मयि)** मुझमें **(द्रक्ष्यसि)** देखेगा।

अर्थः- हे पाण्डव! जिसे जानकर अर्थात् पिछले श्लोकानुसार ज्ञान जानकर फिर तू इस प्रकार के स्व सम्बन्धियों से मोह को नहीं प्राप्त होगा, और जिस ज्ञान को जानकर तू सब

प्राणियों को बिना कोई शेष रहे अर्थात् पूर्ण रूप से परमात्मा में और उसके बाद मुझमें देखेगा।

भावार्थः- **यजुर्वेद मन्त्र ४०/६** में कहा है कि हे जीव जब तू यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि के बाद समाधि अवस्था में सब संसार को मुझमें और मुझको (ईश्वर को) सब संसार में देख लेगा तब तुझे ब्रह्म विद्या/संसार आदि के बारे में कोई भी संदेह नहीं रह जाएगा। इसी बात का कुछ आशय **गीता श्लोक ७/१९** में इस प्रकार है कि हे अर्जुन! जब कई जन्मों से लगातार कोई ईश्वर के ध्यान में बैठा योगाभ्यास कर रहा है तो अन्त में किसी जन्म में उसे सबमें ईश्वर ही दिखाई देने लगता है। ऐसा महात्मा संसार में दुर्लभ है। आज इस भूमि पर ऐसे वेद विरोधी महात्मा हैं जो पढ़ सुन रटकर मिथ्या व्याख्यानों द्वारा यह सिद्ध कर देते हैं कि उन्होंने (महात्मा ने) ईश्वर का साक्षात्कार, बिना वेद सुने और बिना योगाभ्यास के कर लिया है और जनता को वेद सुनने, यज्ञ करने व योगाभ्यास करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अथवा कोई-कोई महात्मा योग के कुछ आसन लगवाकर पैसे कमा रहे हैं। योग शब्द का ही अर्थ समाधि है न कि आसन आदि। पुनः इस श्लोक में यह ज्ञान है कि हे अर्जुन! तेरा मोह तब भंग होगा और तब ही तुझे ईश्वर में सब प्राणी दिखाई देंगे। तब तू इससे पिछले श्लोक में कहे अनुसार किसी वेद जानने वाले, वेद में कहे कई प्रकार के यज्ञों को जानने वाले विद्वानों की सेवा करके उनसे उन यज्ञों के स्वरूप को जान लेगा और यदि तू विद्वानों से वेदों में कहे योग यज्ञ के स्वरूप को नहीं जानेगा और उन यज्ञों को नहीं करेगा तो तू ईश्वर के बारे में कुछ नहीं जानेगा। **केनोपनिषद श्लोक ४/८** में यही बात कही है कि केवल पढ़ सुन रटकर ईश्वर का व्याख्यान करना, ब्रह्म विद्या का अनादर है जिसका पाप सुनाने वाले और सुनने वाले दोनों को लगता है। उपनिषद् ने ब्रह्म विद्या का आधार चारों वेदों में कही ब्रह्म विद्या को कहा है जिसको सुनकर और उस ब्रह्मविद्या पर चलकर जीव परम शांति को प्राप्त करता है। झूठी कहानियाँ सुन सुनकर देश में भ्रष्टाचार उत्पन्न हो जाता है। एक और मार्मिक बात इस श्लोक में है कि श्रीकृष्ण यहाँ कह रहे हैं कि जब तू विद्याध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा सब प्राणियों को ईश्वर में देखेगा तो तू उन सबको मेरे अन्दर भी देखेगा। अर्थात् योगियों के अन्दर ही सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड एवं ईश्वर प्रकट होता है, यह बात चारों वेदों में कही है। जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/६** में है। पिछले **श्लोक ४/३४** में जिस विद्वान् गुरु के पास जाने का उपदेश श्रीकृष्ण ने कहा है वह "तत्त्वदर्शिनः" गुरु है अर्थात् समाधि में ईश्वर

का साक्षात्कार किए हुए गुरु का उल्लेख है। ऐसे ही गुरु के बारे में सभी वेदों में कहा गया है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** में कहा है कि जिस ईश्वर को जानकर योगीजन सब प्राणियों से अपनी आत्मा के समान ही व्यवहार करते हैं अर्थात् दूसरों के सुख-दुःख को अपना ही सुख-दुःख मानते हैं, ऐसे योगीजन योगाभ्यास के पश्चात् **"एकत्वम् अनुपश्यतः"** अपने अन्दर ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं और ऐसे योगी को आगे वेद कह रहा है **"कः मोहः"** मोह कैसे हो सकता है और **"कः शोकः"** उस योगी को क्लेश कैसे हो सकता है क्योंकि उसने तो योगाभ्यास आदि द्वारा समाधि में ईश्वर का साक्षात्कार करके सब क्लेशों और कर्मों का नाश कर लिया है। अतः अब यदि हम प्रायः वेद-शास्त्र विरोधी सन्तों से झूठे व्याख्यान सुनते हैं तो भक्ति आदि करने के पश्चात भी घोर विपदाओं में डूबे रहते हैं। अतः जीवन सदा सत्यवादी विद्वानों के उपदेशों पर ही आधारित करना चाहिए। तभी इस श्लोक के यह वाक्य सत्य होंगे कि जीव ऐसे विद्वानों की सेवा करके, विद्वानों की तरह न तो दुबारा मोह में फँसेगा और सब प्राणियों को ईश्वर में देखेगा। पहले शब्द ब्रह्म अर्थात् वेद सुनने के द्वारा और उसके पश्चात समाधि में दर्शन के द्वारा। अतः वेदों एवं योग विद्या के ज्ञाता विद्वानों की शरण अति आवश्यक कही है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि।।"

(गीता श्लोक ४/३६)

(चेत्) यदि तू **(सर्वेभ्यः)** सब **(पापेभ्यः)** पापियों से **(अपि)** भी **(पापकृत्तमः)** अधिक पाप करने वाला **(असि)** है फिर भी **(एव)** निःसन्देह तू **(ज्ञानप्लवेन)** ज्ञानरूपी नौका द्वारा **(सर्वम्)** सब **(वृजिनम्)** को **(संतरिष्यसि)** अच्छी तरह पार कर लेगा।

अर्थः- यदि तू सब पापियों से भी अधिक पाप करने वाला है फिर भी निःसन्देह तू ज्ञानरूपी नौका द्वारा सबको अच्छी तरह पार कर लेगा। अर्थात् पापी को ही तरने के लिये वेद के ज्ञाता विद्वान् की आवश्यकता है।

भावार्थः- अथर्ववेद में सबसे बड़ा पापी तो उसे कहा है जो वेदवाणी को अपनाकर अपने जीवन के सब पापों को नष्ट नहीं कर लेता। प्राचीनकाल के सभी ऋषियों, राज-ऋषियों और प्रजाओं ने अर्जुन की तरह योगेश्वर श्रीकृष्ण जैसी ही विभूतियों से वेदों का उपदेश सुनकर ज्ञान प्राप्त किया और उसी ज्ञान रूपी नौका में बैठकर, पापमुक्त होकर, संसार सागर से पार हो गए।

चारों वेद तो पूर्णतः ईश्वरीय वाणी हैं। संसार रचना के पश्चात आज तक जितना भी ज्ञान निकला और धार्मिक किताबों में छपा, उन सबका आधार चारों वेद ही हैं। वेद में ही कई जगह, श्रीकृष्ण द्वारा कहे गए इस श्लोक की भांति, ज्ञान रूपी नौका अथवा ज्ञान रूपी रथ में बैठने की बात कही गई है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१३५/४** का भाव है कि जीवात्मा वेदों के विद्वानों से आध्यात्मिक सुख प्राप्त करने के लिए इस तरह ज्ञान प्राप्त करता है कि जैसे एक नौका में रथ रख दिया है और उस रथ को नौका नदी से पार कर रही है। अर्थात् नौका में रखा रथ स्वयं नहीं चलता अपितु पानी में नाव चल रही है। इसे ही मन्त्र में कहा **"नावि समाहितम्"** अर्थात् जिज्ञासु (जीवात्मा) विद्वानों से वेदों का ज्ञान लेकर, नौका में रखे रथ की भांति अपने शरीर रूपी रथ को चलाता है। अर्थात् जिज्ञासु अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, मन, बुद्धि के परिश्रम से, विद्वानों की सेवा द्वारा जब ज्ञान ज्ञाप्त कर लेता है या ज्ञान प्राप्त करने लग जाता है तो मानो वह ज्ञान रूपी नौका में सवार हो गया है। और यह ज्ञान उसके समस्त पापों को नष्ट कर देता है और जिज्ञासु संसार रूपी सागर से पार हो जाता है। अतः मनुष्य इस शरीर से सदा आध्यात्मिक विद्या को प्राप्त करने का प्रयत्न करता रहे और आध्यात्मिक मार्ग पर सदा आगे बढ़ता रहे। इस मार्ग में आलस्य, पुरुषार्थहीनता कभी न आने दे। यह मज़में लगाने वाला मार्ग नहीं है कि कोई कथा कहानियाँ सुनाकर, हँसाकर कहे कि ऐसे सत्संग से तर जाओगे। ऐसी कथा कहानियाँ किसी ऋषि-मुनि, श्रीकृष्ण, श्रीराम आदि ने जनता को कभी नहीं सुनाई थीं। चारों वेद और छः शास्त्र आदि सद्ग्रन्थ, **अथर्ववेद मन्त्र ६/६२/२ और ६/६३/२** में कही सत्य वाणी कह रहे हैं कि प्राणी ईश्वर द्वारा वेदवाणी में दिए सत्य ज्ञान को प्राप्त करें और इस ज्ञान द्वारा समस्त पापों का नाश करें। इस श्लोक में जिस ज्ञान रूपी नौका का वर्णन श्रीकृष्ण महाराज कर रहे हैं, उसका वर्णन चारों वेदों में है। जैसे कि **अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त ३५** में इसे ब्रह्मौदनम् कहा है। **"औदनम्"** का अर्थ संस्कृत में खिचड़ी है। "ब्रह्मौदनम्" का अर्थ हुआ ब्रह्म रूपी खिचड़ी अर्थात् ब्रह्म का

भोजन। ब्रह्म के भोजन से अर्थ है ब्रह्म का ज्ञान जो वेदों में है। भाव यह है कि चारों वेदों रूपी ब्रह्मौदनम् (खिचड़ी) के ज्ञान को प्राप्त करके **"तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि"** उस ब्रह्मौदनम् यानि वेदों के ज्ञान द्वारा हम मृत्यु को पार कर लेते हैं। भोजन दो प्रकार के हैं-भौतिक एवं आध्यात्मिक। शरीर को स्वस्थ रखने के लिए और लम्बी आयु के लिए तो भौतिक भोजन जिसमें फल, दूध, घी, रोटी, चावल आदि आता है और शरीर को ढकने के लिए कपड़े, रहने के लिए मकान आदि होता है और इन सबके लिए मनुष्य मेहनत करके पैसा कमाता है, जो कि आवश्यक भी है। लेकिन जीवात्मा अविनाशी तत्त्व है जो शरीर में रहता है। जीवात्मा को भौतिक भोजन, मकान, दुकान, कार-बंगले, सोना-चाँदी इत्यादि नहीं चाहिए। जीवात्मा तो सोता भी नहीं है, यह सब आवश्यकताएँ तो शरीर की हैं। जीवात्मा को जो भोजन चाहिए वह आध्यात्मिक भोजन वेदों का ज्ञान है। जिस तरह शरीर को यदि भौतिक भोजन नहीं मिलेगा तो वह सूख जाएगा, भूख महसूस करेगा और एक दिन यह शरीर मृत्यु को प्राप्त हो जाएगा। उसी प्रकार यदि जीवात्मा को ब्रह्मौदनम् (वेदों का ज्ञान) नहीं मिला और इस प्रकार वह वेदों की ज्ञान रूपी नाव में सवार नहीं हुआ तो जीवात्मा चितिंत, दुःखी और शरीर द्वारा रोगों का अनुभव करता है और इस ज्ञान के बिना यह जीवात्मा अपने सुख, शान्त स्वरूप को भूला हुआ है। सदा दुःखों को अनुभव करता है। इसीलिए ऊपर कहे ऋग्वेद मन्त्र में कहा कि ऐ जीवात्मा। जब तू विद्वानों से वेदों का ज्ञान प्राप्त करता है तो मानो तू ज्ञान रूपी नौका पर चढ़ गया है और निश्चित ही तू संसार रूपी सागर से तर जाएगा। अर्जुन की स्थिति भी यही है कि बिना वेदों के पूर्ण उपदेश के वह संसार के मोह और अविद्या में फँसा हुआ कर्म (धर्मयुक्त युद्ध) को नहीं समझ पा रहा है। परन्तु ज्योंहि श्रीकृष्ण महाराज ने उसे वेदों का ज्ञान दिया और उसका कर्त्तव्य समझाया, यज्ञ के स्वरूप समझाए, योग विद्या का रहस्य समझाया तब अर्जुन ने धर्मयुद्ध किया और शेष जीवन यज्ञ और तपस्या में बिताकर भवसागर को पार किया। आज हमारा दुर्भाग्य यह है कि वेदों के ज्ञाता द्वारा गीता का सच्चा व्याख्यान सुनना असम्भव सा होता जा रहा है और वेद विद्या से हीन वेद विरोधी गीता के श्लोकों का झूठा अर्थ करके जनता में अविद्या फैलाए जा रहे हैं। हमें कर्म, उपासना एवं ज्ञान के सत्य स्वरूप को जानने के लिए पुनः वेदों की ओर लौटना होगा।

इस श्लोक का अर्थ यह नहीं है कि कोई ज्ञान रूपी नौका से पापों का नाश करके

तर जाएगा और हम ज्ञान के स्वरूप का मनघड़न्त रूप से व्याख्यान करें। यह श्लोक पिछले श्लोकों से जुड़ा हुआ है और पिछले श्लोक यज्ञ, विद्या एवं योगाभ्यास से जुड़े हुए हैं। अतः ज्ञान रूपी नौका का यहाँ भाव यही है कि हे अर्जुन! जब तू विद्वानों से यज्ञ के स्वरूप को समझकर यज्ञ करेगा और कर्म के स्वरूप को समझकर शुभ कर्म तपस्या, धर्माचरण आदि करेगा फलस्वरूप ही तू भवसागर से तरेगा।

श्रीकृष्ण उवाच–

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।"

(गीता श्लोक ४/३७)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(यथा)** जैसे **(समिद्धः)** प्रज्जवलित **(अग्निः)** अग्नि **(एधांसि)** ईन्धन को जलाकर **(भस्मसात्)** भस्म-राख **(कुरुते)** कर देता है **(तथा)** उसी प्रकार **(ज्ञानाग्निः)** ज्ञान रूपी अग्नि **(सर्वकर्माणि)** सब कर्मों को **(भस्मसात्)** भस्म **(कुरुते)** कर देती है।

अर्थः– हे अर्जुन! जैसे प्रज्जवलित अग्नि ईन्धन को जलाकर भस्म-राख कर देता है, उसी प्रकार ज्ञान रूपी अग्नि, सब कर्मों को भस्म कर देती है।

भावार्थः– पीछे तेंतीसवें श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने ज्ञान प्राप्त करने के लिए वेदविद्या के महर्षियों की शरण में जाकर, उनकी सेवा करने की आज्ञा दी है। और कहा कि तभी वह ऋषि सेवा से प्रसन्न होकर तुझे ज्ञान का उपदेश देंगे। इस श्लोक में यह बात कही कि उस ज्ञान के द्वारा सब कर्मों का नाश हो जाएगा। जब कर्म ही नहीं रहेंगे तब कर्म भोगने का प्रश्न ही नहीं उठता और जीव परम आत्मिक सुख में लीन हो जाएगा। सेवा एक शुभ कर्म है और यजुर्वेद आदि ने यज्ञ, योगाभ्यास, माता-पिता, गुरुओं की सेवा आदि की प्रेरणा दी है क्योंकि ऐसे शुभ कर्म किए बिना ज्ञान उत्पन्न नहीं हो सकता। ज्ञान का यहाँ अर्थ है-जड़-चेतन का ज्ञान अर्थात् जीव और ब्रह्म चेतन तत्त्व हैं और तीसरा जड़ तत्त्व प्रकृति है, जिससे यह सारा जड़ संसार बना है। अतः ईश्वर, जीव एवं प्रकृति के स्वरूप को जानने के लिए, गुरु के अधीन रहकर, वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि द्वारा गृहस्थाश्रम में भी रहकर समाधि अवस्था प्राप्त करनी है क्योंकि अष्टांग योग

की आठवीं अवस्था समाधि है और इसी में ही जीव, ब्रह्म एवं प्रकृति का रहस्य अनुभव होता है। **सामवेद मन्त्र ७६३ और ७६४** में इसी ज्ञान को पाने के लिए ईश्वर ने प्राणायाम जैसी विद्या का उपदेश किया है। श्रीकृष्ण महाराज ने भी पिछले अध्यायों में यज्ञ के स्वरूप और प्राणायाम के स्वरूप का वर्णन किया है और गुरु द्वारा यह ज्ञान प्राप्त करके जीव, ब्रह्म और संसार के स्वरूप को जानने की बात कही है और उस ज्ञान का संकेत इस श्लोक में यह कह कर दिया कि हे अर्जुन! जब तू वेद के ज्ञाता, गुरु की सेवा से यह यज्ञ, प्राणायाम आदि सम्पूर्ण योग विद्या का ज्ञान प्राप्त कर लेगा तो गुरु के दिये हुए ज्ञान द्वारा तेरे सम्पूर्ण कर्मों का नाश हो जाएगा। उस ज्ञान से कर्मों का नाश इस प्रकार शीध्रता से होगा जैसे जलती हुई अग्नि में कोई समिधाओं को डालता है तो वह समिधा रूपी ईंधन तुरन्त ही जल कर राख हो जाता है। इसी सत्य को तुलसीदास जी ने वेदों से निकाल कर इस प्रकार कहा है- **"जोग अगिनि करि प्रगट तब कर्म सुभासुभ लाई"**।

अर्थात् जब गुरु द्वारा दिए गए ज्ञान से हम ऊपर गीता में कहे यज्ञ, वेदाध्ययन और प्राणायाम आदि की यौगिक क्रिया करते हैं तो हमारे शरीर में एक योग-अग्नि अर्थात् ज्ञान की अग्नि प्रकट होती है जिसके फलस्वरूप मूर्धा का द्वारा खुलता है, ब्रह्म अवस्था प्राप्त होती है और सब कर्म उस योगाग्नि में जलकर भस्म हो जाते हैं। सब कर्मों का भाव है- शुभ और अशुभ, दोनों ही कर्म नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि यदि एक शुभ कर्म भी शेष रहे तो उस कर्म को भागने के लिए भी दूसरा जन्म लेना पड़ता है। अतः सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं और जीव मोक्ष सुख को प्राप्त कर लेता है। यह सब ज्ञान वेदों में है और इसका उपदेश वेदों के ज्ञाता, ऋषि देते हैं। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३५/१** में इस ज्ञान को **"ब्रह्मौदनम्"** अर्थात् **"ब्रह्म रूपी भोजन"** कहा है। जिस प्रकार शरीर का भोजन अन्न आदि है उसी प्रकार जीवात्मा का भोजन वेदों में कहा ब्रह्म ज्ञान है। जिसे अथर्ववेद ने ब्रह्मौदनम् कहा है और अथर्ववेद का यह मन्त्र कह रहा है **"प्रजापतिः यम् ओदनम् ब्रह्मणे अपचत्"** अर्थात् जिस ब्रह्म ज्ञान को ईश्वर ने सृष्टि के आरम्भ में प्राणियों के लिए बताया **"तेन ओदनेन मृत्युम् अतितराणि"** उस ब्रह्म ज्ञान को प्राणी वेद के ज्ञाता, ऋषियों से प्राप्त करके, मृत्यु संसार सागर से पार हो जाता है। गीता सहित सम्पूर्ण सद्ग्रन्थों में वेदों में कहे ब्रह्मज्ञान को ही प्राप्त करने का संकेत किया गया है, परन्तु दुर्भाग्यवश आज के अधिकतर मिथ्यावाद और अन्धविश्वास ने उस ब्रह्मज्ञान को पाने के मार्ग से जनता

को भटका दिया है। प्रायः जनता मिथ्या बहकावे में आकर आज यज्ञ, योगाभ्यास और वेद सुनने जैसे पवित्र तप से दूर होती जा रही है। जनता वेद विरोधी पाखण्ड रूपी कथा कहानियाँ और मिथ्यावाद को सुनकर घोर अज्ञान रूपी अन्धकार में प्रवेश करके दुःखों के सागर में गोता लगा रही है। हमें अपनी वाल्मीकि रामायण, गीता, महाभारत, शास्त्र, उपनिषद आदि सद्ग्रन्थों को वेदविरोधी तत्त्वों से कदापि नहीं सुनना चाहिए क्योंकि वह वेदों के ज्ञान को न जानने के कारण, शास्त्रों के अर्थ नहीं अपितु मनघढ़न्त अनर्थ सुनाते हैं और वेद कठिन हैं तथा यज्ञ केवल कामना पूर्ति के लिए होते हैं, ऐसा कह कर सत्य मार्ग से सदा के लिए जनता को दूर कर देते हैं। हमें गीता, शास्त्र आदि के सत्य अर्थों को सुनकर ही शांति प्राप्त होगी और यह सत्य अर्थ, वेदों के ज्ञाता कोई विद्वान् ही सुना सकते हैं, अन्य नहीं। इसलिए सभी वेदों ने, जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०** में कहा कि विद्या को हम सदा वेदों के ज्ञाता और योग विद्या में प्रवीण, ध्यान लीन ऋषियों से ही सुनें, अन्य से नहीं। ऐसे गुणवान विद्वान् को ही गीता में गुरु कहा है। अन्य के लिए तो ऋग्वेद कहता है- **"न चिकेत अन्धसः"** अर्थात् जो वेद एवं योगविद्या को नहीं जानते, वे तो स्वयं ज्ञान न होने के कारण अन्धे हैं और कपिल मुनि ने अपने **सांख्य शास्त्र सूत्र ३/७८ और ३/८१** में कहा **"जीवन्मुक्तश्च"** और **"इतरथाऽन्धपरम्परा"** कि यदि वेद एवं योग विद्या के ज्ञाता, जीवित ऋषि पृथिवी पर नहीं रहे तो अन्धों की परंपरा शुरु हो जाएगी। क्योंकि ऐसे ज्ञान के अन्धे, मनघढ़न्त झूठे अर्थों का उपदेश करेंगे और जनता भी ज्ञान से अन्धी होती चली जाएगी। फलस्वरूप आने वाली पीढ़ियाँ की पीढ़ियाँ अंध ापरंपरा में शामिल होती जाएँगी। इन सब बातों से पुनः कठोपनिषद् के ऋषि का यह वचन स्वतः ही याद हो आता है-**"दुर्गम पथः कवयो वदन्ति"** कि यह ज्ञान मार्ग दुर्गम अर्थात् अत्यन्त कठिन है अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि कठोर नियमों को पालन करके वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि साधना पर आधारित है। और यह कठिन तप करना साधारण व्यक्ति को पसन्द नहीं है। जब जीवन में यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास नहीं रहा तो झूठ के अतिरिक्त और क्या रह गया? अर्थात् फिर तो जीवन में झूठ और मिथ्यावाद ही रह जाता है। और जनता मिथ्यावादी सन्तों के बहकावे में आकर अन्धपरंपरा में शामिल हो जाती है। अतः हमें प्राचीनकाल के ऋषि-मुनियों, हरिश्चन्द्र, दशरथ आदि राजर्षियों की भांति सत्य स्थापित करने के लिए पुनः वेद विद्या की ओर लौटना होगा। पीछे श्लोक ४/३४ में श्रीकृष्ण महाराज ने वेदों के जानने वाले विद्वानों की सेवा द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त

करने की बात कही है। उसी ही संदर्भ से श्री कृष्ण यहाँ अर्जुन से कह रहे हैं कि वेद, यज्ञ एवं योग-विद्या आदि का ज्ञान विद्वान् से प्राप्त करके जब साधक कठोर अभ्यास करता है तब उसके अन्दर ज्ञान रूप अग्नि प्रकट होकर साधक के सम्पूर्ण कर्मों को भस्ममय कर देती है। शीघ्रता से कर्म ऐसे जलकर राख होते हैं जैसे प्रज्जवलित अग्नि में ईंधन डालने पर वह ईंधन तुरन्त जलकर राख हो जाता है। ईंधन चाहे कितने ही वर्षों पुराना हो परन्तु अग्नि उसे भस्ममय कर देती है। उसी प्रकार योगाग्नि अर्थात् ज्ञानाग्नि भी जन्म-जन्मातंरों से जुड़े संचित एवं प्रारब्ध कर्म, सबको भस्ममय कर देती है। अतः वेदज्ञ ऋषि-आचार्य से वैदिक ज्ञान प्राप्त करके जीव को कठोर अभ्यास द्वारा अपने हृदय में ज्ञानाग्नि प्रकट करनी चाहिए। और आज के मिथ्यावाद, पाखण्ड और अंधविश्वास से सदा दूर रहने का प्रयत्न करना चाहिए।

श्रीकृष्ण उवाच–

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।"

(गीता श्लोक ४/३८)

(इह) इस संसार में **(ज्ञानेन)** ज्ञान के **(सदृशम्)** समान **(हि)** निःसंदेह **(पवित्रम्)** पवित्र **(न)** कुछ नहीं **(विद्यते)** विद्यमान है। **(तत्)** उस ज्ञान को **(कालेन)** पुरातन काल से **(योग संसिद्धः)** योग-विद्या में सिद्धि प्राप्त पुरुष **(स्वयं)** स्वयं ही **(आत्मनि)** आत्मा में **(विन्दति)** जान लेता है।

अर्थः- इस संसार में ज्ञान के समान निःसंदेह पवित्र कुछ नहीं विद्यमान है उस ज्ञान को पुरातन काल से योग-विद्या में सिद्धि प्राप्त पुरुष स्वयं ही आत्मा में जान लेता है।

भावार्थः- किसी स्मृति का वचन है-**'येशां न विद्या तपो न दानम् न ज्ञानम् न ध्यानम्, ते मृत्यु लोके भुवि भार भूता मनुष्यरूपेण मृगाः चरन्ति'** अर्थात् मनुष्य शरीर धारण करके जिसने वेदों के ज्ञाता गुरु की भक्ति द्वारा वेदों का ज्ञान और वेदों में कही योग-विद्या को प्राप्त करके ध्यान आदि की क्रियाएँ नहीं की और इस प्रकार ज्ञान प्राप्त नहीं किया तो वह भूमि के ऊपर भार है। शरीर तो मनुष्य का है लेकिन ईश्वर और विद्वानों की दृष्टि में वह जानवर है। कुछ ऐसा ही इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज कह

रहे हैं कि हे अर्जुन! ज्ञान के समान पवित्र करने वाला इस संसार में और कुछ भी नहीं है। समस्त काम जीवात्मा का बुद्धि के द्वारा चलता है। जितना भी पाप मनुष्य करता है, वह भ्रष्ट बुद्धि के द्वारा करता है क्योंकि मनुष्य की भ्रष्ट बुद्धि ने कभी वेदों के ज्ञाता गुरु की भक्ति के द्वारा वेदों का शुद्ध ज्ञान नहीं सुना, जिस कारण वह अपवित्र है। अर्थात् जीवात्मा के ऊपर काम, क्रोध, मद, लोभ अहंकार आदि असंख्य बुराइयों का पर्दा पड़ गया है और जीवात्मा अपने शुद्ध, चेतन स्वरूप को नहीं जान पा रहा। जीवात्मा को अपनी पवित्रता को जानने के लिए इस अज्ञान के पर्दे को हटाना आवश्यक है। यह अज्ञान का पर्दा ज्ञान प्राप्त करके ही हटाया जा सकता है। बिलकुल ऐसे जैसे रात्रि का अंधकार केवल सूर्य के उदय होने से ही दूर होता है। अन्य कोई साधन काम नहीं आता। **यजुर्वेद मंत्र ३१/१८** भी यही सत्य कहता है-**'वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।।'** अर्थात् जिज्ञासु कहता है कि मैं जिस सृष्टि रचयिता और हमारे शरीरों को रचने वाले परमेश्वर को जानता हूँ, वह सूर्य के समान ज्योतिस्वरूप एवं स्वयं प्रकाशक हैं। उस परमेश्वर में अज्ञान लेश मात्र भी नहीं है। वह आनन्दस्वरूप है और ऐसे परमेश्वर को जानकर ही क्लेश रूपी मृत्यु को पार किया जाता है। इसके अतिरिक्त मोक्ष पाने का और कोई दूसरा मार्ग नहीं है। अर्थात् जिस प्रकार सूर्य में प्रकाश है तभी प्रातःकाल सूर्य के प्रकाश से अन्धकार दूर हो जाता है, उसी प्रकार निर्भ्रान्त, ज्ञानस्वरूप ईश्वर है अर्थात् सब अनन्त विद्याओं का ज्ञाता है और ईश्वर को अपने ज्ञान में तनिक भी भ्रान्ति नहीं है। ईश्वर ने संसार के कल्याण के लिए दोष व भ्रान्ति रहित चारों वेदों का ज्ञान दिया है। इसी ज्ञान को प्राप्त करके जीव अपने ऊपर से ऊपर कहे काम-क्रोधादि अज्ञान रूपी पर्दे को हटाकर पवित्र हो जाता है और यही बात श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में कह रहे हैं। इस ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पदार्थ ज्ञान, कर्म एवं उपासना की आवश्यकता चारों वेदों में कही है। अतः इस श्लोक का भी मनघढ़न्त अर्थ यह निकालना कि केवल ज्ञान में मुक्ति है और कर्म तथा उपासना की आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहना वेद एवं भगवद् गीता के विरुद्ध होने के कारण मिथ्यावाद है-झूठ है। यजुर्वेद सम्पूर्ण कर्मों का ही ज्ञान दे रहा है। इस वेद में विद्यार्थी, बेटा-बेटी, माता-पिता, आचार्य, कृषक, राजनेता, न्यायकर्ता, सैनिक, पुलिस, पशु पालन विभाग, मकान बनाना, खेती करना, भोजन बनाना, विवाह, ब्रह्मचर्य, विज्ञान, गणित, इत्यादि, इत्यादि, असंख्य कर्मों को करने का उपदेश किया है। और यजुर्वेद के

अंतिम अध्याय चालीसवें अध्याय के मंत्र दो में स्पष्ट कह दिया है कि जीव वेदानुकूल शुभ कर्मों को करता-करता ही सौ वर्ष से अधिक निरोग आयु को प्राप्त होए और इस प्रकार शुभ कर्मों को करते-करते ही जीव शुभ और अशुभ कर्मों के बन्धन से छूट जाता है। इस मन्त्र में साथ ही ईश्वर ने कह दिया कि पाप-युक्त आदि सभी कर्मों में लिप्त न होने के लिए जीव वेदानुकूल शुभ कर्म करे क्योंकि वेदानुकूल शुभ कर्मों को करने के अतिरिक्त कर्म बन्धनों में लिप्त न होने का और कोई मार्ग नहीं है। भाव यह है कि शुभ कर्म करके ही प्राणी कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करेगा। इसके अतिरिक्त और कोई मार्ग मोक्ष प्राप्ति का नहीं है। परन्तु हमारा दुर्भाग्य है कि आज प्रायः अधिकतर सन्तों ने मिथ्यावाद द्वारा यह धारणा पैदा कर दी है कि सुख-शांति एवं मोक्ष प्राप्त करने के लिए केवल ज्ञान की आवश्यकता है, कर्म करने की आवश्यकता नहीं है तथा यज्ञ, योगाभ्यास इत्यादि उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। इसी मिथ्या धारणा के कारण प्रायः जनता सत्संग सुनकर पूजा-पाठ करके अल्पायु वाली, रोग ग्रस्त, परेशान एवं दुःखों के सागर में डूबी रहती है जिसपर ऐसे सन्त कह देते हैं कि यह तुम्हारी परीक्षा चल रही है-भगवान तुम्हारी परीक्षा ले रहा है। यह भी कह देते हैं कि भक्तों पर तो कष्ट आने ही हैं, डरो मत। क्या चारों वेदों में कहीं ऐसा एक भी अक्षर आया है जिसमें भगवान ने कहा कि मैं तुम्हारी परीक्षा लूँगा। यह सब अज्ञान केवल वेद न सुनने के कारण ही है। हमें सत्य स्थापित करने के लिए पुनः वेदों की ओर लौटना होगा। **ऋग्वेद मन्त्र १/२४/१२** में अति सुन्दर भाव है कि ईश्वर एवं वेद का ज्ञाता विद्वान् हमारे पाप एवं अधर्म नाश करने के लिए ज्ञान का उपदेश करते हैं। वह ज्ञान क्या है इस विषय में अगला ही मन्त्र कहता है कि वह वेदों का ज्ञाता विद्वान् **"त्रिशु आदित्यं अह्व्"** अर्थात् वह विद्वान् वेदों में कही **"त्रिशु"** तीन विद्याएँ अर्थात् कर्म, उपासना, ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों के प्रति परमेश्वर का आह्वान करता है। यह तीनों विद्याएँ जो संसार से छुपी हुई होती हैं, उन तीनों को मनुष्यों के हृदय में प्रकट करता है। तब ईश्वर कृपा से मनुष्य के कर्मों के बन्धन नष्ट होते हैं।

प्रस्तुत श्लोक में वेदों में कही तीनों विद्याओं में जो ज्ञान है, इसी ज्ञान को श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि हे अर्जुन! इस संसार में ज्ञान के समान पवित्र करने वाला निःसन्देह अन्य कुछ भी नहीं है। इसी वैदिक ज्ञान को वेद के ज्ञाता (तत्त्वदर्शिनः) विद्वान् (ज्ञानी) के पास जाकर उसकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त करने की बात श्रीकृष्ण महाराज

अर्जुन को कह रहे हैं। अब यदि कोई वेद विरुद्ध होकर यह कहे कि वेद मत सुनो, यज्ञ मत करो अथवा कर्म की आवश्यकता नही है, उपासना की भी आवश्यकता नहीं है, केवल ज्ञान में मुक्ति है अथवा केवल उपासना (भक्ति) में मुक्ति है अथवा जीव ही ब्रह्म है इत्यादि तो यह सब वेद एवं भगवद् गीता के विरुद्ध मिथ्यावाद है। यह सब मिथ्यावाद वह लोग फैला रहे हैं जिन्होंने केवल वेद विरुद्ध अनार्ष ग्रन्थों का ही अध्ययन किया है और फलस्वरूप वह धनवान होने के पश्चात भी मानसिक एवं शारीरिक रोगों से भरपूर रहते हैं एवं दुःखी रहते हैं। जनता भी मिथ्यावाद इसलिए सुनती है क्योंकि भोली जनता ने भी प्रायः वेद नहीं सुने। अतः मिथ्यावाद को ही जनता सत्य मान लेती है। परन्तु जैसे ही कोई जिज्ञासु ईश्वर प्रदत्त अनादि एवं अविनाशी वेद विद्या को वेदों के विद्वानों से सुनना प्रारम्भ करता है, तुरन्त ही उसकी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश प्रकट होने लगता है और उसके अन्दर का अज्ञान रूपी अन्धकार इस प्रकार छट जाता है अर्थात् नष्ट हो जाता है जैसे कि प्रातःकाल सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्धकार तुरन्त नष्ट हो जाता है। अन्धकार इस प्रकार नष्ट होता है जैसे गधे के सिर से सींग। आज जनता को, चाहे वह किसी भी मज़हब में है, उसे ईश्वर की दी हुई वेदविद्या को केवल सुनना है। सुनने के पश्चात सत्य एवं असत्य का निश्चय तो स्वयं मनुष्य की बुद्धि कर ही लेगी। सत्य का निश्चय कराने के लिए मिथ्यावादियों की तरह वेद के ज्ञाता, विद्वानों को अप्रमाणिक एवं रोचक कथा अथवा अन्य झूठ का आश्रय लेकर कठोर परिश्रम नहीं करना पड़ता, जोर लगाना नहीं पड़ता, मिथ्यावादियों की तरह चिल्लाना नहीं पड़ता, क्रोध करना नहीं पड़ता, लड़ना नहीं पड़ता, झूठे वक्तव्य नहीं देने पड़ते, रोचक संगीत का सहारा नहीं लेना पड़ता इत्यादि। अर्थात् वेदों में कहा सत्य तो चमकते सूर्य की तरह है जिसके समक्ष तो अन्धेरा पल भर के लिए भी नहीं टिक पाता। **अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३१ से ३५** तक ज्ञान का उपदेश किया है जिसमें प्रमुख बातें यह कही गई है कि वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इन तीन विद्याओं के उपदेश से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उससे ही हमारी वासनाओं, काम, क्रोध, अभिमान आदि शत्रुओं का नाश होता है। ज्ञान प्राप्त करके हम जितेन्द्रिय, दिव्य गुणों वाले, दाता, निर्द्वेष अर्थात् किसी से द्वेष न करने वाले तथा परिश्रम द्वारा धन अर्जित करने वाले विद्वान् बन जाते हैं। ज्ञान हमारा रक्षक है। ज्ञान के दाता ईश्वर एवं विद्वान् हैं। वेदों में कही इन तीन विद्याओं से ज्ञान प्राप्त करना ही उपासना है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३२/५** का भाव है कि मनुष्य का दुर्भाग्य यह है कि वह ज्ञान प्राप्ति के लिए

पुरुषार्थ युक्त कर्म नहीं करता। अतः हम कर्म में निष्ठा रखें अन्यथा इस अथर्ववेद के मन्त्र से यह भी ज्ञान उत्पन्न हो रहा है कि जो प्राणी पुरुषार्थयुक्त कर्म करने में निष्ठा नहीं रखता और कहता है कर्म करने की आवश्यकता नहीं तो वह अपने दुर्भाग्य का स्वयं निर्माण कर रहा है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।"

(गीता श्लोक ४/३६)

(तत्परः) जो पुरुष गुरु सेवा, साधना इत्यादि शुभ कर्मों में सदा लगा हुआ है **(संयतेन्द्रियः)** जिसकी सब इन्द्रियाँ अच्छी तरह वश में हैं **(श्रद्धावान्)** जो श्रद्धा वाला है, वह **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(लभते)** प्राप्त होता है। **(ज्ञानम्)** ज्ञान को **(लब्ध्वा)** प्राप्त करके **(अचिरेण)** शीघ्रता से **(पराम्)** परम **(शान्तिम्)** शान्ति को **(अधिगच्छति)** प्राप्त होता है।

अर्थः- जो पुरुष गुरु सेवा, साधना इत्यादि शुभ कर्मों में सदा लगा हुआ है, जिसकी सब इन्द्रियाँ अच्छी तरह वश में हैं, जो श्रद्धा वाला है, वह ज्ञान को प्राप्त होता है। ज्ञान को प्राप्त करके, शीघ्रता से परम शान्ति को प्राप्त होता है।

भावार्थः- इससे पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट कह दिया है कि ज्ञान के समान पवित्र करने वाला और दूसरा कोई भी तत्त्व नहीं है। चारों वेदों ने एक बड़ी गहन-ज्ञान की बात कही है कि जो पुरुष वेद के मन्त्रों को सुनता है और उनपर विचार करता है, और ज्ञानवान हो जाता है, उसको ब्रह्मा कहते हैं। तथा यज्ञ में चारों वेदों के ज्ञाता, ब्रह्मा का होना अनिवार्य कहा है। यज्ञ में ब्रह्मा के न होने पर, साधक का यज्ञ पूर्ण नहीं माना जाता। ब्रह्मा ही यज्ञ में वेदों के प्रवचन द्वारा ज्ञान देता है। इस सत्य को **यजुर्वेद मन्त्र १८/२९** में इस प्रकार कहा **"ब्रह्मा यज्ञेन कल्पताम्"** अर्थात् यज्ञ करने से ही ब्रह्मा समर्थ होता है। यज्ञ नहीं होंगे तो पृथिवी पर चारों वेदों के ज्ञाता, ब्रह्मा का अस्तित्व ही नहीं रहेगा। वेदवाणी का आदर भी अथर्ववेद ने, यज्ञ में यही कहा है-**"यज्ञे निधनम्"** अर्थात् पृथिवी पर वेद वाणी यज्ञ की निधि है।

अतः जो सन्त वेद विरोधी हैं और यज्ञ आदि की निन्दा करते हैं, उन्हें **मनुस्मृति श्लोक २/११** में **"नास्तिको वेदनिन्दकः"** कह कर नास्तिक कहा है, चाहे वह कितनी ही पूजा-पाठ, प्रवचन द्वारा जनता को बहका कर, अपने को सन्त कहता हो परन्तु ईश्वर, वेद और विद्वानों की नजर में वह जनता का पैसा लूटने वाला नास्तिक ही है। क्योंकि चारों वेदों के ज्ञाता, ब्रह्मा के बिना ज्ञान नहीं दिया जा सकता अैर ज्ञान के बिना मनुष्य की बुद्धि शुद्ध नहीं हो सकती और शुद्धिकरण के बिना भवसागर से तर नहीं सकता। **अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३१** में इस वेदों से उत्पन्न ज्ञान द्वारा ही साधक काम, क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करके **"हर्षमाणाः"** आनन्द का अनुभव करके ईश्वर को प्राप्त होता है। मन्त्र में आगे कहा कि ज्ञान **"शत्रून् हत्वाय वेदः विभजस्व"** काम क्रोध आदि शत्रुओं की हत्या करके, हमें विशेष हितकारी जीवन प्रदान करता है। अर्थात् जो इस श्लोक में "संयतेन्द्रियः"-अच्छी तरह से इन्द्रियों को वश में करना, शब्द आया है, वह ऊपर कहे अथर्ववेद के मन्त्रों का भाव ही है कि जब हम वेदों का ज्ञान प्राप्त करते हैं तभी हम जितेन्द्रिय, दिव्य गुण वाले और राग-द्वेष न करने वाले साधक बनते हैं, केवल यह कहने से कि हम ब्रह्म हैं, जीव ब्रह्म है, हम ज्ञानी हैं, इससे कुछ नहीं होता। यह सब वेद विरुद्ध है। वेद ऐसा नहीं कहते। आगे कहा **"अभिमातिम् सहस्व"** अर्थात् ज्ञान हमारे अभिमान रूपी शत्रु को कुचल डालता है। ज्ञान ही हमारा रक्षक है। ज्ञान ही सब प्रकार के ऐश्वर्य प्रदान करता है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३२/४** में ज्ञान को **"स्वयंभूः"** कहा है अर्थात् जिस ज्ञान को पाकर के जीव सब दुःखों से पार होकर के परम शांति को प्राप्त होता है, वह ज्ञान **"स्वयंभूः"** अर्थात् वेदों में कही योग आदि साधना करते-करते स्वयं साधक के हृदय में प्रकट हो जाता है। क्योंकि स्वयंभू कहकर ईश्वर ने यह समझाया है कि सृष्टि के आरम्भ में ही चारों वेदों का ज्ञान चार ऋषियों के हृदय में **"स्वयंभूः"** अर्थात् ईश्वर की सामर्थ्य से स्वयं ही अपने आप प्रकट हो जाता है। और ईश्वर की तरह वेदों को भी किसी ने नहीं बनाया। न किसी मनुष्य ऋषि इत्यादि ने वेद लिखे हैं। वेद अनादि हैं अतः स्वयंभूः कहे हैं। जो बनाया नहीं जाता और जो तत्त्व कभी नष्ट नहीं होता वह **स्वयम् भूः** कहलाता है। यह जो वेद विरोधी सन्त चिल्ला चिल्ला कर कहते हैं कि वह ज्ञान उनके पास है, उनसे वह ज्ञान कोई आकर ले जाए, तो यह मिथ्यावाद है। इस वेदों के ज्ञान के विषय में कपिल मुनि ने अपने **सांख्य शास्त्र सूत्र ५/४८** में कहा है कि यह ज्ञान एक अनिच्छित वेद की वाणी है जो कि लम्बी एवं निरन्तर कठोर वेद में कही साध

ाना के पश्चात स्वयं ही योगियों के हृदय में प्रकट होती है। अतः साधक को तो वेदों के ज्ञाता, अपने गुरु ब्रह्मा की सेवा द्वारा यज्ञ करने हैं, वेदों का प्रवचन सुनना है, वेदों में कही योगाभ्यास की विद्या को जीवन में उतारना है अर्थात् साधना करनी है, यज्ञ के वास्तविक स्वरूप-देवपूजा, संगतिकरण, दान को जीवन में उतारना है, तब इन शुभ कर्मों का फल तो चारों वेदों में कहा हुआ ज्ञान है जो स्वयंभू है अर्थात् यह ज्ञान अपने आप ही साधक के हृदय में प्रकट हो जाएगा। इस ज्ञान की ठेकेदारी करने वाले वेद विरोधी सन्त मिथ्यावाद द्वारा जनता को बहकाकर धन कमाता है। इस ज्ञान के प्रति असंख्य मन्त्रों में **अथर्ववेद के मन्त्र ४/३२/५,६** स्पष्ट कह रहे हैं कि मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य यह है कि हम यज्ञ और वेदों के प्रवचनों द्वारा ज्ञान प्राप्त नहीं करते और **"तव क्रत्वा अपपरेतः अस्मि"** अर्थात् मैं भाग्यहीन प्राणी तुझ ज्ञान से दूर भागता हूँ और **"अक्रतुः जिहीड"** अर्थात् जब कोई कर्महीन प्राणी कर्म करना ही नहीं पसन्द करता तो उसके अन्दर ज्ञान कैसे प्रकट हो सकता है? श्रीराम, श्रीकृष्ण ने वेदाध्ययन यज्ञ रूपी शुभ कर्म किए, उसके अतिरिक्त जनता की भलाई के लिए दुष्टों का संहार आदि अनेक शुभ कर्म किए। परन्तु आज भारत भूमि का यह दुर्भाग्य न जाने कहाँ से वेद विरोधी सन्तों ने बना दिया है और प्रायः कई सन्तों ने ऐसा दुष्प्रचार किया है कि कर्म तो करने ही नहीं, केवल ज्ञान में मुक्ति हैं और वह ज्ञान भी बिना यज्ञ, बिना वेद और बिना योगाभ्यास के प्राप्त करने की बात कहते रहते हैं। इसी मिथ्यावाद को पिछले कहे अथर्ववेद के मन्त्र में मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य कहा है और **मन्त्र ४/३२/६** में मनुष्य का सबसे बड़ा सौभाग्य यह कहा है कि जिस दिन कोई साधक वेदों का ज्ञान प्राप्त करने के लिए जिज्ञासा करता है। अतः वेदों में कहे शुभ कर्मों के स्वरूप को जब कोई साधक वेद विद्या विद्वान् से सुन कर जान लेता है और उन शुभ कर्म यज्ञ, योगाभ्यास आदि को करता है तभी उसके हृदय में स्वतः ज्ञान प्रकट होता है। दूसरा शब्द इस श्लोक में "श्रद्धावान्" अर्थात् श्रद्धावाला पुरुष है। हमने कई बार लिखा है-गीता वैदिक प्रवचन है, वेदों के शब्द अलौकिक हैं, श्रद्धा भी वैदिक शब्द है। "श्रत्+धा" इति श्रद्धा। श्रत् का अर्थ सत्य है सत्य का अर्थ है जो तत्त्व अनादिकाल से चला आ रहा है, अब भी और आगे भी रहेगा और जिसका स्वरूप कभी बदलता नहीं है तथा जो उत्पत्ति एवं नाश से परे है अर्थात् जो शरीर, पेड़-पौधों की तरह उत्पन्न भी नहीं होता और नष्ट भी नहीं होता, जिसे **अथर्ववेद मन्त्र १०/८/१** ने इस प्रकार कहा कि जो परमेश्वर भूत, भविष्य, वर्तमान में सदा रहने वाला

है और सबका जानने वाला है, जो सुखदाता है, उस परमेश्वर को हमारा नमस्कार हो और उसी परमेश्वर की हम उपासना करते हैं। यही सत्य स्वरूप परमेश्वर की हम उपासना करते हैं। यही सत्य स्वरूप परमेश्वर है और केवल इसी पर ही धारणा आने का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा का यह अर्थ कदापि नहीं है कि हम पानी-पत्ते आदि किसी भी नश्वर पदार्थ पर या किसी नाशवान कथा आदि पर श्रद्धा करें। वेद न सुनने के कारण हम प्रायः अर्थ का अनर्थ करते रहते हैं। वेद न सुनने के कारण एवं स्वयं निर्मित भक्ति के मार्ग बनाने के कारण अंधविश्वास बढ़ता गया और फलस्वरूप भोली जनता वेद ज्ञान के अभाव में सत्य एवं असत्य का निर्णय करने में असमर्थ रही है। मिथ्यावादियों ने पहले वेद विरुद्ध मिथ्यावाद जनता में फैलाया और तत्पश्चात जनता पर मनमाने कर्मकाण्ड थोप दिए। अब पुनः वेद सुनकर ही जीव सत्य ज्ञान पा सकता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।"

(गीता श्लोक ४/४०)

(अज्ञः) अज्ञानी **(च)** और **(अश्रत्+दधानः)** श्रद्धा न रखने वाला **(च)** और **(संशयात्मा)** संशय युक्त आत्मा **(विनश्यति)** नष्ट हो जाती है। **(संशयात्मनः)** संशय रखने वाले को **(न)** न **(सुखम्)** सुख है **(न)** न **(अयम्)** यह **(लोकः)** संसार है **(न)** न **(परः)** परलोक **(अस्ति)** है अर्थात् इस संसार में और इसके बाद दूसरे जन्म में भी वह दुखी ही रहता है।

अर्थः- अज्ञानी और श्रद्धा न रखने वाला और संशय युक्त आत्मा नष्ट हो जाती है। संशय रखने वाले को न सुख है, न यह संसार है, न परलोक है अर्थात् इस संसार में और इसके बाद दूसरे जन्म में भी उसे सुख नहीं प्राप्त होता। पिछले श्लोक से ज्ञात होता है कि अज्ञानी वह है जो वेद विद्या को नहीं जानता, न सुनता है।

भावार्थः- मनुस्मृति अध्याय २, श्लोक १५३ में कहा-**"अज्ञः वै बालः भवति"** अर्थात् चाहे मनुष्य आयु में सौ वर्ष से भी अधिक है और यदि वह वेदों में कहे ज्ञान को नहीं जानता तो वह बालक ही है और **"मन्त्रदः पिता भवति"** जो वेदमन्त्रों का ज्ञाता है और उन मंत्रों

का ज्ञान अन्य को देता है, फिर चाहे वह बालक ही है परन्तु उसे पिता के समान मानना चाहिए क्योंकि **"अज्ञं बालम् इति"** अर्थात् अज्ञानी को बालक और **"मन्त्रदः तु पिता इत्येव आहुः"** अर्थात् वेदमन्त्रों के ज्ञाता को पिता कहते हैं। अतः वेद ने मनुष्य का शरीर पाकर प्रत्येक प्राणी को ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक कहा है। प्रस्तुत श्लोक में वेद एवं मनु स्मृति का यही **"अज्ञः"** शब्द आया है इसका अर्थ अज्ञानी है, वेद विद्या न जानने वाला अज्ञानी है। वास्तव में अज्ञानी रहना एक पाप है क्योंकि अज्ञानी कर्म करने में निष्ठा नहीं रखता वह सदा विषय-विकारों तथा आलस्य-निद्रा में रम जाता है और अपने परिवार एवं समाज में अपनी वृत्ति के अनुसार ही पाप फैलाने का कारण बन जाता है। पुरुषार्थ एवं उत्साह वाले प्राणी ही वेद सुनकर ज्ञानी बनते हैं। दूसरा शब्द है **"अश्रद्दधानः"** जिसका अर्थ है श्रद्धा न रखने वाला। **"श्रत्"** धातु से श्रद्धा शब्द बना है। **"श्रत्"** का अर्थ है सत्य और **"धा धारणे"** धातु से धारण करना बनता है। अर्थात् वेदों में श्रद्धा शब्द का अर्थ, सत्य पर धारणा आ जाना कहा है। सत्य अनादि, अनन्त एवं अविनाशी तत्त्व है। सत्य जन्म-मरण, बनने-बिगड़ने में नहीं आता। यह गुण केवल ईश्वर, ईश्वर से उत्पन्न चारों वेद, जीवात्मा एवं प्रकृति के हैं। अतः वह नर-नारी जो श्रीकृष्ण, श्रीराम, माता सीता, व्यास मुनिजी आदि की तरह वेदों का ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर, जीवात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप को जान जाता है, उसे वेद-शास्त्र एवं भगवद् गीता आदि ग्रन्थों में श्रद्धावान्, अर्थात् पीछे कहे तीनों तत्त्वों में श्रद्धा धारण करने वाला, पुरुष कहा है। इसके विपरीत जो अज्ञानी हैं तथा श्रद्धा से हीन नर-नारी हैं, इनको इस श्लोक में **"संशयात्मनः"** अर्थात् संशययुक्त आत्मा कहा है। क्योंकि संशययुक्त आत्मा को ऊपर कहे सत्य का ज्ञान नहीं होता और वह अपनी अल्प बुद्धि से किसी को भी गुरु बना लेता है और नाशवान पदार्थों की भक्ति करने लग जाता है। संशययुक्त आत्मा कभी इधर, कभी उधर और अपनी मर्जी से जहाँ-तहाँ सभी देवी-देवताओं को मनाता फिरता है और ऐसे संशययुक्त पुरुष के विषय में श्रीकृष्ण महाराज यहाँ कह रहे हैं कि वह शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अल्प आयु में मृत्यु का ग्रास बनता है एवं परमानन्द प्राप्ति के लक्ष्य से भटक कर बार-बार जन्म मृत्यु को प्राप्त होकर दुःखों के सागर में गोते लगाता है। वेदों ने जो हमें इस पृथिवी के आरम्भ में भी ज्ञान दिया कि वेदों के ज्ञाता, योगीजन ही हमें उपदेश देते हैं **(देखें यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०,११)** कि संशययुक्त, अज्ञानी पुरुष वेद विद्या को प्राप्त न करके दुःख को प्राप्त होते हैं और विद्यावान पुरुष वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के पश्चात्

परमेश्वर, जीव एवं प्रकृति के स्वरूप को जानकर **"न विचिकित्सति"** अर्थात् संशय को प्राप्त कभी नहीं होता (देखें **यजुर्वेद मन्त्र ४०/६**)। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ कहा कि वेदविद्या, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि सनातन, शुभ कर्मों को त्यागने वाले, श्रद्धारहित, अज्ञानी एवं संशययुक्त आत्माएँ इस जीवन में भी कभी सुख नहीं पातीं और यह मानव शरीर त्यागकर अगले जन्म में भी दुःखी रहती है और दुःखों के सागर में ही गोते लगाती रहती है। वेद में कर्म, उपासना एवं ज्ञान, यह तीन विद्याएँ हैं। तीनों ही विद्याओं का ज्ञान पाकर पुरुष विद्वान् ज्ञानी, श्रद्धावान एवं संशय रहित बनता है। बिना ज्ञान के शुभ कर्म एवं उपासना नहीं हो सकती। शरीर पालना एवं उपासना के लिए शरीर द्वारा शुभ कर्म धन उपार्जन करना आवश्यक है। अतः प्राणी कर्म, उपासना एवं ज्ञान, इन तीनों विद्याओं को वेदों के द्वारा जानने का प्रयत्न करें। चारों वेद, जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१३** में भी कहा कि हम वेद विद्या को वेदों के ज्ञाता और योगाभ्यास के द्वारा ध्यान में लीन पुरुषों से ही सुनें, अन्य से नहीं। क्योंकि अन्य को वेद शास्त्र एवं इस गीता के श्लोक ने **"अज्ञः"** अर्थात् अज्ञानी की श्रेणी में रखा है और अज्ञानी कभी ज्ञान का दाता नहीं होता। मनुस्मृति ने ऊपर **"मन्त्रदः"** अर्थात् वेद मन्त्रों के ज्ञाता को ही ज्ञान का दाता कहा है। अतः भारतवर्ष को अपनी खोई गरिमा को प्राप्त करने के लिए पुनः विद्वानों से वेद एवं वेद में ऊपर कही तीन विद्याएँ, यज्ञ एवं योग विद्या को प्राप्त करने की आवश्यकता है। वेदों की निन्दा करने वाले सन्तों के मिथ्या भाषण से जो पूजा-पाठ और नाम दान आदि चल रहा है, उसके प्रभाव से भारतवर्ष की दुर्दशा किसी से छुपी नहीं है। हम गीता के वैदिक अर्थ को समझें और आजकल के मिथ्यावादी सन्तों की कथा-कहानियों में फँसकर गीता, रामायण आदि के वेद विरोधी मनघढ़न्त अर्थों का त्याग करें। फलस्वरूप ही देश में शांति सम्भव होगी। क्योंकि तब घर-घर में शुभ कर्म, उपासना एवं ज्ञान का बोल-बाला होगा। नर-नारी मेहनतकश होंगे, पाखण्डी सन्तों का नाश हो जाएगा और मेहनतकश ऋषि-मुनि पुनः जन्म लेने लगेंगे। वेद का ज्ञान होने पर भ्रष्ट राजनीति नहीं होगी। न्याय होगा। इस श्लोक में श्रीकृष्ण का यही उपदेश है। क्योंकि आजकल के आलसी गृहस्थी एवं पढ़, सुन, रटकर बोलने वाले तथा बैठकर जनता का पैसा लूटने वाले वेद विरोधी सन्तों की तरह अर्जुन भी संशययुक्त होकर कर्महीन हो गया था और धर्मयुद्ध से इन्कार कर दिया था जो कि वेदों में क्षत्रिय का कर्म कहा है। तब वेदों में कहे कर्म को जानने वाले योगेश्वर श्रीकृष्ण के उपदेश से ही अर्जुन वेदों में कहे कर्म, उपासना एवं ज्ञान के रहस्य

को समझ पाया था और धर्मयुद्ध-शुभ कर्म करके अमर हुआ था। अर्जुन ने गीता सुनकर, गीता का उपदेश देकर, पैसे नहीं कमाए थे और न ही अपनी पूजा कराई थी। न ही उसने वेदविरोधी सन्तों की तरह यह कहा था कि मुझे तो वैराग्य हो गया है, मुझे संसार से क्या लेना-देना।

श्रीकृष्ण उवाच–

"योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय।।"

(गीता श्लोक ४/४१)

(धनंजय) हे धनंजय **(योगसंन्यस्तकर्माणम्)** योग द्वारा जिसने सब कर्मों को त्याग दिया है और **(ज्ञानसंछिन्नसंशयम्)** ज्ञान प्राप्ति द्वारा जिसके सब संशय नष्ट हो गए हैं, ऐसे **(आत्मवन्तं)** आत्मवान् पुरुष को **(कर्माणि)** कर्म **(न)** नहीं **(निबध्नन्ति)** बांधते।

अर्थः- हे धनंजय! योग द्वारा जिसने सब कर्मों को त्याग दिया है और ज्ञान प्राप्ति द्वारा जिसके सब संशय नष्ट हो गए हैं, ऐसे आत्मवान् पुरुष को कर्म नहीं बाँधते। स्पष्ट है कि श्री कृष्ण ने पीछे इस अध्याय के **श्लोक १६ से ३२** तक योग यज्ञ-योग विद्या का ज्ञान दिया है। उन योग यज्ञ को करने तथा उनकी सिद्धी होने पर ही कर्मों का त्याग, ज्ञान प्राप्ति, सब संशय नष्ट होते हैं और इस प्रकार ज्ञान-वान पुरुष कर्मबन्धन में नहीं बंधते।

भावार्थः- योग का अर्थ समाधि है जिसमें ईश्वर की अनुभूति होती है और योगी कर्मबन्धन से मुक्त हो जाता है जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ४०/२** में कहा कि जब साधक वेदों में कहे शुभ कर्म करता है, उन शुभ कर्मों द्वारा उसे ज्ञान प्राप्त होता है और उन्हीं कर्मों में वह वेदों में कही ईश्वर की उपासना करता है जिससे यज्ञ आदि श्रेष्ठ कर्म, सम्पूर्ण कर्त्तव्य-कर्म और ज्ञान प्राप्ति है। तब ऐसी साधना द्वारा, यह मन्त्र कहता है-**"न कर्म लिप्यते नरे"** अर्थात् तब वह योगी कर्मों में लिप्त नहीं होता। ऐसा योगी आवश्यक धर्मयुक्त कर्म करता हुआ भी कर्मों के बन्धन में नहीं आता। ऐसे योगी को शब्द ब्रह्म और पर-ब्रह्म का ज्ञान होता है। तभी वह ज्ञानी कहलाता है। और वह कर्म, उपासना आदि से उत्पन्न ज्ञान द्वारा ही समस्त संशयों का नाश कर देता है और आत्मवान् कहलाता है। श्लोक में **"योगसंन्यस्तकर्माणम्"** शब्द आया है। इसमें **"सम् न्यास"** का अर्थ है सम्पूर्ण

त्याग। अर्थात् ऊपर कही योग साधना आदि द्वारा चित्त की सब वृत्तियाँ जब अन्दर अन्तःकरण में ही रुक जाती हैं तब ऐसा योगी कर्म में आसक्ति की भावना को सहज अवस्था में ही त्याग देता है अर्थात् स्वतः ही उसकी कर्म में आसक्ति नहीं होती। अतः वह परमार्थ के लिए आसक्ति रहित ही शुभ कर्म करेगा। कर्मफल इत्यादि में उसकी इच्छा नहीं रहती। यही **"कर्मसंन्यास"** योग है। हमें संस्कृत के शब्दों से घबराना नहीं चाहिए, केवल यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेदों को सुनना चाहिए और जैसा ऊपर कहे यजुर्वेद के मन्त्र में कहा, वैसा ही गृहस्थादि के शुभ कर्म करने चाहिए। क्योंकि इन्हीं कर्मों का फल **"कर्मसंन्यास योग"** है। आज यदि कोई सन्त आदि बनकर इन शब्दों को रट-रटकर बोलता है, पैसे कमाता है तो वह जनता में विषय ही तो बाँटता है क्योंकि भोली जनता समझती है कि यह बोलने वाला साधु-सन्त है, बड़ा विद्वान् है जबकि उस बोलने वाले सन्त ने न तो खुद यज्ञ, योगाभ्यास, वेदों का मनन आदि शुभ कर्म किए हैं और न ही जनता को वह ऐसे शुभ कर्म करने की प्रेरणा देता है। क्योंकि ऐसा मिथ्यावादी व्यक्ति तो पढ़ सुनकर बड़े बड़े शब्दों का जाल बिछाकर, केवल अपने नाम का लोहा मनवाना चाहता है जिसमें आजकल के प्रायः अधिकतर प्रवचनकर्त्ता सफल हैं और धन कमाकर ऐश कर रहे हैं। पढ़, सुन, रटकर बोलना तो **केनोपनिषद श्लोक ४/८** में ब्रह्म विद्या का अनादर करना कहा है। अतः हम यह न भूलें कि ईश्वर सब देख रहा है और समय आने पर सजा देता है इसलिए हम ईश्वर की सजा से बचने के लिए केवल सत्य का सहारा लें, साधना करें। अच्छा फल तो स्वयं भगवान देगा ही। इस श्लोक में **"ज्ञान"** शब्द भी आया है।

अथर्ववेद के चौथे काण्ड के ३१वें व ३२वें सूक्त में ज्ञान प्राप्ति के फल का वर्णन है। भगवान सृष्टि रचकर सबसे पहले ऋग्वेद का प्रकाश, ऋषि के हृदय में प्रकट करता है। ऋग्वेद में ईश्वर एवं सब सृष्टि के पदार्थों का वर्णन है। यज्ञ, योगाभ्यास की महिमा है, माता-पिता, गुरुजनों की सेवा सहित अनेक कर्मों का भी ज्ञान है। इसके पश्चात सम्पूर्ण यज्ञ आदि कर्मों का विशिष्ट ज्ञान यजुर्वेद में यज्ञ, योगाभ्यास आदि उपासना का विशेष ज्ञान सामवेद में दिया है। प्रश्न यह उठता है कि यदि प्राणी ऋग्वेद से ज्ञान, यजुर्वेद से कर्म और सामवेद से उपासना पूजा के रहस्य को नहीं जानता तो वह ज्ञानी कैसे हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। कहना पड़ता है कि पढ़, सुन, रटकर ज्ञान, भ्रम में डालकर पैसा कमाने के लिए है। क्योंकि श्रीकृष्ण महाराज केवल पढ़, सुन, रटकर नहीं

बोल रहे, वह तो योगसाधना द्वारा योगेश्वर कहलाए हैं और संदीपन गुरु के आश्रम में रहकर सुदामा सखा के साथ चारों वेदों का अध्ययन किया है। तभी वह पूर्ण ज्ञानी हैं। आज भी हम पीछे कही हुई साधना द्वारा ज्ञान को प्राप्त करके ही आत्मवान्, ज्ञानी और कर्मबन्धनों से मुक्त कहला सकेंगे और यहाँ श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि केवल साधना द्वारा इन गुणों को धारण करने वाला ही कर्म बन्धनों से मुक्त होता है। **अथर्ववेद मन्त्र ४/३२/५** में यही उपदेश है कि ज्ञान प्राप्ति में जिज्ञासा न करना और ज्ञान प्राप्ति वाले कर्मों से दूर रहना कर्म न करना, यही मनुष्य का सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। मन्त्र कहता है कि हे ज्ञान! **"तं त्वा अक्रतुः जिहीड"** अर्थात् मैं आलस्य के कारण ही कर्म में रुचि न रखता हुआ, तुझसे घृणा करता हूँ। मनुष्य के जीवन में ऋग्वेद का ज्ञान, यजुर्वेद का कर्म और सामवेद का उपासना कर्म, यह तीनों एक साथ अभ्यास में होने चाहिए। इनके बिना आज तक पृथिवी पर किसी को, कभी भी कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ, न कर्म-बन्धन से छूटा और ईश्वर प्राप्ति तो बहुत दूर की बात है। वेद विरोधी तो सदा भययुक्त, रोगी, शारीरिक एवं मानसिक बीमारियों से घिरे, काम, क्रोध, अहंकार आदि वृत्तियों में फँसकर सदा दुःखी ही रहते हैं। यही **अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३१ एवं ३२** का भाव है।

श्रीकृष्ण उवाच–

"तस्मादज्ञानसंभूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।"

(गीता श्लोक ४/४२)

(तस्मात्) अतः **(भारत)** भरत कुल में उत्पन्न हे अर्जुन **(अज्ञानसंभूतं)** अज्ञान से उत्पन्न **(हृत्स्थं)** हृदय में स्थित **(एनम्)** इस **(आत्मनः)** अपने **(संशयम्)** संशय को **(ज्ञानासिना)** ज्ञान रूपी तलवार द्वारा **(छित्त्वा)** छेद कर **(उत्तिष्ठ)** उठ खड़ा हो और **(योगम्)** कर्म योग में **(आतिष्ठ)** स्थित हो।

अर्थः- अतः भरत कुल में उत्पन्न हे अर्जुन, अज्ञान से उत्पन्न हृदय में स्थित इस अपने संशय को, ज्ञान रूपी तलवार द्वारा छेद कर उठ खड़ा हो और कर्म योग में स्थित हो। कर्मयोग आदि का ज्ञान पिछले श्लोक १६-३२ में दिया है।

भावार्थः- पिछले श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने समझाया कि वेदों के ज्ञान पर श्रद्धा, दृढ़

विश्वास से ही सुख-शांति प्राप्त होती है। **गीता श्लोक ३/१५** के मर्म को जानकर यह निश्चित होता है कि चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न हैं-ईश्वरीय वाणी हैं। अतः संसार को शुभ कर्मों का वास्तविक उपदेश एवं ज्ञान वेद ही देते हैं। महाभारत ग्रन्थ का अध्ययन स्पष्ट कहता है कि समस्त भरत कुल केवल चारों वेद एवं वेदों के ज्ञाता ऋषियों-मुनियों के ही श्रद्धालु एवं सेवक थे। अतः यदि साधक स्वार्थरहित होकर, कर्मफल में आसक्ति न रखकर, जब कर्म करता है तब वह शुभ कर्म करता हुआ भी कर्मबन्धन में नहीं आता और इस प्रकार दुःखों से छूट जाता है। क्योंकि सुख या दुःख पिछले जन्म के कर्मों का फल ही होता है। जो ज्ञान प्राप्ति के पश्चात नष्ट हो जाते हैं। ज्ञान का न होना ही सब बुराईयों एवं पाप कर्मों की जड़ है। अज्ञानी नर-नारी ही पाप युक्त कर्म करके घोर दुःखों को प्राप्त हो जाते हैं। यजुर्वेद ने सम्पूर्ण कर्मों का ज्ञान दिया है, जिसमें अपने परायों की पहचान, यज्ञ कर्म, यहाँ तक कि युद्ध का भी वर्णन है। जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ११/१४-१५** में कहा राजा वेद द्वारा धर्म-कर्म का ज्ञाता हो और प्रजा का रक्षक हो। राजा देष को उपद्रवों से रहित करे और शत्रुओं को युद्ध द्वारा मार गिराए। **मन्त्र १०/३३** में कहा राजा दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे और श्रेष्ठ पुरुषों का सम्मान करे। **सामवेद मन्त्र १४०६** में कहा सैनिक देश की रक्षा के लिए धर्मयुद्ध करके मोक्ष प्राप्त करें। इन मन्त्रों के आधार पर ही श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को कहा कि तू धर्म युद्ध कर। यदि धर्मयुद्ध में जीत गया तो सृष्टि के राज्य का सुख भोगेगा और यदि मर गया तो मोक्ष प्राप्त करेगा। युद्ध करने के लिए इस प्रकार का ही ज्ञान चारों वेदों में है। इसी प्रकार, पूजा का ज्ञान, माता-पिता, गुरु की सेवा का ज्ञान, विद्यार्थी, परिवार के कर्त्तव्य, युद्ध कौशल, परमाणु शक्ति, शारीरिक विज्ञान और इन सब से बढ़ चढ़कर प्रकृति, जीवात्मा एवं परमेश्वर का ज्ञान अर्थात् सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड से लेकर ईश्वर तक का ज्ञान ईश्वर ने वेदों में दिया है और इन्हीं वेदों के ज्ञान को प्राप्त करके श्रीकृष्ण महाराज ने वेदों का अंश भर ज्ञान देकर, अर्जुन को धर्मयुद्ध की प्रेरणा देकर, धर्म युद्ध करने के लिए विवश किया था। तभी इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज, धर्म युद्ध का तनिक सा ज्ञान देकर अर्जुन को ललकारते हुए कहते हैं **"उत्तिष्ठ"** अर्थात् हे अर्जुन! संशय, अज्ञान, अश्रद्धा को त्यागकर उठो और कर्म योग अर्थात् धर्मयुद्ध करने के लिए तैयार हो जाओ।

यह गहन विचार का विषय है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज, युद्ध की प्रेरणा दे रहे हैं। श्रीराम ने भी रावण से युद्ध किया था। श्रीराम भी ब्रह्म अवस्था को प्राप्त थे और

श्रीकृष्ण भी ब्रह्म अवस्था को प्राप्त थे। अतः वास्तविक युद्ध की प्रेरणा तो ऐसी विभूतियां ही देती थीं जिसे धर्मयुद्ध कहा जाता था। आज विश्व में लड़े जाने वाले युद्ध वेद विद्या के अभाव में धर्मयुद्ध नहीं कहे जा सकते। वेदों ने धर्म को कर्त्तव्य-कर्म करना कहा है और युद्ध आदि कर्मों का ज्ञान भी चारों वेदों में ही वर्णित है। ऐसे युद्ध करने पर योद्धा पुण्य अथवा मोक्ष को प्राप्त करते थे। आज वैदिक धर्म में आई कमी के कारण पिछले दो-तीन हजार वर्षों से जो अधिकतर युद्ध हुए हैं उनमें बेकसूर प्रजा अथवा सैनिक मारे जाते रहे हैं। जैसे हिरोशिमा पर बम्ब गिराना आदि। विश्व को पुनः वेदों का ज्ञान प्राप्त करना होगा। जिस ज्ञान के द्वारा राष्ट्र के नेता, श्रीराम एवं श्रीकृष्ण की भांति राष्ट्र में न्याय स्थापित कर सकेंगे और केवल धर्मयुद्ध का ही आह्वान करेंगे। यदि हम भारतवासी शांति चाहते हैं तो हमें पुनः अनादिकाल से चली आई अविनाशी ईश्वरीय वाणी की ओर लौटना पड़ेगा। हम शीघ्र अतिशीघ्र वेद के विद्वानों से वेद सुनने का अभ्यास करें।

चतुर्थः अध्यायः इति

"अथ प चमोऽध्यायः"

चतुर्थ अध्याय में कर्म, अकर्म, विकर्म के विषय में कहकर यज्ञ और ज्ञान योग एवं संन्यास योग के विषय में मुख्य रूप से कहा गया है। कर्म योग को गीता श्लोक 4/1 में वेदों से उत्पन्न "अव्ययम् योगम्" अर्थात् शाश्वत–कभी न नष्ट होने वाला कहा है। वस्तुतः चारों वेदों में कहा ज्ञान, कर्म एवं उपासना काण्ड अनादि एवं अविनाशी विद्या के रूप में कहा गया है। और आज भी वेदोक्त धर्म के द्वारा ही इस विद्या को जब हम प्राप्त करते हैं फलस्वरूप ही धर्म स्थापित करके हम मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं। अतः कर्म, संन्यास एवं योग तीनों विषयों को अर्जुन ने जब तीनों अध्यायों में सुना तो उसे इस बात पर संशय हुआ कि इन तीनों में से कौन सा मार्ग अपनाकर वह पापमुक्त हो जाएगा। अतः अर्जुन ने श्रीकृष्ण महाराज से प्रश्न किया।

श्री अर्जुन उवाच

"संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि ।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।

(गीता श्लोक 5/1)

(कृष्ण) हे कृष्ण आप **(कर्मणाम्)** कर्मों के **(संन्यासम्)** संन्यास की **(च)** और **(पुनः)** फिर **(योगम्)** निष्काम कर्मयोग की **(शंससि)** प्रशंसा करते हो, मुझे **(एतयोः)** इन दोनों में **(एकम्)** एक **(यत्)** जो **(श्रेयः)** श्रेष्ठ है **(तत्)** उसे **(मे)** मेरे लिए **(सुनिश्चितम्)** निश्चय करके **(ब्रूहि)** कहें।

अर्थ :– हे कृष्ण ! आप कर्मों के, संन्यास की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हो, मुझे इन दोनों में एक जो श्रेष्ठ है उसे मेरे लिए निश्चय करके कहें।

भावार्थ :– पिछले चौथे अध्याय में श्री कृष्ण महाराज ने निष्काम कर्म

करने वाले पुरुष को कर्म–बंधनों से मुक्त पुरुष कहा है। दूसरा, **श्लोक 4/33** इत्यादि में ज्ञान की अधिक प्रशंसा करते हुए कहा है कि ज्ञान के समान कुछ भी पवित्र नहीं है और अगले ही श्लोकों में पुनः कर्मयोग को उत्तम बता दिया। ऐसा सबकुछ सुनकर अर्जुन को संदेह होना स्वाभाविक ही था कि कर्मयोग उत्तम है और वह युद्ध करे अथवा कर्मों से संन्यास लेकर, ज्ञानमार्ग पर चलकर ईश्वर प्राप्त करे। **अथर्ववेद काण्ड 10, सूक्त 10** में कई जगह कहा है कि कर्म, ज्ञान एवं उपासना का ठीक–ठीक ज्ञान वेदवाणी ही देती है। इसी **काण्ड के मंत्र 10/28** में समझाया कि प्राणी को यजुर्वेद में कहे विज्ञानयुक्त कर्म करने चाहिए और उन शुभ कार्यों का फल ईश्वर को अर्पित करें। यजुर्वेद में संपूर्ण विश्व के प्राणियों के कर्त्तव्य–कर्म का उल्लेख है जैसे माता–पिता, बेटे–बेटी, ब्रह्मचारी विद्यार्थी, कृषक, राजनेता, वैद्य आदि अनेक प्राणियों के कर्त्तव्य–कर्म का उपदेश है। इन्हीं में देश रक्षक क्षत्रिय को धर्म स्थापित करने के लिए अधर्मियों एवं दुष्टों आदि से युद्ध करने की भी प्रेरणा दी गई है। अगले मंत्रों में कहा कि असुर वृत्ति वाले भावों पर भी यह वेदवाणी ही विजय प्राप्त कराती है और मनुष्य यजुर्वेद आदि वेदों के मंत्रों का गहन मनन करके ही शुभ कर्मों को करने वाला महान पुरुष बनता है। **अथर्ववेद मंत्र 10/9/27** में यह समझाया कि प्राणी वेद के ज्ञाता, ज्ञानियों से ही कर्मज्ञान व उपासना का उपदेश ग्रहण करें । इतना सब कुछ कहने का भाव यह है कि केवल कर्म, केवल उपासना अथवा केवल ज्ञान में मुक्ति नहीं है। श्रीकृष्ण महाराज ने संदीपन ऋषि से चारों वेदों का ज्ञान प्राप्त किया और योगाभ्यास में पारंगत होकर योगेश्वर की पदवी प्राप्त की।

फलस्वरूप ही वह अर्जुन को **यजुर्वेद मंत्र 10/11, 33; 11/82; 9/32; 8/46** आदि के अनुसार कर्मयोग का ज्ञान देते हुए क्षत्रिय धर्म पालन करने के लिए, पिछले श्लोकों में धर्मयुद्ध करने की, प्रेरणा दे रहे हैं तथा ऋग्वेद में कहे मंत्रों के अनुसार ज्ञानकाण्ड का तथा सामवेद में कहे अनेक मंत्रों के अनुसार उपासना काण्ड और जीवात्मा के अविनाशी स्वरूप आदि का उपदेश दे रहे हैं । यह सब कुछ ऋग्वेद आदि में ज्ञानकाण्ड विषय के अंदर आता है। यदि श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को पिछले अध्यायों में

जीवात्मा आदि के अमर स्वरूप एवं शरीर के नाशवान रूप को नहीं समझाते तो अर्जुन का अपने संबंधियों के प्रति अज्ञान समाप्त नहीं हो सकता था और इस प्रकार वह कभी भी युद्ध नहीं करता। अतः युद्ध तो यजुर्वेद में कहा कर्म है परंतु जीवात्मा की अमरता एवं शरीर का नाशवान स्वरूप, ईश्वर की पूजा आदि के ज्ञान के साथ–साथ संपूर्ण विश्व का यह ज्ञान कि विश्व एक दिन नष्ट हो जाना है इत्यादि यह ऋग्वेद आदि चारों वेदों का गंभीर विषय है! जिसमें ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड एवं उपासना काण्ड, तीनों ही हैं। जब श्रीकृष्ण ने अर्जुन को तीनों के विषय में समझाया तब अर्जुन को यह संदेह हुआ कि श्रीकृष्ण महाराज कभी ज्ञानकाण्ड, कभी कर्मकाण्ड और कभी उपासना काण्ड की बात कर रहे हैं, वह एक बात पर चलने के लिए क्यों नहीं कहते ? इस प्रश्न का उत्तर श्रीकृष्ण ने भी आगे दिया है और चारों वेद भी यही समझाते हैं कि कर्म, ज्ञान एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जो ठीक प्रकार से समझ लेता है, उस पुरुष के किए हुए कर्म ही ज्ञानयुक्त हैं। यही कारण है कि प्रश्न तो युद्ध करने का है, जो कि क्षत्रिय का कर्म है परंतु श्रीकृष्ण ने पिछले अध्यायों में भी और संपूर्ण गीता में ज्ञान, कर्म एवं उपासना, तीनों ही विद्याओं का अर्जुन को उपदेश दिया है। फलस्वरूप ही अर्जुन ने ज्ञानयुक्त धर्मानुसार युद्धरूपी कर्म किया। फलस्वरूप ही साधक/प्राणी को निष्काम कर्म की समझ आती है।

श्री कृष्ण उवाच–

"संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ।।"

(गीता श्लोक 5/2)

(संन्यासः) कर्मों का त्याग **(च)** और **(कर्मयोगः)** निष्काम कर्म करना **(उभौ)** ये दोनों मार्ग **(निःश्रेयसकरौ)** कल्याणकारी हैं **(तु)** परंतु **(तयोः)** उन दोनों में से **(कर्मसंन्यासात्)** कर्मों के त्याग से **(कर्मयोगः)** कर्मों का करना **(विशिष्यते)** श्रेष्ठ है।

अर्थ :– कर्मों का त्याग और निष्काम कर्म करना, ये दोनों मार्ग कल्याणकारी हैं परंतु उन दोनों मार्गों में से, कर्मों के त्याग से कर्मों का करना श्रेष्ठ है।

भावार्थ :– संन्यास का अर्थ ''त्याग देना'' है। कर्मों के त्याग को गीता ने संन्यास/सांख्य मार्ग अथवा ज्ञान योग कहा है। और योग मार्ग का अर्थ कर्म करना अर्थात् निष्काम कर्म करना कहा है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि कर्मों का त्याग अथवा शुभ कर्मों का करना, यह दोनों ही मार्ग कल्याणकारी हैं। परंतु इन दोनों में शुभ निष्काम कर्म करना श्रेष्ठ है। अगले श्लोक 4 में समझाया कि यह कर्मों का त्याग (संन्यास) अथवा निष्काम कर्मयोग प्राणी को एक सा ही फल देने वाले हैं अर्थात् इन दोनों में से किसी एक पर ही चलकर परमेश्वर की प्राप्ति ही होती है। वस्तुतः चारों वेद कहते हैं कि मनुष्य कामना के बिना रह नहीं सकता। **यजुर्वेद, मंत्र 7/48** कहता है कि कामना के बिना तो कोई प्राणी अपने चक्षु को बंद अथवा खोल भी नहीं सकता और इस प्रकार निष्काम पुरुष अथवा संन्यासी भी कामना के बिना अपने नेत्रों को खोल और बंद नहीं कर सकते। अतः मनुष्य जो भी कुछ करता है, उसमें उसकी कामना ही होती है । अतः मनुष्य सदा धर्मयुक्त कर्मों को करने की कामना करें। अधर्मयुक्त कर्म करने की कभी इच्छा न करें। **ऋग्वेद मंत्र 10/29/4** में समझाया कि सृष्टि रचना के आरंभ में, मन में काम भावना (इच्छा) होती है, अतः कामना न हो तो संसार में पढ़ना–लिखना, वेदाध्ययन, योगाभ्यास, सत्संग, प्रवचन, गृहस्थाश्रम प्रवेश, सन्तान प्राप्ति आदि कोई भी शुभ कर्म शेष नहीं रहेगा। तभी श्रीकृष्ण महाराज ने भी आगे **गीता श्लोक 2/47** में कहा कि ''हे अर्जुन! कर्म करने में तेरा अधिकार है परंतु फल की इच्छा ना कर।'' इन सबका निचोड़ **यजुर्वेद मंत्र 40/2** में बड़ा सुंदर कहा है कि जब मनुष्य वेदों में कहे शुभ कर्म करता है तो वह पुरुष ऐसा शुभ कर्म करता हुआ ही कर्मबन्धनों से मुक्त हो जाता है। भाव है कि कर्मबंधनों से मुक्त होने के लिए शुभ कर्म करना अनिवार्य है तभी श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में कर्मसंन्यास अथवा ज्ञानयोग से कर्मयोग अर्थात् शुभ कर्मों का करना श्रेष्ठ कहा है । यही कारण है कि श्रीकृष्ण अर्जुन को धर्मयुद्ध करने के लिए प्रेरित कर रहे हैं जो कि क्षत्रिय का सर्वोत्तम शुभ कर्म

है । और अर्जुन को समझा रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि तू इस कर्मयोग (धर्मयुद्ध) को नहीं करेगा तो तुझे संसार नपुंसक कहेगा और तेरा यश भी समाप्त हो जाएगा क्योंकि क्षत्रिय यदि धर्मयुद्ध न करे तो स्वतः ही वह स्वः (क्षत्रिय) धर्म को त्याग कर पाप का भागी हो जाता है। संन्यास/वैराग्य का उपदेश तो श्रीकृष्ण ने अर्जुन का अपने संबंधियों के प्रति मोह भंग करने के लिए दिया था न कि घर–बार छोड़कर संन्यासी बनने के लिए।

अतः कर्मों का त्याग **यजुर्वेद मन्त्र 40/2** से समझें कि जब जीव वेदानुकूल निष्काम कर्म करता है, वेदों में कहे अनुसार ज्ञान, कर्म और उपासना के स्वरूप को समझकर और साधना द्वारा जीवन में धारण करके जब ज्ञानयुक्त हो जाता है, तब उक्त मन्त्र के अनुसार प्राणी शुभ कर्म ही करेगा, अशुभ कदापि नहीं करेगा । क्योंकि वह वेदानुकूल वेदाध्ययन, यज्ञ, ईश्वर नाम जाप एवं अष्टाँग योग साधना करता रहा है। जिसके फलस्वरूप वह ज्ञानवान है और उसकी सभी इन्द्रियाँ संयम में हैं। अतः वह तप के प्रभाव से उत्पन्न शुद्ध बुद्धि द्वारा ज्ञानयुक्त होकर सदा शुभ कर्म करेगा और वह शुभ कर्म ऊपर के मन्त्रानुसार उसको लिप्त नहीं होंगे अर्थात् शुभ किए हुए कर्मों का फल नहीं भोगेगा। वस्तुतः इसे ही कर्मों का त्याग कहते हैं अर्थात् ऊपर के ज्ञान, कर्म एवं उपासना किए हुए योगी को परमेश्वर, जीव, प्रकृति, शुभ–अशुभ कर्म आदि सभी का ज्ञान होता है और क्योंकि वह तपस्वी ज्ञानवान है अतः वेदों में कहे इस ज्ञान को भी जानता है कि उसे सदा योग अवस्था, ब्रह्म अवस्था, मोक्ष अवस्था में भी कर्मनिष्ठ होना है और आलसी नहीं बनना है।

अतः ऊपर कहे संन्यास शब्द का जो अर्थ कर्मों का त्याग कहा है, उसका भाव है कि ज्ञानवान सदा कर्मनिष्ठ होता है और उसे कर्मों का फल नहीं भोगना होता। उसके सब कर्म ज्ञानयुक्त होते हैं और ज्ञानयुक्त अवस्था में वह वैदिक कर्मों का त्याग कभी नहीं करता।

श्री कृष्ण उवाच–

''ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्.क्षति
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते''।।

(गीता 5/3)

(महाबाहो) हे महाबलशाली अर्जुन **(यः)** जो **(न)** न किसी से **(द्वेष्टि)** द्वेष करता है **(न)** न **(काङ्.क्षति)** इच्छा करता है **(सः)** वह पुरुष **(नित्यसंन्यासी)** नित्य संन्यासी ही **(ज्ञेयः)** जानने योग्य है **(हि)** क्योंकि **(निर्द्वन्द्वः)** द्वन्द्वों से छूटा हुआ **(सुखम्)** सुख पूर्वक **(बन्धात्)** कर्म बन्धनों से **(प्रमुच्यते)** छूट जाता है।

अर्थः– हे महाबलशाली अर्जुन! जो न किसी से द्वेष करता है न इच्छा करता है वह पुरुष नित्य संन्यासी ही जानने योग्य है क्योंकि द्वन्द्वों से छूटा हुआ सुख पूर्वक कर्म बन्धनों से छूट जाता है।

भावार्थः– जैसा कि पिछले श्लोक में कहा कि इच्छा करना मनुष्य का स्वभाव है सृष्टि के आरंभ में भोग भोगने के लिये कामना मन के अन्दर स्थित रहती है! विद्वान् जन इस प्रकार ''इच्छा'' के स्वरूप को समझ लेते हैं कि इच्छा ही जीव को बार–बार जन्म मृत्यु के चक्कर में डालती है। अतः वह इच्छा का दमन कर लेते हैं और वैराग्य को प्राप्त हो जाते है। इस संदर्भ में **ऋग्वेद मंत्र 10/129/4** का भाव है कि तपस्वी, विद्वान् वैराग्यवान होकर रहते हैं। अतः **योग–शास्त्र सूत्र 1/15 और 16** में वैराग्य का स्वरूप बताया है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, शुभ कर्म एवं योगाभ्यास के पश्चात योगी की यह स्थिति होती है कि संसार में रहकर भी उसे संसार के पदार्थों का देखना और सुनना उसके चित्त पर प्रभाव नहीं डाल पाता (संसार के पदार्थों का देखना और सुनना उसके चित्त पर असर नहीं कर पाता) अर्थात् संसार के भोगों में योगी फँस नहीं पाता। और दूसरा कि ईश्वर की बनाई इस सृष्टि में जितने भी पदार्थ हैं अर्थात् सोना–चांदी, मकान–दुकान, शरीर, खान–पान आदि भोग–पदार्थ हैं उन सब में तृष्णा रहित हो जाता हैं। यह स्थिति ब्रह्मलीन योगी की होती

है । परमेश्वर के स्वरूप का पूर्णज्ञान होने के कारण ही वह योगी प्रकृति के तीनों गुण, रज, तम और सत्त्व से पूर्णतः तृष्णा रहित हो जाता है। इस स्थिति में ही जीवात्मा के केवल स्वाभाविक कर्म जो शरीर पूर्ति के लिए होते हैं, वह होते रहते हैं और ऐसा योगी वास्तव में तृष्णा (इच्छा) रहित होता है। अतः वह योगी किसी से द्वेष भी नहीं करता।

श्लोक में दूसरा शब्द यहाँ 'द्वेष' ही है ! जिसे **योगशास्त्र सूत्र 2/3** में अविद्या, अस्मिता, राग, अभिनिवेश सहित पाँचवा क्लेश द्वेष अर्थात् विपरीत ज्ञान कहा है । यह क्लेश रज, तम और सत्त्व, प्रकृति के इन तीनों गुणों के प्रभाव को जीवन में दृढ़ करते हैं और इस प्रकार प्राणी संसार के जाल में फँस कर दुखी रहता है। वह आलस्य, निद्रा, कर्त्तव्य–पालन की अवलेहना, अहंकार, अभिमान आदि से ग्रस्त रहता ह। यह द्वेष सहित पाँचों क्लेश जीवन में अशुभ संस्कारों को उत्पन्न करने वाले होते हैं। **योगशास्त्र सूत्र 2/8** में द्वेष का स्वरूप **''दु:खानुशयी द्वेषः''** अर्थात् दुःख के भोगने के पश्चात चित्त में द्वेष भावना का उत्पन्न होना ही द्वेष है । सांसारिक विषयों को भोगते–भोगते जब कभी किसी विषय से दुःख अनुभव होता है और विरोधी भावना से क्रोध वृत्ति उत्पन्न होती है तो इसे द्वेष नामक क्लेश कहते हैं। क्लेश का अर्थ दुःख ही है। योगसाधना द्वारा ही द्वेष सहित यह पाँचों क्लेश नाश होते हैं। यह कैसे हो सकता है कि केवल ज्ञान में मुक्ति हो जाए और कर्म व उपासना धरी की धरी रह जाए।

तीसरा शब्द इस श्लोक में 'द्वन्द्व' है अर्थात काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि द्वन्द्व। अन्तःकरण में यह द्वन्द्व अर्थात् विकार उठते रहते हैं। योगसाधना द्वारा जब चित्त वृत्ति निरुद्ध होती है तब इनका भी नाश होता है। सारांश यह है कि ऐसा पुरुष जो उपर कही साधना द्वारा द्वेष, इच्छा एवं द्वन्द्व से रहित हो जाता है वही नित्य संन्यासी है और उसने ही सुखपूर्वक अपने कर्मबन्धनों को काट डाला है। ऐसा ही पुरुष मोक्ष को प्राप्त होता है। परन्तु यहाँ यह भी समझना चाहिए कि इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज वैराग्य प्राप्त संन्यासी के स्वरूप को समझा रहे हैं न कि कर्मयोगी के। वस्तुतः अर्जुन से तो उन्होंने

धर्मयुद्ध कराना है जो कि कर्मयोग है। परन्तु साथ ही साथ इस संन्यास के स्वरूप को समझाते हुए श्री कृष्ण महाराज अर्जुन के चित्त पर यह सच्चा प्रभाव डाल रहे हैं कि हे अर्जुन! यदि तू राग, द्वेष एवं काम, क्रोध आदि द्वन्द्वों को मेरी आज्ञा (श्री कृष्ण की आज्ञा) से त्यागकर युद्ध में हार और जीत की इच्छा का भी त्याग करके युद्ध कर्म करता है तो तू भी एक संन्यासी की तरह युद्धरूपी कर्मयोग करता हुआ अपने कर्मबन्धनों से मुक्त हुआ जान। श्री कृष्ण का इस प्रकार कर्म करने के लिए ज्ञान देना यह दर्शाता है कि ज्ञानयोग और कर्मयोग दोनों एक ही हैं, अर्थात् बिना ज्ञान प्राप्त किए शुभ कर्म नहीं हो सकता और उपासना के बिना राग, द्वेष व अशुभ इच्छा आदि का नाश नहीं हो सकता। अतः **अथर्ववेद मंत्र 8/9/20** का यह अनादि ज्ञान **'त्रिवृतं व्याप'** अर्थात् ज्ञान, कर्म और उपासना इन तीनों में प्रवीण पुरुष ही अपने प्राणों की रक्षा करता है तथा 'त्रिष्टुप्' तीन अर्थात् काम, क्रोध, लोभ का निषेध कर देता है। **अथर्ववेद मंत्र 8/2/10** में मृत्यु का मार्ग रजो गुण की वृत्तियों से बना हुआ कहा है। ईर्ष्या, द्वेष, काम, क्रोध यह रजोगुण की वृत्तियाँ ही प्राणी को मृत्यु की ओर ले जाती हैं। **मंत्र 8/2/9** में भी रजोगुण तथा तृष्णा आदि वृत्तियों से उपर उठने का उपदेश है। इन्हीं मंत्रों में इन पापों से बचने के लिए **ब्रह्मचर्य अर्थात् वेद मंत्रों के ज्ञान, कर्म एवं उपासना करते हुए राग द्वेष, ईर्ष्या, तृष्णा,** क्रोध आदि रजोगुणी वृत्तियों को नाश करने का उपदेश दिया है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि केवल ज्ञान में मुक्ति हो औरं कर्म तथा उपासना की आवश्यकता न हो। वेद–विरुद्ध होने के कारण ऐसा विचार असत्य है। द्वन्द्व का अर्थ है जोड़ा जैसे स्त्री–पुरुष का जोड़ा इत्यादि। इसी प्रकार काम–क्रोध का जोड़ा, मद–लोभ का जोड़ा एवं राग–द्वेष का जोड़ा इत्यादि। अतः जो पुरुष ऊपर कही साधना करता हुआ जब राग–द्वेष आदि द्वन्द्वों से छूट जाता है तब वह पुरुष सभी कर्मबन्धनों से भी मुक्त हो जाता है। अतः वेदाध्ययन द्वारा जब जीव वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को समझकर साधना करता है और जिस भी जन्म में वह विद्या को आचरण में ले आता है तब वह इस साधना, तप के फलस्वरूप द्वंद्वों से छूट जाता है और पुनः कर्मबन्धनों से छूटकर मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है। अतः वैदिक प्रमाण के अनुसार वेदाध्ययन एवं वेदों में कहे यज्ञ, योगाभ्यास

आदि उपासना एवं शुभ कर्म करके ही जीव मुक्ति को प्राप्त होता है – द्वन्द्वों से छूटता है। अब यदि कोई केवल पढ़–सुन–रट कर गीता आदि का ज्ञान सुनाते हैं और बीच–बीच में कथा–कहानियाँ आदि कहते रहते हैं और कहें कि वही सत्संग है और बिना साधना कोई तर जाएगा, तब ऐसा भाषण असत्य कहा जाएगा।

श्री कृष्ण उवाच –

"सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ।।

(गीता 5/4)

(बालाः) मूर्ख लोग **(सांख्ययोगौ)** सांख्य एवं कर्मयोग को **(पृथक्)** अलग–अलग **(प्रवदन्ति)** कहते हैं **(पण्डिताः)** विद्वान् लोग **(न)** नहीं कहते क्योंकि **(एकम्)** एक में **(अपि)** भी **(सम्यक्)** अच्छी तरह **(आस्थितः)** स्थिर हुआ पुरुष **(उभयोः)** दोनों के **(फलम्)** फल को अर्थात् ईश्वर को **(विन्दते)** प्राप्त कर लेता है।

अर्थ :– मूर्ख लोग सांख्य एवं कर्मयोग को अलग–अलग कहते हैं, विद्वान् लोग नहीं कहते। क्योंकि एक में भी अच्छी तरह स्थिर हुआ पुरुष दोनों के फल को अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर लेता है। अर्थात् दोनों का फल एक ही है। वह है– ईश्वर प्राप्ति।

भावार्थ :– प्रस्तुत श्लोक में सांख्य योग का अर्थ संन्यास अर्थात् कर्मों का त्याग/ज्ञान मार्ग है। और योग शब्द का अर्थ कर्मयोग है अर्थात् निष्काम कर्म करना है। श्रीकृष्ण महाराज यहाँ कहते हैं कि जो अज्ञानी/मूर्ख हैं वही सांख्य एवं कर्मयोग को अलग–अलग कहते हैं। जैसे मनुष्य और मनुष्य की छाया अलग–अलग नहीं है, अर्थात् मनुष्य अवश्य है, तब ही उसकी छाया है। इसी प्रकार यदि हम वेदों के मंत्रों का अध्ययन करके ज्ञानवान होते हैं तब वेदों से प्राप्त इस ज्ञान में ही हमें शुभ कर्म करने की प्रेरणा मिलेगी अर्थात्

ज्ञान प्राप्त करके हम कर्म किए बिना नहीं रह सकते अन्यथा हम ज्ञानी ही नहीं होंगे। और यदि हम वैदिक शुभ कर्म करेंगे तब निश्चित ही उन शुभ कर्मों को करने से यह होगा कि मंत्रो में उपासना की प्रेरणा भी होगी और उपासना सहित शुभ कर्मों का फल यह होगा कि हमें ईश्वर का ज्ञान तथा उसकी कृपा प्राप्त होगी। **मनुस्मृति श्लोक 2/128** में कहा–''अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः'' अर्थात वेदविद्या–विज्ञान को न जानने वाला, सौ वर्ष का पुरुष भी बालक/मूर्ख ही माना जाता है और एक छोटा बालक जो वेदविद्या को जानने वाला विद्वान् है, उसे पिता के समान मानते हैं। इसी मनुस्मृति के अगले श्लोक में कहा कि आयु बड़ी होने, बाल सफेद होने, धन और कुटुम्ब बड़ा होने से, कोई बड़ा नहीं होता अपितु ऋषियों का नियम है कि जो वेद विद्या, विज्ञान में अधिक है, वही पुरुष वृद्ध–बड़ा कहलाता है। **मनुस्मृति के अगले श्लोकों 2/132** का भाव है कि जो पुरुष वेद विद्या/विज्ञान नहीं जानता वह काठ के हाथी व चमड़े के बनाये मृग के समान है जिनमें चेतना/बुद्धि नहीं होती। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने भी वेदानुकूल ही ''बालाः'' और ''पण्डिताः'' शब्द क्रमशः मूर्ख अथवा बालक एवम् वेदों का विद्वान्, इनके लिए प्रयोग किये हैं। पण्डित अर्थात् वेदों का विद्वान् सांख्य/कर्म त्याग/ज्ञान मार्ग एवम् कर्मयोग को अलग अलग नहीं कहता। **अथर्ववेद मंत्र 6/23/3** में उपदेश है कि वेदों में कही ईश्वर की प्रेरणा से **''मानुषाः कर्म कृण्वन्तु''** मनुष्य शुभ कर्म करता रहे। **गीता श्लोक 3/15** श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट किया है कि चारों वेद ईश्वर से उत्पन्न हैं और वेदों से ही सब कर्म उत्पन्न हुए हैं! अतः कर्म करने के लिए हैं, त्याग के लिये नहीं। **अथर्ववेद मंत्र 6/64/1** का भाव है कि विद्वान् लोग वेदों के ज्ञाता होते हैं और ज्ञानवान् होने के फलस्वरूप ही वह अपने कर्त्तव्य कर्मों को करते हैं। अतः उन ज्ञानवान् विद्वानों के समान हम भी विद्वानों से ज्ञान लेकर कर्त्तव्य–कर्मों के स्वरूप को समझें और पुरुषार्थी होकर सदा कर्त्तव्य कर्म करें। यही कारण है कि पिछले श्लोक 5/2 में श्रीकृष्ण महाराज ने सांख्य और कर्मयोग दोनों को कल्याणकारी कहकर ही निष्काम कर्म को वेदानुसार ही श्रेष्ठ कहा है। अतः हम ज्ञान, उपासना एवं कर्म तीनों में से एक का भी कभी त्याग न करें अन्यथा बालक के समान अज्ञानी होकर हम दुःखों को

आमंत्रित कर लेंगे । और इन तीनों में से एक में भी अच्छी तरह स्थिर हुआ पुरुष, दोनों के फल अर्थात् ईश्वर को प्राप्त कर लेता है, इस वाक्य का भाव ऊपर स्पष्ट कर दिया है कि गीता एक वैदिक प्रवचन है। चारों वेदों में ऋग्वेद– ज्ञानकाण्ड, यजुर्वेद–कर्मकाण्ड एवं सामवेद–उपासना काण्ड का विशेष ज्ञान देता है और अथर्ववेद में इन तीनों वेदों के कहे ज्ञान की पुष्टी एवं औषधि व चिकित्सा पद्धति का वर्णन है। अतः प्रस्तुत श्लोक में अथवा गीता के किसी भी श्लोक में जब कर्म, ज्ञान, उपासना, प्रकृति, जीव, ईश्वर आदि किसी भी विषय में बात की जाएगी तो वह वेदों से उत्पन्न विद्या है। श्रीकृष्ण महाराज व अन्य कोई भी पुरातन ऋषि–मुनि आदि जब बाल्य अवस्था में गुरुकुल ज्ञान उपार्जन के लिए गए थे तब आरम्भ में उन्हें गीता–उपनिषद् आदि ग्रन्थों में कहे सूक्ष्म विषयों का ज्ञान नहीं दिया गया था। प्रथम उन्हें ब्रह्मचर्य, सेवा, नियमित सात्विक आहार, प्रातःकाल का उठना आदि अनेक शिक्षाएँ देकर वेदमन्त्रों का उच्चारण, यज्ञ करना, ईश्वर नाम सिमरण पश्चात प्रार्थना, स्तुति एवं उपासना आदि के मन्त्रों की दीक्षा दी जाती थी। नित्य का वेदाध्ययन, यज्ञ/हवन आदि क्रियाएँ की जाती थीं। पुनः धीरे–धीरे वेदमन्त्रों के गूढ़ रहस्य, योगाभ्यास में प्रवीण किया जाता था और यह क्रम कम से कम पच्चीस वर्ष की आयु तक चलता था और गृहस्थाश्रम में भी जाकर सम्पूर्ण आयु इसका अभ्यास चलता रहता था। इसका प्रमाण **तैत्तिरीयोपनिषद् श्लोक शिक्षावल्ली 11/1** में भी कहा है

ऊपर लिखे विषय का भाव है कि उन महापुरुषों ने जब प्रारम्भ से वेदों का अध्ययन किया तब वर्षों में उन्हें यह समझ आया कि ज्ञान, कर्म एवं उपासना, तीनों को ही जीवन के आचरण में लाना होता है, एक का भी त्याग नहीं किया जा सकता और वही महापुरुष तपस्या के बाद, श्रीकृष्ण महाराज की तरह यह कहने में सक्षम होता है कि हे अर्जुन! मूर्ख लोग ही सांख्य एवं कर्मयोग को अलग–अलग कहते हैं। ज्ञानी इनको अलग–अलग नहीं कहते। एक में अच्छी तरह स्थिर होने से तीनों का अभ्यास जीवन में अवश्य करना होता है।

श्री कृष्ण उवाच–

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।

(गीता 5/5)

(सांख्यैः) ज्ञान मार्ग द्वारा **(यत्)** जो **(स्थानम्)** स्थान फल **(प्राप्यते)** प्राप्त करता है **(योगैः)** कर्म योग द्वारा **(अपि)** भी **(तत्)** वह ही फल **(गम्यते)** प्राप्त किया जाता है । **(यः)** जो विद्वान् **(सांख्यम्)** कर्मों का त्याग/ज्ञानयोग **(च)** और **(योगम्)** निष्काम कर्मयोग को (एकम्) एक ही **(पश्यति)** देखता समझता है **(सः)** वह **(च)** ही **(पश्यति)** यथार्थ देखता है।

अर्थः– ज्ञान मार्ग द्वारा जो स्थान फल प्राप्त करता है कर्मयोग द्वारा भी वह ही फल प्राप्त किया जाता है । जो विद्वान् कर्मों का त्याग/ज्ञानयोग और निष्काम कर्म–योग को एक ही देखता–समझता है, वह ही यथार्थ देखता है

भावार्थः– प्रस्तुत श्लोक में सांख्य अर्थात् ज्ञान मार्ग का भाव है – कर्मों का त्याग करके परमेश्वर की उपासना द्वारा ईश्वर को प्राप्त करना। योग पद का भाव कर्मयोग अर्थात् शुभ–कर्म निष्काम भाव द्वारा करते हुए ईश्वर की उपासना द्वारा ईश्वर प्राप्ति करना। श्री कृष्ण का यहाँ उपदेश है कि सांख्य अर्थात् ज्ञान–मार्ग जो ईश्वर प्राप्ति है, वही कर्मयोग द्वारा भी है। अतः किसी भी एक मार्ग पर चलने से एक सा ही फल प्राप्त होता है। अतः ज्ञान–योग और कर्म–योग में कोई भेद नहीं है। इसका यह भी अर्थ नहीं है कि केवल ज्ञान से अथवा केवल कर्म से मुक्ति है। ज्ञान–युक्त कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को वेदाध्ययन द्वारा जीवन में आचरण में लाने में ही मुक्ति है। ज्ञान मार्ग संन्यास का मार्ग है। यह निश्चित है कि संन्यासी कठिन परिश्रमी, पुरुषार्थी और वेदानुकूल सभी शुभ कर्म करता है। एक वेद–विद्या रत संन्यासी ही दिन–रात जिज्ञासुओं को विद्या दान करता है परन्तु क्योंकि वह कर्म फल की इच्छा से रहित है और वैदिक शुभ कर्म करने के कारण **यजुर्वेद मंत्र 40/2** के अनुसार कर्मफल में लिप्त भी नहीं होता। अतः कर्म करता

हुआ भी मानो कुछ कर्म नहीं करता। कर्मयोग में साधक वैदिक शुभ कर्म करता है परन्तु उस साधक के भी वेदानुकूल यज्ञ, गृहस्थ, समाज एवं देश के प्रति किए कर्म निष्काम कर्म हो जाते हैं अर्थात् कर्मफल की इच्छा से रहित हो जाते हैं। इस प्रकार वह कर्मयोगी भी कर्म करता हुआ भी कर्मफल में लिप्त नहीं होता। ज्ञानी बनने के लिए वेदाध्ययन, आचार्य की सेवा आदि वैदिक शुभ कर्म अवश्य करने पड़ते हैं और जो कोई भी इस वैदिक पद्धति से ज्ञानी हो जाता है तो वह वैदिक शुभ कर्म किए बिना रह नहीं सकता। कर्मयोगी भी वही है जो आचार्य की सेवा द्वारा वेदाध्ययन करके गृहस्थादि के शुभ कर्मों को पूर्णतः जान लेता है तथा शुभ कर्मों का ज्ञाता होकर प्रतिदिन निष्काम शुभ कर्म करता है । यज्ञ, अष्टाँग योग साधना भी ईश्वरीय उपासना है जो कि ज्ञानयुक्त कर्म हैं। अतः **यजुर्वेद मंत्र 7/48** का यह भाव जिज्ञासु सदा ध्यान में रखें कि बिना कर्म किए तो कोई भी प्राणी एक क्षण भी नहीं रह सकता। शरीर की ग्यारह इन्द्रियाँ दी ही शुभ कर्म करने के लिए हैं। बिना कर्म तो शरीर त्याग के बाद जब तक दूसरा शरीर धारण नहीं होता तब तक ही संभव है क्योंकि इस समय जीवात्मा शरीर रहित होकर ईश्वर की व्यवस्था में सुषुप्त अवस्था (गाढ़ निद्रा की सी अवस्था) में होती है। फलस्वरूप ही ऊपर के **यजुर्वेद मंत्र 7/48** में ईश्वर हम सबको उपदेश देता है कि केवल ईश्वर ही जीव को कर्मों का फल देता है और कामना के बिना कोई मनुष्य अपनी पलकें न बंद कर सकता है, न खोल सकता है। अतः निष्कामता का भी यह अर्थ नहीं है कि प्राणी सब कर्म छोड़कर बैठ जाए। इस विषय में **मनुस्मृति श्लोक 2/2, 3** एवं 4 का भाव द्रष्टव्य है कि प्राणी के लिए अत्यन्त कामातुरता और अत्यन्त निष्कामता कदापि श्रेष्ठ नहीं है। क्योंकि यदि प्राणी कामना रहित हो जाएगा तो शुभ संकल्प द्वारा वेदों का ज्ञान, यज्ञ सत्य–भाषण, ब्रह्मचर्य, यम–नियम आदि योग–विद्या, पढ़ाई–लिखाई, कृषि आदि संसार के कोई भी कर्म नहीं किए जा सकेंगे। और अत्यन्त कामना अर्थात् वेद–विरुद्ध कामना यदि होगी तो वैसे ही प्राणी नरक गामी हो जाएगा। अतः केवल वेदोक्त शुभ कर्म की ही मानव को प्रेरणा है **(वैशेषिक सूत्र 1/1/2 व मीमांसा शास्त्र सूत्र 1/1/2)** और वेद–विरुद्ध कर्म अधर्मयुक्त हैं। अतः वेद–विरुद्ध कर्म करने की आज्ञा नहीं है । गीता में भी क्षत्रिय धर्म में धर्मयुद्ध

श्रेष्ठ कर्म कहा है जिसके विषय में पिछले श्लोकों में विस्तृत व्याख्या की गई है। अतः अर्जुन जो क्षत्रिय वंश में है उसे श्री कृष्ण महाराज धर्मयुद्ध कर्म करने की प्रेरणा दे रहे हैं। और गीता पढ़ते अथवा सुनते यह ध्यान रहे कि केवल ऐसा शुद्ध युद्ध कर्म कराने के लिए श्री कृष्ण वेदों में कही तीन विद्या अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना का संक्षेप में उपदेश अर्जुन को दे रहे हैं अर्थात् करना तो युद्ध कर्म है परन्तु उपदेश ऊपर कही तीनों विद्याओं का आवश्यक है। इसी प्रकार प्रत्येक नर–नारी को चाहे ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ अथवा संन्यास किसी भी वर्ण में स्थित रहकर कर्त्तव्य निर्वाह करना हो परन्तु उसे भी वेदों में ऊपर कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों विद्याओं का मर्म वेदों के ज्ञाता किसी अष्टाँग योगी से समझना अनिवार्य है। क्योंकि यह ईश्वरीय नियम में आता है।

कर्म के विषय में **अथर्ववेद मंत्र 6/23/3** कहता है – **''सवितुः देवस्य''**– तीनों लोकों को रचने वाले ईश्वर की (**''सवे''**) प्रेरणा में **(मानुषाः)** सब मननशील मनुष्य **(कर्म कृण्वन्तु)** कर्त्तव्य कर्म करें। मन्त्रानुसार ईश्वर की प्रेरणा केवल चारों वेदों में है जहाँ स्वयं ईश्वर ने अपने अन्दर से ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूप तीनों विद्याएँ **यजुर्वेद मंत्र 31/7 एवं 40/8** के अनुसार हम सबको दान में दी। मंत्र में **मानुष** का अर्थ वेदों के मंत्रों का मनन करने वाला मुनि अथवा मननशील प्राणी है। अर्थ स्पष्ट है कि जो वेदों के मन्त्रों का मनन करता है वही मुनि है और उसे ही शुभ कर्म करने की प्रेरणा अंतःकरण में प्राप्त होती है। बात यहाँ पुरुषार्थ की ही है कि केवल ऋषि–मुनियों, राजा, हरिश्चन्द्र एवं उसकी प्रजा जैसा सच्चा जिज्ञासु होता है अथवा सीता, मदालसा, गार्गी जैसी ही पुरुषार्थी नारियाँ होती हैं जो वेदों को सुनकर वेदों का मनन करती हैं। अन्यथा जो पढ़–सुन–रट कर बोल रहे हैं और उनकी बातों को जो सुन रहे हैं उन्हें ईश्वरीय प्रेरणा नहीं है उन्हें तो झूठी मनुष्य की बुद्धि से उत्पन्न कथा, कहानियाँ, चुटकुले हँसी–मजाक की प्रेरणा है जो कि नाशवान है। यदि हम बीस मिनट वेद सुन लेंगे तो पुण्य ही पुण्य है परन्तु बीस घण्टे वेद–विरुद्ध बातें अथवा ग्रंथ सुनेंगे तो वह पाप ही पाप है।

अतः श्री कृष्ण महाराज ने वैदिक ज्ञान पर आधारित इस श्लोक में यह सत्य प्रकट किया है कि प्राणी कभी भी कर्म–हीन, आलसी न बन बैठे अपितु वैदिक ज्ञान को ग्रहण करके यह सत्य समझें कि सांख्य (ज्ञानयोग) और योग (कर्मयोग) में कोई अंतर नहीं है। क्योंकि इस प्रकार प्रत्येक योग ऊपर कही वेदों की तीनों विद्याओं को आचरण में लाने का ही फल है और जो प्राणी वेद–विरुद्ध है वह ही कर्म योग का और ज्ञान योग का तथा उपासना योग का भिन्न अर्थ करेगा, जो गीता ग्रंथ के विरुद्ध अनर्थ हो जाएगा।

यजुर्वेद मंत्र 40/1 में ईश्वर का उपदेश है **''त्यक्तेन भु जीथा''** अर्थात् शुभ कर्म करते हुए संसार के भोग पदार्थों का धर्मयुक्त होकर त्यागपूर्वक भोग भोगो अतः शुभ कर्म त्याग योग्य नहीं हैं। क्योंकि संसार का कोई पदार्थ, यहाँ तक कि शरीर भी अपना नहीं है अतः धर्म स्थापना हेतु त्याग–पूर्वक भोग। **अथर्ववेद मंत्र 4/34/1** में समझाया कि इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से **'ब्रह्मौदनम्'** ब्रह्म रूपी भोजन पुरुषार्थ कर्म द्वारा प्राप्त करो। ब्रह्मौदनम् रूपी भोजन का तात्पर्य है कि जीवात्मा को 'शब्द ब्रह्म' अर्थात् वेद विद्या का ज्ञान चाहिए जिससे जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित होती है तथा ईश्वर में लीन होती है। अन्यथा जीवात्मा भूखी प्यासी, दुखी दिखाई देती है जो कि वास्तव में जीवात्मा का गुण नहीं है। अतः वेद ने कहा कि जिस तरह भूखे पेट शरीर को जब भोजन दिया जाता है तब ही शरीर टिकता है और लम्बी आयु प्राप्त करता है और तृप्त होता है। उसी प्रकार जन्म–जन्मान्तरों से ईश्वर से बिछड़ी जीवात्मा 'शब्द–बह्म' की भूखी है फलस्वरूप ही दुखी दिखाई देती है। गीता कहती है कि यदि ज्ञान एवं कर्म योग से हम हीन हैं तब जीवन व्यर्थ है। वेद कहता है कि हम चेतन जीवात्मा को चेतन ईश्वर से निकला वेदों का ज्ञान कर्मयोग द्वारा सुनाएँ जिसके लिए जीवात्मा को ईश्वर ने कान दिए हैं तभी जीवात्मा की भी भूख मिटेगी। यदि हम इस ज्ञान से, कर्म से हीन हैं तब सब व्यर्थ है। प्रस्तुत श्लोक में 'सांख्यम्' शब्द से यही तात्पर्य है कि जब साधक अर्थात् जीवात्मा वैदिक ज्ञान एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों द्वारा इन्द्रियों को संयम में रखता है फलस्वरूप ही वह ज्ञानी ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है। और इसी प्रकार जब कोई साधक वेदानुकूल ज्ञानयुक्त शुभ कर्त्तव्य

कर्म एवं उपासना करने वाला होता है तो वह भी एक दिन ज्ञानी होकर ईश्वर को प्राप्त कर लेता है । अतः विद्वान् ज्ञानी पुरुष सांख्य एवं कर्मयोग के फल को एक ही मानता है, अलग–अलग नहीं। वस्तुतः कर्मयोग के बिना ज्ञान अनुभव में नहीं आता। और कर्म के स्वरूप का ज्ञान न हो तब कर्म शुद्ध नहीं किए जा सकते। इसलिए ज्ञान के बिना कर्म नहीं, कर्म के बिना ज्ञान नहीं तथा उपासना के बिना ईश्वर अनुभूति नहीं। अतः ज्ञानी होकर कर्म करना ही श्रेष्ठ है। और इस प्रकार ज्ञान योग एवं कर्मयोग में कोई अन्तर नहीं है।

अगले ही श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने सांख्य (ज्ञान योग) और योग (कर्म योग) का एक–दूसरे के बिना कोई औचित्य ही नहीं है, ऐसा कह कर समझाया है। अतः आज के ज्ञान मार्गी यदि कर्म का त्याग करते हैं और अपने को कर्मयोगी कहने वाले वैदिक ज्ञान का त्याग करते हैं अथवा अन्य कोई केवल भक्ति योग को श्रेष्ठ बताते हैं और कर्मयोग एवं ज्ञान योग को आवश्यक नहीं मानते वह गीता के उपदेश से अनभिज्ञ एवं मुख्यतः वेदों के ज्ञान से अनभिज्ञ हैं।

श्री कृष्ण उवाच–

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म नचिरेणाधिगच्छति ।।

(गीता श्लोक 5/6)

(महाबाहो) हे बलशाली अर्जुन **(अयोगतः)** कर्म योग के बिना **(तु)** तो **(संन्यासः)** कर्मों का त्याग **(आप्तुम्)** प्राप्त होना **(दुःखम्)** कठिन है। **(मुनिः)** वेदों का मनन करने वाला मुनि **(योगयुक्तः)** निष्काम कर्म में लगे हुए **(चिरेण)** देर से **(ब्रह्म)** परमात्मा को **(न)** नहीं **(अधिगच्छति)** प्राप्त करते अर्थात् शीध्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

अर्थः–हे बलशाली अर्जुन, कर्मयोग के बिना तो कर्मों का त्याग होना कठिन है। वेदों का मनन करने वाला मुनि, निष्काम कर्म में लगे हुए देर से परमात्मा

को नहीं प्राप्त करते अर्थात् शीघ्र ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेते हैं।

भावार्थः—प्रस्तुत श्लोक में कर्म किए बिना कर्मों का त्याग असंभव कहा है। पुनः श्लोक में संन्यास पद का अर्थ कर्मों का त्याग करना कहा है। श्लोक में "मुनिः" पद का अर्थ वेदों के मन्त्रों का मनन करने वाला मुनि है। इसके अतिरिक्त और कोई मुनि नहीं कहा। जैसे कि **ऋग्वेद मन्त्र 10/53/6** में कहा "**मनुः भव**" अर्थात् वेदमन्त्रों को मनन करने वाला बन। मन्त्र में यह भी स्पष्ट उपदेश है कि वेदाध्ययन की परम्परा के अनुसार आध्यात्मिकवाद से ज्ञान का अनुष्ठान कर और ज्ञानयुक्त बुद्धि द्वारा कर्म से किए न्याययुक्त मार्गों का पालन कर और इस प्रकार "**मनुः भव**" अर्थात् मनन शील हो। **ऋग्वेद मन्त्र 10/53/5** में कर्म के विषय में अति उत्तम उपदेश है कि "जो वेदवाणी में पारंगत हैं और जो कर्मकाण्डी विद्वान् हैं, वह वेदविद्या के उपदेश द्वारा मनुष्य को उपद्रवों से बचाएँ और वृष्टि तथा अतिवृष्टि आदि आघातों से बचाएँ।

ऋग्वेद मन्त्र 10/53/7 का भाव है कि पुरुषार्थ द्वारा वेदोक्त कर्म करते हुए ज्ञान का संग्रह करने वाले विद्वान् अपनी इन्द्रियों को अष्टाँग योग द्वारा विषयों से नियंत्रित करें और मन जो विषय–विकार में रमण करता है उसे वश में करके मोक्ष पद प्राप्त करे। केवल इन मन्त्रों का ही नहीं अपितु चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूप तीनों विद्याओं का सार है कि जीव वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों विद्याओं को आचरण में लाकर मोक्ष पद प्राप्त करे। अर्थात् तीनों विद्याओं में से एक का भी त्याग संभव नहीं।

श्री कृष्ण प्रस्तुत श्लोक में यही मार्मिक उपदेश कर रहे हैं कि "**अयोगतः तु संन्यासः आप्तुम् दुःखम**" अर्थात् कर्मयोग/वैदिक शुभ कर्म किए बिना तो कर्मों का त्याग करना कठिन है अर्थात् असंभव है। अतः श्रीकृष्ण ने ऋग्वेद के ऊपर कहे मन्त्रानुसार ही स्पष्ट किया कि "**मुनि योगयुक्तः**" अर्थात् वेदों का मनन करने वाला मुनि जब वेदानुसार शुभ कर्म करता है तब वह कर्म में

लिप्त भी नहीं होता और शीघ्र ईश्वर को प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त कर लेता है । अतः यहाँ अनायास ही ईश्वर कृत् **यजुर्वेद मन्त्र 40/2** के भाव याद आते हैं "**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।**"

अर्थः— प्राणी वेदोक्त शुभ कर्म करते—करते इस संसार में सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार धर्मयुक्त कर्म करते हुए तुझ नर में अधर्मयुक्त/पापयुक्त कर्म का लेश नहीं रहता अर्थात् शुभ कर्मों को करते हुए जीव की बुद्धि पाप—कर्मों में लिप्त नहीं होती और इन वेदोक्त शुभ कर्म करने से पूर्व जन्म के अशुभ कर्मों का भी नाश हो जाता है। इस प्रकार जीव दीर्घायु, विद्या आदि प्राप्त करके सौ वर्ष की सुखमय आयु को प्राप्त करता है। मन्त्र में आगे कहा कि इस प्रकार वेदों में कहे कर्मों को करने के द्वारा ही मनुष्य कर्मों में लिप्त नहीं होता। इसके अतिरिक्त कर्मों में लिप्त न होने का कोई अन्य मार्ग नहीं है अर्थात् वेदोक्त शुभ कर्म करता हुआ ही प्राणी कर्मफल से छूट जाता है। अतः कर्महीन प्राणी कभी आत्मिक शांति नहीं पा सकता।

श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ पुनः स्पष्ट किया है कि शुभ कर्म किए बिना संन्यास अर्थात् कर्मबन्धनों से मुक्त होना कठिन है। **यजुर्वेद मंत्र 7/6** का भाव है कि जब तक कोई मनुष्य शुभ कर्म करके श्रेष्ठ आचरण वाला नहीं होता तब तक ईश्वर उसे नहीं अपनाता। क्योंकि जिसको ईश्वर अपनाता है उसे ही पूर्ण आत्मबल प्राप्त होता है। पुनः **यजुर्वेद मंत्र 7/5** में ईश्वर उपदेश देता है कि योगविद्या से रहित मनुष्य ईश्वर को नहीं जान सकता और ईश्वर की उपासना के बिना कोई योगी नहीं हो सकता।

अथर्ववेद मंत्र 6/23/2 का भाव है कि ब्रह्मचर्य द्वारा शक्ति प्राप्त करके ही साधक सब शुभ कर्म को करने में समर्थ होता है अन्यथा वह आलस्य युक्त होकर असत्य भाषण करता है। **यजुर्वेद मंत्र 7/3 में उपदेश** है कि प्राणी इन्द्रियों एवं अन्तःकरण को योग साधना द्वारा शुद्ध करें और सदा धार्मिक कार्यों में लगाएँ अतः शुभ कर्म का त्याग ही तो पाप है! नित्य ईश्वर

की उपासना करें। **यजुर्वेद मंत्र 3/54, 55** में कहा कि मनुष्य शुभ कर्मों द्वारा चित्त की शुद्धि करें ! शुद्ध चित्त के अभाव में उत्तम विद्या– ज्ञान के बिना दीर्घायु और कर्म के स्वरूप को जानना असम्भव है। वेद विद्या में प्रवीण विद्वानों का उपदेश शुभ कर्मों की प्राप्ति कराता है जिससे अन्तःकरण शुद्ध होकर आत्मिक ज्ञान प्राप्त करता है। इन सभी मंत्रों का सांराश यही है कि मनुष्य वेद के ज्ञाता, विद्वानों के संग द्वारा कर्म, ज्ञान और उपासना के स्वरूप को जानकर ही शुभ कर्मों को करता हुआ, कर्मबन्धनों से मुक्त होता है। केवल ज्ञान, केवल कर्म अथवा केवल उपासना में ईश्वर प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं हो सकती यह वेद का सार है। वैदिक ज्ञान द्वारा कर्म एवं उपासना के स्वरूप को समझकर प्राणी यज्ञ, योगाभ्यास एवं गृहस्थ के शुभ कर्म करता है, फलस्वरूप ही वह परमेश्वर को प्राप्त करने में समर्थ होता है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज यही समझा रहे हैं कि कर्म किए बिना संन्यास अथवा कर्मबन्धनों से मुक्ति असम्भव है और वेदों का मनन करने वाला मुनि ही निष्काम–कर्म करते हुए शीघ्र परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

श्री कृष्ण उवाच–

योगयुक्तो विशुद्धात्मामाविविजितात्मा जितेन्द्रियः ।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते ।।

(गीता 5/7)

(विशुद्धात्मा) आत्मा के उपर छाया अविद्या आदि क्लेश जिसका नाश हो गया है, ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाला **(विजितात्मा)** आत्मा जिसका जड़ शरीर आत्मा के वश में है! **(जितेन्द्रियः)** जिस आत्मा ने अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन सब इन्द्रियों को वश में किया हुआ है **(सर्वभूतात्मभूतात्मा)** जो सब प्राणियों के आत्मा को आत्मभूत अर्थात् अपने आत्मा के समान अनुभव करता है ऐसा **(योगयुक्तः)** निष्काम कर्म करने वाला योगी **(कुर्वन्)** शुभ कर्म करता हुआ **(अपि)** भी **(न लिप्यते)** कर्मों में अर्थात् कर्मफल में लिप्त नहीं होता।

अर्थः– आत्मा के ऊपर माया रूप अविद्या आदि क्लेश जिसका नाश हो गया है, ऐसे शुद्ध अन्तःकरण वाला जीवात्मा जिसका जड़ शरीर आत्मा के वश में

है। जिस आत्मा ने अपनी पाँच ज्ञानेन्द्रियों, पाँच कर्मेन्द्रियों तथा मन इन सब इन्द्रियों को वश में किया हुआ है तथा जो सब प्राणियों के आत्मा को आत्मभूत अर्थात् अपने आत्मा के समान अनुभव करता है। ऐसा निष्काम कर्म करने वाला योगी शुभ कर्म करता हुआ भी कर्मों में अर्थात् कर्म फल में लिप्त नहीं होता।

भावार्थ :– भाव स्पष्ट है कि ऐसा ऊपर कहा गुण सम्पन्न निष्काम कर्मयोगी कर्मों के फल में लिप्त नहीं होता अर्थात् कर्म करके भी सदा कर्मफल से मुक्त रहता है। परन्तु इसमें जटिल प्रश्न यह है कि इतने महान गुण किस साधक में और कैसे उत्पन्न होते हैं। चारों वेदों और शास्त्रों का निष्कर्ष है–

"योगः चित्त वृत्ति निरोधः," "तदा द्रष्टुः स्वरूपैवस्थानम्" अर्थात् जब साधक वेदानुकूल कर्म एवं अष्टाँग योग की साधना करता है तब वह अपने स्वरूप (आत्मा) में स्थित हो जाता है। वस्तुतः जीवात्मा शुद्ध, चेतन, अविनाशी, निर्विकार आदि गुण युक्त है। परन्तु प्रकृति के गुणों से आकर्षित होकर जीवात्मा अपने इस चेतन, अविनाशी स्वरूप को भूला हुआ होता है। जब वेदाध्ययन, धर्माचरण, विद्वानों का संग, यज्ञ एवं योग साधना आदि शुभ कर्म करता है तब उसकी चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध/रुक जाती हैं अर्थात् उसके अविद्या आदि क्लेश नष्ट हो जाते हैं और वह अपने विशुद्ध स्वरूप में स्थित हो जाता है। यदि कोई अनादिकाल से चली आ रही वेद विद्या को अपनाकर यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म नहीं करेगा तो वह माया में ही फँसा, दुःखों के सागर में गोता खाता रहेगा। इसलिए साधक को योगयुक्त होना अर्थात् वेदानुकूल शुभ कर्म करना अनिवार्य है। शरीर में रहने वाला जीवात्मा इस शरीर का स्वामी है – मालिक है। अपने स्वरूप में स्थित हुआ, शरीर को अपने वश में रखकर सदा शरीर से शुभ कर्म करवाता है अन्यथा पाप कर्म में लिप्त होता है। इस स्थिति को ही यहाँ **"विजितात्मा"** कहा है। **यजुर्वेद मंत्र 7/16** में कहा कि सब मनुष्य अपने आत्मा और परमात्मा को देखकर धर्मयुक्त कर्म करते हुए सत्य और असत्य को जानने का प्रयत्न करें और ऐसा ही उपदेश अन्य वेद मंत्रों में भी है कि मनुष्य ईश्वर भक्ति, द्वारा धर्म विरुद्ध आचरण से बचें और पाप कर्म से दूर रहें। विद्या ग्रहण करके सदा शुभ कर्मों

में लगे रहें। ऐसे शुभ कर्म करने वाला जीवात्मा ही "**विजितात्मा**" कहा गया है। शुभ कर्म एवं योगाभ्यास का फल यह भी है कि साधक अपनी सभी इन्द्रियों को जीत लेता है अर्थात् **अथर्ववेद मंत्र 4/34/1** के अनुसार वह इन इन्द्रियों से केवल ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है और वेदानुकूल कर्त्तव्य कर्म निर्वाह करता है और सब शुभ कर्मों का फल ईश्वर अर्पित कर देता है। "**सर्वभूतात्मभूतात्मा**" का भाव ऊपर कहा है कि जो अपनी आत्मा के समान सबको प्रिय मानता है। यह समानता का भाव भी बिना वेदाध्ययन एवं योग साधना तथा बिना अविद्या नाश के प्रकट नहीं होता। **यजुर्वेद मंत्र 40/7** में कहा कि योगी के लिए सब प्राणी उसकी आत्मा के समान ही अनुभव होते हैं। ऐसे ठीक–ठीक योगाभ्यास के द्वारा परमेश्वर को साक्षात् दर्शन/अनुभव करने वाले योगी को मोह एवं शोक आदि क्लेश नहीं होते। ऐसे योगी ही, जैसा अपना हित चाहते हैं वैसा सब प्राणियों का हित चाहते हैं। ऐसे गुणवान योगी को ही यहाँ "**सर्वभूतात्मभूतात्मा**" कहा है।

अन्त में श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में स्पष्ट कर दिया कि ऊपर कहे योगयुक्त, विशुद्धात्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय एवं सर्वभूतात्मभूतात्मा जैसे वेदों में कहे गुण सम्पन्न योगी शुभ कर्म करते हुए भी कर्म–बन्धन में लिप्त नहीं होते । पुनः **यजुर्वेद मन्त्र 40/2** का उल्लेख यहाँ अनिवार्य हो जाता है कि यदि प्राणी को कर्म बन्धन से बचना है तो वह वेदाध्ययन द्वारा वेदों में कहे शुभ कर्मों को करे । फलस्वरूप ही, मन्त्र में कहा "**न कर्म लिप्यते नरे**" अर्थात् तब प्राणी कर्मबन्धन में लिप्त नहीं होगा । पुनः मन्त्र में कहा "**न अन्यथा अस्ति**" अर्थात् इसके अतिरिक्त कर्म बन्धन से छूट जाने का कोई और उपाय नहीं है । भाव है कि कर्मबन्धनों से छूटने के लिए वैदिक शुभ कर्म करने होते हैं। कर्मबन्धन से छूटने का अन्य कोई उपाय नहीं है । वेदमन्त्रों के अर्थ गहन एवं गम्भीर होते हैं परन्तु मन्त्रों का मनन करने वाले एवं योगाभ्यास करने वाले साधक के लिए यह सरल हैं । प्रस्तुत श्लोक के अनुसार भी यदि कोई वेदाध्ययन में रुचि एवं पुरुषार्थ रूप कर्म नहीं करेगा तो वह आलस्ययुक्त प्राणी अपने जीवन को व्यर्थ कर लेता है । सम्पूर्ण यजुर्वेद शुभकर्मों की शिक्षा देता है और यजुर्वेद के अन्तिम चालीसवें अध्याय

के ऊपर कहे मन्त्र 2 का भाव भी यही है कि आपने सम्पूर्ण यजुर्वेद सुना अथवा पढ़ा जिसमें शुभ कर्म करने की प्रेरणा एवं पाप वृत्ति के त्याग/निरुद्ध की शिक्षा दी गई है । अतः मन्त्र ने सम्पूर्ण उनतालीस अध्याय का निष्कर्ष दिया है कि वेदोक्त शुभ कर्म करके ही कर्मबन्धन से छूटा जा सकता है । अब कोई इस मन्त्र का कर्म के सम्बन्ध में अर्थ न करके अन्य ही अर्थ करे तब यही कहा जा सकता है कि उसका अर्थ वेद–विरुद्ध है । दूसरा कि शुभ कर्मों का त्याग कदापि नहीं हो सकता अन्यथा जीव पाप कर्मों में लिप्त हो जाएगा । पुनः प्रश्न उठता है कि जीवात्मा को शुभ कर्मों का ज्ञान शब्दों द्वारा कहाँ से प्राप्त होगा ? तो उत्तर है कि जैसा श्रीकृष्ण वेदविद्या में प्रवीण हैं, दूसरा व्यासमुनि वेदविद्या में पारंगत हैं, वही अर्जुन को वेदानुसार शुभ कर्म करने की प्रेरणा दे रहे हैं, अन्य कोई नहीं दे रहा । तो आज भी वेद एवं योग विद्या में पारंगत आचार्य से वेद सुनकर ही शुभ कर्मों के स्वरूप का ज्ञान होता है । यह तो केवल शब्द– ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों को सुनकर ज्ञान होता है । तब प्रश्न उठता है कि शुभ कर्म आचरण में कैसे आएँगे ? तो इसका अति सुन्दर उत्तर श्रीकृष्ण महाराज ने कह दिया कि शुभ कर्म करने वाले वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग की साधना करते हुए **"विशुद्ध आत्मा, विजितात्मा, जितेन्द्रिय एवं सर्वभूतात्मभूतात्मा"** गुणों को प्राप्त कर लेते हैं और ऐसे कर्मयोगी ही शुभ कर्म करते हुए कर्म में लिप्त नहीं होते अर्थात् कर्मबन्धन से सदा मुक्त हुए मोक्ष पद को प्राप्त कर लेते हैं ।

श्री कृष्ण उवाच–

"नैव किंचित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित् ।
पश्य श्रृण्वन्स्पृशजिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वप श्वसन् ।।"
(गीता श्लोक 5/8)

"प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि ।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन् ।।"
(गीता श्लोक 5/9)

(तत्त्ववित्) तत्त्व को जानने वाला **(युक्तः)** सांख्ययोगी **(पश्यन्)** देखता हुआ **(श्रृण्वन्)** सुनता हुआ **(स्पृशन्)** स्पर्ष करता हुआ **(जिघ्रन्)** सूंघता हुआ **(अश्नन्)** खाता हुआ **(गच्छन्)** चलता हुआ **(स्वपन्)** सोता हुआ **(श्वसन्)** श्वास लेता हुआ ।

(गीता श्लोक 5/8)

(प्रलपन्) बोलता हुआ **(विसृजन्)** त्यागता हुआ **(गृह्णन्)** ग्रहण करता हुआ **(उन्मिषन्)** आँखें खोलता हुआ **(निमिषन्)** आँखें बन्द करता हुआ **(अपि)** भी **(इन्द्रियाणि)** सब इन्द्रियाँ **(इन्द्रियार्थेषु)** इन्द्रियों के अर्थों में **(वर्तन्ते)** बर्त रही हैं (इति) ऐसी **(धारयन्)** धारणा रखता हुआ **(इति)** ऐसा **(एव)** ही **(मन्येत)** माने कि मैं **(किंचित्)** कुछ भी (न) नहीं **(करोमि)** करता हूँ ।

(गीता श्लोक 5/9)

अर्थः– श्लोक 5/8 एवं 5/9

तत्त्व को जानने वाला सांख्ययोगी देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ, सूंघता हुआ, खाता हुआ, चलता हुआ, सोता हुआ, श्वास लेता हुआ, बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण करता हुआ, इन्द्रियाँ, इन्द्रियों के अर्थों में बर्त रही हैं, ऐसी धारणा रखता हुआ ऐसा माने कि मैं कुछ भी नहीं करता हूँ।

भावार्थः–

महाभारत के शांति पर्व में भीष्म युधिष्ठिर से कह रहे हैं कि सर्वप्रथम ईश्वर शब्द ब्रह्म द्वारा ही जाना जाता है । शब्द बह्म जानने का अर्थ है चारों वेदों को अध्ययन द्वारा जानना । जब जीव सुन–सुनकर वेद में कही विद्या को जान लेता है अर्थात् ज्ञान (पदार्थ विद्या) कर्म एवं उपासना के रहस्य को शब्दों द्वारा भली प्रकार समझ लेता है, तत्पश्चात वह साधक ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूप तीनों विद्याओं को आचरण में लाने के लिए यज्ञ, नाम–सिमरन, योगाभ्यास आदि क्रियाओं में रत हो जाता है। ऐसे कठोर अभ्यास करने वाले साधक को ही असंप्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त होती है और वह ईश्वर, प्रकृति एवं जीवात्मा के रहस्य को जो पहले केवल शब्द–ब्रह्म द्वारा गुरु से वेदों के प्रवचन के माध्यम से जाना था उसको समाधि में अनुभव कर लेता है। इस

अनुभव को ही तत्त्व बोध कहते हैं । अतः वेदों का उपदेश है कि बिना कठोर साधना के तत्त्व बोध नहीं होता। जो सन्त केवल पढ़–सुन रटकर, मीठी–मीठी बातें, कथा–कहानियाँ बोलकर केवल बातों से ही सिद्ध कर देते हैं कि उन सन्तों को और सुनने वाले श्रोताओं को तत्त्व बोध हो गया है तो यह सब कहना वेद विरुद्ध है और पूर्णतः असत्य है । पिछले **श्लोक 5/7** का भाव सदा याद रखें कि सच्चा कर्मयोगी वह है जिसने प्रथम वेदाध्ययन अर्थात शब्द–ब्रह्म द्वारा ऊपर कही तीनों विद्याओं को जान लिया, तत्पश्चात कठिन साधना द्वारा उसे तत्त्व बोध हुआ । ऐसे कर्मयोगी की ही आत्मा को विशुद्ध आत्मा, शरीर व इन्द्रियों को जीतने वाली विजितात्मा तथा जितेन्द्रिय आत्मा कहा है । इन गुणों से युक्त आत्मा ही सर्वभूतात्मभूतात्मा अर्थात् अपने ही समान सब प्राणियों की आत्मा को समझने वाली आत्मा कहा है । पुनः यह बात निश्चित करें कि ऐसी गुण सम्पन्न आत्मा (जीवात्मा) ऊपर कही साधना के पश्चात ही हो पाती है । केवल शास्त्र, उपनिषद्, गीता आदि ग्रन्थ सुनने मात्र से नहीं होती । इस प्रकार के सुनने से तो उस आत्मा में अहंकार और आगे चलकर स्वयं गुरु बनकर बोलने का अभिमान और पैसा बटोरने का लोभ उत्पन्न हो जाता है और ऐसी बिना तपस्या की हुई आत्मा ही गीता के ऐसे श्लोकों का उदाहरण देकर स्वयं के प्रति कहने लगती है कि हम तो देखते हुए भी नहीं देखते पैसा स्पर्श करते हुए भी स्पर्श नहीं करते, बोलते हुए भी नहीं बोलत, इत्यादि–इत्यादि ।

अतः जीवन में शब्द ब्रह्म के पश्चात वेदों में कही साधना द्वारा पर–ब्रह्म की अनुभूति अर्थात् तत्त्व बोध परम आवश्यक है । ऐसे ही समाधिस्थ पुरुष को प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने "तत्त्ववित्" पुरुष कहा है और इसी पुरुष के विषय में वह (श्रीकृष्ण) कह रहे हैं कि यह पुरुष देखता, सुनता, स्पर्श करता आदि भी ऐसा माने कि वह ऐसा कुछ भी नहीं करता । अर्थात् वह पुरुष स्वयं को ऐसा जाने कि वह स्वयं देखने–सुनने आदि की क्रियाएँ नहीं करता । श्रीकृष्ण महाराज का भाव है कि तत्त्व बोध वाला योगी ही ऐसा माने कि वह देखता–सुनता, स्पर्श करता हुआ कुछ भी नहीं करता। कहीं मिथ्यावादी, पढ़–सुन रटकर जनता से स्वयं को ब्रह्म ज्ञानी मनवाने लगे और

इसी भाषा को कहने लगे कि ऐसा ब्रह्मज्ञानी भी देखता–सुनता, चखता इत्यादि भी कुछ नहीं करता तो यह वेद–विरुद्ध पाप हो जाएगा और जनता को ऐसे साधना, तपस्या आदि से हीन स्वयंभू ब्रह्मज्ञानियों से सावधान रहना चाहिए ।

अतः ऊपरीलिखित आठवें श्लोक का एक ही शब्द **"तत्त्ववित्"** मनन करने योग्य है । सुनना, चखना इत्यादि शेष तो तत्त्ववित् पुरुष के गुण कहे गए हैं । तत्त्व शब्द का अर्थ "यथार्थ रूप" को जानना है। अर्थात् जीवात्मा, प्रकृति एवं परमात्मा के वास्तविक रूप को जानने वाला पुरुष ही तत्त्ववित् कहलाता है। छः शास्त्र एवं उपनिषद्, वाल्मीकि रामायण, महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन यह सत्य दर्शाता है कि प्रत्येक प्राचीन एवं वर्तमान ऋषियों ने वेदाध्ययन एवं वेदों में वर्णित यज्ञ कर्म तथा अष्टाँग योग की साधना द्वारा ही परमात्मा, जीव एवं प्रकृति के यथार्थ रूप को जाना है, अन्य कोई मार्ग नहीं है । श्रीराम को भी वाल्मीकि रामायण बालकाण्ड, सर्ग प्रथम में वेदों का ज्ञाता, अष्टाँग योग की साधना के फलस्वरूप समाधिमान तथा इस प्रकार "तत्त्वदर्शनः" जैसे अलौकिक आभूषणों से सुशोभित किया है । अतः वर्तमान में यह विडम्बना ही है कि वेद, यज्ञ एवं योग आदि कर्म, ज्ञान एवं उपासना रूपी सनातन विद्या के अभ्यास के बिना ही अधिकतर वेद विरोधी सन्त स्वयं को तत्त्व बोध वाले ऋषि–मुनि, तपस्वी अथवा ज्ञानी आदि कहलाने लगे हैं। वस्तुतः यह तत्त्वबोध के विपरीत अविद्या एवं पूर्णतः असत्य स्थिति है, जिसका भण्डा–फोड़ करना प्रत्येक देशवासी का कर्त्तव्य है । तत्त्ववित् पुरुष के बारे में **ऋग्वेद मंत्र 10/135/4** में कहा है कि जिस प्रकार कोई रथ चलता–चलता एक गहरी नदी के किनारे पर आकर खड़ा हो जाता है क्योंकि घोड़े रथ समेत नदी पार नहीं कर सकते, उसी प्रकार अज्ञान में लिप्त पुरुष भी पाप आदि कर्मों में लिप्त होकर संसार रूपी सागर से पार नहीं हो सकता । अतः मंत्र कहता है कि जैसे नदी के किनारे खड़ा रथ किसी बड़ी नौका में रख दिया जाए तो वह नौका उस रथ को नदी के पार ले जाती है और रथ के पहिए अथवा घोड़ों आदि को कोई कार्य नहीं करना पड़ता । उसी प्रकार तत्त्ववित् अर्थात् ब्रह्मलीन जीवात्मा का यह शरीर एक नौका के

समान ही हो जाता है और ऐसा शरीर ''तुरिया शरीर'' कहलाता है, जो संसार सागर से जीवात्मा को पार कर देता है । अर्थात् जीवात्मा तो शरीर का मालिक होकर ब्रह्मावस्था में मग्न है और शरीर को जीवित सा रखने के लिए, जो–जो इन्द्रियों ने खाना–पीना सूंघना इत्यादि अनेक कर्म करने हैं वो स्वाभाविक रूप में होते रहते हैं परन्तु यह ब्रह्मलीन जीवात्मा ऐसे कर्म करता हुआ भी यही अनुभव करता है कि मैं कुछ नहीं करता । ऐसी तत्त्ववित् अवस्था आने से पहले **योग शास्त्र सूत्र 1/12 से 18** तक का ज्ञान अत्यंत मनन द्वारा ग्रहण करने योग्य है जिसमें बताया कि चित्त की फैली हुई पाँचों वृत्तियों को रोकने के लिए साधक को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास और वैराग्य प्राप्त करना आवश्यक है । यह अभ्यास निरंतर, आदर सहित तथा दीर्घकाल तक किया जाता है न कि पढ़–सुन, रटकर प्रवचन करके पैसे कमाए जाते हैं। दीर्घकाल तक कहने का भाव है कि जब तक तत्त्ववित् अवस्था (ब्रह्म प्राप्ति) न हो जाए तब तक, अंतिम साँस तक यह अभ्यास करते रहना चाहिए । स्वयं **गीता श्लोक 6/38–42** में श्रीकृष्ण महाराज ने कहा है कि ऐसे योगाभ्यास आदि वैदिक शुभ कर्म का फल जन्म–जन्मांतरों तक चलता है और कभी नष्ट नहीं होता । आगे योग शास्त्र ने वैराग्य का अर्थ किया कि ऊपरीलिखित साधना करते–करते जब साधक को देखे और सुने विषयों से सर्वदा तृष्णारहित चित्त को वश में करने वाली अवस्था प्राप्त हो जाती है, उसे ही वैराग्य कहते हैं और इससे भी अधिक ईश्वर–प्राप्ति वाला, अंतिम वैराग्य का स्वरूप, **योग शास्त्र सूत्र 1/16** में ऋषि पतान्जलि ने कहा है कि ईश्वर के ज्ञान होने से प्रकृति के गुणों में पूर्णतः तृष्णारहित हो जाना पर–वैराग्य है। ऐसे पर–वैराग्य को प्राप्त हुआ जीवात्मा ही मोक्ष पद को प्राप्त करता है, अन्य नहीं, इसे ही इस गीता श्लोक में तत्त्ववित् पुरुष कहा है । क्या हम सब आज यह नहीं देखते कि वेद विरोधी सन्तों ने झूठ बोल–बोलकर अरबों की सम्पत्ति इकट्ठी कर ली है और वेद शास्त्र विरुद्ध इनका यह धनवान होना बड़े–बड़े अमीरों के घर जाकर ठहरना, खाना–पीना, ऐश्वर्य सहित जीना, कौन सा गीता में ऊपर कहा तत्त्ववित् ब्रह्मलीन ज्ञान है। अतः इनका यह स्वरूप पूर्णतः झूठा है क्योंकि यह वेद एवं योग शास्त्र के ऊपर कहे सूत्रों के विरुद्ध है। क्योंकि **मनुस्मृति श्लोक 4/255** में मनु भगवान ने बड़ा सुन्दर

कहा है कि जो व्यक्ति स्वयं वेद एवं योग विद्या का ज्ञाता नहीं है और मनुष्यों में कुछ का कुछ बतलाता है, वह पुरुष लोक में पापी माना जाता है और वह अपनी आत्मा का चोर है। अतः श्रीकृष्ण का भाव सत्य है कि तत्त्ववित् पुरुष खाता–पीता, सुनता आदि अनेक क्रियाओं को करता हुआ भी वास्तव में कुछ नहीं करता एवं कर्मबन्धनों में लिप्त नहीं होता। सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल ने ऐसे तत्त्ववित् पुरुष के लिए **सूत्र 3/82** में कहा कि जैसे कुम्हार चाक को डण्डे से चलाकर छोड़ देता है और चाक कुछ समय तक अपने आप ही घूमता रहता है, इसी प्रकार तत्त्ववित् (जीवनमुक्त–ब्रह्मलीन) पुरुष कुछ समय तक शरीर धारण करके रखता है परन्तु कर्मों में लिप्त नहीं होता ।

श्री कृष्ण उवाच–

"ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।"

(गीता श्लोक 5/10)

(यः) जो पुरुष **(कर्माणि)** कर्मों को **(ब्रह्मणि)** परमात्मा को **(आधाय)** समर्पित करके **(सङ्गम्)** सङ्ग दोष को (त्यक्त्वा) त्याग कर (करोति) कर्म करता है **(सः)** वह **(अम्भसा)** जल से **(पद्मपत्रम्)** कमल के पत्ते के **(इव)** समान **(पापेन)** पाप से **(न)** नहीं **(लिप्यते)** लिप्त होता।

अर्थः– जो पुरुष कर्मों को परमात्मा को समर्पित करके सङ्ग दोष को त्याग कर कर्म करता है, वह जल से कमल के पत्ते के समान पाप से नहीं लिप्त होता।

भावार्थः– इससे पिछले श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराज ने योगी, जितेन्द्रिय एवं तत्त्ववित् शब्दों का प्रयोग किया है । इन सभी शब्दों का अर्थ योगयुक्त योगी ही है। **अथर्ववेद मन्त्र 6/23/3** का भाव है कि मननशील पुरुष प्रत्येक कर्त्तव्य कर्म ईश्वर की प्रेरणा द्वारा ही करें और प्रभु की प्रेरणा केवल वेदों में है। अतः वेद सुनें । **अथर्ववेद मन्त्र 5/26/4,7** में भी कहा कि प्रभु की प्रेरणाएँ तथा निश्चयात्मक ज्ञान द्वारा ही हम कर्त्तव्य कर्मों को करें। उत्तम्

कर्मों में लगाने वाला ईश्वर हमें "ऋत, सत्य, शान्त, शम, दम, यज्ञ आदि शुभ कर्मों से युक्त करे। वेद के इन सभी मन्त्रों में दिए गए उपदेश का यही अभिप्राय है कि योगी वही होता है जो शम, दम आदि तप द्वारा **यजुर्वेद मन्त्र 37/2** के अनुसार अपना मन एवं बुद्धि परमात्मा में स्थिर कर देता है और परमात्मा की प्रेरणा से ही सब शुभ कर्म करता है और इस प्रकार कर्म फल भोगने से सदा अलग रहता है इस स्थिति को ही यहाँ श्लोक में जल से कमल के पत्ते के समान पाप से नहीं लिप्त होता, कहा है । मन और बुद्धि ईश्वर में स्थित करने का तात्पर्य ही यह है कि योगी अपने सभी संकल्प एवं विकल्प और बुद्धि तथा कर्मों को सृष्टि रचयिता एक ईश्वर में ही लगाते हैं और इस प्रकार ईश्वर की प्रेरणा से ही शुभ कर्म करते हैं । ऐसे पुरुष ही संग दोष से पृथक् और कर्म बन्धन में लिप्त नहीं हैं । इसके विपरीत अन्य साधारण जन संसार में ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण पदार्थों के आधार पर मन द्वारा गृहीत एवं उत्पन्न अच्छे-बुरे कर्मों को ही करते हैं। उन्हें जो मन को अच्छा लगे वो करते हैं, चाहे वह अविद्याग्रस्त पाप कर्म ही हो। **यजुर्वेद मन्त्र 40/2** का यही भाव है कि प्रत्येक प्राणी प्रारम्भ से ही वेदों के मर्म को जानकर केवल वेदों में कहे निष्काम कर्म को ही करें, क्योंकि वेदों में कहे कर्म शुभ हैं और जैसे-जैसे प्राणी शुभ कर्म करता जाएगा, तो वह धीरे-धीरे पाप कर्मों से स्वतः ही अलग होता जाएगा । इस प्रकार उसके अन्दर विद्या का प्रकाश होगा। विद्यावान ही सुखी रहता है अन्य नहीं । विद्यावान ही आगे चलकर पूर्ण योगी बनता है। प्रस्तुत श्लोक का यही भाव है कि जो योगी सब कर्मों को परमात्मा में अर्पण कर देता है तो वह स्वतः ही आसक्ति रहित हो जाता है। और उसका किया प्रत्येक कर्म ईश्वर की प्रेरणा के आधीन होता है क्योंकि उसने वेदाध्ययन, यज्ञ और योगाभ्यास द्वारा ऐसी अवस्था को प्राप्त कर लिया है कि उसने अपना मन, बुद्धि तदानुसार सारे कर्म, संकल्प-विकल्प परमेश्वर में लगा दिए हैं। वह पुरुष पूर्णतः एक ईश्वर में लीन रहता है और परमेश्वर की प्रेरणा में ही उसका खाना-पीना, सोना एवं कोई भी कर्म करना निहित है और इस प्रकार वह जल से कमल के पत्ते के समान निर्लेप है। अतः ईश्वर प्रेरणा द्वारा प्राप्त सब कर्म शुभ होने के कारण भी वह जल में कमल के पत्ते की भांति सदा पाप से [illegible]त रहता है। यहाँ यह विचारणीय होगा कि प्रायः वेद

विरोधी सन्तों का गीता के श्लोक को भी पढ़–रटकर यह कहना पूर्णतः मिथ्यावाद है कि योगी सब कर्मों को ईश्वर में अर्पित कर देता है और वह कर्म करने पर भी जल में कमल की भांति पाप कर्म से मुक्त रहता है। क्योंकि यह बातें सिर्फ वेदों में कहे ऊपरीलिखित योगयुक्त योगी पर ही लागू होती हैं अन्य पर नहीं । क्योंकि ईश्वर ने **अथर्ववेद मन्त्र 10/8/32** में कहा–"**देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति**" अर्थात् हे प्राणी तू ईश्वर के काव्य चारों वेदों का अध्ययन कर जो न कभी नष्ट होते हैं और न ही जीर्ण होते हैं । अतः जिस प्राणी ने कभी ईश्वर की कही अविनाशी वाणी वेद को नहीं जाना और उसमें कहा अष्टाँग योग का अभ्यास नहीं किया तो उसका मन–बुद्धि एवं कर्म ईश्वर में कैसे समाहित हो सकते हैं ? अर्थात् वह तो पूर्णतः भोगी है और मन की प्रेरणा से कार्य करेगा और दुःख के सागर में डूबेगा तथा अन्य को भी ले डूबेगा । इस विषय में **मनुस्मृति श्लोक 2/168** प्रस्तुत है–

"योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम् ।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः ।।"

अर्थः– **(यः द्विजः)** जो स्वयं को द्विज अर्थात् ब्राह्मण, गुरु, सन्त आदि कहता है परन्तु **(वेदम् अनधीत्य)** वेदाध्ययन नहीं किया, विपरीत में वह **(अन्यत्र श्रमं कुरुते)** अन्य शास्त्रों को पढ़ने में श्रम करता है **(सः)** वह **(जीवन् एव)** जीवित रहता हुआ ही **(सान्वयः)** अपने शिष्य एवं वंश सहित **(शूद्रत्वं गच्छति)** शूद्र भाव को प्राप्त हो जाता है ।

श्री कृष्ण उवाच–

"कायेन मनसा बुद्धया केवलैरिन्द्रियैरपि ।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये ।।"

(गीता श्लोक 5/11)

(योगिनः) योगी जन **(मनसा)** मन **(बुद्धया)** बुद्धि तथा **(कायेन)** शरीर से **(केवलैः)** केवल **(इन्द्रियैः)** इन्द्रियों द्वारा **(अपि)** भी **(सङ्गं)** संग दोष को **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(आत्मशुद्धये)** आत्म शुद्धि के लिए **(कर्म)** कर्म **(कुर्वन्ति)**

करते हैं ।

अर्थः– योगी जन मन–बुद्धि तथा शरीर से केवल इन्द्रियों द्वारा भी संग दोष को त्यागकर आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं ।

भावार्थः– मानव शरीर में आकर जीवात्मा कभी भी बिना कर्म किए नहीं रह सकती । वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म एवं कठोर साधना द्वारा सम्पूर्ण इन्द्रियों का संयम करके जब कोई योगी ब्रह्मलीन हो जाता है तब भी स्वभाव से ही वह कर्म किए बिना नहीं रह सकता । उदाहरणार्थ श्रीराम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, व्यास मुनि, पता जलि ऋषि जैसी अनेक महान विभूतियाँ ब्रह्मावस्था में रहकर भी जीवनपर्यन्त शुभ कर्म करती रहीं । ऐसी ब्रह्मलीन अवस्था में योगी के कर्म निःस्वार्थ आसक्ति रहित और जिज्ञासुओं की आत्मशुद्धि के लिए ही होते हैं । ऐसा योगी कभी भी कर्मों में लिप्त नहीं होता और इस प्रकार कर्मफल भी नहीं भोगता । शुभ कर्मों के फलस्वरूप योगी का शरीर जो साधारण न होकर **ऋग्वेद मन्त्र 1/15/10** के अनुसार तुरिया अवस्था वाला होता है, वह अशुद्ध और आलसी नहीं हो पाता और योगी की आत्मा की शुद्धि सदा बनी रहती है अर्थात् आत्मा के ऊपर माया का आवरण नहीं आता । दूसरा यह कि यदि योगी वेदविद्या का प्रसार और अपनी आत्म अनुभूति का ज्ञान शिष्यों/जिज्ञासुओं को नहीं देगा अर्थात् विद्या दान वाला कर्म नहीं करेगा तो ऋषि परंपरा समाप्त हो जाएगी अर्थात् ऐसे ब्रह्मलीन योगी के बाद पृथिवी पर अन्य, योगी के पद–मोक्ष के पद को कोई प्राप्त नहीं कर पाएगा । वस्तुतः **सांख्य दर्शन सूत्र 3/78** के अनुसार भी कोई जीवित ब्रह्मलीन योगी ही समाज को ज्ञान देता है । **ऋग्वेद मन्त्र 1/24/12** में इस आशय से ईश्वर ने उपदेश दिया है कि योगीजन रात–दिन जिज्ञासुओं को ज्ञान का उपदेश करते हैं, फलस्वरूप ही जीव पापयुक्त कर्मों का त्याग करता है । अर्थात् विद्वान् दान आदि निःस्वार्थ कर्म करते हैं अतः योगी द्वारा भी कर्म करने का उदाहरण देकर श्रीकृष्ण अर्जुन से युद्ध कराना चाहते हैं । योगी साधना द्वारा अपने स्वरूप को जानकर तथा ईश्वर अनुभूति द्वारा सब कर्मों का नाश कर लेता है– वह जीवन्मुक्त होता है

। अतः वर्तमान के किए कर्मों का फल भी वह नहीं भोगता । परन्तु **सांख्य शास्त्र सूत्र 3/83** के अनुसार भी लेशमात्र प्रारब्ध कर्मों का संस्कार ही योगी के शरीर को बनाए रखता है। परन्तु यह संस्कार भी योगी के जीवन में कोई सुख–दुःख आदि घोर अवस्था उत्पन्न नहीं कर पाते। **ऋग्वेद मंत्र 10/64/12,13** में कहा है कि जीवन मुक्त योगी के पास जाकर साधक शिक्षा प्राप्त करके कर्म परायण बने, घोर पुरुषार्थ करे तथा वैदिक ज्ञान प्राप्त करके ईश्वर से अटूट सम्बन्ध बनाए । अन्य जीव को इस कठोर परिश्रम–तप द्वारा ही जीवन–मुक्त योगी जन की कृपा से मोक्ष प्राप्ति होती है । और इस प्रकार ज्ञान देना ही योगी जनों का निःस्वार्थ कर्म है । **ऋग्वेद मंत्र 5/41/16** में यहाँ तक कहा कि जैसे अन्तरिक्ष में मेघ पृथिवी पर वर्षा करते हैं । मेघ में पानी होता है, सूर्य की किरणें उसे फोड़कर, पानी को पृथिवी पर फेंकती हैं । मेघ जो है, छिन्न–भिन्न हो जाता है अर्थात् खत्म हो जाता है। पर वह वर्षा करके सारे संसार को लाभ देता है । ऐसे ही विद्वान् जो मेघ के समान अपने शरीर की, अपने अस्तित्त्व की, सुख की परवाह नहीं करते और कोई उनका अपकार करता है, निरादर करता है, उसको दिमाग में न रखते हुए सदा विद्या दान करते हैं, संसार का भला करते हैं । यह योगीजन लेशमात्र संस्कार के कारण निःस्वार्थ शुभ कर्म जीवनपर्यन्त करते रहते हैं । अतः पुनः–पुनः गीता के प्रत्येक श्लोक के मनन से यह गहन–गम्भीर सत्य प्रकट होता है और आगे के भी अन्तिम श्लोक तक प्रकट होता रहेगा कि श्रीकृष्ण महाराज ने वेद मंत्रों से अर्जित ज्ञान का ही व्याख्यान गीता–ग्रन्थ में किया है और गीता काल में तो घर–घर में वैदिक ज्ञान ही था, वर्तमान काल का कोई भी मज़हब उस समय उदय नहीं हुआ था और न ही उस समय गीता पाठ होता था । अतः अर्जुन से भी अधिक आज प्रायः प्रत्येक प्राणी अपने धर्म से दूर हो गया है – होता जा रहा है और जिसे अपने लिए, अर्जुन की तरह, धर्म में स्थापित करने के लिए केवल वेद मंत्रों के ज्ञान की आचार्य द्वारा आवश्यकता है तभी भारत का पुनः उत्थान सम्भव होगा । ऊपर कहे का भाव है कि श्रीकृष्ण महाराज भी पूर्ण वेद एवं योग विद्या के ज्ञाता हैं और इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा शरीर से इन्द्रियों द्वारा संग–दोष रहित हुए अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं ।

यहाँ श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को उपदेश दे रहे हैं कि योगीजन केवल शरीर से, मन से, बुद्धि से और केवल इन्द्रियों से भी आसक्ति रहित होकर, आत्मा की शुद्धि के लिए निरन्तर कर्म करते रहते हैं तब तू क्षत्रिय होकर धर्मयुद्ध रूपी वैदिक श्रेष्ठ कर्म क्यों नहीं करता ! हे अर्जुन, तुझे तो प्रत्येक किए कर्म का फल भोगना है । अतः यदि तू धर्मयुक्त युद्ध करता है और यदि युद्ध में प्राण त्याग दिए तो स्वर्ग (मोक्ष) को प्राप्त करेगा और यदि युद्ध जीत लिया तो पृथिवी के राज्य का सुख भोगेगा । श्रीकृष्ण यहाँ शब्दब्रह्म द्वारा अर्जुन को धर्मयुद्ध रूपी शुभ कर्म करने की प्रेरणा दे रहे हैं । शब्दब्रह्म में प्रवीण जिज्ञासु ही पर–ब्रह्म को पाता है । शुभ कर्म करने में मोह आदि विकार बाधक हैं । श्रीकृष्ण का प्रस्तुत श्लोक में कर्मयोगी द्वारा केवल इन्द्रिय, केवल मन, केवल बुद्धि अथवा केवल शरीर द्वारा भी संग दोष/आसक्ति त्याग कर अन्तःकरण की शुद्धि के लिए अर्थात् आत्मा के ऊपर छाई माया–मोह आदि को नष्ट करने के लिए, ''**कर्म कुर्वन्ति**'' कर्म करना ही श्रेष्ठ कहा है । अर्जुन पितामह एवं सम्बन्धियों आदि के शरीरों को देखकर मोहवश उन पर शस्त्र चलाना अधर्म समझ रहा है । श्रीकृष्ण इसी शरीर आदि के मोह को अर्जुन के मन, बुद्धि, इन्द्रिय एवं शरीर से त्यागने के लिए उपदेश कर रहे हैं जो कि क्षत्रिय का भी धर्म है ।

श्री कृष्ण उवाच–

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ।।
(गीता श्लोक 5/12)

(युक्तः) निष्काम कर्म योगी **(कर्मफलम्)** कर्मफल को **(त्यक्त्वा)** त्यागता हुआ **(नैष्ठिकीम्)** निष्ठायुक्त परम **(शान्तिम्)** शान्ति को **(आप्नोति)** प्राप्त करता है । तथा **(अयुक्तः)** निष्काम कर्म न करने वाला सकामी पुरुष **(फले)** कर्म–फल में **(सक्तः)** आसक्त होकर **(कामकारेण)** कर्मफल की कामना रखकर **(निबध्यते)** कर्मों के बन्धन में बँध जाता है ।

अर्थः– निष्काम कर्म योगी कर्म फल को त्यागता हुआ निष्ठा–युक्त परम शान्ति को प्राप्त करता है । तथा निष्काम कर्म न करने वाला सकामी पुरुष कर्म–फल में आसक्त होकर कर्म फल की कामना रखकर कर्मों के बन्धन में बँध जाता है ।

भावार्थः– नैष्ठिकम् पद का अर्थ है – निर्णायक दृढ़, स्थिर । इस श्लोक में भी पिछले श्लोक 1 से 11 तक की संगति आ रही है । पिछले श्लोकों में निष्काम कर्मयोगी के गुण कह दिए गए हैं । प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज कह रहे हैं कि ऐसा निष्काम कर्मयोगी जो कर्मों को करता हुआ कर्म बन्धन में लिप्त भी नहीं होता । अतः कर्मफल का त्याग करता हुआ निष्ठा युक्त अर्थात् दृढ़तापूर्वक वेदोक्त कर्म करता हुआ परम शांति को प्राप्त कर लेता है । हमें पुनः गहन विचार करने की आवश्यकता है कि केवल पढ़, सुन, रट कर हम यह कहने लगें कि आज से हम कर्म तो करेंगे और इस प्रकार स्थिर रहने वाले शांति को प्राप्त कर लेंगे किसी दुःख, बाधा, चिन्ता आदि में लिप्त नहीं होंगे और गीता के उपदेशानुसार हम निष्काम कर्म करेंगे । तो यह सब करना मिथ्या ही होगा। क्योंकि पिछले श्लोकों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि कर्म का स्वरूप वेदों में है, साधना भी वेदों में है और पुरुषार्थी, जिज्ञासु वेदानुकूल शुभ कर्म एवं कठोर साधना द्वारा ही सच्चा कर्म योगी बनता है । और श्री कृष्ण महाराज ने कहा, जो ऐसा तपस्वी निष्काम कर्मयोगी नहीं है तो निश्चित ही वह शुभ–अशुभ कर्मों को करता है और कर्मफल की इच्छा रखकर कर्मों के बन्धनों में बन्ध जाता है । प्रस्तुत श्लोक में भी श्री कृष्ण महाराज केवल शब्द–ब्रह्म द्वारा अर्जुन को निष्काम कर्म योगी के गुण समझा कर यह समझाने का प्रयत्न कर रहे हैं कि निष्काम कर्मयोगी कर्म करता है परन्तु फल की इच्छा नहीं करता । कर्म का फल ईश्वर को समर्पित करता है और इस प्रकार सदा रहने वाली (स्थिर) शांति को प्राप्त करता है । अतः हे अर्जुन ! तू भी निष्काम कर्मयोगी की भांति इस धर्मयुद्ध रूपी कर्म को कर । युद्ध के बाद क्या होगा, तू उस फल की इच्छा न कर। क्योंकि अर्जुन युद्ध से पहले ही युद्ध के फल को विचार करके दुःखी हो रहा था, अर्जुन श्रीकृष्ण को युद्ध का फल बता रहा था कि यदि युद्ध में सब पुरुष

मर गए तो पीछे वृद्ध माता–पिताओं और बुजुर्गों को कोई अन्न–जल देने वाला शेष नहीं रहेगा, वह दुःखी होंगे, घर की स्त्रियाँ व्यभिचारिणी हो जाएँगी और हम अपने सम्बन्धियों को मारकर इस राज्य को लेकर क्या करेंगे ? इत्यादि । अर्जुन की इन्हीं सभी शंकाओं का श्रीकृष्ण यहाँ समाधान कर रहे हैं, वह अर्जुन को कर्मयोगी की भांति धर्मयुद्ध के पश्चात जो भी फल प्राप्त होगा, उसकी चिन्ता त्यागकर केवल धर्मयुद्ध करने का उपदेश दे रहे हैं जो कि वैदिक मार्ग है जिस पर चलकर अविचल परम शांति प्राप्त होती है ।

मिथ्यावादी जहाँ केवल शब्दों के जाल में फँसाकर जनता को वेदाध्ययन, यज्ञ, साधना, तपस्या आदि के बिना ही कर्मयोगी बनाने का प्रयास करते हैं और अपने भाषण में यह कहकर समझाते हैं कि गीता स्पष्ट कह रही है कि कर्म करो और फल की इच्छा न करो तो तुम घर बैठे ही निष्काम कर्मयोगी बन जाओगे और मुक्त हो जाओगे । वहीं सत्यवादी वेदों के अनुसार कर्मयोगी के गुण समझाता हुआ कहता है कि निष्काम कर्मयोगी वेदाध्ययन, यज्ञ, वेदानुकूल ईश्वर भक्ति तथा अष्टाँग योग की साधना के पश्चात असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करके ही निष्काम कर्मयोगी कहलाता है ।

ऋग्वेद मन्त्र 10/49/5, 6 में कहा कि ईश्वर को प्राप्त करने वाला योगी प्रज्ञान से युक्त हो जाता है तथा उसके काम–क्रोध, मोह आदि सब दोष नष्ट हो जाते हैं। ईश्वर प्राप्ति का मार्ग वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना ये तीन विद्याएँ हैं । इनमें ही यज्ञ कर्म, योगाभ्यास आदि उपासना हैं । अतः यह कहना वेद–विरुद्ध एवं पूर्णतः असत्य है कि केवल ज्ञान में मुक्ति है और कर्म करने की आवश्यकता नहीं है । इस श्लोक में भी कृष्ण महाराज निष्काम–कर्म करने वाले योगी की ही प्रशंसा कर रहे हैं । ऐसा योगी ही परम शान्ति अर्थात् ईश्वर को प्राप्त होता है। **ऋग्वेद 10/53/8** में उपदेश है कि ईश्वर प्राप्ति के लिए साधक पाप के भार को त्यागने के लिए वैदिक शुभ कर्म करे । ऐसे ही शुभ कर्म करके कोई निःस्वार्थ कर्म–योगी बनता है। बिना ज्ञान–युक्त शुभ कर्म किए उपासना भी अर्थहीन है। और कर्म तथा उपासना त्याग कर केवल ज्ञान में मुक्ति कहना तो वेद–विरुद्ध किया

कर्म है। **श्वेताश्वतरोपनिषद् 6/8** में ईश्वर के सब कर्म, बल, ज्ञान स्वाभाविक कहे हैं। ईश्वर सब जीवों के कर्मों को जानने वाला है । अतः ईश्वरीय वाणी जो चारों वेद हैं उसमें कहे ज्ञान, कर्म एवं उपासना को आचरण में लाने वाला साधक ही एक दिन ईश्वर कृपा से पूर्ण निष्काम योगी–ब्रह्मलीन होता है । ऐसा योगी ही मन से पूर्णतः कर्मफल को स्वतः ही त्याग देता है। वास्तव में उसे ऐसे त्याग का कोई ध्यान तक नहीं होता – वह ऐसी सहज अवस्था को प्राप्त होता है। इसके विपरीत इस श्लोक में यह कहा है कि जो निष्काम कर्मयोगी नहीं होते वह सदा कर्म–फल में आसक्ति रखते हैं और फलस्वरूप किए हुए कर्मों का पाप–पुण्य रूपी फल भोगने के लिए जन्म–मृत्यु के चक्कर में फँसे रहते हैं, मिथ्यावाद के कारण घोर दुःख के सागर में गोते लगाते हैं। ईश्वर की सृष्टि में ईश्वर द्वारा चारों वेदों का संविधान ही सृष्टि को स्थिरता प्रदान कर रहा है। आज वेद–विद्या में आई कमी के कारण ही सम्पूर्ण पृथिवी अत्यंत दुःखों का सागर बन गई है जिसमें अशान्त जीव जन्म–मृत्यु, दुःख, व्याधि रूपी गोते लगा रहा है। अतः भारतवर्ष को पुनः वैदिक–विद्या जिसमें ज्ञान, कर्म एवं उपासना निहित हैं, इनको आचरण में लाकर "**विश्व–गुरु**" एवं "**सोने की चिड़िया**" के पद पर आसीन होना होगा।

श्री कृष्ण उवाच–

"सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी ।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ।।"

(गीता श्लोक 5/13)

(वशी) जिसका अन्तःकरण वश में है **(देही)** ऐसा देह धारण करने वाला जीवात्मा **(एव)** ही **(न)** न **(कुर्वन्)** कर्म करता हुआ और **(न)** न **(कारयन्)** करवाता हुआ **(नवद्वारे)** नौ द्वारों वाले **(पुरे)** शरीर में **(सर्वकर्माणि)** सब कर्मों को **(मनसा)** मन से **(संन्यस्य)** त्याग कर **(सुखम्)** सुख में **(आस्ते)** स्थिर रहता है।

अर्थः–जिसका अंतःकरण वश में है, ऐसा देह धारण करने वाला जीवात्मा ही न कर्म करता हुआ और न करवाता हुआ, नौ द्वारों वाले शरीर में सब कर्मों

को मन से त्याग कर, सुख में स्थिर रहता है। यह समाधि प्राप्त योगी की स्थिति है।

भावार्थः— अन्तःकरण में मन, बुद्धि एवं अहंकार यह तीन करण हैं, इसमें मुख्य रूप से बुद्धि ही विशेष है । बाह्यकरण में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं । मन में संकल्प–विकल्प उठते हैं । बुद्धि प्रत्येक विषय पर निर्णय लेती है । जीवात्मा शरीर का स्वामी है और वह प्रत्येक निर्णय प्रथम बुद्धि से ही लेकर बुद्धि को ही देता है । बुद्धि ही जीवात्मा के सबसे अधिक समीप है । **कठोपनिषद् श्लोक 3/8** में कहा है कि जिस योगी का अन्तःकरण पूर्ण वैदिक शिक्षा के आचरण एवं योगाभ्यास द्वारा वश में है, वह मन को अपने वश में रखता है । जिसका मन आत्मा से जुड़ा रहता है अर्थात् मन आत्मा के साथ लगा रहता है, वह ही ईश्वर को प्राप्त करता है, इसे ही इन्द्रियों को वश में करने वाला योगी कहा है । **ऋग्वेद मन्त्र 10/52/3** में कहा कि जीवात्मा ईश्वरीय ज्ञान को प्राप्त करने वाला चेतन तत्त्व है और प्रकृति रचित ऊपर कहे तेरह करण वाले जड़ शरीर में निवास करता है । यह कर्मानुसार मानव शरीर प्राप्त करता हुआ विद्वानों की संगत में रहकर वैदिक ज्ञान प्राप्त करता है और फलस्वरूप ब्रह्म ज्ञान को प्राप्त करके प्रकाशवान होकर सूर्य और चन्द्रमा की भांति ब्रह्म ज्ञान द्वारा संसार में चमक जाता है । यह ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा आचरण में लाने तथा मन, वचन तथा कर्म द्वारा चरितार्थ करके मोक्ष पद को प्राप्त कराने वाला होता है। साधना, तप द्वारा ऐसी महान अवस्था प्राप्त साधक इन्द्रियों द्वारा सात्विक आहार एवं विषय भोग आदि पर नियंत्रण करके ही मोक्ष पद प्राप्त करता है । ऐसा योगी अष्टाँग योग को सिद्ध करके समाधि अवस्था में मन द्वारा सम्पूर्ण कर्मों का त्याग कर देता है। और इस प्रकार वह शरीर में रहता हुआ ही न कोई कर्म करता है और न कर्म की प्रेरणा देकर कर्म करवाता है। यह नौ द्वारों वाला शरीर है । **अथर्ववेद मन्त्र 10/8/43** ने इस मानव शरीर को **''पुण्डरीकम् नवद्वारम्''** अर्थात पुण्यवान कर्म करने वाला, नौ इन्द्रिय द्वारों वाला शरीर कहा है जिसमें जीवात्मा और परमात्मा दोनों ही निवास करते हैं । उस परमात्मा को **''ब्रह्मविदः विदुः''** अर्थात् वेद एवं योग विद्या के ज्ञाता ब्रह्मज्ञानी

ही जानते हैं । यह नौ द्वार–दो आँख, दो कान, दो नासिका के छिद्र, एक मुख, उपस्थ तथा गुदा हैं । ब्रह्म को जानने वाला पुरुष इन तेरह करण व नव द्वार वाले इस पंच भौतिक शरीर में सब कर्मों के फलों को त्यागकर (कर्म करता हुआ भी) कर्मफल का भोक्ता नहीं होता । क्योंकि ऐसे योगी का कर्म आसक्ति रहित एवं निःस्वार्थ होता है और इस प्रकार कर्मफल का भोक्ता न होने के कारण ही श्रीकृष्ण महाराज इस श्लोक में यह समझा रहे हैं कि हे अर्जुन ! ऐसा पुरुष मानो न तो कर्म करता है और न ही करवाता है एवं इस नौ द्वारों वाले शरीर में ब्रह्मलीन हुआ, जन्म–मरण के चक्र से मुक्त हुआ, मोक्ष में प्राप्त परम आनन्द में स्थित रहता है। **अथर्ववेद मंत्र 10/8/41** के अनुसार यह जन्म–मृत्यु से रहित जीवात्मा शरीर के छूट जाने पर ईश्वर में स्थित होकर स्वेच्छा से विचरण करता हुआ मुक्ति सुख में स्थित रहता है । श्रीकृष्ण महाराज द्वारा गीता में दिए उपदेश के प्रत्येक श्लोक में वेदों से ही लिया ज्ञान है । अतः यह अति विचित्र बात है कि अधिकतर आज के सन्त गीता की व्याख्या वेदों को दूर रखकर करते हैं । जिस कारण गीता के श्लोकों की व्याख्या में अधिकतर मनघढ़न्त अर्थ एवं मिथ्यावाद का समावेश दृष्टिगोचर होता है । इस मिथ्यावाद को दूर करने के लिए प्राचीन काल की भांति पुनः घर–घर में प्रथम वेदविद्या का ज्ञान देना अति आवश्यक है न कि भगवद्गीता का । क्योंकि कृष्ण महाराज एवं व्यास मुनि ने भी गीता का उद्घोष बाद में किया है, पहले उन्होंने वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग की साधना की थी। यह अति विचित्र बात होगी कि कोई गणित विद्या को न जानता हो और बीज गणित तथा रेखा गणित के प्रश्न कर दे। अतः वेदाध्ययन के पश्चात गीता का अध्ययन सार्थक, सर्वश्रेष्ठ एवं सत्य का प्रचार करने वाला होगा । इस श्लोक के दोनों भाव ऊपर लिख दिए गए हैं। प्रथम भाव है कि असम्प्रज्ञात समाधि में जीवात्मा (योगी) का अन्तःकरण वश में है और इस प्रकार वह मोक्ष–सुख में स्थिर है । ऐसी अवस्था में वह न तो कर्म करता है और न ही करवाता है अपितु मन से सब कर्मों का त्याग करके सुख में स्थित है । दूसरा भाव है कि सामान्य अवस्था में भी ऐसा योगी वेदानुकूल शुभ कर्म करता हुआ भी कर्म नहीं करता अर्थात् उसको शुभ कर्मों को करने का फल भी भोगना नहीं होता।

''न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।।''

(गीता श्लोक 5/14)

(प्रभुः) परमेश्वर **(लोकस्य)** लोक के अर्थात् प्राणियों के **(न)** न **(कर्तृत्वम्)** कर्त्तापन को **(न)** न **(कर्माणि)** कर्मों को **(न)** न **(कर्मफलसंयोगम्)** जो कर्मफल के संयोग उसको **(सृजति)** रचता है । **(तु)** परन्तु **(स्वभावः)** जीव का स्वभाव **(प्रवर्तते)** बर्तता है। अर्थात् जैसे जीव का स्वभाव है उसी के अनुरूप जीवात्मा कर्म फल भोगता है।

अर्थ :– परमेश्वर लोक के अर्थात् प्राणियों के न कर्त्तापन को न कर्मों को न जो कर्मफल के संयोग उसको रचता है परन्तु जीव का स्वभाव बर्तता है अर्थात् जैसे जीव का स्वभाव है उसी के अनुरूप जीवात्मा कर्म–फल भोगता है।

भावार्थ :– **यजुर्वेद मन्त्र 7/48** के अनुसार कर्म करने में प्राणी स्वतंत्र है परन्तु फल ईश्वर के आधीन है । वेदों के अनुसार शरीर में निवास करने वाली जीवात्मा का स्वभाव **'परिष्वंगधर्मी'** अर्थात् लगाव के धर्म वाला कहा है। जब नवजात शिशु जन्म लेता है तब उसके पास दो ही तत्त्व हैं जिनसे जीवात्मा जुड़ सकता है वह दो तत्त्व हैं– परमात्मा अथवा त्रिगुणी प्रकृति। पिछले कई जन्मों के पाप–पुण्य कर्मों के प्रभाव से भी जीवात्मा में जो संस्कार होते हैं, उसके अनुसार जीवात्मा प्रकृति के गुणों में फँसकर पाप कर्म करता है और दुःख भोगता है। अथवा पुण्य कर्मों के फल से सुख भोगता है । प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज ने ''स्वभाव'' शब्द का प्रयोग इसी संदर्भ में किया है। अर्थात् पूर्व जन्म के पाप–पुण्य कर्मों के संस्कार से इस जन्म में जीवात्मा अपने स्वभाव में बर्तता है अर्थात् परमात्मा द्वारा कर्मानुसार दिए स्वयं के किए कर्म फलों को दुःख–सुख के रूप में जीवात्मा स्वयं भोगता है। अतः सुख दुःख के कारण हमारे स्वयं के किए कर्म हैं, परमात्मा हमें इस लोक अर्थात् इस जन्म में अपनी इच्छा से सुख–दुःख नहीं देता। गौतम **ऋषि ने न्याय**

शास्त्र सूत्र 1/1/10 में जीवात्मा के दुःख एवं सुख ये दो गुण भी कहे हैं। दुःख का कारण अविद्या है । अविद्या का नाश विद्या से होता है फलस्वरूप ही सुख मिलता है । **योग शास्त्र सूत्र 2/5** में अनित्य, अपवित्र, दुःख और अनात्मा में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुख और आत्मा की प्रतीति होना अविद्या है। भाव यह है कि पदार्थ के स्वरूप के उलटे ज्ञान को अविद्या कहते हैं । चारों वेदों में ज्ञानकाण्ड, कर्म काण्ड तथा उपासना काण्ड ये तीन विद्या कही हैं । अज्ञानी लोग इन तीन विद्याओं को छोड़कर मनघढ़न्त अप्रमाणिक विद्या इत्यादि की बात कहकर नरकगामी होते हैं एवं दुखों के सागर में गोते लगाते हैं । **श्वेताश्वतरोपनिषद् श्लोक 6/8** में कहा **''स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च''** अर्थात् ईश्वर का ज्ञान चार वेद हैं । बल का भाव है कि ईश्वर सर्वशक्तिमान है। यजुर्वेद ने कहा **''न जातो न जनिष्यते''** कि ईश्वर के समान न कोई पैदा हुआ है, न भविष्य में पैदा होगा। स्वाभाविक का अर्थ है–स्वयं (अपने आप) होने वाला अर्थात् ईश्वर संसार का स्वामी है और उसके द्वारा संसार की रचना, पालन, पोषण, संहार निश्चित समय पर स्वयं (अपने आप) होता रहता है । ईश्वर को विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यह विचार रूप आवश्यकता जीव की है । **यजुर्वेद मंत्र 31/4** में यही कहा है कि ईश्वर की अंश–मात्र शक्ति जड़ प्रकृति में कार्य करती है और सृष्टि की रचना हो जाती है। और यह रचना, पालना तथा प्रलय ईश्वर की शक्ति के चौथे अंश को भी प्राप्त नहीं होते। अर्थात् जगत की रचना को देखकर ईश्वर की महानता का यही अनुभव होता है कि ईश्वर के समक्ष यह रचना तो कुछ भी नहीं है, ईश्वर तो इससे भी कहीं अधिक महान है। भाव यह है कि ईश्वर इतना सर्वशक्तिमान और महान है कि संसार का कार्य उसकी किंचित् मात्र शक्ति से स्वयं होता रहता है। अर्थात् जन्म–मृत्यु, कर्मों का भोग, ऋतुओं का आवागमन, रचना, पालना और निश्चित समय पर संसार का नष्ट हो जाना तथा पुनः बन जाना, यह सब कुछ ईश्वर की तनिक सी शक्तियों से स्वयं होता रहता है, ईश्वर को कुछ करने, सोचने इत्यादि की आवश्यकता बिल्कुल नहीं। इसलिए वेद एवं शास्त्रों ने ईश्वर को सृष्टि रचना का निमित्त उपादान कारण माना है, उपादान कारण नहीं। अर्थात् ईश्वर की शक्ति जब प्रकृति में कार्य करती है तो जड़ प्रकृति से सृष्टि की रचना स्वयं

होती है। इन सबका सारांश यहाँ श्री कृष्ण महाराज समझा रहें हैं कि इस लोक में जीवात्मा के कर्मों को परमात्मा नहीं रचता क्योंकि जीवात्मा कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। दूसरा–जीवात्मा को कर्म करने का अहंकार होता है । इस अहंकार से केवल योगी ही मुक्त होता है। इसे ही "कर्तृत्वम्" अर्थात् कर्त्तापन अथवा कर्म करने का अहंकार कहा है। यह कर्त्तापन भी ईश्वर नहीं बनाता। प्रकृति के गुणों में आकर्षित होने के कारण जीवात्मा में जो अविवेक है, उससे जीवात्मा में अविद्या का दोष आ जाता है। एवं अज्ञानयुक्त होकर जीवात्मा जो–जो काम, क्रोध आदि असंख्य कर्म करता है वो जीवात्मा का स्वभाव बन जाता है। जीवात्मा चेतन, अनादि, ज्ञान गुण वाला है। प्रकृति से संयोग करके यह इच्छा, द्वेष, सुख एवं दुःख गुणों वाला है। स्वयं किए कर्मों के फल प्राप्ति के अनुसार यह जीवात्मा अनादिकाल से भिन्न–भिन्न शरीर धारण करता आ रहा है। जीवात्मा स्वयं ही कर्त्ता एवं भोक्ता है। ईश्वर जीवात्मा को अच्छे–बुरे कर्म करने की प्रेरणा नहीं देता। अपितु दयावान ईश्वर मनुष्यों को वेद विद्या का दान करता है और स्वयं पुरुषार्थ करके जो भी वेद–विद्या ग्रहण करके एवं उसके अनुकूल चलकर विद्वान् होकर मोक्ष प्राप्त करता है, उसी का मनुष्य जीवन सफल होता है । अन्यथा वेद–विरुद्ध आचरण द्वारा इस जीवन में भी और मरकर भी दुःखों के सागर में गोता लगाता रहता है। यह जीवात्मा लगाव धर्म वाला है । यदि वैदिक शिक्षा पाकर इसका लगाव ईश्वर से हो जाता है तभी इसका उद्धार होता है । सारांश यही है कि ईश्वर कर्मों को नहीं रचता, जीवात्मा ही प्रकृति से लगाव करके अशुभ कर्म करता है और जीवात्मा ही ईश्वर से लगाव करके शुभ कर्म करता है । इसे ही जीवात्मा का प्रकृति अथवा ईश्वर से संयोग कहा है । ईश्वर "कर्तृत्वम्" अर्थात् कर्त्तापन भी नहीं रचता । अर्थात् जीव में ही प्रकृति संयोग के कारण कर्म करने का अहंकार होता है जिसे यहाँ "कर्तृत्वम्" कहा है । वैदिक विद्या के आचरण से प्रकृति से जब वियोग हो जाता है, तब अहंकार अर्थात् कर्त्तापन का नाश हो जाता है। जीव के कर्मों का जो फल है उसके संयोग को भी ईश्वर नहीं रचता । अर्थात् जीवात्मा स्वयं के किए पाप–पुण्य रूपी कर्मों का स्वयं ही फल भोगता है, हाँ कर्मफल दाता ईश्वर है। जो जैसा कर्म करेगा प्रभु उसे वैसा ही फल देगा । अतः सुख–दुःख अपने

स्वयं के किए कर्मों का फल है । यह मिथ्या धारणा है कि ईश्वर की आज्ञा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता । जीवात्मा प्रकृति अथवा परमेश्वर से संयोग (लगाव) करके ही पाप अथवा पुण्य करने वाला स्वभाव उत्पन्न करता है और उसी के अनुरूप फल भोगता है । श्रुति का वाक्य है–"**तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत**" अर्थात् ईश्वर ने सृष्टि रची और उसके बाद सृष्टि में प्रविष्ट हुआ । "अनु" शब्द का अर्थ गहन–मनन करने एवं समझने योग्य हैं। 'अनु' शब्द का अर्थ है पश्चात अर्थात् बाद में । भाव यह है कि परमात्मा ने प्रकृति से सृष्टि रची । उसमें शरीर आदि में जीवात्मा को प्रवेश कराने के बाद में स्वयं सृष्टि एवं जीव में प्रवेश कर गया । अतः जड़ संसार पृथक् है और चेतन परमात्मा संसार से पृथक् है। इसी प्रकार अल्पज्ञ जीव पृथक् है । अर्थात् तीनों तत्त्वों की पृथक्–पृथक् सत्ता है । ईश्वर के प्रवेश किए बिना जड़ और चेतन जगत कार्य करने में समर्थ नहीं हुआ, न ही होता है, पेड़–पौधे हिलते नहीं हैं । शरीर जड़ बने खड़े रहते हैं, वायु कार्य नहीं करती इत्यादि । अतः यहाँ कह सकते हैं कि ईश्वर के बिना पत्ता भी नहीं हिलता । अन्यथा सुख दुःख स्वयं किए कर्मों का फल है एवं फलदाता ईश्वर है ।

श्री कृष्ण उवाच–

"नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः ।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।।

(गीता 5/15)

(विभुः) सर्वव्यापक परमात्मा **(न)** न **(कस्यचित्)** किसी के **(पापम्)** पाप को **(च)** और (न) न (सुकृतम्) शुभ कर्म को **(एव)** ही **(आदत्ते)** ग्रहण करता है अपितु **(अज्ञानेन)** अज्ञान के द्वारा **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(आवृतं)** ढका रहता है **(तेन)** जिस कारण से **(जन्तवः)** जीव **(मुह्यन्ति)** मोह करते हैं ।

अर्थः–सर्वव्यापक परमात्मा न किसी के पाप को और न शुभ कर्म को ही ग्रहण करता है अपितु अज्ञान के द्वारा ज्ञान ढका रहता है जिस कारण से जीव मोह करते हैं।

भावार्थः– भगवद्गीता एक वैदिक प्रवचन है जिसमें वेद–मंत्रों में आए शब्दों का ही अधिकतर प्रयोग किया गया है । "**विभुः प्रजासु**" यह शब्द यजुर्वेद के हैं । '**विभुः**' का अर्थ व्यापक और '**प्रजासु**' अर्थात् प्रजाओं में । भाव है कि ईश्वर सब प्रजाओं में व्यापक है । परन्तु ऐसा कोई ईश्वर नहीं है जो एक स्थान पर हो और दूसरे स्थान पर न हो। ईश्वर के लिए विभु शब्द का प्रयोग करके श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को कह रहे हैं कि हे अर्जुन ! वह सर्वव्यापक परमात्मा किसी भी प्राणी के पाप अथवा पुण्य कर्म को ग्रहण नहीं करता। अविवेक/अज्ञान के कारण जीव ऐसा सोचता है । कई कह देते हैं कि हम सब अपने कर्म ईश्वर को सौंप दें । तब कर्म का कर्त्ता एवं किए हुए कर्मों का फल भोगने वाला कोई भी नहीं रहेगा। अतः कर्म जीव करे परन्तु कर्मों का फल ईश्वर को अर्पित करे। अन्यथा **ऋग्वेद मंत्र 1/90/1** में ईश्वर को जो "**अर्यमा**" अर्थात् न्यायकारी कहा है तो उसका न्याय ही समाप्त हो जाएगा। और पापी लोग आज़ाद होकर आनन्द से घूमते रहेंगे । दूसरा यह भाव है कि जीव को प्रेरणा देकर ईश्वर न पुण्य करवाता है न पाप। शास्त्र में कहा –"**स्वतन्त्रः कर्ता**" अर्थात् जो स्वतन्त्र है वही कर्त्ता है अर्थात् वह आजादी से अपनी मन–मर्जी से कुछ भी पाप–पुण्य कर्म करने के लिए स्वतन्त्र है। जीवात्मा अपने शरीर एवं इन्द्रियों का राजा है । अतः कर्म करने के लिए स्वतंत्र है। परन्तु किए गए कर्मों का फल ईश्वर ही देता है। अतः ईश्वर जीवों के द्वारा किए कर्मों का ही न्याय व्यवस्था द्वारा उचित फल देता है। ईश्वर किसी के कर्मों को ग्रहण करके अर्थात् किसी के पाप ईश्वर अपने ऊपर लेकर उस जीव को क्षमा नहीं करता । अथवा किसी के पुण्य लेकर उस जीव को दुःख नहीं देता । यदि ईश्वर ऐसा करे तो वह अन्याय को बढ़ावा देने वाला कहलाएगा जो कि असभंव है । दूसरा कई कहते हैं कि करने अथवा कर्म करवाने वाला ईश्वर है, उस की इच्छा के बिना पत्ता भी नहीं हिलता तब यदि ईश्वर ही प्ररेणा देकर जीव से कर्म करवाता है तब तो संसार में कोई पापी ढूँढे से भी न मिलेगा । परन्तु जैसे चारों वेद कहते हैं **(यजुर्वेद मंत्र 40/8 'शुद्धम् अपापविद्धम्')** कि ईश्वर शुद्ध एवं पाप से परे है, तब ईश्वर जीव को सदा शुभ कर्म करने की तो प्रेरणा देगा, अशुभ कर्म करने की प्रेरणा कदापि नहीं देगा । श्री कृष्ण महाराज यह कहते हैं कि वास्तविकता यह है

कि अज्ञान से ज्ञान ढका रहता है जिसके फलस्वरूप जीव मोह को प्राप्त हो जाता है । ज्ञान के ढकने का कारण **सांख्य शास्त्र सूत्र 1/19** में यह कहा कि जीवात्मा का प्रकृति के साथ लगाव करना ही जीवात्मा को बन्धन में लाता है । जीवात्मा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव को भूल जाता है और प्रकृति से संयोग कर लेता है एवं इस प्रकार अज्ञानी कहलाता है। अर्थात् इस अज्ञान से उसका नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप ढक जाता है । मुण्डक उपनिषद् में कहा–

"भिद्यते हृदयग्रन्थिरिश्छद्यन्ते सर्वसंषयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ।।

अर्थात् जब जीव के हृदय की अज्ञान ग्रन्थि कट जाती है तब सब संशय छिन्न–भिन्न होते हैं और पाप कर्मों का नाश हो जाता है । **योग–शास्त्र सूत्र 2/52** में कहा कि प्राणायाम से जीवात्मा के ऊपर पड़ा अज्ञान का पर्दा हट जाता है । अर्थात् अनादिकाल से चली आ रही परम्परागत वेदों में कही कर्म, ज्ञान एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को आचरण में लाकर जीव अज्ञान का नाश करके सर्वव्यापी ईश्वर में लीन होकर मोक्ष सुख प्राप्त करता है । इन्हीं तीनों विद्याओं में यज्ञ, नाम स्मरण एवं अष्टांग योग आदि की शिक्षा दी गई है । इस अज्ञान में ही काम–क्रोध, मोह आदि विषय हैं और इस प्रकार अज्ञान को प्राप्त हुआ जीव मोहवश कहता है कि कर्त्ता–धर्त्ता अर्थात् प्राणी को कर्म कराने वाला, कर्म फल देने वाला, सुख–दुःख देने वाला, सब कुछ परमेश्वर है। और जब दुःख आता है तो परमेश्वर से गुहार करते हैं कि यह दुःख क्यों आया और सुख आने पर परमेश्वर की प्रशंसा करते हैं । यह सब मोह है। प्रकृति रचित शरीर एवं संसार के भौतिक पदार्थों की ओर आकर्षित हुआ जीवात्मा उन सबको अपना समझता है अथवा पदार्थों को ही प्राप्त करने के लिये जीवन भर अशुभ आदि कर्म करता है और अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुआ अर्थात् शरीर त्याग कर दुःखों के सागर (जन्म–मृत्यु) में गोता लगाता रहता है। शरीर और संसार के पदार्थों की ओर आकर्षित हुआ उन्हें प्राप्त करके उनको अपना मान लेना यह सब अज्ञान है और अज्ञान के कारण शरीर एवं पदार्थों से मोह करता है। जबकि शरीर एवं संसार का कोई भी पदार्थ हमारा

नहीं है । यह पदार्थ एवं शरीर वैदिक शुभ कर्म करके ईश्वर प्राप्ति के लिये कुछ समय के लिये ईश्वर ने हमें दिये हैं **(देखें यजर्वेद मंत्र 40/1)** धृतराष्ट्र ने अपने पुत्र दुर्योधन से मोह करके महाभारत जैसा भयंकर युद्ध करा कर कुरुक्षेत्र की भूमि रक्त रंजित कर दी थी।

श्री कृष्ण उवाच–

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः ।
तेशामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।।

(गीता 5/16)

(तु) परन्तु **(येषाम्)** जिनके **(तत्)** वह **(आत्मनः)** आत्मा का **(अज्ञानम्)** अज्ञान **(ज्ञानेन)** ज्ञान के द्वारा **(नाशितम्)** नष्ट हो गया है **(तेषाम्)** उस पुरुष का **(ज्ञानम्)** ज्ञान **(आदित्यवत्)** सूर्य के प्रकाश के समान **(तत्परम्)** उस परम तत्त्व परमात्मा को **(प्रकाशयति)** प्रकाशित करता है ।

अर्थः– परन्तु जिनका वह आत्मा का अज्ञान ज्ञान के द्वारा नष्ट हो गया है उस पुरुष का ज्ञान सूर्य के प्रकाश के समान उस परम तत्त्व परमात्मा को प्रकाशित करता है ।

भावार्थः– पिछले श्लोकों में लिखा था कि जब जीवात्मा जड़ प्रकृति से लगाव कर लेता है तो अपने शुद्ध, बुद्ध एवं नित्य इस चेतन स्वरूप को भूल जाता है। जीवात्मा स्वयं को नाशवान, जड़ शरीर मान बैठता है। जीवात्मा में इस प्रकार प्रकृति का संयोग (लगाव) भी अविवेक द्वारा उत्पन्न होता है। अविवेक का अर्थ जीवात्मा द्वारा अपने चेतन, शुद्ध, बुद्ध स्वरूप को भूल जाना है । स्वरूप से जीवात्मा अज्ञानी नहीं है । जीवात्मा का प्रकृति के साथ संयोग ही जीवात्मा को बन्धन में लाता है । प्रकृति के संयोग, प्रकृति से बने जगत के नाशवान पदार्थों की तरफ आकर्षित होना, मोह करना और प्रकृति के तीनों गुणों में जो काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार आदि अनेक विकार हैं, उनमें फँस जाना, यह सब अविवेक–अज्ञान के कारण ही होता है । अज्ञान अन्धकार है तो ज्ञान प्रकाश है। जैसे कि **मुण्डक उपनिषद् में कहा** – जब जीवात्मा के

हृदय की अविद्या रूपी अज्ञान की गाँठ कट जाती है तब सब प्रकार के संशय नष्ट हो जाते हैं और सब कर्मों का नाश हो जाता है । यह स्थिति ऐसी होती है जैसे कि सूर्य के निकलने पर सब रात्रि का अंधकार नष्ट हो जाता है उसी प्रकार योगाभ्यास आदि से जब अज्ञान का नाश होता है तब जीवात्मा अपने अन्दर परमेश्वर का साक्षात्कार करता है । अज्ञान यही है कि जीवात्मा अपने स्वरूप को भूल गया है और ज्ञान यही है कि वैदिक विद्या द्वारा जीव समाधि प्राप्त करके उस अनन्त विद्या युक्त परमात्मा को प्राप्त कर लेता है, अपने स्वरूप को जान जाता है एवं मोक्ष पद का सुख भोगता है । जिस प्रकार अंधकार को दूर करने के लिए प्रकाश की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अज्ञान को दूर करने के लिए ज्ञान की आवश्यकता होती है । जीवात्मा अपने स्वरूप को नहीं जानता, यह अज्ञान है और अपने स्वरूप को जान लेना ही ज्ञान है । इस ज्ञान प्राप्ति के लिए जो अनादिकाल से ईश्वर ने वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीन विद्याओं का विधान किया है । इन्हीं विद्याओं को प्राप्त करके जीवात्मा को ज्ञान – अपने स्वरूप का बोध होता है । फलस्वरूप जीवात्मा को अपने अन्दर परमात्मा का अनुभव होता है । वेदों में यज्ञ, शुभ कर्म, योग–विद्या आदि का प्रकाश है । वेद सुनकर के हम शब्द ब्रह्म के ज्ञाता होते हैं और शब्दों द्वारा अनुमान लगाकर हम यह जान जाते हैं कि परमेश्वर, जीव एवं प्रकृति का क्या स्वरूप है । इसलिए **अथर्ववेद काण्ड–4 सूक्त 34** में "**ब्रह्मौदनम्**" शब्द का ज्ञान देकर, ईश्वर ने समझाया कि जिस प्रकार शरीर को स्थिर एवं स्वस्थ रहने के लिए प्रकृति रचित अन्न, दूध, घी इत्यादि की आवश्यकता है, उसी प्रकार दुःखों का नाश करके सदा सुखी रहने के लिए जीवात्मा को "**ब्रह्मौदनम्**" अर्थात् वेद–विद्या द्वारा ज्ञान प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। "**ब्रह्मौदनम्**" का सेवन करने वाला व्यक्ति निरोगता धारण करता हुआ तथा ईश्वर प्राप्ति द्वारा मृत्यु से तर जाता है और मोक्ष का सुख प्राप्त करता है। ज्ञान अमृत प्राप्ति का साधन है और यह ज्ञान हमें वेदों द्वारा ईश्वर ने प्रदान किया है। शब्द–ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करके जीव तपस्या द्वारा उसे जीवन में धारण करता है तब ही मृत्यु रूपी क्लेश से तरता है । सांख्य शास्त्र के **मुनि कपिल ने सूत्र 1/23** में यह अति विचारणीय एवं गहन बात कही है कि केवल पढ़–सुन–रटकर ज्ञान की बात को कह देना हमें

आत्म तत्त्व का बोध नहीं कराता क्योंकि जो भी कहा जाता है वह बुद्धि एवं वाणी द्वारा कहा जाता है और केवल चित्त में स्थित रहता है, जबकि चित्त वृत्तियों को योग द्वारा नाश करना होता है । अतः इस प्रकार के ज्ञान से विवेक प्राप्त नहीं होता और प्राणी दुःखों के सागर–जन्म–मृत्यु में फँसा ही रहता है । परन्तु वेद–विद्या सुनकर अर्थात् शब्द–ब्रह्म में प्रवीण साधक जब वेद–विद्या को आचरण में लाकर यज्ञ, तप एवं अष्टाँग योग–साधना द्वारा इन्द्रिय संयम करता हुआ समाधि अवस्था को प्राप्त होता है और इस प्रकार जीवात्मा स्वयं के स्वरूप एवं ईश्वर के स्वरूप का बोध प्राप्त करके इस प्रकार अपने एवं प्रकृति के स्वरूप को अलग–अलग जान लेता है तो इस जानने को ही ज्ञान कहते हैं । और यह जड़ एवं चेतन पदार्थ को अलग–अलग जानना ही अविवेक–अज्ञान का समूल नाश कर देता है । इस अवस्था को ही श्री कृष्ण महाराज इस श्लोक में इस प्रकार कह रहे हैं **"तेषाम ज्ञानम् आदित्यवत्"** अर्थात् उस साधक का ज्ञान सूर्य के समान उसके अन्दर **"तत्परम् प्रकाशयति"** उस परमात्मा को प्रकाशित कर देता है । अर्थात् परमात्मा तो शरीर के अन्दर–बाहर सब जगह व्याप्त है परन्तु अज्ञान की चादर से ढका हुआ था और जीवात्मा भी इसी अज्ञान की चादर से ढका हुआ था फलस्वरूप अपने स्वरूप को नहीं पहचानता था तो जिस प्रकार सूर्य आने पर रात्रि के अन्धेरे का नाश हो जाता है और दिन निकल आता है, उसी प्रकार वेदों के कहे रास्ते पर चलकर जब साधक को ज्ञान रूपी सूर्य प्राप्त होता है तब उसकी जीवात्मा के ऊपर छाया–अज्ञान–अविद्या–रूपी अन्धकार नष्ट हो जाता है । वेद यही उपदेश करते हैं कि प्राणी उस परम तत्त्व परमेश्वर को जाने, जिसके जानने पर कुछ और जानने की आवश्यकता नहीं रहती **(देखें यजुर्वेद मंत्र 31 / 18)**। अर्थात् परमेश्वर को जानने का मार्ग ही ऐसा हो कि परमेश्वर को जानने पर जीव पूर्ण विद्वान् होकर सब-कुछ जान लेता है।

अतः भगवद्गीता में श्रीकृष्ण महाराज द्वारा वेद–विद्या का ही उपदेश दिया गया है जिसे प्रायः हम वेद का ज्ञान न होने के कारण छिपा देते हैं । यह कटु सत्य है कि गीता के समय में वर्तमान काल के मज़हब एवं पूजा–पाठ नहीं थे । अतः गीता के श्लोकों का अर्थ आज के मज़हब पर

पूर्णतः आधारित नहीं किया जा सकता । हम वर्तमान–काल के मिथ्यावाद से तभी बच सकते हैं जब हम स्वयं वेद–विद्या को सुन–सुनकर विद्वान् बनें। यदि हममें ज्ञान का सूरज चमक रहा होगा तो बुद्धि में मिथ्यावाद एवं अज्ञान का प्रवेश कभी नहीं हो पाएगा । और यदि मनुष्य स्वयं ही वेद–विद्या नहीं सुनेगा तो कोई भी मिथ्यावादी, कैसा भी वेद–विरोधी मनघढ़न्त अर्थ करके जीव को नरकगामी कर देगा ।

श्री कृष्ण उवाच–

"तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतल्मषाः ।।"

(गीता 5/17)

(तद्बुद्धयः) उस परमात्मा में जिसकी बुद्धि स्थिर है **(तदात्मानः)** उस परमात्मा में लीन आत्मा वाले **(तन्निष्ठाः)** परमात्मा में ही निष्ठा वाले ऐसे **(तत्परायणाः)** उस परमात्मा में पूर्णतः लीन पुरुष **(ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः)** ज्ञान से जिनके पाप दूर हो गए हैं **(अपुनरावृत्तिम्)** अपुनरावृत्ति को **(गच्छन्ति)** प्राप्त होते हैं ।

अर्थः– उस परमात्मा में जिसकी बुद्धि स्थिर है उस परमात्मा में लीन आत्मा वाले परमात्मा में ही निष्ठा वाले ऐसे उस परमात्मा में पूर्णतः लीन पुरुष ज्ञान से जिनके पाप दूर हो गए हैं वह अपुनरावृत्ति को प्राप्त होते हैं । अपुनरावृत्ति का अर्थ है कि मुक्ति में जीव पुनः वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि की पुनः आवृत्ति नहीं करता ।

भावार्थः– तत् +बुद्धयः–"**तत्**" का यहाँ अर्थ है उस परमात्मा में, "**बुद्धयः**" अर्थात् बुद्धि। भाव है कि जिस पुरुष की बुद्धि उस परमात्मा में स्थिर रहती है । दूसरा "**तदात्मानः**"–जिसकी जीवात्मा परमात्मा में लीन हो गई है, तीसरा "**तन्निष्ठाः**"–'**तत्**' अर्थात् उस परमेश्वर में "**निष्ठा**" का अर्थ है स्थिरता अर्थात् जो परमात्मा में स्थित है – लीन है। चौथा "**तत्परायणः**" '**तत्**' अर्थात् उस, '**पर**' का अर्थ परमात्मा 'अयणः का अर्थ लीन । अर्थात् जो

जीवात्मा परमात्मा में लीन है और इस प्रकार श्लोक 16 में कहे ज्ञान प्राप्ति के पश्चात् जिसके पाप नष्ट हो गए हैं, वह पुरुष संसार में "**पुनरावृत्ति**" को प्राप्त नहीं होते अर्थात् जन्म–मृत्यु के बन्धन को काटकर मोक्ष–पद प्राप्त कर लेते हैं । "**निःधूत**" का अर्थ है कि बाहर निकाला हुआ । "**कल्मशः**" का अर्थ है पाप । अर्थात् यह वैदिक–ज्ञान एवं योगाभ्यास द्वारा जिसके पाप अन्तःकरण से बाहर निकल गए हैं अर्थात् नष्ट हो गए हैं, वही योगी "**तत् +बुद्धयः, तदात्मानः, तन्निष्ठाः, तत्परायणः**" गुणों से सुशोभित होता है। और ऐसा पुरुष ही मोक्ष पद का अधिकारी है । **यजुर्वेद मंत्र 37/2** में परमात्मा में लीन बुद्धि के विषय में कहा "**विप्रः बृहतः विपश्चितः विप्रस्य मनः यु जते**" अर्थात् महान अनन्त विद्यायुक्त एवं सर्वव्यापी परमेश्वर में योगी लोग योगाभ्यास द्वारा अपने मन एवं बुद्धि को समाहित अर्थात् लीन करते हैं । गायत्री मंत्र में विशेषकर यही प्रार्थना है कि हे ईश्वर ! हमारी बुद्धि में ज्ञान का प्रकाश हो। विचारणीय विषय यही है कि गीता के इस श्लोक को केवल पढ़कर अथवा रटकर किसी को सुना कर अभिमान, अहंकार आदि विकार तो फैल सकता है परन्तु किसी की बुद्धि गीता के इस श्लोक में कहे शब्द "**तत् +बुद्धयः**" अर्थात् बुद्धि बह्म में लीन नहीं हो सकती इत्यादि । कारण यह है कि चारों वेद, शास्त्र, विद्या को आचरण में लाने की बात कह रहे हैं । आचरण में लाने योग्य विद्या है – वेदों का सुनना, तदानुसार यज्ञ करना, माता–पिता, गुरु आदि की सेवा, सत्य बोलना, ब्रह्मचर्य आदि का पालन योगाभ्यास इत्यादि अनेक शुभ कर्म करना । अब सोचना यह है कि कौन वेद सुनते हैं, यज्ञ करते हैं और योगाभ्यास में लीन रहते हैं । वस्तुतः अधिकतर तो वेद एवं योग–विद्या के विरोधी हैं और जो योग का नाम लेकर पैसे कमा रहे हैं वह वेद विद्या सुनाते ही नहीं हैं, सम्भवतः उनको वेद–विद्या नहीं आती । योग–विद्या तो वेद–विद्या में वर्णित है । अतः वेद विरोधी संत अर्थात् वेद–विद्या को न जानने वाला संत जब योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज की गीता का प्रवचन करता है, आसन प्राणायाम सिखाता है, तब गुरु वसिष्ठ, व्यास मुनि, कपिल मुनि, अत्रि ऋषि, विश्वामित्र ऋषि इत्यादि अनेक राज ऋषि एवं अनेक मुक्त जीवात्माएँ अन्तरिक्ष में हैरान होती होंगी कि जमीन पर हो क्या रहा है ? क्या आज धर्म को व्यवसाय बना रखा है ? तो वेद–विरोधी सन्तों की बुद्धि ब्रह्म

में लीन कहाँ से हो गई ? इसी प्रकार इस श्लोक का दूसरा पद **"तदात्मानः"** अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म में लीन, **"तन्निष्ठः"** परमात्मा में लीनता एवं **"तद्परायणः"** अर्थात् जीव का समाधि अवस्था में ब्रह्मलीन होना इन शब्दों के गहन अर्थ हैं। यह ऐसे गुण हैं जो प्राचीन एवं वर्तमान के ऋषियों को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि तप द्वारा प्राप्त हुए थे । कहीं आज वेद–विरोधी, मिथ्यावादी सन्तों द्वारा प्रायः केवल पढ़–सुनकर रटकर बातों के जाल में ही फँसा कर, ब्रह्मलीनता का डंका बजाया जा रहा है ? यदि कोई व्यक्ति फिल्मी कलाकार की तरह केवल हँसोड़ा बनकर, नाचता–गाता है, पढ़–सुन, रटकर बड़े–बड़े व्याख्यान और कथा सुनाकर यह कहता है कि वह ब्रह्मलीन है और ब्रह्मज्ञान बाँट रहा है परन्तु स्वयं का आचरण ठीक नहीं और पापों से मुक्त नहीं हुआ है तो वह स्वयं को और ईश्वर को धोखा नहीं दे सकता क्योंकि वह स्वयम् भी जानता है कि वह ब्रह्मलीन नहीं है और परमेश्वर तो सर्वज्ञः अर्थात् सब की जानने वाला है ही । ऐसे मिथ्यावादी सन्तों के विषय में **मनुस्मृति श्लोक 2/168** कहती है कि इन्हें अभी भी दुःखों ने घेरा हुआ है और मरकर भी दुःखों को ही प्राप्त होंगे ।

श्री कृष्ण उवाच–

"विद्याविनयसंपन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।"

(गीता श्लोक 5/18)

(पण्डिताः) ज्ञानी लोग **(विद्याविनयसंपन्ने)** विद्या एवं विनय से सम्पन्न **(ब्राह्मणे)** ब्राह्मण में **(च)** और **(गवि)** गौ **(हस्तिनी)** हाथी **(शुनि)** कुत्ते और **(श्वपाके)** चाण्डाल में **(च)** भी **(समदर्शिनः)** समदर्शी **(एव)** होते हैं ।

अर्थः– ज्ञानी लोग विद्या एवं विनय से सम्पन्न होते हैं तथा ऐसे ज्ञानी ब्राह्मण में और गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डाल में भी समदर्शी होते हैं ।

भावार्थः– पण्डित शब्द का अर्थ वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास करने वाला विद्वान् ज्ञानी पुरुष है । विद्या एवं विनय यह दो शब्द हैं । विद्या का अर्थ **मनुस्मृति**

श्लोक 1/23 में चारों वेदों में कही तीन विद्याएँ हैं । यह तीन विद्याएँ ऋग्वेद में ज्ञान काण्ड, यजुर्वेद में कर्मकाण्ड, सामवेद में उपासना काण्ड एवं चौथे अथर्ववेद में शारीरिक विज्ञान वनस्पति से औषधि इत्यादि एवं ब्रह्म के रूप का ज्ञान तथा ऊपर चारों वेदों में कही तीन विद्याओं की सिद्धी कही है । ऋषियों ने इसके अतिरिक्त अन्य कोई विद्या नहीं कही है।

अथर्ववेद मंत्र 10/7/20 में भी चारों वेदों से निकली इन तीनों विद्याओं का वर्णन है । और अथर्ववेद में औषधि विज्ञान, कम खाने (उचित एवं अनुकूल पौष्टिक भोजन) और कम बोलने (विचारयुक्त, सत्य वाणी) इत्यादि का उपदेश किया है । विद्या प्राप्त करने वाले को ही विनय जैसा गुण प्राप्त होता है। विद्यावान, जितेन्द्रिय पुरुष जिसकी वाणी में नम्रता, सत्य, शिष्ट आचरण इत्यादि गुणों वाला ही यहाँ विनय युक्त पुरुष कहा है । विद्या विनय युक्त पुरुष गुणों की खान होता है । ऐसे पुरुष के प्रति यह एक अति उत्तम उदाहरण है कि जैसे वह वृक्ष जिसमें फल नहीं लगे हैं वह मानो अहंकार से भरा सीधा अकड़ कर खड़ा रहता है और जब उस वृक्ष में फल लग जाते हैं अर्थात् प्राणियों के उपकार के लिए वह वृक्ष फल रूपी दान देने में समर्थ हो जाता है (क्योंकि पेड़ स्वयं फल नहीं खाते अपितु दूसरों को देते हैं) तब वह विद्या की खान होकर मानो विनयपूर्वक झुक जाता है । जिसमें विद्या नहीं है, वह नहीं झुक सकता । **यजुर्वेद मंत्र 40/12** का भाव है कि जो मनुष्य विद्या से हीन हैं और राग–द्वेष आदि क्लेशों से युक्त हैं, वे ही सर्वशक्तिमान, निराकार, बह्म को छोड़कर, इससे भिन्न जड़ वस्तु की उपासना करके दुःख के सागर में डूब जाते हैं । और जो संस्कृत भाषा को पढ़कर भी सत्य भाषण नहीं करते और धर्म का आचरण भी नहीं करते वह भी अभिमानी होकर विद्या का अपमान करते हैं और अज्ञान से ग्रस्त होकर सदा दुखी रहते हैं।

यही अर्थ ब्राह्मण शब्द का भी है । **यजुर्वेद मंत्र 31/11** में कहा कि **"ब्राह्मणः मुखम् आसीत"** अर्थात् ईश्वर की सृष्टि में मुख के समान उत्तम ब्राह्मण वह है जो चारों वेद एवं वेदानुकूल योगाभ्यास आदि तप करके समाधि

में ईश्वर को जानने वाला है । मनुस्मृति में भी नित्य वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाले को ब्राह्मण कहा है । श्री कृष्ण ने यहाँ भी वैदिक विद्या से युक्त "विद्याविनयसम्पन्न" अति सुन्दर शब्द, वेद एवं ईश्वर के ज्ञाता ब्राह्मण के लिए प्रयोग किये हैं । ब्राह्मण को ही ब्रह्मऋषि बोलते हैं। **अथर्ववेद मंत्र 4/34/8** में परमात्मा स्वयं कहते हैं कि **"इमम् औदनम् ब्राह्मणेषु नि दधे"** अर्थात् यह वेदों का ज्ञान मैं ब्राह्मणों में स्थापित करता हूँ । भगवद्गीता जो एक वैदिक प्रवचन है, उसमें जो श्रीकृष्ण महाराज ने वेदों के मंत्रों का भाव व्यक्त किया है और उन भावों को व्यक्त करने के लिए वेद-मंत्रों से लिए शब्दों का ही प्रयोग किया है, उन शब्दों एवं भावों को कोई वेदविद्या का ज्ञाता योगी ही समझने में समर्थ होता है । अन्य तो विद्याहीन अपनी अल्प बुद्धि के आधार पर अर्थ का अनर्थ ही करते हैं । आज के वेद विरोधी सन्त इन वैदिक अर्थों को समझने-समझाने में असमर्थ हैं । इन्हीं शब्दों एवं शब्दार्थों को वेदों में शब्द-ब्रह्म कहा है । वेद विरोधी संत इन गूढ़ अर्थों को शब्दों का जाल कहकर, वैदिक शब्दार्थों में फँसने से मना करते हैं । ऐसे सन्त वेद मंत्रों का कोई भी प्रमाण प्रस्तुत नहीं करते अपितु मनघढ़न्त, वेद विरुद्ध अर्थ करके असत्य को प्रोत्साहन देते हैं । जबकि महाभारत के शांतिपर्व में भीष्म पितामह एक अटूट नियम का बोध कराते हुए युधिष्ठिर से कह रहे हैं कि हे युधिष्ठिर ! जो साधक शब्द-ब्रह्म (वेदमंत्र) में पारंगत हो जाता है, वही पर-ब्रह्म को पा लेता है । अर्थात् जो वेदमंत्रों का ज्ञाता ऋषि है, वही वेदानुकूल यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि तप के द्वारा ईश्वर को प्राप्त कर लेता है । इस श्लोक में श्रीकृष्ण अन्त में कह रहे हैं कि पण्डित लोग ऐसे ब्राह्मण, गऊ, हाथी, कुत्ते और नीच प्रवृत्ति वाले चाण्डाल में भी सम भाव से स्थित एक ईश्वर को ही देखते हैं अर्थात् ब्रह्मलीन, ब्राह्मण-ब्रह्मर्षि ही इस सत्य को अनुभव करते हैं कि जड़ जगत जो सूर्य, चन्द्रमा, पृथिवी आदि तीन लोक एवं जीवात्माएँ जो शरीरों में रहती हैं इन सबमें ईश्वर व्याप्त है - समाया हुआ है । अतः ज्ञानीजन ब्राह्मण अथवा ऊँच-नीच एवं पशु-पक्षी, छोटे-बड़े आदि सबमें समदर्शी होते हैं अर्थात् सबमें परमेश्वर को अनुभव करते हैं । अर्थात् ज्ञानीजन यह जानते हैं कि जैसे ईश्वर मेरे अन्दर है वैसा ही उनके शरीर के बाहर जड़-चेतन दोनों तत्त्वों में व्याप्त हो रहा है । अतः

मैं किसी से द्वेष न करूँ और जैसा भला मैं अपना चाहता हूँ वैसा भला मैं अन्य का भी चाहूँ । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि कुत्ता–बिल्ली, साँप एवं दुष्ट राक्षस इत्यादि सब ईश्वर के स्वरूप हैं और कुत्ते–बिल्ली के साथ भी बैठकर भोजन करें । यथायोग्य ही सबसे व्यवहार किया जाता है । जैसा कि **यजुर्वेद मंत्र 1/7** का भाव है कि मनुष्य दुष्ट स्वभाव वाले प्राणियों से दूर रहे। अगले ही मंत्र का भाव है कि ईश्वर भी पापी, दुष्ट जीवों को उनके किए हुए पापों का फल देकर ताड़ना करता है, दुःख देता है और धार्मिक पुरुषों की रक्षा करता है। अतः विद्वान्–पण्डित जन, सब में ईश्वर को अनुभव करते हैं परन्तु दुष्ट पुरुषों से राग द्वेष न करके उनसे दूर रहने का उपदेश करते हैं। ऐसा नहीं है कि हिंसक हाथी, शेर आदि के आने पर उनसे प्यार करने के लिए यह सोचकर मेल–मिलाप करें कि इनमें भी ईश्वर है । हिंसक प्राणी से तो अपना बचाव ही किया जाता है।

श्री कृष्ण उवाच :–

"इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।"

(गीता श्लोक 5/19)

(येषाम्) जिसका **(मनः)** मन **(साम्ये)** सम भाव में **(स्थितम्)** स्थित है । **(तैः)** उनके द्वारा **(इह)** इस लोक में **(एव)** ही **(सर्गः)** यह संसार **(जितः)** जीत लिया गया है । **(हि)** क्योंकि **(ब्रह्म)** परमात्मा **(निर्दोषम्)** निर्दोष है **(समम्)** सम है **(तस्मात्)** इससे **(ते)** वे समभाव वाले **(ब्रह्मणि)** ब्रह्म में **(स्थिताः)** स्थित हैं ।

अर्थ :– जिसका मन समभाव में स्थित है, उनके द्वारा इस लोक में अर्थात इस जन्म में ही यह संसार जीत लिया गया है क्योंकि परमात्मा निर्दोष है, सम है, इससे वे समभाव वाले ब्रह्म में स्थित हैं ।

भावार्थ :– योग शास्त्र सूत्र 1/51 में ऋषि पता जलि ने कहा है कि जब

समाधि के द्वारा चित्त का निरोध होता है, तब वह निर्बीज समाधि होती है। उस समय जीवात्मा अपने स्वरूप में स्थित होता है । व्यास मुनिजी इस सूत्र की व्याख्या करते हुए समझाते हैं कि **"शुद्धः केवलो मुक्त इति उच्यते"** अर्थात् जीवात्मा का स्वरूप शुद्ध, केवल, मुक्त कहलाता है । **सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल ने सूत्र 1/19** में जीवात्मा को नित्य, शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव का कहा है । अनन्त गुणों में से, यह कहे गए कुछ गुण भी ईश्वर के हैं। समाधि प्राप्त योगी ईश्वर के धर्मों को धारणा करता है । अतः असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित योगी को **ऋग्वेद मन्त्र 1/74/4, यजुर्वेद मन्त्र 2/26** आदि के अनुसार ईश्वर के समान कहा है। अतः ईश्वर के गुणों को योगी धारण करता है । इसी अवस्था में श्री कृष्ण महाराज ने ब्राह्मण अर्थात् योगी को ईश्वर के समान निर्दोष एवं समभाव वाला कहा है । समाधि काल में जीव ईश्वर में समभाव स्थापित करता है । **अथर्ववेद के नवें काण्ड, सूक्त 5** में कई जगह कहा है **"तमांसि तीर्त्वा"** अर्थात् विद्या द्वारा अज्ञान रूपी अंधकारों को तैर कर **"तृतीयं नाकम् आ क्रमताम्"** तीसरे लोक अर्थात् प्रकृति एवं कर्मबन्धन में फँसे जीव की अवस्था से ऊपर उठकर तीसरा लोक अर्थात् परमात्मा के आनन्द स्वरूप में विचरण कर, यही मोक्ष है। यही ऊपर गीता के श्लोक में कहा **"समत्व"** भाव है जो निर्बीज समाधि में ही संभव होता है, जिसकी अनुभूति जीवन भर सब प्राणियों में समत्व भाव रखकर सबका परोपकार चाहती है।

इस विषय में **अथर्ववेद मन्त्र 9/5/24** में स्पष्ट ज्ञान दिया है कि **"इदम् इदम् एव अस्य रूपं भवति"** अर्थात् ऐसे तपस्वी साधक ही समाधि अवस्था में यह अनुभव करते हैं कि प्रत्येक जीव ईश्वर के रूप के समान ही है और वह साधक **"तेन एनं सम् गमयति"** उस परमात्मा के साथ अपनी आत्मा मिला देता है । अर्थात् साधक स्वयं को प्रभु से मिला लेता है और यह अवस्था जीवित योगी की आती है जिसे **सांख्य शास्त्र के मुनि कपिल ने अपने सूत्र 3/78** में कहा –

"जीवन्मुक्तश्च"

अर्थात् जीवित, समाधि में ईश्वर की अनुभूति किए हुए, कोई योगी ही

अपने अनुभव से समाज को सत्य ज्ञान प्रदान करता है । पढ़–सुन, रटकर पाखण्ड रचने तथा असत्य भाषण करने वाले वेद एवं यज्ञ के विरोधी सन्त, यह सत्य ज्ञान कदापि नहीं दे सकते अपितु समाज में मिथ्यावाद, दुराचार एवं विष ही फैलाते हैं और पैसे लूटकर शारीरिक ऐशो–आराम की दिखावे की जिन्दगी व्यतीत करते हैं परन्तु मानसिक एवं शारीरिक रोगों से वह कभी नहीं छूट पाते ।

ऊपर कहे योग शास्त्र के सूत्रों से भी यह स्पष्ट है कि ऐसी समत्व भावना अनायास ही भाषण आदि करके प्राप्त नहीं होती अपितु योग द्वारा चित्त वृत्ति निरोध से निर्विकल्प समाधि में ही प्राप्त होती है ।

सामवेद मन्त्र 251 – 261 तक का भाव है कि यज्ञ आयोजन, वैदिक विद्वानों का संग तथा योगाभ्यास द्वारा साधक ईश्वर की अर्चना करके अपना मन और बुद्धि शुद्ध कर लेता है । फलस्वरूप उसे समत्व भाव प्राप्त होता है। **सामवेद मन्त्र 777** में ईश्वर कहते हैं कि ऐसे योगी के लिए ही यह तीनों लोक उसकी सेवा में खड़े हैं । वेदों के अन्य मन्त्रों में भी भगवान ने स्वयं कहा है कि ऐसा योगी तीनों लोकों को जीत लेता है । यहां समझना यह है कि श्रीकृष्ण महाराज भी यहाँ ऊपर के श्लोक में इन्हीं कहे वेदमन्त्रों के ज्ञान को प्राप्त करके ही यही वेदों के भाव प्रदर्शित करते हुए कह रहे हैं कि अर्जुन! जिनका मन समत्व भाव में स्थित है, उनके द्वारा ही यह सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है। जैसा **यजुर्वेद मन्त्र 40/8** में कहा कि ईश्वर **"शुद्धं अपापविद्धम"** अर्थात् ईश्वर शुद्ध है व पाप से परे है। यही ऊपर वेद के मन्त्र एवं योगशास्त्र के सूत्र कह रहे हैं कि जीवात्मा भी स्वरूप से शुद्ध, बुद्ध एवं पाप से परे है। अन्तर यह है कि जीवात्मा प्रकृति के गुणों से रचित सांसारिक चमक –दमक में फँसकर अपना स्वरूप भूल जाता है जबकि ईश्वर तो **ऋग्वेद मन्त्र 10/129/7** के अनुसार भी प्रकृति एवं प्रकृति रचित संसार का अध्यक्ष है और इस प्रकार ईश्वर पर प्रकृति या माया असर करे, ऐसा विचार करना भी महामूर्खता है। अतः श्रीकृष्ण ने ऊपर समझाया कि परमात्मा भी निर्दोष अर्थात् पाप–पुण्य एवं अविद्या आदि क्लेश से परे है और ऊपर वर्णित योगी भी इस जंजाल से परे है । अतः ऐसे योगी की जीवात्मा सदा परमात्मा में ही स्थित है । वेद – विरोधी असत्य भाषण करने वाले सन्तों की यह स्थिति कैसे हो

सकती है । देश का यही दुर्भाग्य है कि जहाँ पिछले तीनों युगों में जनता के घर–घर में वेद के ज्ञान का प्रकाश था वहाँ प्रायः आज प्रत्येक घर वेद–विद्या के ज्ञान अर्थात् इस अमर ज्योति से शून्य हो गया है । और ऐसी अवस्था में कोई भी वेद–विरोधी सन्त जनता को मूर्ख बनाकर अपना पाखण्ड फैला देता है । यहाँ पर सत्य समझना भी आवश्यक है कि परमात्मा और जीवात्मा यह दोनों तत्त्व सदा एक दूसरे से पृथक् –पृथक् हैं । जहाँ परमात्मा में अनन्त गुण, अनन्त सामर्थ्य है, वहाँ जीवात्मा में सीमित सामर्थ्य एवं सीमित गुण हैं । परमेश्वर कर्म का फल नहीं भोगता परन्तु जीवात्मा कर्म फल भोगता है, इत्यादि –इत्यादि ।

श्री कृष्ण उवाच –

"न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्
स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ।।"

(गीता श्लोक 5/20)

(प्रियम्) प्रिय को **(प्राप्य)** प्राप्त होकर **(न प्रहृष्येत्)** हर्षित न हो **(च)** और **(अप्रियम)** अप्रिय को **(प्राप्य)** प्राप्त करके **(न उद्विजेत्)** दुखी न हो वह **(स्थिर बुद्धिः)** स्थिर बुद्धि वाला **(असंमूढः)** मोह रहित **(ब्रह्मवित्)** ब्रह्म को जानने वाला पुरुष **(ब्रह्मणि)** ब्रह्म में **(स्थितः)** स्थित है ।

अर्थ :– प्रिय को प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रिय को प्राप्त करके दुखी न हो, वह स्थिर बुद्धि वाला, मोह रहित, ब्रह्म को जानने वाला पुरुष, ब्रह्म में स्थित है ।

भावार्थ – समाधि प्राप्त पुरुष को ही ब्रह्मलीन योगी कहते हैं । पिछले **श्लोक 5/19** में ऐसे योगी को ही समत्व भाव वाला पुरुष कहा है । ऐसे पुरुष के ही यह लक्षण ऊपर कहे हैं कि वह प्रिय वस्तु को प्राप्त होकर किसी प्रकार की प्रसन्नता अनुभव नहीं करता अथवा अप्रिय वस्तु को प्राप्त करके कभी दुःखी नहीं होता । हमारी संस्कृति में ऐसे कई उदाहरण हैं । राजा हरिश्चन्द्र

ने संसार को प्रिय लगने वाला अपना राज्य ऋषि विश्वामित्र को इस तरह दान में दे दिया जैसे मानो राज्य उसके लिए तनिक भी प्रसन्नता का विषय ही न हो । पुनः राज्य त्याग के पश्चात, सांसारिक दुःख प्रारम्भ होता है । राजा हरिश्चन्द्र ने गुरु दक्षिणा देने के लिए, एक चाण्डाल के यहाँ नौकरी की और उसकी पत्नी भी, जो कभी चक्रवर्ती राजा की रानी थी, नौकरी करके ही गुजारा कर रही थी कि उसके बेटे को साँप ने काट लिया और वह मर गया। श्मशान घाट पर वह नारी अपने मृत बेटे को लेकर अपने पति के पास उसका दाह–संस्कार कराने की इच्छा से गई तो पति ने बदले में दाह – संस्कार का खर्चा मांगा जो उसके पास नहीं था । ऐसी विषम अवस्था जिसमें दुःख ही दुःख थे, को देखकर भी राजा हरिश्चन्द्र सत्य से पल भर के लिए भी विचलित नहीं हुए और न ही दुःखी हुए । यह था राजा हरिश्चन्द्र के वेद सुनने यज्ञ – देवपूजा, संगतिकरण एवं दान जैसे महान शुभ कर्मों का पुण्य फल। दूसरा उदाहरण और प्रत्यक्ष है कि राज्य जैसी प्रिय सत्ता को पाने के लिए वर्तमान में जहाँ सम्पूर्ण विश्व में कुकर्म करने की कोई सीमा ही नहीं रही, वहाँ श्रीराम ने बिना संकोच के, बिना किसी दुःख के, पृथिवी का राज्य त्याग दिया और वनों में होने वाले दुःखों को दुःख माना ही नहीं। फलस्वरूप ही वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा इसी महान अवस्था को प्राप्त श्रीराम को, **वाल्मीकि जी ने, वाल्मीकि रामायण, सर्ग प्रथम, बालकाण्ड में –**
"सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः समाधिमान्"

अर्थात् श्रीराम सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता एवं योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त मर्यादा पुरुषोत्तम आदि गुणों से जाने जाते हैं ।

आज भारतवर्ष का यही दुर्भाग्य है कि अधिकतर सन्त वेद विरोधी बातें सुना–सुनाकर हमें वेद विद्या से दूर कर चुके हैं । अतः आज विश्व में बिरला ही कोई परिवार गीता में ऊपर कहे गुणों को धारण करने वाले होंगे अन्यथा वह भी नहीं । विचार यह करना है कि सन्तों के द्वारा कही पूजा–पाठ, भक्ति तो देश में चारों तरफ फैल चुकी है लेकिन प्रिय वस्तु के मिलने पर सभी फूल कर कुप्पा होते हैं, पार्टियाँ करके खुशी जाहिर करते हैं और प्रिय वस्तु बिछुड़ने पर पूरे गमगीन होकर या तो रो–रोकर घर भर लेते हैं अथवा मुँह

पर मक्खियाँ भिनभिनाने लगती हैं। और भी अधिक कई तो सम्पूर्ण विश्व के मालिक, कर्त्ता–धर्त्ता, पालनकर्त्ता, न्यायकर्त्ता सर्वशक्तिमान ईश्वर को ही खरी–खोटी सुनाने लगते हैं । अब उनसे कोई पूछे कि भाई तुम्हारी भक्ति कहाँ गई ? अतः हमें यह समझना होगा कि वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि यह साधक के तप हैं, इनको जीवन में धारण करने वाले तपस्वी के अन्तःकरण में ही परमानन्द की अनुभूति होती है और वही तपस्वी सुख–दुःख, हर्ष–शोक एवं जीवन–मरण के चक्कर से मुक्त होता है, पढ़–सुन, रटकर बोलने वाला नहीं होता, ऐसे तपस्वी के बारे में ही ऊपर के श्लोक में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि उसकी बुद्धि चंचल नहीं होती, बह्म अनुभूति, बह्म ज्ञान आदि ब्रह्म विषय में स्थिर होती है । वह संशयरहित होता है अर्थात् उसके उपास्य देव आज के देवी–देवता आदि नहीं होते अपितु वेदों में कहा, अनादिकाल से पूज्य, सृष्टि रचयिता, निराकार एक ब्रह्म होता है, और उसे इस ब्रह्म और इसके गुणों पर कोई संशय नहीं होता । क्योंकि संशयरहित अवस्था उसने ऊपर कहे राजा हरिश्चन्द्र एवं श्रीराम की तरह वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि सनातन विद्या के अभ्यास द्वारा प्राप्त की होती है । किसी वेद विरोधी सन्त से हंसी–मजाक सुनकर, केवल नाच–गाकर, पढ़–सुन, रटकर सुनी नहीं होती । इस विषय में **यजुर्वेद मन्त्र 40/6** में भी स्पष्ट एवं अति सुन्दर रूप से सत्य को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि जो विद्वान परमात्मा में ही सम्पूर्ण जड़–चेतन विश्व को वेद–विद्या धर्माचरण एवं योगाभ्यास के पश्चात अनुभव करता है और जो विश्व में सर्वव्यापक परमेश्वर को देखता है ऐसे दर्शनकर्त्ता को कभी कोई सन्देह प्राप्त नहीं होता और जो वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि नहीं करते वह सन्देह की ही मूर्ति बने नरक–गामी होते हैं।

इसे इस प्रकार भी कहा है कि जिस पुरुष ने वेदाध्ययन यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा ईश्वर को अपने अन्दर जान लिया है और यह भी जान लिया है कि वही परमेश्वर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के कण–कण में समाया हुआ है तो समाधि में इस प्रकार ईश्वर को जान लेने के पश्चात ही उसे ईश्वर पर कोई संशय नहीं होता, इसी प्रकरण को ऊपर के श्लोक में **"असंमूढः"** अर्थात् पुरुष का संशयरहित होना कहा है । पुनः श्लोक में **ब्रह्मवित्** अर्थात् ऐसे तपस्वी

योगी को ही ब्रह्म का जानने वाला कहा है और यही पुरुष ब्रह्म में सदा स्थित रहता है।

श्रीकृष्ण उवाच –

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम् ।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते ।।"
(गीता श्लोक 5/21)

(बाह्य –स्पर्शेषु) बाहर के स्पर्शों में **(असक्तात्मा)** आसक्ति रहित आत्मा जो है उस **(आत्मनि)** आत्मा में, **(यत्)** जो **(सुखम्)** सुख है **(तत्)** उसको वह सुख **(विन्दति)** प्राप्त होता है **(सः)** वह **(ब्रह्म–योग–युक्तात्मा)** ब्रह्म योग से युक्त जीवात्मा **(अक्षयम्)** कभी भी नाश न होने वाले **(सुखम्)** सुख को **(अश्नुते)** प्राप्त करता है ।

अर्थ :–

बाहर के स्पर्शों में आसक्ति रहित आत्मा, जो है उस आत्मा में जो सुख है, उसको वह सुख प्राप्त होता है, वह ब्रह्म योग से युक्त जीवात्मा कभी भी नाश न होने वाले सुख को प्राप्त करता है।

भावार्थ :– मानव शरीर में प्रकृति के तीन गुणों से रचित पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– चक्षु, नासिका, कान, जिह्वा एवं त्वचा हैं । इन इन्द्रियों द्वारा ही जीवात्मा मन एवं बुद्धि के माध्यम से ज्ञान ग्रहण करता है । **योगशास्त्र सूत्र 1/2** में कहा कि जो साधक विद्वान् योगी से योग शिक्षा ग्रहण करके परम्परागत योगाभ्यास द्वारा इन इन्द्रियों को वश में कर लेता है और इस प्रकार चित्त की वृत्तियों को अन्दर ही रोक लेता है तो वह अपने (जीवात्मा) रूप में स्थित हो जाता है । अर्थात् वह अपने शुद्ध, चेतन, अविनाशी एवं आनन्द स्वरूप को जान जाता है । इसी प्रकार अभ्यास द्वारा जब वह **"निर्बीज समाधि"** में स्थित होता है तो उसकी बुद्धि विशेष स्थिति में आ जाती है जिसे **योग शास्त्र सूत्र**

1/48 में "ऋतम्भरा" कहा है । यह ऋतम्भरा बुद्धि साधारण जन अथवा वह सन्त जो पढ़, लिख, रटकर केवल भाषण करते हैं उनसे अति उत्तम और पूर्णतः भिन्न होती है । क्योंकि इस ऋतम्भरा बुद्धि द्वारा पदार्थ के स्वरूप का यथार्थ और पूर्ण ज्ञान होता है जो कि केवल पढ़–सुन, रटकर बोलने वाली बुद्धि का विषय नहीं है । योगाभ्यास द्वारा समाधि प्राप्त योगी ही ब्रह्म की अनुभूति करता है और जीवात्मा ब्रह्मलीन होकर अर्थात् ब्रह्म के साथ जुड़कर सब आनन्दों को ब्रह्म के साथ ही भोगता है। **(मुण्डकोपनिषद् 3/2)**। अतः बाहर के स्पर्श आदि विषयों से आसक्ति रहित होने के लिए वेदानुसार यज्ञ, योगसाधना आदि शुभ कर्म–कठोर तप आवश्यक है । फलस्वरूप ही जीवात्मा आत्मिक आनन्द अनुभव करती है ।

अथर्ववेद मन्त्र 5/11/4 में जहाँ कहा कि यह संसार की माया केवल ईश्वर से ही भयभीत होती है । अतः जब साधक वेदानुकूल योगाभ्यास आदि द्वारा ईश्वर की पूजा करता है तभी वह माया को जीतकर चित्त की वृत्तियों को रोकने में समर्थ होता है और ब्रह्म में लीन होता है । इस अवस्था को इस श्लोक में "**ब्रह्म –योग–युक्तात्मा**" कहा है और ऐसी ही ब्रह्म में लीन आत्मा (साधक) ब्रह्म के साथ अविनाशी सुख को भोगती है । यह श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ ब्रह्मलीन योगी के लक्षण कहे हैं । अब प्रश्न यह है कि ईश्वर कहाँ रहता है ? इस विषय में **यजुर्वेद मन्त्र 40/5** में कहा "**तदन्तरस्य**" अर्थात् हे जीव ! ईश्वर तेरे अन्दर है । **अथर्ववेद मन्त्र 5/11/6** ने इस विषय में कहा "**चित् अर्वाक्**" अर्थात् तेरे अन्दर है । इस मन्त्र का भाव है कि प्रकृति एक सूक्ष्म तत्त्व है परन्तु इस प्रकृति तत्त्व से भी परे अति सूक्ष्म और इन चक्षु से न दिखने वाला चेतन स्वरूप परमात्मा है जो जीवात्मा के अन्दर निवास करता है । अतः इस मन्त्र में कहा कि ऐसे प्रकृति से अति सूक्ष्म उस परमेश्वर को जानने के लिए हम अपने अन्दर उसे खोजें । क्योंकि वह परमेश्वर आज तक किसी को भी इन आंखों से, बाहर दिखाई नहीं दिया है क्योंकि ऐसा नियम भी है। इस भाव को श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ प्रस्तुत श्लोक में "**आत्मनि यत् सुखम्**" अर्थात् आत्मा में स्थित जो परम सुख है । "**तत् विन्दति**" समाधि प्राप्त योगी उस सुख को प्राप्त होता है और ऐसे सुख को

श्रीकृष्ण महाराज ने वेदों के अनुसार ''अक्षयम् सुखम्'' अर्थात् अविनाशी सुख कहा है । जो कभी नाश नहीं होता । चारों वेदों ने प्रकृति, जीव एवं परमेश्वर को गुण अनुसार, एक–दूसरे से पृथक् –पृथक् कहा है । यह भाव इस श्लोक में योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी **''ब्रह्म–योग–युक्तात्मा''** कहकर समझाया है अर्थात् समाधि प्राप्त योगी की जीवात्मा ब्रह्म योग वाली कही है अर्थात् जीवात्मा ब्रह्म के साथ रहकर सब आनन्दों को भोगती है । जैसा कि ऊपर **मुण्डकोपनिषद्** में कहा है । पुनः विचार करें कि जीवात्मा सब आनन्दों को ब्रह्म के साथ भोगती है, ब्रह्म नहीं हो जाती है । अर्थात् जीव ब्रह्म नहीं हो जाता । यदि जीवात्मा ब्रह्म हो जाए तब सुख को कौन भोगेगा और श्रीकृष्ण महाराज का यह कथन **''अक्षयम् सुखम् विन्दति''** अर्थात् कभी नाश न होने वाला सुख भोगती है, यह कथन असत्य हो जायेगा । अतः जीवात्मा अपने स्वरूप में रहकर ही सुख भोग सकती है और यदि जीवात्मा ब्रह्म हो जाएगी तब सुख कैसे भोग सकती है ?

अतः चारों वेदों का यह कथन ही अनादि सत्य कह रहा है कि परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति, यह तीनों तत्त्व परस्पर भिन्न–भिन्न हैं और भिन्न–भिन्न ही रहेंगे और जब जीवात्मा वेदानुसार शुभ कर्म करते हुए यज्ञ, योगाभ्यास आदि द्वारा बाहर के स्पर्श आदि विकारों से आसक्ति रहित हो जाती है तब फलस्वरूप ही वह कभी नाश न होने वाले सुख को प्राप्त करती है । अतः श्रीकृष्ण महाराज के आदेश अनुसार भी हम वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि साधना द्वारा इन्द्रियों को संयम करके **(योगश्चित्तवृत्ति निरोधः – योगशास्त्र सूत्र 1/2)** अपने स्वरूप को जानते हुए परमेश्वर को प्राप्त करें तथा अविनाशी सुख को भोगें । हमें पुनः वेदों की ओर लौटना चाहिए जो कि श्रीकृष्ण महाराज एवं ईश्वर की आज्ञा है।

श्रीकृष्ण उवाच —

''ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।''

(गीता श्लोक 5/22)

(हि) निःसन्देह ही ये जो **(संस्पर्शजाः)** इन्द्रिय और इनके विषयों के स्पर्श अर्थात् संयोग से उत्पन्न हैं यह **(भोगाः)** सब भोग हैं **(ते)** वे सब भेग **(दुःखयोनय एवं)** दुःख की योनि अर्थात् दुःख का ही कारण हैं **(आद्यन्तवन्तः)** आदि अन्त वाले हैं अतः **(कौन्तेय)** – हे अर्जुन **(बुधः)** बुद्धिमान पुरुष **(तेषु)** उन भोगों में **(न)** नहीं **(रमते)** रमता और भोग प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता।

अर्थः – निःसन्देह ही जो इन्द्रिय और इनके विषयों के स्पर्श अर्थात् संयोग से उत्पन्न हैं यह सब भोग हैं वे सब भोग दुःख की योनि अर्थात् दुःख का ही कारण हैं, आदि–अन्त वाले हैं । अतः हे अर्जुन बुद्धिमान पुरुष उन भोगों में नहीं रमता और भोग प्राप्त होने पर हर्षित नहीं होता ।

भावार्थ :– भर्तृहरि महाराज ने वैराग्य शतक में स्वयं के अनुभव की बात कही है –

"भोगा न भुक्ता वयमेव भुक्ता स्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः ।।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णावयमेव जीर्णाः ।।"

विषयों को हमने नहीं भोगा, किन्तु विषयों ने हमारा भुगतान कर दिया अर्थात् विषयों ने हमें भोग लिया है । हमने तप को नहीं तपा, किन्तु तप ने हमें तपा डाला । काल जीर्ण न हुआ, किन्तु हमारा शरीर ही जीर्ण हो चला। तृष्णा का बुढ़ापा न आया, पर हमारा बुढ़ापा आ गया।

अर्थात् सांसारिक भोगों को मनुष्य नहीं भोगता अपितु यह भोग ही मनुष्य को भोग लेते हैं । **योग शास्त्र सूत्र 3/13** में अवस्था परिणाम की बात कही है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण–प्रतिक्षण परिणाम को प्राप्त होकर एक दिन नष्ट हो जाता है। नष्ट हुए पदार्थ को इसी सूत्र में पदार्थ का अतीत धर्म कहा है। सारांश यह है कि प्रकृति से रचे संसार के प्रत्येक पदार्थ स्वयं हमारे शरीर भी एक दिन नष्ट हो जाएँगे। संसार की रचना एवं संसार में भोग पदार्थों की रचना प्रत्येक सृष्टि के आरम्भ में, ईश्वर शक्ति द्वारा, प्रकृति के तीनों गुणों से होती है और जैसा कि ऊपर योग शास्त्र सूत्र में कहा कि जो पदार्थ बनता

है वह एक दिन नष्ट अवश्य होता है । अतः संसार भी एक दिन नष्ट होता है।

संसार के पदार्थों एवं प्राणियों के शरीर की रचना सृष्टि के आरम्भ में होती है और प्रलय अवस्था में सृष्टि के साथ ही नष्ट हो जाती है । इसी सत्य को श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ ''**आद्यन्तवन्तः**'' कहा है अर्थात् यह भोग आदि और अन्त वाले हैं, सदा रहने वाले नहीं है । अतः बुद्धिमान पुरुष इन भोग पदार्थों में नहीं फँसते हैं ।

दूसरी बात यह है कि जिस पुरुष का जीवात्मा वेदाध्ययन, योगाभ्यास एवं यज्ञादि शुभ कर्म कर्मेन्द्रिय एवं मन को वश में नहीं कर पाएँ, उसका चित्त सदा चंचल होता है और पाप युक्त होता है । आँख, कान, नाक, जिह्वा एवं त्वचा यह पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं और इनके देखना, सुनना, सूंघना, चखना एवं स्पर्श करना, यह पाँच विषय हैं । किसी भी ज्ञानेन्द्रिय का जब किसी भी विषय से सम्पर्क होता है तो भोग भोगने की इच्छा उत्पन्न होती है । प्रायः यह देखने में आता है कि बड़ी–बड़ी दुकानों पर मिठाइयों के थाल सजे हुए होते हैं, बाजार में कहीं–कहीं माँस सजाकर लटकाए हुए होते हैं, कहीं–कहीं शराब की दुकानों में शराब की बोतलें सजाकर रखी होती हैं, कहीं फल सजाकर रखे हैं, कहीं दुकानों में सोना सजाकर रखा है, इसी प्रकार कपड़े की दुकानें सजी होती हैं इत्यादि–इत्यादि, यह सब भोग पदार्थ हैं । बाजार से जाने वाला प्राणी उनको देखता है, आँख की इन्द्रिय जिसका विषय देखना है, उन भोग पदार्थों को देखती है और उनको भोगने की इच्छा प्रकट होती है और इच्छा करने वाला प्राणी, अपनी–अपनी अच्छी अथवा बुरी इच्छानुसार पदार्थ को खरीदने की व्यवस्था करता है । यह भोग हृदय में आँख की इन्द्रिय और भोग पदार्थ के सम्बन्ध बनने के कारण हुआ । इसी प्रकार कान से सुनकर, त्वचा से स्पर्श करके, नाक से सूंघकर के, जिह्वा से चख करके, मन में भोग की इच्छा उत्पन्न होती है । इसको श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ ''**सम–स्पर्श–जाः**'' अर्थात् इन्द्रियों और इन्द्रियों के जो विषय हैं उनके संयोग से उत्पन्न होने वाले ''**भोगाः**'' भोग पदार्थ कहा है । अर्थात् यह सब भोग,

इन्द्रियों और इन्द्रियों के विषयों के सम्बन्ध के कारण होते हैं । योग **शास्त्र सूत्र 1/15** में बड़ा सुन्दर कहा है –

''दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्''

अर्थात् योगाभ्यास एवं वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों द्वारा जो इन्द्रियों को वश में कर लेता है उसकी स्थिति यह होती है कि वह देखे और सुने विषयों से सर्वदा तृष्णा रहित चित्त की वशीकार अवस्था रूप वैराग्य को प्राप्त होता है।

योग शास्त्र सूत्र 2/15 में कहा कि राग में फँसकर प्राणी जड़ अथवा चेतन साधनों से सुख प्राप्त करता है । राग का अर्थ है बार–बार विषय भोगने की इच्छा। फलस्वरूप प्राणी जन्म –जन्मांतरों तक दुःख भोगता रहता है।

अतः सूत्र में कहा कि विवेक प्राप्त योगी के लिए यह सब भोग दुःख ही हैं। इसी सत्य को श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में **''भोगा दुःखयोनय''**। अर्थात् यह सब भोग दुःख को ही जन्म देने वाले हैं । अतः इनके त्याग के बिना मानव सुखी नहीं होता, हां यह अवश्य है कि **यजुर्वेद मन्त्र 40/2** में कहा **''तेन त्यक्तेन''** अर्थात् वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों द्वारा विद्वान् बनो फिर वह ज्ञानवान बुद्धि त्यागपूर्वक इन भोगों का भोग धर्म स्थापना के लिए करती है अर्थात् भोग त्यागे नहीं जाते अपितु धर्मयुक्त भोग त्यागपूर्वक भोगे जाते हैं । अन्यथा पूर्णतः भोग दुःख एवं केवल दुःख ही उत्पन्न करते हैं।

व्यास मुनि ने उचित ही कहा है कि अनादिकाल से दुःखों का प्रवाह चला हुआ है और केवल योगी को ही व्याकुल करता है, अर्थात् योगी ही भोग पदार्थ प्रस्तुत होने पर व्याकुल होकर उसे त्यागता है। वेद एवं योग विद्या विहीन अन्य किसी भी प्राणी अथवा सन्त को भोग व्याकुल नहीं करता। यह सब तो वेद एवं योग विद्या के अभाव में योग शास्त्र सूत्र के अनुसार

अविद्याग्रस्त होने के कारण जड़ को चेतन, अनात्मा को आत्मा अपवित्र को पवित्र और दुःख को ही सुख मानते हैं। व्यास मुनि कहते हैं कि विद्वान् पुरुष का हृदय आँख की पुतली के समान कोमल होता है । अतः जिस प्रकार मकड़ी का जाला आँख में पड़ने से दुःख देता है परन्तु शरीर के किसी दूसरे अंग में लगने से दुःख नहीं देता अतः भोगों से उत्पन्न जो दुःख हैं वह दुःख कोमल हृदय योगी को ही व्याकुल करते हैं, अन्य को नहीं । फलस्वरूप ही कृष्ण महाराज ने गीता में कहा – "**तस्मात् योगी भव अर्जुन**" अर्थात् हे अर्जुन ! तू योगी हो जा । प्रत्येक प्राणी को साधना अवश्य करनी चाहिए क्योंकि मनुष्य शरीर इसलिए दिया गया है । अतः अन्त में श्रीकृष्ण महाराज ने "**बुधः**" पद बुद्धिमान, विवेकशील पुरुष के लिए प्रयोग किया है । वेदों में बुद्धिमान, विवेकी पुरुष वह है जो श्रीकृष्ण, श्रीराम, राजा हरिश्चन्द्र, व्यास मुनि आदि अनन्त विभूतियों के समान वेदाध्ययन, योगाभ्यास और यज्ञ आदि शुभ कर्म करके विद्वान् बनता है और दुःखों का नाश करता है। श्रीकृष्ण महाराज वेदों का प्रचार करने वाले व्यास मुनि के समान यहाँ यही कह रहें हैं कि बुद्धिमान विवेकी पुरुष इन भोगों को दुःख मानकर, इनमें नहीं फँसता।

श्री कृष्ण उवाचः–

"□ाक्नोसोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः ।।

(गीता भलोक 5/23)

(यः) जो पुरुष **(□ारीरविमोक्षणात्)** शरीर के त्याग से **(प्राक्)** पहिले **(कामक्रोधोद्भवम्)** काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले **(वेगम्)** वेग को **(सोढुम्)** सहन करने में **(□ाक्नोति)** समर्थ है **(सः)** वह **(नरः)** पुरुष **(एव)** ही **(इह)** इस लोक में **(युक्तः)** योगी है **(सः)** वही **(सुखी)** सुखी है।

अर्थः–

जो पुरुष शरीर के त्याग से पहिले काम और क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन करने में समर्थ है वह पुरुष ही इस लोक में योगी है, वही सुखी है।

भावार्थ:–

इससे पिछले श्लोक में भी यही उपदेश है कि वैदिक ज्ञान सम्पन्न योगी पुरुष के लिए ही यह काम, क्रोध आदि विकार दु:खदायी है और वह विषयों में नहीं फँसता। प्रस्तुत श्लोक में वही उपदेश है कि जो ज्ञान सम्पन्न पुरुष संसार में रहते हुए ही काम क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को सहन कर लेता है उसे ही योगी कहते है। गीता के इन उपदेशों को अथवा वेद के इस संदर्भ के मन्त्रों को पढ़कर कभी भी किसी का काम, क्रोध, लोभ, मोह, अंहकार आदि विषय शान्त नहीं होता अपितु इन विषयों के वेग को रोकने का उपाय/मार्ग जानकर उस पर चलना आवश्यक है। कोई भी गुण, आचरण में लाई हुई साधना का फल होता है । गीता के पिछले **भलोक 5/16 से 22** तक तथा इससे आगे **5/29** तक भी योगी के केवल गुणों का ही व्याख्यान है, उपाय का नहीं । गुणों को तो वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास से हीन कोई भी प्राणी पढ़–सुन रट कर महात्मा बनकर प्रवचन तो कर सकता है परन्तु काम क्रोध आदि के वेग को कदापि नहीं रोक सकता और न ही योगी कहला सकता और इस प्रकार समाज में मिथ्यावाद द्वारा विष फैलाता रहता है। कपिल मुनि रचित **सांख्य भास्त्र सूत्र 3/78** में कहा है **''जीवन्मुक्त च''** अर्थात् ईश्वर के ध्यान में मग्न जीवित योगी जो समाधि अवस्था प्राप्त कर चुका है केवल उसको ही ब्रह्म की अनुभूति होती है और वही समाज को अपने अनुभव का सच्चा, वैदिक एवं योग–विद्या का ज्ञान दे सकता है । अन्यथा अन्धों की परम्परा फैल जाएगी। अर्थात् वेद, शास्त्र एवं योग–विद्या के विरुद्ध, झूठे प्रचार में सुनाने वाला भी ज्ञान से अन्धा और सुनने वाला भी और सुनाने वाला इस प्रकार अपनी मिथ्या कलाकारी दिखाएगा कि सुनने वाला यही समझेगा कि यह सुनाने वाला पूर्ण ब्रह्मलीन संत महात्मा है। इसी सत्य को श्री कृष्ण महाराज यहाँ दर्शा रहे हैं कि हे अर्जुन ! जिस प्राणी ने जीवित ही काम–क्रोध के वेग को सहन कर लिया है और उसकी इन्द्रिय किसी भी विकार में नहीं फँसती वह ही योगी है और वह ही सुखी है । अतः मिथ्यावादी सन्तों का यह दुश्प्रचार है कि मरकर ईश्वर प्राप्त होता है। इस श्लोक में भी योगी के गुण कहे हैं। योग–अवस्था प्राप्त करने के साधन नहीं कहे हैं। गुण साधना का फल है। साधना ही नहीं तब केवल गुणों का व्याख्यान पाप फैलाता है। योगी

बनने के लिए ही वेदों का ज्ञान, यज्ञ, योगाभ्यास एवं वेदों के अनुकूल शुभ कर्म करना परम आवश्यक है जो वर्त्तमान–काल में क्षीण हो रहा है और फलस्वरूप मिथ्या भाषण करके धन कमाने वाले सन्तों की चहुँ ओर भरमार है। अनादि काल से चला आ रहा वैदिक ज्ञान और उसमें वर्णित योग–विद्या के अभ्यास द्वारा प्रत्येक गृहस्थी योगी बने और देश को सुदृढ़ बनाए। यहाँ योग का अर्थ जुड़ना है। अर्थात् वेदाध्ययन यज्ञ, अष्टाँग–योग के अभ्यास तथा विद्वानों से जुड़कर गृहस्थाश्रम में ही साधना करते हुए **योग–शास्त्र सूत्र 1/2** के अनुसार समाधि अवस्था प्राप्त करके चित्त वृत्तियों को निरुद्ध करना। इस अभ्यास से ही जीवित अवस्था में योगी प्रस्तुत श्लोक में कहे काम–क्रोध से उत्पन्न होने वाले वेग को समाप्त कर लेता है। ऐसे पुरुष को ही योगी कहा है। और ऐसा योगी ही इस श्लोक में सुखी कहा है। श्लोक से भाव प्रकट होता है कि प्रकृति के तीनों गुणों से उत्पन्न मन, बुद्धि, चित्त एवं अंहकार है। इन गुणों से ही जीव लगाव करके काम, क्रोध, मद, लोभ आदि विकारों में फँस जाता है और इस प्रकार सदा दुःखी रहता है । श्लोक में इन विकारों के वेग को सहने वाला अर्थात् वेग को समाप्त करने वाला योगी ही सुखी रहता है, अन्य नहीं। अतः जनता ऐसे स्वयंभू योगियों से सावधान रहे जो साधना नहीं करते अपितु पढ़–सुन–रट कर केवल चिकनी–चुपड़ी बातें सुनाते हैं और उनके अन्दर से समय–समय पर बलपूर्वक अन्तःकरण में दबाया गया काम–क्रोध आदि का वेग अवश्य प्रकट होता रहता है। ऐसे गुरुओं के शिष्य एवं जनता भोली होती है क्योंकि ऐसे गुरु लोग पहले ही जनता को समझा देते हैं कि संत, महात्माओं अथवा योगियों को सबकुछ माफ है और संत–महापुरुष अपनी मौज में रहते हैं इत्यादि। तो ऐसे गुरु लोगों से जनता सर्वदा सावधान रहे तभी हम पवित्र गीता–ग्रंथ के श्लोकों का आदर करने में समर्थ होंगे। अतः श्लोक का यही भाव है कि ऊपर कही वेदाध्ययन आदि साधना से साधक जीवित ही अर्थात् शरीर के रहते–रहते ही काम और क्रोध से उत्पन्न वेग को समाप्त करे और श्रेष्ठतम् योगी का पद प्राप्त करे और सदा सुखी रहे। क्योंकि काम क्रोधादि विकार यदि शरीर रहते–रहते साधना द्वारा समाप्त नहीं हुए तब तो न कोई योगी कहलाएगा और न ही कभी वह सुखी रहेगा अपितु दुखी ही रहेगा। ऐसे श्रीकृष्ण, श्रीराम,

दशरथ, जनक, राजा हरिश्चन्द्र तथा व्यास मुनि जैसे असंख्य ऋषि–मुनियों तथा सीता–माता, जनक आचार्या गार्गी, कुन्ती, मदालसा आदि अनेक विदुषी नारियों ने योगी एवं योगिनी पद प्राप्त करके मानव जाति के प्रति सद्भावना, सेवा, समानता, प्रेम, भाईचारा एवं न्याय–प्रणाली को सुदृढ़ किया था तथा देश को सुदृढ़ बनाए रखा था। **अथर्ववेद मंत्र 19/41/1** में इस प्रकार ऋषियों द्वारा राष्ट्र–भक्ति करने को ही वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योग–साधना का प्रयोजन कहा है। कहीं आज प्रायः स्वयंभू योगी वेद–विरुद्ध भाषण करके जनता से धन तो नहीं बटोर रहे हैं और देश को खोखला कर रहे हैं। इन सब पर हमें नज़र रखनी चाहिए।

श्री कृष्ण उवाच–

"योऽन्तः सुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति ।।"

(गीता 5/24)

(यः) जो पुरुष **(अन्तःसुखः)** अपने अन्दर आत्मा में **(एव)** ही सुख अनुभव करता है **(अन्तरारामः)** आत्मा में ही स्थित है अर्थात् योगाभ्यास के फलस्वरूप अपने चेतन स्वरूप में स्थित है **(तथा)** और **(यः)** जो **(अन्तर्ज्योतिः)** अपने अन्दर {अर्थात् आत्मा में} ही ज्योतिस्वरूप ईश्वर की ज्योति देखता है **(सः)** वह **(ब्रह्मभूतः)** ब्रह्ममय हुआ **(योगी)** योगी **(ब्रह्मनिर्वाणम्)** ब्रह्म को–मोक्ष पद को **(अधिगच्छति)** प्राप्त कर लेता है।

अर्थ :–

जो पुरुष अपने अन्दर (आत्मा में) ही सुख अनुभव करता है, आत्मा में ही स्थित है अर्थात् योगाभ्यास के फलस्वरूप अपने चेतन स्वरूप में स्थित है और जो अपने अन्दर {अर्थात् आत्मा में} ही ज्योतिस्वरूप ईश्वर की ज्योति देखता है वह बह्ममय हुआ योगी ब्रह्म को–मोक्ष पद को प्राप्त कर लेता है।

भावार्थ :–

शतपथ ब्राह्मण ग्रन्थ में कहा है **"यस्य आत्मा भारीरम्"** अर्थात् मानो

जीवात्मा ईश्वर का शरीर है अर्थात् ईश्वर जीवात्मा में निवास करता है। अन्य वेदमंत्रों की तरह **सामवेद मंत्र 344 एवं यजुर्वेद मंत्र 40/5** भी यही कह रहा है कि ईश्वर मानव शरीर के अन्दर प्रकट होता है। भाव यह है कि ईश्वर शरीर के अन्दर बाहर पूरे ब्रह्माण्ड में तथा बह्माण्ड के परे भी है। वह असीम है। परन्तु उस परमेश्वर की साधना शरीर के अन्दर चित्त वृत्तियों को रोककर और अन्दर ध्यान लगाकर ही होती है। फलस्वरूप ईश्वर शरीर के अन्दर हृदय में प्रकट होता है, बाहर नहीं। समाधि प्राप्त योगी जब अपने अन्दर (जीवात्मा में) ईश्वर का दर्शन करता है तो उसे अपनी आत्मा में ही अविनाशी सुख अनुभव होता है और वह योगी आत्मिक स्वरूप में स्थित हो जाता है। अपने चेतन, अविनाशी वा आनन्दस्वरूप को जान जाता है। इसी स्थिति को ही इस श्लोक में **अन्तःसुख** एवं **अन्तरारामः** (अन्दर आ राम या आत्मा में रमण) कहा है अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ योगाभ्यास द्वारा निरुद्ध हो जाती हैं और जीवात्मा अपने शुद्ध बुद्ध चेतन स्वरूप में स्थित हो जाता है। ऐसी स्थिति को प्राप्त करके जीवात्मा स्थायी आत्मिक सुख प्राप्त करता है।

अन्तर्ज्योति का अर्थ है कि मनुष्य के शरीर में ही ज्योतिस्वरूप परमात्मा प्रकट होता है जिसे योगी अपने अन्दर देखता है। वेद कहता है **"ज्योतिषाम् अपि ज्योतिः"** अर्थात् ईश्वर ज्योतियों की भी ज्योति है। **"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुश च"** अर्थात् ईश्वर सूर्य को भी ज्योति देने वाला है। यह सब चमकने वाले ग्रह सूर्य, चाँद, तारे इत्यादि को ईश्वर ही ज्योति प्रदान करता है परन्तु ईश्वर किसी से ज्योति नहीं लेता। ईश्वर स्वयं प्रकाशक है। ब्रह्मभूत का अर्थ है ब्रह्ममय होना और ब्रह्मनिर्वाणम्, का अर्थ है ब्रह्म को अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करना। प्रस्तुत श्लोक में ब्रह्मलीन योगी के विषय में कहते हुए श्रीकृष्ण महाराज योगी के गुणों का वर्णन करते हुए कह रहे हैं कि हे अर्जुन जो बाहर के विषय से नहीं अपितु अन्तर आत्मा में सुख/ब्रह्मानन्द अनुभव करता है, आत्मा में ही स्थिर है और अपने अन्दर ही ईश्वर के ज्योतिस्वरूप को देखता है वह ही ब्रह्मलीन योगी ईश्वर को प्राप्त है। यहाँ भी यही विचार करना है कि श्री कृष्ण महाराज योगी के गुणों का वर्णन कर रहे हैं। किसी वेद–विरोधी संत आदि का वर्णन नहीं कर रहे हैं। योगी का अर्थ है वेदाध

ययन, नाम जाप तथा अष्टाँग–योग विद्या का कठोर अभ्यास करके जिसने असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त कर ली है। उसे ही यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने **'अन्तःसुखः'** अपने अन्दर ही आत्मिक सुख का अनुभव करने वाला कहा है। हमें गहन विचार करना होगा कि केवल पढ़–सुन–रट कर योग–विद्या से हीन पुरुष अपने अन्दर सुख कैसे अनुभव करेंगे। स्पष्ट है कि उन्हें यह सुख प्राप्त नहीं होगा। पुनः समाधिस्थ पुरुष जो योगी है वह ही अपने अन्दर अर्थात् आत्मा में ज्योति स्वरूप ईश्वर की ज्योति देखता है। जिस पुरुष ने कभी वेदों में कहे अष्टाँग योग को नहीं जाना और योग–साधना नहीं की तो वह न तो अपने अन्दर आत्मिक आनन्द अनुभव करेगा और न ही वह ज्योति स्वरूप ईश्वर का दर्शन करेगा और न ही ऐसा व्यक्ति मोक्ष–पद को प्राप्त करेगा। केवल योगी ही ब्रह्मलीन होकर मोक्ष–पद को प्राप्त करता है। अतः हम वेदों के ज्ञाता विद्वानों से इस पवित्र गीता ग्रंथ को सुने तत्पश्चात् श्रीकृष्ण महाराज की भांति वेद–विद्या को सुनते, यज्ञ एवं ईश्वर–नाम का जाप करते हुए तथा अष्टाँग–योग विद्या का ज्ञान विद्वान् आचार्य से प्राप्त करके योगाभ्यास द्वारा मोक्ष–पद प्राप्त करें। मिथ्यावाद से बचें क्योंकि प्रायः ऐसा भी कहा जाता है कि वेदाध्ययन, यज्ञ और योगाभ्यास की आवश्यकता ही नहीं है और न ही योगी बनने की आवश्यकता हे। ऐसा कहना वेद–विरुद्ध एवं गीता–ग्रंथ के विरुद्ध होगा। सम्पूर्ण वेदों के अध्ययन से हमें ज्ञात होता है कि केवल भक्ति अथवा केवल भौतिक उन्नति समाज के लिए घातक है। मनुष्य जाति का प्रथम कर्त्तव्य समाज का कल्याण–परोपकार करना है । श्रीराम एवं श्रीकृष्ण विभूतियों ने अपने जीवन में समाज के कल्याण–परोपकार के लिए ही कठोर परिश्रम किया था जिसका आदेश चारों वेदों में है, अन्यथा अकेली ईश्वर भक्ति स्वयं का भी तो कल्याण नहीं कर सकती। अतः योगी वही है जिसने वेदों के ज्ञान को सुन–सुनकर ज्ञान, कर्म एवं उपासना तीनों-को ही जीवन में धारण किया है। अतः ऐसा कहना कि मनुष्य का जीवन केवल ईश्वर भक्ति के लिए है घर, परिवार, धन, पढ़ना–लिखना सब व्यर्थ है तो ऐसा कहना वेद–विरुद्ध है, अतः मिथ्यावाद है। हम परिवार के बच्चों को पढ़ाएँ–लिखाएँ, विज्ञान में उन्नति हो, सभी पुरुषार्थी हों, इसके साथ–साथ ही ईश्वर भक्ति में भी उत्तम प्रकार से उन्नति हो। समाज का इस प्रकार

कल्याण हो और देश सुदृढ़ बने।

श्री कृष्ण उवाच–

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृशयः क्षीणकल्मषाः ।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः ।।

(गीता 5/25)

(क्षीणकल्मषाः) जिनके पाप क्षीण हो गये हैं । **(छिन्नद्वैधाः)** द्वैध भाव जिनका नष्ट हो गया है, **(सर्वभूतहिते)** जो सब प्राणियों के हित में **(रताः)** लगे रहते हैं **(यतात्मानः)** जिसने स्वयं को संयत किया है ऐसे **(ऋशयः)** ऋषि **(ब्रह्मनिर्वाणम्)** ब्रह्मनिवाण पद को अर्थात् मुक्ति को **(लभन्ते)** प्राप्त करते हैं।

अर्थः– जिनके पाप क्षीण हो गए हैं, द्वैध भाव जिनका नष्ट हो गया है, जो सब प्राणियों के हित में लगे रहते हैं जिसने स्वयं को संयत किया है, ऐसे ऋषि ब्रह्मनिर्वाण पद को अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करते हैं।

भावार्थः–

प्रस्तुत श्लोक में भी ब्रह्मलीन वेदमन्त्र दृष्टा ऋषि/योगी के ही गुणों का वर्णन है। पहला गुण "क्षीणकल्मषाः" अर्थात् जिसके सब पाप नष्ट हो गए हैं, ऐसा गुणवान जो है। प्रश्न यही उठता है कि क्या जो केवल पढ़ सुन–रटकर प्रवचन करते हैं और वेदाध्ययन, यज्ञ तथा अष्टाँग योग साधना नहीं करते तो उनके पाप नष्ट हो जाते हैं अथवा उनके ऐसे कहे हुए प्रवचन को सुनकर श्रोता के पाप नष्ट हो जाते हैं? अर्थात् वेदों में ऐसा विधान नहीं है। विपरीत में **सामवेद मन्त्र 732** में तो यहाँ तक कहा है कि जो केवल पेट भरने को ही लक्ष्य मानते हैं, दूसरों की हँसी–मजाक उड़ाते हैं, मूढ़ हैं तथा जो वेदों से द्वेष रखने वाले हैं, उनसे सदा दूर रहें। **सामवेद मन्त्र 347** में कहा कि योग विद्या के अभ्यास द्वारा ईश्वर में ध्यान लगाकर ही पापों का नाश होता है और शांति प्राप्त होती है। **सामवेद मन्त्र 373** में कहा कि ईश्वर के बिना कोई अन्य वेद का ज्ञान प्रकट नहीं कर सकता और **मन्त्र 179 और 495 में यज्ञ** द्वारा भी पापों का नाश कहा है। **अथर्ववेद मन्त्र 4/13/1,2,3** में

योगी से प्राण और अपान वायु का ज्ञान प्राप्त करके प्राणायाम् द्वारा पापों का नाश होना कहा है। श्रीकृष्ण महाराज योगेश्वर थे, उन्होंने भी भगवद्गीता में प्राणायाम, योग विद्या का ज्ञान दिया है। प्रस्तुत श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज ऋषि पद कहकर वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाले ऋषियों के पापों के नाश की बात कह रहे हैं और **''छिन्न द्वैध, यत–आत्मानः, सर्व–भूत–हिते रताः''** आदि महान गुण ऋषियों के प्रति कहे हैं, अन्य के लिए नहीं। शास्त्र कहता है कि – **''मंत्रदृश्टा इति ऋशिः''** अर्थात् जिस साधक ने वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग साधना द्वारा अपने अन्दर ईश्वरीय वाणी वेदमंत्रों का दर्शन किया है वह ऋषि है। अन्य कोई ऋषि नहीं होता।

''द्वैध'' का अर्थ है दो भागों में विभक्त होना, **''छिन्न''** का अर्थ है कि नष्ट होना। अतः **''छिन्नद्वैधः''** का अर्थ हुआ दो भागों के बँटवारे का नष्ट होना। दो भागों का यहाँ अर्थ है–तेरा–मेरा। अविद्याग्रस्त प्राणी केवल अपना ही भला चाहता है और जैसा अपना भला चाहता है वैसा दूसरों का नहीं चाहता। **यजुर्वेद मन्त्र 40/6 एवं 7** का भाव है **''यः आत्मन् सर्वाणि भूतानि अनुप□यति''** यहाँ 'अनु' शब्द का अर्थ ''बाद में'' है। मन्त्र का भाव है कि जो विद्वान् वेदाध्ययन और योगाभ्यास करके उसके अनुसार धर्म पर चलता है और ऐसा अभ्यास करने के बाद वह परमात्मा में ही सब जड़ एवं चेतन तत्त्वों को देखता है और सब पदार्थों में सर्वव्यापक परमात्मा को देखता है तो ऐसा विद्वान् ही सब प्रकार के संशय से रहित होता है और ऐसे विद्वान् को ही यह अनुभूति होती है कि **''सर्वाणि भूतानि आत्मा एवं अभूत्''** अर्थात् सब प्राणी अपनी आत्मा के समान ही होते हैं। क्योंकि ऐसे विद्वान् ने योगाभ्यास के द्वारा **''एकत्वम् अनुप□यतः''** एक परमात्मा के स्वरूप को जान लिया होता है। भाव यह है कि जो वेदों का विद्वान् ही नहीं है और जिसने अष्टाँग योग की साधना द्वारा ईश्वर को नहीं जाना है, वह अपनी आत्मा के समान दूसरे को कैसे जानेगा और उसके संशय (छिन्नद्वैधाः) कैसे समाप्त होंगे? आज देश को वेद के इसी तात्पर्य को जानने की आवश्यकता है। **''सर्वभूतहिते रताः''** अर्थात् सबके हित में लगे रहना। यह भी तभी सम्भव है जब निःस्वार्थ सेवा का भाव हृदय में जागृत हो जाए। यह गुण भी सदा से वेदों के विद्वान्, योगाभ्यासी,

ऋषि–मुनियों का ही रहा है अथवा राजा हरिश्चन्द्र, दशरथ आदि ऐसे राज–ऋषि जो स्वयं वेदों के ज्ञाता थे और ऋषियों की आज्ञा से राज्य का कार्य करते थे। आज संसार में ऐसे राज–ऋषि दुर्लभ हैं। **"यतात्मानः"** का अर्थ यह भी है कि जिसने अपनी इन्द्रियों को संयत कर लिया है और ऐसा पुरुष कभी पाप कर्म नहीं करता। यह गुण भी वेदाध्ययन और योगाभ्यास के बिना नहीं आता। अतः इस श्लोक में भी विद्वानों के गुणों का ही वर्णन है और ऐसे अलौकिक गुण वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना करते–करते समाधि प्राप्त योगी के अन्दर स्वयं प्रकट होते हैं। समाधि में ही योगी अपने अन्दर वेद मंत्रों का दर्शन करके ऋषि कहलाता है।

अतः जैसा कि वाल्मीकि रामायण के बालकाण्ड सर्ग चार में गृहस्थाश्रम में रहते, वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाले नर–नारियों को महर्षि समान कहा है, उसी परंपरा के अनुसार आज भी हम गृहस्थाश्रम में वेदाध्ययन आदि गुणों को धारण करके विद्वान् एवं विदुषी बनते हुए ऋषि पद को धारण करें जिससे **"ब्रह्मनिर्वाण"** अर्थात् मुक्तिपद प्राप्त होता है। वेद विद्या को न सुनने के कारण आज प्रायः प्राणी अपने प्रति करने योग्य कर्त्तव्य–कर्मों को भूलता जा रहा है। वेदों के अनुसार कर्त्तव्य–कर्म करना स्वयं में एक उत्तम ईश्वर की भक्ति कही गई है । कर्त्तव्य–कर्म के किए बिना कोई भी प्राणी माता–पिता, गुरु, ईश्वर देश आदि के प्रति कर्त्तव्य–कर्म न करके सदा इनका ऋणी रहेगा। और ऐसे व्यक्ति को कभी शांति प्राप्त नहीं होती। जैसे कि दूसरों का ऋण देने वाला व्यक्ति सदा दुखी रहता है। वेदाध्ययन की कमी से जीव मिथ्यावादी प्रचारकों के द्वारा भ्रमित रहकर मनमानी भक्ति करने लग जाता है और ईश्वरीय वाणी का त्याग कर देता है। अतः जीव अनादिकाल से चली आ रही वैदिक शिक्षा को विद्वानों से सुने जिसमें ज्ञान–विज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जानकर तथा जीवन में अपनाकर योगी, ऋषि–मुनि पद को प्राप्त करके सदा सुखी रहें।

श्री कृष्ण उवाच–

कामक्रोधवियुक्तानां यतीनां यतचेतसाम् ।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्तते विदितात्मनाम् ।।

(गीता 5/26)

(कामक्रोधवियुक्तानाम्) काम क्रोध से रहित **(यतचेतसाम्)** चित्त को वश में करने वाले **(विदितात्मनाम्)** परमात्मा को जानने वाले **(यतीनाम्)** विद्वान् संन्यासियों को **(अभितः)** सब ओर से **(ब्रह्मनिर्वाणम्)** ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् सर्वोच्च मोक्ष पद **(वर्तते)** प्राप्त होता है।

अर्थः–

काम, क्रोध से रहित चित्त को वश में करने वाले परमात्मा को जानने वाले विद्वान् संन्यासियों को सब ओर से ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् सर्वोच्च मोक्ष पद प्राप्त होता है।

भावार्थः–

अथर्ववेद कांड 7 सूक्त 95 में काम क्रोध को मनुष्य का सबसे शक्तिशाली शत्रु कहा है, जो एक प्रकार से जीवात्मा पर अपना प्रभुत्त्व बनाकर शोक, दुःख आदि व्यथा उत्पन्न करता है। काम–क्रोध को भौंकते हुए दो कुत्तों तथा गाय के बछड़ों को उठाकर भाग जाने वाले भेड़ियों के समान कहा है। भौंकते कुत्तों को पत्थर से मारकर भगाते हैं और भेड़ियों को ग्वाला लाठी से मारकर भगाता है। अतः काम क्रोध आदि शत्रु को जीतने के लिए अगले मंत्रों में यज्ञ, वेदज्ञ–वेद के जानने वालों का संग, सेवा, योगाभ्यास, आदि शुभ कर्मों का उपदेश किया है, जिस पर चलकर यह शत्रु वश में होते हैं। ऐसे ही वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना करने वाले देववृत्ति युक्त विद्वानों का ही प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने **"काम क्रोध वियुक्तानाम्"** अर्थात् काम क्रोध से रहित वृत्ति वाला कहा है। यदि कोई वेदों में ऊपर कही साधना नहीं करता तो केवल गीता पढ़, सुन और सुनाकर गुणवान नहीं हो सकता। क्योंकि ऐसा विधान परम्परागत ज्ञान में नहीं है।

अथर्ववेद के इसी कांड के 98 सूक्त में "बर्हिः" शब्द का अर्थ उपयुक्त हुआ है जिसका अर्थ है जिसने साधना द्वारा हृदय से सब काम-क्रोधादि वासनाओं को नष्ट कर दिया है। भाव है कि जिस तपस्वी ने गृहस्थ आदि किसी भी आश्रम में रहकर अपने अन्तःकरण को साधना द्वारा शुद्ध कर लिया है, सभी इन्द्रियों को जीतकर चित्त आदि अन्तःकरण को वश में कर लिया है तथा इस प्रकार "**इन्द्रम-गच्छतु**" उसने ईश्वर को प्राप्त कर लिया है । उस पुरुष को ही गीता ने यहाँ "**यतचेतसाम्**" अर्थात् ऊपर कही साधना द्वारा चित्त को वश में करने वाला कहा है। **अथर्ववेद मंत्र 9/6(1)/1** में कहा वेदों का ज्ञाता, यज्ञशील, इन्द्रिय संयमी, योगाभ्यासी विद्वान् ही "**प्रत्यक्षं ब्रह्म विद्यात्**" प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है। ऐसे ही विद्वान् को गीता ने यहाँ "**विदितात्मनाम्**"-अर्थात् परमात्मा को जानने वाला कहा है। प्रस्तुत श्लोक में यति शब्द आया है। यह शब्द भी श्रीकृष्ण महाराज एवं व्यास मुनि जी ने वेदों से ही उद्धृत किया है। **सामवेद मंत्र 954** में कहा - "**मित्र न यतिः न**" अर्थात् मित्र के समान जो निष्पक्ष, सबका हितैषी, होता है वह 'यति' अर्थात् संन्यासी है। **अथर्ववेद मंत्र 20/130/7** में उसे यति कहा है जो निरंतर यत्नशील संन्यासी है-आलसी नहीं है। गुणहीन मनुष्य यति (संन्यासी अथवा संत) नहीं कहलाया जा सकता। ब्रह्मनिर्वाण पद ऐसे ही ऊपर कहे गुणों से युक्त मोक्ष प्राप्त विद्वान् के लिए ही प्रयोग किया गया है । सारांश यह है कि गीता सदग्रन्थ में भी अन्य ग्रन्थों की तरह वेदों का ही उपदेश है। व्यास मुनि अथवा योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज वेदों एवं योग विद्या के ज्ञाता न होते तो उनके मुख से गीता ग्रन्थ (महाभारत के भीष्म पर्व) के रूप में गीता रूपी ज्ञान न निकलता। अतः गीता भी हमें व्यास जैसे ऋषियों, श्रीकृष्ण एवं श्री राम जैसे योगेश्वरों की तरह वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना करके ब्रह्म निर्वाण पद प्राप्त करने की प्रेरणा देती है। इस पवित्र ग्रन्थ को पढ़ रट कर और मनमाने अर्थ बोलकर तथा वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास से रहित होकर धन कमाने और पाप फैलाने की आज्ञा नहीं देती। क्योंकि यह बात सम्पूर्ण विश्व में कोई भी सिद्ध नहीं कर सकता कि महर्षि व्यास एवं योगेश्वर श्री कृष्ण वेद, यज्ञ एवं योग विद्या को आचरण में नहीं लाए थे। अतः या तो हम गीता-ग्रंथ से पहले विद्वानों से वेदों को सुनें अथवा वेदों के ज्ञाता

व्यास–मुनि एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण द्वारा कही महान गीता को वेदों के विद्वानों से ही सुनें। फलस्वरूप ही हमें गीता के श्लोकों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होगा। **पिछले भलोक 5/23** में भी श्रीकृष्ण महाराज ने काम–क्रोधादि से उत्पन्न वेग को नष्ट करने की बात कही है और जो इस वेग को वेदाध्ययन, योग–साधना आदि के द्वारा नष्ट कर लेता है, उसे ही योगी कहा है और उस योगी को ही सुखी कहा है। प्रस्तुत श्लोक में भी यही भाव दर्शाए गए हैं कि जिसका चित्त काम–क्रोधादि विकारों से रहित हो गया है वही परमात्मा को जानने वाला विद्वान् संन्यासी है, अन्य नहीं। और ऐसा संन्यासी ही ब्रह्म–निर्वाण अर्थात् मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है। परन्तु जैसा **यजुर्वेद मंत्र 40/7** में कहा **(एकत्वम् अनुप□यतः)** अर्थात् ऐसा विद्वान् संन्यासी–ऋषि अथवा योगी वेदाध्ययन, धर्माचरण एवं योगाभ्यास आदि के पश्चात ही ईश्वर अनुभूति करके मोक्ष का सुख प्राप्त करता है। फलस्वरूप ही ऊपर अथर्ववेद में कहे काम–क्रोध रूपी भौंकते हुए दो कुत्ते वश में होते हैं। अतः देखने में भी आता है कि जीव गीता, रामायण आदि के प्रवचन सुनने सत्संग में जाता है। परन्तु ऊपर कहे काम–क्रोध रूपी दो कुत्ते भौंकना बंद नहीं होते। जीव अशांत, बीमार, तनाव–ग्रस्त तथा अनेक व्याधियों से ग्रस्त रहता है। जबकि प्राचीनकाल में जब आज के ग्रंथों का उदय नहीं हुआ था तब इन ग्रंथों पर सत्संग भी नहीं होता था। तब उस समय प्राणी ऋषियों से केवल वेद–विद्या सुनता था, यज्ञ, नाम–सिमरण एवं योगाभ्यास करता था फलस्वरूप परिवार सदा सुखी रहता था। अतः आज हम पुनः वेदों की ओर लौटें अन्यथा काम–क्रोध आदि कुत्ते हमारे अन्दर से भौंकते ही रहेंगे। जिस कारण हम स्वयं तथा अन्य प्राणी बिना साधनों के दुःखों के सागर में गोते लगाते रहेंगे। हमें सोचना है कि जहाँ चारों वेद (जैसा कि ऊपर अथर्ववेद में कहा है) काम–क्रोध आदि को हमारा शत्रु कह रहे हैं वहाँ श्रीकृष्ण महाराज भी गीता में इन विकारों को शत्रु कह रहे हैं तथा ब्रह्म प्राप्ति में और बह्म प्राप्ति के सुख में बाधा मान रहे हैं जिसका भाव है कि ये शत्रु नष्ट नहीं हुए तो हम इस जन्म में भी और आने वाले जन्मों में सदा दुःखी रहेंगे। बड़े–बड़े महात्मा भी केवल प्रवचन कर–कर के कई प्रकार की बीमारियों और धन सम्पदा को बटोरने तथा सम्भालने और मकद्दमे लड़ने में दुःख उठा– उठा कर चले गए और शेष संसार दुःख के सागर में

रहता हुआ अगले जन्म में दुःख उठाने की तैयारी कर रहा है। ऐसा **ऋग्वेद मंत्र 10/135/1–5** का भी वचन है। तब हम क्यों नहीं श्रीकृष्ण महाराज की अनुमोदित अनादिकाल से चली आ रही वेद–विद्या को अपनाएँ और सुखी रहें। इस विद्या से ही शत्रु परास्त होंगे।

श्री कृष्ण उवाच–

स्प□ान्कृत्वा बहिर्बाह्यां□चक्षु□चैवान्तरे भ्रुवोः ।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ ।।

(गीता 5/27)

(बाह्यान्) बाहर के **(स्प□ान्)** स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों को **(बहिः)** बाहर **(एव)** ही **(कृत्वा)** करता हुआ **(च)** तथा **(चक्षुः)** नेत्रों की दृष्टि को **(भ्रुवोः)** भौंहों के **(अन्तरे)** मध्य में स्थिर करके **(नासाभ्यन्तरचारिणौ)** नासिका के भीतर चलने वाले **(प्राणापानौ)** प्राण तथा अपान को **(समौ)** समान **(कृत्वा)** करता हुआ।

अर्थः–

बाहर के स्पर्श, रूप, रस आदि विषयों को बाहर ही करता हुआ तथा नेत्रों की दृष्टि को भौंहों के मध्य में स्थिर करके नासिका के भीतर चलने वाले प्राण तथा अपान को समान करता हुआ।

भावार्थः–

मनुष्य के शरीर की रचना में बाह्यकरण में पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा पिण्ड हैं। अन्तःकरण में मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार आते हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ– आँख, नाक, कान, जिह्वा एवं त्वचा के रूप, गंध, शब्द, रस एवं स्पर्श विषय हैं। ज्ञानेन्द्रियों का मुख भी बाहर की तरफ है और संसारी विषय भी बाहर ही हैं। अतः ज्ञानेन्द्रियाँ इन विषयों को बाहरी जगत के पदार्थों से प्राप्त करके अन्तःकरण में मन को पहुँचाती है जिस कारण चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। जन्म–जन्मांतरों के संस्कार निश्चित समय पर प्रकट

होकर, जीवात्मा को सुख–दुःख भोगने पर मजबूर करते हैं। यहाँ श्रीकृष्ण महाराज का यह उपदेश है कि साधक ज्ञानेन्द्रियों के इन विषयों को बाहर के बाहर ही त्याग दे। यह त्यागना पढ़, सुन, रट कर संभव नहीं होता। इसके लिए ही वेदों का प्रवचन सुनना, यज्ञ में आहुतियाँ डालना तथा योगाभ्यास करना परमावश्यक है। इसीलिए आगे श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि पुनः साधक नेत्रों की दृष्टि को दोनों भौंहों के बीच में स्थित करके नासिका के छिद्रों में गति करने वाले प्राण और अपान वायु को समान करें। इस गति को समान करने के लिए वस्तुतः इस विषय में **सामवेद मन्त्र 384 में इड़ा–पिङ्गला सुशुम्णा नाड़ी** में अमृत उत्पन्न होना कहा है और **"यद्वा मरुत्सु"** अर्थात् प्राणों में अमृत कहा है। अर्थात् प्राणायाम द्वारा नासिका में विचरण करने वाले प्राण एवं अपान वायु को योगी जब समान कर लेता है तब उसे अमृत अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति होती है। **अथर्ववेद मन्त्र 2/28/4 में कहा "प्राणापानाभ्यां गुपितः"** अर्थात् प्राणायाम से प्राणों की रक्षा होती है और प्राणी दीर्घायु प्राप्त करता है। भाव यही है कि मनुष्य वेद, यज्ञ, एवं योग साधना करके ही अमृत को प्राप्त करता है, केवल पढ़–सुन रट कर नहीं। प्राणायाम् के पश्चात् धारणा, ध्यान, समाधि का अभ्यास व उसके पश्चात् भी **योग भाास्त्र सूत्र 3/4** के अनुसार संयम की सिद्धि से क्लेशों का नाश होता है। पुनः यहाँ विचार करना है कि श्रीकृष्ण महाराज दोनों भवों के बीच के स्थान (आज्ञाचक्र) पर नेत्रों की दृष्टि को स्थिर करके प्राणायाम द्वारा नासिका में चलने वाले प्राण एवं अपान को समान करने के लिए कह रहे हैं। अतः यह बड़ी विचित्र सी बात है कि कई सन्त गीता, रामायण आदि शुभ ग्रन्थ सुनाते हैं परन्तु प्राणायाम आदि योग साधना करने के लिए मना कर देते हैं। हम सदा सचेत रहें कि हमें श्रीकृष्ण महाराज की आज्ञा माननी है, अन्य वेद अथवा गीता ग्रन्थ के विरुद्ध बात नहीं माननी चाहिए। श्रीकृष्ण महाराज यहाँ योग साधना करने की बात कह रहे हैं कि जिसका उपदेश चारों वेदों में है और हम सब को वेदों की आज्ञा स्वीकार करनी है। फलस्वरूप ही हमारा कल्याण होगा। इस प्रकार ध्यान धरने के ज्ञान को पता जलि ऋषि भी **योग□ास्त्र सूत्र 3/1** में कह रहे हैं। इस सूत्र की विस्तृत व्याख्या मैंने पता जली योगदर्शन हिन्दी व्याख्या सहित भाग–2 में कर दी है। जिज्ञासु वहाँ देख लें। परन्तु विशेष बात यह

है कि मैंने भी व्याख्या कर दी, कई अन्य विद्वानों ने भी व्याख्या की है, श्रीकृष्ण महाराज भी कह रहे हैं कि प्राण–अपान वायु को समान करो। परन्तु वास्तव में तो यज्ञ अथवा योग आदि की विद्या विद्वान् आचार्य के संरक्षण में रहकर ही आती है। वह ही विद्या का ज्ञान देते हैं। इस कारण ही चारों वेदों ने सदा वेदों के विद्वानों का संग करने की बात कही है। वेद की आज्ञा पर चलकर ही प्राणी सुख प्राप्त कर सकता है, अन्यथा इस श्लोक का भी यदि कोई छः घण्टों तक लगातार प्रवचन करे और योग–साधना न करे तो कोई लाभ नहीं होगा।

श्री कृष्ण उवाच–

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।

(गीता 5/28)

(यतेन्द्रियमनोबुद्धिः) जिसने इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को वश में किया है **(यः)** जो **(मुनिः)** मुनि **(मोक्षपरायणः)** मोक्ष का आश्रय लिए हैं तथा **(विगतेच्छाभयक्रोधः)** इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हैं **(सः)** वह मुनि **(सदा)** सदा **(मुक्तः)** मुक्त –मोक्ष प्राप्त **(एव)** ही है।

अर्थः–

जिसने इन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि को वश में किया है जो मुनि मोक्ष का आश्रय लिए है तथा इच्छा, भय तथा क्रोध से रहित हैं, वह मुनि सदा मुक्त–मोक्ष प्राप्त ही है।

भावार्थः–

जिसने ज्ञानेन्द्रियाँ, मन तथा बुद्धि, इनको योग साधना द्वारा जीत लिया है और ऐसे मोक्ष प्राप्त मुनि सदा इच्छा, भय और क्रोध से जो रहित होता है, वह सदा ही मोक्ष पद का आश्रय लिया हुआ मुक्त पुरुष है। इस श्लोक में **''मुनि''** शब्द का भाव भी वेदों का मनन करने वाला मुनि है। **ऋग्वेद मन्त्र**

10/53/6 में कहा **"मनुःभव"** ऐ जीव! तू वेदों का मनन करने वाला मुनि बन। **ऋग्वेद मन्त्र 10/129/4** में योग साधना द्वारा इच्छा के नाश की बात कही है। **अथर्ववेद मन्त्र 4/34/2** में प्राणायाम् द्वारा पवित्र वृत्ति वाले बनकर कामाग्नि, इच्छाओं आदि का नाश करके गृहस्थाश्रम में परम सुख प्राप्त करने की बात कही है।

पुनः कटु सत्य यही है कि इच्छा, भय, क्रोध का नाश तथा ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि पर विजय प्राप्ति, वेदाध्ययन, यज्ञ और योग साधना से ही संभव है। **अथर्ववेद मन्त्र 7/77/1, 3** में प्राणायाम द्वारा काम, क्रोध आदि का नाश करके ज्ञान ज्योति को दीप्त करने को कहा है। केवल पढ़, सुन रटकर मीठी कथा–कहानियाँ सुनाकर प्राणी अपने जीवन में सदा दुःखों के सागर में डूबा रहता है और झूठी तसल्ली में जीता है कि वह वेद विरुद्ध सत्संग सुनकर और बिना यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करके शांति को अथवा ईश्वर को प्राप्त कर लेगा। प्रस्तुत श्लोक भी पिछले कई श्लोकों से सम्बन्ध रखे हुए है। श्री कृष्ण महाराज ने पिछले श्लोकों में सांख्य–योग, निष्काम कर्म–योग, आत्म ज्ञान, समदृष्टि अर्थात् समत्त्व भाव, ईश्वर में ध्यान लगाना, योगाभ्यास द्वारा काम–क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करना, नेत्रों की दृष्टि को भवों के बीच में स्थित करके नासिका में विचरने वाले प्राण और अपान वायु को (योगाभ्यास से) समान करके इन्द्रियों, मन और बुद्धि को जीत लेना तथा इच्छा, भय और क्रोध से रहित होना बताया है। सारांश यह है कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के अभाव में प्राण और अपान वायु समान नहीं होगा तथा इन्द्रियों, मन और बुद्धि पर भी विजय प्राप्त नहीं होगी। तब केवल पढ़–सुन–रट कर गीता के श्लोकों को सुनना और सुनाना कैसे लाभकारी हो सकेगा ? केवल सुनने–सुनाने से इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि कैसे वश में हो पाएँगे? पुनः श्रीकृष्ण महाराज स्वयं यहाँ प्राणायाम/योगाभ्यास करने का उपदेश कर रहे हैं। तब यदि हम वेदों में कहे योगाभ्यास को नहीं करते जो कि स्वयं श्रीकृष्ण महाराज जी ने भी किया तब केवल गीता सुनने से क्या लाभ होगा ? **ऋग्वेद मंत्र 1/164/39** तो यहाँ तक स्पष्ट कह रहा है कि यदि साधक ने वेदों में कहे शुभ कर्म नहीं किए और यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि उपासना द्वारा ईश्वर को नहीं जाना अर्थात् समाधिस्थ होकर ईश्वर की

अनुभूति नहीं की तब "**ऋचा किम् करिश्यसि**" तब केवल वेद–मन्त्रों के द्वारा तुम्हारा क्या भला होगा। अर्थात् केवल वेद–मन्त्रों को सुनने–सुनाने से क्या लाभ होगा ? अर्थात् कोई लाभ नहीं होगा। तब केवल गीता रामायण आदि सद्ग्रंथ सुनने से भी क्या लाभ होगा। अतः हम वेदज्ञ विद्वानों से सद्ग्रंथ सुनें जैसे कि **यजुर्वेद मंत्र 40/13** में कहा "**इति भुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे**" अर्थात् जो योगाभ्यास द्वारा ध्यान में लीन पुरुष हैं उन्हें धीर पुरुष कहते हैं। ये धीर पुरुष अष्टाँग–योग के अभ्यास का जो फल समाधि है, उसे प्राप्त किए होते हैं। समाधि में ही ईश्वर की अनुभूति होती है। अतः मंत्र में कहा '**धीराणाम्**' अर्थात् धीर पुरुषों से विद्या को सुनो। धीर पुरुष विस्तृत रूप से सब विद्या दान करते हैं जिसमें योगाभ्यास भी उपासना काण्ड की विद्या है। हम इस प्रकार के व्याख्यान से बचें कि योगाभ्यास से केवल सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं जबकि ईश्वर वेदों में कह रहा है योगाभ्यास से समाधि पद प्राप्त करके योगी ईश्वर की अनुभूति करता है। आज भारत वर्ष में छः शास्त्र एवं वेदों की निन्दा इसलिए की जाती है कि जनता ने कभी वेद–शास्त्र सुने ही नहीं और इस प्रकार जनता झूठे व्याख्यानों के भ्रम में पड़कर वेद एवं शास्त्रों के मार्ग को त्याग बैठी है। फलस्वरूप ही जनता झूठ को ही सत्य मानकर स्वीकार कर लेती है। ऋग्वेद ने वेदों को सूर्य की उपमा दी है और कहा है कि जैसे सूर्य एक ही है और केवल सूर्य के उदय होने से ही रात्रि का अंध ाकार नष्ट होता है उसी प्रकार ईश्वर द्वारा दिया हुआ वेदों का ज्ञान एक ही है और वह ज्ञान एक अलौकिक प्रकाश है जिसके द्वारा ही संसार की समस्त अविद्या–अज्ञान का नाश होता है। जैसा कि श्रीकृष्ण महाराज की वेदों पर आधारित ज्ञान, कर्म एवं उपासना युक्त गीता में कही वाणी ने अर्जुन के अज्ञान का नाश कर दिया था।

श्री कृष्ण उवाच–

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहे□वरम् ।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां भान्तिमृच्छति ।।

(गीता 5/29)

(माम्) हे अर्जुन मुझे **(यज्ञतपसाम्)** यज्ञ और तपों का **(भोक्तारम्)** भोक्ता तथा

(सर्वलोकमहे□वरम्) सब लोकों का महेश्वर जान। **(सर्वभूतानाम्)** सब भूतों का अर्थात् प्राणियों का **(सुहृदम्)** मित्र **(ज्ञात्वा)** मुझे जानकर पुरुष **(□ान्तिम्)** शांति को **(ऋच्छति)** प्राप्त होता है।

अर्थः–

हे अर्जुन! मुझे यज्ञ और तपों का भोक्ता तथा सब लोकों का महेश्वर जान। सब भूतों का अर्थात् प्राणियों का मित्र जान। मुझे ऐसा जानकर पुरुष शांति को प्राप्त होता है।

भावार्थः–

यजुर्वेद मन्त्र 31/16 में कहा **"देवाः यज्ञेन यज्ञम् अयजन्त"** अर्थात् विद्वान् लोग यज्ञ के द्वारा ईश्वर की पूजा करते हैं। यज्ञ के अर्थ कई बार पहले कहे गए हैं। विद्वान् माता–पिता, अतिथि और गुरु की सेवा तथा विद्वान् आचार्य के साथ बैठकर अग्निहोत्र करना तथा योगाभ्यास आदि से ईश्वर की पूजा करना, यह सब वेदों में यज्ञ कहा है और इन्हीं सब यज्ञों को विद्वान् लोग करते आए हैं। **सामवेद मन्त्र 272** का भाव है कि अनादि काल से ऋषि–मुनि वेद मन्त्रों से यज्ञ में ईश्वर की स्तुति करके उसे प्रसन्न करते रहे हैं और आज भी यही नियम लागू है। यज्ञ के यही वैदिक भाव श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ यह कहकर प्रकट किए हैं – **"यज्ञतपसाम् भोक्तारम्"** अर्थात् ईश्वर यज्ञ एवं तप का भोक्ता है अर्थात् जब प्राणी यज्ञ एवं तप करता है तो उसे परमेश्वर भोक्ता है अर्थात् स्वीकार करता है और प्रसन्न होता है। फलस्वरूप प्राणी पर कृपा बरसाता है। पापों का नाश करता है, रक्षा आदि करता है। तप का अर्थ भी **"ऋतं तपः सत्यं तपः श्रुतं तपः भान्तं तपो दमस्तपः भामस्तपो दानं तपो यज्ञस्तपो भूभुर्वः सुवर्ब्रह्मे तदुपास्वैतत्तपः"** अर्थात् जिसका जो और जैसा स्वरूप है उसको वैसा ही मानना तथा सत्य बोलना यह तप है। इसी प्रकार सत्य सुनना, शान्त स्वभाव धारण करने के लिए प्रयत्नशील रहना, आँख, नाक इत्यादि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों को अधर्म, आलस्य आदि बुराई से हटाकर सत्य एवं धर्म में लगाना, इसी प्रकार मन को सदा धर्म में स्थिर करना तप है। विद्वान् (पूर्ण) जो योगी है अर्थात् वेद एवं

योग विद्या द्वारा ब्रह्म को जानने वाले हैं, उनको श्रद्धापूर्वक दान देना, सेवा करना, यह दान रूपी तप है। यज्ञ द्वारा ईश्वर की उपासना करना, अग्नि में घृत की आहुतियाँ डालना, यह ऊपर उपनिषद् में कहा यज्ञ रूपी तप है। **सामवेद मन्त्र 275** में कहा – ''**मुनीनाम् सखा**'' अर्थात् ईश्वर मुनियों (वेदों का मनन यज्ञ, योगाभ्यास करने वाले) का सखा है अर्थात् जो प्राणी मुनि नहीं है उसका सखा नहीं है। **गीता भलोक 10/22** में श्री कृष्ण महाराज ने स्वयम् को चारों वेदों में सामवेद कहा है। यह सामवेद की महिमा कही है।

सामवेद मन्त्र 1826 में कहा कि जो साधक प्रातःकाल ब्रह्म महूर्त्त में उठता है, विषय–विकारों की नींद से जाग्रत रहता है, उसे ऋग्वेद के मन्त्र चाहतें हैं और सामवेद के मन्त्र प्राप्त होते हैं अर्थात् मन्त्रों का रहस्य उसके अन्दर प्रकट होता है। जो वेदाध्ययन नहीं करता और वेद विरुद्ध व्यर्थ चिकनी–चुपड़ी असत्य बातें करता है, ऐसे आलसियों को ज्ञान प्राप्त नहीं होता और वह पाप के भागी होते हैं । क्योंकि मनुस्मृति ने भी **भलोक 2/11** में स्पष्ट कहा है ''**नास्तिकः वेद निन्दकः**'' अर्थात् जो वेद विरुद्ध बातें करता है, वह पाप का भागी है। सखा के विषय में कई वेद मन्त्रों ने कहा है और अन्त में इस मन्त्र ने कह दिया है कि ऐसे सुबह उठने वाले, वेदाध्ययन करने वाले साधक का मैं ''**सव्ये अस्मि**'' सखा हूँ, मित्र हूँ। अतः इसी सखापन को वेदों से लेकर श्रीकृष्ण महाराज ने ''**सुहृदं**'' शब्द से उद्धृत किया है, जो कि उचित भी है।

इस जगत के द्युलोक, अन्तरिक्षलोक एवं पृथिवीलोक, यह तीन लोक हैं। इन लोकों को रचने वाला और इसका स्वामी स्वयं सर्वशक्तिमान ईश्वर है। इस भाव को श्रीकृष्ण महाराज ने ''**सर्वलोकमहे□वरम्**'' पद से उद्घोष किया है। श्रीकृष्ण महाराज पूर्ण योगेश्वर हुए हैं, उनके दिव्य शरीर में तीनों लोकों का रचियता स्वयं ईश्वर प्रकट था । और ऐसे भाव ब्रह्मलीन योगेश्वर के ही मुख से निकलते हैं, जिसे **यजुर्वेद मन्त्र 31/11** में ''**ब्राह्मणः मुखम् आसीत्**'' वेदों के ज्ञाता योगी का मुख सृष्टि में सर्वश्रेष्ठ है जिससे ईश्वरीय ज्ञान निकलता है और यह सब ज्ञान योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज के दिव्य मुख

से निकला है। ''**ज्ञात्वा**'' पद ''**ज्ञा–अवबोधने**'' धातु से बना है जिसका अर्थ है तत्त्व से जानना और वेदानुसार जो ऊपर शब्दार्थ अथवा भावार्थ किया है वह तत्त्व से ही है। अतः श्रीकृष्ण महाराज का भाव है कि जो इस प्रकार मुझे तप से जानता है वही योगी परम शांति को प्राप्त होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण महाराज का प्रिय है और प्रिय को ही ब्रह्म के भेद समझाए जाते हैं। श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को अपने, ऊपर कहे दिव्य स्वरूप का ज्ञान दे रहे हैं। अतः प्राणी वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास का ज्ञान किसी विद्वान् आचार्य से प्राप्त करके ऊपर कही साधना द्वारा तत्त्व से ईश्वर एवं श्रीकृष्ण महाराज के स्वरूप को जान सकता है अन्यथा साधनहीन बुद्धि से तो भ्रम ही फैलता रहेगा।

गीता की व्याख्या में कई स्थान पर यह कहना पड़ा कि जो वेदाध्ययन नहीं करता और वेद–विरुद्ध बातें करता है वह पाप का भागी है और गीता के शब्दों के अर्थ का अनर्थ करता है। ऐसा कहने का केवल यही भाव है कि व्यास मुनि जिन्होंने महाभारत (गीता) श्रीकृष्ण महाराज जिनके मुख से गीता ज्ञान कहा गया, दोनों ही विभूतियाँ वेद एवं योग–विद्या के महान ज्ञाता थे और गीता ग्रंथ में उन्होंने वेदों की तीनों विद्याओं अर्थात् ज्ञान, कर्म एवं उपासना का उपदेश दिया है जिससे अर्जुन का संशय, मोह आदि नष्ट हुए और अर्जुन ने धर्मयुद्ध किया। गीता ग्रंथ के समय वर्तमान के मजहबों, धर्मों का उदय भी नहीं हुआ था। अतः बार–बार पाठकों से निवेदन करना पड़ रहा है कि गीता ग्रंथ केवल वेद–विद्या पर आधारित होने के कारण गीता ग्रंथ के अध्ययन से प्रथम वेदों का सुनना एवं योगाभ्यास करना अति आवश्यक है। क्योंकि गीता ग्रंथ वर्तमान समय का लिखा हुआ ग्रंथ नहीं है।

पंचमः अध्यायः इति

"अथ षष्ठोऽध्यायः"

इस अध्याय में श्रीकृष्ण महाराज ने ज्ञान योग एवं कर्मयोग के विषय में गहन उपदेश किया है। चारों वेदों में ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इन तीन ही विद्याओं का उपदेश है। अनादिकाल से चारों वेद ही इन तीनों विद्याओं का विद्वानों द्वारा दान करते चले आ रहे हैं। मनुस्मृति श्लोक १/२३ में इसे **"त्रयं ब्रह्म सनातनम्"** कहा है अर्थात् वेद में इन तीन सनातन विद्याओं का उपदेश है। सनातन का अर्थ है जिसका आदि-अन्त नहीं है। सदा रहने वाली है। तीन ही तत्व हैं-परमेश्वर, जीव एवं प्रकृति। वर्तमानकाल में वस्तुतः प्रायः वेदों का गहन अध्ययन एवं योगाभ्यास न होने के कारण अपने-अपने मतानुसार कहीं अद्वैत, कहीं द्वैत, कहीं अन्य विचारधाराऐं चल पड़ीं हैं। उस पर चलकर जिन्हें शांति प्राप्त हुई, यह उनका स्वयं का निजी अनुभव होगा। परन्तु ईश्वरीय अनादि वाणी वेद में त्रैतवाद (ऊपर कही तीन विद्याएँ और तीनों तत्त्व) का ही उपदेश है। वेद का प्रमाण है कि तीनों तत्त्व अर्थात् परमेश्वर, जीव एवं प्रकृति सर्वदा परस्पर भिन्न भिन्न तत्त्व हैं। गीता के प्रथम छः अध्याय मुख्यतः कर्मकाण्ड, अगले छः उपासना काण्ड एवं अन्तिम छः ज्ञान काण्ड पर आधारित हैं। और इन तीनों के ज्ञान से आचरण से ही मुक्ति सम्भव होती है जिसका विस्तृत वर्णन चारों वेदों में है। गीता ग्रन्थ वेदों पर आधारित श्रीकृष्ण महाराज का अर्जुन को उपदेश है। गहन विचार यह है कि **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/३९** स्पष्ट कहता है कि यदि वेदाध्ययन एवं कठोर अष्टांग योग साधना से ईश्वर की अनुभूति नहीं हुई तब केवल वेदाध्ययन और उसके शब्द, अर्थ आदि रटने से अथवा व्याख्यान से मनुष्य का भला नहीं हो सकता। श्रीकृष्ण महाराज ने भी संदीपन गुरु के आश्रम में वेदाध्ययन एवं कठोर अष्टांग योग साधना द्वारा सर्वोच्च योगेश्वर पद को प्राप्त किया था एवं फलस्वरूप ही गीता ग्रन्थ के रूप में उनका वैदिक उपदेश सम्भव हुआ था। अतः केवल गीता को पढ, सुन, रटकर तथा कथा-कहानियाँ कहकर इन्सान का कहाँ भला हो सकता है। हम गीता के अनुसार भी ज्ञान, कर्म एवं उपासना, तीनों को ही महत्त्व देकर समाज, देश एवं विश्व को भाईचारे एवं शांति से जोड़ सकते हैं परन्तु यदि गीता ग्रन्थ के साथ ईश्वरीय वाणी वेदों को प्रथम नहीं जोड़ा तो निश्चित ही गीता के शब्दों के अर्थों का अनर्थ हो जाएगा। इस संदर्भ में चारों वेदों के सारांश के रूप में **अथर्ववेद मन्त्र ७/२/१ एवं यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०** का भाव प्रत्येक प्राणी हृदय में स्थिर करे कि ऋषि प्रणीत ग्रन्थ एवं अन्य विद्या केवल वेदज्ञ विद्वान् जो अष्टाँग योग द्वारा ईश्वर में लीन और

इस प्रकार आत्म ज्ञानी हैं केवल उनसे ही सुनें, अन्य से नहीं। अतः प्रस्तुत श्लोक में भी मुख्यतः कर्मकाण्ड एवं उपासना (योग विद्या) के विषय में उपदेश है।

श्रीकृष्ण उवाच –

"अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः।।

(गीता श्लोक ६/१)

(यः) जो पुरुष **(कर्मफलम्)** कर्म के फल का **(अनाश्रितः)** आश्रय न लेता हुआ **(कार्यम्)** कर्त्तव्य **(कर्म)** कर्म **(करोति)** करता है **(सः)** वह पुरुष **(संन्यासी)** संन्यासी **(च)** और **(योगी)** योगी है। **(च)** और **(निरग्निः)** केवल अग्नि का त्याग करने वाला **(न)** नहीं है अर्थात् केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी अथवा योगी नहीं है। **(च)** और **(अक्रियः)** केवल कर्म का त्याग करने वाला भी संन्यासी अथवा योगी **(न)** नहीं है।

अर्थः- जो पुरुष कर्म के फल का आश्रय न लेता हुआ कर्त्तव्य कर्म करता है वह पुरुष संन्यासी और योगी है। और केवल अग्नि का त्याग करने वाला नहीं है अर्थात् केवल अग्नि का त्याग करने वाला संन्यासी अथवा योगी नहीं है और केवल कर्म का त्याग करने वाला भी संन्यासी अथवा योगी नहीं है।

भावार्थः- "कर्म-फलम्-अन्-आश्रितः" पद का अर्थ है कि कर्म तो किए जाएँ परन्तु कर्मफल को पाने की इच्छा न हो। स्पष्ट है कि अविद्याग्रस्त जीव नौकरी, व्यवसाय, पढ़ाई-लिखाई, गृहस्थ, खेती-बाड़ी, विवाह इत्यादि अनेक कर्मों को करता ही इसलिए है कि उसमें फल प्राप्ति की इच्छा प्रधान होती है और इच्छा पूर्ति न होने पर क्रोध से बुद्धि को नाश एवं पापयुक्त कर्म प्रारम्भ हो जाते हैं। अतः केवल वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना इन तीनों विद्याओं को जीवन में धारण करने वाला अष्टांग योगी ही विद्यायुक्त होकर शुभ कर्म करता है और वह शुभ कर्म भी उसके फलरहित होते हैं। क्योंकि योगी की कर्मफल प्राप्ति की इच्छा नहीं होती। इस विषय में **योगशास्त्र सूत्र ४/७** ने बड़ा सुन्दर कहा है कि केवल योगी के ही कर्म **'अशुक्ल'** एवं **'अकृष्ण'** होते हैं। **'अशुक्ल'** अर्थात् योगी शुभ कर्मों का फल नहीं भोगता। 'अकृष्ण' अर्थात् पाप कर्मों का भी फल योगी को

प्राप्त नहीं होता। योगी किसी प्रकार के कर्मों का भोग नहीं भोगता क्योंकि उसका चित्त प्रकृति में लीन हुआ होता है और फलस्वरूप चित्त कर्म संस्कारों से शून्य होता है। इसके विपरीत साधारण जन के कर्म तीन प्रकार से कहे हैं- शुक्ल अर्थात् पुण्यवान कर्म, कृष्ण अर्थात् पापयुक्त कर्म तथा तीसरा शुक्लकृष्ण कर्म अर्थात् पाप और पुण्य मिले हुए कर्म। साधारण पुरुष जो वेदाध्ययन, यज्ञ तथा अष्टांग योग साधना से रहित हैं वह पाप, पुण्य एवं पापपुण्य युक्त सभी कर्मों का फल भोगते हुए जीवन मरण युक्त संसार के दुःखों के सागर में डूबे रहते हैं। **योगशास्त्र सूत्र २/१** में **"ईश्वर प्रणिधानानि"** का यही भाव है कि ईश्वर पर सम्पूर्ण भरोसा और सभी कर्मों का फल ईश्वर पर अर्पित करना। वैदिक विद्या के आधार पर श्री कृष्ण का भी इस श्लोक में **"अनाश्रितः"** पद का यही भाव है और यह गुण पूर्ण योगियों में होता है, केवल पढ़ सुन रटकर धर्मग्रन्थ अथवा कथा-कहानी सुनाने वालों में कदापि नहीं होता। योग युक्त पुरुष को ही इस श्लोक में **"संन्यासी"** एवं **"योगी"** कहा है। आज हमें मिथ्यावादि सन्तों-गुरूओं के मिथ्यावाद, असत्य भाषण के प्रभाव से बचने की आवश्यकता है। **ऋग्वेद मन्त्र १/८६/८ तथा १/२६/५** का भाव है कि हम विद्वानों से ही वेद विद्या सुनें और स्वयं विद्वान बनें। अविद्वानों का संग जीव को उनका गुलाम बनाकर अविद्याग्रस्त कर देता है और जब जीव अविद्या को ही विद्या मान बैठेगा तो निश्चित ही जीवन नष्ट हो जाएगा।

मनुस्मृति अध्याय ६ में कहा कि दण्ड, कमण्डलु, संन्यासी वस्त्र आदि चिन्ह धारण करना केवल धर्म नहीं अपितु संन्यासी सत्य का उपदेश देने वाला, योगाभ्यास इत्यादि क्रियाएँ करने वाला कहा है। धृति, क्षमा इत्यादि दस धर्मों को धारण करने वाला संन्यासी है। सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करने वाला, वेदों में कही ईश्वर की आज्ञा का पालने करने वाला संयमी संन्यासी है। **योग शास्त्र सूत्र १/१६** के अनुसार 'परवैराग्य' को धारण करने वाला संन्यासी है। संन्यासी वैदिक धर्म का त्याग नहीं करते, संन्यासी भोजन आदि के कर्म नहीं त्याग करता तो पुनः वेदों के उपदेश, विद्यादान आदि कर्म कैसे त्याग सकता है। शरीर से शुभ कर्म न करना पाप है। यदि आँख से दिखाई न दे, कान से सुनाई न दे तो आँख-कान का होना व्यर्थ होगा। अतः संन्यासी वेद आदि विद्या का प्रचार न करे तो वह भी भूमि के ऊपर भार ही है। जो ईश्वर की आज्ञा में रहता है, शुभ कर्म का करने वाला है, वह संन्यासी है अन्यथा पापी है। अतः केवल अग्नि और धातु आदि को स्पर्श न करने वाला संन्यासी कैसे हो सकता है? क्योंकि वेद ने तो संन्यासी

को ऐसी आज्ञा ही नहीं दी है। इन्हीं वैदिक विचारों को इस श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने दर्शाते हुए कहा है कि केवल अग्नि का त्याग करने वाला और कर्मों का त्याग करने वाला संन्यासी एवं योगी नहीं होता। ऊपर कहा वेदाध्ययन, इन्द्रिय संयम एवं योगाभ्यास आदि करने के पश्चात जब कोई समाधिस्थ पुरुष ईश्वर द्वारा **अथर्ववेद मन्त्र ४/३०/३** के अनुसार, ऋषि-मुनि एवं योगी पद पर आसीन होता है वह स्वतः ही कर्मों से निर्लेप हुआ होता है और वह कर्मफल की इच्छा कदापि नहीं करता। अर्जुन तो यहाँ ऐसा योगी नहीं है। ऐसे योगी गृहस्थ में ही राजा जनक, हरिश्चन्द्र, मनु एवं उनकी प्रजा में थे तथा आज भी हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को उसके वंश के गृहस्थ योगियों का भी उल्लेख करके यह समझाना चाहते हैं कि हे अर्जुन! तू गुणवान एवं बलवान क्षत्रिय है। तूने सदा वेद, ब्राह्मण एवं गौओं की रक्षा की है। तू गृहस्थ में रहकर भी ब्रह्मचारी एवं सत्य आचरण वाला है। अतः अपने वंश में हुए गृहस्थ योगियों के इस गुण को धारण कर कि इस महाभारत के धर्मयुद्ध को प्रारम्भ करने से पूर्व (पहले) ही **"कर्मफलम् अनाश्रितः"** कर्म के फल अर्थात् युद्ध के बाद क्या होगा, उस फल को त्याग दे—उसका विचार न कर।

श्रीकृष्ण उवाच—

"यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।।

(गीता श्लोक ६/२)

(पाण्डव) हे पाण्डु पुत्र अर्जुन **(यम्)** जिसे **(संन्यासम्)** संन्यास **(इति)** ऐसा **(प्राहुः)** कहते हैं **(तम्)** उसको तू **(योगम्)** योग **(विद्धि)** जान। **(हि)** निश्चित रूप से **(असंन्यस्तसंकल्पः)** जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया ऐसा **(कश्चन)** कोई भी पुरुष **(योगी)** योगी **(न)** नहीं **(भवति)** होता।

अर्थः- हे पाण्डु पुत्र अर्जुन! जिसे संन्यास ऐसा कहते हैं उसको तू योग जान। निश्चित रूप से जिसने संकल्पों का त्याग नहीं किया ऐसा कोई भी पुरुष योगी नहीं होता।

भावार्थः- सामवेद मन्त्र ९५४ में **"यतिः"** पद आया है जिसका अर्थ मन्त्र में संन्यासी है। प्रारम्भिक पाठशाला में बच्चे अपनी पुस्तक में इसे **'य'** से **'यति'** कहकर याद करते

हैं। मन्त्र में इस पद का भाव है कि विद्वान् संन्यासी सूर्य के समान तेजस्वी, विघ्नों को समाप्त तथा पाप वृत्तियों का नाश करने वाला होता है।

कुछ इसी प्रकार का भाव **अथर्ववेद मन्त्र २०/१३०/७-१०** का भी है कि संन्यासी सदा पुरुषार्थी, तेजस्वी, प्रतापी, काम-क्रोध आदि पर संयम रखने वाला, पृथिवी का रक्षक, सत्य विद्या का उपदेशक एवं सूर्य के समान तेज धारक होता है। अर्थात् जैसे सूर्य के बिना अंधकार है इसी प्रकार वेद के ज्ञान के बिना अज्ञान ही अज्ञान है। सूर्य में भौतिक प्रकाश है, संन्यासी में वेदों के ज्ञान का प्रकाश उदय होता है। **ऋग्वेद** में संन्यासियों के गुण कहे हैं कि वह तप द्वारा ईश्वर को अपने अन्दर प्रकट करें और सभी मनुष्यों को विद्या का उपदेश दें। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/१९** में कहा कि ईश्वर के स्वरूप को **"धीराः"** अर्थात् योगी लोग सब ओर देखते हैं। **यजुर्वेद मन्त्र ३७/२** में स्पष्ट कहा है। **"विप्राः बृहतः विपश्चितः विप्रस्य मनः युञ्जते उत धियः युञ्जते"** अर्थात् विद्वान् योगीजन योगाभ्यास द्वारा महान अनन्त विद्या वाले सर्वव्यापक ईश्वर में, संकल्प-विकल्प ग्रहण करने वाले अपने मन को समाहित करते हैं और बुद्धि तथा कर्मफल को भी ईश्वर को ही अर्पित करते हैं। इन सबका भाव यही है कि योगी एवं संन्यासी कहना एक ही बात है कि जैसा ऊपर वेदमन्त्रों में कहा और सम्पूर्ण वेद कहते हैं कि दोनों ही वेदाध्ययन एवं योगासाध ाना द्वारा मन, बुद्धि, चित्त आदि को ईश्वर में लीन कर देते हैं और **योगशास्त्र सूत्र ४/६** के अनुसार उनका अन्तःकरण पुनः प्रकृति में लीन हो जाता है। इस प्रकार प्रकृति से बना मन अपना कार्य करना समाप्त कर देता है। फलस्वरूप ही चित्त की सब वृत्तियाँ निरुद्ध अर्थात् समाप्त हो जाती हैं और मन में संकल्प तथा विकल्प उठने भी समाप्त हो जाते हैं। अतः योगी अथवा संन्यासी एक ही परस्पर पर्यायवाची शब्द हैं और दोनों ही संकल्प-विकल्प रहित होते हैं।

इन सब भावों का सारांश यही है कि वैदिक ज्ञान, शुभ कर्म एवं योग साधना के पश्चात सब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। तब जिसे हम संन्यासी कहते हैं, **योगशास्त्र सूत्र १/२ - "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** अर्थात् योगाभ्यास द्वारा चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। और इस प्रकार जिसकी चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं वही योगी है। निरुद्ध अवस्था में संकल्प एवं विकल्प, दोनों ही समाप्त प्रायः हो जाते हैं। इसे **योगशास्त्र सूत्र १/१६** में योगी की 'परवैराग्य' अवस्था कहा है। अतः गीता

ने इस श्लोक में योगी एवं संन्यासी को समान गुणों के आधार पर एक ही श्रेणी में रखा है। आज भारतवर्ष में वेदविद्या के विरुद्ध चलने वाले संन्यासियों की प्रायः बाढ़ आ गई है और देश तबाह हो रहा है। पहले ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ एवं संन्यास, तीन आश्रम वनों के खुले वातावरण एवं शुद्ध वायु में बीतते थे। केवल गृहस्थाश्रम ही ग्रामों अथवा शहरों में व्यतीत होता था। फलस्वरूप लम्बी आयु सुख-शांति सर्वत्र थी। आज वेदों के मार्ग पर चलने वाला सच्चा संन्यासी दुर्लभ है। जहाँ वेदों ने संन्यासी को पराकर्मी, तेजस्वी, ओजस्वी एवं कठोर परिश्रमी कहा और विश्व को सत्य का उपदेश करने वाला कहा वहीं इस परम्परा के विरुद्ध प्रायः आज यह कहा जा रहा है कि संन्यासी न कर्म करे, न अग्नि का स्पर्श करे और अगर ऐसा करेगा तो वह संन्यासी ही नहीं रहेगा। यह सब ईश्वरीय विद्या वेद के विरुद्ध मिथ्यावाद है। संन्यासी जगत का उद्धार करता था, स्वयं निर्धन सा हुआ, आवश्यकतानुसार अन्न-धन प्राप्त करता हुआ, समाज को अपने आशीर्वाद से धनवान, विद्यावान, गुणवान एवं आयुषमान आदि गुणों से भरपूर कर देता था। परन्तु आज प्रायः संन्यासी मिथ्यावाद द्वारा जनता से धन लूटकर स्वयं धनवान, अरबपति बनते जा रहे हैं और जनता गरीब होती जा रही है।

इस प्रकार जो वेदाध्ययन, यज्ञ, वैदिक शुभ कर्म एवं वेदों में कही अष्टाँग योग की साधना से शून्य है उसमें ऊपर कहे संन्यासी एवं योगी के गुण प्रकट कदापि नहीं होंगे और उक्त गुणों से रहित को न योगी कहते हैं और न ही संन्यासी कहते हैं। व्यासमुनि के भाष्य **योग शास्त्र सूत्र १/११** के अनुसार उसको योगी अथवा संन्यासी का नाम नहीं दिया जा सकता क्योंकि समस्त वृत्तियों के निरोध होने पर ही असम्प्रज्ञात योग में सब चित्त वृत्तियाँ निरुद्ध होती हैं और जिसकी चित्त वृत्तियाँ ही निरुद्ध नहीं है, वह कैसे योगी अथवा संन्यासी कहला सकता है?

श्रीकृष्ण उवाच–

"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।"

(गीता श्लोक ६/३)

(मुनेः) मनन करने वाले मुनि के लिए **(योगम्)** योग विद्या पर **(आरुरुक्षोः)** आरूढ़

होने के लिए **(कर्म)** कर्म को **(कारणम्)** कारण **(उच्यते)** कहा है। और इस प्रकार कर्म करते हुए **(तस्य)** उस **(योगारूढस्य)** योग पर आरूढ़ हुए योगी के **(शमः)** शम **(एव)** ही **(कारणम्)** कारण **(उच्यते)** कहा जाता है।

अर्थः- मनन करने वाले मुनि के लिए योग विद्या पर आरूढ़ होने के लिए कर्म को कारण कहा है और इस प्रकार कर्म करते हुए उस योग पर आरूढ़ हुए योगी के शम ही कारण कहा जाता है।

भावार्थः- वेद ने योग मार्ग पर चलने के लिए शुभ कर्म ही साधन कारण कहे हैं। योग विद्या वेद से पृथक् कदापि नहीं है। सत्य यही है कि वेद विद्या न होती तो पढ़ाई-लिखाई भौतिकवाद में अणु-परमाणु, ऊर्जा इत्यादि सभी विज्ञान आदि का ज्ञान सर्वदा असंभव होता। क्योंकि सभी पदार्थ विद्या, साधन इत्यादि का सम्पूर्ण ज्ञान ईश्वर ने वेदों में ही दिया है। और इस सत्य को हम कदापि न भूलें। कर्मयोगी श्रीराम अथवा योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा व्यास, कपिल, गुरु वसिष्ठ आदि पूर्व के सभी पूर्ण योगी एवं आज भी जो कोई पूर्ण योगी है, उसके हृदयाकाश में **योग शास्त्र सूत्र २/१-"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः"** तथा **अथर्ववेद मन्त्र ६/६(१)/१,२** के अनुसार हृदय आकाश एवं रोम-रोम में ईश्वर सहित चारों वेद प्रकट हुए हैं। यही ब्रह्माण्ड का कटु सत्य है जिसे आज स्वार्थी सन्त और वेद विरोधी गुरु कठिन कहकर त्याग चुके हैं और अपनी इच्छा पूर्ति में लगे हुए हैं। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने **"कर्म"** शब्द का **भाव गीता श्लोक ३/१५** के अनुसार योग विद्या के लिए वेदों से उत्पन्न कर्म कहे हैं। याज्ञवल्क्य स्मृति में याज्ञवल्क्य ऋषि स्पष्ट कहते हैं- **"हिरण्यगर्भः योगस्य वक्ता"** अर्थात् स्वयं प्रकाशक ईश्वर ही योग विद्या का वक्ता है और यह विद्या ईश्वर ने वेदों में कही है।

सामवेद में यह कहा है कि जैसे धूल और गन्दगी से भरे घोड़े को नदी में नहलाते हैं तो वह स्वच्छ हो जाता है इसी प्रकार वेदों में कहे यज्ञ आदि कर्मों को करने से वातावरण, शरीर, इन्द्रियाँ एवं अन्तःकरण सभी धुलकर पवित्र हो जाता है। ऊपर कहे **योगशास्त्र सूत्र २/१** में तप एवं स्वाध्याय इत्यादि का अर्थ पीछे के श्लोकों में भी कह दिया गया है कि वेदों का सुनना, यज्ञ करना, ईश्वर पर पूर्ण भरोसा करना, पुनः यम, नियम आदि अष्टाँग योग विद्या की साधना करना वेदों में कहे शुभ कर्म हैं। इसी भाव को सूक्ष्म रूप से प्रदर्शित करते हुए श्रीकृष्ण महाराज योगविद्या पर चलने की इच्छा रखने

वाले मुनि के लिए ऊपर कहे वैदिक कर्म करने को कह रहे हैं। **"मुनेः"** शब्द कहकर श्रीकृष्ण महाराज पुनः वेदों का मनन करने वाले पुरुष के लिए **"योगम् आरुरुक्षोः"** योग विद्या के पथ पर चलने की बात कह रहे हैं और जो मुनि नहीं हैं उनके लिए नहीं कह रहे हैं। इस प्रकार गीता के श्लोक का अर्थ जानना हर किसी पर लागू नहीं होता, उसमें वेद मन्त्रों का रहस्य है जिसे प्रथम जानना आवश्यक है। पुनः श्रीकृष्ण महाराज **"योगारूढस्य"** शब्द ऊपर कहे हुए योग साधन (योगकर्म) को सिद्ध करने वाले योगी के विषय में कह रहे हैं। **"आरूढ़"** शब्द का अर्थ है सवार, चढ़ा हुआ, ऊपर बैठा हुआ इत्यादि। अर्थात् जो योग पर आरूढ़ हो गया है अर्थात् जिसने ऊपर कहे वैदिक शुभ कर्म, जिसमें वेदाध्ययन यम, नियम आदि भी हैं, उन सब का अभ्यास करके असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त कर ली है कि ऐसे योगी के लिए ही शम कारण कहा गया है। **मनुस्मृति श्लोक ६/९२** में **"शम"** पद धर्म के दस लक्षणों में से एक कहा गया है। शम का अर्थ है कि आत्मा और मन को सदा धर्म-कर्म में ही लगाए रखना। भाव यह है कि योग पर चलकर जब सिद्धि प्राप्त होती है अर्थात् जीव समाधिस्थ होता है तब उसके मन में बुरे विचार आने समाप्त हो जाते हैं। योगी का अन्तःकरण प्रकृति में लीन हो जाता है। **यजुर्वेद मन्त्र ११/१** का भाव है कि ऐसे योगी की बुद्धि को ईश्वर अपने में युक्त कर लेता है। जिसका भाव इसी वेद के अगले मन्त्र ४ में यह कहा है कि योगी अपने मन और बुद्धि को परमात्मा में युक्त कर देते हैं और नित्य सुखी रहते हैं। ऐसा योगी संकल्प-विकल्प रहित हो जाता है। यही सब कुछ **"शम"** पद का भी अर्थ है कि उसके हृदय में स्थायी शांति विराजमान हो जाती है। 'शम' पद का यह अर्थ अति उत्तम है कि ऊपर कहे योगी के हृदय में कभी भी बुरे विचार उत्पन्न नहीं होते। श्रीकृष्ण महाराज ने इन सबका कारण वस्तुतः इस श्लोक में **"मुनेः योगम् आरुरुक्षोः कर्म कारणम् उच्यते"** अर्थात् वेदानुकूल यज्ञ, तप, स्वाध्याय, ईश्वर पर भरोसा आदि शुभ कर्म कहे हैं। **"मुनेः"** पद का अर्थ वेदों का मनन करने वाला मुनि है। वैसे भी गीता काल में आज के धर्म अथवा धर्मग्रन्थ उदय नहीं हुए थे जिनका कोई मनन करता। चारों वेदों ने भी मुनि शब्द का अर्थ केवल वेदों का मनन् करने वाला मुनि कहा है। गीता ज्ञान देने वाले व्यास मुनि एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण, दोनों ही पूजनीय विभूतियाँ वेद एवं वेद में कही योग विद्या को शब्दों द्वारा मनन करके जीवन के आचरण में लाकर ईश्वर के समान हो चुके थे। अतः अपने महाभारत, भगवद्गीता जैसे सभी सद्ग्रन्थों में वह केवल वेदों के शब्दों का ही प्रयोग करते थे, उनके

पास अन्य कोई विकल्प नहीं था। अतः गीता पद के अर्थ करने वाले को आज भी प्रथम वेदाध्ययन एवं योग साधना के द्वारा वेदमन्त्रों का ज्ञान होना आवश्यक है। अन्यथा अर्थ का सदा अनर्थ होता गया है। पुनः हम इस श्लोक में कहे **"मुनेः"** मुनि पद पर विचार करते हुए आगे बढ़ें कि श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं-हे अर्जुन! वेदों का मनन् करने वाले मुनि के लिए योगविद्या पर आरूढ़ पारंगत होने के लिए वेदों में कहे शुभ कर्मों को कारण कहा है। अर्थात् बिना वेदों में कहे शुभ कर्म किए कोई भी योगी नहीं हो सकता और जैसा कि श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक ३/१५** में कहा कि हे अर्जुन! अब कर्म वेदों से उत्पन्न हुए हैं और वेदों को परमेश्वर से उत्पन्न हुआ जान देखें **यजुर्वेद मन्त्र ३१/७** भी। इस प्रमाण के अनुसार शुभ कर्मों के स्वरूप जानने के लिए कम से कम यजुर्वेद और वास्तव में चारों वेदों का अध्ययन आवश्यक है। शास्त्र कहता है-**"कारणम् अन्तरा न कार्यस्य उत्पत्तिः"** अर्थात् बिना कारण के कोई कार्य नहीं होता अतः प्रत्येक ऋषि-मुनि एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भी इस श्लोक में वैदिक शुभ कर्म करने को ही योगी अथवा संन्यासी बनने का कारण कहा है। अन्यथा कोई योगी संन्यासी नहीं। यहां यह रहस्य प्रकट होता है कि पूर्ण योगी एवं संन्यासी जैसे महान, पवित्र पद को पाने के लिए प्रथम साधक को वेदाध्ययन द्वारा कर्मों के स्वरूप को समझकर उन शुभ कर्मों को करना अति आवश्यक कहा है और इस प्रकार वैदिक शुभ कर्म न करने वाले को योगी अथवा संन्यासी नहीं कहते, ऐसा कह दिया गया है। वस्तुतः श्रीकृष्ण अर्जुन से धर्मयुद्ध करना चाहते हैं। अर्जुन से वैदिक शुभ कर्म रणक्षेत्र में करा भी नहीं सकते। क्योंकि वैदिक शुभ कर्मों में वेदाध्ययन, यज्ञ, आचार्य की सेवा ईश्वर नाम जाप, अष्टाँग योग की कठिन साधना आदि अनेक कर्म सहित अहिंसा भी आती है। तब श्रीकृष्ण द्वारा रणक्षेत्र के बीच में वैदिक शुभ कर्म एवं योग जैसे रहस्य को कहने का क्या प्रयोजन? उत्तर यह है कि श्रीकृष्ण महाराज जो स्वयं योगेश्वर एवं ईश्वर के समान हैं, वह अर्जुन की तीक्ष्ण बुद्धि को समझा रहे हैं कि पूर्ण योगी अथवा संन्यासी भी तुरन्त योगी अथवा संन्यासी नहीं बने हैं। उन्होंने प्रथम वैदिक शुभ कर्म प्रारम्भ किए थे। हे अर्जुन! तू भी उस पद को पाने के लिए प्रथम अपने क्षत्रिय धर्म का पालन करते हुए वेदानुसार ही धर्मयुद्ध कर। यदि युद्ध में वीरगति को प्राप्त हुआ तब भी अगला जन्म संवर जाएगा और यदि जीत गया तो शनैः-शनैः वेदानुसार कर्म करता हुआ अन्त में स्वतः ही पूर्ण योगी एवं संन्यासी बनकर शरीर त्यागेगा और मोक्ष सुख प्राप्त करेगा। अतः केवल गीता को पढ़ सुन रटकर स्वयं

को कोई योगी अथवा संन्यासी घोषित करना अप्रमाणिक होने के कारण कहां तक उचित है? प्रत्यक्ष में श्रीकृष्ण यहां योगी अथवा संन्यासी बनने के लिए वैदिक कर्मों को कारण कह रहे हैं। पुनः केवल ज्ञान में भी मुक्ति नहीं है कर्म आवश्यक है।

श्रीकृष्ण उवाच–

"यदा हि नेन्द्रियार्थेशु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।"

गीता श्लोक ६/४

(यदा) जब योगी **(इन्द्रियार्थेषु)** इन्द्रियों से उपजे सुखकारी भोगों में **(न)** नहीं **(अनुषज्जते)** आसक्त होता और **(न)** न **(कर्मसु)** कर्मों में **(हि)** ही **(अनुषज्जते)** आसक्त होता है **(तदा)** तब वह **(सर्वसंकल्पसंन्यासी)** सम्पूर्ण संकल्पों को त्यागने वाला **(योगारूढः)** योग विद्या पर आरूढ़ अर्थात् संन्यासी **(उच्यते)** कहलाता है।

अर्थः- जब योगी इन्द्रियों से उपजे सुखकारी भोगों में नहीं आसक्त होता और न कर्मों में ही आसक्त होता है तब वह सम्पूर्ण संकल्पों को त्यागने वाला योग विद्या पर आरूढ़ अर्थात् संन्यासी कहलाता है।

भावार्थः- जहाँ **योग शास्त्र सूत्र १/२** में **"चित्त वृत्ति निरोधः"** करने वाले को योगी कहा है, वहाँ गीता ने सब संकल्पों को त्यागने वाले को भी योगी कहा है और संन्यासी भी कहा है। अतः गीता के अनुसार भी योग एवं संन्यास में कोई अन्तर नहीं है जैसा कि ऊपर **श्लोक ६/२** में भी कहा है।

पिछले श्लोक में कहा ऐसा गुणवान योगी इन्द्रियों के कर्मों में कभी आसक्त नहीं होता। इस विषय में **योगशास्त्र सूत्र ४/३०** ने बड़ा सुन्दर कहा है कि प्रकृति से रचित संसार के सभी पदार्थ भोग तथा मोक्ष सिद्धि के लिए कार्य करते हैं। अर्थात् जिसके हृदय में वैदिक भक्ति का बीज स्थापित नहीं होता, उसके लिए प्रकृत्ति के पदार्थ काम, क्रोध, मद, लोभ, धन-सम्पदा और विषय-विकार, खाना-पीना इत्यादि भोग सामग्री जुटाने में लगे रहते हैं और जीवात्मा इनमें फँसकर नरकगामी हो जाती है। परन्तु ब्रह्मप्राप्ति के इच्छुक पुरुष के लिए प्रकृति के पदार्थ उसे समाधि अवस्था (ब्रह्म लीन अवस्था) तक

पहुंचाने के लिए कार्य करते हैं और इस प्रकार **योग शास्त्र सूत्र ४/३१ एवं ३२** के अनुसार प्रकृति के तीनों गुण योगी के लिए कार्य करना बन्द कर देते हैं अर्थात् रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण और इनसे उत्पन्न इन्द्रियाँ तथा अनेक विश्व के सुखों को देने वाले भोग पदार्थ योगी पर असर नहीं डालते। इसी वैदिक ज्ञान को योगेश्वर श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत श्लोक में **"इन्द्रियार्थेषु अनुषज्जते"** तथा **"न कर्मसु अनुषज्जते"** अर्थात् ऐसा योगी न तो इद्रियों के सुख भोग में और न ही कर्म में आसक्ति रखता है। विशेष कारण यही है कि वह वेदाध्ययन, यज्ञ आदि वैदिक कर्म तथा अष्टाँग योग साधना जैसे कठोर शुभ कर्मों को करके **योगशास्त्र सूत्र ४/३०** के अनुसार धर्ममेघ समाधि (असम्प्रज्ञात समाधि) प्राप्त करके क्लेश और कर्मों को पूर्णतः नाश कर चुका होता है। ऐसे योगी की सभी इच्छाएँ, संकल्प-विकल्प शून्य हो जाते हैं और इस अवस्था में उनके किए स्वाभाविक कर्म भी **योगशास्त्र सूत्र ४/७** के अनुसार फलरहित हो जाते हैं।

वस्तुतः यह सब उपर्युक्त तीनों गीता के श्लोक योगी के गुणों का व्याख्यान कर रहे हैं और यह गुण ऊपर कहे वैदिक शुभ कर्म करके तथा तैत्तिरियोपनिषद् में भी कहे सत्य, तप, दम, शम आदि शुभ कर्मों द्वारा ही अन्तःकरण में प्रकट होते हैं। केवल पढ़, सुन, रटकर व्याख्यान करना पाप वृत्ति को बढ़ावा देना है।

श्रीकृष्ण उवाच–

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।"

(गीता श्लोक ६/५)

(आत्मना) आत्मा के द्वारा **(आत्मानम्)** आत्मा अपना **(उद्धरेत्)** उद्धार करे **(आत्मानम्)** आत्मा का **(न)** नहीं **(अवसादयेत्)** पतन होने दे। **(हि)** क्योंकि **(आत्मा)** आत्मा **(एव)** ही **(आत्मनः)** आत्मा का **(बन्धुः)** बन्धु है तथा **(आत्मा)** आत्मा **(एव)** ही **(आत्मनः)** आत्मा का **(रिपुः)** शत्रु है।

अर्थः- आत्मा के द्वारा आत्मा अपना उद्धार करे आत्मा का नहीं पतन होने दे। क्योंकि आत्मा ही आत्मा का बन्धु है तथा आत्मा ही आत्मा का शत्रु है।

भावार्थः- सम्पूर्ण गीता में श्री कृष्ण महाराज द्वारा वेदों से लिया ज्ञान ही कहा गया है। अतः इसमें वेदों से अलग गीता ग्रंथ का स्वयं का ज्ञान नहीं है। सम्पूर्ण गीता-ग्रंथ सनातन वैदिक प्रवचन है। प्रस्तुत श्लोक का भाव भी **अथर्ववेद मंत्र ८/१/६** से लिया गया है जिसमें कहा **"पुरुष ते उद्यानम्"** अर्थात् शरीर रूपी-पुरी में रहने वाले जीवात्मा तेरी उन्नति ही हो। **'न अवयानम्'**-तेरी अवनति कभी न हो। **"अमृतम् सुखम् रथम्"**-अर्थात् हे जीवात्मा तू अविनाशी है अतः अविनाशी सुख को प्राप्त करने के लिए इस इन्द्रियों वाले शरीर रूपी रथ पर आरोहण कर इत्यादि। इन्हीं भावों से युक्त प्रस्तुत श्लोक में श्री कृष्ण महाराज जी कह रहे हैं कि **"आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्"** अर्थात् जीवात्मा अपने द्वारा स्वयं उद्धार करे। भाव स्पष्ट है कि पंच भौतिक शरीर तो जड़ है यह अपने आप कुछ नहीं कर सकता। ऊपर अथर्ववेद के मंत्र में शरीर को रथ कहा है। जीवात्मा इस शरीर रूपी रथ का स्वामी है-मालिक है। जीवात्मा को ईश्वर ने यह शरीर देकर अच्छा-बुरा कर्म करने के लिए स्वतंत्र किया है। जीवात्मा चेतन है। जीवात्मा ने ही जड़ शरीर से अपनी इच्छा के अनुसार काम लेना है यही जीवात्मा का स्वयम् के द्वारा स्वयम् का उद्धार करना कहा है। यदि जीवात्मा देव वृत्ति के वैदिक ज्ञान से ओत प्रोत विद्वानों का संग प्राप्त करना पसंद करता है तब तो वह इस शरीर की इन्द्रियों से वैदिक शुभ कर्म, गृहस्थ के कर्त्तव्य आदि करता हुआ जन्म-जन्मान्तरों के पाप कर्मों को नाश करके स्वयं का उद्धार कर लेता है। अन्यथा अगले पद में श्री कृष्ण महाराज ने कहा **"आत्मानम् न अवसादयेत्"** अर्थात् जीवात्मा प्रकृति रचित संसार के विषय-विकारों में आकर्षित होकर इस जीवन में भी पिछले जीवन के अनुसार पाप-कर्मों का बोझ और अधिक लादकर अपने को **"जीवात्मा को"** अवगति-पतन की ओर न ले जाए। आगे का इस श्लोक का भाव स्पष्ट है कि यदि जीवात्मा शरीर से इस प्रकार उक्त शुभ वैदिक कर्म कराता है तो वह स्वयं का मित्र है-बंधु है। और यदि संसार की माया में आकर्षित होकर पाप कर्म करता है तो वह अपने आप स्वयं का शत्रु है क्योंकि पाप कर्मों का फल अधोगति अर्थात् मनुष्य योनि से हटकर नीच योनियों में जाकर दुःख उठाता है। जीवात्मा जब विद्वानों का संग और धर्माचरण नहीं करता तब उसे पाप कर्म अच्छे लगते हैं और इस प्रकार जीवात्मा मन रूप माया से आकर्षित होकर अर्थात् माया में फँसकर स्वयं के शरीर से पाप कर्म करता है, यही उसका स्वयम् के प्रति शत्रु होना कहा है।

अथर्ववेद मंत्र १०/७/३६ का भाव है कि वेदों के ज्ञाता विद्वान् हाथ, पैर, वाणी,

श्रोत्र व आँख आदि सब शरीर के अंगों को ईश्वर की पूजा में अर्पित करते हैं। **सामवेद मंत्र ४५२** का स्पष्ट भाव है कि जीवात्मा समस्त इन्द्रियों सहित सुख को सिद्ध करे अर्थात् जीवात्मा मनुष्य शरीर धारण करके स्थायी आत्मिक सुख प्राप्त करे जिसके लिए जीवात्मा समस्त इन्द्रियाँ एवं शरीर को वैदिक शुभ कर्म में सदा लगाए रखे और अगले ही मंत्र में यह कहा है कि जिस तरह नदी लगातार बहती रहती है उसी प्रकार जीवात्मा पुरुषार्थ से लगातार विद्यारूपी धन को प्राप्त करके आत्मिक सुख प्राप्त करे। **अथर्ववेद मंत्र ४/१४/१** में जीवात्मा को अपने शुद्ध चेतन अविनाशी स्वरूप को जानने के लिए अपने ऊपर रज, तम एवं सतोगुण से उत्पन्न माया को दूर हटाने के लिए कहा है। शरीर से शुभ कर्म-साधना इत्यादि करके इन तीनों गुणों रूप माया को हटाना ही जीवात्मा का मनुष्य चोले में प्रयोजन है। फलस्वरूप ही जीवात्मा मनुष्य चोले में उन्नत होकर अर्थात् ईश्वर को प्राप्त करके देवत्त्व पद पर आसीन होता है। और पुनः कहा की तब प्रभु कृपा से जीवात्मा **"रोहान् रुरुहुः"** अर्थात् उन्नति के शिखरों पर चढ़ता चला जाता है। अन्यथा अधोगति-त्रियक्योनी अर्थात् जीवित भी दुःखी रहता है और मृत्यु के पश्चात मनुष्य चोला छोड़कर पशु-पक्षी आदि योनियों में दुःख उठाता फिरता है।

अतः सुख अथवा दुःख जीवात्मा द्वारा स्वयं शरीर से कराए कर्मों का फल है। वैदिक ज्ञान न होने के कारण ही नर-नारी दुःख भोगते समय व्यर्थ एक दूसरे को दोष देते हैं। अतः जीव को ज्ञान प्राप्त करके विद्वान् पुरुष और नारी को विदूषी नारी बनना वेदों में श्रेष्ठ कहा है। अज्ञान के कारण ही आज गृहस्थ, पड़ोस प्रांत और देश एक दूसरे पर आरोप-प्रत्यारोप लगाते हुए लड़ाई, दंगाफसाद, भ्रष्टाचार, हत्याएँ और यहाँ तक की एक देश दूसरे देश से युद्ध लड़कर बेकसूरों की जान ले लेता है। हिरोशिमा पर बम वर्षा हिंसा की चरम सीमा लांघ चुका है। वस्तुतः आत्मज्ञान के बिना संसार में शांति कहाँ हो सकती है? और शरीर द्वारा वैदिक शुभ कर्म किये बिना आत्मज्ञान कैसे हो सकता है? पुनः कैसे रामराज्य की स्थापना का स्वप्न देखा जा सकता है। याद रहे कि केवल वेद-विद्या पर आधारित महाराज दशरथ और श्री रामचन्द्रजी आदि विभूतियों का राज्य सम्पूर्ण पृथिवी पर था न कि केवल भारतवर्ष पर, जिसमें सम्पूर्ण विश्व में शांति ही शांति दृष्टिगोचर होती थी। और मानसिक क्लेश, हवाई तथा जल आदि की बाढ़ एवं भूकम्प आदि कभी नहीं आते थे जिनका प्रमाण वाल्मीकि रामायण, तुलसीकृत रामायण, महाभारत आदि पुरातन ग्रन्थों में मिलता है। आज वैदिक ज्ञान फैलाकर सबको विश्व शांति की

कामना करनी चाहिए।

श्रीकृष्ण उवाच –

"बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत्।।"

(गीता श्लोक ६/६)

(तस्य) उस **(आत्मनः)** आत्मा का **(आत्मा)** स्वयं वह आत्मा **(एव)** ही **(बन्धुः)** मित्र है **(येन)** जिस **(आत्मना)** आत्मा के द्वारा अर्थात् स्वयं के द्वारा **(आत्मा)** अपना आत्मा अर्थात् स्वयं को **(जितः)** जीता हुआ है **(तु)** किन्तु **(अनात्मनः)** आत्मा के द्वारा आत्मा को नहीं जीता वह **(आत्मा)** आत्मा **(एव)** ही **(शत्रुवत्)** अपने से शत्रु के समान **(शत्रुत्वे)** शत्रुता में **(वर्तेत)** वर्तता अर्थात् व्यवहार करता है।

अर्थः- उस आत्मा का स्वयं वह आत्मा ही मित्र है जिस आत्मा के द्वारा अर्थात् स्वयं के द्वारा अपना आत्मा अर्थात् स्वयं को जीता हुआ है किन्तु आत्मा के द्वारा आत्मा को नहीं जीता, वह आत्मा ही अपने से शत्रु के समान शत्रुता में वर्तता अर्थात् व्यवहार करता है।

भावार्थः- आत्मा का यहाँ अर्थ जीवात्मा है, आत्मा का यहाँ अर्थ परमात्मा नहीं है। आत्मा आत्मा का (स्वयं स्वयं का) ही यहाँ बन्धु है और आत्मा आत्मा का ही शत्रु है। श्लोक में यह भाव तो निकल ही रहा है कि जीवात्मा जब शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि आदि से योगाभ्यास, यज्ञ, वेदाध्ययन आदि शुभ कर्म कराकर इन्द्रियों का गुलाम नहीं रहता और अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है अर्थात् अपने शुद्ध, चेतन, अविनाशी स्वरूप में स्थित हो जाता है, ऊपर कहे गए साधन विशेष द्वारा योग शास्त्र में कही **"विवेकख्याति"** अर्थात् अपने को बुद्धि एवं शरीर से अलग अनुभव कर लेता है तब समझो कि जीवात्मा ने अपना भला कर लिया है, मनुष्य जन्म सफल कर लिया है। मित्र वह है जो अपना भला जानता है। अतः इस प्रकार जब जीवात्मा संसार में मनुष्य का शरीर पाकर ऊपर कहे साधन विशेष द्वारा इन्द्रियों को जीतकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है तो निश्चय ही वह अपने आपका, अपने आप ही मित्र है क्योंकि जीवात्मा इस अवस्था में ईश्वर को

भी जान जाता है और जीवन के सभी दुःखों का, पिछले सभी संचित कर्मों का नाश करता हुआ, ईश्वर को भी पाकर मोक्ष सुख प्राप्त कर लेता है और जन्म-मृत्यु के घोर दुःखों के सागर में पुनः डूबने, जन्म लेने और मरने नहीं आता।

वास्तव में वेद विद्या का ज्ञान, यज्ञ की कमी, वैदिक विद्वानों की कमी एवं योगाभ्यास में रूचि समाप्त प्रायः होने के कारण वेदविरोधी सन्त एवं समाज स्वयं अपने आपका दुश्मन होता जा रहा है क्योंकि वह अनादि वैदिक साधना से रहित होता हुआ, ईश्वर के नाम की आड़ में, भौतिकवाद की चमक-दमक में फँसा, धन, विषय आदि सामग्री को एकत्र करने में लगा अविद्या ग्रस्त होता जा रहा है। अतः निश्चित ही ऐसा जीवात्मा स्वयं अपने आप (जीवात्मा) का बैरी हो चुका है। इस प्रकार जीवात्मा त्रिगुणी प्रकृति के पदार्थों में फँसा अज्ञानवश भौतिक पदार्थों में सुख मानकर स्वयं से दुश्मनों जैसा व्यवहार कर रहा है जिसे श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ **"शत्रुवत् शत्रुत्वे वर्तेत"** अर्थात् ऐसा इन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत संसार के विषय विकारी भोगों एवं पदार्थों में फँसा स्वयं से शत्रु के समान शत्रुता जैसा व्यवहार करता है क्योंकि अज्ञानवश यह उसकी अपनी इच्छा है जोकि नहीं होनी चाहिए थी। **अथर्ववेद मन्त्र ६/१०/१५** में ईश्वर ने यह समझाया है कि जीवात्मा यह कहता है **"यदि वा इदम् अस्मि"** अर्थात् यदि मैं यह हूँ या कुछ और हूँ। अर्थात् मैं क्या हूँ? **"न विजानामि"** मैं स्वयं को नहीं जानता क्योंकि मैं **"निण्यः"** ढका हुआ हूँ। **"मनसा सन्नद्ध चरामि"** मन से सम्बन्ध होकर अर्थात् मन के अधीन होकर मैं संसार में विचरण कर रहा हूँ। **"यदा मां ऋतस्य"** जब ईश्वर कृपा से मुझे अनादि सत्य विद्याओं का ज्ञान देने वाली **"प्रथमजाः आगन्"** प्रथमजाः=प्रथम+जाः। प्रथम का अर्थ है सृष्टि के सबसे पहले और **जाः** का अर्थ है जन्म लेने वाली। **'आगन्'** का अर्थ है प्राप्त होती है। अर्थात् सृष्टि के आरंभ में ईश्वर द्वारा उत्पन्न अनादि वेद विद्या प्राप्त होती है।

यजुर्वेद मन्त्र ३१/७ में यह चारों वेदों का कहा हुआ सत्य है कि पृथिवी के आरम्भ में ईश्वर द्वारा चारों वेदों की वाणी ही चार ऋषियों के हृदय में प्रकट होती है। **"ऋत्"** अर्थात् अविनाशी वाणी को सुनकर अन्य नर-नारी विद्वान् होते जाते हैं और उसके पश्चात ही ऋषियों द्वारा छह शास्त्र, उपनिषद् आदि अन्य ग्रन्थ लिखे गए हैं। अतः ऊपर **अथर्ववेद मन्त्र ६/१०/१५** में कहा कि यदि ईश्वर कृपा से पृथिवी के आरम्भ में ऋषियों के हृदय में

उत्पन्न होने वाली वेदवाणी का ज्ञान मुझे प्राप्त हो जाता है तो **"आत् इत्"** शीघ्र ही **"आस्यः"** इस वेदवाणी के द्वारा मैं **"भागम्"** अर्थात् सेवनीय आत्मज्ञान को अर्थात् विद्या द्वारा स्वयं के स्वरूप को एवं ईश्वर के स्वरूप को **"अश्नुवे"** प्राप्त कर लेता हूँ।

अतः हम पृथिवी के इस सत्य को जानें कि मन आदि इन्द्रियों के वश में होकर जो हम अपने स्वरूप को भूले हुए हैं और संसार के पदार्थों में फँसकर अन्य किसी का इतना बुरा नहीं करते अपितु अपने को ही नर्क में धकेलने का कार्य करके, अपने से ही शत्रुता का व्यवहार कर रहे हैं। इस परिस्थिति से निकलने के लिए और मन आदि इन्द्रियों को वश में करने के लिए तथा अपने एवं ईश्वर के स्वरूप को जानकर मोक्ष सिद्धि के लिए चारों वेदों में कही सब सत्य विद्याओं को जानें। वेदों में कहे शुभ कर्म, यज्ञ, नाम स्मरण एवं योगाभ्यास आदि का ज्ञान विद्वान् गुरु से ग्रहण करके मृत्यु को जीतें। अतः जब ऊपर कहे वेदाध्ययन एवं साधना द्वारा, मन इन्द्रिय आदि को जीत कर जीवात्मा **इन्द्रियों से शुभ कर्म, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि योगशास्त्र सूत्र २/१** आदि के अनुसार कर्म करता है, विद्वानों का संग एवं धर्माचरण करता है तब वह स्वयं अपना भला चाहने वाला मित्र है। इसके विपरीत वह स्वयं का ही शत्रु है।

श्रीकृष्ण उवाच–

"जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।"

(गीता श्लोक ६/७)

(शीतोष्णसुखदुःखेषु) सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःखादि में **(तथा)** तथा **(मानापमानयोः)** मान और अपमान में **(प्रशान्तस्य)** जिसका चित्त पूर्णतः अच्छी तरह शान्त है **(जितात्मनः)** जो विजयी आत्मा है अर्थात् जिसने प्रकृति के विकारों पर विजय प्राप्त की है **(समाहितः)** जो योगाभ्यास के पश्चात परमात्मा में स्थित है- समाधिस्थ है, उसमें **(परमात्मा)** परमात्मा प्रकट है।

अर्थः– सर्दी-गर्मी एवं सुख-दुःखादि में तथा मान और अपमान में जिसका चित्त पूर्णतः अच्छी तरह शान्त है, जो विजयी आत्मा है अर्थात् जिसने प्रकृति के विकारों पर विजय

प्राप्त की है, जो योगाभ्यास के पश्चात परमात्मा में स्थित है- समाधिस्थ है, उसमें परमात्मा प्रकट है।

भावार्थः- पुनः यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने ब्रह्मस्थित योगी के गुणों का वर्णन प्रारम्भ कर दिया है। वस्तुतः देखना यह है कि कोई भी केवल गीता को पढ़कर, रटकर अथवा पढ़-सुन रटकर उसका व्याख्यान करके यह मान-अपमान, सर्दी-गर्मी में समान रहने वाली स्थिति अर्थात् ब्रह्मलीनता वाली स्थिति कभी नहीं ला सकता। ऐसा करना प्रायः कई सन्तों द्वारा व्यवसाय हो गया है। जब हम वेदाध्ययन करते हैं तथा योगशास्त्र की तरफ निहारते हैं तब ज्ञात होता है कि प्रथम वेदाध्ययन तथा पश्चात जिसका यम, नियम और आसन, अभ्यास द्वारा सिद्ध होने लगता है, उसे ही सर्दी-गर्मी का प्रकोप नहीं व्याप्ता, अन्य को तो व्यापेगा ही। अब देखना है कि कितने सन्त या उनके शिष्य यम-नियम में जो वेदाध्ययन है, सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि गुण हैं और आसन लगा लगाकर सुख प्राप्त करने की अवस्था प्राप्त करना है, यह सब प्राप्त कर जाते हैं। स्पष्ट है कि बिरला ही कोई ऐसा अभ्यास कर पाते हैं। अन्य कई व्यवसायी सन्त तो ए.सी. कार, ए.सी. वातानुकूल बंगले, ए.सी. होटल, ए.सी. आश्रमों में रहते हैं और दुनिया को गीता आदि शास्त्र सुना-सुनाकर कहीं ठगते तो नहीं है, इस तरफ सबको ध्यान देना होगा।

योग शास्त्र सूत्र २/४६ में आसनों के भेद कहे हैं जिसकी व्याख्या में व्यास मुनिजी ने कहा है कि यह सब आसन अभ्यास द्वारा सिद्ध करने पर सुख देने वाले हैं। अर्थात् जब पद्मासन आदि का अभ्यास करते-करते सर्दी-गर्मी और बैठने से पैर इत्यादि में कोई कष्ट अनुभव न हो तो समझो आसन की सिद्धि हो गई है। अब यह मीठी-मीठी बातें अथवा कथा-कहानी सुनाने से तो होगी नहीं। यम-नियम को सिद्ध करने के बाद आसन के अभ्यास करने से ही सिद्धि होगी। यह बहुत दुर्भाग्य है कि टी.वी. पर कथा-कहानियाँ सुनाकर, आसन आदि की बातें करके जनता को लोभ में डालकर आसन आदि एवं योग द्वारा रोगों का नाश करने की बात कही जाती है जो कि वेद विरुद्ध है। **यजुर्वेद मन्त्र ११/१** में यही उपदेश है कि आत्मिक सुख एवं परमेश्वर को जानने के लिए साधक यम, नियम, आसन आदि अभ्यास में परिपक्व होए। अगले ही मन्त्र में कहा कि फलस्वरूप ही योगी योगाभ्यास द्वारा **"स्वर्ग्याय ज्योतिः आभरेम"** अर्थात् आत्मिक सुख

के लिए ईश्वर प्राप्ति के लिए आत्म प्रकाश को धारण करते हैं और जो ऐसा योगाभ्यास नहीं करते, वह शांति को क्यों धारण करेंगे चाहे कितने भी सत्संग सुनें।

"सत्यं वद धर्मम् चर" यह **तैत्तिरियोपनिषद श्लोक ११/१** के वचन हैं जिसके अनुसार विशेषकर अपने को योगी, सन्त, गुरु आदि कहने वाले पुरुष/नारियों को अपने अन्तःकरण का निरीक्षण करके सत्य बोलना चाहिए कि क्या वह वेदाध्ययन, योगाभ्यास, यज्ञ, आदि के अभाव में, **श्वेताश्वतरोपनिषद श्लोक २/१२,१३ के** अनुसार, निरोग होकर सदा आनन्द की अनुभूति करता है और उसके शिष्य श्रोता भी ऐसी ही अनुभूति करते हैं? अथवा निरोगता, मृत्यु को जीत लेना व आनन्द आदि विषयों को केवल पढ़-सुन रटकर वह भाषण ही करते हैं। इस **श्वेताश्वतरोपनिषद श्लोक २/१२ एवं १३** का भाव है कि पांचों महाभूतों को सिद्ध करने वाले योगी का शरीर योग की अग्नि से चमक उठता है, उसे रोग, जरा और मृत्यु नहीं सताती, शरीर हल्का हो जाता है, विषयों की लालसा मिट जाती है, स्वर मधुर हो जाता है इत्यादि। अतः **"सत्यम् वद धर्मम् चर"** अर्थात् सदा सत्य बोलो और वेदानुसार धर्म अर्थात् कर्त्तव्य-कर्मों को करो, इन वचनों का पालन करते हुए सब सन्त-गुरु, शिष्य आदि को स्वयं का निरीक्षण करना चाहिए कि सत्य क्या है। ऋग्वेद में एक वचन है कि योगी, विद्वान आदि स्वयं की प्रशंसा से सदा दूर रहें और अपने अन्दर देखें कि कहीं उनके अन्दर चोर तो नहीं छिपा बैठा। यही नियम शिष्यों और श्रोताओं पर भी समान रूप से लागु होता है। ऋग्वेद के इन वचनों के संदर्भ में कबीरजी की यह वाणी भी हृदयांगम करने योग्य है:-

"बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलिया कोए
जो दिल खोजूँ आपनों मों सों बुरा न कोए।।"

श्रीकृष्ण महाराज ने भी उक्त श्लोक में योगी के ही गुण का वर्णन किया है कि असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगी सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, मान तथा अपमान में शान्त अन्तःकरण वाला तथा विकार रहित होता है। अर्थात् इन सभी परिस्थितियों में उसके हृदय में शंका, क्रोध आदि कोई भी वृत्ति जाग्रत नहीं होती। वह **"जितात्मनः"** है अर्थात् आत्मा पर उसे विजय प्राप्त है। आत्मा पर विजय प्राप्त का भाव है कि वह अपने आत्मिक स्वरूप में स्थित है। आत्मा जीवात्मा का स्वरूप **सांख्य शास्त्र सूत्र १/१६** के अनुसार भी नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है। अर्थात् अविनाशी, सदा एक रस रहने वाला, चेतन एवं

मुक्त है। परन्तु प्रकृति के विकारों (माया) की ओर आकर्षित होकर अपने स्वरूप को भूल गया है। अतः वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास, धर्माचरण, एवं नित्य वेदों के ज्ञाता विद्वानों के संग रूपी तप से तपा (**तपसा तप्यध्वम्-यजुर्वेद मन्त्र १/१८**) हुआ, प्रकृति के गुणों पर विजय प्राप्त करता हुआ कोई बिरला योगी ही **'जितात्मनः'** पद पर सुशोभित होता है। अतः वेद एवं गीता का भाव है कि कर्म, ज्ञान एवं उपासना रूपी तप में तपो और **'जितात्मनः'** पद प्राप्त करो। केवल पढ़-सुन रटकर बोलने अथवा सुनने से क्या लाभ होगा? आचरण ही श्रेष्ठ पुरूषार्थ है-कर्म है। श्लोक में **"समाहितः"** पद असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त योगी के लिए आया है जिसके गुणों का व्याख्यान ऊपर किया जा रहा है। पुनः श्लोक में **"मानापमानयोः"** अर्थात् मान तथा अपमान में भी ऐसा योगी शान्त चित्त रहता है। क्योंकि वह प्रकृति के गुणों को वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि द्वारा की साधना से जीत चुका होता है अतः जितेन्द्रिय पुरुष होता है। ऐसे पुरुष के समक्ष जब मान-प्रशंसा आदि होगी तब वह हर्षित नहीं होगा और अपमान-निन्दा आदि होने पर दुःखी नहीं होगा। विपरीत में चाहे कोई स्वयंभू योगी, साधु, सन्त, गुरु, योगिनी आदि हो क्योंकि वह वेद-शास्त्र, योगाभ्यास आदि अनेक साधना-तप से रहित तो फलस्वरूप समयानुसार उनके अन्दर से स्वतः ही काम- क्रोध, मद, लोभ, अहंकार, निन्दा, कटु भाषा आदि का जखीरा शिष्यों के प्रति एवं समाज के प्रति बह निकलेगा, उसे वह लाख छुपाने पर भी रोक नहीं पाएँगे।

सामवेद मन्त्र ७६२ का भाव है कि ऊपर कहे हुए तपस्वी/योगी के हृदय में ही ईश्वर प्रकट होता है, अन्य साधना से हीन व्यक्ति के हृदय में ईश्वर प्रकट नहीं होता।

यजुर्वेद मन्त्र ११/५ में ईश्वर ने ज्ञान दिया है कि हे योगी! तू ईश्वर की वेदमन्त्रों से स्तुति, प्रार्थना, उपासना इस प्रकार कर जैसे कि पूर्व के योगियों ने करके ब्रह्म को अपने अन्दर प्रत्यक्ष किया था। इसी मन्त्र का भाव ऊपर श्लोक में **"परमात्मा समाहितः"** कहकर किया है। अर्थात् परमात्मा ऐसे ही तपस्वी योगी के अन्दर समाधि में प्रत्यक्ष होता है, अन्य के नहीं। मन्त्र का आगे यह भाव है कि जो ईश्वर को योगाभ्यास द्वारा समाधि में जानने वाले वेद एवं योगविद्या के ज्ञाता, आप्त विद्वानों का संग नहीं करते, उन्हें कभी शांति प्राप्त नहीं होती। पुनः मन्त्र का यह भाव है कि ऐसे विद्वानों के संग एवं योगाभ्यास के बिना कोई भी मनुष्य पवित्र नहीं हो सकता और मान-अपमान से परे भी कदापि नहीं

हो सकता। अतः सब मनुष्य वेदाध्ययन एवं योग विधि द्वारा ही ईश्वर की उपासना करें। **ऋग्वेद मन्त्र १/१४०/११** में कहा कि वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास के फलस्वरूप ही जीव मान-अपमान, सुख-दुःख में समान होता हुआ, पवित्र अन्तःकरण वाला होता है। यही भाव प्रस्तुत श्लोक में **"शीतोष्णसुखदुःखेषु"** तथा **"मानापमानयोः प्रशान्तस्य"** कहकर श्रीकृष्ण महाराज ने उद्धृत किए हैं। अतः सम्पूर्ण गीता वैदिक प्रवचन है। हम केवल गीता ही नहीं अपितु गीता की सहायता से अर्थात् गीता वेद विद्या की व्याख्यान कर रही है, इस सत्य को समझकर चारों वेदों का अध्ययन एवं चारों वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या को आचरण में लाकर परम शांति को प्राप्त करें और वेद विरुद्ध अविद्वानों की मीठी हँसी वाली बातें, चुटकुलेबाजी अथवा रसीली कथा-कहानियों में फँसकर जीवन बर्बाद न करें। चारों वेद और गीता आदि सभी पुरातन ग्रन्थों का यही निचोड़ समझें कि ज्ञान तो वेद एवं अष्टाँग योग विद्या के ज्ञाता समाधिस्थ पुरुष से ही प्राप्त होता है। फलस्वरूप ही वेदों के विद्वान् मुनि व्यास एवं योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ही गीता जैसे ज्ञान को देने में समर्थ हुए हैं।

श्रीकृष्ण उवाच –

"ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।"

(गीता श्लोक ६/८)

(ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा) शब्द ब्रह्म द्वारा जड़-चेतन के स्वरूप का ज्ञाता और असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था प्राप्त करके जिसने ईश्वर को प्रत्यक्ष किया है **(कूटस्थः)** विकार रहित, चंचलता रहित एवं ब्रह्म में स्थित है **(विजितेन्द्रियः)** पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि जिसके वश में हैं **(समलोष्टाश्म काञ्चनः)** सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ से जिसे वैराग्य है और इस प्रकार मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण जिसकी नजर में एक समान हैं, वह **(योगी)** योगी **(युक्तः)** योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में स्थित है **(इति)** ऐसा **(उच्यते)** कहते हैं। अर्थात् इन सब गुणों को आचरण में लाने वाले को ही योगी कहते हैं।

अर्थः- शब्द ब्रह्म द्वारा जड़-चेतन के स्वरूप का ज्ञाता और असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था

प्राप्त करके जिसने ईश्वर को प्रत्यक्ष किया है, विकार-रहित, चंचलता रहित एवं ब्रह्म में स्थित है, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन, बुद्धि जिसके वश में है, सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ से जिसे वैराग्य है और इस प्रकार मिट्टी, पत्थर और स्वर्ण जिसकी दृष्टि में एक समान हैं, वह योगी योगाभ्यास द्वारा ब्रह्म में स्थित है, ऐसा कहते हैं।

भावार्थः- ज्ञान का अर्थ **"शब्द ब्रह्म"** एवं विज्ञान का अर्थ **"परब्रह्म का अनुभव"** है। पुनः ज्ञान का अर्थ है जड़ चेतन का ज्ञान। अर्थात् परमेश्वर एवं प्रकृति तथा प्रकृति रचित संसार के जड़ पदार्थों का तथा जीवात्मा का ज्ञान। परमेश्वर एवं जीव चेतन भिन्न भिन्न तत्व हैं और संसार के पदार्थ जड़ हैं। शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदाध्ययन द्वारा पृथ्वी के समस्त पदार्थ, जड़-चेतन का ज्ञान, परमात्मा, जीवात्मा एवं प्रकृति के स्वरूप का ज्ञान होना, इसे ही इस श्लोक में ज्ञान कहा है। शब्द ब्रह्म वेदाध्ययन के ज्ञान के पश्चात् वेदों में कहे रास्ते पर चलना और इस प्रकार अष्टाँग योग की साधना करते हुए स्वयं में ब्रह्म का साक्षात्कार करना, इसे यहां विज्ञान कहा है। **"कूटः"** शब्द का अर्थ है **"निश्चल"** अर्थात् विकारो में फंसकर चित्त चंचल न होना। **"समलोष्टाश्मकाञ्चनः"** में तीन शब्द हैं-लोष्ट, अश्म, काञ्चन जिनके अर्थ हैं, लोष्ट-मिट्टी, अश्म-पत्थर, एवं काञ्चन-स्वर्ण को कहते हैं। अतः श्लोक का अर्थ स्पष्ट है कि जिस साधक ने ब्रह्मचर्य आदि कठोर नियम धारण करके वेदाध्ययन किया है और वेदाध्ययन से उसे ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इन तीन विद्याओं का ज्ञान प्राप्त हुआ तथा यह जाना कि यज्ञ, वैदिक शुभ कर्म एवं अष्टाँग योग की साधना से ईश्वर प्राप्ति निश्चित होती है और उसने यह सब साधनाएँ अपने जीवन में प्रारम्भ कर दीं तथा इस प्रकार अष्टाँग योग की साधना करते-करते उसका चित्त **"कूटस्थः"** निश्चल स्वभाव वाला/विकार रहित/चंचलता रहित हुआ और उसने अपनी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की, (इस प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त की।) इस अवस्था में वह पर वैराग्य को प्राप्त हुआ योगी मिट्टी, पत्थर एवं स्वर्ण को एक ही दृष्टि से देखता है अर्थात् किसी में भी लगाव नहीं रखता, ऐसा समाधिस्थ योगी **"युक्तः"** अर्थात् ईश्वर से जुड़ा है अर्थात् ऐसे योगी में योगाभ्यास के पश्चात् ब्रह्म प्रकट होता है।

पिछले श्लोक ६-७ एवं प्रस्तुत श्लोक में वेद एवं योगशास्त्र आदि द्वारा साधना का स्वरूप कहा गया है। इस प्रकार की साधना के अभाव में तो प्रायः सन्त- साधुओं को मिट्टी के तो घर में भी रहना पसंद नहीं होता। वह बड़े-बड़े संगमरमर के बने सुख

सम्पदाओं से सम्पन्न वातानुकुल आश्रमों में निवास करते हैं। प्रत्यक्ष में तो कहते हैं कि माया किसी का साथ नहीं देगी, धन का लालच मत करो, मिट्टी, पत्थर एवं सोना एक दृष्टि से देखो। परन्तु स्वयं ऐसे सन्त बोरी भर-भर के पैसे एकत्र करते रहते हैं। ऐसा क्यों होता है? उत्तर श्रीमद्भगवद्गीता में ही है कि ऐसे व्यक्ति वेदाध्ययन, योगाभ्यास, यज्ञ, ब्रह्मचर्य आदि कठोर नियमों का पालन करके योगी नहीं बनें अपितु केवल पढ़, सुन, रटकर गीता आदि ग्रन्थ सुनाकर स्वयंभू सन्त अथवा योगी बन गए हैं। सच्चे योगी की प्रशंसा में श्री कृष्ण महाराज उसके गुणों का व्याख्यान करते हुए कह रहे हैं कि वह "कूटस्थः" है। अर्थात् वह योगी विकार रहित ब्रह्म में स्थित है। मिट्टी, पत्थर सोना, चाँदी समस्त संसार के पदार्थ प्रकृति का विकार हैं। योगी इनसे प्रभावित नहीं होता। योग साधना से हीन पुरुष ही इनसे प्रभावित होता है। गीता के श्लोक में दूसरा पद **"विजितेन्द्रियः"** है। जिसका अर्थ है कि योगी श्लोक के अर्थ में कहीं ग्यारह इन्द्रियों को वश में किए होता है। **अथर्ववेद काण्ड ५ एवं ६ के सूक्त १५ एवं १६** में ग्यारह ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों तथा मन का वर्णन है और कहा है कि जब तक सम्पूर्ण ग्यारह इन्द्रियाँ वश में नहीं हैं तो हे जीवात्मा तू **"अरसः असि"** अर्थात् तू नीरस जीवन वाला ही है। जिसकी ग्यारह इन्द्रियां वश में हैं उसी को वेद के ज्ञान के आधार पर योगेश्वर श्री कृष्ण **"विजितेन्द्रिय"** पुरुष कह रह रहे हैं। प्रायः गीता के भाषण करने वाले, गीता के श्लोकों के साथ वेद मन्त्रों का प्रमाण नहीं देते इसका कारण वह ही जानें। प्रायः सभा में अर्थात् सत्संग में एकत्र जनता के सामने कई सन्त अपनी प्रशंसा सुनते रहते हैं। वह प्रशंसा सत्य है या झूठ है वह ही जाने परन्तु ज्ञान, विज्ञान एवं **"विजितेन्द्रिय"** पद पर ऐसे पुरुषों को वेद आसीन नहीं करता। इस विषय में **ऋग्वेद मंत्र १/१७३/१३** मंत्र का अति सुन्दर भाव है कि किसी भी नर-नारी, सन्त आदि को अपने मुख से अपनी प्रशंसा नहीं करनी चाहिए तथा अन्य किसी के द्वारा अपनी प्रशंसा सुन कर आनन्दित नहीं होना चाहिए और न हंसना चाहिए।

पिछले श्लोक ६/७ में एक शब्द **"जितात्मनः"** आया है जिसका अर्थ है आत्मा को जीतने वाला। आत्मा को जीत लेने का भाव है कि जिसने इद्रिय संयम करके अपने चेतन एवं अविनाशी स्वरूप को पिछले श्लोक में कहे मार्ग-वेदाध्ययन, अष्टाँग योग की साधना द्वारा जान लिया है, जिसे **योग शास्त्र सूत्र १/३** में कहा-**"तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्"**

अर्थात् जीवात्मा चित्त वृत्ति निरोध के पश्चात् अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है। इस अवस्था में योगी यह जान लेता है कि वह शरीर नहीं है अपितु शरीर में निवास करने वाली, नित्य चेतन एवं मुक्त स्वभाव युक्त जीवात्मा है। अपने आत्मा कहने से एक तो अपने आप हम कुछ और हैं, ऐसा लगता है और दूसरा जीवात्मा है, जिसे हमने जीत लिया है। तो यह कहना उचित नहीं होगा क्योंकि हम स्वयं ही तो जीवात्मा हैं। इस विषय में **योग शास्त्र सूत्र १/६** की व्याख्या में व्यास मुनि ने इस प्रकार कहा है कि "जैसे कोई कहे पुरुष (जीवात्मा) का चैतन्य स्वरूप है। अब यहाँ विचार किया जाता है कि जब चेतनता ही पुरुष है तब इसमें क्या, किसके द्वारा कहा जाता है अर्थात् किससे किसको पृथक् कह रहे हैं। क्योंकि पुरुष का चेतन्य स्वरूप है, ऐसा कहने में षष्ठी विभक्ति द्वारा पुरुष चेतन्य का स्वामी सिद्ध होता है अर्थात् षष्ठी विभक्ति के अनुसार पुरुष भिन्न और चेतन्य भिन्न सिद्ध हो रहे हैं। अतः यह विकल्प वृत्ति है अर्थात् ऐसा होता ही नहीं है। क्योंकि पुरुष ही चेतन जीवात्मा है। माया में फँसा जीवात्मा अपने स्वरूप को भूल गया है। संस्कृत व्याकरण में षष्ठी विभक्ति सम्बन्ध दर्शाती है जैसे **"रामस्य फलम्"** यहाँ रामस्य षष्ठी विभक्ति है। रामस्य से भाव है राम का या राम की अर्थात् राम का फल। यहाँ राम, फल से भिन्न सत्ता है और फल राम से भिन्न है। दोनों का आपस में सम्बन्ध है कि फल राम का है। यहाँ यह कहा कि **"पुरुषस्य चेतन्यम्"** और इन शब्दों से पुरुष अलग और चेतनता अलग सिद्ध हो रही है जबकि सत्य यह है कि पुरुष ही चेतन है अर्थात् चेतनता पुरुष से भिन्न नहीं है अर्थात् यहाँ दो सत्ता नहीं है, एक ही है। अतः **"पुरुषस्य चेतन्यम"** कहना मिथ्या हुआ। यही विकल्प वृत्ति है कि शब्दों से यहाँ दो सत्ता दिख रही हैं परन्तु वास्तव में एक ही है। ऐसी वृत्ति द्वि (दो के) ज्ञान के उपदेश में होती है। जैसे चैत्र नामक पुरुष की गोः है। इसमें चेत्र और गोः यह दो वस्तुएँ सिद्ध हो रही हैं। इसी प्रकार निषेध धर्मों वाली वस्तुओं में पुरुष क्रिया रहित है। यहाँ जड़ के धर्मों को पुरुष (चेतन जीवात्मा) में मान लिया जबकि निष्क्रिय तो जड़ पृथिवी, जल आदि पंच भूत हैं।

प्रस्तुत श्लोक का भाव यह है कि जो ऊपर कही साधना नहीं करता, उसके अन्दर ईश्वर क्यों प्रकट होगा और वह स्वयं को जड़ शरीर से पृथक् क्यों जानेगा? अर्थात् नहीं

जानेगा। क्योंकि इस साधना से रहित सन्त को तो सन्त भी नहीं कहा जा सकता, वह तो केवल व्याख्यान का प्रलोभन देकर व्यवसाय करता है और स्वयं को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना किए बिना ब्रह्मलीन घोषित कर देता है जोकि घोर पाप है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।"

(गीता श्लोक ६/९)

(सुहृद्) श्रेष्ठ हृदय वाला **(मित्र)** मित्र **(अरि)** शत्रु **(उदासीन)** संसार की माया से उदास **(मध्यस्थ)** मध्यस्थ **(द्वेष्य)** द्वेष करने वाला तथा **(बन्धुषु)** बन्धुओं में और **(साधुषु)** साधुओं में **(च)** और **(पापेषु)** पापियों में **(अपि)** भी **(समबुद्धिः)** समान बुद्धि रखने वाला वह **(विशिष्यते)** अति श्रेष्ठ पुरुष है। **(अर्थात् सुहृद् सर्वश्रेष्ठ पुरुष है।)**

अर्थः- श्रेष्ठ हृदय वाला, मित्र, शत्रु, संसार की माया से उदास, मध्यस्थ, द्वेष करने वाला तथा बन्धुओं में, साधुओं और पापियों में भी समान बुद्धि रखने वाला, वह अतिश्रेष्ठ पुरुष है।

भावार्थः- पिछले श्लोक ६/८ में कहा कि योगी पत्थर, मिट्टी अथवा सोने में एक ही दृष्टि रखता है। अर्थात् सोना चाँदी भी उसके लिए मिट्टी पत्थर के समान ही है। वह योगी सोने, चाँदी, शरीर, धन इत्यादि में आकर्षित नहीं होता। अर्थात् अच्छे-बुरे, ऊँच-नीच, चमक-दमक, मूल्य-अमूल्य वाली वस्तु आदि का उसके हृदय में कोई प्रभाव नहीं होता क्योंकि जैसा पहले भी कहा, वह योगी वेदाध्ययन एवं कठिन योगाभ्यास रूपी उपासना के फलस्वरूप पर वैराग्य को प्राप्त हुआ होता है। अतः प्रकृति रचित सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उसको आकर्षित नहीं कर पाते। फलस्वरूप ही प्रस्तुत श्लोक में उसके गुण कहे हैं कि वह योगी **'सुहृद्'** श्रेष्ठ हृदय वाले मनुष्यों, मित्र **"अरि"** जो वैर रखते हैं, उन सबसे तथा **"उदासीन"** संसार से पक्षपात रहित अर्थात् संसार की माया से उदास **"मध्यस्थ"** जो दो समुदाय आपस में लड़ते-झगड़ते हैं, उनका भी उपकार चाहने वाला, द्वेष करने वाला, बन्धु-बन्धुओं में, अर्थात् ऊपर कहे सब प्रकार के मनुष्यों में समान भाव

रखता है, ऐसा योगी योगियों में विशेष है अर्थात् अति श्रेष्ठ योगी है। **"सु + हृद्"**- **"सुहृद्"** सु का अर्थ है श्रेष्ठ, सुन्दर, हृद् का अर्थ हृदय है। श्रेष्ठ, विकार रहित, स्वच्छ हृदय हो, जो निष्काम सेवा करने वाला हो, **"मित्र"** का अर्थ है साथी, सखा। मित्र प्रेम भाव रखता है तथा सदा हित चाहता है।

मित्र सदा कल्याणकारी एवं हितैषी होता है तथा बिना उपकार के ही उपकार करता है, निःस्वार्थ भावना वाला होता है जैसे माता-पिता नवजात शिशु का प्रथम निःस्वार्थ भाव से ही पालन-पोषण करते हैं परन्तु जब स्वार्थ आ जाता है तब मित्रता नष्ट होने का भय है इत्यादि-इत्यादि। अतः इन गुणों से युक्त माता-पिता, भाई-बहन एवं सज्जन पुरुष-नारियाँ भी मित्र की श्रेणी में आते हैं।

दूसरा है **"अरि"**! अरि **"शत्रु"** को कहते हैं। मोह, द्वेष आदि से क्रोध उत्पन्न होता है। कामना न पूर्ण होने से क्रोध उत्पन्न होता है, इत्यादि। यह सब अवगुण दुश्मन में होते हैं, योगी अथवा सज्जन पुरुषों में नहीं। अतः जिसका हृदय सुहृद् है, वह दुश्मनों की उपेक्षा तो करता है, परन्तु उनसे द्रोह, शत्रुता आदि नहीं रखता। उदासीन तटस्थ होता है पक्षपात रहित होता है। **"मध्यस्थ"** अर्थात् दोनों पक्षों को जिसका सुझाव मान्य है। **"द्वेष्य"** अर्थात् जो द्वेष करता है। योगशास्त्र सूत्र २/८ में कहा-**"दुःखानुशयी द्वेषः"** भाव है कि किसी के द्वारा किए कर्म से जो दुःख प्राप्त होता है, उस दुःख की तथा दुःख देने वाले की याद द्वेष है। द्वेष एक क्लेश है।

"बन्धु" इस शब्द का यहाँ अर्थ है कि जो संसारी सम्बन्धों से बन्धा हुआ है जैसे परिवार के सम्बन्ध इत्यादि और उनका उपकार चाहता है। **"साधु"** अर्थात् जो विद्वान है, सरल स्वभाव और निष्काम सबका उपकार करने वाला है तथा इसके विपरीत पापी मनुष्य भी हैं। ऊपर कहे हुए सब समाज के प्राणियों में जिसकी बुद्धि, जिसका व्यवहार समदृष्टि वाला है, ऐसा विद्वान्/योग सिद्ध पुरुष ही सब प्राणियों में समबुद्धि रखता है। वह पृथिवी का विशेष पूजनीय व्यक्ति होता है। इस प्रकार का योगी अतिश्रेष्ठ है।

परन्तु विशेषकर यहाँ यह सत्य ग्रहणीय है कि पीछे श्लोक ६/६ से ६/८ तक जो वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि साधना कही गईं हैं जिनके फलस्वरूप ही योगी पर-वैराग्य प्राप्त करके असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर की अनुभूति करता है, ऐसे योगी की ही बुद्धि

ऊपर कहे समाज के प्राणियों के प्रति समदृष्टि वाली होती है। भाव यह है कि कोई वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि तो करे न और केवल गीता के इन श्लोकों को पढ़ सुन, रटकर अपने को ब्रह्मलीन, ब्रह्मऋषि, मनीषी और समबुद्धि वाला कहने लगे तो यह गीता के श्लोक के अर्थ का अनर्थ हो जाएगा और पाप हो जाएगा। फलस्वरूप ही श्रीकृष्ण महाराज अगले श्लोक में योग साधना के विषय में उपदेश कर रहे हैं कि योगी एकान्त में जाकर योग साधना करे। भाव है कि वेदाध्ययन एवं योगसाधना तो किसी ने की न हो और एकान्त के स्थान पर भीड़ में बैठकर केवल पढ़-सुन, रटकर व्याख्यान ही करता हो तो वह योगी नहीं हो सकता।

श्रीकृष्ण उवाच-

"योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।"

(गीता श्लोक ६/१०)

(यतचित्तात्मा) जिसने वेदाध्ययन, यज्ञ, ईश्वर नाम सिमरण एवं योग साधना आदि शुभ कर्मों द्वारा अपना अन्तःकरण वश में कर लिया है और **(निराशीः)** वासना रहित है **(अपरिग्रहः)** शरीर को स्थिर करने योग्य ही सांसारिक पदार्थ रखता है और इस प्रकार आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह नहीं करता **(योगी)** ऐसा योगी पुनः **(एकाकी)** अकेला ही **(रहसि)** एकान्त में **(स्थितः)** स्थित **(सततम्)** निरन्तर **(आत्मानम्)** आत्मा को अर्थात् स्वयं को **(युञ्जीत)** परमेश्वर से जोड़े।

अर्थः- जिसने वेदाध्ययन, यज्ञ, ईश्वर नाम सिमरण एवं योग साधना आदि शुभ कर्मों द्वारा अपना अन्तःकरण वश में कर लिया है और वासना रहित है, शरीर को स्थिर करने योग्य ही सांसारिक पदार्थ रखता है और इस प्रकार आवश्यकता से अधिक पदार्थों का संग्रह नहीं करता, ऐसा योगी पुनः अकेला ही एकान्त में स्थित निरन्तर आत्मा को अर्थात् स्वयं को परमेश्वर से जोड़े।

भावार्थः- यजुर्वेद मन्त्र २/१० का भाव है कि हे ईश्वर! मैं यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करता रहूँ और आपकी कृपा से मेरी इन्द्रियाँ और मन मुझमें स्थिर होएँ। यह

सांसारिक विषय-विकारों में रमण न करें। **ऋग्वेद मन्त्र ५/८१/१** का भाव है कि **"विप्राः"** अर्थात् योगीजन **"बृहतः"** सबसे महान **"सवितुः"** संसार को रचने वाले ईश्वर में **"मनः युञ्जते"** मन को योग साधना द्वारा युक्त करते हैं एवं **"धियः युञ्जते"** बुद्धि को युक्त करते हैं। इसी प्रकार **यजुर्वेद मन्त्र ११/२** में कहा **"वयम् युक्तेन"** अर्थात् हम योगीजन योगाभ्यास द्वारा **"मनसा"** मन से **"सवितुः"** ईश्वर में **"स्वर्ग्याय"** आत्मिक सुख एवं ईश्वर प्राप्ति के लिए **"ज्योतिः आभरेम"** ज्योतिस्वरूप ईश्वर को धारण करते हैं अर्थात् योगी में ईश्वर प्रकट होता है।

इसे ही यहाँ श्रीकृष्ण महाराज ने **"युञ्जीत"** शब्द से उद्धृत किया है और इस प्रकार योग साधना द्वारा ही योगी की इद्रियाँ (पाँच ज्ञानेद्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ और मन) उसके वश में हो जाते हैं जिसे श्लोक में **"यतचित्तात्मा पद"** से उद्धृत किया है।

योग शास्त्र सूत्र १/२ में कहा **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** अर्थात् योगाभ्यास द्वारा जब चित्त की वृत्तियाँ रुक जाती हैं अर्थात् इन्द्रिय संयम हो जाता है तो स्वाभाविक ही जीव अपने स्वरूप में और ईश्वर के स्वरूप के दर्शन में ही आनन्दित हो जाता है और बाहर के पदार्थों की इच्छा समाप्त प्रायः हो जाती है। कर्मवासनाएँ भी शान्त हो जाती हैं। इसी के लिए श्रीकृष्ण महाराज ने **"निराशीः"** शब्द का प्रयोग किया है। **"निराशीः"** पद का अर्थ है-तृष्णा रहित होना। **"अपरिग्रह"** पद **यजुर्वेद मन्त्र ७/४** में कहे अष्टाँग योग से लिया है। **योग शास्त्र सूत्र २/२६, ३०** में इसका विस्तार से व्याख्यान है।

भाव यह है कि जब योगी की योगाभ्यास इत्यादि के फलस्वरूप कर्म वासनाएँ शान्त होती हैं और हृदय के अन्दर वह जब आत्मिक आनन्द अनुभव करने लगता है तो सांसारिक भोग पदार्थों से उसकी वृत्ति स्वतः ही हट जाती है। **योगशास्त्र के सूत्र २/३६** की व्याख्या में व्यासमुनि ने कहा विषय-विकारों को स्वीकार न करना और आवश्यकता से अधिक सांसारिक पदार्थों का संग्रह न करना अपरिग्रह है। यहाँ तक की भोजन को भी युक्ति के अनुसार ग्रहण करना चाहिए। इसे अपरिग्रह कहा है। भगवद्गीता के विरुद्ध यह स्पष्ट समझ आता है कि धन सम्पदा को मिथ्या कहने वाले प्रायः वर्तमान के वेद-विरोधी सन्त इस प्रकार बोरी भर-भर कर पैसा इकट्ठा कर रहे हैं, कार-बंगले इकट्ठा कर रहे हैं, जगह-जगह आश्रम बना रहे हैं और तरह-तरह के भोजन आदि का स्वाद ले रहे हैं कि जैसे उनके लिये शास्त्र का अपरिग्रह पद लागू नहीं होता। मजे की

बात यह है कि ऐसा सब कुछ भगवद्गीता, योग-शास्त्र, रामायण आदि को सुना-सुनाकर कर रहे हैं अर्थात् काम, क्रोध, मद, लोभ, अहंकार में फँसकर जीव की कथनी और करनी में कितना अन्तर हो जाता है। संसार नश्वर है। यहाँ अपना कुछ नहीं है। अतः हमें साधना द्वारा अपरिग्रह पद जीवन में चरितार्थ करना चाहिये।

प्रस्तुत श्लोक ही नहीं परन्तु सम्पूर्ण भगवद्गीता वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग की साधना आदि शुभ कर्मों का उपदेश दे रही है जबकि प्रायः सन्त इस आचरणीय साधना से हीन होकर हँसी-मजाक करते हुए, कथा-कहानी कहकर, जनता को लुभा कर बदले में मिथ्या भाषण द्वारा जनता में विकार रूपी विष मिला देते हैं।

क्या योगेश्वर श्री कृष्ण महाराज ने भगवद्गीता को पढ़-सुन-रटकर जनता को ज्ञान दिया था अथवा सन्दीपन ऋषि के आश्रम में वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा सम्पूर्ण अनुभव प्राप्त करके ज्ञान दिया था, यह आज का विचारणीय प्रश्न है। इसी के उत्तर में श्री कृष्ण महाराज ने एक ही पंक्ति में यह कह दिया है-**"एकाकी रहसि स्थितः सततम् आत्मानम् युञ्जीत"** अर्थात् जिस योगी ने आगे जनता को ज्ञान देना है वह प्रथम अकेला एकान्तवास में रहता हुआ बिना किसी व्यवधान के वेदाध्ययन (योग शास्त्र सूत्र १/३० में नौ व्यवधान हैं) निरन्तर, कठोर अष्टाँग योग की साधना करता हुआ परमेश्वर में ध्यान लगाता हुआ असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा ईश्वर प्राप्ति करे। फलस्वरूप ही वह योगी कहलाएगा और उसके अन्दर, प्रस्तुत श्लोक में कहे **"यतचित्तात्मा', 'निराशीः'** तथा **'अपरिग्रह'** आदि गुणों का उदय होगा।

साधना रहित प्राणी की बुद्धि तो स्वयं श्रीकृष्ण महाराज ने **गीता श्लोक २/४० एवं ४१** में **'अव्यवसायिनाम् बुद्धयः बहुशाखाः अनन्ताः'** कही है। अर्थात् हे अर्जुन! सकामी पुरुषों की बुद्धि बहुत शाखाओं वाली भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने योगी को निरन्तर एकान्त में रहकर योगाभ्यास द्वारा पिछले श्लोकों में कहे गुण धारण करने को कहा है। श्रीकृष्ण का एकान्तवास का उपदेश जो योगाभ्यास करने वाले योगी के लिए कहा है वह **सामवेद मन्त्र ५१३** के अनुसार है। **सामवेद मन्त्र ५१३** में कहा कि हे ईश्वर! आप योगाभ्यास करने वाले योगियों के द्वारा **'वनेषु'** वन में अर्थात् एकान्त में **'सदः दध्रिषे'** हृदय में धारण किए जाते हो। भाव है कि जब योगी एकान्त में लम्बे समय तक स्थित हुआ, वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि रूपी उपासना करता

है तो ईश्वर समय आने पर उसके हृदय में प्रकट हो जाता है।

यजुर्वेद मन्त्र १६/६२ का भाव है कि जो साधक योगाभ्यास करते हैं, वे भेड़िया, बाघ और सिंह के समान एकान्त देश का सेवन करके सिंह आदि की तरह पराक्रमी हो जाते हैं। यहाँ विचारणीय विषय यह है कि जहाँ वेदों में वानप्रस्थ आश्रम में भी मुख्यतः वनों की ओर प्रस्थान करने का निर्देश दिया और योगी को वनों में-एकान्त में रहकर योगाभ्यास आदि करने का निर्देश दिया, सांख्य के मुनि कपिल ने **सांख्य शास्त्र सूत्र ४/६** एवं **१०** में भीड़ से निकलकर योगी को एकान्त में योगाभ्यास करने का उपदेश दिया वहाँ प्रस्तुत गीता के श्लोक वेद-शास्त्रों के प्रमाणों का उल्लंघन करते हुए प्रायः सन्त-साधु वनों में जाने का, एकान्तवास करने का खण्डन ही करते रहते हैं और स्वयं को अधिक से अधिक भीड़ से घिरा हुआ होकर प्रसन्न होते हैं। जिज्ञासुओं की भीड़ तो योगसिद्ध पुरुषों-योगियों के लिए ही उपयुक्त हो सकती है, अन्य के लिए नहीं।

प्रथम योगी स्वयं की चित्त वृत्तियों को वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि द्वारा निरुद्ध करता है तत्पश्चात ही जनता की माया में फैली हुई वृत्तियों को रोकने के लिए उपदेश करता है। फलस्वरूप ही जिज्ञासुओं का जीवन सफल होता है। मिथ्यावादी एवं अनुभवहीन उपदेशकों से जीवन कैसे सफल हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता। यह सत्य है कि गृहस्थाश्रम में हमें भक्ति-भजन आदि का अभ्यास करना है। साथ-साथ ही यह अभ्यास भी करना है कि मिथ्यावादियों की भीड़ से सदा दूर रहें, एकान्तवासी बनें और वेदज्ञ विद्वान् जो आचार्य हैं, उनकी ही शिक्षा को ग्रहण करें। थोथे कर्मकाण्ड, अन्धविश्वास आदि से सदा दूर रहें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्।।"

(गीता श्लोक ६/११)

(शुचौ) शुद्ध **(देशे)** स्थान में **(आत्मनः)** अपने **(आसनम्)** आसन को जो **(चैलाजिनकुशोत्तरम्)** प्रथम कुशा और उसके ऊपर मृगशाला फिर वस्त्र बिछा हुआ हो।

और जो भूमि पर **(न)** न **(अत्युच्छ्रितम्)** बहुत ऊँचा **(न)** न **(अतिनीचम्)** बहुत नीचा हो **(स्थिरम्)** उसे फिर **(प्रतिष्ठाप्य)** स्थापित करके अभ्यास करें।

अर्थः- शुद्ध स्थान में अपने आसन को जो प्रथम कुशा और उसके ऊपर मृगशाला फिर वस्त्र बिछा हुआ हो और जो भूमि पर न बहुत ऊँचा, न बहुत नीचा हो उसे फिर स्थापित करके अभ्यास करें।

भावार्थः- योग शास्त्र सूत्र २/३२ में शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि यह पाँच नियम कहे गए हैं, जो कि अष्टाँग योग का दूसरा अंग हैं। यह बड़े दुःख की बात है कि देश में अपने को योगी कहलाने वाले कई मनुष्य यम, नियम को आचरण में लाने की बात प्रायः नहीं करते जोकि अष्टाँग योग विद्या के आधार हैं। अर्थात् यम, नियम सिद्ध न होने पर आसन आदि से बीमारियाँ नहीं भगाई जा सकती हैं, जोकि योग विद्या का मुख्य उद्देश्य है भी नहीं। यम, नियम के आचरण के अभाव में आसन सिद्धि भी असम्भव है। योग विद्या का मुख्य उद्देश्य अष्टाँग योग का आठवां अंग समाधि है जोकि पहले सातों अंगों को पूर्णतः आचरण में लाने पर प्राप्त होती है।

व्यास भाष्य में कहा है उन पाँचों नियमों में, शौच में मिट्टी एवं जल आदि द्वारा शरीर को एवं शुद्ध, पौष्टिक एवं परिमित आहार के ग्रहण करने से उदर, आदि की शुद्धि को बाहरी शौच कहा है। चित्त के मैल का धोना, अर्थात् चित्त शुद्धि जिसमें अविद्या आदि क्लेशों का नाश आता है, यह आंतरिक शौच है। परन्तु इस श्लोक में शुद्ध स्थान में कुशादि आसन पर बैठने की बात कही है। परन्तु इस प्रकार आसन पर बैठने से पूर्व यम, नियम के अभ्यास की अत्यन्त आवश्यकता है। अतः योग साधना का जिज्ञासु इस प्रकार शौच में दक्ष होता हुआ शुद्ध स्थान में कुशा के ऊपर मृगशाला और मृगशाला के ऊपर शुद्ध वस्त्र बिछा कर बैठने के लिए उपयुक्त आसन तैयार करे। वह आसन पृथिवी पर हो और न अधिक ऊँचा और न अधिक नीचा हो। **योग शास्त्र सूत्र २/४६** की व्याख्या करते हुए व्यास भाष्य में यम, नियम के पश्चात कुश आदि पर सिद्धासन आदि पर स्थिर बैठने के लिये आसन के विषय में कहा है कि जो स्थिर हो जाए और सुखदायक हो उसे आसन कहते हैं। योग शास्त्र में मुख्यतः १२ आसन का ही उपदेश है।

चारों वेदों में भी योग आसन लगाने का संकेत दिया है परन्तु अत्याधिक आसन

लगाने की भरमार की चर्चा नहीं की गई है। यम, नियम, आसन आदि योग के अंग हैं, यह बीमारी भगाने के लिए नहीं लगाए जाते हैं। क्योंकि इनके द्वारा बीमारी भगाने का उपदेश शास्त्र में नहीं दिया गया है। **योग शास्त्र सूत्र २/४३** में तो केवल यम एवं नियम की सिद्धि द्वारा ही शरीर व इन्द्रियों की अशुद्धि का नाश कहा गया है जिससे अणिमा आदि सिद्धियाँ एवं दूर का सुनना एवं देखना ग्रहण होता है, अर्थात् शरीर एवं इन्द्रियों की शुद्धि के लिए आसन, प्राणायाम की भी आवश्यकता नहीं कही गई है। योग का अर्थ तो केवल समाधि अर्थात् "असम्प्रज्ञात समाधि" द्वारा ईश्वर प्राप्ति/मोक्ष प्राप्त करके मनुष्य जीवन सफल होना कहा है। योग द्वारा केवल बीमारियाँ भगाना, परन्तु उसमें भी साथ-साथ दवाईयाँ प्रयोग में लाना यह सब कुछ योग एवं वेद विद्या के विरुद्ध है। बीमारियों के लिए चारों वेदों ने वैद्य/चिकित्सक के पास जाने की सलाह दी है। योग विद्या अलग है और विज्ञान द्वारा औषधि विद्या जो कि भौतिकवाद में आती है, वह अलग है। वेदों ने दोनों ही विद्याओं की बात कही है अर्थात् योग से ईश्वर को पाओ और दवाईयों से बीमारियों को भगाओ। यही उचित है। पुनः शरीर एवं इन्द्रिय शुद्धि का आधार वेद एवं योग शास्त्र ने यम एवं नियम को कहा है। फिर यह कहना भी अनुचित होगा कि आसन, प्राणायाम, ध्यान से बीमारियाँ भगाओ।

व्यास भाष्य में कहा है कि पद्मासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, कौ चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन, सिद्धासन आदि यह आसन हैं। सुविधानुसार जिसको जो आसन स्थिरता एवं सुख प्रदान करे उसी आसन का अभ्यास करें।

पुनः श्रीकृष्ण महाराज शुद्ध स्थान में कुश और उसके ऊपर मृगशाला और मृगशाला के ऊपर वस्त्र बिछाकर, उस पर शांत चित्त बैठकर आसन, ध्यान आदि का अभ्यास करने का उपदेश कर रहे हैं। यह ठीक है कि मृगशाला, हिंसा का द्योतक है परन्तु पुरातन काल में जब ऋषि-मुनि प्रायः वनों में साधना करते थे, वनों में स्थित गुफाओं में रहते थे तब स्वाभाविक मृत्यु को प्राप्त मृग अथवा बाघ, शेर आदि के चर्म को उनके सेवक आदि अवश्य प्राप्त कराते होंगे। क्योंकि ऋषि-मुनि हिंसा में तो विश्वास करते ही नहीं परन्तु स्वाभाविक पशु की मृत्यु के पश्चात उनकी चर्म का प्रयोग, औषधि आदि लगाकर, रसायन आदि से शुद्ध करके प्रयोग में लाते होंगे। वर्तमान में जब विज्ञान की

उन्नति से अधिक से अधिक वस्त्र हमारे पास हैं तब चर्म का उपयोग न करना ही श्रेयकर अन्यथा पाप होगा। आज चटाई, कुशासन आदि बिछाकर उस पर बड़े कम्बल की चार तह करके, कुशासन पर बिछाकर, तत्पश्चात कम्बल पर पुनः सूती वस्त्र बिछाकर सिद्धासन आदि पर बैठना चाहिए जो कि लाभकारी है। इस प्रकार का आसन शुद्ध, स्वच्छ स्थान एवं वातावरण में होना चाहिए। गृहस्थाश्रम में ऐसा स्थान प्रातःकाल सम्भव हो तो घर से बाहर, खुले आकाश के नीचे जहाँ शुद्ध वायु का लाभ मिलेगा, अथवा ऐसा कक्ष (कमरा) होना चाहिए जहाँ शुद्ध वायु का आवागमन हो।

क्या हम श्रीकृष्ण महाराज के इस उपदेश को साधना करने का उपदेश न मानें? अगले श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ऐसे आसन पर बैठकर योगाभ्यास करने का उपदेश/आज्ञा दे रहे हैं। पुनः योग रूपी पुण्यवान कर्म को त्यागकर केवल ज्ञान में मुक्ति होती है, ऐसा कहने का अवकाश कहाँ रह जाता है? अर्थात् केवल ज्ञान में मुक्ति नहीं है। **ऋग्वेद मंत्र २/३६/४** के अनुसार और **मनुस्मृति श्लोक १/२३ (त्रयं ब्रह्म सनातनम्)** के अनुसार चारों वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना, इन तीनों विद्याओं के साथ-साथ अभ्यास करने की आवश्यकता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।"

(गीता श्लोक ६/१२)

(तत्र) साधक उस **(आसने)** आसन के ऊपर **(उपविश्य)** बैठे और **(मनः)** मन को **(एकाग्रम्)** एकाग्र **(कृत्वा)** करते हुए **(यत-चित्त-इन्द्रिय-क्रियः)** चित्त और इन्द्रियों की क्रिया की वश में करके **(आत्म-विशुद्धये)** आत्म शुद्धि के लिए **(योगम्)** योग का **(युञ्ज्यात्)** अभ्यास करे।

अर्थः- साधक उस आसन के ऊपर बैठे और मन को एकाग्र करते हुए चित्त और इन्द्रियों की क्रिया को वश में करके आत्म शुद्धि के लिए योग का अभ्यास करें।

भावार्थः- योगशास्त्र सूत्र ३/१ में मन को शरीर के किसी भाग विशेषकर आज्ञाचक्र, नासाग्रे अथवा हृदय में स्थिर करना अष्टांग योग का छटा अंग धारणा कहा है। योग के प्रथम पाँच अंग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार सिद्ध हो जाने पर ही मन एकाग्रता को प्राप्त होकर शरीर के ऊपर कहे किसी अंग में लगता है। इसी सत्य को **यजुर्वेद मन्त्र ३७/२** में इस प्रकार कहा है- **(विप्राः)** बुद्धिमान विद्वान् **(बृहतः)** सबसे महान ईश्वर में **(मनः)** मन को **(युञ्जते)** लगाते हैं। मन्त्र में **'विप्राः'** पद का अर्थ ही मार्मिक है। इस पद का अर्थ है-बुद्धि में बहुत प्रकार का वैदिक ज्ञान रखने वाले बुद्धिमान जन ही विप्र कहलाते हैं जिसे **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/१६** में कहा-जिस ब्रह्म एवं संसार के तत्वों को विद्वान् जानते हैं, अविद्वान् नहीं जानते **"यः कविः"** अर्थात् जो विद्वान् हैं और सृष्टि के पदार्थ में क्रम क्रम से पहुँचाने वाली बुद्धि रखने वाला है तथा प्रकृत्ति के तीनों गुणों पर विजय प्राप्त करने वाली शुद्ध बुद्धि रखने वाला है वह विप्र है। **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/४५** में तो यहाँ तक कहा है कि यह **"मनीषिणः"** (मन को रोकने वाले) **'ब्रह्माणाः वाक् परिमिता चत्वारि पदानि तानि विदुः'** अर्थात् जो योगाभ्यास द्वारा अपने मन को रोकने वाले विप्र हैं, वह व्याकरण, वेद और ईश्वर के जानने वाले विद्वान् जन वाणी के परिणामयुक्त जो नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात चार पद हैं, उनको जानते हैं परन्तु अविद्वान् नहीं जानते। यही विद्वान् और अविद्वान् में अन्तर है।

अतः परम्परागत पूर्ण विद्या प्राप्त किए हुए विप्र ही अपने मन को एकाग्र करके ईश्वर में लगाते हैं और ऐसे विप्र विद्वान् गुरु से योग विद्या का उपदेश प्राप्त करके ही साधक आज्ञाचक्र आदि पर ध्यान केन्द्रित करके योग का अभ्यास करते हैं और विप्र बनते हैं। **योगशास्त्र सूत्र १/१** की व्याख्या में व्यास भाष्य में क्षिप्त, विक्षिप्त एवं मूढ़ इन तीन चित्त की संसार में रमण करने वाली वृत्तियों को योग की शिक्षा नहीं दी जा सकती। चौथी वृत्ति एकाग्र है जिसमें चित्त संसारी विषयों से रोककर वृत्ति को एक विषय (सत्य) में लगा देता है। इस अवस्था वाले जिज्ञासु का ही योग विद्या में प्रवेश होता है। विशेषकर सामवेद के अनेक मन्त्रों में कहा है कि यज्ञ से मन शुद्ध एवं एकाग्र होता है। अतः मन की शुद्धि एवं एकाग्रता के लिये जीव यम-नियम की साधना के साथ यज्ञ/हवन नित्य वेद मन्त्रों से करें। श्री कृष्ण एवं ऋषि मुनि तथा श्री राम ने भी यही किया था। भाव यह है कि जो गीता का उपदेश है वह वेदविद्या को अलग करके ग्रहण नहीं किया जा सकता। गीता के इस श्लोक में जो मन को एकाग्र करके आत्मशुद्धि के लिए योग के अभ्यास की बात कही

है वह प्रथम चारों वेदों के अध्ययन, यज्ञ एवं इसके फलस्वरूप मन एवं इन्द्रियाँ शुद्ध होकर जब एकाग्र होगीं तब ही शुद्ध आसन पर बैठकर अगले योग साधन जो धारणा, ध्यान, समाधि हैं, वह प्रारम्भ हो पाएँगे। जिसे इस श्लोक में **"यतचित्तेन्द्रियक्रियः"** कहा है। पढ़, सुन, रटकर उपदेश मात्र जो बिना आचरण के होगा वह कोई फल प्राप्त नहीं करा पाएगा। श्लोक में आत्मशुद्धि से तात्पर्य है कि जीवात्मा जन्म-जन्मांतरों से कर्मबन्धन में है जिसका संस्कार चित्त पर है। यह सब प्रकृत्ति के तीन गुणों से जीवात्मा के लगाव हो जाने के कारण है। जीवात्मा स्वयं तो सदा शुद्ध है परन्तु अविवेक के कारण प्रकृत्ति के तीन गुणों से रचित संसार के पदार्थों में फँसा पाप-पुण्य करके जन्म-मृत्यु एवं दुःखों के सागर में डूबा रहता है। अतः चित्त पर जो कर्मों के संस्कार हैं, उनके नाश करने को ही यहाँ आत्मशुद्धि अर्थात् **"आत्मविशुद्धये"** पद से कहा गया है। यह शुद्धि वेदों में बताए ऊपर कहे मार्ग पर चलकर ही सम्भव है। अतः **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/१६** में यह स्पष्ट किया है कि सूक्ष्म बुद्धि वाला, विज्ञानवान योगी पुरुष ही ईश्वर को प्राप्त करता है। **"न चिकेत अन्धसः"** अन्धा अर्थात् वेदविद्या से रहित अज्ञानी पुरुष ईश्वर को नहीं प्राप्त करता। आत्म शुद्धि के लिये वेदाध्ययन, योगाभ्यास, विद्वानों का संग एवं धर्माचरण आवश्यक है। इस योगाभ्यास को नित्य श्रद्धापूर्वक करना चाहिये। इसी विषय को श्री कृष्ण महाराज अगले श्लोक में पुनः कह रहे हैं।

श्रीकृष्ण उवाच-

"समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।"

(गीता श्लोक ६/१३)

(काय-शिरः-ग्रीवम्) साधक योगी शरीर, सिर और गर्दन को **(समम्)** समान **(च)** तथा **(अचलम्)** अचल **(धारयन्)** धारण करते हुए **(स्थिरः)** स्थिर हुआ **(स्वम्)** अपनी **(नासिकाग्रम्)** नासिका के अग्र भाग को **(संप्रेक्ष्य)** भली प्रकार देखकर **(दिशः)** सब दिशाओं का **(अनवलोकयन्)** अवलोकन न करता हुआ अर्थात् अन्य दिशाओं को न देखता हुआ साधना करे।

अर्थः- साधक योगी शरीर, सिर और गर्दन को समान तथा अचल धारणा करते हुए स्थिर

हुआ अपनी नासिका के अग्र भाग को भली प्रकार देखकर सब दिशाओं का अवलोकन न करता हुआ अर्थात् अन्य दिशाओं को न देखता हुआ साधना करे।

भावार्थः- यजुर्वेद मन्त्र ५/१४ में कहा है कि जैसे विद्वान् योगी अपने मन तथा बुद्धि को ईश्वर में लगाते हैं, मैं भी योग साधना करता हुआ अपना मन तथा बुद्धि ईश्वर में समाधिस्थ करता हूँ। **यजुर्वेद** सातवें अध्याय के **१** से **२५** मन्त्र योग विद्या का ही अधिकतर उपदेश करते हैं। और **मंत्र ११** में कहा है कि वेद एवं योग विद्या का ज्ञाता पुरुष विद्या का सूर्य है। अतः सब मनुष्य यम नियमों का पालन करने वाले योगी पुरुष का ही संग करें। वेद विद्या से योग विद्या निकली है। अतः योगी को प्रथम चारों वेदों का ज्ञान तथा यज्ञ की क्रियाओं में दक्षता प्राप्त करनी होती है। **मन्त्र २५** में कहा-हे परमेश्वर! आप यम और नियमों से अर्थात् अष्टाँग योग अंगों के अभ्यास द्वारा प्राप्त होते हो। इन्हीं अंगों में तीसरा अंग आसन है। श्रीकृष्ण महाराज ने आसन पर बैठकर यहाँ शरीर, सिर और गर्दन को एक सीध (समान) में रखकर और इस प्रकार शरीर को तनिक भी हिलने-ढुलने न दिया जाए तथा स्थिर रखे, ऐसा उपदेश किया है। ऊपर वेद मन्त्रों में तथा अन्य वेद मन्त्रों में इस प्रकार का ज्ञान भरा पड़ा है। श्रीकृष्ण महाराज ने अथवा किसी भी ऋषि ने वेदों से ही प्रत्येक ज्ञान लिया है। योगशास्त्र के ऋषि ने श्रीकृष्ण महाराज के उपदेश को पहले ही सूत्र **२/४६** में **"स्थिरसुखमासनम्"** कहा है अर्थात् पद्मासन, सिद्धासन आदि कई आसन हैं। साधक किसी भी सुविधाजनक आसन में, बिना हिले-ढुले, स्थिर होकर देर तक बैठने का अभ्यास करे। निरन्तर अभ्यास से उसे ऐसी सिद्धि प्राप्त हो कि आसन पर बैठे-बैठे शरीर स्थिर रहे, आसन लगाने का कष्ट अनुभव न हो तथा सुख प्राप्त होने लगे। इसे ही श्लोक में काया, सिर, ग्रीवा को समान तथा अचल एवं स्थिर रखना कहा है।

दूसरा ऊपर की स्थिर अवस्था में बैठकर नासिका के अग्र भाग में ध्यान केन्द्रित करना कहा है। इस वैदिक ज्ञान को समझाते हुए योग शास्त्र के ऋषि पता जलि के सूत्र **३/१** की व्याख्या में व्यास मुनि ने कहा है-**"नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्ध्निज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु"** अर्थात् नाभि, हृदय, मूर्धा ज्योति, नासिका के अग्र भाग, जिह्वा के अग्र भाग में योगी चित्त को धारण करे। भाव है कि विस्तृत ज्ञान तो वेद शास्त्रों में ही सुलभ है जिसे श्रीकृष्ण महाराज ने भी स्वयं **गीता श्लोक १३/४** में इस

प्रकार कहा है कि हे अर्जुन! जो ज्ञान मैं तुझे दे रहा हूँ वह ऋषियों द्वारा बहुत प्रकार से पहले ही गाया गया है और कई प्रकार से वेद मन्त्रों में अलग-अलग करके कहा गया है। तथा ब्रह्मसूत्र (शास्त्रों) में भी वैसा ही कहा गया है। अतः विस्तार जानने के लिए हम वेदाध्ययन कदापि न भूलें। अन्यथा अर्थ का अनर्थ हो जाता है। गीता वेद से निकली है। वेद ही हम त्याग देंगे तो अनर्थ निश्चित है। कई सन्त गीता का प्रचार करते-करते चले गए। मृत्यु के पश्चात और जीवित भी उनके लिए यह कहा गया कि वह वेद के प्रकाण्ड पण्डित थे। जबकि जीवन में उन्होंने कभी भी वेदों का न तो अध्ययन किया, न प्रचार किया, न यज्ञ किए। तो गीता का क्या उन्होंने सच्चा ज्ञान दिया? इसमें प्रश्न चिह्न स्वतः ही लग जाता है। श्लोक में कहा कि नासाग्रे पर दृष्टि जमाकर साधक अभ्यास करे। वेद एवं योगशास्त्र आदि सत्य ग्रन्थों में शरीर के किसी स्थान में ही दृष्टि एकाग्र करने का उपदेश है। शरीर से बाहर नहीं। शरीर से बाहर दृष्टि लगाने पर जैसे कि स्वभाव से इन्द्रियाँ बाहर की तरफ दौड़ती हैं, तब साधक की वृत्ति भी बाहर की तरफ संसारी पदार्थों एवं विकारों में फँसी रहेगी और साधक समझेगा कि मैं ध्यान तो लगाता हूँ पर ध्यान कहीं और चला जाता है, ध्यान लगता नहीं, इत्यादि। श्री कृष्ण महाराज ने यहाँ नासाग्रे पर ध्यान लगाते हुए, कहीं ओर दिशाओं को न देखता हुआ, योग विद्या का अभ्यास करने को कहा है। और यह एक महान कर्म है। इसी योगाभ्यास को अगले श्लोक में समझाते हुए कह रहे हैं। अतः हिलने, ढुलने, चलने, गाने, बजाने व नाचने इत्यादि कर्म करने से ईश्वर में ध्यान या नाक के अगले भाग में ध्यान नहीं लगेगा। और न ही योगाभ्यास हो सकेगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

"प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः।।"

(गीता श्लोक ६/१४)

(ब्रह्मचारिव्रते) ब्रह्मचर्य व्रत में **(स्थितः)** स्थित होता हुआ **(विगतभीः)** भय से रहित **(प्रशान्तात्मा)** अच्छी प्रकार शान्त आत्मा अर्थात् शान्त अन्तःकरण वाला **(युक्तः)** अष्टाँग योग विद्या के अभ्यास से जुड़ा हुआ होकर **(मनः)** मन को **(संयम्य)** वश में करके

(मच्चित्तः) मुझ में चित्त लगाते हुए **(मत्परः)** मुझ में परायण होकर **(आसीत)** बैठे।

अर्थः– ब्रह्मचर्य व्रत में स्थित हुआ भय से रहित अच्छी प्रकार शान्त आत्मा अर्थात् शान्त अन्तःकरण वाला अष्टाँग योग विद्या के अभ्यास से जुड़ा हुआ होकर मन को वश में करके मुझ में चित्त लगाते हुए मुझ में परायण होकर बैठे।

भावार्थः– पता जलि ऋषि कृत **योग शास्त्र सूत्र २/२६** में योग के आठ अंगों का उपदेश है। उसमें प्रथम दो अंगों में पाँच यम एवं पाँच नियम कहे गए हैं। नियम का वर्णन पीछे श्लोक में किया है। यम में सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आते हैं। यम, नियम को आचरण में लाने से ही योग विद्या का उत्तम फल असंप्रज्ञात समाधि अर्थात् मोक्ष प्राप्त होता है। आज यम एवं नियम का ज्ञान न देकर सीधा ही जो आसन, प्राणायाम की बातें बताई जा रही हैं यह वेद विरुद्ध हैं और कभी भी लाभकारी सिद्ध नहीं होगीं। अतः हम पुरातन एवं सनातन संस्कृति को पहचाने एवं उसमें कोई हेर-फेर न करें। **योग शास्त्र सूत्र २/३८** में ब्रह्मचर्य के विषय में कहा-

ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः। अर्थात् ब्रह्मचर्य का भाव स्थिर हो जाने पर आत्मिक एवं शारीरिक लाभ होता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है कि विषयविकारी इच्छाओं को प्रथम दृढ़ संकल्प द्वारा जड़ से नाश करना और ऐसी विकारयुक्त कामनाओं को चित्त में न आने देना, सतत साधना द्वारा योगी जब ब्रह्मचर्य में स्थित होता है तो लोक एवं परलोक दोनों का सुख उसे प्राप्त होता है। **यजुर्वेद मन्त्र ४/२१** में वसु, रूद्र एवं आदित्य तीन प्रकार के ब्रह्मचारियों का वर्णन आया है। प्राचीनकाल में जब बालक अथवा बालिका गुरुकूल में शिक्षा प्राप्त करने जाते थे तो उनसे प्रश्न किया जाता था, **"कस्य ब्रह्मचार्यसि"** अर्थात् तू किसका ब्रह्मचारी है" तब बालक उत्तर देता था मैं आपका ब्रह्मचारी हूँ। अर्थात् ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ मैं आपसे वेदों की शिक्षा प्राप्त करने आया हूँ।

अथर्ववेद काण्ड ११ सूक्त ५ में कहा कि केवल ब्रह्मचारी ही अपनी शक्ति की रक्षा करके शरीर व मस्तिष्क को उन्नत बनाता हुआ तपस्या द्वारा आचार्य द्वारा दिया ज्ञान ग्रहण करके आचरण में लाता है। वेदों से लिए इसी 'ब्रह्मचारी' शब्द का श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में वर्णन किया है और उपदेश है कि साधक, योगी, ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करता हुआ ईश्वर को सब कुछ अर्पण करके और मन को वश में करके आसन पर

बैठकर शांत चित्त से योगाभ्यास में रम जाए। श्लोक में **'विगतभीः** का अर्थ है भयरहित होना। **सामवेद मंत्र २७४** में भी प्रार्थना है कि हे ईश्वर आप जहाँ-जहाँ भी हैं, अर्थात् सर्वत्र हो, अतः हमें सब जगह से अभय कर दें। केवल प्रार्थना में तो कुछ भी नहीं है जब तक प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ और अभय प्राप्ति के लिए यज्ञ एवं अष्टाँग योग के प्रथम दो अंग यम एवं नियम पर आचरण न हो। क्योंकि ऊपर कहे गए पाँच यमों में अहिंसा का भी उपदेश है जिसकी सिद्धि पर ही जीव को अभय दान प्राप्त होता है। **योग शास्त्र सूत्र २/३५** में स्पष्ट कहा है-

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः" अर्थात् अहिंसा धर्म की पूर्ण स्थिति प्राप्त होने पर उस योगी के समीप रहने वाले प्राणियों का भी वैर-विरोध समाप्त हो जाता है। योगी के प्रति सब प्राणी वैर त्याग देते हैं। इस सूत्र की व्याख्या में व्यास मुनि तो यहाँ तक कहते हैं कि सांप और नेवले का स्वाभाविक वैर है लेकिन अहिंसा धर्म पूर्णतः पालन करने वाले योगी के समीप रहने वाले नेवले और सर्प भी आपस में वैर विरोध त्याग देते हैं। तो अहिंसा सिद्ध किए हुए योगी को तो परमेश्वर पूर्णतः अभय दान देता है। **'प्रशान्तात्मा'** अर्थात् शांत आत्मा का भाव यह है कि साधन रहित जीवात्मा प्रकृति के गुणों में फँसकर काम, क्रोध आदि अनेक विकारों से जुड़ी होकर मन, बुद्धि के अधीन रहती है। स्वरूप से तो जीवात्मा शुद्ध, चेतन, शांत एवं आनन्दस्वरूप है, परन्तु इन्द्रियों की गुलामी के कारण माया में फँसी अपने आप को अशांत एवं दुखी अनुभव करती है। योगाभ्यास द्वारा जब मन, बुद्धि एवं चित्त के ऊपर से जन्म-जन्मांतरों के अच्छे-बुरे कर्मों के संस्कार जलकर नष्ट हो जाते हैं तब जीवात्मा अपने वास्तविक चेतन एवं आनन्द रूप में स्थिर होती है। अतः यम, नियम को आचरण में लाते हुए प्रथम 'युक्तः' अर्थात् योगाभ्यास से जुड़कर योगी मन को वश में करे। और तभी साधना सफल है। श्लोक में **'मनः संयम्य'** का यही अर्थ है। **'मत्परः'** का भाव है पूर्णतः ईश्वर को समर्पित होना अर्थात् योगी वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास, नाम-जप आदि शुभकर्मों को करे और सब शुभ कर्मों का फल ईश्वर को अर्पित करे। अतः साधक सब वेद एवं योग विद्याओं को आचरण में लाए। जो संत आजकल केवल पढ़, सुन, रटकर वेद-विरोधी भाषण देते हैं और वेदों से निकले ज्ञान भगवद्गीता के उपदेश में वेदाध्ययन, अष्टाँग योग की साधना एवं यज्ञ आदि शुभ कर्मों का त्याग करने को कहते हैं, वह पृथिवी पर घोर अनर्थ करते हैं। और उनका उद्देश्य केवल असत्य, अरूचिकर कथा कहानियाँ कहकर गुरुभक्ति की

भी असत्य महिमा बताकर जनता से पैसे लूट कर कारों, बंगलों में रहकर भौतिक सुख प्राप्त करना है। ऐसी साधुओं की वृत्ति से सदा सावधान रहने की आवश्यकता है।

श्लोक में **"युक्तः"** का अर्थ है **'योगयुक्त'** अर्थात् जिसका मन योगाभ्यास द्वारा परमेश्वर से जुड़ गया है। अतः साधक ब्रह्मचर्य व्रत का दृढ़ता से पालन करता हुआ भयरहित और शान्त अन्तःकरण वाला तथा इस प्रकार मन को योगाभ्यास द्वारा वश में करते हुए **"मच्चित्तः"** अर्थात् ईश्वर में मन, बुद्धि, चित्त को समाहित करके "मत्परः" मुझमें परायण होकर "आसीत" स्थित होवे। मच्चित्त पद का अर्थ यहाँ परमात्मा में चित्त लगाना है। यहाँ श्रीकृष्ण महाराज मच्चित्त पद ईश्वर में लीन हुई स्थिति में वर्णन कर रहे हैं। क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि में योगी ईश्वर के समान कहा गया है परन्तु ईश्वर नहीं कहा गया है अतः यहाँ श्रीकृष्ण को चित्त देने की बात नहीं कही गई है। ईश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव आदि के विषय में मैंने ईश्वर कृपा से ही **योगशास्त्र सूत्र १/२४** और उसमें भी व्यास मुनि भाष्य के अर्थ को विस्तृत रूप से समझाया है कि ईश्वर जन्म-मृत्यु के बन्धन में कभी नहीं आता। **"मत्परः"** का अर्थ भी सृष्टि रचियता ईश्वर जो निराकार एवं सर्वव्यापक है, उसके परायण होना है। इस भेद को पिछले अध्याय में भी वर्णन किया है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिम् निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।"

(गीता श्लोक ६/१५)

(एवम्) इस प्रकार **(आत्मानम्)** जीवात्मा को **(सदा)** निरन्तर **(युञ्जन्)** परमेश्वर से युक्त करता हुआ **(नियतमानसः)** नियंत्रित मन वाला, वह **(योगी)** अष्टांग योगी **(मत्संस्थाम्)** जो मुझ में स्थिर है **(निर्वाणपरमाम्)** परम मोक्ष द्वारा प्राप्त **(शांतिम्)** शांति को **(अधिगच्छति)** प्राप्त होता है।

अर्थः- इस प्रकार जीवात्मा को निरन्तर परमेश्वर से युक्त करता हुआ, नियंत्रित मन वाला, वह अष्टाँग योगी जो मुझमें स्थिर है, परम मोक्ष द्वारा प्राप्त शांति को प्राप्त होता है।

भावार्थः- **"एवम्"** पद का भाव है कि जो इस अध्याय के पिछले श्लोकों में योगी एवं अष्टाँग योग विद्या का वर्णन किया है, उन गुणों को ग्रहण करके तदानुसार उस विद्या का अभ्यास करने वाला ईश्वर को प्राप्त योगी है। **"आत्मानम्"** पद शरीर में निवास करने वाली जीवात्मा के लिए प्रयुक्त किया है। जीवात्मा जड़ शरीर से पृथक् चेतन तत्त्व है। शरीर एवं जीवात्मा दोनों से सदा पृथक् चेतन परमेश्वर है। ईश्वर ने जीवात्मा को कर्मानुसार मानव शरीर दिया है। शरीर में मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ जीवात्मा के पास यन्त्र के समान हैं। जीवात्मा जिनका प्रयोग वेदानुसार शुभ कर्त्तव्य कर्म, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि निरन्तर साधना करता हुआ ईश्वर को प्राप्त करता है। इसे ही यहां **"यु जन्"** अर्थात् ईश्वर से जुड़ता हुआ कहा है। और **"नियतमानसः"** का अर्थ ऊपर कहे वेदाध्ययन आदि शुभ कर्मों द्वारा मन सहित इन्द्रियों को अपने नियंत्रण में रखना है। ऐसे गुण केवल अष्टाँग योग की निरन्तर साधना (जिसे श्लोक में "सदायु जन् कहा है।) के फल को प्राप्त करने वाले वैराग्यवान योगी में ही प्रकट होते हैं, जिसके विषय में **योगशास्त्र सूत्र १/१५** का भाव है कि जो कुछ हम संसार में सांसारिक द्रव्य-चमक, दमक, धन-सम्पदा आदि आँख से देखते हैं, वह सब "दृष्टा विषय" (देखे हुए पदार्थ) हैं। "आनुश्राविक विषय" वह हैं जो कान से सुने हुए हैं। इन दोनों अर्थात् देखे और सुने दोनों विषयों से वृत्ति का तृष्णा रहित होना वशीकार वैराग्य है। सुने हुए विषयों में आचार्यों द्वारा वेद शास्त्रों आदि से सुने गए पारलौकिक अथवा आत्मिक सुख आदि आते हैं। इनमें भी वृत्ति का आसक्त न होना वशीकार संज्ञा वैराग्य है। यह बहुत गम्भीर विषय है कि साधक साधना तो करे पर संसार की जो चमक-दमक और विषय वासना जाग्रत करने वाले दृश्य एवं भोग विलास आदि दृश्य जो उसे दिखाई देते हैं और वेद आदि में सुने गए सुख-सम्पदा, पारिवारिक सुख अथवा दूसरे जन्म में उत्तम कुल में जन्म आदि सुख प्राप्त करना अथवा आत्मा के विषय में सुनकर आत्मिक सुख आदि की लालसा करना, अच्छे खान-पीन, रहनी-सहनी, सन्तान आदि की इच्छा करना इत्यादि। इस लोक और परलोक के सब सुखों से इच्छा रहित होना और नित्य साधना में लगे रहना यह कितना कठिन मार्ग है अर्थात् कोई दृढ़ संकल्प साधक ही देवपूजा, संगतिकरण, दान, तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधानानि एवं योगाभ्यास के मार्ग पर चलता हुआ प्रतिदिन साधना करता हुआ, गुरु कृपा से वैराग्यवान होता है। उसी की सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। ऐसे वासना रहित चित्त की ही वशीकार संज्ञा वैराग्य है और उसका

माता-पिता से प्राप्त जन्म एवं गुरु सेवा धन्य है।

यदि वेदाध्ययन, यज्ञ और वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या का अभ्यास नहीं होगा तो यह **"आत्मानम् युञ्जन् एवं नियतमानसः"** शब्द केवल पढ़ सुन रटकर मिथ्या व्याख्यान करने योग्य ही रह जाएँगे। इन कहे हुए साधनों से युक्त जो जीवात्मा है, उसे ही इस श्लोक में "योगी" की संज्ञा दी गई है और ऐसा ही अष्टाँग योगी **"मत्संस्थाम्"** अर्थात् ईश्वर में स्थिर रहता है।

अन्त में **"निर्वाणपरमाम् शान्तिम"** अर्थात् मोक्ष पद प्राप्त होने पर जो परम शान्ति योगी को प्राप्त होती है उसका वर्णन है। कपिल मुनि ने अपने शास्त्र के प्रथम सूत्र में ही तीन प्रकार के दुःखों का नाश करना ही मोक्ष-परम शान्ति कहा है। इन तीनों प्रकार के दुःखों आधि भौतिक, आधि दैविक, आध्यात्मिक का वर्णन पीछे कई बार किया गया है। वेदों शास्त्रों में भी तीन प्रकार की शान्ति इन्हीं कहे तीन तापों के नाश की ओर संकेत करती है। सारांश यह है कि इसी अध्याय के पिछले श्लोकों और इस श्लोक में भी कहे गुणों को जो योगी साधना द्वारा धारण कर लेता है, वह ही ईश्वर के स्वरूप का दर्शन करके मोक्ष प्राप्त करके परम शान्ति को प्राप्त करता है। पढ़, सुन, रटकर बोलने वाला वेद-विरोधी सन्त तो अपने असत्य भाषण द्वारा समाज में ऊपर कही तीनों शांति का नाश करने वाला है। ऐसे ही योगी के विषय में **सामवेद मन्त्र १६७** का संकेत है कि **"इन्द्र इन्दवः त्वा आ विशन्तु सिन्धवः समुद्रमिव"** अर्थात् जैसे समस्त नदियाँ चलकर समुद्र में मिल जाती हैं उसी प्रकार ऐसे योगी की सारी इन्द्रियाँ ईश्वर में स्थिर हो जाती हैं।

श्रीकृष्ण उवाच—

"नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।"

(गीता श्लोक ६/१६)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(अति)** अधिक **(अश्नतः)** खाने वाले का **(तु)** तो **(योगः)** योग **(न)** नहीं **(अस्ति)** सिद्ध होता **(च)** और **(न)** न **(एकान्तम्)** पूर्णतः **(अनश्नतः)** नहीं खाने वाले का **(च)** और **(न)** न **(अति)** बहुत **(स्वप्नशीलस्य)** शयन करने वाले स्वभाव वाले का

(च) और **(न)** न **(जाग्रतः)** अधिक जागने वाले पुरुष का **(एव)** ही योग सिद्ध होता है।

अर्थः- हे अर्जुन! अधिक खाने वाले का तो योग नहीं सिद्ध होता और न पूर्णतः नहीं खाने वाले का और न बहुत शयन करने वाले स्वभाव वाले का और न अधिक जागने वाले पुरुष का ही योग सिद्ध होता है।

भावार्थः- भोजन संतुलित एवं भूख से एक या आधी रोटी कम ही खानी चाहिए। **अथर्ववेद मन्त्र १/४/४** में जल को औषधि कहा है जिसे दिन में बार-बार पीने का उपदेश है। सात्विक भोजन ही लेना चाहिए। इसे **अथर्ववेद मन्त्र ५/१२/१०** में स्पष्ट करते हुए कहा कि साधक ऋतुओं के अनुसार उपासना के साथ अर्थात् यज्ञ के बाद वनस्पति (शाकाहारी-सात्विक) युक्त भोजन ही करे जिसमें मधु, घृत, जौ आदि का भी प्रयोग हो। **मनुस्मृति श्लोक २/१७७** में कहा **"वर्जयेन्मधु मांसं च"** अर्थात् मांस एवं मदिरा का सेवन कभी न करें। नशीले पदार्थ सदा हानिकारक हैं प्रत्येक प्राणी उनसे सदा दूर रहे।" **अथर्ववेद मन्त्र ६/१४०/१** में कहा कि हे प्रभु जो मेरे दाँत भेड़िए के समान उत्पन्न हुए हैं और माँस भक्षण करना चाहते हैं, उन दाँतों को कल्याणकारी कीजिए-उनमें मांसाहार की भावना न हो **ऋग्वेद वेद मन्त्र १०/२७/६** में तो स्पष्ट ईश्वर ने मांस-भक्षी के लिए दण्ड का विधान किया है। **अथर्ववेद मन्त्र ५/१२/१० एवं ६/७८/१** में कहा है कि यज्ञ/हवन करने के बाद ही भोजन शुद्ध होता है। अतः यज्ञ करने के बाद ही भोजन ग्रहण करें। **अथर्ववेद ८/२/१** में कहा कि जो यज्ञ के बाद भोजन करता है तो रोगों का नाश करता है और दीर्घायु को प्राप्त करता है। **अथर्ववेद मन्त्र ६/६३/१** में साधक योगी को वेदाध्ययन, यज्ञ द्वारा ज्ञान प्राप्ति और इस प्रकार पाप से मुक्त होने का उपदेश है। पुनः वेद ज्ञान की प्राप्ति को जीवात्मा का भोजन कहा है। जिस प्रकार शरीर के लिए सात्विक भोजन को नित्य करने की आज्ञा है, भूखा रहने की नहीं है, उसी प्रकार जीवात्मा का नित्य वेद सुनना उसका ज्ञान का भोजन कहा है। वेद, शास्त्र और मोक्ष के ग्रन्थों का उपदेश सुनना **योग शास्त्र सूत्र २/१** की व्याख्या में व्यास मुनि ने अनिवार्य कहा है। फलस्वरूप ही योगाभ्यास का फल समाधि के रूप में प्राप्त करके साधक योगी कहलाता है-अन्यथा नहीं। अतः वेदों ने जैसे कि **अथर्ववेद मन्त्र ४/३४/१** ने जीवात्मा के लिए "ब्रह्मौदनम् (ज्ञान का भोजन) एवं शरीर के लिए सात्विक भोजन एवं पौष्टिक भोजन जिसमें सुविधानुसार दूध, घी, दही, हरी सब्जियाँ, दालें, फल, मधु, जौ,

चावल आदि विशेष कहे हैं। अतः केवल भोजन करके सो जाना अथवा केवल सत्संग आदि की बातें ही करना, योगाभ्यास आदि उपासना न करना, दोनों ही अज्ञान को बढ़ावा देने वाले कर्म हैं। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१४** में भौतिक एवं आध्यात्मिक, दोनों उन्नत्तियों का साथ-साथ होना अनिवार्य कहा है। इसके लिए प्रथम आवश्यकता से अधिक भोजन न करें।

दूसरा यह उपदेश भी श्लोक में है कि न अधिक सोना चाहिए और न ही अधिक जागना चाहिए। वास्तव में वैदिक एवं शास्त्रीय विधान में तो, जैसा कि **योग शास्त्र सूत्र १/६** में भी कहा कि प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति, यह पाँच वृत्तियाँ हैं जिसमें निद्रा भी चित्त की एक वृत्ति है अर्थात् शरीर में रहने वाली जीवात्मा कभी नहीं सोती। यह निद्रा और जागना अनादिकाल से, अनादि जन्मों से, जड़ चित्त के ऊपर बने संस्कार हैं। जीवात्मा तो अविद्याग्रस्त हुआ अपने शुद्ध स्वरूप को भूलकर यह झूठ समझ बैठा है कि मैं सो रहा हूँ। इसका विस्तृत वर्णन **योगशास्त्र सूत्र १/१०** में मैंने ईश्वर कृपा से इस प्रकार किया है- **"अभावप्रत्ययाऽलम्बना वृत्तिर्निद्रा"**

अर्थात् निद्रा चित्त की वह वृत्ति है जिसमें ज्ञान के अभाव की जानकारी होती है। जैसे गाढ़ निद्रा की स्थिति में ज्ञान का अभाव हो जाता है अर्थात् निद्रावस्था में संसार, एवं संसार के पदार्थ किसी का भी ज्ञान नहीं रहता। परन्तु जागने पर यह ज्ञान होता है कि निद्रा में हमें कुछ ज्ञान नहीं रहा था। अतः गाढ़ निद्रा में कुछ ज्ञान नहीं रहता, इस ज्ञान की जानकारी देने वाली वृत्ति निद्रा कही गई है। निद्रा वृत्ति अज्ञान और अंधकार में फँसी होती है। परन्तु निद्रा वृत्ति से जागने पर यह ज्ञान होता है कि मैं आज सुख से सोया अथवा मुझे अच्छी नींद नहीं आयी। अतः निद्रा वृत्ति भी ज्ञान देने वाली वृत्ति है और निद्रा वृत्ति से साधक जब यह ज्ञान प्राप्त करता है कि जैसे निद्रा में संसारी विषय कुछ याद नहीं रहते, इसी प्रकार जाग्रत ध्यानावस्था में कुछ याद न रहे, तब यही वृत्ति क्लेशों का नाश करने वाली होती है।

अतः योगी को ऊपर कहे सब उपदेशों का पालन करते हुए आचरण में लाने चाहिए। वस्तुतः आचरण में लाने पर ही कोई योगी कहलाता है। यह जो वर्तमान में गीता के श्लोक को उलट-पुलट करके, केवल पढ़, सुन, रटकर के व्याख्यान करना है, यह जनता एवं सम्पूर्ण देश को दुःखों के सागर में डुबोए जा सकता है। श्रीकृष्ण महाराज गीता

के मनीषी नहीं थे, वह सम्पूर्ण वेद विद्याओं के मनन कर करके आचरण में लाने वाले योगेश्वर पुरुष हुए हैं। अतः प्रथम तो योगाभ्यास, यश, नाम जप आदि उपासना द्वारा साधक निद्रा वृत्ति को जीतने का प्रयास करे और जब तक न जीत पायें तो आयु के अनुसार गहरी निद्रा नित्य लें। ४० वर्ष तक तो ५ से ६ घण्टे रात्रि में सोये। ४१ से ६० वर्ष तक ५ घण्टे, तथा ६० वर्ष की आयु से अधिक कठिन योगाभ्यास द्वारा निद्रा को ४ से ५ घण्टे तक सीमित करने का प्रयास करें। ६० वर्ष की आयु तक दिन में न सोयें। डॉक्टर के कहने पर ही सोयें। हठ पूर्वक जागने का प्रयास न करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।"

(गीता श्लोक ६/१७)

(युक्ताहारविहारस्य) युक्त आहार विहार वाले, **(कर्मसु)** कर्मों में **(युक्तचेष्टस्य)** युक्त चेष्टा वाले **(युक्तस्वप्नावबोधस्य)** युक्तशयन एवं बोध अर्थात् जागने वाले का **(योगः)** योग तो **(दुःखहा)** दुखों को नाश करने वाला **(भवति)** होता है।

अर्थः- युक्त आहार विहार वाले, कर्मों में युक्त चेष्टा वाले, युक्त शयन एवं बोध अर्थात् जागने वाले का योग तो दुःखों को नाश करने वाला होता है।

भावार्थः- श्रीकृष्ण महाराज ने दुःखों के नाश के उपाय के लिए युक्त आहार, विहार, कर्मों में युक्त चेष्टा, युक्त ही जिसका शयन करना एवं युक्त जागना है, इस प्रकार के योग का उपदेश दिया है। पिछले श्लोक ६/१६ में इस प्रकार के ही भोजन, शयन एवं जागने के विषय में कहा गया है। अतः पिछले श्लोक की युक्त भोजन आदि की अनुवृत्ति के अनुसार प्रस्तुत श्लोक का भावार्थ भी युक्त आहार विहार आदि से ही जुड़ा हुआ है अन्यथा इन्द्रियों को जब योगाभ्यास द्वारा संयम में कर लिया जाता है तो इन्द्रियाँ भी संसार के भोग पदार्थों का धर्मानुसार ही उपभोग करती हैं और संयम में रहती हैं जो कि इन्द्रियों का युक्त आहार-विहार आदि कहा जाता है।

वस्तुतः **अथर्ववेद काण्ड ४, सूक्त ३४** के मन्त्रों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि

भोजन तीन प्रकार का है। एक तो आँख, नासिका आदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों द्वारा विषय विकार रूपी भोजन है। इस काम, क्रोध आदि विषयों को ग्रहण करके जीवात्मा जन्म-मृत्यु के चक्कर में फँसकर दुःखों के सागर में गोता लगाता रहता है। दूसरा भोजन ज्ञान का भोजन है जिसे इस अथर्ववेद ने **"ब्रह्मौदनम्"** कहा है। अर्थात् ज्ञान भोजन को करने वाला पुरुष संसारी विकारों से सन्तप्त नहीं होता। उसमें सभी शक्तियों का विस्तार होता है। वह प्रभु का उपासक दरिद्र नहीं होता। दिव्य ज्ञान को प्राप्त करता है तथा सदा आनन्दित रहता है। इन्द्रियाँ संयम में होती हैं तथा निरोगता धारण करता हुआ मोक्ष पा जाता है। ज्ञान भोजन का भाव है कि वेद विद्या का सुनना, यज्ञ करना, वेदों में कहे अष्टाँग योग का अभ्यास करना, यह ज्ञान भोजन जीवात्मा के उद्धार के लिए होता है और इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किए विषय-विकार जीवात्मा को दुःखों के सागर में गोते लगाने के लिए होते हैं। तीसरा भोजन, शरीर की पुष्टि और निरोगता के लिए होता है। इसमें सात्विक अन्न, गऊ का दूध घी, दही, चावल, फल, हरी सब्जियाँ इत्यादि आती हैं। अतः प्राणी सात्विक, पौष्टिक एवं पाचनशील भोजन ही करे। **अथर्ववेद मन्त्र ६/७१/१** में अभक्ष्य (माँस मदिरा) भोजन वर्जित कहा है। इसी वेद के **मन्त्र ५/१२/१०** में कहा कि प्रत्येक प्राणी सात्विक भोजन ही करे। फलस्वरूप ही दिव्य गुणों का विकास होगा। अगले ही **मन्त्र ५/१२/११** में स्पष्ट कहा कि नित्य अग्निहोत्र करके अग्नि में **"स्वाहा"** शब्द से उच्चारण करके डाली हुई आहुति भोजन को पवित्र एवं शुद्ध करती है। फिर माता-पिता एवं अतिथियों को भोजन कराकर ही भोजन करें। **अथर्ववेद मन्त्र ८/२/१** में **"यज्ञशेष"** रूप अमृत भोजन को करने का ही उपदेश है और कहा कि ऐसा भोजन करने से रोगों का नाश और दीर्घायु प्राप्त होती है। प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने तो दुःखों के नाश के लिए इसी सात्विक भोजन को करने का उपदेश दिया है। और रात्रि के प्रथम प्रहर के आरम्भ में सोकर, प्रातः काल चार बजे उठकर, शौच आदि से निवृत्त होकर ईश्वर के नाम का जाप, योगाभ्यास एवं सूर्य की किरण निकलते ही यज्ञ/हवन करने का विधान है। इसके पश्चात जीव अपने सांसारिक शुभ कर्म दिन भर करे। अतः इस श्लोक में **"युक्त"** शब्द का अर्थ **"युक्ति के अनुसार"** अर्थात् वैदिक कर्म जो सुव्यवस्थित किए गए हैं, उनके अनुसार ही अर्थात् उनसे युक्त होकर ही साधना एवं भोजन करें। इस प्रकार इन्द्रियाँ भी युक्ति का भोजन और युक्ति का विहार-गमन, सोना, उठना, बैठना, शुद्ध व्यवहार एवं कर्त्तव्य कर्म आदि करें। इन्द्रियों का स्वामी जीवात्मा

इन्द्रियों से यह शुभ कर्म कराए, तभी जीव आत्मिक सुख प्राप्त करता है। आज प्रायः प्राणी अग्निहोत्र/यज्ञ का त्याग करके अशुद्ध भोजन के द्वारा बुरे विचारों का शिकार हो गया है। अतः हम इस श्लोक के **"युक्त"** शब्द पर विचार करें जिसका कुछ अर्थ भोजन एवं यज्ञ के विषय में ऊपर बता दिया गया है। भाव यह है कि यदि केवल वेद विरोधी गुरुओं द्वारा नाम देने से भोजन अथवा अन्तःकरण शुद्ध हो जाता तो आज के कई गुरुओं के ऊपर गन्दे-गन्दे दोष एवं लाच्छन न लगते। और ऐसे गुरु जो पहले कभी गरीब थे, अब अरबपति न बनते। स्वयं भी जीव अपने अन्दर झाँककर देखे कि क्या केवल ऐसे वेद विरोधी गुरुओं के नाम देने और उनके कहे सत्संग में जाने से, उनके काम, क्रोध, मद लोभ आदि विकार शान्त हो गए हैं? अतः अनादिकाल से चली वैदिक विद्या में ईश्वर द्वारा कहे यज्ञ का हम त्याग न करें। तभी युक्त आहार-विहार तथा **"युक्त स्वप्नावबोधस्य"** उपदेश पर चलकर जीवन का ध्येय पूरा हो सकेगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।"

(गीता श्लोक ६/१८)

(यदा) जब **(चित्तम्)** चित्त **(विनियतम्)** रुक जाता है अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और **(आत्मनि)** परमात्मा में **(एव)** ही **(अवतिष्ठते)** स्थिर होता है **(तदा)** तब **(सर्वकामेभ्यः)** सब कामनाओं से **(निःस्पृहः)** इच्छा रहित होकर **(युक्तः)** योग युक्त हो जाता है **(इति)** ऐसा **(उच्यते)** कहते हैं।

अर्थः- जब चित्त रुक जाता है अर्थात् चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं और परमात्मा में ही स्थिर होता है तब सब कामनाओं से इच्छा रहित होकर, योग युक्त हो जाता है, ऐसा कहते हैं।

भावार्थः- प्रकृति के तीनों गुणों से रचे गए मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार अन्तःकरण कहलाते हैं। उसमें चित्त पर जन्म-जन्मांतरों से किए हुए पाप-पुण्य रूपी कर्मों का संस्कार एकत्र रहता है जो समय आने पर इस जन्म और अगले जन्म में भोगा जाता है। जब वेदाध

ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों के करने से "असम्प्रज्ञात-समाधि" में यह सब संस्कार एक बीज की तरह जलकर नाश हो जाते हैं तभी जीव मुक्त होता है और ईश्वर में लीन होता है। इसी भाव को इस श्लोक में प्रस्तुत किया गया है कि हे अर्जुन! जब चित्त की वृत्तियाँ रुक जाती हैं तो चित्त योग युक्त अर्थात् परमात्मा में लीन हो जाता है। श्लोक में **'विनियतम् चित्तम्'** शब्द का अर्थ है कि वह चित्त जिसकी काम वासनाएँ जो चित्त पर अंकित हैं, जो चित्त की वृत्तियाँ हैं, वह रुक गई हैं जिसे **योगशास्त्र १/२** में **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** कहा है अर्थात् जिसकी चित्त वृत्तियाँ योग-साधना द्वारा रुक गई हैं तब साधक का चित्त एकाग्रावस्था प्राप्त कर लेता है। क्योंकि पता जलि योग-शास्त्र के ऊपर कहे सूत्र **१/२** में पता जलि ऋषि ने पूर्णतः सब चित्त वृत्तियों के निरोध की बात नहीं कही है। अतः **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** शब्द से चित्त की एकाग्र अवस्था का बोध होता हैं इस अवस्था को ही सम्प्रज्ञात योग कहते हैं। और जब **"सर्वचित्तवृत्तिनिरोध"** अर्थात् चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध (रुकना) होता है तो इसे 'असम्प्रज्ञात-योग' कहते है। सम्प्रज्ञात योग में तो कुछ चित्त की वृत्तियाँ शेष रहती हैं, साधक को अपना और जिसमें ध्यान लगा रहा है, उस परमेश्वर का ज्ञान रहता है और तीसरा यह भी ज्ञान रहता है कि मैं मन से परमेश्वर के ध्यान में बैठा हूँ। परन्तु असम्प्रज्ञात योग में यह तीनों भेद समाप्त हो जाते हैं और केवल आनन्द स्वरूप परमेश्वर में ही जीव लीन हो जाता है। फलस्वरूप ही वह योग-सिद्ध पुरुष कहलाता है। अर्थात् वह समाधिस्थ पुरुष है और उसका चित्त परमात्मा में लीन होता है। अब प्रश्न यह है कि चित्त की वृत्तियाँ रुक कैसे जाती हैं? केवल गीता का पाठ करने, लुभावने व्याख्यान देने वालों का या सुनने वालों का चित्त तो कभी परमेश्वर में लीन हो जाए, ऐसा असम्भव लगता है। क्योंकि चित्त को परमेश्वर में लीन करने के लिए जो मार्ग कहा गया है, वह वेदाध्ययन वाला मार्ग है। वेदाध ययन, वेदानुकूल तपस्या, इन्द्रिय संयम, यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों का फल ही चित्त वृत्तियों को रोकने में सम्भव होता है और यह सब कहे गए शुभ कर्म आज प्रायः प्राणी अथवा प्रायः सन्तों में दिखाई नहीं देते। अतः साधक गीता का आदेश मानते हुए ऊपर कहे हुए शुभ कर्मों द्वारा अपनी चित्त की वृत्तियों को रोकें और चित्त ईश्वर में लीन करें, जैसा कि प्रस्तुत श्लोक एवं पीछे के श्लोक में कहा, उसके बाद ही जीव की सब कामनाएँ शान्त हो जाती हैं, अधार्मिक इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं और क्योंकि इस स्थिति में जीवात्मा ब्रह्म के आनन्द में डुबकियाँ लगाता रहता है तो उसे योग-युक्त अर्थात् ब्रह्मलीन

कहते हैं। ऊपर कही साधना द्वारा चित्त की वृत्तियों के अन्दर रुक जाने को योग कहते हैं, योग का यहाँ अर्थ समाधि है और जीव इस दशा में समाधिस्थ होता है, अर्थात् समाधि से जुड़ा होता है या कहो ईश्वर से जुड़ा होता है। फलस्वरूप ही उसे योग-युक्त कहा जाता है। इस अवस्था को **ऋग्वेद मंत्र १०/९६/१२** में इस प्रकार कहा है-

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम् ।।

मन्त्र में कहा **"इन्द्र त्वा हर्यन्तम्"** कि हे परमात्मा! तेरी उपासना रूपी रस की कामना करने वाले **'जनानाम् प्रयुजः'** उपासना करने वालों के प्राणायाम आदि योगाभ्यास द्वारा तू हृदय में प्रकट होता है और इस प्रकार तू साधक के सब दुःखों का नाश कर देता है। स्पष्ट है कि केवल भगवद्गीता आदि किसी भी ग्रन्थ का पढ़-सुन रटकर भाषण करना निर्मूल है। अतः केवल व्याख्यान करना व केवल सुनना कभी भी सुखकारक नहीं हो सकता। ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा ब्रह्म के आनन्द में डूबने के लिए जीव को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि उपासना करना अनिवार्य है। हमें फलस्वरूप ही भगवद्गीता के इस श्लोक में कही यह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्मलीन स्थिति प्राप्त होगी। हम यह विचार करें कि श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को योगाभ्यास आदि कराके योगी नहीं बनाना चाहते अपितु धर्मयुद्ध करवाना चाहते हैं। जब अर्जुन गाण्डीव धनुष त्यागकर युद्ध न करने की बात कहने लगा। अहिंसा के विषय में तथा युद्ध न करके भिक्षा के अन्न पर जीवित रहने और स्वसंबंधियों को न मारने की बात कहने लगा तब श्रीकृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन! तू विद्वानों के से वचनों को कहता है परन्तु विद्वान् है नहीं। फलस्वरूप श्रीकृष्ण अर्जुन को विद्वानों (योगियों) की तपस्या एवं गुण समझा रहें हैं जो कि अर्जुन में नहीं हैं, होते तो क्यों समझाते। ऐसा कहकर समझा रहें हैं कि हे अर्जुन! तू क्षत्रिय वंशीय धर्म रूपी धर्म युद्ध ही कर। क्योंकि कर्म-योग तेरे लिए श्रेष्ठ है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य यु जतो योगमात्मनः।।"

(गीता श्लोक ६/१९)

(यथा) जैसे **(निवातस्थः)** वायु रहित स्थान में रखे **(दीपः)** दीपक की लौ **(न)** नहीं **(इङ्गते)** चेष्टा करती अर्थात् नहीं हिलती-डुलती **(सा)** वैसी **(उपमा)** उपमा **(आत्मनः)** परमात्मा के **(योगम्)** योग **(यु जतः)** युक्त योगिनः योगी के **(यतचित्तस्य)** वश में किए हुए चित्त की **(स्मृता)** कही गई है।

अर्थः- जैसे वायु रहित स्थान में रखे दीपक की लौ नहीं चेष्टा करती अर्थात् नहीं हिलती-डुलती, वैसी उपमा परमात्मा के योगयुक्त योगी के वश में किए हुए चित्त की कही गई है।

भावार्थः- जिस तरह वायु रहित स्थान में दीपक की लौ हिलती-डुलती नहीं है, एक सीध में ऊपर की ओर लगातार जलती रहती है, बिल्कुल इसी प्रकार जिस योगी का चित्त वेदाध्ययन, यज्ञ और अष्टाँग योग की साधना द्वारा सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करके वश में हो गया है तो वह चित्त भी बिना हिले-डुले अर्थात् बिना किसी भी संसारी अथवा अन्य विचार का चिन्तन किए केवल एक परमात्मा में ही लग जाता है। चित्त और वायु रहित दीपक की लौ का उदाहरण बहुत मार्मिक है। जैसे कि यदि दीपक ऐसे स्थान पर रखा है जहाँ हवा गति से चल रही है अथवा कम गति से थोड़ी अधिक चल रही है तो वह दीपक अर्थात् दीपक की लौ या तो हिलेगी-डुलेगी या हवा की तेज गति के कारण बुझ जाएगी। अतः यह स्थिति उस साधक की होगी जो नित्य साधना करता है लेकिन उसका चित्त साधना के समय आसन पर बैठे हुए भी संसार के बाहरी भिन्न-भिन्न विषयों का तेज गति से चिन्तन करता है। तथा घोर संसारी चिन्तन, काम-क्रोध आदि में फँसकर तो उसका चित्त न वेदाध्ययन, न वेद के मन्त्रों अथवा न ही ईश्वर के स्वरूप के चिन्तन-ध्यान में लगता है। योगी जो ईश्वर के चिन्तन-ध्यान में मग्न है, उसे अचानक संसार की बाहरी वृत्तियाँ ईश्वर के चिन्तन से डगमगा दें और अपना प्रभाव जमा दें ऐसा कदापि नहीं होता क्योंकि यह उदाहरण तो उस योगी का दिया है जिसने अष्टाँग योग की सर्वोच्च अवस्था, समस्त इन्द्रियों के संयम द्वारा निर्विकल्प समाधि के रूप में प्राप्त कर ली है। अब उसको संसार की तेज हवा रूपी विषय-विकारों की आँधी क्या सताएगी? अर्थात् जैसे जलता दीपक स्थायी रूप से ऐसे स्थान में रखा है जहाँ वायु दीपक की लौ को डगमगा नहीं सकती। इसी प्रकार योगी ने अपना चित्त दृढ़ अभ्यास, कठोर नियम द्वारा इस तरह ईश्वर के चिन्तन-ध्यान में लीन कर लिया है कि अब पुनः

कहते हैं। ऊपर कही साधना द्वारा चित्त की वृत्तियों के अन्दर रुक जाने को योग कहते हैं, योग का यहाँ अर्थ समाधि है और जीव इस दशा में समाधिस्थ होता है, अर्थात् समाधि से जुड़ा होता है या कहो ईश्वर से जुड़ा होता है। फलस्वरूप ही उसे योग-युक्त कहा जाता है। इस अवस्था को **ऋग्वेद मंत्र १०/६६/१२** में इस प्रकार कहा है-

आ त्वा हर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र ।
पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन्यज्ञं सधमादे दशोणिम् ।।

मन्त्र में कहा **"इन्द्र त्वा हर्यन्तम्"** कि हे परमात्मा! तेरी उपासना रूपी रस की कामना करने वाले **'जनानाम् प्रयुजः'** उपासना करने वालों के प्राणायाम आदि योगाभ्यास द्वारा तू हृदय में प्रकट होता है और इस प्रकार तू साधक के सब दुःखों का नाश कर देता है। स्पष्ट है कि केवल भगवद्गीता आदि किसी भी ग्रन्थ का पढ़-सुन रटकर भाषण करना निर्मूल है। अतः केवल व्याख्यान करना व केवल सुनना कभी भी सुखकारक नहीं हो सकता। ब्रह्म के साक्षात्कार अथवा ब्रह्म के आनन्द में डूबने के लिए जीव को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि उपासना करना अनिवार्य है। हमें फलस्वरूप ही भगवद्गीता के इस श्लोक में कही यह योगयुक्त अर्थात् ब्रह्मलीन स्थिति प्राप्त होगी। हम यह विचार करें कि श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को योगाभ्यास आदि कराके योगी नहीं बनाना चाहते अपितु धर्मयुद्ध करवाना चाहते हैं। जब अर्जुन गाण्डीव धनुष त्यागकर युद्ध न करने की बात कहने लगा। अहिंसा के विषय में तथा युद्ध न करके भिक्षा के अन्न पर जीवित रहने और स्वसंबंधियों को न मारने की बात कहने लगा तब श्रीकृष्ण ने कहा था कि हे अर्जुन! तू विद्वानों के से वचनों को कहता है परन्तु विद्वान् है नहीं। फलस्वरूप श्रीकृष्ण अर्जुन को विद्वानों (योगियों) की तपस्या एवं गुण समझा रहें हैं जो कि अर्जुन में नहीं हैं, होते तो क्यों समझाते। ऐसा कहकर समझा रहें हैं कि हे अर्जुन! तू क्षत्रिय वंशीय धर्म रूपी धर्म युद्ध ही कर। क्योंकि कर्म-योग तेरे लिए श्रेष्ठ है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य यु जतो योगमात्मनः।।"

(गीता श्लोक ६/१९)

(यथा) जैसे **(निवातस्थः)** वायु रहित स्थान में रखे **(दीपः)** दीपक की लौ **(न)** नहीं **(इङ्गते)** चेष्टा करती अर्थात् नहीं हिलती-डुलती **(सा)** वैसी **(उपमा)** उपमा **(आत्मनः)** परमात्मा के **(योगम्)** योग **(यु जतः)** युक्त योगिनः योगी के **(यतचित्तस्य)** वश में किए हुए चित्त की **(स्मृता)** कही गई है।

अर्थः- जैसे वायु रहित स्थान में रखे दीपक की लौ नहीं चेष्टा करती अर्थात् नहीं हिलती-डुलती, वैसी उपमा परमात्मा के योगयुक्त योगी के वश में किए हुए चित्त की कही गई है।

भावार्थः- जिस तरह वायु रहित स्थान में दीपक की लौ हिलती-डुलती नहीं है, एक सीध में ऊपर की ओर लगातार जलती रहती है, बिल्कुल इसी प्रकार जिस योगी का चित्त वेदाध्ययन, यज्ञ और अष्टाँग योग की साधना द्वारा सम्प्रज्ञात अथवा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करके वश में हो गया है तो वह चित्त भी बिना हिले-डुले अर्थात् बिना किसी भी संसारी अथवा अन्य विचार का चिन्तन किए केवल एक परमात्मा में ही लग जाता है। चित्त और वायु रहित दीपक की लौ का उदाहरण बहुत मार्मिक है। जैसे कि यदि दीपक ऐसे स्थान पर रखा है जहाँ हवा गति से चल रही है अथवा कम गति से थोड़ी अधिक चल रही है तो वह दीपक अर्थात् दीपक की लौ या तो हिलेगी-डुलेगी या हवा की तेज गति के कारण बुझ जाएगी। अतः यह स्थिति उस साधक की होगी जो नित्य साधना करता है लेकिन उसका चित्त साधना के समय आसन पर बैठे हुए भी संसार के बाहरी भिन्न-भिन्न विषयों का तेज गति से चिन्तन करता है। तथा घोर संसारी चिन्तन, काम-क्रोध आदि में फँसकर तो उसका चित्त न वेदाध्ययन, न वेद के मन्त्रों अथवा न ही ईश्वर के स्वरूप के चिन्तन-ध्यान में लगता है। योगी जो ईश्वर के चिन्तन-ध्यान में मग्न है, उसे अचानक संसार की बाहरी वृत्तियाँ ईश्वर के चिन्तन से डगमगा दें और अपना प्रभाव जमा दें ऐसा कदापि नहीं होता क्योंकि यह उदाहरण तो उस योगी का दिया है जिसने अष्टाँग योग की सर्वोच्च अवस्था, समस्त इन्द्रियों के संयम द्वारा निर्विकल्प समाधि के रूप में प्राप्त कर ली है। अब उसको संसार की तेज हवा रूपी विषय-विकारों की आँधी क्या सताएगी? अर्थात् जैसे जलता दीपक स्थायी रूप से ऐसे स्थान में रखा है जहाँ वायु दीपक की लौ को डगमगा नहीं सकती। इसी प्रकार योगी ने अपना चित्त दृढ़ अभ्यास, कठोर नियम द्वारा इस तरह ईश्वर के चिन्तन-ध्यान में लीन कर लिया है कि अब पुनः

उसे संसार के विकार ध्येय से डगमगा नहीं सकते। **योग शास्त्र सूत्र ४/२६- "प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः"** का भाव है कि बुद्धि और पुरुष का भिन्न-भिन्न ज्ञान होना "प्रसंख्यान" है। प्रसंख्यान एवं विवेकख्याति पदों की व्याख्या मैंने ईश्वर कृपा से योग शास्त्र सूत्र १/२ में की हुई है। रजोगुण के मल से रहित चित्त अपने स्वरूप में स्थित, बुद्धि और पुरुष के भिन्न-भिन्न ज्ञान से युक्त होता है तब "धर्ममेघ समाधि" सिद्ध होती है। इसी को योगी **"परं प्रसंख्यान"** कहते हैं। बुद्धि और पुरुष का भिन्न ज्ञान "विवेकख्याति" कहलाता है। यही जीवनमुक्त अवस्था है-निर्बीज समाधि है अथवा असम्प्रज्ञात समाधि है। विवेकख्याति में भी जब योगी राग-द्वेष आदि से रहित, फल की इच्छा से रहित होता है तब पूर्ण रूप से विवेकज्ञान होने से धर्ममेघ समाधि अवस्था प्राप्त होती है।

व्यास भाष्य में कहा है-जब यह ब्राह्मण प्रसंख्यान ज्ञान में राग आदि से रहित होता है तब उसे कोई कामना शेष नहीं रहती। उससे भी विरक्त होकर, उसे पूर्ण विवेकख्याति प्राप्त होती है। संस्कार के बीज नष्ट हो जाने से, इसके चित्त में अन्य वृत्तियाँ उत्पन्न नहीं होतीं। तब इस योगी की धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है। इस अवस्था को ही प्रस्तुत श्लोक में **आत्मनः योगम् युञ्जतः योगिनः यतचित्तस्य स्मृता** कहा है जिसका अर्थ ऊपर कर दिया गया है।

ऋग्वेद मन्त्र १/५/६-

"त्वं सुतस्य पीतये सद्यो वृद्धो अजायथाः ।
इन्द्र ज्यैष्ठायाय सुक्रतो।।"

का भी भाव है कि-ईश्वर जीव को उपदेश कर रहा है कि हे जीव! तू केवल आयु के कारण वृद्ध (बड़ा) नहीं कहलाता। जब तक तू पुरुषार्थ द्वारा वैदिक विद्या प्राप्ति में वृद्ध नहीं होगा और समाज का परोपकार नहीं करेगा, तब तक तू मनुष्यों में वृद्ध नहीं कहलाएगा चाहे तू १०० वर्ष की आयु का ही क्यों न हो। और न ही तुझे परम शांति व ईश्वर अनुभूति का परम सुख ही मिलेगा। अतः हे नर-नारियों तुम विद्या में वृद्ध होकर सबका उपकार करके ईश्वर और परम शांति को प्राप्त करो।

इस मन्त्र तथा ऐसे वेदों में कहे अनेक मन्त्रों का भाव यही है कि ईश्वर ने प्रकृति

द्वारा जो संसार के पदार्थ रचे हैं, वह पुरुषार्थी और उत्साहयुक्त जीव के उपभोग द्वारा योग सिद्ध करके मोक्ष प्राप्ति करने के लिए हैं अथवा विषय-विकारी, आलसी नर-नारियों के लिए भोग प्राप्ति करके नरकगामी होने के लिए हैं। अतः जब साधक की मोक्ष प्राप्ति हो जाती है तब प्रकृति अपना कार्य उसके लिए समाप्त कर देती है क्योंकि उस योगी का पुनर्जन्म भी समाप्त हो जाता है और भोगी जनों के लिए तो संसार सदा बना ही रहता है क्योंकि ऐसे नर-नारी जगत के पदार्थों के भोग में, विषय-विकारों में रत रहकर सदा जन्म-मृत्यु के चक्र में फँसे और पापयुक्त होकर कर्मानुसार पशु-पक्षी की अनेक योनियों में भ्रमण करते हुए दुःख उठाते हैं।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।"

(गीता श्लोक ६/२०)

(यत्र) जिस काल में **(योग-सेवया)** अष्टाँग योग, साधना द्वारा **(निरुद्धम्)** निरुद्ध **(चित्तम्)** चित्त **(उपरमते)** उपराम होता है **(च)** और **(यत्र)** जिस काल में चित्त **(आत्मना)** आत्मा से **(आत्मानम्)** आत्मा को अर्थात् परमेश्वर को **(पश्यन्)** साक्षात् करके **(आत्मनि)** आत्मा में **(एव)** ही **(तुष्यति)** सन्तोष प्राप्त करता है। अर्थात् स्वयं के द्वारा स्वयं एवं ईश्वर को जान कर स्वयं में सन्तोष/परम सुख अनुभव करता है।

अर्थः- जिस काल में अष्टाँग योग साधना द्वारा निरुद्ध चित्त उपराम होता है विषयों का त्याग कर देता है और जिस काल में चित्त आत्मा से आत्मा अर्थात् परमात्मा को साक्षात् करके आत्मा में ही सन्तोष प्राप्त करता है। अर्थात् स्वयं के द्वारा स्वयं को तथा ईश्वर को जानकर स्वयं में संतोष/परम सुख अनुभव करता है।

भावार्थः- अथर्ववेद मंत्र ६/५/८ एवं ९ में जीव को **'अज'** कहा है। **'अज'** से तात्पर्य गतिशील, चेतन जीव बुराइयों का नाश करने वाला है। और इस प्रकार बुराइयों को त्यागकर जीव, **"सुकृताम् लोकः आरोह"** अर्थात् जीवात्मा पुण्यवान लोकों को प्राप्त करे

और साधना द्वारा पापों को नष्ट करने वाले को परमेश्वर आनंद से भरपूर कर देते हैं। मंत्र ८ का भी यही भाव है कि जीवात्मा पुरुषार्थ द्वारा पाँचों ज्ञानेन्द्रियों से वेद विद्या का ज्ञान और योगाभ्यास करता हुआ, **"ईजानानाम् सुकृताम् मध्यं प्रेहि"** अर्थात् जीवात्मा इस प्रकार यज्ञ करने वाले पुण्यवान लोगों के मध्य में रहता हुआ और विद्या प्राप्त करता हुआ, **"तृतीया नाके अधिविश्रयस्व"**, 'नाके' का अर्थ मोक्ष के आनंद में रमण करना होता है। अर्थात् जीवात्मा आनंदस्वरूप परमेश्वर में स्थित हो। यहां वेदमंत्र में 'आरोह' शब्द प्रेरणा युक्त है कि ईश्वर प्रेरणा दे रहे हैं कि जीवात्मा स्वयं पुरुषार्थ द्वारा साधना करता हुआ अपने स्वरूप को जानकर ब्रह्म के आनंद में डूबे। यही भाव ऊपर श्रीकृष्ण महाराज जी के हैं कि आत्मा के द्वारा परमात्मा को साक्षात् करता हुआ आत्मा में ही सन्तुष्ट होये। यहाँ आत्मा पद का अर्थ जीवात्मा है अर्थात् जीवात्मा को स्वयं ही पुरुषार्थ करना होता है। इसी भाव को **गीता श्लोक ६/५** में इस प्रकार कहा है-**"आत्मना आत्मानम् उद्धरेत्"** अर्थात् जीवात्मा स्वयं के द्वारा, स्वयं का उद्धार करे। भाव है कि मनुष्य का शरीर पाकर जीव स्वयं आगे बढ़े। वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास में नित्य रत रहे, गृहस्थ के शुभ कार्य करे और आलसी बनकर प्रमाद न करे। इन शिक्षाओं को ही प्रस्तुत श्लोक में **"योगसेवया"** पद से दर्शाया है। अर्थात् केवल पढ़-सुन, रट कर गीता, रामायण आदि सुनने और सुनाने से मिथ्यावाद पर आधारित होकर झूठा धन और झूठा यश कमाकर, झूठ फैलाया जा सकता है परन्तु वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की सचमुच में साधना करके नीचे कहे वेदमंत्र, योगशास्त्र के सूत्र एवं प्रस्तुत श्रीकृष्ण के श्लोक के अनुसार कोई विरला ही अपने स्वरूप को जानकर ब्रह्म के आनंद में डूबकी लगाता है। ऐसा **"योगसेवया"** गुण प्राप्त योगी मिथ्यावाद नहीं फैला सकता।

प्रस्तुत श्लोक में 'आत्मा' पद का अर्थ भी शरीर में रहने वाली सुख-दुःख भोगने वाली जीवात्मा के लिए प्रयोग किया गया है और 'आत्मानम्' पद परमात्मा के लिये प्रयोग किया है। गीता के दूसरे अध्याय में आत्मा अर्थात् जीवात्मा के कुछ गुण कहे हैं। आत्मा अजर, अमर, अविनाशी, जन्म-मरण से रहित, शस्त्रों से काटी नहीं जा सकती इत्यादि गुणों से युक्त है। इसी दूसरे अध्याय के श्लोक २/५५ में जीवात्मा (आत्मा) के विषय में कहा है कि हे अर्जुन, **"आत्मना एव आत्मनि तुष्टः"** अर्थात् जब साधक के मन में सम्पूर्ण कामनाओं का नाश हो जाता है, तब वह आत्मा से आत्मा में ही संतुष्ट हुआ ब्रह्म में स्थिर बुद्धि वाला पुरुष कहा जाता है। इस स्थिति का वर्णन पता जलि ऋषि ने **योग**

शास्त्र सूत्र १/३ में किया है। **"तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्"** अर्थात् जब वेदाध्ययन, अष्टाँग योग, यज्ञ की साधना द्वारा चित्त की वृत्तियों को बाहरी विषयों से रोक लिया जाता है, तब संप्रज्ञात समाधि प्राप्त होने पर जीवात्मा (आत्मा) की अपने रूप में स्थिति हो जाती है। भाव यह है कि जीवात्मा अपने स्वरूप को जान लेता है, जिसे कपिल मुनि ने **सांख्य शास्त्र सूत्र १/१५** में **"असंगः अयम् पुरुष इति"** कहा है, अर्थात् यह जीवात्मा शरीर आदि किसी भी प्रकार के संग दोष से रहित है अर्थात् जीवात्मा अलग है, शरीर अलग है और आगे के **सूत्र १/१६** में कहा कि यह जीवात्मा नित्य, शुद्ध उत्पत्ति और विनाश से रहित, चेतन और मुक्त गुणों वाला है। इसी अपने शुद्ध, चेतन स्वरूप को जीवात्मा जान जाता है। और प्रकृति के बंधन में पड़ा यह जीवात्मा अपने आपको जन्म-मरण वाला सुख-दुःख भोगने वाला, रोने-धोने वाला और स्वयं को चेतन न मानकर जड़ शरीर आदि अनेक अवगुणों वाला समझ बैठता है। जब जीवात्मा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करता है तब पूर्ण रूप से चित्त वृत्तियाँ रुकने पर परमात्मा में लीन होता है। अब प्रश्न यह है कि प्रकृति के बंधन में फँसा पुनः पाप एवं पुण्य रूप कर्मों के बंधन में फँसा यह जीवात्मा मनुष्य शरीर को पाकर जब तक स्वयं अपने स्वरूप को जानने की इच्छा नहीं करता और स्वरूप को जानने के लिए स्वयं पुरुषार्थ द्वारा वेदाध्ययन, यज्ञ, विद्वानों का संग एवं योगाभ्यास आदि, अनादि काल से चला साधना में रत नहीं होता, तब तक वह अपने चेतन, अविनाशी स्वरूप को नहीं जान पाता और जैसा कि **योग शास्त्र सूत्र १/४** में कहा जीवात्मा अपने को जड़ चित्त वृत्ति के रूप जैसा समझता है, और चित्त वृत्ति के अनुसार सांसारिक मोह माया में फँसा अपने आपको कभी सुखी, कभी दुखी अनुभव करता है। इसी भाव को श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में इस प्रकार कहा है कि जब योगाभ्यास से साधक के चित्त की वृत्तियाँ अंदर निरुद्ध (रुक) हो जाती हैं, तब **"आत्मना आत्मानम् पश्यन आत्मनि एव तुष्यति"**, अर्थात् जीवात्मा स्वयं के स्वरूप में स्थित होता हुआ, स्वयं में ही संतुष्ट हो जाता है और उसे इस प्रकार स्वयं में ही स्थित परमेश्वर का अनुभव हो जाता है। स्वयं को जाने बिना ईश्वर की अनुभूति नहीं होती। यास्क मुनि ने अपने **शतपथ ब्राह्मण ग्रंथ १४/६/७/३०** में सुंदर कहा है-**"यस्य आत्मा शरीरम्"** अर्थात् परमात्मा जीवात्मा रूपी शरीर के अंदर है। जीवात्मा अलग है और परमात्मा अलग है। इस प्रकार उसे आत्मिक शांति के लिए फिर किसी बाहरी संसारी पदार्थ की इच्छा/आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि जीवात्मा अपने स्वरूप को जानकर ब्रह्म के आनंदमय स्वरूप में

आनंद विभोर हो जाता है, जो कि संसार की सर्वश्रेष्ठ असंप्रज्ञात समाधि अवस्था है, जिसको प्राप्त करके अन्य कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। विचार बार-बार यही करना है कि जीवात्मा को अपने स्वरूप को जानने और अपने से अलग ईश्वर को अपने अन्दर साक्षात् करने के लिए प्रस्तुत श्लोक एवं पीछे लगभग सभी श्लोकों में श्रीकृष्ण महाराज ने 'योगसेवया' अर्थात् अष्टाँग योग साधना को आचरण में लाने के लिए कहा है। परन्तु श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को तो केवल धर्मयुद्ध करने की ही प्रेरणा दे रहे हैं। योगी का स्वभाव समझाते हुए इस श्लोक में भी श्रीकृष्ण महाराज कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जब अष्टाँग योग साधना करके असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त कर के कोई ईश्वर के आनन्द में योगी लीन हो जाता है और आनन्द एवं संतोष प्राप्त कर लेता है तो केवल ऐसे योगी को ही सुख-दुःख नहीं सताते और न कोई उसके लिए कर्म करना शेष रह जाता है। परन्तु हे अर्जुन! तू तो ऐसा योगी नहीं है। तब तू धर्मयुद्ध से क्यों मुँह फेर रहा है अर्थात् युद्ध क्यों नहीं करता। तू योगी नहीं है कि तुझे कर्मफल नहीं भोगना होगा। अतः यदि तू क्षत्रिय होकर धर्मयुद्ध रूपी कर्म नहीं करेगा तब तुझे पापयुक्त कर्म का फल दुःख भोगना होगा। अतः गीता का यह सन्देश है कि सभी नर-नारी वेदों के अनुसार अपने-अपने क्षेत्र में कठिन परिश्रम-शुभ कर्म करते हुए ईश्वर की भक्ति करें।

श्रीकृष्ण उवाच –

"सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।"

(गीता श्लोक ६/२१)

(अतीन्द्रियम्) चक्षु मन नेत्रादि इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाला ब्रह्म **(बुद्धिग्राह्यम्)** शुद्ध बुद्धि द्वारा **(यत्)** जो **(आत्यन्तिकम्)** अत्यन्त **(सुखम्)** आत्मिक सुख है **(तत्)** उस सुख को योगी **(यत्र)** जिस योग अवस्था में **(वेत्ति)** अनुभव करता है **(च)** और **(अयम्)** यह योगी **(स्थितः)** आनन्द में स्थित हुआ **(तत्त्वतः)** परमेश्वर को जानकर **(न एव)** नहीं **(चलति)** चलायमान होता है।

अर्थः- चक्षु मन नेत्रादि इन्द्रियों से ग्रहण न होने वाला ब्रह्म, शुद्ध बुद्धि द्वारा जो अत्यन्त आत्मिक सुख है उस सुख को योगी जिस योग अवस्था में अनुभव करता है और यह

योगी आनन्द में स्थित हुआ परमेश्वर को जानकर नहीं चलायमान होता है।

भावार्थः- यजुर्वेद मंत्र ४०/४ में कहा-**"एकम् मनसः जवीयः"** अर्थात् **"एकम्"**-वह सर्वशक्तिमान ईश्वर एक ही है उसके समान दूसरा कोई परमेश्वर नहीं है, **"मनसः जवीयः"** का अर्थ है मन से भी अधिक गति वाला है। वस्तुतः ईश्वर चेतन तत्त्व है परन्तु जिस तरह मन एक स्थान से दूसरे स्थान पर अर्थात् एक विषय से दूसरे विषय में भाग जाता है। इस तरह ईश्वर नहीं है। ईश्वर के अनन्त गुणों में **'सर्वव्यापकता'** भी एक गुण है अर्थात् ईश्वर जगत के कण-कण में समाया हुआ है। कोई स्थान ऐसा नहीं है जहाँ ईश्वर न हो। अतः ईश्वर को मन की तरह एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की आवश्यकता नहीं है। वह सर्वव्यापक है। मंत्र में आगे कहा **'पूर्वम् अर्षत्' पूर्वम्** अर्थात् सबसे पहले **अर्षत्** अर्थात् जहाँ मन पहुँचता है, ब्रह्म मन से पहले ही वहाँ स्थित है क्योंकि वह सर्वव्यापक है। पुनः मन तो एक निश्चित स्थान तक दौड़ सकता है, जो-जो स्थान आँख और मन के द्वारा जीवात्मा ने देखे हैं, क्योंकि जीवात्मा ब्रह्म तो है नहीं कि हर जगह ब्रह्म की तरह व्यापक हो। अतः वह-वह, तीनों लोकों के भौतिक अथवा अलौकिक स्थान जो-जो जीवात्मा ने देखे नहीं हैं, ईश्वर तो वहाँ-वहाँ पहले से ही विराजमान है। कुछ दिन पहले परम गुरु की कृपा से ईश्वर की स्तुति में मैंने एक कविता लिखी थी जिसके कुछ अंश ये हैं-

यह धरती रंगों से भरी, यह घास पुष्प-फल भरी,
यह वृक्ष लह-लहा रहे, यह पक्षी गीत गा रहे,
यह चन्द्रमा की चांदनी का रूप बिखरा मोहनी
चमकी किरण यह सतरंगी, फूलों की खुशबू मदभरी
ये कौन सबके बीच में, विराजमान है, ये कौन रचनाकार है।

इसी भाव को मंत्र में आगे कहा-**"नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्"** यहाँ देव शब्द का अर्थ जड़ प्रकृति रचित पांच ज्ञानेन्द्रियाँ और एक मन है। क्योंकि चेतन देव चारों वेदों का ज्ञाता अष्टाँग योगी होता है। वह तो इन्द्रियों से परे पहुँचकर ब्रह्मलीन हो ही जाता है। प्रश्न तो इन छः जड़-इन्द्रियों का है जो योगाभ्यास द्वारा जब विषय-विकारों की तरफ जाने से रुक जाती हैं और **योगशास्त्र सूत्र १/२ "योगश्चित्तवृत्ति निरोधः"** के अनुसार जब चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं तब जीवात्मा अपने स्वरूप में एवं अपने

स्वरूप में ही निवास करने वाले ब्रह्म में स्थित हो जाता है, जिस अवस्था को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं और यहाँ मंत्र में कहा कि आँख, नाक, मन, आदि इन्द्रियाँ उस ब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकती। अतः ईश्वर अति सूक्ष्म तत्त्व है, जिस कारण श्री कृष्ण महाराज ने इस श्लोक में **'अतीन्द्रिय'** कहा है अर्थात् वह आँख, नाक आदि इन्द्रियों का विषय नहीं है। आगे श्री कृष्ण महाराज कहते हैं **'बुद्धिग्राह्यम्'** भाव यह है कि अतीन्द्रिय होने के कारण शुद्ध बुद्धि द्वारा ही ब्रह्म का ज्ञान होता है। इस प्रकार की शुद्ध बुद्धि को **योग शास्त्र सूत्र १/४८** में **"ऋतम्भरातत्र प्रज्ञा"** कहा अर्थात् जब योगी वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग की साधना से रज और तम गुण रहित बुद्धि प्राप्त करता है, तो उसकी बुद्धि शुद्ध एवं एकाग्र होती है। यह साधारण बुद्धि की अपेक्षा विशेष बुद्धि कहलाती है।

योग-शास्त्र सूत्र १/४७ के अनुसार निर्विचार समाधि द्वारा निर्मल होकर योगी आत्मिक प्रसन्नता प्राप्त करता है तब इस सूत्र की व्याख्या में व्यास-मुनि कहते हैं कि योगी की बुद्धि के ऊपर के सभी आवरण रूपी मल नष्ट हो जाते हैं। और अगले सूत्र के अनुसार उसकी बुद्धि 'ऋतम्भरा' अर्थात् सदा सत्य का ही पालन करने वाली होती है। इसी शुद्ध बुद्धि के द्वारा वह अतीन्द्रिय ब्रह्म जानने योग्य है। ऐसी ऋतम्भरा बुद्धि के विषय में कहा है-

"आगमेनानुमानेन ध्यानाभ्यासरसेन च।
त्रिधा प्रकल्पयन्प्रज्ञां लभते योगमुत्तमम्"।।

अर्थात् वेद, अनुमान एवं ध्यान के अभ्यास द्वारा उत्पन्न रस से इन तीन प्रकार से बुद्धि में प्राप्त करता हुआ साधक उत्तम योग को प्राप्त होता है। अर्थात् साधक की बुद्धि वेद, अनुमान और ध्यान के अभ्यास से उत्तम अवस्था को प्राप्त करते हुये शुद्ध होती है, व एकाग्रता को प्राप्त होती है। तत्पश्चात उत्तम योग अर्थात् उत्तम योग साधना द्वारा ब्रह्म को प्राप्त होती है।

इस श्लोक में श्री कृष्ण महाराज का यह भाव **"यत् आत्यन्तिकम् मुखम् तत् यत्र वेति"** स्पष्ट है कि योगी इसी ऋतम्भरा बुद्धि द्वारा आत्मिक आनन्द अनुभव करता है। ऐसी योग अवस्था में स्थित हुआ ऋतम्भरा बुद्धि वाला योगी **"तत् वतः न एव चलति"** तत्त्व से परमात्मा को जानकर ईश्वर स्वरूप में स्थित हुआ "न चलति" अर्थात् विचलित

नहीं होता, संशय-युक्त नहीं होता। अर्थात् ऐसे तप करने वाले योगी को परमात्मा, जीवात्मा और प्रकृति रचित संसार के स्वरूप का ज्ञान हो जाता है और वह संशय रहित हो जाता है।

भाव स्पष्ट है कि आचार्य द्वारा वेदाध्ययन यज्ञ, एवं अष्टाँग योग की साधना न करने वाले प्रमादी पुरुष की बुद्धि ऋतम्भरा नहीं होती, न वह ब्रह्म को जानती है, न आत्मिक आनन्द का अनुभव करती है। ऐसे वेद विरोधी संत केवल पढ़, सुन, रट कर भाषण करके मिथ्या कथाओं द्वारा जनता से धन लूटते हैं और ब्रह्म अनुभूति के आनन्द को नहीं अपितु विषय-विकार युक्त इन्द्रियों के आनन्द को अपने हाव-भाव द्वारा प्रकट करके ब्रह्म का आनन्द कहते हैं।

विचार यह करना है कि कहीं अनादि ईश्वरीय वाणी वेद एवं तत्पश्चात ऋषियों द्वारा स्थापित शास्त्रीय मर्यादाओं, साधना आदि का उल्लंघन करके ब्रह्मानुभूति कैसे हो सकती है?

श्रीकृष्ण उवाच-

"यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।"

(गीता श्लोक ६/२२)

(यम्) जिस परमेश्वर को जानकार अत्यन्त आनन्द को **(लब्ध्वा)** प्राप्त करता हुआ योगी **(ततः)** उससे **(अधिकम्)** बढ़कर अधिक **(अपरम्)** अन्य **(लाभम्)** लाभ **(न)** कुछ नहीं **(मन्यते)** मानता है **(च)** और **(यस्मिन्)** जिस ब्रह्म प्राप्ति द्वारा आनन्द अनुभूति में **(स्थितः)** स्थित होता हुआ **(गुरुणा)** भारी से भारी **(दुःखेन)** दुःख से **(अपि)** भी **(न)** नहीं **(विचाल्यते)** विचलित होता है।

अर्थः- जिस परमेश्वर को जानकर अत्यन्त आनन्द को प्राप्त करता हुआ योगी उससे बढ़कर अधिक अन्य लाभ कुछ नहीं मानता है और जिस ब्रह्म प्राप्ति द्वारा आनन्द अनुभूति में स्थित होता हुआ भारी से भारी दुःख से भी नहीं विचलित होता है।

भावार्थः- चारों वेदों ने ईश्वर के अनन्त गुण जो कहे हैं उनमें से एक यह गुण भी है कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है। ईश्वर में अनन्त अविनाशी आनन्द विद्यमान है। स्वयं ईश्वर ने **सामवेद मंत्र १४०** में कहा **"वृत्रहा"**-अविद्या का नाश करने वाला परमात्मा, **"भूर्यासुतिः"**-अखण्ड आनन्द स्वरूप, **"शक्रः"**-सर्वशक्तिमान परमात्मा, **"नः"**-हमारी **"आशिषम्"**-प्रार्थनाओं को **"शृणोतु"**-सुने।

मन्त्र का भाव है कि जब अविद्या का नाश होता है तभी जीव ईश्वर के आनन्द स्वरूप में डुबकी लगाता है। **योग-शास्त्र सूत्र २/५** में अविद्या का भाव है कि जब जीव ईश्वर को भूलकर प्रकृति के गुणों से लगाव करता है, तब वह पदार्थ के स्वरूप के उल्टे ज्ञान को ही ग्रहण करता है। सूत्र में अविद्या का स्वरूप कहा है-अनित्य (नाशवान) को नित्य (अविनाशी) मानना, जैसे संसार नाशवान है उसे स्थिर अर्थात् अविनाशी समझ लेना। दूसरा अपवित्र को पवित्र समझना जैसे यह शरीर मल-मूत्र से भरा अपवित्र है, मांस-मदिरा अपवित्र भक्ष्य है, इनको पवित्र मानना। तीसरा दुःख को सुख समझना-यह संसार के सब भोग पदार्थ, विषय-विकार जिनसे हम मोह करते हैं, सब दुःखदायी हैं परन्तु अविद्या वश हम इन्हें सुख का साधन समझ लेते हैं। चौथा अविद्या का स्वरूप है अनात्मा में आत्मा समझना-यह शरीर जड़ है, नाशवान है, शरीर में रहने वाली जीवात्मा चेतन और अविनाशी तत्त्व हैं। परन्तु अविद्याग्रस्त प्राणी इस शरीर को चेतन मान लेता है। अविद्या के ये ऊपर कहे स्वरूप ही क्लेश हैं जो जीव को दुःख देते हैं। वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास इत्यादि द्वारा अविद्या का नाश होता है और श्री कृष्ण महाराज द्वारा कहे प्रस्तुत श्लोक में जो अनन्त आनन्द है उस आनन्द को जीव प्राप्त कर लेता है। जैसा कि ऊपर सामवेद मन्त्र में कहा कि योगी जब ईश्वर में समर्पित होता है तो ईश्वर में जो अनन्त अखण्ड आनन्द है योगी उस आनन्द का अनुभव करता है। यह आनन्द योगी को पिछले श्लोक ६/२१ में कहे अनुसार ऋतम्भरा बुद्धि से ही प्राप्त होता है। और यह आनन्द भौतिक इन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं होता अपितु इन्द्रियातीत् है अर्थात् इन्द्रियों से परे समाधि अवस्था का आनन्द है। क्योंकि जो सुख आँख, नाक आदि इन्द्रियों द्वारा ग्रहण किया जाता है वह सुख क्षण भंगुर है, नाशवान है। ईश्वर अविनाशी, अखण्ड, अनादि एवं सत्य-स्वरूप है। अतः ईश्वर से प्राप्त होने वाला स्थाई सुख ही अलौकिक सुख है। इसी सुख को श्रीकृष्ण महाराज जी ने प्रस्तुत श्लोक में **"ततः अधिकम् अपरम् लाभम्**

न मन्यते" अर्थात् ईश्वर प्राप्ति द्वारा प्राप्त हुए आनन्द से अधिक अन्य कोई न लाभ है न सुख है न आनन्द है। श्री कृष्ण महाराज आगे कहते हैं कि ईश्वर प्राप्ति द्वारा ऐसे आनन्द की अनुभूति में मग्न योगी को बड़े से बड़े दुःख भी उसकी ब्रह्मस्थिति से विचलित नहीं कर पाते।

श्रीकृष्ण उवाच-

"तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
सनिश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।"

(गीता श्लोक ६/२३)

(दुःखसंयोगवियोगम्) दुःख के साथ जो संयोग है उस दुःख का वियोग अर्थात् दुःख का नाश जिससे है **(योगसंज्ञितम्)** उसका नाम योग है। **(तम्)** हे अर्जुन! उस योग को **(विद्यात्)** जानो **(सः)** वह **(योगः)** योग **(अनिर्विण्णचेतसा)** खिन्न अर्थात् उदासीनता रहित चित्त द्वारा **(निश्चयेन)** निश्चित रूप से **(योक्तव्यः)** करने योग्य है।

अर्थः- दुःख के साथ जो संयोग है उस दुःख का वियोग अर्थात् दुःख का नाश जिससे है, उसका नाम योग है। हे अर्जुन! उस योग को जानो, वह योग खिन्न अर्थात् उदासीनता रहित चित्त द्वारा निश्चित रूप से करने योग्य है।

भावार्थः- जिस विद्या के अभ्यास से दुःखों का नाश होकर आत्मिक सुख प्राप्त होता है, उस विद्या का नाम अष्टांग योग विद्या है।

प्रस्तुत श्लोक में योग की बहुत सुन्दर परिभाषा कही गई है। सुख-दुःख कर्मानुसार प्राप्त होते हैं। योगाभ्यास द्वारा जब चित्त की वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाती हैं। तब अन्तःकरण में ईश्वर अनुभूति से आत्मिक आनन्द की अनुभूति होती है। यह अनुभूति योग विद्या द्वारा दुःखों के नाश का परिणाम ही है।

ऋग्वेद मन्त्र १/५१/७ का भाव है कि विद्वानों से विद्या पाकर जो मानसिक एवं शारीरिक बल प्राप्त होता है उससे दुःखों का नाश हो जाता है और शांति प्राप्त होती है। अतः दुःखों का नाश तो **ऋग्वेद मन्त्र १/५८/६** के अनुसार वेद विद्या को जानने वाले योगाभ्यासी, योगी की सेवा द्वारा उससे विद्या प्राप्त करके ही होता है। मन्त्र का भाव है

कि जैसे मनुष्य विद्या द्वारा धन को तथा विद्वान् का संग प्राप्त करके सुखों को प्राप्त होता है, उसी प्रकार आचार्य वेदों के ज्ञाता, गुरु द्वारा विद्या प्राप्त करके यज्ञ, योगाभ्यास आदि ईश्वरीय पूजा द्वारा, जब वह अपने स्वरूप (जीवात्मा) में स्थित होता है तब वह धर्मयुक्त भौतिक सुखों सहित परम आत्मिक सुख को प्राप्त होता है।

यहाँ इस मन्त्र के इस भाव का कहना अनुचित न होगा कि विद्वानों के संग और उनकी विद्या को प्राप्त किए बिना न कोई योगी हो सकता है और न ही भौतिक धन को प्राप्त करके भी सुखों को प्राप्त कर सकता है। दुःखों के नाश को ही सुखों की प्राप्ति कहा है। मिथ्यावाद द्वारा प्राप्त किया धन सम्पूर्ण आयु सन्तों को मनुष्यों को दुख देता है।

वह दुःख क्या है? इस प्रकार के प्रश्नों का उत्तर जानने के लिए ही सब विद्या को जानने के लिए वेदों का अध्ययन किया जाता है। जिसे भीष्म पितामह ने शांति पर्व में कहा कि हे युधिष्ठिर! जो वेदों के शब्दों के अर्थ जान लेता है, वही परब्रह्म को पाता है। अतः हम वेदाध्ययन में रुचि रखकर पहले वेदों के शब्दों के अर्थ को जानने में प्रवीण होएँ। वैसे भी वेदों का सुनना और उनके शब्दों के अर्थों को जानना, वेदों में कही ईश्वर की आज्ञा है और "श्रुतं तपः" एक महान तप है।

पुनः जाने कि वह दुःख क्या है? सांख्य के मुनि कपिल ने प्रथम अध्याय के पहले ही सूत्र में कहा-

"अथ त्रिविधदुःखात्यन्तनिवृत्तिरत्यन्तपुरुषार्थः"

अर्थात् दुःख तीन प्रकार के हैं जिनकी अत्यन्त निवृत्ति अर्थात् वैदिक साधना द्वारा सम्पूर्ण नाश को मोक्ष का सुख कहते हैं।

वह तीन दुःख हैं-

१. आध्यात्मिक ताप- जो जीवात्मा शरीर में रहकर अविद्या, राग-द्वेष, मूर्खता और ज्वर से दुःखी रहती है।

२. आधि भैतिक- जो दुःख शरीरस्थ जीवात्मा को शत्रु, सर्प, सिंह आदि से प्राप्त होता है।

३. आधि दैविक- अतिवृष्टि, अतिशीतलता और अतिगर्मी द्वारा जो दुःख जीवात्मा को प्राप्त होता है। इसमें जल एवं वायु के प्रकोप, भूकंम्प आदि भी सम्मिलित हैं।

इन दुःखों के नाश के लिए ही वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग की साधना एवं देव पूजा आदि शुभ कर्मों को करने का उपदेश वेदों में है। परन्तु वेदों में यह उपदेश नहीं है कि अष्टांग योग से कुछ अंग निकालकर-जैसे मनुष्य के कुछ अंग निकालकर मनुष्य को लूला-लंगड़ा कर दो, वैसे योग विद्या को भी अपनी मर्जी से लंगड़ी-लूली कर दो। भाव यह है कि हम यह कदापि नहीं कह सकते कि केवल आसन, प्राणायाम करके रोगों को भगाओ और स्वास्थ्य लाभ करो। इसके लिए भगवान ने अलग से व्यायाम, सदाचार, नियमित भोजन आदि और औषधि आदि का ज्ञान दिया है। वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या तो ब्रह्म प्राप्ति के लिए कही है।

दुःख पाप कर्मों का फल है। अतः **ऋग्वेद मन्त्र १/५८/८** और अन्य सभी वैदिक मन्त्रों में कहा-**"अंहसः पाहि शर्म यच्छ"** अर्थात् पूर्ण ब्रह्मचर्य द्वारा तपे हुए शरीर से विद्वानों द्वारा विद्या को प्राप्त करके हम पापयुक्त कर्मों से अपनी रक्षा करें और फलस्वरूप ही दुःखों का नाश होगा और तर्त्पश्चात हम सुखों को प्राप्त करें।

इन वेद मन्त्रों में भाव यही है कि दुःखों का नाश करने के लिए तो विद्वानों का संग और उनके उपदेश द्वारा नियमित भोजन, सात्विक आहार, यज्ञ, व्यायाम से शारीरिक और मानसिक बल प्राप्त करके जीव पापों का नाश करता है और सुख प्राप्त करता है। पुनः जब वेदाध्ययन, यज्ञ एवं **यजुर्वेद मन्त्र ७/४** में कहे अष्टांग योग का अभ्यास नियमित रूप से करता है, तब वह अपने स्वरूप और अपने स्वरूप में स्थित ब्रह्म को जानकर परम मोक्ष सुख को प्राप्त करता है।

अतः श्रीकृष्ण महाराज प्रस्तुत श्लोक में यह समझा रहे हैं **"दुःख संयोग वियोगम्"** कि जिस योगाभ्यास द्वारा संसार के सभी दुःखों का नाश हो जाता है **"तम् विद्यात्"** उस योग विद्या को जानो। अर्थात् वह वेदों में कही योगविद्या वेदाध्ययन द्वारा सम्पूर्ण अष्टांग योग को प्रथम वेद मन्त्रों से साधक समझे तर्त्पश्चात यज्ञ, वेदों का सुनना एवं अष्टांग योग की साधना करे। इस अष्टांग योग साधना को करते-करते ही मन में आनन्द की लहरें उठने लगती हैं जिसे **योगशास्त्र सूत्र १/१७** में आनन्दानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहा है और **योगशास्त्र सूत्र १/३३** का भी भाव आचरण करने योग्य है कि विद्या धन से सम्पन्न-सुखी से मित्रता, दुःखी पर दया भाव, पुण्यवान से मिलकर प्रसन्नता और पापी की उपेक्षा। पाप से उदासीन होने पर ही चित्त से अविद्या रूपी मल का नाश और

फलस्वरूप दुःखों का नाश होता है। जिससे चित्त एकाग्र होकर सुख प्राप्त करता है। तब चित्त लगातार यज्ञ, योगाभ्यास आदि से उदासीन नहीं होता क्योंकि उसके अन्तःकरण में आनन्द उपजने लगता है। इसी सत्य को श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक के अन्त में कहा-

"अनिर्विण्णचेतसा निश्चयेन योक्तव्यः"

अर्थात् जब ऊपर कहे तीनों दुःखों को नाश करने वाले अष्टांग योग को आचार्य द्वारा चारों वेदों से जान लिया और उसका अभ्यास प्रारम्भ कर दिया तो योगी का चित्त योगसाधना से कभी विचलित नहीं होता अपितु आनन्द प्राप्त करता है और निश्चित रूप से इस योग साधना को लगातार करना वह अपना कर्त्तव्य मानता है; ईश्वरीय वाणी वेदों में कहा, जीवन का लक्ष्य मानता है।

भाव यह है कि ऐसे महान भगवद्‌गीता के श्लोक का वेदों के ज्ञाता, यज्ञ करने-कराने वाले किसी योगी से हम अध्ययन करें और योग साधना करते-करते चित्त की ऊपर कही अविचलित अवस्था को प्राप्त करें। इसके विपरीत केवल पढ़, सुन, रटकर, हंसी-मज़ाक करके, घर-गृहस्थियों की चिकनी-चुपड़ी बातें सुनाकर, मिथ्यावाद रूप प्रवचन करके जनता में विश न फैलाएं और न ही जनता का पैसा लूटें। हमारे देश में पूर्व की भांति प्रवचन करने वाले स्वयं सम्पूर्ण वेदों के ज्ञाता और अष्टांग योग के ज्ञाता हों और वैसा ही सत्य-सत्य प्रचार जनता को भी करें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"संकल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।"

(गीता श्लोक ६/२४)

(संकल्प-प्रभवान्) संकल्प द्वारा उत्पन्न **(कामान्)** कामनाओं को **(अशेषतः)** पूर्ण रूप से **(त्यक्त्वा)** त्यागकर **(मनसा)** मन से **(इन्द्रियग्रामम्)** इन्द्रियों के समूह को **(समन्ततः)** सब ओर से **(एव)** ही **(विनियम्य)** नियन्त्रण में करे।

अर्थः- संकल्प द्वारा उत्पन्न कामनाओं को पूर्ण रूप से त्यागकर मन से इन्द्रियों के समूह को सब ओर से ही नियन्त्रण में करें।

भावार्थः- प्रस्तुत श्लोक में कहा **"मनसा इन्द्रियग्रामम् समन्ततः विनियम्य"** अर्थात् मन के द्वारा पांचों ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पांचों कर्मेन्द्रियाँ सब प्रकार से और सब ओर से विषय को ग्रहण करना समाप्त करके योगी के वश में रहें।

परन्तु प्रश्न यह है कि कैसे वश में रहें और संकल्प-विकल्प और कामना आदि का पूर्णतः त्याग कैसे हो? पिछले श्लोक में कहा कि संसार में जो दुःख है, उनके नाश करने के लिए योगाभ्यास करना कर्त्तव्य है तथा ईश्वर की आज्ञा है। भाव यह है कि जीव तप, स्वाध्याय और ईश्वर पर भरोसा करने के लिए प्रथम तो तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर के स्वरूप तथा अष्टाँग योग को जाने। जिसे जानने के लिए वेदों का अध्ययन अति आवश्यक है। क्योंकि ऐसा स्वयं ईश्वर ने वेदों में कहा है। व्यासमुनि ने योगशास्त्र सूत्र १/२८ के भाष्य में कहा कि अर्थ और भाव सहित ईश्वर के नाम का जाप करें और-

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात्स्वाध्यायमासते।
स्वाध्याययोगसंपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।।"

अर्थात् स्वाध्याय से योग में स्थिर होवे और योग से स्वाध्याय में/स्वाध्याय और योग, इन दोनों सम्पत्तियों से परमात्मा प्रकाशित होता है। यह योग की रीति है। यहां यह घोर आश्चर्य की बात है कि कोई भी मनुष्य इस ईश्वरीय योगी की रीति की आवश्यकता को नकार देता है। और जनता पर अपने विचार थोप देता है। अतः नाम सिमरण और यज्ञ द्वारा ईश्वर की पूजा सहित साधक को नित्य योग साधना करनी चाहिए। इस सत्य को महाभारत के आश्वमेधिक पर्व में कहा-

"यज्ञेन तपसा चैव दानेन च नराधिप।
पूयन्ते नरशार्दूल नरा दुष्कृतकारिणः।।"

अर्थः- हे नरेश्वर! पापाचारी मनुष्य यज्ञ, दान और तपस्या से ही पवित्र होते हैं।

व्यासमुनि योगशास्त्र सूत्र २/१ की व्याख्या में कहते हैं कि जो इस तप से रहित है, उनका योग सिद्ध नहीं होता। इस सूत्र में तथा वेद आदि सद्ग्रन्थों में तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर भक्ति को ब्रह्म प्राप्ति का आधार कहा है।

अतः हम ईश्वरीय वाणी वेद एवं व्यासमुनि के ऊपर कहे अनुभवयुक्त एवं

अनादिकाल से चले आ रहे सत्य, प्रमाणिक उपदेश को ही मानें, साधारण मनुष्य की मनघड़न्त बातों को मानकर वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि तपस्या को त्यागकर जीवन नष्ट न कर लें।

पुनः साधक आचार्य के आधीन होकर वेदानुसार सम्पूर्ण अष्टांग योग को जानें और उसकी साधना करें। यही पिछले **श्लोक ६/२३** का भाव है।

योगशास्त्र सूत्र १/२ का भाव है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं और यह निरोध पिछले **गीता श्लोक ६/२३** की व्याख्या में वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग के अभ्यास से ही सम्भव है। चित्त की पांच अवस्थाएं कही हैं-क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरूद्ध। क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त वृत्तियां रज, तम एवं सत्त्व गुणों से युक्त योग की शिक्षा ग्रहण करने के अनुकूल नहीं होतीं। इन्हीं सब कामनाओं को त्यागकर योगी मन सहित पाँचों ज्ञानेन्द्रियों और पाँचों कर्मेन्द्रियों को भली प्रकार वश में करता है और संकल्प द्वारा उत्पन्न होने वाली सभी कामनाओं को चित्त वृत्ति निरोध द्वारा नष्ट करता है। फलस्वरूप ही मोक्ष के सुख को प्राप्त करता है। मन में संकल्प-विकल्प आते हैं। संकल्प का अर्थ है कि शुभ गुणों की प्राप्ति की इच्छा होना, तदानुसार शुभ/कल्याणकारी विचारों का ही मन में प्रवेश होना जिसे **यजुर्वेद मन्त्र ३४/१-६** में **"शिवसंकल्पमस्तु"** कहा है।

श्रीकृष्ण महाराज ने संकल्प से उत्पन्न होने वाली कामनाओं को भी पूर्णतः त्याग देने की बात कही है। प्रत्यक्ष में तो यही हुआ कि शुभ कल्याणकारी विचार भी मन में न आएं। परन्तु शुभ कल्याणकारी विचारों के अभाव में साधना, स्वाध्याय, यज्ञ इत्यादि शुभ कर्मों का जीवन में प्रवेश होना असम्भव है। अतः यहां **गीता श्लोक १२/१७** के अनुसार संकल्प का अर्थ हुआ **"न काङ्क्षति"** जो शुभ-अशुभ कामनाओं से रहित है और **"यः शुभाशुभ परित्यागी"** जो शुभ और अशुभ सम्पूर्ण कर्मों के फल को त्याग देता है। असम्प्रज्ञात समाधि का अर्थ ही यही है कि उस समय योगी के पाप और पुण्य रूपी कर्म नष्ट हो जाते हैं और जैसा **योग शास्त्र सूत्र ४/७** में कहा कि योगी के कर्म इस अवस्था में पाप-पुण्य से रहित होते हैं। परन्तु जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग की साधना से रहित हैं, जिनकी असम्प्रज्ञात समाधि नहीं है, उनके कर्म इस सूत्र में तीन प्रकार के कहे हैं।

यजुर्वेद मन्त्र १७/७५ में कहा कि जैसे अग्नि ईंधन को जलाती है, उसी प्रकार

योगबल द्वारा योगी के कर्म जलकर नष्ट हो जाते हैं। परन्तु हम यहां विशेष ध्यान रखें कि वेद सभी जगह यह प्रमाण देते हैं कि जो वेदों को नहीं जानता, वेदों का प्रचार नहीं करता, न स्वयं यज्ञ करता है और न जनता से यज्ञ करवाता है तथा केवल आसन, प्राणायाम की बात कहता है और पूर्ण अष्टांग योग की साधना नहीं करता, उसके विषय में व्यासमुनि ने **योग शास्त्र सूत्र १/११** की परिभाषा में यह तक कह दिया कि उसे कोई योगी के नाम से न बुलाए, अपितु मनुष्य कहे क्योंकि जब तक चित्त की वृत्तियां पूर्णतः निरुद्ध न होगीं तब तक वह साधारण मनुष्यों के समान ही है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"शनैः शनैरुपरमेद्बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्।।"

(गीता श्लोक ६/२५)

(शनैः शनैः) धीरे-धीरे योगाभ्यास करता हुआ **(उपरमेत्)** संसार से विरक्त हुआ **(धृतिगृहीतया)** धैर्य धारण की हुई **(बुद्धया)** बुद्धि से **(मनः)** मन को **(आत्मसंस्थम्)** ईश्वर में समाहित **(कृत्वा)** करके **(किंचित्)** अन्य कुछ **(अपि)** भी **(न)** न **(चिन्तयेत्)** चिन्तन करे।

अर्थः- धीरे-धीरे योगाभ्यास करता हुआ, संसार से विरक्त हुआ, धैर्य धारण की हुई बुद्धि से मन को ईश्वर में समाहित करके अन्य कुछ भी न चिन्तन करे।

भावार्थः- **"शनैः शनैः"** एवं **"धृति"** शब्दों का भाव ही गम्भीर है। यहाँ पुनः कहना पड़ता है कि हम वेद विरोधी संतों के मिथ्या जाल में फँसकर जीवन व्यर्थ न करें। पूर्व के ऋषियों ने जैसे कि पतञ्जलि ऋषि ने **योग शास्त्र सूत्र १/७** में कहा कि वेदों को प्रत्येक सत्य जानने के लिए स्वतः प्रमाण कहा है और शास्त्रों को परतः प्रमाण कहा है। अर्थात् इस भूमण्डल पर सत्य वही है जिसके प्रमाण में वेद मन्त्र अथवा ऋषि प्रणीत शास्त्रों के वचन प्रस्तुत किए जाते हैं। **"शनैः-शनैः"** के विषय में **सामवेद मन्त्र १४** का भाव है कि यज्ञ एवं योग विद्या का अभ्यास प्रातः-सांय निरन्तर, प्रतिदिन चले जिसमें धैर्य की अतिआवश्यकता है। पता जलि ऋषि ने योगशास्त्र सूत्र १/१४ में इस विषय में कहा-

"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढ़भूमिः।।"

अर्थात् वह योग विद्या का अभ्यास दीर्घकाल, निरन्तर एवं आदर सहित करने पर ही दृढ़ अवस्था वाला होता है। व्यास मुनि ने इस सूत्र के भाष्य में कहा कि दीर्घकाल तक अभ्यास करने का भाव मृत्युपर्यन्त, सब अवस्थाओं में प्रतिदिन, बिना बाधा के, श्रद्धा एवं सत्कार सहित करना है। पुनः आंकलन करें कि कहाँ यज्ञ, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, वेद एवं योग विद्या में पारंगत ऋषियों की वाणी और कहाँ वेद विरोधी सन्तों की मिथ्यावाद पर आधारित हँसी मज़ाक से युक्त, कानों को अच्छी लगने वाली वाणी। दोनों में ज़मीन आसमान का अन्तर है।

अतः साधक धीरे-धीरे वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि द्वारा तपा हुआ वैराग्य को प्राप्त होता है। **"उपरमेत्"** का अर्थ है संसारी विषय भोग से विरक्त हो जाना। अर्थात् वैराग्यवान होना। वैराग्यहीन को ईश्वर प्राप्ति अथवा सुख-शांति असंभव है। स्पष्ट है कि वैराग्यहीन जनता से मनमाना धन बटोरते हैं। अनन्त बार हमारे जन्म हुए और हम मृत्यु को प्राप्त हुए, कितने पशु-पक्षी आदि योनियों के शरीर में गए। वेदों के ज्ञाता, विद्वानों के उपदेश को सुनकर यदि अब भी हम वैराग्यवान न हुए तो पुनः दुःख के सागर में डुबकी लगानी होगी। वस्तुतः इस सत्य की केवल जानकारी होना ही असम्भव सा हो गया है क्योंकि मनुष्य अविद्या ग्रस्त होकर पाप को ही पुण्य समझ बैठा है।

यजुर्वेद मन्त्र ३४/३ में कहा कि मन ज्ञान प्राप्त करने का निमित्त बुद्धि स्वरूप है और धैर्य रूप है। मन के बिना कोई कर्म नहीं किया जाता। साधक साधना करता हुआ मन को सदा धर्मयुक्त कार्य में लगाए, अधर्म में कदापि नहीं।

पिछले **गीता श्लोक ६/२४** के उपदेश को आगे बढ़ाते हुए श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि योगी धीरे-धीरे अभ्यास को बढ़ावे अर्थात् ईश्वर नाम स्मरण तप, स्वाध्याय, ईश्वर भक्ति एवं अष्टांग योग की साधना का अभ्यास निरन्तर करता हुआ, रज, तम, सत्त्व गुणों से उत्पन्न संसार के भोग पदार्थों से उदासीन होता हुआ अर्थात् वैराग्य धारण करता हुआ, मन को परमेश्वर में ही स्थिर करे। परमेश्वर के अतिरिक्त और अन्य भोग पदार्थ आदि का चिन्तन न करे।

अब प्रश्न यह है कि श्रीकृष्ण महाराज तो स्वयं वेदों के ज्ञाता एवं योगेश्वर थे।

अतः योगविद्या की प्रत्येक बारीकियों को, रहस्य आदि को, जानते थे। जिनका उपदेश उन्होंने भगवद् गीता में किया या कह सकते हैं कि व्यास मुनि रचित महाभारत के भीष्म पर्व में व्यास मुनि ने श्रीकृष्ण महाराज की वेद विद्या एवं योग सम्पदा के अनुसार श्लोकों की रचना की।

अब उनकी ऊपर कही रहस्यमयी वाणी को, जो वेद, अष्टांग योग तथा यज्ञ को नहीं जानते और न ही आचरण में लाते, तो वह बातों का तो बतंगड़ बना सकते हैं और एक-एक शब्द के कई-कई अर्थ बोलकर अपने पढ़ सुन रटकर बोलने के द्वारा स्वयं को अकारण ही योगी सिद्ध करने में लगे रहते हैं परन्तु वास्तव में इन रहस्यों को वेद विद्या एवं वेदों में कही अष्टांग योग विद्या के ज्ञाता ही जानते हैं।

इस वेद एवं वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या की झलक **अथर्ववेद मन्त्र ७/२/१** में अवलोकन करें। इस मन्त्र का देवता (विषय) **"अथर्वा"** है। **अथर्वा** का अर्थ है **"निश्चल"** एवं **"स्थिर"**। मन्त्र का अर्थ है **(यः)** जो **(अथर्वाणं)** स्थिर प्रभु अर्थात् सर्वव्यापक परमेश्वर को **(मनसा चिकेत)** वेदों के मनन एवं योगाभ्यास के द्वारा जानता है, केवल वह योगी **(नः प्रवोचः)** हमें परमेश्वर के विषय में प्रवचन करे **(तम् इह इह ब्रवः)** उस प्रभु के विषय में यहाँ इसी जन्म में हमें कहे। मन्त्र का यही भाव है कि जिस योगी ने वेदाध्ययन, यज्ञ एवं वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि में ईश्वर की अनुभूति कर ली है केवल वही योगी ईश्वर के विषय में जनता के सम्मुख प्रवचन करे, अन्य नहीं।

श्रीकृष्ण महाराज का प्रस्तुत श्लोक में भाव है कि साधक तब ऊपर कही साधना को क्रम से बढ़ाता है तो आसन पर बैठे हुए उस साधक की चित्त वृत्ति एक समय पर अन्दर ही रुक जाती है। **योग शास्त्र सूत्र १/३५** के अनुसार साधक के अन्तःकरण में योग साधना द्वारा दिव्य अनुभूतियां होनी प्रारम्भ हो जाती हैं जिसके फलस्वरूप मन एकाग्र हो जाता है। और मन बार-बार साधना में प्रवृत्त होकर उन दिव्य अनुभूतियों को लगातार अनुभव करते रहना चाहता है। परन्तु आज के युग में यही तो बहुत भारी दुर्भाग्य है कि प्रायः सन्त वेदाध्ययन, यज्ञ और अष्टांग योग की साधना से हीन होते हैं और योग अनुभूतियों का वर्णन पढ़, सुन, रटकर इस प्रकार करते हैं कि जैसे वह श्रीकृष्ण महाराज के समान पूर्ण योगेश्वर हों और भगवान उनके अन्दर प्रकट हो चुका हो। हमें

मिथ्यावादियों से संभलना होगा।

जब यह अभ्यास निरन्तर बढ़ता चला जाता है तो वह वैराग्य प्राप्त योगी जब-जब योग साधना में बैठता है तो उसका मन परमेश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी संसारी विषय का चिन्तन नहीं करता। ईश्वर भक्ति में निपुण योगी धैर्यवान होता है और उसकी बुद्धि प्रत्याहार एवं धारणा के अभ्यास द्वारा परमेश्वर में ही स्थित रहती है। जिसे श्रीकृष्ण महाराज ने इन शब्दों में कहा-**"धृतिगृहीतया बुद्धया मनः आत्मसंस्थम् कृत्वा किंचित् अपि न चिन्तयेत्"** अर्थात् धैर्यवान योगी बुद्धि और मन को सदा ईश्वर में स्थित करता है और ध्यान में बैठा ईश्वर के अतिरिक्त और किसी अन्य संसारी पदार्थ आदि का चिन्तन नहीं करता। भाव यह है कि जब वह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा के अभ्यास में निपुण हो जाता है तब बाहरी सांसारिक पदार्थ अथवा वृत्तियां साधना में विघ्न नहीं डालतीं अर्थात् वह ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी का भी चिन्तन नहीं करता। विचार यह करना है कि ईश्वर में ध्यान का लग जाना तो उपर कही कठिन योग साधना का फल है परन्तु कई सन्त गीता आदि का यह उपदेश करते हैं कि आप कथा कीर्तन, सत्संग सुनो और अपने मन को एकाग्र करो इत्यादि। श्री कृष्ण महाराज द्वारा कही योग विद्या एवं योग साधना के अभाव में मन कैसे ईश्वर में लग सकता है? अतः हम गीता के उपदेश के विरुद्ध न चलें। अन्यथा पाप ही होगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।"

(गीता श्लोक ६/२६)

(अस्थिरम्) स्थिर न रहने वाला **(एतत्)** यह **(चञ्चलम्)** चञचल **(मनः)** मन **(यतः यतः)** जहाँ-जहाँ **(निश्चरति)** संसार के पदार्थों में विचरण करता है **(ततः ततः)** वहाँ-वहाँ से **(नियम्य)** रोक कर **(आत्मनि)** परमात्मा में लगाकर **(एव)** ही **(वशम्)** वश में **(नयेत्)** ले आए।

अर्थः- स्थिर न रहने वाला, यह च चल मन, जहाँ-जहाँ संसार के पदार्थों में विचरण करता है, वहाँ-वहाँ से रोककर परमात्मा में लगाकर ही वश में ले आए।

भावार्थः- यजुर्वेद मन्त्र ३४/१-६ में भिन्न-भिन्न कर्म करने के कारण मन को पांच प्रकार का कहा है-देवमन, यक्षमन, प्रज्ञानमन, चेतसमन, तथा धृतिमन। यजुर्वेद अध्याय ३४ के इस प्रथम मन्त्र का भाव है कि जीवात्मा में विद्यमान मन पिछली घटनाओं का स्मरण करता रहता है और भविष्य पर भी विचार करता रहता है। मन सांसारिक विषयों से जुड़ा रहता है। यह जाग्रत में दूर जाने वाला और अनेक पदार्थों का चिन्तन/ग्रहण करने वाला और उसी प्रकार सोए हुए भी अन्दर रहकर सुषुप्ति अवस्था को प्राप्त होता है और स्वप्न अवस्था में भी दूर-दूर जाने जैसा कर्म करता है। मन किसी भी एक विषय में स्थित भी हो जाता है, यह मन का स्वभाव है। मन्त्र में प्रार्थना है कि हे परमात्मा! मेरा यह मन सदा कल्याणकारी विषय की इच्छा करने वाला हो, अधार्मिक विचार की इच्छा करने वाला न हो। **यजुर्वेद मन्त्र ३४/२** में समझाया है कि इस मन से ही वेदों के मनन् करने वाले मुनि, ध्यानी लोग, अग्निहोत्र, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करते हैं।

श्रीकृष्ण महाराज का भी यहाँ यह वैदिक उपदेश है कि मनुष्य सदा वेदों में कही ईश्वर की आज्ञा का पालन करे। जैसा **यजुर्वेद मन्त्र ३४/२,३** में कहा है कि विद्वान्, मन (अन्तःकरण) में आए रज, तम, सत्त्व गुण और सांसारिक पदार्थों, के प्रति मोह आदि विकार का नाश करके हमें पवित्र करे। अतः वेदों में कहा कि विद्वानों का संग एवं सेवा करके उनसे विद्या लाभ प्राप्त करने वाले जीव का ही मन शुद्ध होता है क्योंकि केवल प्रार्थना का कोई लाभ नहीं होता, प्रार्थना के अनुरूप पुरुषार्थ करना होता है।

ईश्वरीय वाणी वेद का ज्ञान न होने के कारण कोई भी कह सकता है कि श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि जहाँ-जहाँ तुम्हारा मन विषय-विकारों में जा रहा है, वहां से रोककर उसे शुद्ध कर लो, मत जाने दो तो तुम्हारा कल्याण हो जाएगा और किसी साधना इत्यादि पुरुषार्थ की आवश्यकता नहीं। ऐसे पढ़े-सुने रटे ज्ञान का भाषण करने से पाप तो फैल सकता है, पुण्य और पुरुषार्थ का भाव नहीं फैल सकता। अतः पुरुषार्थ के रूप में जीव वेदों के ज्ञाता, विद्वानों का संग और सेवा, उनसे मिले हुए ज्ञान से अग्निहोत्र/यज्ञ, वेदों का सुनना, सुनकर मनन करके वेदों में कहे उपदेश को जीवन में धारण करना, तथा योगाभ्यास आदि नित्य करना, प्रातः प्रथम पहर में उठना आदि यह पुरुषार्थयुक्त कर्म हैं,

इन्हें करे। प्रार्थना के साथ यह पुरुषार्थ करना अनिवार्य है। आलस्य की वृत्ति फैलाना पाप है। **यजुर्वेद मन्त्र २२/२२** में ईश्वर से प्रार्थना है कि हे प्रभु! हमारे देश में वेदविद्या के ज्ञान से प्रदीप्त वेद और ईश्वर के ज्ञाता विद्वान् उत्पन्न हों जो जनता को सत्य मार्ग का उपदेश करें। शस्त्र चलाने में निपुण शूरवीर क्षत्रिय उत्पन्न हों जो दुःखी, दीनों और देश की रक्षा करके न्याय स्थापित करें इत्यादि।

जहाँ वेदों में पुरुषार्थ कठिन परिश्रम का मार्ग प्रशस्त किया है, वेद विरोधी सन्त प्रायः यह कहते सुने गए हैं कि देश की रक्षा करने स्वयं भगवान अवतार लेकर आ जाएँगें। वास्तव में ऐसा कहना तो भगवान की सबसे सुन्दर रचना जो मानव शरीर है, जिसे सब इन्द्रियाँ मेहनत के लिए दी हैं, इस रचना का अनादर और स्वयं ईश्वर का अनादर करना है।

वेदों की आज्ञा धारण करके जब मनुष्य विद्वानों का संग व सेवा करता है तब वह साधक पांचों ज्ञानेन्द्रियों पर भी नियन्त्रण करने वाले मन को वश में कर लेता है, अधर्म त्यागकर धर्मयुक्त व्यवहार ही करता है। तब साधक सदा पुरुषार्थी, कठोर परिश्रम वाला, कर्त्तव्य-कर्म करने में निपुण, गुणवान, यज्ञ करने वाला एवं योगाभ्यासी, सदा धर्मयुक्त व्यवहार करने वाला होता है। वह देश रक्षक होता है।

यजुर्वेद मन्त्र ३४/४ का भाव है कि मनुष्य वेद के ज्ञाता, विद्वानों के उपदेश द्वारा मन को पुरुषार्थ से परमात्मा के साथ जोड़ें। वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास द्वारा मन से भूत, वर्तमान और भविष्य एवं सृष्टि का ज्ञान ग्रहण करें और इस प्रकार मन सदा मोक्ष की इच्छा करने वाला हो। वेदों में कही कर्म, उपासना और ज्ञान, इन तीनों विद्याओं को पुरुषार्थ से, साधना से जानने वाला हो। **यजुर्वेद मन्त्र ३४/६** का भाव है कि जीवात्मा बुद्धि और मन का भी स्वामी है। अतः जैसे रथ का स्वामी सारथी है और वह घोड़ों को लगाम द्वारा खींचकर अपने वश में रखता है, वैसे ही वेदों के ज्ञाता, विद्वानों की सेवा और उनसे प्राप्त वेद विद्या में यज्ञ एवं योगाभ्यास की साधना द्वारा जीवात्मा धार्मिक कर्म करता-करता मन को वश में कर लेता है और जहाँ कहीं साधक का मन किसी सांसारिक विषय अथवा मोह आदि में आसक्त होने लगता है तब चेतन जीवात्मा तुरन्त अपनी ऊपर कही हुई तपस्या के फल के प्रभाव से, जैसे सारथी घोड़ों को लगाम से वश में करता है वैसे ही जीवात्मा मन को खींचकर अपने वश में कर लेता है और मन इस प्रकार वश

में हो जाता है। जो अविद्वान् हैं, ऊपर कहे पुरुषार्थ से हीन हैं, वह सदा मन एवं इस प्रकार इन्द्रियों के गुलाम बनकर मन के अधर्मयुक्त व्यवहार के पीछे-पीछे चलते हैं और सदा दुःखी रहते हैं। केवल पुरुषार्थी विद्वान् ही मन को वश में करते हैं। जिसका मन अशुद्ध है, वह सदा दुःखी और ईश्वर भक्ति से सदा दूर रहकर मोक्ष प्राप्ति के लक्ष्य से भी गिर जाता है।

अतः वेदों ने मन को शुद्ध करने का पुरुषार्थयुक्त एक ही मार्ग कहा है कि जिज्ञासु वेदों के विद्वानों का संग और उनकी सेवा द्वारा वेदों में कही कर्म, ज्ञान एवं उपासना, तीनों विद्याओं को आचरण में लाकर मन को वश में करता हुआ, मोक्ष प्राप्त करे क्योंकि जैसे रथ का सारथी घोड़ों को नियन्त्रण में करके रथ चलाता है उसी प्रकार मन मनुष्यों को चलाता है। अतः मनुष्य मन को वश में करके धर्मयुक्त मार्ग पर चलाए।

श्रीकृष्ण महाराज ने यही सब कुछ भाव इन श्लोकों में भरा है कि हे अर्जुन **"एतत् अस्थिरम् च चलम् मनः"** तेरा वश में न किया हुआ चञ्चल मन, जो स्थिर नहीं रहता, वह सोते-जागते अथवा स्वप्न में **"यतः यतः निश्चरति"** अर्थात् जहाँ-जहाँ सांसारिक भोग पदार्थों में लगा रहता है जाता है, **"ततः ततः नियम्य"** वहाँ-वहाँ से उसे वेदों के ज्ञाता विद्वानों के संग, सेवा और उनके ऊपर कहे वैदिक उपदेश को धारण करके मन को रोके और इस प्रकार मन को वश में करके परमात्मा में ही लगाए।

श्रीकृष्ण उवाच-

"प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।"

(गीता श्लोक ६/२७)

(हि) निश्चय ही **(प्रशान्तमनसम्)** पूर्णतः शान्त मन के **(अकल्मषम्)** पाप रहित **(शान्तरजसम्)** जिसका रजोगुण शान्त है और **(ब्रह्मभूतम्)** ब्रह्म के साथ एक हुए **(एनम्)** इस **(योगिनम्)** योगी को **(उत्तमम्)** सर्वोत्तम **(सुखम्)** सुख **(उपैति)** प्राप्त होता है।

अर्थः- निश्चय ही पूर्णतः शान्त मन के पाप रहित जिसका रजो गुण शान्त है और ब्रह्म के साथ एक हुए इस योगी को सर्वोत्तम सुख प्राप्त होता है।

भावार्थः- श्री कृष्ण महाराज ने **"प्रशान्तमनसम्"** शान्त मन, **"अकल्मषम्"** पाप रहित मन और **"शान्तरजसम्"** प्रकृति के रजो गुण से शान्त हुआ मन, इन पदों से यह समझाया है कि ये गुण वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग की साधना करने वाले योगी के अन्तःकरण में प्रकट होते हैं। ऐसे योगी का मन ही असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था में ब्रह्म के साथ एक ही भाव वाला होता है, केवल गीता के श्लोकों को अथवा अन्य ग्रन्थों को सुन पढ़ रट कर तथा रुचिकर कथाओं के व्याख्यान करने मात्र वालों का नहीं। और उस ऐसे तपस्वी योगी को ही **"उत्तमम् सुखम्"** अर्थात् दिव्य अनुभूतियों का आनन्द प्राप्त होता है।

"प्रशान्तमनसम्", इसका अर्थ है किसी योगी का मन अच्छी तरह से अर्थात् पूर्ण रूप से बाहर के विचारों को ग्रहण करने और अन्दर के विचारों को बाहर भेजने की क्रिया को समाप्त कर बैठा है। **योग-शास्त्र सूत्र १/२** की भाषा में इसे **"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"** कहते हैं अर्थात् ऊपर कही साधना द्वारा जब चित्त की वृत्तियों का बाहरी विषयों से संबंध ा हट जाता है तब पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ विषयों को ग्रहण करने से रूक जाती हैं। इस अवस्था को ही योग कहते हैं। परन्तु यह सम्प्रज्ञात योग है। **"अकल्मषम्"**, इस अवस्था में काम, क्रोध एवं लोभ आदि वृत्तियाँ दब जाती हैं। फलस्वरूप चित्त शान्त सा लगता है **'शान्तरजसम्'। योग शास्त्र सूत्र १/२** की व्याख्या में व्यास मुनि ने कहा-**"तदेव प्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति"** अर्थात् जब चित्त रजोगुण पुरुषार्थ के अंश से युक्त हुआ मोह के आवरण को नष्ट कर देता है तब सब ओर से प्रकाशवान सतोगुण होकर धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य को प्राप्त कर लेता है। इस अवस्था में उसे उत्तम आनन्द प्राप्त होता है।

श्रीकृष्ण महाराज ने प्रारम्भ के श्लोक से लगाकर इस सम्पूर्ण अध्याय में अधिकतर योग विद्या का ही ज्ञान दिया है। और सम्पूर्ण अष्टांग योग विद्या का उपदेश तो चारों वेदों में ही है। जैसे कि **यजुर्वेद मंत्र ११/१** में ही कहा **"तत्त्वाय प्रथमम् मनः"** अर्थात् ईश्वर एवं विज्ञान को जानने के लिए योगी सबसे पहले मन और **"धियः"** बुद्धि की वृत्तियों को **"युञ्जानः"** योगाभ्यास से युक्त करें और इस प्रकार ईश्वर में लगाए। यम, नियम आदि के पालन द्वारा ही मन, बुद्धि जो अन्तःकरण है, शुद्ध होता है। अगले ही मन्त्र में कहा **"युक्तेन मनसा"** योगाभ्यास से युक्त मन द्वारा **"सवितुः"** तीनों लोकों के रचयिता ईश्वर

"सवे" संसार में **"स्वर्ग्याय"** सुख की प्राप्ति के लिए **"ज्योतिः आ भरेम"** परमेश्वर के प्रकाश स्वरूप आनन्द को प्राप्त करते हैं।

परन्तु आज हमारा ये दुर्भाग्य कहा जाएगा, कि गीता जैसे सद्ग्रन्थ के वाक्यों का प्रवचन वेद, यज्ञ एवं अष्टांग योग के विरोधी संत अर्थ कर रहे हैं और चिकनी चुपड़ी बातों में जनता को ललचा रहे हैं जिस कारण वैदिक उपदेश धर्माचरण और ईश्वर अनुभूति को वेदों में कहा सनातन मार्ग समाप्त प्रायः होता जा रहा है।

अतः अशुभ संस्कारों का नाश और अविद्या राग द्वेष आदि का नाश नहीं हो पा रहा और देश में क्लेश, भ्रष्टाचार एवं अंधविश्वास आदि अनेक दुर्गुण फैलते ही जा रहे हैं। अतः नित्य का ध्यान, अष्टांग योग की नित्य कठोर साधना, वेद मन्त्रों से यज्ञ आदि का अनुष्ठान, वैदिक प्रवचन सुनना, वेदाध्ययन, ईश्वर पर पूर्ण भरोसा आदि पीछे कहे गए ये ऐसे साधन हैं जिनसे संस्कारों की भी निवृत्ति पूर्णतः हो जाती है। क्योंकि इन्हीं साधनों से अविद्या आदि क्लेशों की निवृत्ति कही गई है। और पिछले सूत्र में कहे विवेक की ओर झुके चित्त में उभरने वाले संस्कार चित्त की समाप्ति पर चित्त के कारण में लीन होने पर ही समाप्त हो जाते हैं। अतः केवल योगाभ्यास भी व्यर्थ है यदि पुरातन ऋषियों की भांति हम ऊपर कहे वेदाध्ययन एवं यज्ञ आदि क्रियाएँ नहीं अपनाते।

अथर्ववेद मंत्र ४/३५/१ में स्पष्ट कहा है कि ईश्वर वेद एवं योग-विद्या का ज्ञान **'ब्रह्मणे अपचत्'** ब्रह्म के जिज्ञासु ब्राह्मण को ही देता है। वेदों में ब्राह्मण बनने का हक प्रत्येक नर-नारी को है। अतः आज के समय में वेदों का मनन करने वाले विद्वानों के हृदय में यह बड़ा घोर आश्चर्य है कि सनातन ईश्वरीय विद्या, वेदाध्ययन, यज्ञ, अष्टांग योग की साधना आदि का त्याग करके वेद-विरोधी संत कैसे अपने आप को ब्रह्मलीन घोषित कर देते हैं? और ऊँचे ऊँचे व्याख्यान करके अतिशीध्र धनवान बन जाते हैं, जबकि वेद, यज्ञ एवं योग विद्या का उल्लंघन श्री राम का परिवार, श्रीकृष्ण का परिवार एवं किसी का भी राज परिवार व प्रजा नहीं कर पाई थी। जहाँ पुरातन ऋषियों के आश्रम में नित्य योगाभ्यास, वेदाध्ययन एवं यज्ञ होता था और आश्रम की दीवारें यज्ञ के धुएँ से काली होती थीं। आज प्रायः आश्रम दुकानदारों की दुकानों से सजे, संगमरमर से बने पांच सितारा होटल के समान होते हैं। जनता भी वेदों का ज्ञान प्राप्त न होने के कारण भोली है और सत्यवादी व असत्यवादी संतों को समझने में सर्वदा असमर्थ है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।"

(गीता श्लोक ६/२८)

(एवम्) अतः **(विगतकल्मषः)** पाप रहित **(योगी)** योगी **(सदा)** सर्वदा **(आत्मानं)** आत्मा अर्थात् जीवात्मा को **(युञ्जन्)** परमात्मा में समाहित करता हुआ **(सुखेन)** सुखपूर्वक **(ब्रह्मसंस्पर्शम्)** ब्रह्म अनुभूति से उत्पन्न **(अत्यन्तम्)** अनन्त **(सुखम्)** सुख को **(अश्नुते)** प्राप्त करता है अर्थात् परम सुख का अनुभव करता है।

अर्थः- अतः पाप रहित योगी सर्वदा आत्मा अर्थात् जीवात्मा को परमात्मा में समाहित करता हुआ सुखपूर्वक ब्रह्म अनुभूति से उत्पन्न अनन्त सुख को प्राप्त करता है अर्थात् परम सुख को अनुभव करता है।

भावार्थः- श्रीकृष्ण महाराज ने पिछले श्लोक में भी **"अकल्मषम्"** अर्थात् पाप से रहित होने की बात कही है और इस श्लोक में भी। निष्पाप योगी ही ईश्वर अनुभूति के परम सुख को अनुभव करता है, पापी नहीं करता।

विद्वानों ने वेद विरुद्ध कर्मों को ही पापयुक्त कर्म कहा है। वेदों में काम, क्रोध, मद, लोभ, हिंसा आदि में लिप्त होना अनेक पाप कहे गए हैं। **अथर्ववेद काण्ड ६ सूक्त ६ (३)** में तो यज्ञ किए बिना अथवा वेदों के विद्वान, अतिथि को भोजन दिए बिना भोजन करना पाप कहा है और इस पाप का फल मन्त्र में कहा है कि जिज्ञासु द्वारा किये यज्ञ, कूप-कुँआ आदि निर्माण कर्म नष्ट हो जाते हैं। घर के दूध, रस, ऊर्जा आदि नष्ट हो जाते हैं। संतान एवं पशुओं, कीर्ति-यश एवं धन-सम्पदा आदि की हानि होती है। **यजुर्वेद मन्त्र १/५** में उपदेश है **"अनृतात् सत्यम् उपैमि"** अर्थात् जीव झूठ का त्याग करके केवल सत्य-सत्य ही ग्रहण करे क्योंकि झूठ सुनना, झूठ बोलना पाप है। भाव यह है कि पाप की गिनती करना कठिन है। वस्तुतः हमें समस्त पापों के नाश का उपाय करना चाहिए क्योंकि पाप रहित को ही ब्रह्म अनुभूति होती है। ऊपर कही वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि साधना के अभाव में प्राणी वेदविरुद्ध पूजा-पाठ आदि करता है, अविद्याग्रस्त हो जाता है तथा फलस्वरूप पाप कर्म करता है।

अथर्ववेद काण्ड ७ सूक्त ६४ में कहा कि जो मलीन वासना और पाप वासना मन को अपनी ओर खींचती है और जीव पर चारों ओर से प्रहार करती है, इसी में फंसकर मनुष्य पापयुक्त कर्म करता हुआ पापी बन जाता है। मन्त्र में कहा यज्ञ, ईश्वर के नाम का स्मरण आदि शुभ कर्म, पाप वासना का नाश करने वाले होते हैं। अगले ही सूक्त में कहा **"त्वम् हि प्रतीचीनफलः"** अर्थात् जब यज्ञ, नाम स्मरण एवं योगाभ्यास आदि द्वारा समाधि में ईश्वर हृदय में प्रकट होता है तभी पापों का नाश होता है। पुनः कहा **"यत् दुष्कृतम् चेरिम"** कि जो दुष्कर्म हम कर लेते हैं **"यत् शमलम्"** जो घृणित कर्म करते हैं, **"यत् वा पापया"** वह पाप वृत्ति से करते हैं, उसे हे **"विश्वतोमुख"** सर्वव्यापक प्रभु आप सब ओर से देखते हो। उन पापों को हम **"त्वया"** तेरे स्मरण आदि शुभ कर्मों से **"अपमृज्महे"** नष्ट करते हैं।

अथर्ववेद मन्त्र ८/१/१६ में कहा है जीव **"मा त्वा जम्भः विदत्"** तेरे अन्दर अधर्मयुक्त काम वासना उत्पन्न न हो, तू भोग विलास में न फंस जाए **"मा तमः"** तू वेद विद्या से विमुख होकर अज्ञान रूपी अंधकार में भी न फंस जाए **"संहनुः"** क्रोधयुक्त होकर दांतों को कटकटाने न लगे **"बर्हिः"** अधिक बोलने वाला न हो **"त्वा आदित्याः वसवः उद् भरन्तु"** वेदों के विद्वान् और विद्वान् माता-पिता तुझे इन काम, क्रोध, अज्ञान और अधिक बोलने वाली पापयुक्त विनाशकारी वृत्तियों से बचाएँ। भाव यह है कि वेदाध्ययन, यज्ञ, नाम स्मरण एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों द्वारा जब योगी ईश्वर को अपने हृदय में प्रकट करता है तभी सम्पूर्ण पापों का नाश होता है। केवल पढ़, सुन रटकर ऊंचे ऊंचे भाषणों द्वारा जीव अहंकारयुक्त होता हुआ और अधिक पाप कर्मों में लिप्त हो जाता है।

ईश्वर प्राप्ति की आनन्द अनुभूति को ही वेदों में सोम पान कहा है। वेद मन्त्रों में सोम का अर्थ आनन्द स्वरूप परमेश्वर भी है। जैसे **सामवेद मन्त्र ५७८** में कहा सोम अर्थात् हे आनन्द स्वरूप परमेश्वर **"इन्द्राय पवस्व"** आप जीवात्मा को प्राप्त होएँ अर्थात् जीवात्मा का लक्ष्य वैदिक साधना द्वारा आनन्द स्वरूप सोम-ईश्वर को प्राप्त करना है। **सामवेद मन्त्र ५६७** में प्रार्थना है कि हे आनन्दस्वरूप ईश्वर आप जीवात्मा के लिए अमृत वर्षा कीजिए। **ऋग्वेद मन्त्र १०/११९/१** में कहा क्योंकि मैंने **"सोमस्य कुवित् अपाम्"** परमेश्वर के आनन्द रस सोम को अत्याधिक पी लिया है, अब मेरा मन **"गाम् अश्वम् सनुयाम्"** गाय, घोड़ा दान करने को करता है इति इत्यादि अर्थात् और भी सभी कीमती वस्तुएं दान करने को करता है।

भाव यह है कि जब योगी सोम रस पान कर लेता है अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की कठोर साधना के पश्चात समाधि अवस्था में योगी को ब्रह्मअनुभूति का आनन्द अनुभव होता है, उस आनन्द को ही सोमपान कहते हैं और उस अवस्था को प्राप्त करने के बाद योगी को सांसारिक पदार्थों से लगाव नहीं रहता। जो वेदविद्या को नहीं सुनते, नहीं जानते उन्होंने अज्ञानवश सोम पान को देवताओं द्वारा स्वर्ग में मदिरा पान तक कह दिया है। यह अविद्याग्रस्त का लक्षण है। अविद्याग्रस्त ही अर्थ का अनर्थ करता है।

सारांश यह है कि साधना करता हुआ जब योगी जितेन्द्रिय हो जाता है तब **यजुर्वेद मन्त्र ३७/२** में कहा कि योगी योग बल के द्वारा अपने मन और बुद्धि को ईश्वर में समाहित कर देता है और ईश्वर के साक्षात्कार के लाभ से उसके जन्म जन्मांतरों के समस्त पाप बीज की तरह जलकर नष्ट हो जाते हैं। **योगशास्त्र सूत्र ४/२६** में इस साक्षात्कार की अवस्था को **"धर्ममेघ समाधि"** कहा है, जिस अवस्था में योगी पूर्णतः पापरहित हो जाता है और सोमरस का पान करता है अर्थात् गीता के इस श्लोक के कहे अनुसार ब्रह्म प्राप्ति से उत्पन्न अनन्त सुख का अनुभव करता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।"

(गीता श्लोक ६/२६)

(योगयुक्तात्मा) जो जीवात्मा योग से जुड़ा है वह **(सर्वत्र)** सब प्राणियों में **(समदर्शनः)** समदृष्टि वाला योगी **(आत्मानम्)** परमात्मा को **(सर्वभूतस्थम्)** सब भूतों में स्थित देखता है **(च)** और **(सर्वभूतानि)** सब भूतों को **(आत्मनि)** परमात्मा में **(ईक्षते)** देखता है।

अर्थः- जो जीवात्मा योग से जुड़ा है, वह सब प्राणियों में समदृष्टि वाला योगी, परमात्मा को सब भूतों में स्थित देखता है और सब भूतों को परमात्मा में देखता है।

भावार्थः- अथर्ववेद मन्त्र ६/५/६,७ का भाव है कि हे जीव, तू वेदों के ज्ञाता, योगी से विद्या प्राप्त करके, पापों का नाश करके, ज्ञान की अग्नि से दीप्त होकर **"एतम्**

ज्योतिष्मन्तम् लोकम् अभिजय" प्रकाशवान् लोकों पर विजय प्राप्त कर अर्थात् प्रकृतिरचित संसार के भोग पदार्थों से, तप द्वारा तृष्णा रहित होकर मोक्ष के सुख को प्राप्त कर। अगले मन्त्र में कहा-जब जीव तप द्वारा सब पापों का नाश कर लेता है तो उसे, **"अजम् ज्योतिः आहुः"** अर्थात् तप द्वारा विकारों को दूर करने वाले जीव को ही, ज्योति कहते हैं। अन्यथा जिसने वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टांग योग आदि कठोर तप नहीं किए वह जीव तो सदा प्रकृति रचित संसार के काम, क्रोध आदि विकारों में फँसा अविद्याग्रस्त होता है। उसकी हालत तो ऐसी होती है जैसे सूर्य के ऊपर दिन में कभी काले बादल छा जाने से सूर्य का प्रकाश ढक लिया जाता है। इस प्रकार अविद्या से ढके जीव भी यदि आज गीता आदि पढ़ सुन रट और मिथ्याभाषण करके एवं सुनकर स्वयं को विकार रहित ज्योति अथवा ब्रह्म कहने लगते हैं तो वह यह नहीं जानते कि अविद्या के फैलाए घोर जाल में फँस गए हैं। अभी तो झूठ बोलकर जनता से पैसा कमाकर ऐश कर लेंगे लेकिन ईश्वर तो मिथ्यावाद और छल कपट आदि किए का एक-एक क्षण का हिसाब मांगेगा। कबीर की वाणी यहाँ याद आती है-

"धरम राइ ईश्वर जब लेखा मागै
किआ मुखु लै कै जाहिगा।"

भाव यह है कि पिछले कई श्लोकों और ऊपर भी कही हुई वेदाध्ययन आदि योग साधना के फलस्वरूप ही जीव पिछले श्लोक **६/२८** में कहे ब्रह्मस्पर्श अर्थात् ब्रह्म अनुभूति के आनन्द सुख को प्राप्त करता है, केवल बातें बनाने से तो सृष्टि में आलस्य, प्रमाद, हँसी, मज़ाक, राग-द्वेष आदि पाप फैलते चले जाते हैं। प्रस्तुत श्लोक में **"सर्वभूतस्थआत्मानं"** का अर्थ एवं भाव है कि योगी ऊपर कही साधना के पश्चात जब परमात्मा के सब पदार्थों भूतों में उस सर्वव्यापक परमात्मा को स्थित अनुभव करता है और **"आत्मनि सर्वभूतानि ईक्षते"** अर्थात् सब प्राणियों को परमात्मा में देखता है अर्थात् अनुभव करता है तो ऐसा अनुभव करने वाले योगी को ही श्रीकृष्ण महाराज ने **"योगयुक्तात्मा"** पद से विभूषित किया है। अब योगयुक्तात्मा का यदि भाव देखना है तो हम वेद के हजारों मन्त्रों की व्याख्या में से **यजुर्वेद मन्त्र ४०/६** का अध्ययन करके, सत्य जानकर असत्य का त्याग कर सकते हैं। मन्त्र कहता है **"यः आत्मन् सर्वाणि भूतानि अनुपश्यति"** अर्थात् जो वेदों का ज्ञाता विद्वान, यज्ञ एवं अष्टांग योग का कठोर अभ्यास एवं धर्माचरण करता हुआ बाद में तपस्या के फल द्वारा परमात्मा में सब जड़ पदार्थ एवं

चेतन जीवों को देखता है/अनुभव करता है, **"सर्वभूतेषु"** सब प्रकृति आदि पदार्थों में **"आत्मानम्"** एक परमात्मा को देखता है, केवल वह ही धार्मिक है और मोक्ष प्राप्त करता है। इस मन्त्र ६ और अगले मन्त्र ७ में **"अनुपश्यति"** एवं **"अनुपश्यतः"** यह दो पद आए हैं। **"अनु"** का अर्थ **"बाद में"** है अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ, धर्माचरण, विद्या प्राप्ति एवं अष्टांग योग रूपी तप का ठीक-ठीक अभ्यास करने के पश्चात असम्प्रज्ञात समाधि ा में ही ब्रह्म की अनुभूति होती है और जीव मोक्ष का सुख प्राप्त करता है। जीव ब्रह्म की अनुभूति करता है अतः जीव अलग है, ब्रह्म और प्रकृति अलग हैं और सदा एक-दूसरे से अलग ही रहेंगे। समस्या यह है कि इन दोनों मन्त्रों में व्याख्या करते समय कई आधुनिक सन्त अपने मनघढ़न्त मत को समझाने के कारण **"अनु"** शब्द की व्याख्या नहीं करते कि अनु शब्द का अर्थ है कि वेद विद्या, धर्माचरण एवं योगाभ्यास करने के पश्चात ही ईश्वर अनुभूति संभव है और यह अनुभूति भी ईश्वर कृपा अर्थात् ईश्वर जब जान लेता है कि साधक के सब पाप योग की अग्नि में जल गए हैं, दुष्कर्म सुलभ होने पर भी वह दुष्कर्म पाप करने योग्य भी न रहा, तब अष्टाँग योग की चरम सीमा पर पहुंचे ऐसे साधक की जब असम्प्रज्ञात/ धर्ममेघ समाधि अवस्था आती है तब इस श्लोक में कहा **"सर्वत्र समदर्शनः"** अर्थात् उस समदृष्टि प्राप्त योगी को सब स्थानों में ईश्वर की ही अनुभूति होती है। जैसा कि ऊपर की व्याख्या से स्पष्ट है। अतः हम पुनः यह समझें कि गीता को पढ़कर श्रीकृष्ण ने गीता का उपदेश नहीं किया है अपितु गीता एक वैदिक मन्त्रों से उत्पन्न, व्यास मुनि द्वारा रचित एवं श्रीकृष्ण के मुख से निकला ज्ञान है। सम्पूर्ण गीता में श्रीकृष्ण महाराज ने वेद मन्त्रों का ही ज्ञान दिया है। अतः गीता वेद के ज्ञाता, आचार्य से ही सुनकर पुण्य प्रदान करती है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०** एवं वेदों के अन्य मन्त्रों में भी ईश्वर ने यही कहा है कि जो योगाभ्यास आदि के बाद ईश्वर के ध्यान में लीन हुए योगी हैं, हम उनसे ही ब्रह्म विद्या सुनें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।"

(गीता श्लोक ६/३०)

(यः) जो **(सर्वत्र)** सम्पूर्ण भूतों में **(माम्)** मुझको **(पश्यति)** देखता है **(च)** और

(सर्वम्) सम्पूर्ण भूतों को **(मयि)** मुझमें **(पश्यति)** देखता है **(तस्य)** उसको **(अहम्)** मैं **(न)** नहीं **(प्रणश्यामि)** नाश को प्राप्त होता हूँ **(च)** और **(सः)** वह **(मे)** मेरे लिए **(न)** नहीं **(प्रणश्यति)** नाश को प्राप्त होता।

अर्थः- जो सम्पूर्ण भूतों में मुझको देखता है और सम्पूर्ण भूतों को मुझमें देखता है उसके लिये मैं नहीं नाश को प्राप्त होता हूँ और वह मेरे लिए नहीं नाश को प्राप्त होता। अर्थात् मैं उसकी दृष्टि से कभी ओझल नहीं होता और ऐसा पुरुष भी नाश को प्राप्त नहीं होता।

भावार्थः- यजुर्वेद मन्त्र ७/२८ में योग विद्या के ज्ञाता को मनुष्यों में श्रेष्ठ, स्वयं विद्या से प्रकाशित और दूसरों को विद्या का दान करने वाला विद्वान् कहा है। ऐसे विद्या और प्रकाश के दाता विद्वान् की सेवा करके ही जीव विद्वान् बनता है। ईश्वर सर्वव्यापक है। जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ७/२५** में कहा कि हे ईश्वर! आप **"ध्रुवक्षितिः"** सब भूमियों में स्थिर हो **"ध्रुवाणाम्"** आकाश आदि में स्थित पदार्थों में **"ध्रुवतमः"** स्थिर हो और **"अच्युतानाम् अच्युतक्षित्तमः"** सब जीवों के अन्दर आपका निवास है। अतः जो पूर्ण विद्वान्, योगी हैं, वह अपने अन्दर आत्मा में परमात्मा की धारणा करते हुए, योगयुक्त होकर ईश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

इन्हीं भाव को **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१** में इस प्रकार कहा है-**"ईशा वास्यमिदम् सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्"**

अर्थात् ईश्वर संसार के प्रत्येक जड़ पदार्थ और चेतन जीवात्माओं में निवास करता है अर्थात् ईश्वर सर्वव्यापक है। भाव यह है कि संसार के सर्व पदार्थ जो ईश्वर से पृथक् हैं और जड़ हैं, तथा चेतन जीवात्माएँ ईश्वर से अलग हैं फलस्वरूप ईश्वर उनमें व्यापक है। अतः जड़ पदार्थ एवं जीव ब्रह्म नहीं हैं।

गीता के प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज ने वैदिक भावों को ही दर्शाते हुए कहा है कि जो ऊपर कहा पूर्ण योगी, योगयुक्त होता हुआ सम्पूर्ण जगत के जड़ पदार्थों एवं चेतन जीवात्माओं में मुझको देखता है और सम्पूर्ण पदार्थ एवं जीवात्माओं को मुझमें देखता है, उस योगी के लिए मैं नाशवान नहीं हूँ और वह योगी भी मेरे लिए नाशवान नहीं है अर्थात् सदा दर्शनीय हूँ और वह योगी भी मुझसे कभी ओझल नहीं होता। तथा उस योगी का भी नाश नहीं होता अर्थात् वह योगी जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं फँसता।

इस भाव को **यजुर्वेद मन्त्र ३१/१६** में इस प्रकार कहा है कि जो ईश्वर निराकार है, जन्म-मृत्यु से रहित है और संसार को उत्पन्न करके उसके अन्दर प्रविष्ट होकर सर्वत्र है, **"तस्य योनिम् धीराः परि पश्यन्ति"** उस सर्वव्यापक परमात्मा को वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना करने वाले योगयुक्त योगी सब ओर देखते हैं। और अपने अन्दर भी देखते/अनुभव करते हैं।

प्रस्तुत गीता के श्लोक में **"माम्"** शब्द का अर्थ वेदानुसार निराकार ब्रह्म है, वेदों ने यह स्पष्ट किया है कि ईश्वर योगियों के ही हृदय में प्रकट होता है। **यजुर्वेद मन्त्र ३१/१** के अनुसार जो सब हमारी आँखें हैं वह ईश्वर की ही आँखें हैं और ईश्वर जीवात्मा में रहता हुआ सबके कर्मों को सदा देख रहा है परन्तु योगयुक्त योगी अर्थात् जीवात्मा के ऊपर से जब अविवेक/अज्ञान का पर्दा योगाभ्यास द्वारा समाप्त होता है, तब वह जीवात्मा/योगी भी ईश्वर का साक्षात्कार करता है। इस प्रकार न योगी से ईश्वर ओझल है और न योगी ईश्वर से ओझल है। यही भाव इस श्लोक के हैं। श्रीकृष्ण महाराज योगेश्वर हैं। जैसा कि **सामवेद मन्त्र ५२५** में कहा कि पूर्ण योगी/ऋषि वेद विद्या का ज्ञान समाज को देता है और **"गावः गोपतिम् पृच्छमानाः यन्ति"** अर्थात् वह वेद की वाणियाँ ईश्वर से पूछती हुईं सी योगी के अन्दर से बाहर निकलती हैं। यही भाव **सामवेद मन्त्र ६४४** में इस प्रकार कहा है **सोमः देवानाम् ब्रह्मा** अर्थात् ईश्वर विद्वानों में ब्रह्मा है और **कवीनाम् पदवीः** ऋषि-योगियों का पद है अर्थात् योगियों के अन्दर से प्रत्येक पद को जोड़ जोड़ कर व्याख्यान कराने वाला स्वयं ईश्वर है। अतः यदि कोई पूर्ण योगी उस समय समाधि अवस्था में स्वयं को ईश्वर भी कहे तो कोई त्रुटि नहीं है। गीता का उपदेश श्रीकृष्ण ने नहीं अपितु व्यास मुनि ने दिया है जो कि गीता के **श्लोक १८/७५** से स्पष्ट है। अतः व्यास मुनिजी द्वारा रचित गीता का उपदेश श्रीकृष्ण के मुख से दिया जा रहा है। श्रीकृष्ण महाराज यदि उपदेश करते समय स्वयं को भगवान मान लें तो वेदविरुद्ध नहीं है। हां, श्रीकृष्ण स्वयं भगवान नहीं हो सकते और न ही वेदों में अवतारवाद है। अपितु वेदानुसार श्रीकृष्ण महाराज ईश्वर के समान हुए हैं।

अतः यहाँ **"माम्"** शब्द श्रीकृष्ण महाराज ने स्वयं को भगवान मानकर प्रयोग किया है और कोई भी पूर्ण योगी ऐसा कह सकता है। परन्तु उसे योगेश्वर श्रीकृष्ण, व्यासमुनि, कपिल मुनि जैसा चारों वेदों का ज्ञान और पूर्ण अष्टाँग योग की कठोर साधना ब्रह्मचर्य

आदि द्वारा असम्प्रज्ञात/धर्ममेघ समाधि प्राप्त होनी अनिवार्य है जिसका वर्णन **योगशास्त्र सूत्र ४/३०,३१ एवं ३२** में पता जलि ऋषि ने स्वयं किया है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते।।"

(गीता श्लोक ६/३१)

(यः) जो योगी **(माम्)** मुझको **(एकत्वम्)** एकत्व भाव से परमात्मा एक है, वही सर्वत्र है) **(सर्वभूतस्थितम्)** संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में **(आस्थितः)** स्थित हुआ **(भजति)** भजता है **(सः)** वह **(योगी)** योगी **(सर्वथा)** सब तरह से **(वर्तमानः)** वेदोक्त शुभ कर्म करता हुआ **(अपि)** भी **(मयि)** मुझमें ही **(वर्तते)** बर्त्तता है अर्थात् मेरे लिए ही शुभ कर्म करता है।

अर्थः- जो योगी मुझको एकत्व भाव से परमात्मा एक है, वही सर्वत्र है संसार के सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में स्थित हुआ भजता है, वह योगी सब तरह से वेदोक्त शुभ कर्म करता हुआ भी मुझ में ही बर्त्तता है अर्थात् मेरे लिए ही शुभ कर्म करता है।

भावार्थः- पुनः इस श्लोक में भी, भगवद्गीता के प्रत्येक श्लोक की भांति, ईश्वर से उत्पन्न वेद मन्त्रों के ज्ञान का दर्शन हो रहा है। जैसे कि इस श्लोक में पद है-**"एकत्वम्"**। यही 'एकत्वम्' शब्द और पूरे इस श्लोक का भाव **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** में दर्शनीय है। वेदमन्त्र में कहा-**"एकत्वम् अनुपश्यतः"** एकत्वम् का अर्थ है परमात्मा के एकत्व को जानना अर्थात् सम्पूर्ण सृष्टि का रचयिता एक निराकार ब्रह्म है और वही निराकार ब्रह्म अपने गुण, स्वभाव एवं कर्म के द्वारा सर्वव्यापक होकर सृष्टि को धारण किए हुए है। **यजुर्वेद मन्त्र २७/३६** कहता है **"इन्द्र"** हे दुःखों का नाश करने वाले **"गव्यन्तः"** वेदवाणी को उपदेश करने वाले ईश्वर हम **"त्वा हवामहे"** तेरी स्तुति करते हैं क्योंकि **"अन्यः न त्वावान् दिव्यः"** तुझ परमेश्वर से अन्य दूसरा कोई पदार्थ तेरे समान शुद्ध नहीं है **"न पार्थिवः"** और न पृथिवी में तेरे समान कोई अन्य प्रसिद्ध है। आगे मन्त्र में कहा **"न**

जातः न जनिष्यते" हे परमेश्वर, तुझसे अन्य न कोई उत्पन्न हुआ है और न कोई उत्पन्न होगा। अतः हम सब इसी एक निराकार, सृष्टि रचयिता, निराकार, सर्वव्यापक ईश्वर की ही उपासना करें। यही ईश्वर सर्वव्यापक है और श्रीकृष्ण महाराज के हृदय में वेदाध्ययन, योगाभ्यास आदि द्वारा प्रकट हुआ है। क्योंकि यह ईश्वर श्रीकृष्ण महाराज के हृदय में प्रकट हुआ था, इसी कारण और इसी प्रभाव से गीता में कई जगह श्रीकृष्ण ने स्वयं को ईश्वर के धर्म को अपने हृदय में प्रकट मानकर वैदिक प्रवचन द्वारा ज्ञान दिया है। अतः श्रीकृष्ण महाराज को भगवान मान लेना, वेद विरुद्ध होने के कारण उचित नहीं है, यह समझना आवश्यक है।

अब प्रश्न है कि उस एक ब्रह्म का दर्शन कैसे किया जाए? तो उसके लिए ईश्वर ने इस मन्त्र ४०/७ में **"अनुपश्यतः"** पद का उपयोग करके ज्ञान दिया है। **"अनु"** शब्द का अर्थ है "बाद में" अर्थात् परंपरागत वेदाध्ययन, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की साधना आदि शुभ कर्म करने के बाद में **"पश्यतः"** का अर्थ है साक्षात् करने वाला योगी और ऐसे योगी के विषय में आगे मन्त्र कहता है **"कः मोहः कः शोकः अभूत्"** अर्थात् इस अवस्था के योगी को क्या मोह होगा और क्या अविद्या आदि शोक और क्लेश होगा। अर्थात् वेदाध्ययन, यज्ञ और योगाभ्यास के बाद समाधि प्राप्त योगी को क्या क्लेश और क्या मोह होगा। प्रश्न यह है कि-

"बुरा जो देखन मैं चला, बुरा न मिलया कोए,
जो दिल खोजूँ आपनो, मोसो बुरा न कोए।।"

भाव है कि यदि दूसरों को ईमानदारी सिखाने वाले आज के वेद विरोधी सन्त स्वयं ईमानदारी से यह सोचने लगें कि मोह, लोभ, काम, क्रोध, विषय-विकार, धन इकट्ठा करना, यह सब इस वेदमन्त्र में कहे शोक हैं, मोह हैं और **"अनुपश्यतः"** बिना वेदाध यन यज्ञ एवं योगाभ्यास के इनसे छुटकारा नहीं हो सकता, तो वह भी शीघ्र पढ़-सुन रटकर बोलना बन्द करके ऊपर कही साधना में लग जाएँगे और स्वयं का तथा देश का उद्धार हो जाएगा, पर प्रश्न तो ईमानदारी का है तथा सच्चाई का है।

इसी **यजुर्वेद** के मन्त्र **४०/७** के आधार पर ही योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज ईश्वर के स्वरूप में स्थित कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जो योगी (ऊपर कही साधना के बाद) **"एकत्वम् आस्थितः"** मुझ परमेश्वर के एकत्व भाव में स्थिर होकर (अर्थात् ईश्वर एक

है और सबमें हैं, किसी का बुरा मत सोचो ईश्वर सब के पाप कर्म देख रहा है इत्यादि) सम्पूर्ण जड़ चेतन पदार्थों में **"माम् भजति"** मुझको भजता है अर्थात् वेदों में कही साधना एवं शुभ कर्म करता, सब जड़ एवं चेतन पदार्थों में मुझे स्थित जानकर सबका उपकार करता हुआ, केवल वैदिक शुभ कर्म करता है तथा इस प्रकार मेरी उपासना करता है तो **"सः योगी.......वर्तते"** अर्थात् वह योगी मुझ एक परमेश्वर को ही सर्वव्यापक जानकर संसार के सब शुभ कर्म करता हुआ भी कर्मफल से अलग रहता है क्योंकि वह मुझे सर्वत्र जानता हुआ मेरे लिए ही कर्म कर रहा होता है। उसका प्रत्येक कर्म मेरे लिए ही होता है।

उदाहरणार्थ प्रस्तुत श्लोक में **"एकत्वम् आस्थितः"** अर्थात् केवल एक निराकार एवं **"सर्वभूतस्थितम्"** अर्थात् संसार के सब पदार्थों के कण-कण में व्यापक ईश्वर की बात कही है। और इस प्रकार जब योगी शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदमन्त्रों के अध्ययन-मनन द्वारा एक सर्वव्यापक ईश्वर को **"वर्तते"** अर्थात् बर्त्तता है-जानता है, और आचरण करता है और आचार्य से यज्ञ, नाम स्मरण एवं योगाभ्यास आदि की शिक्षा ग्रहण करके उस एक ईश्वर को प्राप्त करने के लिए कठोर साधना करता है तो फलस्वरूप वह साधक पूर्णतः ईश्वर में ही बर्त्तता है अर्थात् उसके सब सशंय समाप्त हो जाते हैं और वह यह जान लेता है कि कण-कण में ईश्वर है, मेरे अन्दर भी ईश्वर है और वह मेरे सब पाप-पुण्य देख रहा है। ऐसे ज्ञान को प्राप्त हुआ साधक ईश्वर से डरता है कि जब सबमें ईश्वर है तो मैं कहीं अन्याय, वेद विरुद्ध कर्म, हिंसा, झूठ, पाखण्ड, व्यभिचार, काम-क्रोध आदि सब विकारों को क्यों करूँ?

ऐसा साधक तो सबमें ईश्वर को व्यापक जानकर वेदानुकूल सब शुभ कर्म ईश्वर को ही अर्पित कर देता है। इसी संदर्भ में ऊपर का **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** कहता है कि वह साधक पुनः मोह-माया के जाल में क्यों फँसेगा अर्थात् धृतराष्ट्र की तरह धन-सम्पदा, ऊँचे-ऊँचे महल की इच्छा क्यों करेगा? जनता से धन क्यों बटोरेगा? अनेक आश्रमों के निर्माण की इच्छा रूपी मोह की दलदल में क्यों फँसेगा, इत्यादि। उसका तो सजना-धजना सब समाप्त हो जाएगा। वह रावण नहीं बन पाएगा, राम बनेगा। वह शूर्पनखा नहीं बनेगी, सीता अथवा जनक आचार्या, बाल ब्रह्मचारिणी गार्गी बनेगी। प्रस्तुत श्लोक में भी विचारणीय विषय है कि संसार के पदार्थ अलग कहे गए हैं और फलस्वरूप ही उन पदार्थों

के कण-कण में समा जाने वाले ईश्वर को **"सर्वभूतस्थितम्"** सब भूतों में स्थित अर्थात् सर्वव्यापक कहा है। इससे पहले ईश्वर को **"एकत्वम्"** कहकर बताया है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का केवल एक ही ईश्वर है जैसा कि **ऋग्वेद मन्त्र १/७/६** में ईश्वर को **"इन्द्रः एकः"** तथा अगले मन्त्र में कहा कि वह ईश्वर **"केवलः"** चेतन स्वरूप है और केवल एक है।

अतः यहाँ दो बातें स्पष्ट हो रही हैं कि ईश्वर एक है और चेतन है और दूसरी कि यह सारा संसार जड़ है और ईश्वर से पृथक् है। अतः ईश्वर इस संसार के जड़-पदार्थों के कण-कण में समाया हुआ है अर्थात् सर्वव्यापक है। अतः यह कहने का कहीं भी स्थान नहीं रह जाता कि एक ईश्वर के अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। दूसरी वस्तु तो प्रकृति रचित संसार है ही और तीसरी जीवात्मा है। हम यह भी नहीं कह सकते कि जड़ जगत अथवा जगत का कोई पदार्थ सूर्य-चाँद, जल इत्यादि ईश्वर है। वह जड़-पदार्थ ईश्वर कैसे हो सकता है? यदि जड़ पदार्थ ही ईश्वर है तो ईश्वर किसमें व्यापक होगा? जैसे लोहे का तार अलग है और उसमें बहने वाली विद्युत तार से अलग है। अगर तार तथा विद्युत एक ही हैं तो तार को ही हम विद्युत कह देंगे जो कि असम्भव है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।"

(गीता श्लोक ६/३२)

(अर्जुन) हे अर्जुन **(यः)** जो योगी **(सर्वत्र)** सब भूतों में **(आत्म-औपम्येन)** आत्म भाव रूप उपमा से **(समम्)** सम भाव से **(पश्यति)** देखता है **(वा)** और **(सुखम्)** सुख **(यदि वा)** अथवा **(दुःखम्)** दुःख को समभाव से देखता है **(सः)** वह **(योगी)** योगी **(परमः)** अत्यन्त श्रेष्ठ योगी **(मतः)** समझा जाता है।

अर्थः- हे अर्जुन! जो योगी सब भूतों में आत्म भाव रूप उपमा से समभाव से देखता है और सुख अथवा दुःख को समभाव से देखता है, वह योगी अत्यंत श्रेष्ठ योगी समझा जाता है।

भावार्थ:- **"आत्मौपम्येन"** पद का अर्थ है कि जो स्वयं (आत्मा) के जैसा सुख चाहते हैं, वैसा दूसरों को भी मिले और जैसे स्वयं के दुःखों को दूर करने का प्रयत्न करते हैं, उसी प्रकार दूसरों के दुःखों को दूर करने का भी प्रयत्न किया जाए, यह आत्मभाव है। इसी भाव को इस श्लोक में **"सुखम् यदि वा दुःखम्"** कह कर प्रस्तुत किया है। परन्तु विपरीत में कौरव समभाव वाले नहीं हैं। वह स्वयं राज्य छीन कर राज्य का सुख लेना चाहते हैं और पाण्डव तथा अन्य को दुःख देना चाहते हैं जो कि पाप है। श्रीकृष्ण महाराज धर्मयुद्ध कराकर पाप का नाश करना चाहते थे और फलस्वरूप ही वह अर्जुन को धर्मयुद्ध करने की प्रेरणा दे रहे हैं। इसी भाव को यहाँ **"सर्वत्र समम् पश्यति"** अर्थात् ऐसा योगी सब प्राणियों में समदृष्टि रखने वाला होता है इस प्रकार कहा है। यहाँ यह कहना पड़ता है कि गीता वैदिक प्रवचन है, इसमें मनघढ़न्त भाव, कथा-कहानियाँ आदि नहीं डाली जा सकती, केवल वही कथा-कहानियाँ जो वेदों के ज्ञान से सम्बन्धित हैं, उन्हीं का उदाहरण दिया जा सकता है। क्योंकि वेदों में इतिहास, किसी का नाम अथवा कथा-कहानियाँ नहीं हैं। भाव यह है कि योगी सबमें समभाव रखता है, इसका यह अर्थ नहीं है कि यहाँ जीव-ब्रह्म की एकता की बात हो रही है अथवा सब प्राणियों को एक ही समझने की बात कही जा रही हो। असंख्य जीवात्माएँ हैं, उनमें परमात्मा एक ही है। जड़-प्रकृति और जीव, इन दोनों से अलग परमात्मा है। भाव यह है कि ऐसा योगी अपने ही समान दूसरों का भी सुख-दुःख समझता है तथा सब शरीरों में एक जैसी जीवात्मा है और जीवात्मा में ही परमात्मा है। जीवात्माएँ असंख्य हैं, परमात्मा एक है। जैसे **ऋग्वेद मन्त्र १०/११७/६** में कहा **"केवलाघो भवति केवलादी"** पिछले श्लोक में **यजुर्वेद मन्त्र ४०/७** की व्याख्या में कहा यही भाव है कि **"एकत्वम् अनुपश्यतः"** जो योगी वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग की साधना के पश्चात सर्वत्र एक ईश्वर का अनुभव करता है, वह मोह और शोक आदि क्लेश को प्राप्त नहीं होता और **"सर्वाणि भूतानि आत्मा एव अभूत्"** उसके लिए सब प्राणी अपनी आत्मा के समान होते हैं अर्थात् वह योगी जैसा अपना हित चाहता है वैसा ही हित अन्य सभी प्राणियों के लिए चाहता हुआ बर्ताव करता है। वह स्वार्थी नहीं होता। परन्तु इस समभाव रूपी बर्ताव करने के पीछे जो यजुर्वेद ने कारण बताया वह **"अनुपश्यतः"** है। अनु का अर्थ है वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म एवं उपासना के बाद जब योगी असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था को प्राप्त करता है तब **यजुर्वेद मन्त्र ६/५** कहता है-

**"तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।
दिवीव चक्षुराततम्।।"**

अर्थात् ऐसा योगी उस सर्वव्यापक परमेश्वर को कण-कण में अनुभव करता है और इस प्रकार उसके मोह-शोक समाप्त हो जाते हैं। फलस्वरूप ऐसा योगी न स्वयं के शरीर, परिवार आदि के लिए मोह-शोक आदि करेगा और न अन्य के लिए। वह तो सबमें समदृष्टि रखेगा। ऐसे समाधि प्राप्त योगी को श्रीकृष्ण महाराज ने इस श्लोक में सर्वोत्तम योगी कहा है।

मनुस्मृति श्लोक **१२/९१** में कहा- **"सर्वभूतेषु आत्मानम्"** सब जड़ पदार्थ एवं प्राणियों में जो एक परमात्मा को और **"च आत्मनि सर्वभूतानि"** परमात्मा में सब पदार्थों एवं प्राणियों को **"समम् पश्यन्"** समान भाव से देखता है **"आत्मयाजी"** वह परमात्मा की उपासना करने वाला साधक **"स्वाराज्यम् अधिगच्छति"** परमात्मा के सुख अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

आज से लगभग ५,३०० वर्ष पहले जब गीता ग्रन्थ लिखा जा रहा था तब आज के मत-मतांतर नहीं थे और उनमें भी अद्वैतवाद, वशिष्ट अद्वैतवाद और द्वैतवाद आदि का उदय नहीं हुआ था। अतः गीता सद्ग्रन्थ को हम वैदिक दृष्टि से ही देखें क्योंकि इनके रचयिता वेदमन्त्रों के दृष्टा ऋषि व्यास और वक्ता भी वेद एवं योगविद्या में सर्वोत्तम पद से विभूषित योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज थे जिन्होंने वेद एवं वेदों में उपदेश की हुई अष्टाँग योग विद्या को संदीपन ऋषि के आश्रम में, सुदामा सखा के साथ ग्रहण किया था। आज जो वेद एवं योग विद्या को नहीं जानते और जिनको योग विद्या का अभ्यास नहीं है निश्चित ही वह वेदों पर आधारित गीता ग्रन्थ के श्लोकों का यथार्थ अर्थ नहीं कर सकते।

अर्जुन उवाच-

**"योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।"**

(गीता श्लोक ६/३३)

श्रीकृष्ण महाराज द्वारा परंपरागत योग विद्या का उपदेश सुनकर अर्जुन ने कहा-

(मधुसूदन) हे मधुसूदन! **(त्वया)** आप के द्वारा **(यः)** जो **(अयम्)** यह **(योगः)** योग विद्या का उपदेश **(साम्येन)** समत्त्व भाव से **(प्रोक्तः)** कहा गया है **(चञ्चलत्वात्)** मन च चल होने के कारण **(अहम्)** मैं **(एतस्य)** इस योग के उपदेश को **(स्थिराम्)** मन में स्थिर रहने वाली **(स्थितिम्)** स्थिति को **(न)** नहीं **(पश्यामि)** देखता हूँ।

अर्थः- हे मधुसूदन! आप के द्वारा जो यह योग विद्या का उपदेश समत्त्व भाव से कहा गया है, मन चंचल होने के कारण मैं इस योग के उपदेश को मन में स्थिर रहने वाली स्थिति को नहीं देखता हूँ।

भावार्थः- मधु नामक राक्षस को मारने के कारण श्रीकृष्ण महाराज का नाम मधुसूदन भी पड़ गया था।

प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन का यह कहना कितना उचित और कटु सत्य है कि हे कृष्ण महाराज! **"अयम् योगः त्वया प्रोक्तः"** अर्थात् यह आपके द्वारा कही गई योग विद्या है। प्रत्यक्ष है कि श्रीकृष्ण महाराज स्वयं योगेश्वर हैं और योगेश्वर ही योग की शिक्षा दे सकते हैं, अन्य नहीं।

परन्तु यहाँ गम्भीर विषय यह भी आन पड़ता है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज स्वयं योग की शिक्षा अर्जुन को दे रहे हैं परन्तु अर्जुन उत्तर में कह रहे हैं **"अहम् चञ्चलत्वात्"** मैं (अर्जुन) च चल वृत्ति वाला हूँ। अतः हे कृष्ण! **"स्थिराम् स्थितिम् न पश्यामि"** अर्थात् तुम्हारे योग के उपदेश को मैं अधिक देर तक अपने हृदय में स्थिर नहीं कर पाऊँगा। अतः यह वर्तमान का आश्चर्य ही है कि वेद एवं पूर्ण योग शिक्षा से हीन होकर भी योग एवं भगवद्गीता आदि सद्ग्रन्थों की शिक्षा दी जा रही है और सभी कह रहे हैं कि समझ भी आ रही है। प्रश्न यह है कि क्या वक्ता व्यास-मुनि अथवा श्री कृष्ण महाराज के समान चारों वेदों एवं योग-विद्या के ज्ञाता हैं?

जब श्रीकृष्ण ने पिछले कई श्लोकों में योग विद्या का ऐसा अनुपम उपदेश दिया तो अर्जुन की एकाग्रता परिवार से लगाव के कारण भंग हो चुकी हुई थी। अतः उसे श्रीकृष्ण महाराज का उपदेश समझ नहीं आया। अर्जुन ने कह दिया कि उसका मन चंचल है और योग द्वारा अर्जित ऐसे समत्त्व भाव की स्थिति उसके अन्तःकरण में स्थिर नहीं हो सकती इत्यादि। अतः एकाग्रता के अभाव में निश्चित ही अर्जुन की बुद्धि उसे ग्रहण करने में

असमर्थ थी। क्यों? क्योंकि यदि परिवार में भी विद्यार्थी एकाग्रचित होकर पढ़ाई न करे, माता एकाग्रचित्त होकर गृहस्थ के शुभ कार्य न करे, निन्दा-द्वेष, क्रोध आदि वृत्ति में रहे, माता-पिता के हृदय में क्रोध, मोह-ममता आदि अवगुण हों, पिता बुद्धिमान न हो और एकाग्रचित होकर मेहनत से धन उपार्जन न करे तथा माता उस धन को ठीक-ठीक शुभ कार्यों में उपयोग न करके, व्यर्थ का खर्च करे तब एकाग्रता के अभाव के कारण घर में सुख-शांति का अभाव हो जाएगा और विद्यार्थी विद्वान् नहीं बन पाएँगें। अतः विद्या को भी सुनकर समझने के लिए प्रथम तो जिज्ञासु होना और उसके पश्चात सब तरफ से संसारी वृत्तियाँ त्यागकर एकाग्रचित्त होकर विद्या का सुनना आवश्यक है। इस उपदेश को **योगशास्त्र सूत्र १/१** की व्याख्या में व्यास मुनिजी ने इस प्रकार कहा है कि चित्त की पाँच अवस्थाएँ हैं-क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, एवं निरुद्ध। चित्त विषय-विकारों में भटकता संसारी मोह-माया आदि में लिप्त होता, पुरुषार्थहीन एवं कर्त्तव्य-विहीन होता है। चित्त की इस अवस्था में योग की शिक्षा नहीं दी जाती। यज्ञादि शुभ कर्म करते-करते जब चित्त चौथी एकाग्र अवस्था में पहुँचता है फलस्वरूप जिज्ञासु को ही योग की शिक्षा दी जाती है। यह आज आश्चर्य है कि जनता को आकर्षित करके पहले दिन से ही आसन, प्राणायाम सिखाने शुरु कर दिए जाते हैं और सब विद्याओं का आधार यम, नियम जिसमें मुख्य स्थान ब्रह्मचर्य एवं पवित्रता का है, उसको त्याग दिया जाता है। यह अनादि काल से चली आई वैदिक संस्कृति पर कुठाराघात है। अतः हम वेदों में कही अपरिवर्तनशील एवं अविनाशी वेदविद्या के स्वरूप को न बदलें। जिन्होंने वेदाध्ययन तथा योग की शिक्षा प्राप्त करके योग विद्या की साधना ही नहीं की वह योग की शिक्षा कैसे दे सकते हैं?

श्रीकृष्ण महाराज ने वेद एवं योग विद्या का अध्ययन संदीपन ऋषि के आश्रम में किया था। इसी वेद एवं योग विद्या का ज्ञान वह अर्जुन को दे रहे हैं। प्रश्न यह है कि यदि श्रीकृष्ण महाराज संदीपन ऋषि से यह विद्याएँ प्राप्त न करते और योगेश्वर न कहलाते तो क्या वह अर्जुन को विद्या का उपदेश दे सकते थे? उत्तर स्पष्ट है कि नहीं दे सकते थे। जिसके पास यह विद्याएँ हैं ही नहीं, वह कैसे विद्या का उपदेश दे सकता है? इस विषय में वेदों में अनेक मन्त्र कहे गए हैं कि सम्पूर्ण वेद-विद्या का ज्ञाता विद्वान् आचार्य ही विद्या दान करे। जैसा कि **ऋग्वेद मंत्र १/१०२/११** का भाव है कि जो वेदों में कही सब विद्याओं को जानता है हम उसी से उपदेश सुनें। अतः आज जो हमारे देश में यदि वेद एवं योग विद्या के विरोधी सन्त हैं अथवा जिन्होंने कभी श्रीकृष्ण महाराज की

तरह वेदाध्ययन नहीं किया और न ही वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या का अभ्यास किया है तो वह गीता का उपदेश कैसे दे रहे हैं? यदि गीता का उपदेश दे रहे हैं तो निश्चित ही उनका भाषण वेद एवं योग विद्या के विरुद्ध होगा और असत्य ही होगा। अतः यहां **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०** का ध्यान आता है जिसमें ईश्वर का उपदेश है **"इति शुश्रुम धीराणाम्"** यह विद्या हमने मेधावी, विद्वान् योगी जनों से सुनी है। अतः प्राणी को अविनाशी, परपंरागत वेद एवं योग विद्या को जानने वाले विद्वान् से ही विद्या सुननी चाहिए एवं गीता का अर्थ एवं भाव समझना चाहिए, अन्य से नहीं।

अर्जुन उवाच-

'चचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।

(गीता श्लोक ६/३४)

(कृष्ण) हे कृष्ण **(हि)** निःसन्देह **(मनः)** मन **(चंचलम्)** चलायमान है तथा **(प्रमाथि)** बलपूर्वक बुद्धि को हरण करने वाला, दुःख देने वाला **(दृढम्)** दृढ़ है **(बलवत्)** बलवान् है **(तस्य)** ऐसे उस मन का **(अहम्)** मैं **(निग्रहम्)** निग्रह करना **(वायोः)** वायु के **(इव)** समान **(सुदुष्करम्)** अति दुष्कर **(मन्ये)** मानता हूँ।

अर्थः- हे कृष्ण! निःसन्देह मन चलायमान है तथा बलपूर्वक बुद्धि को हरण करने वाला, दुःख देने वाला, दृढ़ है, बलवान है ऐसे उस मन का मैं निग्रह करना वायु के समान अति दुष्कर मानता हूँ।

भावार्थः- मन, नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा एवं त्वचा, इन पाँच ज्ञानेन्द्रियों से विषयों को ग्रहण करता है और बुद्धि द्वारा जीवात्मा को पहुँचाता है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों का मुख बाहर की तरफ है और रजोगुण, तमोगुण, सतोगुण से बने संसार के प्रत्येक पदार्थ भी बाहर कहीं स्थित हैं जिनकी ओर इन्द्रियाँ आकर्षित होती हैं। संसार में प्रत्येक प्रकार के सोना-चाँदी, विषय-विकार की चमक-दमक है। जीवात्मा का स्वभाव अच्छे अथवा बुरे पदार्थों से लगाव करना तथा पदार्थों की ओर आकर्षित होना है। मन सदा ज्ञानेन्द्रियों से ही बाहरी विषय ग्रहण करता है।

यजुर्वेद मन्त्र ३/५४ में कहा कि मन **(ज्योक् सूर्यम् दशे)** निरन्तर ज्योतिस्वरूप परमेश्वर, सूर्यमण्डल एवं प्राण को देखने के लिए **(क्रत्वे)** यज्ञ आदि शुभ कर्म **"दक्षाय"** मानसिक एवं शारीरिक बल प्राप्त करने के लिए **"जीवसे"** प्राण धारण करने के लिए **"च"** तथा अन्य वेदों में कहे शुभ कर्मों को करने के लिए ईश्वर ने बनाया है। अतः मन द्वारा वैदिक शुभ कर्म करें। **"नः पुनः आ एतु"** मन्त्र में प्रार्थना है कि हे ईश्वर, ऐसा मनुष्य शरीर को प्राप्त यह मन, शुभ कर्म करता हुआ, हमें बार-बार मनुष्य शरीर में ही प्राप्त हो।

भाव है कि मनुष्य के शरीर में ही वेदाध्ययन, यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करने होते हैं। **यजुर्वेद** अध्याय ३४ के प्रथम छः मन्त्रों का भाव है कि जो मन निद्रा, स्वप्न अथवा ज़ाग्रत अवस्था में दूर-दूर विषयों में भ्रमण करने लग जाता है, उस मन को, वेदों के ज्ञाता, विद्वानों का संग करके, उनसे विद्या प्राप्त करते हुए, शुद्ध करें और अपने वश में करें। वश में किए हुए मन से परमेश्वर की उपासना द्वारा विद्वान् बनें और अधर्म का नाश करके धर्म मार्ग पर चलें। हमारा मन योगाभ्यास द्वारा अविद्या का नाश करके क्लेशों से मुक्त रहे इत्यादि। भाव यह है कि प्राणी अपने मन को सदा/निरन्तर साधना एवं वेदोक्त शुभ कर्मों में लगाकर सुखी रहे। नर-नारी सदा पुरुषार्थी बनें, आलसी नहीं। क्योंकि **ऋग्वेद मन्त्र ५/६१/८** में कहा कि आलस्ययुक्त जन श्रेष्ठ कर्मों को नहीं कर सकते अतः ऐसे नर-नारी अधर्मयुक्त हैं।

इतना सब कहने का भाव यह है कि चंचल मन को जब पुरुषार्थी नर-नारी वेदोक्त शुभ कर्मों में लगाते हैं तो मन की विषय-विकारों में भटकने वाली चंचलता समाप्त हो जाती है। सात्विक भोजन करें जिसके फलस्वरूप मन शीघ्र एकाग्र होता है।

यजुर्वेद मन्त्र ३४/३ कह रहा है-**"यस्मात् ऋते किञ्चन कर्म न क्रियते"** अर्थात् "जिस मन के बिना संसार का कोई भी कर्म नहीं किया जाता अर्थात् जीवात्मा मन का सहारा लेकर ही सब अच्छे-बुरे कर्म करता है।" जैसा कि **ऋग्वेद मन्त्र १०/१३५/३** में कहा कि यह जीवात्मा **"यं नवं रथम् मनसा अकृणोः"** नए शरीर रूपी रथ को मन द्वारा प्राप्त करता है अर्थात् जीवात्मा जब मन द्वारा वेदोक्त शुभ कर्म करता है फलस्वरूप जीव को उत्तम मनुष्य योनि में अगला जन्म प्राप्त होता है और जब पाप कर्म करता है तब नीच योनियों में जन्म होता है। **अथर्ववेद मन्त्र ६/१०२/१** में बड़ा सुन्दर कहा कि जैसे

दो घोड़े एक रथ को एक साथ मिलकर चलाते हैं **"एव ते मनः"** उसी प्रकार मनुष्य शरीर में यह तेरा मन ईश्वर की आज्ञा में रहकर ईश्वर को प्राप्त करने वाला हो। श्रीकृष्ण महाराज यहाँ अर्जुन को वेदों की आज्ञा रूपी प्रवचन दे रहे हैं- "हे अर्जुन! मन को मोह-माया से हटाकर धर्मयुद्ध कर और योग विद्या द्वारा मन स्थिर होता है।" अतः श्रीकृष्ण महाराज योगी के गुणों का व्याख्यान कर रहे हैं। तब उत्तर में अर्जुन, जिसका मन धर्मयुद्ध करने के लिए तैयार नहीं है, कहता है कि यह मन चंचल, बलवान, दृढ़ है और इसको वश में करना इस तरह अति कठिन है जिस प्रकार आकाश में वायु को वश में करना कठिन है। हम यह जानें कि यदि आकाश में वायु का तूफान पूर्व से पश्चिम की तरफ गति कर रहा है तो संसार का कोई भी प्रयत्न उस वायु की गति को अन्य दिशा की ओर मोड़ नहीं सकता। इसी प्रकार जब मन विषयों को ग्रहण करने वाला हो जाता है तो वह विषययुक्त हुआ, इस श्लोक के अनुसार भी **"चंचल प्रमाथि"** बलपूर्वक बुद्धि को हरने वाला, दुःख देने वाला **"दृढ़म्"** तथा विषयों पर दृढ़ता से अटक जाने वाला और किसी भी सत्य मार्ग उपदेश को न सुनने वाला **"बलवत्"** बलवान हो जाता है। अतः ऐसी स्थिति में मन को पापों की ओर जाने से रोकना वायु की तरह दुष्कर्म-कठिन कार्य हो जाता है। **अथर्ववेद काण्ड ६, सूक्त ६३** में पाप से बचने के लिए वेदाध्ययन, विद्वानों का संग करने का उपदेश है। अतः उन्हीं वेदों पर आधारित ज्ञान अर्जुन को श्रीकृष्ण महाराज दे रहे हैं। अन्त में इस वैदिक ज्ञान ने अपना प्रभाव अर्जुन पर डाला और अर्जुन का चंचल मन धर्मयुद्ध करने के लिए स्थिर हुआ और वह धर्मयुद्ध करने के लिए उठ खड़ा हुआ।

श्रीकृष्ण उवाच-

"असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।"

(गीता श्लोक ६/३५)

(महाबाहो) हे महाबाहु अर्जुन **(असंशयम्)** निःसन्देह **(मनः)** मन **(चलम्)** चञ्चल है और **(दुर्निग्रहम्)** इसका कठिनता से निग्रह होता है। **(तु)** परन्तु **(कौन्तेय)** हे कुन्तीपुत्र **(अभ्यासेन)** अभ्यास **(च)** और **(वैराग्येण)** वैराग्य के द्वारा **(गृह्यते)** वश में होता है।

अर्थः- हे महाबाहु अर्जुन! निःसन्देह मन च चल है और इसका कठिनता से निग्रह होता है। परन्तु हे कुन्तीपुत्र, अभ्यास और वैराग्य के द्वारा मन वश में होता है।

भावार्थः- मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार यह अन्तःकरण कहे गए हैं। जब जीवात्मा शरीर में निवास करती है तब अन्तःकरण और बाह्यकरण की सब ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ अपना-अपना कार्य करती हैं। इन सब इन्द्रियों से महान-शक्तिशाली मन है। मन में अनेक प्रकार की शक्तियाँ एवं सामर्थ्य विद्यमान हैं। इन श्लोकों में मन को वश में करने का प्रसंग चल रहा है। अर्जुन पिछले श्लोक **६/३४** में कह रहे हैं कि हे कृष्ण! मन च चल है और इसको वश में करना वायु के समान अति दुष्कर कार्य है।

यजुर्वेद मन्त्र ३४/१ से ६ मन्त्रों में मन की सामर्थ्य का वर्णन है। जाग्रत अवस्था में मन प्रतिक्षण अनेक व्यवहारों में व्यस्त रहता है। वायु की भी, गति है। आजकल के वायुयान और तेज उड़ने वाले पक्षियों की गति की भी सीमा है परन्तु सभी गतिवानों से भी मन सबसे अधिक गतिवाला है। जैसे दिल्ली में रहने वाले किसी मनुष्य ने कभी अमेरिका देखा हो तो उसका मन जागते अथवा सोते हुए भी क्षण भर में अमेरिका पहुँच जाएगा और ऐसी गति किसी अन्य यन्त्र की नहीं है। अतः विषयों की तरफ भी यह अति तीव्रता से लपकता है। परन्तु यहाँ श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन से कह रहे हैं कि इसको वश में करने के लिए अभ्यास और वैराग्य, दो साधन हैं। अब प्रश्न है कि अभ्यास किसको कहते हैं और वैराग्य किसको कहते हैं? चारों वेद, शास्त्र अथवा गीता आदि ग्रन्थ केवल सत्संग सुनने और गाने बजाने को अभ्यास नहीं कहते। विद्वानों के संग द्वारा परमेश्वर की उपासना, धर्माचरण, शुद्ध विचार, वेदों में कही विद्या और सत्संग, योगाभ्यास द्वारा चित्त वृत्ति को निरुद्ध करना इत्यादि यह ऊपर कहे **यजुर्वेद के मन्त्र ३४/१-६** में साधन कहे हैं जिनका नित्य अभ्यास इस सामर्थ्ययुक्त, विषयों में आसक्त मन को इस प्रकार वश में कर लेता है जैसे सारथी घोड़ों को लगाम द्वारा वश में कर लेता है।

अथर्ववेद मन्त्र ६/१०२/१ में कहा कि योग साधना करने वाले साधक का मन प्रभु को लक्ष्य करके वश में होता है। प्रभु को लक्ष्य में करने का भाव ही ऊपर कही विद्वानों के संग द्वारा ईश्वर की स्तुति, उपासना, प्रार्थना, यज्ञ, योगाभ्यास आदि है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/२०/१** में कहा **"नः मनः भद्रम् अपि वातय"** हे ईश्वर! हमारे मन को सदा कल्याणकारी, धर्मयुक्त मार्ग पर चला। **ऋग्वेद मन्त्र १०/२५/१** में ईश्वर से प्रार्थना है

कि हे प्रभु! आप हमारे मन, ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों को कल्याणकारी मार्ग पर ही चलाएँ।

भाव यही है कि जब हम परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना आदि करके परमेश्वर से मित्र भाव में रहने लगते हैं तब उसके आश्रय में रहकर हम अपने मन को वश में करके इस प्रकार आनन्द में रमण करते हैं जैसे गऊएँ घास में रमण करती हैं। तब हमारा मन अधर्मयुक्त कर्मों से हटकर सदा धर्मयुक्त कर्मों में ही लगा रहता है। इस उपासना आदि के तीव्र अभ्यास से वैराग्य उत्पन्न होता है। **योगशास्त्र सूत्र १/१५ एवं १६** में वैराग्य को इस प्रकार कहा है कि संसार के पदार्थों के विषय में देखकर और सुनकर अन्तःकरण में उन विषयों के प्रति तृष्णा का न होना, चित्त पर उनका प्रभाव न पड़ना वैराग्य है और साधना करते-करते इससे भी उत्कृष्ट वैराग्य यह है कि परमेश्वर की बनाई सृष्टि में, परमेश्वर का ज्ञान होने पर, जो तीन गुण हैं उनसे संसार के जितने भी पदार्थ बने हैं, उन सब पदार्थों से तृष्णा रहित होना। भाव यह है कि जब ऊपर कहे साधनों का दृढ़ अभ्यास हो जाता है और साधक को परमेश्वर के स्वरूप का पूर्णतः ज्ञान अनुभव हो जाता है तब जीवात्मा प्रकृति के तीनों गुणों से भी विमुख हो जाता है। विशेष बात यह है कि जीव वेद एवं योग विद्या के ज्ञान से परिपूर्ण विद्वान् जो हैं, उनका संग-सत्संग करें। वह जीव को ऊपर कही साधना और वेद, शास्त्र आदि का ज्ञान देते हैं जिसके अभ्यास से ही चित्त की वृत्ति निरुद्ध होती है। संसार, शरीर, सृष्टि रचना आदि के विषय में विद्वानों से सुन सुनकर और दृढ़ साधना करके ही वैराग्य उत्पन्न होता है। जीव को समझ आती है कि सब कुछ नाशवान है, मैं कुछ समय के लिए आया हूँ, मुझे मनुष्य शरीर साधना, धर्माचरण आदि के लिए मिला है जिसपर चलकर मैं ईश्वर को प्राप्त कर लूँ, तभी कल्याण है अन्यथा जीते जी भी दुःख है और मरकर भी भिन्न-भिन्न योनियों में जाकर बार-बार दुःखों के सागर में गोते लगाने पड़ते हैं। अतः हमें श्रीकृष्ण महाराज के वैदिक विचार दृढ़ करने होंगें कि इसमें कोई सशंय नहीं कि मन कठिनाई से वश में होता है परन्तु ऐसा नहीं कि वश में होता ही नहीं है। वश में करने के साधन अभ्यास और वैराग्य हैं जिन्हें सभी धारण करें।

महाभारत युद्ध के पश्चात प्रायः वेद विद्या लुप्त सी हो गई। फलस्वरूप वेदों को न जानने वाले अविद्वानों ने वेद विरुद्ध मत-मतान्तर बनाए। जिसका वर्णन तुलसीदास जी ने निम्नलिखित दोहे में किया है-

श्रुति संमत हरि भक्ति पथ संजुत बिरति बिबेक।
तेहिं न चलहिं नर मोह बस कल्पहिं पंथ अनेक।।

(उत्तरकाण्ड दोहा १०० ख)

अर्थः- वेदों से स्वीकृत वैराग्य और ज्ञान से युक्त ईश्वरभक्ति जो कही है उस ईश्वर भक्ति को मनुष्य मोह में फँसकर त्याग देते हैं और वेद विरुद्ध अनेकों नये-नये पंथों की कल्पना करते हैं।

आगे तुलसी कहते हैं कि कलयुग के संन्यासी अपने आश्रम/घरों को धन लगाकर खूब सजाते हैं। संन्यासी में वैराग्य नहीं रहा क्योंकि उनको चारों तरफ से विषय-विकारों ने जकड़ रखा है। तुलसी कहते हैं कि कलयुग की लीला का क्या वर्णन करें जहाँ ऐसे संन्यासी, तपस्वी तो धनवान होते जा रहे हैं और गृहस्थ द्ररिद्र बनता जा रहा है। तुलसी आगे चौपाई ४ में कहते हैं कि मलीन वृत्ति वाले धनवान कुलीन माने जाते हैं और वेद-विद्या विहीन, तपस्या से हीन वह द्विज कहलाता है। जो केवल जनेयु पहन ले और जो शरीर पर कपड़ा न धारण करे और इस प्रकार नंगा रहे, उसे कलयुग में तपस्वी कहने लगे हैं।

वस्तुतः यह सब अनर्थ वेद विद्या और उसमें कही अष्टांग योग विद्या का त्याग करने के कारण हुआ है। हमें पुनः वेदों की और लौटना होगा। प्रस्तुत श्लोक में क्या रहस्य है, इसे हम जानें, जो कि केवल वेद-विद्या द्वारा ही जाना जाता है। श्लोक में अभ्यास और वैराग्य दो पद हैं- वेद और उस पर आधारित योग-शास्त्र का प्रथम पाद इस विषय पर प्रकाश डालता है। **यजुर्वेद मंत्र ७/४** और **अध्याय १७** में अष्टांग योग विद्या का दर्शन है। श्रीकृष्ण महाराज तो स्वयं योगेश्वर हैं, वह सब जानते ही हैं। चारों वेदों से ही उन्होंने योग विद्या का प्रकाश किया है। पुनः **योग शास्त्र प्रथम पाद के सूत्र १६ से ३६** में निराकार ईश्वर पर भरोसा, परमेश्वर प्राप्ति के लिए परमेश्वर के नाम का जाप, संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के लिए योगाभ्यास आदि साधनों का अभ्यास नित्य करने के लिए कहा है। इसी अध्याय में वैराग्य का स्वरूप समझाया है, इन सब अभ्यास से चित्त वृत्ति निरुद्ध होती है। पुनः **योग शास्त्र सूत्र २/२८** में योग के आठ अंगों का अभ्यास करने से क्लेश रूपी अशुद्धियों का नाश होना कहा है, जिसके फलस्वरूप जीव के अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश-विवेक ख्याति प्राप्त होती है। अतः

केवल गीता के श्लोक सुनाने-सुनने से ज्ञान का प्रकाश असंभव है। साधक को तो वेद एवं शास्त्र में ऊपर कहे वेदाध्ययन, यज्ञ, नाम-स्मरण एवं अष्टांग योग की साधना रूपी अभ्यास नित्य करने होंगे। ऊपर के सूत्र में स्पष्ट है कि

(योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः)

(यो. शास्त्र सूत्र २/२८)

अष्टांग योग के आठों अंगों की साधना से क्लेश रूपी अशुद्धियों का नाश होता है। और **'ज्ञानदीप्तिः'** अर्थात् ज्ञान का प्रकाश होता है और साधक ज्ञानी कहलाता है। भाव यह है कि ऊपर कही वेद-विद्या, अष्टांग योग विद्या तदानुसार अभ्यास एवं वैराग्य के अभाव में कोई कैसे गीता, रामायण, वेद आदि महान ग्रन्थों का ज्ञानी कहलाने लगता है। यही तुलसी द्वारा कहा कलयुग का आश्चर्य है। अर्थात् मिथ्यावाद की ही चारों तरफ धूम मची हुई है। ऊपर कहे अभ्यास द्वारा वैराग्य प्राप्त होता है। यही वेद और योग शास्त्र के ऊपर कहे सूत्र कह रहे हैं। अब यदि कोई आज का व्यक्ति अथवा संत कहे कि ऊपर कहे वेदाध्ययन, यज्ञ, नाम-स्मरण एवं अष्टांग योग अभ्यास की आवश्यकता नहीं है तो वेद, गीता, शास्त्र आदि ग्रन्थों के विरुद्ध हैं। क्योंकि अभ्यास के बिना न वैराग्य होगा और न ही ज्ञान होगा। फलस्वरूप यह भी कहा जाएगा कि केवल ज्ञान में मुक्ति है। यही बात इस श्लोक में श्रीकृष्ण कह रहे हैं कि हे अर्जुन! चंचल मन अभ्यास एवं वैराग्य द्वारा ही वश में होता है। अतः हम गीता के इस उपदेश को स्वीकार करके नित्य वेदाध्ययन, यज्ञ, नाम-स्मरण तथा अष्टांग योग की विद्या वेदों के ज्ञाता से प्राप्त करके उस विद्या का अभ्यास करें जिसके फलस्वरूप हमें **योगशास्त्र सूत्र १/१५,१६** में कहा वैराग्य पद प्राप्त होगा। वैराग्यवान होने के पश्चात हमारे अन्तःकरण में ज्ञान का प्रकाश होगा। और फलस्वरूप ही कोई ज्ञानवान कहलायेगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

"असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।"

(गीता श्लोक ६/३६)

(असंयतात्मना) जो जीवात्मा मन को संयम में नहीं रखती उसके लिए **(योगः)** योग **(दुष्प्रापः)** प्राप्त करना कठिन है **(तु)** परन्तु **(वश्यात्मना)** जिसने मन को वश में कर लिया है उस **(यतता)** निरन्तर प्रयत्न करने वाले को **(उपायतः)** तप, स्वाध्याय आदि साधन करने से योग **(अवाप्तुम्)** प्राप्त होना **(शक्यः)** सम्भव है। **(इति)** यह **(मे)** मेरा **(मतिः)** मत है।

अर्थः- जो जीवात्मा मन को संयम में नहीं रखती उसके लिए योग प्राप्त करना कठिन है परन्तु जिसने मन को वश में कर लिया है उस निरन्तर प्रयत्न करने वाले को तप, स्वाध्याय आदि साधन करने से योग प्राप्त होना सम्भव है। यह मेरा मत है।

भावार्थः- कठोपनिषद् श्लोक ३/१० में कहा "इन्द्रियों से परे मन, मन से परे बुद्धि और बुद्धि से परे जीवात्मा है" अर्थात् जीवात्मा इन्द्रियों, मन और बुद्धि से महान है और सब पर शासन करने योग्य है। यहाँ भाव यह है कि शरीर में जीवात्मा के रहते हुए ही मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार कार्य करते हैं। जब जीवात्मा प्रकृति रचित संसार के पदार्थों से लगाव कर लेता है तब वह अपने शुद्ध, चेतन स्वरूप को भूल जाता है और जीवात्मा उस समय मन को वश में नहीं कर पाता। इस स्थिति में यहाँ जीवात्मा को **"असंयतात्मा"** अर्थात् मन को वश में न करने वाला जीवात्मा कहा है। जब मन वश में नहीं होता तो वह तरह-तरह के पाप कर्मों में लिप्त हो जाता है और मनुष्य अविद्याग्रस्त हुआ योग विद्या को प्राप्त करने में नहीं लग पाता क्योंकि योग विद्या द्वारा ही समाधि अवस्था में जीवात्मा ईश्वर का साक्षात्कार करता है। उसी योग विद्या को **"असंयतात्मा"** प्राप्त नहीं कर पाता है। श्रीकृष्ण महाराज ने इसी बात को यहाँ **"योगः दुष्प्रापः"** अर्थात् असंयतात्मा द्वारा योग प्राप्त करना कठिन है, ऐसा कहा है। योग का यहां अर्थ असम्प्रज्ञात समाधि है जिसमें योग अर्थात् ईश्वर प्राप्ति होती है। पुनः कहा कि हे अर्जुन! **"वश्यात्मना"** जिस जीवात्मा ने मन को वश में कर लिया है, उस प्रयत्न करने वाले जीवात्मा द्वारा **"उपायतः"** उपाय करने से योग सिद्धि प्राप्त करना सम्भव है। जब मन एकाग्र होता है तब जिज्ञासु को वेद-योग विद्या आदि का उपदेश दिया जाता है। **योग शास्त्र सूत्र १/१२** का भाव है कि मन को एकाग्र करने/चित्त की वृत्तियों को निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य की आवश्यकता है। मन को वश में करने का अर्थ यह नहीं है कि योग सिद्धि हो जाएगी। प्रयत्न द्वारा जो मन वश में होता है वह भी निरन्तर साधना किए बिना योग सिद्धि प्राप्त

करने में समर्थ नहीं होता। **योग शास्त्र सूत्र ३/६** में स्पष्ट कहा है कि चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों का अभाव होने पर भी (मन के वश में होने पर भी) संस्कारों का नाश नहीं होता अपितु कुछ समय के लिए संस्कार दब जाते हैं। प्रयत्न एवं निरन्तर साधना आदि यह शुभ कर्म हैं। अतः ज्ञान प्राप्ति के लिए इन कर्मों का नित्य अभ्यास आवश्यक है।

अतः श्रीकृष्ण महाराज ने ऊपर कहा कि **"वश्यात्मना"** जिसका मन वश में हो गया है, वह पुरुष प्रयत्न द्वारा साधना करने से योग को प्राप्त करे। वश में किए हुए मन द्वारा जीवात्मा **"यतता"** अर्थात् प्रयत्न करे। पुरुषार्थ और उत्साह ही प्रयत्न है। जो कठिन अभ्यास नहीं कर सकता वह पुरुषार्थहीन अर्थात् आलसी है। भाव यह है कि **"उपायतः"** जो योग-सिद्धि के लिए उपाय-साधन हैं (अर्थात् विद्वानों का संग, यज्ञ एवं अष्टाँग योग की निरन्तर साधना) उनका निरन्तर कठोर अभ्यास आलसी नहीं कर सकता। हृदय में उत्साह भी बने रहना चाहिए। उत्साह प्राप्त करने के लिए भी नित्य विद्वानों का संग, ध र्माचरण, यज्ञ आदि शुभ कर्म अत्यंत आवश्यक हैं।

यजुर्वेद मन्त्र ३४/२ में कहा **"येन अपसः मनीषिणः धीराः यज्ञे विदथेषु कर्माणि कृण्वन्ति"** अर्थात् जिस मन के द्वारा पुरुषार्थी-कर्म करने वाले, मन का दमन करने वाले और ईश्वर का ध्यान धरने वाले तपस्वी लोग अग्निहोत्र, धर्माचरण और अष्टाँग योग विद्या के अभ्यास में रत रहते हैं और विज्ञानयुक्त शुभ कर्म मन से करते हैं तब फलस्वरूप ही उनका मन परमेश्वर की उपासना, शुभ कर्म, सत्संग एवं पुरुषार्थ आदि में लगा रहता है। **यजुर्वेद मन्त्र ३४/४ एवं ५** का भी यह भाव है कि अन्तःकरण योगाभ्यास आदि साधना करने से ही शुद्ध होता है और धर्माचरण वाला होता है। केवल गीता आदि ग्रन्थ सुनाने-सुनने से मन वश में नहीं होता।

यजुर्वेद मन्त्र ३/५३ में कहा कि मनुष्य **"स्तोमेन मनः"** मन को वेद मन्त्रों द्वारा ईश्वर की स्तुति में **"पितृणाम् मन्मभिः"** विद्वानों के सत्संग में **"अह्वामहे"** विद्या आदि गुणों से युक्त करें। तब यह मन निरन्तर योग सिद्धि की ओर अग्रसर होता है। यह सब प्रस्तुत अध्याय में कहे **"उपायतः"** अर्थात् योग सिद्धि के उपाय-साधन हैं। यह साधन बिना वेद के ज्ञाता से सुने और समझे, प्राप्त नहीं होते। अन्य स्थानों में जाकर जीव केवल गीता आदि ग्रन्थ सुनने मात्र तक सीमित हो जाता है और अभ्यास के बिना जीवन व्यर्थ हो जाता है।

भाव यह है कि जब तक चित्त की वृत्तियाँ संसारी विषयों में रमण करती हैं तब तक सुख शान्ति कहाँ हो सकती है? यह वेद, यज्ञ एवं अष्टाँग योग के विरोधी, जो बड़े-बड़े भाषण देकर जनता को मोक्ष प्राप्त कराने, ईश्वर प्राप्त कराने का लोभ देते हैं और जिन्हें वेद शास्त्रों के शब्दों तक का ज्ञान नहीं, तो क्या यह सच नहीं कि उनके, प्रायः यह पढ़ सुन रटकर किए हुए भाषण दुःख देने वाली पाँचों वृत्तियों पर ही आधारित होते हैं और राग-द्वेष से, मोह से भरपूर होते हैं तब इन भाषणों में कल्याण कहाँ?

अर्जुन उवाच –

"अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।"

(गीता श्लोक ६/३७)

(कृष्ण) हे कृष्ण **(योगात्)** योग मार्ग से **(चलितमानसः)** विचलित मन वाला **(अ यतिः)** पूर्णतः यत्न न करने वाला परन्तु **(श्रद्धया)** श्रद्धा से **(उपेतः)** युक्त पुरुष हो, वह **(योगसंसिद्धिम्)** पूर्णतः योग सिद्धि को **(अप्राप्य)** प्राप्त न करके **(काम्)** कौन सी **(गतिम्)** गति को **(गच्छति)** प्राप्त होता है?

अर्थः- हे कृष्ण! योग मार्ग से विचलित मन वाला पूर्णतः यत्न न करने वाला परन्तु श्रद्धा से युक्त पुरुष हो, वह पूर्णतः योग सिद्धि को प्राप्त न करके कौन सी गति को प्राप्त होता है?

भावार्थः- ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/१६ में कहा **"न वि चेतदन्धः"** अन्धा अर्थात् बिना योग दृष्टि वाला वेद के मन्त्र और ब्रह्म को नहीं जान सकता। **केनोपनिषद् ४/८** में विस्तृत ज्ञान देते हुए ऋषि ने कहा-**"तस्यै तपो दमः कर्मेति प्रतिष्ठा वेदाः सर्वाङ्गानि"** अर्थात् उस ब्रह्म विद्या के, तपस्या, मन व इन्द्रियों का दमन तथा वेदों में कहे शुभ कर्म, यह तीन आधार हैं और चारों वेदों में इस योग विद्या का विस्तार से वर्णन है। इसी वैदिक ज्ञान को श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ **"चलितमानसः"** एवं **"अयतिः"** शब्दों द्वारा समझाने का प्रयत्न किया है। **"चलितमानसः"** अर्थात् जिसका मन योगाभ्यास से विचलित हो गया और **"अयतिः"** जो पूर्ण प्रयत्न करके योग सिद्धि अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त नहीं

कर पाया और जो मन तथा इन्द्रियों का दमन नहीं कर पाया और इस प्रकार ईश्वर उपासना नहीं कर पाया परन्तु **"श्रद्धया उपेतः"** वह पुरुष श्रद्धायुक्त है, तब अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कहा कि हे कृष्ण! ऐसे योग विद्या से चलायमान हुए पुरुष की क्या स्थिति होगी?

श्रद्धा का अर्थ है-श्रत् + धा-श्रद्धा अर्थात् सत्य पर धारणा आ जाने को श्रद्धा कहते हैं। सत्य अनादि है। **ऋग्वेद मन्त्र १०/१५१/१** में श्रद्धा शब्द आया है। श्रद्धा अर्थात् सत्य अविनाशी एवं अनादि है। इस शैली में ईश्वर और ईश्वर से उत्पन्न चारों वेद सत्य एवं अनादि हैं। अतः वेद एवं वेदों में कहे निराकार, सर्वशक्तिमान ब्रह्म तथा वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या आदि पर जब हमारी आस्था अविचल हो जाती है तो उसे ही श्रद्धा कहते हैं। परन्तु दुर्भाग्यवश आज श्रद्धा का मनमाना अर्थ प्रचलित है जो घातक है।

यजुर्वेद मन्त्र १९/३० में कहा **"व्रतेन दीक्षाम् दीक्षया, दक्षिणाम् दक्षिणा श्रद्धाम् श्रद्धया सत्यम् आप्यते"** अर्थात् व्रत-सत्यभाषण, ब्रह्मचर्य आदि नियम धारण करने वाले को **"दीक्षाम्"** विद्या, सुशिक्षा और निर्मल बुद्धि प्राप्त होती है। और दीक्षा-विद्या, सुशिक्षा आदि द्वारा **"दक्षिणाम्"** अर्थात् धन आदि को प्राप्त करता है और दक्षिणा से **"श्रद्धाम्"** सत्य को धारण करने की इच्छा को प्राप्त करता है। और **"श्रद्धया"** उत्पन्न होने से **"सत्यम्"** परमेश्वर की प्राप्ति करके जीव सुखी होता है। श्रद्धा के इतने बड़े वैदिक अर्थ को वेद न जानने वाले प्रायः सन्त किसी भी वस्तु पर श्रद्धा आने के नाम को **"श्रद्धा"** कह देते हैं। यहाँ तक कह देते हैं **"श्रद्धावान् लभते"** कि श्रद्धा वाला पा लेता है। यह तो ऊपर कहे मन्त्र की अन्तिम बात है, पहली तीन बातों को तो पूरा करें, तब कहीं ऊपर कही श्रद्धा उत्पन्न होती है। अतः हम वेद विद्या से अनभिज्ञ रहकर प्रायः अनर्थ अर्थात् असत्य सुनकर उसे ही सत्य मान बैठते हैं जो कि जीवन से सब सुखों का नाश कर देता है।

अतः हर किसी पर श्रद्धा करने का नाम श्रद्धा नहीं है। श्लोक का भाव है कि योगाभ्यास से तो साधक विमुख हो गया परन्तु वेद विद्या जो उसकी सुनी हुई थी, उसके आधार पर ईश्वर एवं योग विद्या पर उसकी श्रद्धा अर्थात् आस्था वैसी की वैसी ही बनी हुई है तब अर्जुन का प्रश्न है कि ऐसे योग विद्या से चलायमान पुरुष जिसमें श्रद्धा शेष

है उसकी मृत्यु के पश्चात् क्या स्थिति होगी? यति का अर्थ वेदों में संन्यासी कहा है। इस श्लोक में अयति कहा है जिसका अर्थ है कि वह साधक पूर्ण पुरुषार्थ करके योग सिद्धि प्राप्त संन्यासी नहीं बन पाया। परन्तु वह साधक श्रद्धावान है। और यह तो सत्य है कि ऊपर कही श्रद्धा बिना वेद सुने, बिना यज्ञ किये बिना वेदों के विद्वानों की सेवा-संग किये तो उत्पन्न होती ही नहीं है। अतः कृष्ण महाराज से प्रश्न किया कि ऐसे श्रद्धावान साध ाक की मृत्यु के पश्चात क्या गति होगी? यहाँ यह भी स्पष्ट है कि ऐसे श्रद्धावान ने वेद सुने, यज्ञ किए, वेदों के विद्वानों का संग किया और सेवा की, इत्यादि अनेक शुभ कर्म किए तो निश्चित ही उसके पास पुण्य की पूँजी रहेगी। इसी आधार पर श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को आगे श्लोक ६/४० में उत्तर देंगे।

अर्जुन उवाच-

"कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।"

(गीता श्लोक ६/३८)

(महाबाहो) हे महाबाहु- श्रीकृष्ण **(कच्चित्)** क्या **(ब्रह्मणः)** परमात्मा की **(पथि)** प्राप्ति में लगा साधक **(विमूढः)** मोह को प्राप्त हुआ **(अप्रतिष्ठः)** स्थिर न होकर **(उभयविभ्रष्टः)** दोनों मार्गों से अर्थात् योग एवं संसार के सुख से भ्रष्ट हुआ जीव **(छिन्नाभ्रम्)** छिन्न-भिन्न बादल की **(इव)** तरह **(न नृयति)** नाश को प्राप्त तो नहीं हो जाता अर्थात् न ईश्वर प्राप्त कर पाया और न ही सांसारिक सुख प्राप्त कर सका।

अर्थः- हे महाबाहु-श्रीकृष्ण! क्या परमात्मा की प्राप्ति में लगा साधक, मोह को प्राप्त हुआ, स्थिर न होकर, दोनों मार्गों से अर्थात् योग एवं संसार के सुख से भ्रष्ट हुआ जीव छिन्न-भिन्न बादल की तरह नाश को प्राप्त तो नहीं हो जाता? अर्थात् न ईश्वर प्राप्त कर पाया और न ही सांसारिक सुख प्राप्त कर सका।

भावार्थः- कठोपनिषद् २/२ में कहा कि मनुष्य के सामने **'श्रेय'** और **"प्रेय"** यह दो मार्ग आते हैं। श्रेय मार्ग कल्याणकारी एवं ईश्वर प्राप्ति का मार्ग है जिसे शुद्ध बुद्धि वाले

मनुष्य ही अपनाते हैं और प्रेय मार्ग संसारी भोग विलास वाला मार्ग है, दुःखदायी एवं नरकगामी मार्ग है जिसे मन्दबुद्धि वाले मनुष्य अविद्याग्रस्त होने के कारण अपनाते हैं। पुनः **श्लोक २/६** में स्पष्ट किया **"वित्तमोहेन मूढम्"** अर्थात् भौतिकवाद की चमक-दमक, धन-सम्पदा के मद में चूर, मूढ़ मनुष्य प्रमाद अर्थात् नित्य हँसी-मजाक, नाच-गानों एवं विषय-विकारों में फँसकर आत्मिक सुख को प्राप्त नहीं कर पाते। **मुण्डकोपनिषद् खण्ड १** में शौनक ऋषि को महर्षि अंगिरा ने कहा **"द्वे विद्ये एव वेदितव्ये परा च अपरा"** अर्थात् परा एवं अपरा, यह दो ही विद्याएँ जानने योग्य हैं। पुनः कहा चारों वेद, व्याकरण, छन्द आदि अपरा विद्या में आते हैं तथा जिस विद्या से उस अविनाशी ब्रह्म का ज्ञान होता है, वह परा विद्या है। इस बात को महाभारत के शांति पर्व में भीष्म पितामह ने युधिष्ठिर से इस प्रकार कहा है कि हे युधिष्ठिर! जो शब्द ब्रह्म अर्थात् वेदविद्या में पारंगत हो जाता है ततूपश्चात वह परब्रह्म अर्थात् सच्चिदानन्द परमेश्वर को जान जाता है। इतना कुछ कहने का भाव यह है कि ईश्वर प्राप्ति का जो मार्ग, विद्वानों के संग में रहकर नित्य वेदों का सुनना, ब्रह्मचर्य, यज्ञ, इन्द्रिय संयम एवं योगाभ्यास आदि का जो करना है, उसको करते करते बीच में साधक विमूढ़ हो जाता है अर्थात् संसारी पदार्थों, परिवार आदि एवं जगत की चकाचौंध से मोहग्रस्त हो जाता है और अपनी नित्य की साधना आदि को त्याग देता है परन्तु इस मार्ग में उसकी श्रद्धा बनी रहती है तब उसकी क्या गति होगी? क्योंकि प्रथम तो उस साधक ने वैदिक मार्ग अपनाया ही है और कुछ समय अथवा वर्षों के बाद ही वह किसी कारण से मोहग्रस्त हुआ है। वर्षा ऋतु में आकाश में बादल गर्जते तो हैं, परन्तु वायु आदि के कारण छिन्न-भिन्न होकर बरस नहीं पाते, अतः वह न बादल रह पाते हैं और न पानी बरसा पाते हैं। बादल के स्वरूप से भी गए और पानी बरसाकर संसार को सुख देने से भी गए। तो इस प्रकार क्या ऐसे भ्रष्ट व्यक्ति का जो संसारी रूप था जिसके अनुसार वह संसार में रहकर प्रेय मार्ग अर्थात् सांसारिक भोगों को भोगता रहता, वह भी न भोग सका क्योंकि ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में लग गया था परन्तु मार्ग में ही मोहवश साधना आदि को त्याग बैठा। परन्तु ब्रह्म विद्या में उसकी श्रद्धा बनी ही रही। अन्तर केवल इतना है कि मोहवश वह ब्रह्म विद्या के मार्ग पर चल न सका और समयानुसार मृत्यु को प्राप्त हो गया। तब सांसारिक सुखों को छोड़कर उसकी जो की हुई साधना थी, उसका क्या हुआ? और साधना त्यागकर भी क्योंकि श्रद्धा बनी रही तब पाप कर्म में तो वह फँसा ही नहीं, केवल मोहवश साधना का ही त्याग किया। तो इस प्रकार

सम्पूर्ण आयु में न तो वह पूर्णतः सांसारिक सुख भोग पाया और ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग, योग विद्या के अभ्यास आदि को त्यागकर, न ही ब्रह्म को प्राप्त कर पाया। तब इस लोक का तो सुख पाया ही नहीं तो मृत्यु के बाद उसे परलोक का भी सुख यदि नहीं मिला तो वह साधक तो छिन्न-भिन्न बादल की भांति नष्ट हो गया। तो दोनों मार्गों से छिन्न-भिन्न हुए इस साधक की अन्त में क्या स्थिति होगी? कहीं इस साधक के हाथ से लोक और परलोक दोनों का सुख तो नहीं निकल गया? अर्जुन को सन्देह है कि दोनों ओर से भ्रष्ट हुआ यह साधक नष्ट तो नहीं हो जाता? अर्जुन का भाव है कि वह योगयुक्त तो है परन्तु नित्य शुभ कर्म, वेदों का सुनना, ऋषियों की सेवा एवं योगाभ्यास इत्यादि तो करता ही है और यदि वह (अर्जुन) श्री कृष्ण महाराज के बताए योग-मार्ग (योगाभ्यास इत्यादि साधन) को नियमित रूप से और कठोरता से करेगा तो वह योगभ्रष्ट नहीं होगा परन्तु यदि योगभ्रष्ट होकर धर्मयुद्ध करेगा और कहीं युद्ध में प्राणाहुति देनी पड़ी तो क्या वह (अर्जुन) इस लोक के सुख भी और ईश्वर प्राप्ति के सुख क्या दोनों मार्गों से छिन्न भिन्न हो जाएगा और मरने के बाद उसकी क्या गति होएगी? क्या अब तक का किया हुआ वेदाध्ययन, गुरु की सेवा, यज्ञ, ईश्वर नाम स्मरण, योगाभ्यास आदि सब व्यर्थ हो जाएँगे? अतः वह (अर्जुन) प्रश्न कर रहे हैं कि ऐसे योग भ्रष्ट पुरुष की मृत्यु के बाद क्या गति होगी?

अर्जुन उवाच-

"एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।"

(गीता श्लोक ६/३९)

(कृष्ण) हे कृष्ण **(मे)** मेरे **(एतत्)** इस **(संशयम्)** संशय को **(अशेषतः)** पूर्ण रूप से **(छेतुम)** छेदन करने को आप **(अर्हसि)** समर्थ हो **(हि)** क्योंकि **(त्वत् अन्यः)** आप से भिन्न **(ऐतत्)** इस **(संशयस्य)** संशय को **(छेत्ता)** छेदन करने वाला **(न उपपद्यते)** मिलना सम्भव नहीं है।

अर्थः- हे कृष्ण! मेरे इस संशय को पूर्ण रूप से छेदन करने को आप समर्थ हो क्योंकि आप से भिन्न इस सशंय को छेदन करने वाला मिलना सम्भव नहीं है।

भावार्थः- अर्जुन ने श्रीकृष्ण महाराज से पिछले अध्याय दो श्लोक सात में भी यही बात

कही है कि हे कृष्ण! जो मेरे लिए कल्याणकारक साधन हैं, वह मुझे कहें क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ और आपकी शरण में हूँ। इस श्लोक में अर्जुन ने यह कह दिया कि मेरे संशयों का निवारण आपसे भिन्न कोई अन्य पुरुष नहीं कर सकता। स्पष्ट है कि अन्य महान पुरुषों में मुख्यतः भीष्म पितामह, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, युधिष्ठिर आदि आते हैं जो स्वयं उस समय युद्ध करने के लिए तैयार खड़े हैं। माता कुन्ती ने पुत्रों को पहले ही कह दिया था कि जिस दिन के लिए मैंने अपना दूध पिला कर और पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा आदि देकर तुम्हें बड़ा किया है, वह धर्मयुद्ध करने का दिन आ पहुँचा है, तब किस आधार पर अर्जुन यह ऊपर कहे वाक्य कह रहे हैं? उत्तर स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण चारों वेदों के ज्ञाता, अष्टाँग योग में सिद्ध पुरुष, यज्ञ करने वाले, ऋषि-मुनियों की सेवा करके अनन्त वेदों के रहस्य को जानने वाले फलस्वरूप वेदों में कही ज्ञानकाण्ड, कर्मकाण्ड एवं उपासना काण्ड, इन तीनों विद्याओं को तत्त्व से जानने वाले थे। गृहस्थ में रहकर भी महान ब्रह्मचारी, शूरवीर, ब्रह्म के समान सत्य को धारण करने वाले, न्यायप्रिय, निष्पक्ष और अनगिनत गुणों की खान, सबके पूजनीय थे।

आज प्रायः योग एवं ब्रह्म विद्या का प्रचार चारों तरफ जोर-शोर से है। विचार यह करना है कि प्रायः नर-नारी पैसा दुगना करने वालों और कहीं सोना-चाँदी दुगना करने वालों से ठगे जाते हैं। अतः सोने के भुलावे में हम पीतल घर में इकट्ठा न करें। श्रीकृष्ण महाराज ने वेद एवं योग की शिक्षा संदीपन ऋषि के आश्रम में सुदामा सखा के संग सीखी थी। और जब योग विद्या का उपदेश उन्होंने अर्जुन को **गीता श्लोक ६/३२** में दिया तो अगले श्लोक में ही अर्जुन का यह कहना कितना उचित और कटु सत्य है कि हे श्री कृष्ण महाराज **"अयम् योगः त्वया प्रोक्तः"** अर्थात् यह आपके द्वारा कही गई योग विद्या है। प्रत्यक्ष है कि श्रीकृष्ण महाराज स्वयं योगेश्वर हैं और योगेश्वर ही योग की शिक्षा दे सकते हैं, अन्य नहीं। यहाँ **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१०** का भी अनायास ही ध्यान आता है जिसमें ईश्वर का उपदेश है **"इति शुश्रुम धीराणाम्"** यह विद्या हमने मेधावी, विद्वान् योगी जनों से सुनी है।

जब निष्पक्ष गणना की जाएगी तो इस श्रेणी के वेद एवं योग विद्या के ज्ञाता, विद्वान् दुर्लभ ही होंगे। श्री कृष्ण जी ने **श्लोक ७/१९** में भी ऐसे महात्मा को दुर्लभ कहा है। अतः यह विडम्बना है कि अधिकतर आज अपने को ब्रह्मर्षि अथवा ब्रह्म का ज्ञाता कहने

वाले संत और सत्गुरु वेद विरुद्ध भगवद्गीता को सुनाकर, भगवद्गीता के विरुद्ध, शास्त्र आदि के विरुद्ध भाषण करके, जनता से धन बटोर रहे हैं। श्रीकृष्ण महाराज की भांति वेद एवं योग के ज्ञाता ही गीता का ज्ञान देने में समर्थ हैं, अन्य नहीं। अतः भगवद्गीता जो एक सद्ग्रन्थ है, हमें चारों वेदों का अध्ययन, यज्ञ/हवन एवं योगाभ्यास करने की प्रेरणा दे रही है। ऐसा करके ही हम गीता के रहस्य को जान सकेंगे। क्योंकि गीता के रहस्य श्रीकृष्ण महाराज ने भगवद्गीता का अध्ययन करके नहीं कहे हैं क्योंकि वैसे उस समय गीता ग्रन्थ था ही नहीं। उन्होंने तो सब ज्ञान वेद मन्त्रों के आधार पर ही दिया है। वेद ईश्वर की वाणी होने के कारण सम्पूर्ण विद्याओं का भण्डार है और वेद विद्या को सुनने वालों के ही संशय पूर्णतः नष्ट हो जाते हैं। अतः वेद विद्या को जानने वाला विद्वान् ही गीता के रहस्य को प्रकट करने में समर्थ है, अन्य नहीं।

श्रीकृष्ण उवाच-

"पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।"

(गीता श्लोक ६/४०)

(पार्थ) हे पृथा पुत्र, अर्जुन **(तस्य)** उस मनुष्य का **(न)** न **(इह)** इस लोक में **(न)** न **(अमुत्र)** परलोक में **(एव)** ही **(विनाशः)** नाश **(विद्यते)** होता है **(हि)** क्योंकि **(तात)** हे प्रिय अर्जुन **(कश्चित्)** कोई भी **(कल्याणकृत्)** कल्याण करने वाले कर्मों को करने वाला **(दुर्गतिम्)** दुर्गति को **(न)** नहीं **(गच्छति)** प्राप्त होता।

अर्थः- हे पृथा पुत्र, अर्जुन! उस मनुष्य का न इस लोक में, न परलोक में ही नाश होता है क्योंकि हे प्रिय अर्जुन! कोई भी कल्याण करने वाले कर्मों को करने वाला दुर्गति को नहीं प्राप्त होता।

भावार्थः- पार्थ का यहाँ अर्थ पृथा-कुन्ती पुत्र, अर्जुन है। महाभारत के आदिपर्व में वर्णन है कि यदुवंशियों में श्रेष्ठ शूरसेन हुए हैं जो वसुदेवजी के पिता थे। उनकी पुत्री का नाम पृथा रखा था जिसे शूरसेन ने अपने सन्तानहीन फुफेरे भाई कुन्तीभोज को दे दिया था।

कुन्तीभोज की पुत्री होने के कारण अर्जुन की माता का नाम कुन्ती पड़ा। पृथा कुन्ती श्रीकृष्ण महाराज की बुआ थी। अतः प्रेमपूर्वक श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को पार्थ अर्थात् पृथा के पुत्र, अर्जुन कहकर पुकारते थे। **"तस्य"** पद से भाव है कि वह पुरुष जो श्लोक ३७, ३८ के अनुसार योग साधना करते करते चलायमान चित्त के कारण साधना को बीच में छोड़ बैठा है और जिसे ईश्वर की अनुभूति नहीं हुई है तो ऐसे पुरुष की अन्त में क्या गति होगी?

उत्तर में श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को समझा रहे हैं कि ऐसे साधक का न इस लोक (इस जन्म) और न परलोक (अगले जन्म) में नाश होता है क्योंकि जिस साधक ने वेदानुसार शुभ कर्म कर लिए हैं, उसकी इस शरीर को त्याग देने के पश्चात् दुर्गति नहीं होती। **ऋग्वेद मन्त्र १/१८/७** में कहा कि जिस ईश्वर के बिना यह संसार सिद्ध नहीं होता **"सः धीनाम् योगम् इन्वति"** वह ईश्वर सब मनुष्यों की बुद्धि और कर्मों को जानता है अर्थात् कर्मों को जानकर ही वह सबको शुभ और अशुभ कर्मों के अनुसार सुख व दुःख रूपी फल देता है। अतः साधक के किए हुए वेदानुसार शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होते। उन सभी कर्मों को जानने वाला ईश्वर शुभ कर्मों का फल, सुख भोगने के रूप में अवश्य देता है। इस बात को **ऋग्वेद मन्त्र १/३१/४** में इस प्रकार कहा है कि **"सुकृते मनवे"** अर्थात् शुभ कर्म करने वाले विद्वान् साधक के लिए ईश्वर **"अपरम्"** अगले जन्म में **"पुनः अनयन्"** बार-बार अपनी भक्ति प्रदान करता है। भाव यह है कि वेद विद्या प्राप्त साधक द्वारा योग मार्ग पर चलने वाले, किए शुभ कर्म कभी नष्ट नहीं होते। **सामवेद मन्त्र १५०१** में भी इसी प्रकार के भाव हैं। अतः प्राणी अविद्या का त्याग करने के लिए वेद विद्या ग्रहण करे।

यहाँ पुनः यह स्पष्ट है कि सम्पूर्ण भगवद् गीता वेद मन्त्रों पर ही आधारित प्रवचन से भरपूर है। अतः सम्पूर्ण वैदिक ज्ञान प्राप्त करके ही भगवद् गीता के श्लोक का वास्तविक भाव जाना जा सकता है। यहाँ यह समझना आवश्यक है कि शरीर में रहने वाली जीवात्मा अविनाशी तत्त्व है जिसका कभी नाश नहीं होता। परन्तु कर्मबन्धनों में बन्ध जाने के कारण उसका जो बार-बार भिन्न भिन्न योनियों में आना-जाना (जन्म- मृत्यु) है और अशुभ कर्म करके मनुष्य चोले का त्याग करते हुए जब जीवात्मा पाप कर्म भोगने के लिए कुत्ता, बिल्ली आदि निम्न योनियों में जाती है और अशुभ कर्मों का फल दुःख

भोगती है इसे ही यहाँ मनुष्य का नष्ट होना कहा है। अतः मनुष्य सदा मनुष्य शरीर प्राप्त करके यज्ञ, वेदाध्ययन एवं योग साधना करते हुए देवयोनि को प्राप्त होकर, ईश्वर अनुभूति करते हुए मोक्ष के सुख को प्राप्त करे और इसके विपरीत वेद विरुद्ध पाप कर्म करके नष्ट न हो। श्री कृष्ण महाराज के वैदिक प्रवचन जो वर्तमान में गीता सद्ग्रन्थ में है, उसे वेद के ज्ञाता विद्वानों से सुन कर ज्ञान, कर्म एवं उपासना के रहस्य को जान कर उसे जीवन में अपनाकर, साधना करते हुए ज्ञानवान् बने तथा ब्रह्म प्राप्ति के मार्ग पर अग्रसर होएँ। वेद विरोधी सन्त आदि से गीता सुनकर मिथ्यावाद से बचें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।"

(गीता श्लोक ६/४१)

(योगभ्रष्टः) योग भ्रष्ट पुरुष **(पुण्यकृताम्)** पुण्यवान पुरुषों के **(लोकान्)** लोकों को **(प्राप्य)** प्राप्त होकर **(शाश्वतीः)** बहुत **(समाः)** वर्षों तक **(उषित्वा)** वहाँ वास करके **(शुचीनाम्)** शुद्ध अन्तःकरण एवं धर्माचरण वाले **(श्रीमताम्)** श्रीमान् पुरुषों के **(गेहे)** घर में **(अभिजायते)** जन्म लेता है।

अर्थः- योग भ्रष्ट पुरुष पुण्यवान पुरुषों के लोकों को प्राप्त होकर बहुत वर्षों तक वहाँ वास करके शुद्ध अन्तःकरण एवं धर्माचरण वाले श्रीमान पुरुषों के घर में जन्म लेता है।

भावार्थः- जब साधक किसी भी परिस्थितिवश योग पथ पर चलता-चलता भटक जाता है और योगाभ्यास छोड़ देता है परन्तु उसकी श्रद्धा वेद में कही योग विद्या पर एवं ईश्वर पर बनी रहती है तो ऐसे पुरुष को ही यहाँ योग भ्रष्ट पुरुष कहा है। योग भ्रष्ट का भाव यह नहीं है कि वह ईश्वरीय बात से भ्रष्ट हो गया है अथवा नास्तिक हो गया क्योंकि **श्लोक ६/३७** में श्रीकृष्ण महाराज ने स्पष्ट किया है कि उसकी श्रद्धा बनी हुई है। श्रद्धा का अर्थ है **"श्रत् + धा"** इति श्रद्धा अर्थात् जिसकी आस्था सत्य पर बनी हुई है। सत्य का अर्थ है जो अनादि काल से चला आ रहा है और भविष्य में भी सदा रहेगा। इस

संदर्भ में ईश्वर, ईश्वर से उत्पन्न वेद और वेद में कहे यज्ञ व योग विद्या आदि श्रेष्ठ कर्म आते हैं। अतः श्रद्धावान् उसे कहते हैं जिसकी वेद, योग विद्या एवं ईश्वर में आस्था बनी हुई है। ऐसा पुरुष अपने किए हुए शुभ कर्मों के फल को प्राप्त करने के लिए ऐसे पुण्यवान लोकों में जाता है जहाँ उसे सुख प्राप्त होता है। **अथर्ववेद मन्त्र २/१०/७** का भाव है कि हे जीव! तूने शुभ कर्मों के अनुसार **"स्योनम् अविदः भद्रे सुकृतस्य लोके अपि अभूः"** अर्थात् तूने सुख को पाया है और कल्याणकारी पुण्यवान लोक में तेरा निवास हुआ है।

अथर्ववेद मन्त्र ११/१/३५ का भाव है कि ईश्वर सुख देने वाला है- सुखस्वरूप है। ईश्वर ज्ञानवान पुरुषों को प्राप्त होता है और **"सुकृताम् लोके सीद"** पुण्यवान कर्मों को करने वाले पुरुषों के लोक में समाज में आसीन है। मन्त्र कहता है **"तत्र नौ संस्कृतम"** ऐसे शुभ कर्मों को करने वाले लोगों के (समाज में) ही पति पत्नी, दोनों का शुभ संस्कार प्राप्त करते हुए पवित्रीकरण होता है।

अथर्ववेद मन्त्र ६/१२०/१ का भाव है कि यज्ञ-योगाभ्यास आदि शुभ कर्मों के फलस्वरूप ईश्वर हमें **"सुकृतस्य लोकम् नयाति"** पुण्य के लोकों को प्राप्त कराता है। इसी प्रकार अन्य वैदिक मन्त्रों का अध्ययन स्पष्ट करता है कि जीव जब वेदानुकूल यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करता है तब इन शुभ कर्मों का फल सुख होता है और ईश्वर ऐसे शुभ कर्म करने वाले साधक को **"सुकृतस्य लोके"** पुण्यवान लोकों में जन्म देता है जहाँ साधक पुण्यवान लोकों (समाज) में बहुत वर्षों तक अर्थात् दीर्घायु तक वास करके शुद्ध अन्तःकरण एवं धर्माचरण वाले श्रीमान् पुरुषों के घर जन्म लेता है। वहाँ वह विद्वानों के सम्पर्क से शुभ संस्कार ग्रहण करता है तथा शुभ, वैदिक कर्म करता है। इस प्रकार एक बार वैदिक साधना-योगाभ्यास करके जो पुरुष पुण्य प्राप्त कर लेता है उसके अगले जन्म सुधरते ही जाते हैं, उसकी दुर्गति नहीं होती। अतः हम वेदों का सुनना, वेदों का अध्ययन करना, यज्ञ करना, योगाभ्यास आदि करना कभी भी किसी के कहने अथवा डराने से न त्याग दें। हम यह विचार उस समय करें कि वेदों के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये तो स्वयम् ईश्वर ही वेदों में कह रहा है तब मनुष्यों के कहने से वेद सुनना तथा यज्ञ आदि शुभ कर्म करना क्यों त्याग दें?

श्रीकृष्ण उवाच-

"अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।"

(गीता श्लोक ६/४२)

(अथवा) अथवा **(धीमताम्)** बुद्धिमान **(योगिनाम्)** योगियों के **(एव)** ही **(कुले)** कुल में **(भवति)** जन्म होता है और **(यत्)** जो **(एतत्)** यह **(ईदृशम्)** इस प्रकार का महान **(जन्म)** जन्म है वह **(लोके)** इस लोक में **(हि)** निश्चय ही **(दुर्लभतरम्)** दुर्लभ है।

अर्थः- अथवा बुद्धिमान योगियों के ही कुल में जन्म होता है और जो यह इस प्रकार का महान जन्म है वह इस लोक में निश्चय ही दुर्लभ है।

भावार्थः- पिछले श्लोक में **"श्रीमताम् गेहे"** पद आए हैं। **"श्रीमताम्"** का अर्थ श्रीमान और **"गेहे"** का अर्थ 'घर में' है। **"श्री"** का अर्थ धन है और **"श्रीमान गेहे"** का अर्थ हुआ धनवान पुरुष के घर में जन्म प्राप्त करना। धनवान घरानों में राजा, महाराजा अथवा व्यवसाय करने वाले अनेक धनवान कुल इत्यादि आते हैं। पिछले श्लोक का भाव है कि योगभ्रष्ट पुरुष श्रीमान् पुरुषों के घर में जन्म लेता है जहाँ उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा एवं धन प्राप्त होता है परन्तु यह चारों वेदों का भी अभिप्राय है कि जीवात्मा का मनुष्य चोले को पाकर मुख्य लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति है। वस्तुतः वेदों में **'श्रीमान्'** शब्द का भाव भरत राजा, पुरु राजा, हरिश्चन्द्र राजा, जनक एवं दशरथ आदि राजा अथवा उन धनवान पुरुषों से है जो वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म करते-करते अपने पुरुषार्थ द्वारा धनवान होते हैं। यह सत्पुरुष धर्माचरण वाले होते हैं। ऐसे पुरुषों के कुलों में जन्म लेते हुए वह योग भ्रष्ट पुरुष अपने पुण्य के प्रभाव से अन्त में योगियों के कुल में जन्म लेता है। और वहाँ उसकी पिछली ईश्वर भक्ति आचरण में रहती है। पुनः ईश्वर प्राप्ति वैराग्य के अभाव में असम्भव है। अतः प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन को समझा रहे हैं कि योग भ्रष्ट पुरुष यदि पिछले ही जन्म में वैराग्यवान है तो उसका जन्म और भी उत्तम कुल जिसमें वेदों में कही ज्ञान, कर्म एवं उपासना रूप तीन विद्याएँ पहले से ही विद्यमान होती हैं, ऐसे **"धीमताम्"** अर्थात् बुद्धिमान **"योगिनाम्"** योगियों के **"कुलेभवति"** कुल में जन्म लेता है।

पुनः श्रीकृष्ण महाराज कहते हैं कि हे अर्जुन! ऐसे बुद्धिमान योगियों के कुल में जन्म लेना निश्चय ही अति दुर्लभ है। राजा, महाराजा और धनवान के घर में जन्म लेकर धन अथवा सांसारिक भोग पदार्थों का सुख पाकर जीव के पुनः सत्य मार्ग से भटकने का अंदेशा हो सकता है परन्तु शुद्ध बुद्धि वाले योगियों के कुल में जन्म लेकर ब्रह्मावस्था को प्राप्त करने का मार्ग प्रायः प्रशस्त ही होता रहता है।

ऋग्वेद मन्त्र १/२२/३ का भाव है कि विद्वान् आचार्य के उपदेश के अभाव में कोई भी मनुष्य ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। मनुष्यों को सर्वोत्तम वेद विद्या का उपदेश निरन्तर सुनना आवश्यक है क्योंकि बुद्धि ज्ञान प्राप्त करके ही शुद्ध होती है। शुद्ध बुद्धि द्वारा ही वैदिक शुभ कर्म होते हैं। भ्रष्ट बुद्धि शुभ कर्मों की ओर अग्रसर कदापि नहीं होती। अतः मन्त्र में स्पष्ट कहा कि हे उपदेश सुनने वाले मनुष्यों, आप विद्वानों की **"सूनृतावती"** जो प्रशंसा के योग्य शुद्ध बुद्धि से उत्पन्न **"मधुमती कशा"** जो मधुर गुणयुक्त वेद वाणी है, उसे ग्रहण करो और **"तया यज्ञम् मिमिक्षतम्"** उससे श्रेष्ठ शिक्षा ग्रहण करने वाले यज्ञ को नित्य किया करो।

प्रस्तुत श्लोक में भी **"धीमताम्"** पद ऐसे बुद्धिमान योगियों के लिए प्रयोग किया गया है जो ऊपर कहे ऋग्वेद के मन्त्र के अनुसार वेदों में कही तीनों विद्याओं को देने में समर्थ होते हैं। इस प्रकार के योगी श्री कृष्ण, व्यास मुनि, कपिल मुनि आदि अनेक ऋषि हुए हैं। पराषर ऋषि के पुत्र व्यास मुनि भी पिछले जन्मों के ऐसे वैराग्यवान पुरुष थे कि जब उनकी माता सत्यवती ने उन्हें नदी में बहा दिया तब वह बहते हुए कृष्णद्वैपायन नामक ऐसे द्वीप में पहुँचे जहाँ ऋषियों ने उन्हें पानी से निकालकर उनका पालन पोषण किया और जीवन के आरम्भ से ही उन्हें वेद एवं वेदों में कही अष्टाँग योग विद्या आदि सरलता से प्राप्त हो गई। यही कारण है कि ऐसा जन्म इस श्लोक में दुर्लभ कहा है।

अथर्ववेद मन्त्र ६/५/१ में कहा **"प्रजानन् सुकृतां लोकम् गच्छतु"** अर्थात् ज्ञानवान पुरुष पुण्यवान लोगों के लोक को प्राप्त हो। अतः वेदविद्या एवं गीता आदि सदग्रन्थ यह प्रमाण देते हैं कि वेद विद्या सुनने वालों और वेदानुसार यज्ञ आदि शुभ कर्म करने वाले साधकों/जिज्ञासुओं का ही अगला जन्म मनुष्य चोले में प्राप्त होता है। वेद विरुद्ध चलने वालों का अगला जन्म नष्ट हो जाता है। अतः प्राणी कभी भी मिथ्यावादी

सन्त की झूठी, चिकनी-चुपड़ी बातों में न फँसे कि केवल गुरु करने से अगला जन्म मनुष्य का मिलेगा, इत्यादि। गीता स्वयं यहाँ कह रही है कि जो वेदानुकूल साधक योगाभ्यास करते-करते योग भ्रष्ट हो गया है उसका अगला जन्म सफल है परन्तु जो वेद विद्या एवं योगाभ्यास आदि से रहित है उसके तो लोक एवं परलोक दोनों नष्ट हो गए।

श्रीकृष्ण उवाच-

"तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।"

(गीता श्लोक ६/४३)

(कुरुनन्दन) हे कुरुनन्दंन **(तत्र)** वहाँ अर्थात् योगियों के कुल में जन्म लेकर **(तम्)** उसको अर्थात् वह योगियों के कुल में जन्म प्राप्त पुरुष **(पौर्वदेहिकम्)** पूर्व जन्म की साध ाना के फल द्वारा **(बुद्धिसंयोगम्)** बुद्धि संयोग अर्थात् पूर्व जन्म की साधना के संस्कारों के योग को **(लभते)** प्राप्त करता है **(च)** और **(ततः)** वहाँ से **(भूयः)** अपेक्षाकृत अधिक **(संसिद्धौ)** मोक्ष प्राप्ति के लिए **(यतते)** यत्न करता है।

अर्थः- हे कुरुनन्दन! वहाँ अर्थात् योगियों के कुल में जन्म लेकर उसको अर्थात् वह योगियों के कुल में जन्म प्राप्त पुरुष, पूर्व जन्म की साधना के फल द्वारा बुद्धि संयोग अर्थात् पूर्व जन्म की साधना के संस्कारों के योग को प्राप्त करता है और वहाँ से अपेक्षाकृत अधिक मोक्ष प्राप्ति के लिए यत्न करता है।

भावार्थः- **"पौर्वदेहिकम्"** शब्द का अर्थ इस जन्म से पहले का जन्म है अर्थात् पूर्व जन्म से तात्पर्य है। **सामवेद मन्त्र १५०१** में कहा **"अहम् प्रत्नेन जन्मना कण्ववत् गिरः शुम्भामि"** अर्थात् हे ईश्वर! मैं पूर्व जन्म के संस्कार से मेधावी विद्वान् (वेदों के ज्ञाता, विद्वान्) की तरह बिना पढ़े वेद वाणियों के ज्ञान को अलंकृत करता हूँ-ग्रहण करता हूँ। **"प्रत्न"** शब्द का अर्थ 'पुराना' अथवा 'पहला' है। अतः **"प्रत्नेन जन्मना"** का अर्थ है **"पूर्व जन्म के द्वारा"**। अतः मन्त्र का अर्थ हुआ कि हे परमेश्वर! मैं पूर्व जन्म के संस्कार द्वारा वेदों के ज्ञाता, विद्वान् की तरह बिना पढ़े वेदों के मन्त्रों का ज्ञाता हो जाऊँ। भाव

यह है कि वेद विद्या का अध्ययन, नाम सिमरन, यज्ञ एवं योगाभ्यास, यह ईश्वर की वेदों में कही ऐसी उपासना है जो कभी व्यर्थ नहीं जाती और इनके संस्कार अगले जन्म में जुड़ते हैं। **ऋग्वेद मन्त्र १/२३/२२** के अनुसार भी मनुष्य जैसा पाप और पुण्य करते हैं ईश्वर उसी के अनुसार जीव को उसका दुःख सुख आदि के रूप में फल प्राप्त कराता है। **ऋग्वेद** के अगले मन्त्र **२३** का भाव है कि मनुष्यों द्वारा किए पिछले जन्म के पाप और पुण्य का फल इस जन्म व अगले जन्म में अवश्य प्राप्त होता है। इन सब मन्त्रों के प्रमाण से यही सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म के किए हुए संस्कारों के बल से जीव इस वर्तमान जन्म में सुख दुःख भोगता है। अतः यदि किसी ने पिछले जन्म में वेद विद्या को सुना, यज्ञ एवं योगाभ्यास किया है तो उसका वह किया हुआ पुण्य कर्म कदापि नष्ट नहीं होता और उन किए हुए शुभ कर्मों के संस्कारों से उसकी भक्ति इस जन्म में वहाँ से शुरु होती है जहाँ से उसने पिछले जन्म में छोड़ी थी। अब यदि कोई व्यक्ति वेद विरुद्ध आचरण करता और कराता हुए कहे कि अगला जन्म सफल होगा तो यह सब मिथ्यावाद है।

इसे ही श्रीकृष्ण महाराज ने प्रस्तुत श्लोक में **"बुद्धि संयोगम्"** अर्थात् **"बुद्धि योग"** के संस्कार कहा है। यह **"बुद्धि-योग"** संस्कार ही ऊपर सामवेद एवं ऋग्वेद में पिछले जन्म के किए वेदाध्ययन एवं योगाभ्यास आदि शुभ कर्म हैं जो इस वर्तमान जन्म से जुड़ जाते हैं अर्थात् प्रकट हो जाते हैं और इसी सत्य नियम का प्रकाश श्रीकृष्ण महाराज अर्जुन के हृदय में कर रहे हैं।

जब कोई योग का जिज्ञासु इस प्रकार पिछले जन्म के संस्कारों के बल से वर्तमान जन्मं योगियों के कुल में प्राप्त करता है तब वह पूर्व जन्म के संस्कार एवं वर्तमान जन्म के पुरुषार्थ द्वारा और अधिक, वेदों में कही विद्या को प्राप्त करता है तथा कठिन योगाभ्यास आदि के अभ्यास द्वारा ईश्वर प्राप्ति का प्रयत्न करता है। अतः मनुष्य जीवन में कभी भी वेदाध्ययन, यज्ञ, विद्वानों का नित्य संग व सेवा एवं योगाभ्यास आदि करना न छोड़े। अन्यथा वेद विरुद्ध केवल अन्य संसारी कर्म मनुष्य को असुर योनि में ले जाते हैं और मनुष्य सदा बार बार जन्म-मृत्यु एवं दुःख के सागर में गोते लगाता रहता है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्तते।।"

(गीता श्लोक ६/४४)

(सः) वह योगियों के कुल में जन्म लेने वाला **(अवशः)** विवश अर्थात् न चाह कर **(अपि)** भी **(तेन)** उस **(पूर्वाभ्यासेन)** पूर्व जन्म के किए अभ्यास द्वारा **(एव)** ही **(हि)** निश्चय से **(ह्रियते)** योग विद्या की ओर खिंचता है। **(योगस्य)** योग विद्या का **(जिज्ञासुः)** जिज्ञासु **(अपि)** भी **(शब्द ब्रह्म)** वेद मन्त्रों के केवल शाब्दिक अर्थ का **(अतिवर्तते)** उल्लंघन कर जाता है।

अर्थः- वह योगियों के कुल में जन्म लेने वाला विवश अर्थात् न चाह कर भी उस पूर्व जन्म के किए अभ्यास द्वारा ही निश्चय से योग विद्या की ओर खिंचता है। योग विद्या का जिज्ञासु भी वेद मन्त्रों के केवल शाब्दिक अर्थ का उल्लंघन कर जाता है।

भावार्थः- जैसा पिछले **श्लोक ६/४३** में **सामवेद मन्त्र १५०१** का प्रमाण दिया है कि यदि किसी ने पूर्वजन्म में वेदविद्या को सुना है, समझा है और उसके अनुसार यज्ञ, योगाभ्यास आदि शुभ कर्म किए हैं तो वह शुभ कर्म चित्त पर वृत्ति/संस्कार के रूप में विद्यमान रहते हैं और इस जन्म में वह संस्कार प्रकट होकर पूर्वजन्म में प्राप्त वेद विद्या को प्रकट कर देते हैं। वेद विद्या प्रकट होने का अर्थ है कि पिछले जन्म में वेद विद्या के द्वारा जो ज्ञान, कर्म एवं उपासना, योगाभ्यास आदि का अभ्यास किया था वह सब इस जन्म में आचरण में आने लगता है।

ऋग्वेद मन्त्र १/२३/२४ में भी इस बात का प्रमाण है कि हम यदि ऋषि मुनियों के संग रहकर यज्ञ आदि शुभ कर्म करते रहते हैं तो वह शुभ संस्कार हमारे अगले जन्म में भी हमें साधना की ओर आकर्षित करते हैं। मन्त्र में कहा कि ऋषि-मुनि **'मे अस्य विद्यात्'** मेरे इस जन्म के कारण को जानते हैं अर्थात् इस वर्तमान जन्म से भी पहले मेरे कई जन्म हुए हैं, जीवात्मा पिछले शरीर का त्याग करके ही अगले शरीर को प्राप्त करता है और मनुष्य जैसा पाप-पुण्य कर्म करते हैं, ईश्वर न्याय व्यवस्था द्वारा उनको वैसा ही जन्म देता है। इन सब वैदिक ज्ञान से हम यदि चेतना प्राप्त करके वेदों का सुनना, यज्ञ

एवं योगाभ्यास आदि का करना और पाप कर्म का त्याग करना प्रारम्भ करते हैं तभी इस जन्म की इस तपस्या का शुभ संस्कार हमें अगले जन्म में योगियों के कुल में जन्म लेने का कार्य करेगा अन्यथा पशु-पक्षी की त्रियक योनि प्राप्त होगी। **यजुर्वेद मन्त्र ३/५५** का भी यही भाव है कि माता-पिता एवं विद्वान् आचार्यों की उत्तम शिक्षा के बिना मनुष्य का यह वर्तमान जन्म सफल नहीं हो सकता। यदि माता पिता स्वयम् विद्वान् नहीं हैं तब भी अनर्थ है।

प्रस्तुत श्लोक में **"अवशः"** (विवश होकर अर्थात् न चाहकर भी) एवं **"पूर्वाभ्यासेन"** (पूर्व जन्म की वेदविद्या एवं योगाभ्यास द्वारा) यह दो पद आए हैं जो अति महत्त्वपूर्ण हैं और ईश्वर से उत्पन्न अनादिकाल से चले आए ऊपर कहे वेद मन्त्रों का यह भाव ही प्रकट कर रहे हैं कि पिछले जन्मों के संस्कार के बल से विवश होकर जीव **"हि ह्रियते"** निश्चित रूप से ईश्वर भक्ति की ओर आकर्षित होता है। यहाँ पुनः हम पिछले श्लोक में कई स्थान पर कहे इस भाव का स्मरण करें कि **गीता ग्रन्थ महाभारत के भीष्म पर्व से निकाले गए अट्ठारह अध्यायों का संग्रह है जिन्हें अलग छपवाकर गीता ग्रन्थ नाम दिया गया है।** अतः गीता वेद विद्या पर आधारित प्रवचन है। गीता पढ़कर के श्रीकृष्ण महाराज अथवा व्यास मुनि को ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था अपितु ऋषि-मुनियों के आश्रम में रहकर व्यास मुनिजी ने भी एवं योगेश्वर श्रीकृष्ण महाराज ने भी परंपरागत वेद एवं योगविद्या के अभ्यास से ज्ञान प्राप्त किया था और उसी वैदिक ज्ञान के आधार पर गीता जैसे महान ग्रन्थ का जन्म हुआ है। आज भी वेदों के ज्ञाता ही गीता के शब्दों का अर्थ प्रकाशित करने में समर्थ हैं। आगे यह शब्द पुनः विचारणीय हैं- **"योगस्य जिज्ञासुः"** एवं **"शब्द ब्रह्म"**। योग का स्पष्ट अर्थ वेदों में कही **(यजुर्वेद मन्त्र ७/४)** अष्टाँग योग साधना से है जिसका विस्तार से वर्णन मैंने प्रभु एवं गुरु कृपा से **"पात जल योगदर्शनम्"** (हिन्दी व्याख्या सहित भाग १ एवं २) में किया है।

"योगस्य जिज्ञासुः" अर्थात् इस अष्टाँग योग विद्या को आचार्य से प्राप्त करके इसका नित्य अभ्यास करने वाला योगविद्या का जिज्ञासु है। ऐसे जिज्ञासु की वृत्ति अपने लक्ष्य "योगाभ्यास" के अतिरिक्त और कहीं नहीं होती।

"अतिवर्तते" शब्द से यह समझाया है कि योगेश्वर श्रीकृष्ण यहाँ कहते हैं कि हे अर्जुन! जो योग का अभ्यास करने वाला जिज्ञासु है वह केवल वेदों को सुनने-सुनाने वाले

जिज्ञासुओं तक ही सीमित नहीं रहता अपितु केवल वेद के मन्त्रों के अध्ययन तक ही सीमित रहने वाले साधकों का उल्लंघन कर जाता है। अर्थात् योगाभ्यास द्वारा उनसे आगे निकलता हुआ ईश्वर प्राप्ति मार्ग में तीव्रता से आगे बढ़ जाता है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह जिज्ञासु वेदाध्ययन नहीं किये हुए है। वेदों में ही तो योग विद्या है। जिज्ञासु ने प्रथम वेदाध्ययन ही किया होता है।

अतः यहाँ अनायास ही हृदय में यह भाव उत्पन्न होता है कि जब केवल शब्द-ब्रह्म (वेदमन्त्र) को पढ़ने पढ़ाने से कोई विशेष लाभ नहीं तब अन्य धार्मिक ग्रन्थों को यदि कोई पढ़, सुन, रटकर लचीली वाणी में सुनाता रहता है तो वह सुनना-सुनाना, पढ़ना-पढ़ाना मनुष्य का क्या भला करेंगे? अतः वेद विद्या को सुनकर उसे आचरण में लाना ही कल्याणकारी है। इस विषय में **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/३९** स्पष्ट कहता है कि यदि किसी ने वेदों से ज्ञान लेकर वेदों में कहे शुभ कर्म, यज्ञ एवं योगाभ्यास रूपी तप नहीं किया और फलस्वरूप उस निराकार, सर्वव्यापक, परब्रह्म परमेश्वर को नहीं जाना तो वह वेदों से कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर पाते। तब साधनाहीन, कर्महीन, ज्ञान एवं उपासनाहीन व्यक्ति यदि कई ग्रन्थों को पढ़कर सुनाता है और सुनने वाला तब केवल सुनता है तो दोनों को ही क्या लाभ होगा? अर्थात् कोई लाभ नहीं होगा।

श्रीकृष्ण उवाच-

"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।"

(गीता श्लोक ६/४५)

(तु) और **(प्रयत्नात्)** निरंतर के प्रयास से **(यतमानः)** अभ्यास करता हुआ **(योगी)** वह योगी **(अनेक जन्मसंसिद्धः)** अनेक जन्मों के साधन द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुआ **(संशुद्धकिल्बिषः)** पूर्णतः पापों से शुद्ध होकर **(ततः)** उसके पश्चात **(पराम्)** परम **(गतिम्)** गति को **(याति)** प्राप्त होता है।

अर्थः- और निरन्तर के प्रयास से अभ्यास करता हुआ वह योगी अनेक जन्मों के साधन द्वारा सिद्धि को प्राप्त हुआ पूर्णतः पापों से शुद्ध होकर उसके पश्चात परम गति को प्राप्त होता है।

भावार्थः- श्रीकृष्ण महाराज पिछले चालीसवें श्लोक से इस श्लोक तक प्रायः पिछले जन्म में किए हुए शुभ कर्म-योगाभ्यास आदि का फल वर्तमान जन्म में भी प्राप्त होता है, इस ईश्वरीय नियम का उल्लेख करते आ रहे हैं। इस श्लोक में भी वह कह रहे हैं कि हे अर्जुन! जिस साधक ने कई जन्मों से कठोर प्रयत्न द्वारा निरन्तर योगाभ्यास करके जो सिद्धि प्राप्त की है उससे उसके जो जन्म-जन्मांतरों के पाप नष्ट हो गए हैं, फलस्वरूप ही वह परम गति अर्थात् मोक्ष पद को प्राप्त करता है। मैंने भी ईश्वर, गुरु कृपा से पिछले श्लोकों में वेद मन्त्रों का प्रमाण देकर पाठकों को यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि पुनर्जन्म होता है और पिछले जन्मों के किए हुए पाप व पुण्य का फल वर्तमान में एवं अगले जन्मों में ईश्वर की व्यवस्था में अवश्य भोगा जाता है और **ऋग्वेद मन्त्र १/१६४/२०** के अनुसार यह भी सिद्ध है कि ईश्वर सर्वव्यापक है, जीवात्मा ही मानो उसका शरीर है। अतः जीवात्मा के किए हुए पाप अथवा पुण्य कर्मों का वह परमेश्वर स्वयम् ही द्रष्टा है। परमेश्वर तो सब जगह है अतः जीव ऐसा एकान्त कहाँ ढूंढेगा जहाँ वह पाप करे और ईश्वर उसे न देखे। अर्थात् ईश्वर हमारे अन्दर बैठा हमारे सब कर्मों का द्रष्टा है। हम ईश्वर नहीं हैं कि हमें पाप-पुण्य न भोगना हो।

अतः वह तदानुसार दुःख व सुख रूप कर्मफल देता है। प्राणी को सदा ईश्वर की सर्वव्यापकता को समझ कर पाप कर्म से डरना चाहिए और सर्वदा त्याग देना चाहिए। इस विषय में साधु सन्तों को तो विशेष ध्यान देना चाहिए क्योंकि धर्म की आड़ में किए पाप कर्मों का फल तो ईश्वर वेदानुसार और भी कठोर रूप में देता है।

प्रस्तुत श्लोक के संदर्भ में **ऋग्वेद मन्त्र १/२४/२** का भाव है कि हम **"प्रथमस्य देवस्य चारु नाम मनामहे"** अर्थात् हम अनादि एवं अद्वितीय परमेश्वर जो हमें सब पदार्थों का देने वाला है, उसके पवित्र नाम का गुणगान करें **"सः नः"** वह परमेश्वर हमें **"अदितये"** पृथिवी के बीच में **"पुनः दात्"** पुनः जन्म देता है जिसके फलस्वरूप हम **"पुनः पितरम् च मातरम् च"** अर्थात् पुनः माता-पिता, एवं अन्य सम्बंधियों का **"दृशेयम्"** दर्शन करते हैं।

योगशास्त्र सूत्र १/२ का अर्थ है कि चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। प्रमाण, विकल्प आदि चित्त की दुःख देने वाली पाँच वृत्तियाँ निरुद्ध करने के लिए **योगशास्त्र सूत्र १/१२** में **"अभ्यास"** और **"वैराग्य"** में से जो चंचल चित्त को स्थिर

करने के लिए निरन्तर प्रयत्न किया जाता है उसका नाम ही अभ्यास है। इसके लिए प्रयत्न करना और वस्तुतः प्रयत्न भी उत्साह, पुरुषार्थ एवं बलपूर्वक करना जिसमें योग के उत्तम साधनों का अनुष्ठान करना कहा है, वह अभ्यास कहलाता है। **योगशास्त्र सूत्र २/१** में ऐसे साधनों को **"तपः स्वाध्यायेश्वर-प्रणिधानानि क्रियायोगः"** अर्थात् तप, स्वाध्याय (वेदाध्ययन), ईश्वर के नाम का नित्य सिमरण, यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि सब साधन कहे हैं। इस सब ज्ञान, अभ्यास के विषय में प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण ने **"प्रयत्नात्"** एवं **"यतमानः"** पद प्रयोग किए हैं जिनका भाव है कि वह दृढ़ अभ्यासी योगी निरन्तर प्रयत्न (प्रयास आदि से) **"यतमानः"** अर्थात् ऊपर कहे तप स्वाध्याय आदि का अभ्यास करता है और ऐसा तप, स्वाध्याय (वेदाध्ययन) आदि का अभ्यास **"अनेक जन्मसंसिद्धः"** निरन्तर अनेक जन्मों में करता हुआ और अभ्यास द्वारा प्राप्त सिद्धि की अनुभूति करता हुआ वह योगी **"संशुद्धकिल्बिषः"** पूर्णतः पापों को नष्ट करके शुद्ध अन्तःकरण द्वारा **"पराम् गतिम् याति"** परम गति को प्राप्त कर लेता है। ऊपर कहे अभ्यास में वेदाध्ययन, यज्ञ आदि नित्य शुभ कर्म भी आते हैं जिसके विषय में **सामवेद मन्त्र ४३६ तथा ४६५** में कहा कि इन शुभ कर्मों को करने से साधक के पापों का नाश हो जाता है। इसी प्रकार **योग शास्त्र सूत्र २/५२** का भाव है कि प्राणायाम करने से इन्द्रिय संयम और जीवात्मा के ऊपर आई पाप रूपी माया का नाश हो जाता है। जब योगी में योग अग्नि प्रकट होती है तो वह जन्म जन्मांतरों के पापों का नाश कर देती है और इस प्रकार योगी का अन्तःकरण पूर्णतः शुद्ध हो जाता है। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/८** में ईश्वर के अनन्त गुणों में से यह गुण भी वर्णन किया गया है कि ईश्वर **"शुद्धम् अपापविद्धम्"** अर्थात् ईश्वर शुद्ध है और पापों से परे है, पाप उसे छू भी नहीं सकते और न ही ईश्वर किसी प्रकार के कर्मफल का भोक्ता है। अतः जब जीवात्मा भी ऊपर कहे अभ्यास द्वारा शुद्ध हो जाता है अर्थात माया का आवरण नष्ट हो जाता है। तब उस योगी में अप्रकट परमेश्वर स्वयं प्रकट हो जाता है। यहाँ यह समझना चाहिए कि वह पापियों में प्रकट नहीं होता। तथा जो यह कहते हैं कि ईश्वर दयालु है, वह पाप क्षमा कर देता है तो ऐसा कहना पूर्णतः वेदविरुद्ध अर्थात् असत्य है। योगी के हृदय में ईश्वर का प्रकट होना ही असम्प्रज्ञात समाधि अवस्था कही गई है। इसे ही मोक्ष प्राप्ति कहते हैं और इस अवस्था को ही श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ इस श्लोक में **"पराम् गतिम् याति"** कहा है अर्थात् इस प्रकार योगी परम गति को प्राप्त हो जाता है। ऊपर **यजुर्वेद मन्त्र ४०/८** में ईश्वर को शुद्ध और

सदा पाप से परे कहा है अतः ईश्वर न तो रज, तम, सत्त्व गुण से बना प चभौतिक शरीर धारण करता है और न ईश्वर पर कोई माया प्रभाव करती है।

योग विद्या पर आधारित इस अध्याय के सभी श्लोकों का भाव श्रीकृष्ण महाराज ने यह समझाया है कि जब तक जीव वेदाध्ययन, यज्ञ, ईश्वर नाम स्मरण रूपी तप, स्वाध याय और ईश्वर पर सम्पूर्ण भरोसा रखकर अष्टाँग योग की साधना नहीं करता तब तक उसे परम शांति, परम गति अर्थात् मोक्ष प्राप्त नहीं होता। यह बात अलग है कि कोई वेद एवं अष्टाँग योग विद्या को न जानने वाला सन्त श्लोकों के वेदविरुद्ध अर्थ करके अपना नया ही राग अलाप करके भक्ति आदि को सरल कहता हुआ जनता से धन ऐंठ कर झूठे प्रलोभन देता रहे। दूसरी बात यह है कि अनेक जन्मों से वेदाध्ययन, यज्ञ एवं योगाभ्यास करने वाला योगी पापों से शुद्ध होकर परमेश्वर को प्राप्त करता है। और इस प्रकार यह कही हुई वैदिक भक्ति प्रत्येक जन्म में जुड़ती रहती है और कभी नष्ट नहीं होती। एक जन्म में प्रारम्भ की हुई वेद विद्या मोक्ष पर्यन्त तक जुड़ती चली जाती है। अतः जीव सावधान होकर मनुष्य शरीर का उपयोग वेदाध्ययन, यज्ञ, वेदों के ज्ञाता, विद्वानों का संग-सेवा, योगाभ्यास आदि के लिए ही करें, जैसा कि श्रीकृष्ण महाराज समझा रहे हैं अन्यथा मनुष्य जन्म व्यर्थ हो जाएगा। हम सदा वेद विरुद्ध बोलने वालों से सावधान रहें।

श्रीकृष्ण उवाच-

"तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।"

(गीता श्लोक ६/४६)

(योगी) योगी **(तपस्विभ्यः)** तपस्वियों से **(अधिकः)** बड़ा है-बढ़कर है **(च)** और **(ज्ञानिभ्यः)** ज्ञानियों से **(अपि)** भी **(अधिक)** बड़ा **(मतः)** माना गया है **(योगी)** योगी **(कर्मिभ्यः)** कर्म काण्डियों से भी **(अधिकः)** बड़ा है! **(तस्मात्)** अतः **(अर्जुन)** हे अर्जुन तू **(योगी)** योगी **(भव)** हो।

अर्थः- योगी तपस्वियों से अधिक बड़ा है-बढ़कर है और ज्ञानियों से भी बड़ा माना गया है योगी कर्मकाण्डियों से भी बड़ा है। अतः हे अर्जुन तू योगी हो।

भावार्थः- योगी शब्द की आजकल कई परिभाषाएँ की जा रही हैं। मैंने कई बार यह निवेदन किया है कि वेद में वेदमंत्रों का और गीता आदि सद्ग्रन्थों में श्लोकों का भाव देखकर ही शब्दों को अर्थ योग-दृष्टि से निकाले जाते हैं। शब्द वहीं होंगे परन्तु उनके अर्थ विषयानुसार अलग-अलग हो जाते हैं। जैसे संस्कृत में सैन्धव का अर्थ नमक भी है और घोड़ा भी है। अब यदि प्रातः अथवा साँयकाल घोड़े पर सवारी का नियमित समय है और सेवक को सैन्धव लाने के लिए कहा है, स्थितिनुसार नौकर को नमक नहीं लाना चाहिए अपितु अपने स्वामी को घोड़ा लाकर देना चाहिए। यदि भोजन का समय है तब नमक लाना चाहिए, घोड़ा नहीं लाना चाहिए। यदि भोजन के समय घोड़ा और सैर के समय नमक लाकर दिया जाएगा, तो वह अर्थ का अनर्थ हो जाएगा! पुनः यदि कोई संत आदि पूर्णतः वेद विद्या का ज्ञाता एवं योगविद्या का अभ्यास करने वाला नहीं है, तब भी वह ज्ञानी न होकर परिस्थितिनुसार शब्दों के वास्तविक अर्थ का ज्ञाता नहीं होगा। अतः अधिकतर अर्थ का अनर्थ करने की ही संभावना बनी रहती है। इसी प्रकार **'पयस्'** पद के अर्थ भी दो हैं।-दूध एवं पानी। पर स्थितिनुसार ही हम **'पयस्'** को व्यवहार में लाएँ, अर्थ का अनर्थ न करें। पुनः हम योगी शब्द पर विचार करें। युज् धातु से योग शब्द निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ योग है। योग का अर्थ जुड़ना है। अब यह तो विशेष विचारणीय वेदमंत्र , श्लोक अथवा सूत्र आदि का पूर्ण विषय जानकर वेद एवं वेद विद्या का ज्ञाता विद्वान् ही सत्य अर्थ निकाल सकता है कि योग शब्द का अर्थ वास्तव में उस विशेष मंत्र अथवा श्लोकादि में क्या है। जैसे कि योग शब्द का अर्थ-गीता योग है, रामायण योग है, चंद्रमा-सूर्य योग है, स्त्री योग है, पुरुष योग, शुभ कर्मों से योग है अथवा पाप कर्मों से योग है, सत्संग से योग है या कुसंग से योग है, यज्ञ से योग है, या पूजा पाठ से योग है, अष्टाँग विद्या से योग है अथवा भोग विलास से योग है, आदि-आदि। अतः योग शब्द का मनघढ़न्त कुछ भी अर्थ निकाल लेना अविद्या, असत्य एवं अंधविश्वास को बढ़ावा देना कहा जाएगा। **कपिल मुनि ने सांख्य शास्त्र सूत्र ३/७८** में यह भाव प्रकट किए हैं कि जनता भोली है, वह वेद एवं योग विद्या नहीं जानती है। अतः ऊँचे-ऊँचे आसनों पर बैठकर, बड़ी-बड़ी भीड़ इक्ट्ठी करके जनता को जब ज्ञान, कर्म, भक्ति अथवा योग शब्द आदि का जो भी वेद विरुद्ध अर्थ, वेद एवं योग विद्या से हीन उपदेशकों द्वारा बताया जाएगा, तो जनता उसे उसी समय तालियाँ बजाकर स्वीकार कर लेगी। और इस प्रकार अंधविश्वास बढ़ता जाएगा। उदाहरणार्थ-**यजुर्वेद मंत्र ३७/२** में कहा-

"यु जते मन उत यु जते.............विपश्चितः।"

मंत्र में **"मनः यु जते उत धियः यु जते"** में यु जते का अर्थ योग है अर्थात् जोड़ना है। अर्थ है कि योगी जन योग साधना द्वारा अपने मन को और बुद्धि एवं कर्मों को ईश्वर से जोड़ते हैं-ईश्वर में समाहित करते हैं। यहाँ योग शब्द का अर्थ योगाभ्यास द्वारा मन, बुद्धि एवं कर्मफल को ईश्वर से जोड़ देने के अर्थ में आया है। **यजुर्वेद मंत्र १९/८१** में कहा कि **(सरस्वती)** योगिनी स्त्री **(आत्मन् अङ्गानि)** आत्मा में स्थिर होकर योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करके आत्मा को **(समधात्)** ईश्वर में समाहित करती है। यहाँ सम्पूर्ण मंत्र का भाव है कि योग के जिज्ञासु योगी योग के आठों अंगों का अनुष्ठान करके समाधि अवस्था प्राप्त करते हैं। यहाँ योग शब्द और योगी शब्द वेदाध्ययन एवं वेदों में कहे योग विद्या के यमादि आठों अंगों का अनुष्ठान-अभ्यास करके योगी द्वारा ईश्वर प्राप्ति के विषय में कहे गए हैं। अब यहाँ कोई कहे कि योग शब्द का अर्थ केवल गीता योग, भक्ति योग अथवा कर्म योग आदि के विषय में आया है तो ऐसा नहीं है। अतः सम्पूर्ण अध्याय ६ को दृष्टि में रखकर योगी शब्द का अर्थ **यजुर्वेद मंत्र ७/४** के भी भावानुसार वेदों में कही अष्टांग योग विद्या का अभ्यास करने वाला और तत्पश्चात सब कर्मबन्धनों से छूटकर ब्रह्मावस्था को प्राप्त करने वाला योगी कहा है। इस श्लोक में **पिछले श्लोक ६/४५** के भी भाव आ जाते हैं क्योंकि पिछले श्लोक में भी योगी परमगति को प्राप्त कहा गया है। इसी विद्या का अभ्यास, करके ही श्रीकृष्ण महाराज स्वयं योगेश्वर कहलाएँ हैं। इस अवस्था को प्राप्त करने में प्रथम ज्ञानी, कर्मकाण्डी एवं तपस्वी होना आवश्यक है। इन तीनों अवस्थाओं से ऊँचा उठकर ही कोई योगी बनता है। ज्ञानी का अर्थ है-ऋग्वेद में कहे ज्ञान काण्ड अर्थात् सृष्टि में कही पदार्थ विद्या को जानना, कर्मकाण्डी का अर्थ है-यजुर्वेद में कहे कर्म के स्वरूप को जानना, तपस्वी का अर्थ सामवेद में कही उपासना जिसमें वेदाध्ययन, यज्ञ, अष्टाँग योग विद्या की साधना कही गई है, उन सब को जानना। इन सबको शब्द ब्रह्म द्वारा जानकर, तपस्या द्वारा आचरण में लाकर, जब समाधि प्राप्त होती है तब कोई साधक वास्तव में अष्टाँग योगी कहलाता है। सब क्योंकि योगी में तप, ज्ञान और कर्म तीनों विद्याओं का समावेश है, इसी कारण श्रीकृष्ण महाराज ने यहाँ कहा कि योगी इन तीनों विषयों से अधिक है, श्रेष्ठ है, ऊँचा है। क्योंकि योगी ने इन तीनों विषयों पर आचरण पहले ही किया हुआ है, त्यागा नहीं है। अतः इसका यह अर्थ नहीं है कि योगी को तप, ज्ञान और कर्म, इन तीन विद्याओं की आवश्यकता

नहीं है। ऐसा अनर्थ करने पर तो चारों वेदों में दिया ईश्वरीय ज्ञान व्यर्थ हो जाएगा। गीता में भी श्रीकृष्ण महाराज ने अर्जुन को ज्ञान, कर्म एवं तपस्या, इन तीनों विद्याओं की जानकारी दी है। इसके पश्चात ही अर्जुन को कहा कि इन तीनों विद्याओं का अभ्यास करके इन से ऊँचा उठकर तू योगी हो। यही सब कुछ श्री राम, योगेश्वर श्रीकृष्ण, व्यास मुनि, माता सीता आदि पूर्व की विभूतियों ने किया था। अतः जनता को भी ध्यान देना चाहिए कि वह वेद एवं अष्टाँग योग की विद्या जानने वालों से भी गीता, रामायण आदि सद्ग्रन्थों को सुनकर अनर्थ एवं अंधविश्वास से बचें। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने योगी को तपस्वियों, ज्ञानियों और कर्म करने वालों से श्रेष्ठ कहा है। प्रश्न है कि क्यों इन तीनों से श्रेष्ठ कहा है? उत्तर है कि श्री कृष्ण महाराज अर्जुन को युद्ध रूपी कर्म एवं अन्य यज्ञ आदि की शिक्षा, प्रकृति आदि पदार्थों एवं जड़ चेतन के द्वारा ज्ञान की शिक्षा तथा यज्ञ एवं योगाभ्यास आदि द्वारा उपासना (भक्ति) इन तीनों की शिक्षा दे रहे हैं। ज्ञान, कर्म एवं उपासना यही तीनों विद्याएँ वेदों में है जो कि वेदाध्ययन द्वारा समझकर आचरण में लाकर योगाभ्यास आदि द्वारा योग-सिद्धि (परमेश्वर) को प्राप्त कराती है और साधक योगी कहलाता है। अतः योगी तीनों से ऊपर कहा गया है।

श्रीकृष्ण उवाच-

"योगिनामपि सर्वेशां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।"

(गीता श्लोक ६/४७)

(सर्वेषाम्) सम्पूर्ण **(योगिनाम्)** योगियों में से **(अपि)** भी **(यः)** जो **(श्रद्धावान्)** श्रद्धावाला योगी **(मद्गतेन)** मुझ में लगा हुआ अर्थात् मन और बुद्धि सदा ईश्वर में स्थित किए हुए **(अन्तरात्मना)** अन्तरात्मा द्वारा **(माम्)** मुझ को **(भजते)** भजता है **(सः)** वह योगी **(मे)** मेरे **(मतः)** विचार से **(युक्ततमः)** सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

अर्थः- सम्पूर्ण योगियों में से भी जो श्रद्धावाला योगी मुझमें लगा हुआ अर्थात् मन और बुद्धि सदा ईश्वर में स्थित किए हुए, अन्तरात्मा द्वारा मुझको भजता है, वह योगी, मेरे विचार से, सबसे अधिक श्रेष्ठ है।

भावार्थः- आज कई प्रकार के योग प्रचलित हैं। जैसे राज योग, हठ योग, कर्म योग,

भक्ति योग, ज्ञान योग, लय योग इत्यादि इत्यादि। चारों वेदों में ईश्वर द्वारा केवल अष्टांग योग का ही ज्ञान दिया गया है। जैसे कि **यजुर्वेद मन्त्र ७/४, ७/८ एवं ७/६** में **"उपयामगृहीतः"** पद कहकर के यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, इन योग के आठ अंगों का उपदेश किया है।

पिछले **श्लोक ६/४६** में भी मैंने कई योग की बात कहीं हैं। यह सब योग भी शब्दिक आधार पर सत्य ही कहे जाएँगे क्योंकि **'योग'** शब्द का सामान्य अर्थ **"जुड़ना है"**। परन्तु जहाँ वेदाध्ययन एवं अष्टाँग योग आदि आध्यात्मिक विषय का कथन किया जाएगा वहाँ इसका अर्थ अष्टाँग योग की साधना द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि प्राप्त करके ईश्वर से जुड़ना ही कहा जाएगा। यह अर्थ सनातन है। मनुष्य को वैदिक प्रमाण पर ही आस्था रखनी आवश्यक है।

प्रस्तुत श्लोक में श्रीकृष्ण महाराज का भाव है कि **"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना"** अर्थात् सब योगियों में वह योगी जो केवल मेरे चिन्तन, मनन, ध्यान आदि में लगा हुआ है और **"अन्तरात्मना"** अन्तरात्मा द्वारा जो मुझको भजता है, उसे मैं सबसे श्रेष्ठ योगी मानता हूँ, चारों वेदों में कहे सर्वश्रेष्ठ योगी के ही संदर्भ में है।

जैसा कि **यजुर्वेद मन्त्र ३७/२** में कहा कि योगी लोग उस सर्वव्यापक परमेश्वर में अपने मन और बुद्धि को समाहित करते हैं। **यजुर्वेद मन्त्र ४०/१२** का भाव है कि चेतन तत्त्व ही संसार की जड़ वस्तु का ज्ञाता होता है। ईश्वर चेतन तत्त्व है, वह तो सृष्टि रचियता तथा सभी पदार्थों का ज्ञाता है। दूसरा जो विद्वान् है, वह वस्तुतः जीवात्मा है। जीवात्मा ही परमात्मा की उपासना करता है।

यजुर्वेद मन्त्र ४०/४ में कहा कि जो आँख, नाक, मन आदि जड़ इन्द्रियाँ हैं, यह जीवात्मा [illegible] आज्ञा से ईश्वर की उपासना में सहायक हैं परन्तु इन जड़ इन्द्रियों से ईश्वर की प्राप्ति अथवा अनुभूति नहीं होती। अतः प्रत्येक साधक आत्मा से ईश्वर की उपासना करे, मन और इन्द्रियों के कहे पर न चले इन्हें वश में रखे। मनघढ़न्त वेद विरुद्ध उपासना न करे। इस श्लोक में **"मद्गतेनान्तरात्मना"** पद का यही भाव है कि हे अर्जुन! प्रत्येक प्राणी विद्वानों के संग से विद्यायुक्त होकर, आत्मा द्वारा मन को संयम में करके इस प्रकार आत्मा से ईश्वर की उपासना करे।

अतः सर्वश्रेष्ठ योगी वह है जो **योग शास्त्र सूत्र १/१६** के अनुसार पूर्ण वैराग्यवान होकर सभी इन्द्रियों को वश में करता हुआ, स्वच्छ अन्तःकरण द्वारा एवं जीवात्मा के ऊपर चढ़े सभी कर्म बन्धनों को योगाग्नि में भस्म करता हुआ पुनः **योगशास्त्र सूत्र ४/२६** के अनुसार पूर्ण विवेक, ज्ञान प्राप्त करके "धर्ममेघ समाधि" प्राप्त कर लेता है। **"धर्ममेघ समाधि"** का भाव है रजोगुण के मल से रहित चित्त अपने स्वरूप में स्थित बुद्धि और पुरुष के भिन्न भिन्न ज्ञान से युक्त होता है तब धर्ममेघ समाधि सिद्ध होती है। इसी को योगी **"परं प्रसंख्यान"** कहते हैं। बुद्धि और पुरुष का भिन्न ज्ञान विवेकख्याति कहलाता है। यही जीवन्मुक्त अवस्था है, निर्बीज समाधि है अथवा असम्प्रज्ञात समाधि है। विवेकख्याति में भी जब योगी राग-द्वेष आदि से रहित, फल की इच्छा से रहित होता है तब पूर्ण रूप से विवेकज्ञान होने से धर्ममेघ समाधि अवस्था प्राप्त होती है। इसी भाव को यहाँ **"श्रद्धावान् मद्गतेन अन्तरात्मना"** से दर्शाया है अर्थात् श्रद्धावान् योगी ईश्वर में लीन अन्तरात्मा से ईश्वर को भजता है। अर्थात् ईश्वर में लीन हो जाता है। **"श्रद्धावान्"** का अर्थ है **"श्रत् धा"** अर्थात् अनादि सत्य जो निराकार सृष्टि रचयिता है और ईश्वर से उत्पन्न चारों वेद हैं उन पर आस्था रखने वाला। यह वैदिक अर्थ है। श्रद्धा का अर्थ यह नहीं कहा है कि जिस किसी पर भी आस्था या श्रद्धा हो जाए।

अन्तरात्मा से ईश्वर का मनन चिन्तन वही योगी करेगा जिसकी अष्टांग योग साधना से सम्पूर्ण चित्त वृत्ति निरुद्ध हो गई है। इस विषय की विस्तृत व्याख्या मैंने अपनी पुस्तक पात जल योगदर्शनम् हिन्दी व्याख्या सहित भाग १ में की है। तथा ऐसे ही योगी को श्रीकृष्ण महाराज ने **"सः युक्ततमः"** सर्वश्रेष्ठ योगी कहा है। **"मद्गतेन माम् मयि"** आदि कई पद श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में प्रयोग किए हैं। इन पदों का अर्थ ईश्वर सम्बंधित है। वेदानुसार **(यजुर्वेद मन्त्र ४०/८)** ईश्वर अवतार तो ले नहीं सकता परन्तु वेद मन्त्रों के कई प्रमाण पिछले अध्याय में भी कहे गए हैं जिनके अनुसार [illegible] कहा है कि ईश्वर योगियों के हृदय में प्रकट होता है। अथवा **अथर्ववेद मन्त्र ६/१०/११** के अनुसार कोई भी मुक्त जीवात्मा अपनी इच्छा से संसार का कल्याण करने कुछ समय के लिए माता के गर्भ में आती है और चली जाती है। और इनमें ईश्वर के समान शक्ति होती है क्योंकि ईश्वर इनमें प्रकट होता है। अतः यह योगी अपने को ईश्वर कहने में नहीं हिचकते क्योंकि **सामवेद मन्त्र ६४४** तथा **गीता श्लोक १०/२०,२२** के अनुसार भी इन योगियों के मुख से जो वाक्य निकलते हैं, वह **"देवनाम् पदवी"** अर्थात् ईश्वर द्वारा दिए

गए पद होते हैं। अतः श्रीकृष्ण महाराज ने उचित ही स्वयं को कहीं-कहीं ईश्वर के रूप में प्रकट किया है और इस प्रकार निःसन्देह ही श्रीराम, श्रीकृष्ण एवं प्राचीन काल के ब्रह्मलीन ऋषि मुनि सब ईश्वर के समान ही थे। **सामवेद मन्त्र ७७७** में ईश्वर स्वयं कहता है कि हे योगी! मैंने तुम्हें तीनों लोकों का राज्य दिया।

यजुर्वेद मन्त्र ७/६ का भाव है जिसमें ईश्वर योगी को उपदेश देता हुआ कहता है कि हे योगी तू स्वयं सिद्ध और अनादि स्वरूप है। तेरे कार्य को सिद्ध करने वाली सभी इन्द्रियाँ निर्मल हैं। तू श्रेष्ठ आचरण को धारण करने वाला है। अतः मैं तुझे स्वीकार करता हूँ। अगले मन्त्र में कहा योगी ईश्वर के समान श्रेष्ठ गुणों में व्याप्त होता है, इत्यादि इत्यादि।

अतः जैसा कि ऊपर कहा श्रीकृष्ण महाराज यहाँ ईश्वर के समान हैं और **"माम् मयि, मद्गतेन"** आदि शब्दों से अपने को ईश्वर नहीं, ईश्वर के समान घोषित कर रहे हैं, जोकि वेदानुसार सत्य है जैसा कि वाल्मीकि रामायण में वाल्मीकिजी ने भी प्रथम सर्ग में श्रीराम को **'प्रजापति समः'** अर्थात् प्रजा को पालने वाला, परमेश्वर अर्थात् ईश्वर के समान कहा है।

षष्ठः अध्यायः इति

609	6	(पहली पंक्ति श्लोक की)	..□..यां□चक्षु□	..र्शा..यांश्चक्षुश..
609	9	....	(स्प□र्णन्)	(स्पर्शान)
610	9	....	[illegible]म्णा	सुषुम्णा
610	16	....	भास्त्र	शास्त्र
534		अध्याय 5	पचमोऽध्याय:	पंचमोऽध्याय:
610	....	3	योग□ास्त्र	योगशास्त्र
613	1	....	..[illegible]रिःयसि	..करिष्यति
613	5	....	"इति भुाश्रुम..."	"इति शुश्रुम..."
613	....	4	सर्वलोकमहे□दःमृ	सर्वलोकमहेश्वरम्
614	1	....	[illegible]कमहे□वरम्)	(सर्वलोकमहेश्वरम!)
614	2	....	(□ान्तिम्)	(शान्तिम्)
614	....	6...	भमस्तपो...	...शमस्तपो..
614	....	7.....	भान्तं...	[illegible]न्तं..
[illegible]15	6	....	गीता भलोक....	गी[illegible] 1[illegible]2
[illegible]15	13	....	भलोक	[illegible]ता..
[illegible]	....	6	सर्वलोकमहे□वर[illegible]	[illegible]